ओ३म् वन्देमातरम्

# स्वार्थ

अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति तथा इतिहासका

## मासिकपत्र

वर्ष २, खण्ड १ तथा २।

संबत् १९७८.

# विषय-सूची ।

## वर्ष २ खण्ड १

# विषय सूची।

## वर्ष २ खण्ड २

ओ३म् वन्देमातरम्

# स्वार्थ

वर्ष २ खण्ड १ | बैसाख १९७८ | अङ्क १ पूर्णाङ्क १३

## नवीन युग

त पांच वर्षोंमें जितना परिवर्तन संसारमें हुआ है उतना परिवर्तन जगतके इतिहासमें सौ वर्षोंमें भी किसी युगमें नहीं हुआ। यह परिवर्तन सार्वभौम और जगद्व्यापी था। परिवर्तन मानवजातिके विचार, आदर्श, आकांक्षा, इत्यादिमें तो प्रत्यक्ष ही है पर भौगोलिक और राजकीय दृष्टिसे भी आश्चर्यजनक है।

बेलजियमकी भूमिके पददलित होनेपर यूरोपका आकाश मगडल बड़े बड़े उच्च विचार और स्वार्थहीन उद्देश्य और वचनोंसे गूँज उठा था। इस लेखका लेखक यूरोपीय महाभारतके समय विलायत (इंगलैगड) में था। बड़े बड़े शान्तिप्रिय और जगतमें शान्ति चाहने वाले शान्तिवादी स्त्री पुरुष भी बेलजियमके नामपर फड़क उठे थे और सब यही कहते थे कि बेलजियमको जर्मनीके चंगुलसे छुड़ाना मानव जातिका धर्म है। शान्ति प्रसारणी सभाओंके जन्मदाता और ६०, ७० वर्षके बूढ़े दार्शनिक अंग्रेज अध्यापक भी रणक्षेत्रके लिए तयार होने लगे थे।

बेलजियमको बचाने वाले ही विजयी राष्ट्र स्वयं स्वतन्त्र राष्ट्रोंको आज बिना डकार लिए ही हड़पे जा रहे हैं। वही बेलजियमके नामपर लड़ने वाले शान्ति और स्वतन्त्रता प्रिय दार्शनिक वयोवृद्ध आज मिश्र, ईरान (परशिया) तुर्की, अरब इत्यादि राज्योंको छिन्न भिन्न होते अपने आंखोंके सामने देख रहे हैं और तिसपर भी उनकी स्वातन्त्र्य प्रियता उनको उसी भांति उत्तेजित नहीं कर रही है जैसा कि उसने उन्हें संवत १९७१ के भाद्रपदमें उन्मत्त कर दिया था।

जब कि मित्र राष्ट्रोंने ग्रीस (यूनान) के साथ वही बर्ताव किया या उससे वही काम लिया जो कि जर्मनीने बेलजियमसे लिया था उस समय किसी भी स्वतन्त्रता प्रिय पाश्चात्य दार्शनिकने आवाज नहीं उठायी। जब राष्ट्रपति दार्शनिक विलसनने सन्धिके सम्बन्धमें १४ शर्तें छपवायीं उस समय सबने विलसनकी प्रशंसाके पुल बांध दिये और सबने उसके उच्च आदर्शोंको स्वीकार किया। पर जब उन्हीं १४ शर्तोंको मित्र राष्ट्रोंने सन्धिके मंचपर विराजमान होकर एक एक कर भंग किया तो विलसनके गुण ग्राहकोंने भी आहुतिकी ध्वनिमें स्वर मिला कर एक स्वरसे चौदहों सिद्धान्तोंकी आहुति देते हुए कहा "ओ३म स्वाहा"

# स्वार्थ

जब विजयी राष्ट्रोंने जर्मनी और आस्ट्रियाके अधीन छोटे छोटे राष्ट्रोंको मुक्त किया तो यूरोप तथा अमरीकाके स्वातन्त्र्य प्रिय लोगोंने करतल ध्वनि की और जब उन्हीं विजयी राष्ट्रोंने स्वतन्त्र जातियोंको अपने अधीन कर लिया तब किसीने इसका प्रतिवाद नहीं किया, बल्कि उलटे पराजित राष्ट्रोंके प्रति स्वभाग्य निपटारेकी घोषणा की और अपने अधीन राष्ट्रोंसे कहा कि "तुम्हारे भाग्यका निपटारा करने वाले हम हैं, तुम नहीं हो"।

जब रूसमें राज विप्लव हुआ सब मित्र राष्ट्रोंने विप्लवकारियोंको बधाई दी। पर जब राज विप्लवसे वहाँके लोग लाभ उठाने लगे और जनपद राज्य प्रबन्ध अपने हाथमें लेने लगे तब वही राज्यविप्लवके गुण ग्राहक रूसके शत्रु होकर रूसके विरुद्ध लड़नेको तयार हो गये यहाँ तक कि मित्र राष्ट्रोंके समाचारपत्रोंने नवीन रूस जिसको 'बोलशेविक' साम्यवादी रूस कहते हैं उसके प्रति सैकड़ों झूठी खबरें उड़ायीं। उदाहरणके लिए यहाँपर केवल दो बातोंका उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा। प्रिंस क्रोपटकिन जोकि रूसके बड़े पुराने विप्लवी 'रिवोल्यूशनिष्ट' हैं और जो रूसके विप्लवसे आल्हादित हो इंगलिस्तानसे स्वदेश (रूस) को लौट गये थे और बोलशेविकोंसे असहयोग करते हुए एकान्तवास कर रहे थे इंगलिस्तानके पत्रोंने कई बार प्रकाशित किया कि उन्हें बोलशेविकोंने मार डाला, यहाँ तक कि उनकी तसवीरें भी छाप डालीं कि ये वही राज्यक्रान्तिकारी (बागी) हैं जिनको बोलशेविकोंने मार डाला है। वास्तवमें उनका बाल भी बांका नहीं हुआ था। वे अभी तक जीवित हैं।

एक और झूठी खबर बोलशेविकोंको बदनाम करनेके लिए विलायतमें यह उड़ायी गयी कि बोलशेविकोंने विवाह प्रथाको तोड़ दिया है और स्त्री मात्रको सारी जातिकी सम्पत्ति करार दिया है। जो चाहे वह किसी भी स्त्रीके साथ अचिरस्थाई संसर्ग करले। यह बात भी नितान्त झूठी है। क्योंकि मेरे पास बोलशेविकोंके विवाह सम्बन्धी नियम (कानून) मौजूद हैं। वहाँके विवाह नियम विलायतके "सिविल मैरेज ऐक्ट" के समान हैं। भेद इतनाही है कि रूसमें रजिष्ट्रारके यहाँ जानेकी ज़रूरत नहीं होती। यदि युवक तथा युवती कह दें की हम पति पत्नि हैं तो इतनाही काफ़ी है। वहाँ कोई हराम की औलाद नहीं मानी जाती। अर्थात् बाप तथा माका इतनाही कहना काफ़ी है कि यह हमारा लड़का या लड़की है। कानूनकी दृष्टिमें इतनाही काफ़ी है। बोलशेविज्म नवीन युगका नवीन आदर्श है और यह क्रमशः बिना गोला बारूदके सारे संसारमें फैल रहा है। इनकी सफलताका कारण यह है कि यह संसारके सम्मुख नवीन आदर्श रखता है और सब लोगोंको उनका नैसर्गिक स्वत्व देता है और गुलामीसे मुक्त करता है। बोलशेविज्म कोई नयी बात नहीं। साम्यवादको कार्यमें परिणितकर उसे रूसवाले अमलमें लाने लगे हैं। उनका कहना है कि हर एक आदमीको अपने हाथ व दिमाग से काम करना चाहिये और हर एक प्राणीको पेट भर खाना मिलना चाहिये तथा उसे आत्मोन्नति और मनोरञ्जनका अवकाश मिलना चाहिये। उनका कहना है कि थोड़ेसे धनी लोग असंख्य लोगोंसे काम कराकर सब नफ़ा आप

हजम करते हैं और श्रमजीवियोंको थोड़ीसी मजूरी दे टाल देते हैं। इन धनियोंके हाथोंसे कारखाने लेकर वे मजदूरोंसे उन्हें खुद अपने फायदेके लिए चलवा रहे हैं। बड़े बड़े प्रासाद और महलोंको छीनकर उन्होंने सामान्य लोगोंके निवास-स्थान व गरीब लोगोंके बालकोंके पालन पोषण तथा शिक्षाके लिए गृह बना दिये हैं उसी तरह बड़े बड़े तालुकेदारोंसे जमीन छीनकर उन्होंने छोटे छोटे काश्तकारोंको दे दिया है और यह नियम बना दिया है कि हर एक मनुष्य उतनीही ज़मीन अपने कब्जेमें रखे जितनी कि वह खुद जोत बो व खा कमा सकता है। राष्ट्रके बालक बालिकाओंकी शिक्षा और पालन पोषण बोलशेविक सरकारने अपने हाथमें ले लिया है। राज्यके व्ययसे बालक बालिकाओंकी शिक्षा होती है। उनके स्कूलोंमें केवल फीसही नहीं माफ है बल्कि उनको पढ़नेके लिए पुस्तकें और पेटकेलिए खाना मुफ्त मिलता है।

उनकी राज्यपद्धति जिसको 'सोवियट रिपब्लिक' कहते हैं बहुतही साधारण और सरल है। १८ वर्षकी उमरका पुरुष अथवा स्त्री जो खुद काम करके वा अपने कामके जरिये औरोंको फ़ायदा पहुंचा कर उदर पूर्ति करते हैं उन सबको अपना प्रतिनिधि चुननेका हक़ है। प्रतिनिधि निम्नांकित नियमानुसार चुने जाते हैं। हर एक गांवको अपने यहाँसे अपने परगनेकी सभामें फी सदी एक आदमी और कमसे कम तीन और ज्यादेसे ज्यादे पचास प्रतिनिधि भेजनेका हक़ है। परगने ( तालुके ) से ज़िलेकी सभामें एक हज़ार पीछे एक प्रतिनिधि भेजनेका स्वत्व प्राप्त है और प्रत्येक परगनेसे अधिकसे अधिक ३०० आदमी भेजने होते हैं। प्रान्तीय सभाके लिए प्रत्येक शहरसे २ ०० पीछे एक आदमी और प्रत्येक परगने या तालुकेसे प्रत्येक १०,००० पीछे एक प्रतिनिधि भेजनेका स्वत्व प्राप्त है और अधिकसे अधिक प्रतिनिधि किसी नगरके ३०० होने चाहिये। इन सबके प्रतिनिधि फिर समग्ररूसकी सोवियट कांग्रेसमें इस रीतिसे जाते हैं कि फी २५००० इलेक्टर्सका एक प्रतिनिधि शहरोंसे और प्रति १२५,००० इलेक्टर्सका एक प्रतिनिधि वा डेलिगेट प्रान्तीय सोवियटसे जाता है। सारी कांग्रेस अपनेमेंसे २०० सभासदोंको चुनकर एक समग्ररूसकी मध्यस्थ कार्य कारिणी "रशियन सेंट्रल एक्ज़िक्यूटिव कमेटी" नियत करती है और वही सब राज्यकार्यके प्रबन्धके लिए निम्नलिखित विभागों द्वारा चालीस मन्त्री नियत करती है। इस मन्त्री मण्डलको "कौंसिल-आफ-पीपल्स कमिसरीज" अर्थात् 'जनताके मुख्तारोंकी मण्डली' कहते हैं।

१८ विभागोंके नाम ये हैं।

| | |
|---|---|
| विदेशी विभाग | Foreign Affairs |
| घरेलू विभाग | Home Affairs |
| सामाजिक स्वास्थ्य | Social Welfare |
| न्याय विभाग | Justice |
| राज्य प्रबन्ध | State Control |

## स्वार्थ

| | |
|---|---|
| विभिन्न जातीय | Nationalities |
| कृषि विभाग | Agriculture |
| शिक्षा " | Education |
| आर्थिक विभाग | Finance |
| फौजी " | Military Affairs |
| जलसेना " | Naval " |
| वैदेशिक वाणिज्य | Foriegn Trade |
| तरीका तन्दुरुस्ती | Public Health |
| श्रमजीवी विभाग | Labour |
| डाक और तार विभाग | Post and Telegraph |
| रेल और सड़कोंका विभाग | Communications |
| खाद्यपदार्थ " | Food Supply |
| राष्ट्रीय किफायतशारी | Supreme Council of National Economics |

इस लेखसे मेरा आशय बोलशेविज्मकी व्याख्या देना वा सोवियट संगठनपर निबन्ध लिखनेका नहीं। अवकाश मिलनेपर यह कार्य अवश्य करूँगा। यहाँपर थोड़ा सा सोवियट प्रजातन्त्रके संगठनके विषयमें लिखनेकी आवश्यकता इसलिए हुई कि नवीन राज्यादर्श सोवियट प्रजातन्त्रही है। उसी राज्यपद्धतिका संसारके समस्त साम्राज्योंमें संचार हो रहा है। अब नेता व बुजुर्ग और पढ़े लिखे लोगोंका अंधोंकी तरह अनुकरण करनेका समय नहीं रहा। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचार शक्तिसे काम लेने लगा है। नेता तभी तक नेता है जब तक वह जनताकी आकांक्षा और मनोकामना तथा विचारोंको प्रगट करता है। अर्थात् यह जनताका जमाना है। साधारण स्थितिके लोग और युवकगणही नवीन युगके वास्तविक नेता हैं। श्रमजीवी और किसान लोग अपने स्वत्व-रक्षा और अपनी आर्थिक दशा सुधारनेको स्वयं प्रस्तुत हो गये हैं। अब जनताका वेग किसीके रोकने से नहीं रुकेगा। नवीन युगके नवीन आदर्शोंकी बुनियाद मानव प्रकृति व मानव जीवनपर निर्भर है। अस्तु रूससे लेनिन वा ट्रौट्सको खुद नवीन आदर्शके प्रचार करनेको भ्रमण करनेकी ज़रूरत नहीं। मनुष्यका स्वार्थ और स्वत्त्व-रक्षा और प्राकृतिक स्वराज्य कामना उसे जागृत करती है और यह समयानुसार युग युगमें अपने पैरों खड़ा होकर अपने बाहुबल वा आत्मीय शक्तिसे अपने भाग्यका निपटारा स्वयं करता है और देश कालके अनुसार स्वराज्य स्थापितकर अपने स्वत्त्वोंकी रक्षा करता हुआ जीवन निर्वाह करता है।

मुकुन्दीलाल

# ग्राम्य पञ्चायत विधान
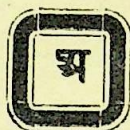
अपना राज्य आपही सँभालना अथवा अपने ऊपर आपही राज्य करना स्वराज्य है। यह स्वराज्य बड़ी प्यारी, बड़े मोलकी वस्तु है। पराधीनताके बराबर दुःख नहीं, और स्वाधीनताके बराबर सुख नहीं। स्वराज्य होनेसे ही स्वाधीनता प्राप्त होती है। हां, स्वाधीनों और स्वतन्त्रोंको भी अपनी स्वाधीनता या स्वतन्त्रताको एक निश्चित सीमाके भीतरही रखना पड़ता है। स्वाधीनताके जोममें उन्हें कोई ऐसा काम करनेका अधिकार नहीं रहता जिससे दूसरोंके सुखमें बाधा पड़े। पर इतने बन्धनसे कोई हानि नहीं होती। पराधीनता नरक है और स्वाधीनता या स्वराज्य स्वर्ग। इसीसे स्वराज्यकी इतनी महिमा है। इसीसे स्वराज्य प्राप्तिके लिए अनन्तकालसे लड़ाई झगड़े, युद्ध-विग्रह और रक्तपात होते चले आ रहे हैं। आयरलैण्डमें इस समय जो अराजकता फैल रही है उसका प्रधान कारण स्वराज्य प्राप्तिकी चेष्टाही है। आयरलैण्डको जाने दीजिए, अपनेही देशको लीजिए। यहाँभी इस समय जो जागृति हो रही है वहभी तो इसीलिए है।

अच्छा, यदि किसी तरहका स्वराज्य इस देशको मिलजाय तो क्या हो? तो यह हो कि ऊँची शिक्षा पाये हुए भारतवासियोंको ऊँचे ऊँचे अधिकार मिल जायँ और थोड़ी शिक्षा पाये हुओंको छोटे छोटे। बात यह है कि शासनके कामके लिए शिक्षाकी बड़ी ज़रूरत है। अशिक्षित मनुष्य कलेक्टर या कमिश्नरका काम नहीं कर सकता। यदि वह ज़बरदस्ती उस पदपर बिठा दिया जाय या खुदही बैठ जाय तो वह अपना काम अच्छी तरह न कर सकेगा। सो, स्वराज्य मिलनेसे राज्य-कार्य विशेषकर पढ़े लिखे लोगोंही-को अधिक करना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षित अधिकारी अपने अशिक्षित भाइयोंके सुखदुःखका ख्याल रखेंगे और उन्हें हर तरहके सुभीते करदेनेकी चेष्टा करेंगे। यदि कुछ अधिकारियोंसे पूर्णांशमें ऐसी आशा न भी की जाय तो भी स्वराज्यमें अधिक आराम मिलनेकी बहुत बड़ी सम्भावना है। परन्तु फिरभी अशिक्षितों और अल्पज्ञोंको दूसरोंहीका मुँह ताकना पड़ेगा। यदि हमारेही भाई हमपर शासन करें तो भी तो वे आत्मतुल्य न होंगे। गरीबके घरका प्रबन्ध यदि अमीर करने जायगा तो उससे ज़रूर कुछ न कुछ भूलें होंगी, क्योंकि अपने सुभीतेका जितना ज्ञान गरीबको होगा उतना अमीरको नहीं। अपने सुखदुःखका यथार्थ ज्ञान अपनेहीको हो सकता है।

अच्छा तो स्वराज्य पानेपर यदि अपढ़ और गँवार देहातियोंके लिएभी अपना शासन आपही करनेकी योग्यता करदी जाय तो कैसा हो? तो सोनेमें सुगन्ध हो जाय या नहीं? मैं तो समझता हूं कि ज़रूर हो जाय। बड़े लोग शासनके बड़े बड़े कामकरें और छोटे लोग छोटे छोटे। अपना काम आपही करनेसे अच्छा भी होता है। ज़िलेका कलेक्टर कर्तारपुर मौजेकी सफ़ाईपर कहाँतक ध्यान दे सकेगा? यह काम तो तभी अच्छा

होगा जब कर्तारपुर वालेही उसे करेंगे। इससे एक बात और भी होगी। देहातियोंको शासनके कामका सबक़ भी मिलेगा और बहुत सम्भव है इस तरह काम करते करते थोड़ा बहुत शिक्षित देहाती कालान्तरमें बड़े बड़े काम करनेके भी लायक़ हो जायँ। अतएव इस तरहकी योजनासे बड़े बड़े लाभ हो सकते हैं।

हिन्दुस्तानको स्वराज्य तो जब मिलेगा तब मिलेगा। पर इस सूबेके देहातियोंको उसका कुछ अंश मिल भी गया है। खेद है इस तरफ़ लोगोंका बहुत कम ध्यान गया है। स्वराज्य सम्बन्धी चर्चाका काम जिन लोगोंने अपने ऊपर लिया है वे बहुत बड़े आदमी हैं। छोटी छोटी बातोंकी ओर उनकी नज़र जा भी कैसे सकती है? चींटीको चारा मिला है या नहीं, इसकी पूछपाछ करना दिग्गजोंका काम नहीं। उन्हें तो पृथ्वीके चारों कोनोंको सिरपर सँभालनेसेही फ़ुरसत नहीं। अतएव इसमें उनका क्या दोष?

देहातियोंको स्वराज्यके स्वल्पांश मिलनेकी घोषणा निकले कई महीने हो चुके। यह घोषणा जिन्हें पढ़ना हो वे विलेज पञ्चायत ऐक्टमें पढ़ सकते हैं। इस सूबेके कानूनी कौंसिलने इस ऐक्टको २२ आश्विन १६७७ को पास किया था। गवर्नर जनरलने भी अब इसे जारी करनेकी मंजूरी देदी है।

इस पञ्चायती कानूनकी कृपासे देहातियोंको छोटे छोटे दीवानी और फौजदारी दोनों तरहके, मुक़द्दमे खुदही निबटा लेनेका अधिकार दे दिया गया है। इसके सिवा सफ़ाई और तन्दुरुस्ती तथा तालीमसे सम्बन्ध रखनेवाले भी कुछ अधिकार दिये गये हैं। और भी कुछ मुतफर्रिक काम देहाती पञ्चोंसे लिये जा सकेंगे। इन अधिकारोंको थोड़ा न समझिए। कल्पना कीजिए कि यदि कृष्णदत्तको देवदत्तने एक चपत मार दी और बेचारे कृष्णदत्तको फ़रियाद करनेके लिए ज़िलेके सदर मुकाम या दूरवर्त्ती किसी आनरेरी मैजिस्ट्रेटकी कचहरीको दौड़ना पड़ा। वहां उसे अनेक झंझट उठाने और बहुत कुछ ख़र्च करनेपर दाद मिली। इधर इस दौड़ धूपके कारण उसकी खेतीका काम रुका रहा। इससे उसकी बड़ी हानि हुई। ऐसे मामलोंमें फ़रियादीको दाद मिलनेमें भी सन्देह रहता है। क्योंकि वहाँ तो दाद देनेवाले गवाहोंहीकी आंखोंसे घटनाओंके दृश्य देखते हैं। जैसा दृश्य ये दिखाते हैं तदनुकूलही वे न्याय करते हैं। अपनेही गांव या पड़ोसके किसी गांवमें पञ्चायत मुक़र्रर हो जानेसे ये सारे झंझट दूर हो सकते हैं। पञ्च यदि ईमानदार और सच्चे हैं तो वे दूधका दूध और पानीका पानी करदेंगे। पञ्चायत होनेसे दो दो चार चार रुपयोंकी दीवानी नालिशोंके लिए भी देहातियोंको दूर जाने और ख़र्च करनेकी ज़रूरत न पड़ेगी।

पञ्चलोग अपने गांवोंकी सफ़ाईका भी बन्दोबस्त खुद कर सकेंगे; मदरसोंकी देख भाल कर सकेंगे. नये मदरसे खुल जानेकी सिफ़ारिश कर सकेंगे। जुरमाने वग़ैरहसे जो रुपया जमा होगा उसे वे पुराने कुवोंकी मरम्मतमें, नये रास्ते बनानेमें, और बरसातमें

नालों आदिको पारकरनेके सुभीते कर देनेमें ख़र्च कर सकेंगे। मतलब यह कि वे कितनेही विषयोंमें अपना शासन आपही कर लेंगे। किसी औरका मुँह उन्हें न ताकना पड़ेगा।

जुरमाने और फीस आदिसे जो रुपया वसूल होगा तथा जो रुपया गवर्नमेण्ट या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदिसे प्राप्त होगा वह सब पञ्चायतके फगड (कोश) में जमा होगा। पञ्चायतको अख़तियार होगा कि वह उस रुपयेसे ऐसे काम करे कि जिनसे उस हलकेके निवासियोंको फ़ायदा पहुँचे। उदाहरणार्थ कुवें और तालाब आदि खुदवाना या उनकी मरम्मत कराना, रास्ते निकालना और उन्हें दुरुस्त करना, सफ़ाई रखना और शिक्षा प्रचार करना।

गवर्नमेण्ट यदि ऐसे नियम बना दे तो पञ्चायतको सरकारी अफ़सरोंकी मदद भी करनी होगी और ज़रूरत पड़नेपर डिस्ट्रिक्ट बोर्डके कार्य्य निर्वाहमें भी योग देना पड़ेगा। कोई मैजिस्ट्रेट यदि चाहे तो माल और फौजदारीके मामले भी कलेक्टरकी मंजूरीसे पञ्चायतोंके पास तहक़ीक़ातके लिए भेज सकेगा।

यहाँतक जो कुछ लिखा गया उससे यह सिद्ध है कि इस कानूनकी कृपासे स्वराज्यका स्वल्प सुख भोगनेके साधन देहातियोंके लिए प्रस्तुत हो गये हैं। इसकी बदौलत अब वे अपना राजपाट सँभालनेकी शिक्षाभी प्राप्त कर सकते हैं और अपने पड़ोसियों, अपने भाइयों और आस पासके गावोंके निवासियोंको कुछ आराम भी पहुँचा सकते हैं। इस कानूनको पास करानेमें कौंसिलके कितनेही हिन्दुस्तानी मेम्बरोंने बहुत प्रयत्न और परिश्रम किया है। गवर्नमेगटकी इच्छाको तो प्रधान समझनाही चाहिए, क्योंकि यदि वह न चाहती तो इस कानूनका मसविदा कौंसिलमें पेश ही न हो सकता। पर जिन मेम्बरोंने गवर्नमेण्टपर बार बार दबाव डालकर इसे पास कराया है उनके भी हम लोग बहुत कृतज्ञ हैं। प्रजाकी हितचिन्तना करना और उनके सुभीतेके कानून पास कराना यद्यपि इन लोगोंका कर्तव्यही है तथापि संसारमें ऐसे बहुत कम लोग हैं जो अपना कर्तव्य अच्छी तरह समझते हों और उसके पालनकी चेष्टा भी यथाशक्ति करते हों। प्रस्तुत कानूनके मसविदेमें अनेक बड़े बड़े दोष थे। परन्तु जो कमेटी उस मसविदेपर विचार करनेके लिए बनायी गयी थी उसने उनमेंसे कितनेही दोष दूर कर दिये। इस कमेटीमें माननीय सी० वाई० चिन्तामणि भी थे। सरकारपर बार बार वाक्यरूप अंकुशका प्रहार करके इस कानूनको मसविदेके रूपमें पेश कराने और पेश होनेपर कमेटीमें उसकी कितनीही त्रुटियोंको दूर करानेका श्रेय सबसे अधिक उन्हींको है।

समझदार और शिक्षित देहातियोंको चाहिए कि इस कानूनको और उससे सबन्ध रखनेवाले नियमोंको पढ़ें। फिर मुनासिब पञ्च तजवीज करके पंचायत कायम करनेके लिए ज़िलेके हाकिमको दरख़ास्त दें। हर ज़िलेसे एक एक आदमी कौंसिलका मेम्बर चुना गया है। चुनाव हो गया है, काम निकल गया है। अतएव उन लोगोंमेंसे बहुत कमसे यह आशा है कि वे अपने ज़िलेके देहातियोंको इस कानूनसे होनेवाले लाभ बतलानेका विकट श्रम स्वीकार करेंगे और जगह जगह पंचायतें खुलवानेकी तजवीज करके उन लोगोंकी

सहायता करेंगे जिन्होंने उन्हें कौंसिलमें बैठनेका स्वर्गीय सुख सुलभ कर दिया है। अतएव देहाती आदमी यदि अपना काम करनेकी खुदही चेष्टा न करेंगे तो इस विलेज पंचायत ऐक्टका पास होना ही प्रायः व्यर्थ हो जायगा। उसी तरह व्यर्थ हो जायगा जिस तरह कि विलेज कोर्टस् ऐक्ट आज कोई २८ वर्षसे बराबर प्रायः व्यर्थ होता चला आरहा है। क्योंकि कितनेही जिले अब भी ऐसे हैं जहाँ एक भी विलेज कोर्ट नहीं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी।
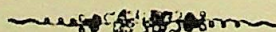
# भारतवर्षका प्राचीन और अर्वाचीन व्यापार

भारतवर्षके पश्चिममें अरबका समुद्र है। दक्षिणमें भारत समुद्र और पूर्वमें बंगालकी खाड़ी है। मालाबार और कारोमण्डलके किनारोंपर व्यापारके लिए अनेक बन्दर हैं। जिस देशकी स्थिति इस प्रकारकी हो तो यह बात स्वयं सिद्ध है कि उस देशका अन्य देशोंके साथ समुद्रके मार्गसे व्यापार सदैवही होता रहा होगा। चाहे इस बातके प्रमाण इतिहासमें अत्यन्त प्राचीनताके कारण पूर्णतया न मिल सकें। तदपि प्रमाणोंकी कमी नहीं है ऋग्वेदमें जो संसार भरमें सबसे प्राचीन पुस्तक है व्यापार सम्बन्धी समुद्र यात्राओंके कितनेही प्रमाण हैं। यह बात ऐतिहासिक रीतिसे सिद्ध हो गयी है कि विक्रमसं १६५७ वर्ष पहिले मिश्रदेश और भारत-वर्षमें पारस्परिक व्यापारिक सम्बन्ध था। यह व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गोंसे होता था। किरांचीसे बलूचिस्तानको माल जाता था और वहाँसे ईरानके किनारे किनारे मिश्र और यूनानको पहुँचता था। व्यापारका जल-मार्ग कैम्बे और बरोचसे ईरानकी खाड़ी तक माल जानेका था और मालाबार किनारे और सीलोनसे अदन और मोखा तक जाता था। इति-हाससे यह बात भी सिद्ध हुई है कि एशिया माइनर, ईराक, सीरिया, फारस और अरबमें जो प्राचीन राज्य थे उनके साथ भी हिन्दुस्तानका व्यापार स्थल मार्गसे था। ईरान और भारतवर्षमें परस्पर व्यापार ही नहीं होता था बल्कि राजनैतिक विचारोंका परिवर्तन भी होता रहता था। यह बात भी प्रमाणित हो चुकी है कि भारतवर्ष और चीनमें ३५०० वर्ष पहिले स्थल मार्गसे व्यापार होता था। जबसे भारतवर्षमें सभ्यताका विकास हुआ तबसे उसका अन्यदेशोंके साथ व्यापारका सम्बन्ध भी हुआ। जिस प्रकार पूर्वमें सूर्य उदय होता है उसी प्रकार पूर्वसे सभ्यताका विकास हुआ है। पश्चिम देशोंमें सभ्यताका विकास होनेसे पहिले पूर्वी देशोंमें सभ्यताकी स्थिति बहुत प्राचीन समयसे दृढ़ हो चुकी थी। पूर्वी देशोंहीसे संसारके बड़े बड़े धर्मोंकी उत्पत्ति हुई। हिन्दू धर्म, पारसी धर्म, बौद्ध धर्म, कनफ्यूसियन धर्म, ईसाई धर्म और मुसलमानी धर्म—इन सब धर्मोंका जन्म पूर्वीय देशोंमें हुआ है। जिस प्रकार इस समय सभ्यताके बढ़नेसे व्यापार उद्योग, कला आदिका विकास होता जाता है उसी प्रकार प्राचीन समयमें भारतवर्षकी सभ्यता बढ़नेसे भारतवर्षके शिल्पकला व्यापार आदिकी उन्नति होती रही।

*भारतके व्यापारका विकास जिन जिन समयोंमें हुआ उनका कुछ हाल यहां लिखते हैं :—*

विक्रमसे १०५७ वर्ष पहिलेसे ५०० वर्ष पहिले तक भारत व्यापारकी गति मन्द रही। परन्तु ईरानके वैरियस बादशाहके समयसे उसकी बहुत उन्नति हुई। इस बादशाहके राज्यकी सीमाएँ पूर्वमें पंजाब बल्कि गंगा तट तक हो गयी थीं। यह बात भी मालूम हो गयी

है कि विक्रमसे पाँचवीं शताब्दी पहिले इस बादशाहका राज्य पंजाबमें भी था और भारत-वर्षके राजा इसको भेंटमें बहुतसा चाँदी, सोना, भारतवर्षके शिल्प कलाओंकी सुन्दर और मनोहर चीजें, मसाले और चन्दन भेजा करते थे। ईरानमें चन्दनकी बहुत माँग थी क्योंकि ईरानके बादशाहोंको जो पारसी धर्मके थे अपने अग्नि मन्दिरोंमें जलानेके लिये बड़ी आवश्यकता रहती थी। भारत व्यापारकी वृद्धिका तीसरा काल वह था जब सिकन्दर बादशाह पंजाबमें आया और सिन्ध नदीके रास्तेसे तक्षशिला तक जहाज़ोंके द्वारा गया। इस समय बैबेलोनिया देशके साथ व्यापारमें फिर उन्नति हुई और यह उन्नति विक्रमसे पहिले प्रथम शताब्दी तक रही, जब यूनानी और रोम वाले भारतवर्षके जवाहिरात, मोती और बढ़िया बढ़िया मसाले बड़ी लालसासे मँगाया करते थे। जिस समय रोम देशका बादशाह नीरो था उस समय रोमके साथ भारतका व्यापार बहुत बढ़ा चढ़ा था, उसके पीछे जब अगस्तस और दूसरे बादशाह रोमके राजसिंहासनपर बैठे तब भारतवर्षकी वस्तुओंकी इतनी माँग बढ़ गयी कि, उनके विना उच्चकोटिके नर नारी रहही नहीं सकते थे। जो चीजें भारतवर्षसे इस देशमें जाती थीं उनमें मुख्यतः रेशमी कपड़, सूती छींटें, मसाले, विशेषत: जावित्री आदि वस्तुएँ थीं।

जिस समय रोममें मुसलमान बादशाहोंका राज्य स्थापित हुआ, उस समय भी भारतवर्षका व्यापार उस देशके साथ बहुत बढ़ गया। इसके पीछे जिस समय ईसाई धर्म सम्बन्धी युद्ध मुसलमानोंके साथ होने लगे तब इस व्यापारकी फिर उन्नति हुई। पंद्रहवीं शताब्दीमें जब पाश्चात्यदेशोंके लोगोंको पूर्वी द्वीपोंसे परिचय होने लगा उस समय इस व्यापारने फिर उन्नति की। इंग्लिस्तानकी महारानी एलिज़बेथके समयमें अंगरेजोंका हिन्दुस्तानके साथ सम्बन्ध हुआ। सं० १८६० तक जब ईस्ट इण्डिया कम्पनीके हाथमें भारत-वर्षका कुल व्यापार न रहा उस समय पश्चिमी देशोंके अनेक व्यापारी हिन्दुस्तानमें आये और यहाँकी चीज़ें अपने अपने देशोंमें ले गये। सं० १९१५ में जबसे भारतवर्षका राज्य इंग्लिस्तानके राज्य शासनमें आया है और ईस्ट इण्डिया कम्पनीका कारबार उठा दिया गया है तबसे इस व्यापारने कुछ औरही रूप धारण किया है।

इतिहास-कालके पूर्वका व्यापार कैसा था इस विषयमें हम कुछ नहीं कह सकते, लेकिन विक्रमसे ३०५७ वर्ष पहिलेके सिक्के शिलालेख, अन्य प्रकारके लेख ऐसे मिले हैं जिनसे तत्कालीन भारत व्यापारका पता लगता है। विक्रमसे १५५७ वर्ष पहिले तो भारत-का व्यापार पश्चिमी देशोंमें अच्छी तरह स्थापित हो चुका था, पश्चिमी देशोंमें आराइश-की सभी चीजें भारतवर्षसे जाती थीं। व्यापार सम्बन्धमें पहिले पहिल भारतवासियोंको काम अरब देशसे पड़ा, क्योंकि अरब देश भारतके समीप था। अरब और अफ्रीकाके बीचमें लाल समुद्र है और यह लाल समुद्र व्यापारिक दृष्टिसे बड़े मार्केकी जगह है। अत्यन्त प्राचीन समयसे समस्त व्यापारिक वस्तुएँ चीनसे लगाकर मिश्र और रोम देशों तक लाल समुद्रके ही मार्गसे गयी हैं। लाल समुद्रके मुहानेपर बाबुलमण्डप स्थानपर अरब व्यापारियोंका

जमाव रहता था। हिन्दुस्तानसे जितना माल केम्बे और बरोचकी खाड़ीसे आता था वह सब इसी जगहपर पहुँचता था। जिस तरह अरबके व्यापारियोंके लिए बाबलमंडप प्रसिद्ध व्यापारिक स्थान था, उसी तरह हिन्दुस्तानके बाहर जानेवाले मालके लिए बरोच और केम्बे स्थान थे। अरबवाले लोबान, हिना और ऐसीही दूसरी चीजें जो अरबमें होती थीं बाबल-मंडपके किनारे ले आते थे और वहाँ इनके बदलेमें हिन्दुस्तानके व्यापारियोंसे मसाले, कपूर, जावित्री, कपड़े, रूई, सोना, छींटें, ढाकेकी मलमल, आदि वस्तुएँ लेते थे।

सोना हिन्दुस्थानमें कई स्थानोंसे निकलता है लेकिन उस समय सोना तिब्बतके पास बहुत निकलता था। ईरानके बादशाह डैरियसको हिन्दुस्तानवाले अपना कर सोनेमेंही देते थे, इसका मूल्य १ करोड़ उनतीस लाख रुपया होता है तिब्बतसे सोना पेशावरमें आता था और पेशावरसे किराची और बरोचमें और बरोचसे वह मिश्र, असीरिया और बैबेलोनिया आदि देशोंमें जाता था और इन देशोंमें वहाँके बादशाहोंके मन्दिरोंमें और उनके जेवरोंके काममें आता था। जिस समय रोम देशमें अगस्तस बादशाह था तो हिन्दुस्तानकी वस्तुओंकी ऐसी माँग हुई कि रोम देशसे मिश्रके मार्गसे लाल समुद्रको जहाज आते थे और इनमें हिन्दुस्तानके मसाले, जड़ी बूटियां, पर, हाथीदांत, सोना आदि ले जाते थे।

जावित्री को रोमवाले बहुत पसन्द करते थे क्योंकि इसकी सुगन्ध उन्हें बहुत पसन्द थी। जब रोमके बादशाह नीरोकी रानी मरी थी तब वह जावित्रीसेही जलाई गयी थी और इसमें १२५० मन जावित्री जली थी। रोमवाले काली मिर्च और सोंठको भी बहुत पसन्द करते थे और ये सब चीजें भारतवर्षहीसे वहां जाती थीं और उनकी वहाँपर ऐसी अधिक माँग थी कि उनका मूल्य सोनेके मूल्यके बराबर था यानी एक तोला जावित्री या काली मिर्च एक तोले सोनेके बराबर थी, इस कीमतसे आप समझ सकते हैं कि १२५० मन जावित्री जिसमें नीरो बादशाहकी महारानी जलाई गई थीं कितनी कीमतकी होगी? यदि सोनेका भाव २५) तोला हो तो इसकी कीमत दस करोड़ रुपये होती है। उस समय भारतवर्षके मलमलकी कीमत भी रोममें बहुत अधिक थी, उच्च कोटिकी महिलाएँ ढाकेहीके मलमल पहनती थीं और यह हिन्दुस्तानसे इतनी जाती थी कि रोम देशमें इस बातकी शिकायत थी कि इस देशका सब चांदी सोना, भारतवर्षहीको चला जा रहा है। उस समय रोम और भारतवर्षके व्यापारमें व्यापारकी बाकी भारतवर्षकी ओर अत्यन्ताधिक रहती थी, यह बाकी एक या डेढ़ करोड़ रुपया सालकी थी। उन दिनों चीन देशका रेशमी कपड़ा पश्चिमी देशोंको भारतवर्षकेही मार्गसे जाता था इस मालको व्यापारियोंके झुण्ड स्थल-मार्ग-से लाया करते थे। चीनसे हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानसे पश्चिमकी ओर कास्पियन समुद्र तक आने जानेके कई स्थलमार्ग थे। तिब्बत और चीनके रेशमी कपड़े और दूसरी वस्तुएँ पेशावरमें आती थीं और वहाँसे वे बरोच और केम्बेकी खाड़ीमें लायी जाती थीं और इन जगहोंसे वे हिन्दुस्तानी जहाजोंमें एशिया माइनर तक पहुँचायी जाती थीं। काठियावाड़के मल्लाह बड़े परिश्रमी और हिम्मतवाले थे वे इन चीजोंको व्यापारके लिए जहाज़ोंमें लादकर

भारतवर्षसे अन्य देशोंको ले जाया करते थे। यह बात दो तीन हज़ार वर्ष पहिलेकी है। स्थल मार्गोंसे भी व्यापार बहुत कुछ होता था। असीरिया और बैबेलोनियाके बादशाहोंने व्यापार मार्गोंकी रक्षा करनेके लिए और व्यापारी और उनके भारवाहक पशुओंको आराम देनेके लिए इन मार्गोंपर जगह जगह बड़ी बड़ी सरायें बनवा दी थीं, इन सरायोंके खण्डहर कहीं कहीं अब भी मिलते हैं।

भारतवर्षमें लोग जहाज़ बनानेकी कला अच्छी तरहसे जानते थे जब सिकन्दर बादशाहने हिन्दुस्तानपर चढ़ाई की है और जब वह यहांसे लौटा है तो उसने अपनी बहुत सी फ़ौज हिन्दुस्तानके बने हुए जहाज़ोंमें सिंध नदीके मुहानेपर भेजी थी। इतिहासज्ञ लिखते हैं कि सिकन्दर बादशाहने इस कामके लिए २००० जहाज़ हिन्दुस्तानकी लकड़ीकेही बनवाये थे। भारतवर्षके मयूर सम्राटोंके समय जहाज बनानेका काम खूब बढ़ा चढ़ा था। ये सम्राट् जहाज़ोंके बड़े शौकीन थे। जहाज़ोंके द्वारा सिंध और गंगा नदियोंपर बहुत व्यापार होता था। जिनको इस बातमें आशंका हो वे अजन्ता गुफाओंके अत्यन्त प्राचीन चित्र जो दिवारों-पर खिंचे हैं देख सकते हैं। इन चित्रोंमें अनेक प्रकारके जहाज़ बने हैं। अशोक सम्राट्के समयमें भारवर्षका घनिष्ठ सम्बन्ध सीरिया, मिश्र, साइरीन, मैसेडोनिया आदि देशोंसे हो गया था। इस सम्राट्ने अपने विशाल राज्यकी सीमाओंपर बौद्ध धर्म सम्बन्धी स्तम्भ स्थापित किये थे और इन्होंने इस धर्मका बहुत दूर दूर तक प्रचार किया था। इस धर्म प्रचारसे हिन्दुस्तान की चीज़ोंका व्यापार दूर दूर अन्य देशोंमें हो गया था, इसी तरह दक्षिण भारतमें अन्ध्र राजाओंने व्यापारको बड़ी तरक्की दी थी। भारत और मिश्र देशोंमें परस्पर व्यापार स्थापित करनेके लिए अशोक सम्राट्ने सिकन्द्रिया नामक स्थानको व्यापारकी मण्डी बनायी थी उसी समयमें भारतवर्ष और पश्चिमी देशोंके बीचमें बड़े बड़े स्थल मार्ग खोले गये थे। ये मार्ग मध्य एशियामें होकर हाक्सस नदीके किनारे किनारे कास्पियन और काले समुद्रों तक जाते थे अथवा ईरान होकर एशिया माइनरको या ईरानकी खाड़ी और यूफ्रेटीज नदीसे दमिश्क और पामरा स्थानमें होते हुए लैवन्ट्र तक जाते थे।

भारतवर्षमें जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी स्थापित हुई तो उसने भारतवर्षकी सब मूल्यवान वस्तुओंका व्यापार अपने हाथमें ले लिया। भारवर्षकी अत्यन्त मनोहर छींटें, बहुमूल्यवान ढाकेकी मलमनें मालाबार किनारेके बने हुए सुन्दर सुन्दर रेशमी कपड़े इन सबका व्यापार इस कम्पनीके हाथमें चला गया। ये चीज़ें इस कम्पनीके द्वारा इंगलिस्तानको बहुत जाती थीं। जब इंग्लिस्तानवासियोंने देखा कि इन चीज़ोंके आनेसे उनके देशी व्यापारको धक्का लगता है तो इन चीज़ोंपर भारीसे भारी महसूल लगा दिया। छींटों और रेशमी कपड़ोंपर ८०), ६०) सैकड़ेका महसूल लगा दिया गया और इसका यह परिणाम हुआ कि भारतवर्षका व्यापार अत्यन्त अवनतिकी दशामें पहुँच गया। इस तरहसे भारतके व्यापारका विध्वंस होता रहा, यहाँतक कि सं० १८८७ में इंगलिस्तानके व्यापारियोंने जो भारतवर्षसे व्यापार करते थे पार्लमिन्टमें अर्जी दी कि इन भारी महसूलके कारण व्यापा-

रका नाश हो रहा है, तथापि यह व्यापार दिनपर दिन घटता ही गया। ढाकेके मलमलकी तिजारत बहुत कुछ नष्ट हो गयी। जिस समय वाट साहबने स्टीम इञ्जन बनाया और बुननेकी कल बनायी गयी तो लंकाशायरका व्यापार बहुत कुछ बढ़ गया और हिन्दुस्तानके कपड़ेका व्यापार नष्ट हो चला। प्राचीन कालमें हिन्दुस्तानके व्यापारपर कोई राज्यकी तरफ़से जाने आनेमें रुकावट न थी और न मालपर महसूल ही लिया जाता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनीने स्वतंत्र व्यापारमें बाधाएँ डालीं और इस कम्पनीकी कार्यवाहीसे ही इंगिलस्तानमें व्यापारपर राज्यकी तरफ़से कई तरहकी रुकावटें लगायी गयीं और ये रुकावटें सं० १६०२ तक बराबर चली आयीं, इसके पश्चात् इंगिलस्तानमें फ्री ट्रेड हो गया यानी व्यापारपर राज्यकी तरफ़से कोई रुकावटें नहीं रहीं। इन दिनों भारतवर्षका व्यापार बहुत बढ़ा चढ़ा है परन्तु इस व्यापारमें भारतवासियोंको उतना लाभ नहीं है जितना प्राचीन समयके व्यापारमें था। प्राचीन समयमें भारतवर्षमें बड़ी बड़ी कीमती चीज़ें बनती थीं जिनसे भारतकी औद्योगिक दशा बड़ी उन्नतिपर थी। ये वस्तुएँ अन्य देशोंको जल और स्थल दोनों मार्गोंसे जाया करती थीं और इनके व्यापारसे भारतवासियोंको अत्यन्त लाभ होता था, इसके अतरिक्त भारतवर्षमें स्थान स्थानपर चीज़ोंके बनानेके कारखाने थे। इन्हीं चीजोंको भारतवासी काममें लाते थे। यह बात भलीभांति ज्ञात है कि अंगरेजी राज्यसे पहले भारतवर्षमें अन्य देशोंसे कोई बनी हुई वस्तु नहीं आती थी बल्कि भारतवर्षसे ही अनेक प्रकारकी बनी हुई वस्तुएँ अन्य अन्य देशोंको जाया करती थीं। यदि हम भारतवर्षके प्राचीन हिन्दू सम्राटोंके समयकी सभ्यताका भी स्मरण न दिलावें और केवल मुसलमानी राज्यके समयकी बातें ही लिखें तो आपको मानना होगा कि इस पिछले समयमें भी भारतवर्षकी सभ्यता उस समयके सब देशोंसे बढ़ी चढ़ी थी। जितने ऐश आरामकी चीज़ें अथवा शिल्प-कला सम्बन्धी वस्तुएँ इस समयमें थीं उतनी उस समय अन्य देशोंमें नहीं थीं। अकबर, जहाँगीर, शाहजहां आदि महा प्रतापी मुसलमान बादशाहोंके दरबारोंका हाल अंगरेजी लेखकोंने भी लिखा है जिससे मालूम होता है कि उस समय शिल्प-कला सम्बन्धी वैभव इतना बढ़ा हुआ था कि यूरोपके किसी बादशाहके दरबारोंमें ये बातें देखनेमें नहीं आती थीं। उस समय इन दरबारोंका सब सामान भारतवर्षका ही बना हुआ था, विदेशी वस्तु कोई भी न थी। अब प्रश्न होता है कि इन्हीं पिछले डेढ़ सौ वर्षोंमें जबसे अंगरेजी राज्य स्थापित हुआ है तो ऐसी कौन सी बात हुई है कि जिससे भारतवासी उन सब चीज़ोंको बनाना भूल गये और उन्हें अपने प्रतिदिनकी आवश्यक वस्तुओंके लिए भी अन्य देशोंका मुँह देखना पड़ा। भारतीय व्यापार सम्बन्धी ग्रन्थ पढ़नेसे भलीभांति ज्ञात होता है कि भारतके व्यापार तथा शिल्प-कला सम्बन्धी औद्योगिक धंधे किसी दृढ़ राजनीतिसे अवनति दशापर पहुँचा दिये गये हैं। यदि ऐसी कोई कूटनीति न होती तो आज भारतकी व्यापारिक और औद्योगिक दशा पहिलेसे दस गुनी उन्नतिपर होती क्योंकि इस समयमें अनेक प्रकारकी कलें बन गयी हैं जिनकेद्वारा वस्तुओंके बनानेमें अनेक सुविधाएँ हो गयी हैं।

## स्वार्थ

जिन देशोंके मनुष्य किसी चीज़कोभी बनाना नहीं जानते थे वे इन कलोंकेद्वारा अब अनेक भांतिकी चीज़ें बनानेमें बड़े कुशल और निपुण हो गये हैं और अपनी कलाकुशलतासे अन्य देशोंका व्यापार अपने हाथोंमें लेकर श्रीसम्पन्न हो गये हैं, तो क्या भारतवासी जो हजारों वर्षोंसे अनेकों प्रकारकी बहुमूल्यवान वस्तुओंको बनाते थे और इन वस्तुओंको संसारके सभी सभ्य देशोंमें पहुँचाकर अपनी बुद्धिमत्ताका परिचय देते थे और उनके आदर-सम्मान और प्रसंशाके पात्र बने हुए थे, इन नवीन यंत्र साधनोंद्वारा अपनी पहिली कार्य-कुशलताकी अपेक्षा दस बीस गुने प्रवीण और वैभवशाली नहीं हो सकते थे? आज तो भारतवासियोंपर यह आक्षेप है कि ये लोग शिल्प-कला आदि उद्योगोंकी उन्नति करनेकी योग्यताही नहीं रखते हैं। बड़े खेदकी बात है कि जो मनुष्यजाति भूमण्डलपर विद्या, कला, सभ्यतामें अद्वितीय थी बल्कि इन विषयोंकी अन्य देशोंमें जन्मदाता गिनी जाती थी वही आज ऐसी पददलित, मूर्ख और असभ्य गिनी जाती है।

इस समय भारतवर्षका व्यापार जो भारतमें अन्यदेशोंसे आनेवाली और उससे अन्य देशोंमें जानेवाली चीज़ोंसे मालूम हो सकता है इस प्रकार है सं० १९७४ में, १६४३५४८९४९) रुपयेकी कीमतकी चीज़ें आयीं और २४४७६४५२१९) रु० की चीज़ें यहाँसे बाहर गयीं। इसी तरह सं० १९७५ में १८८५६२४३१७) रु० की चीज़ें बाहरसे आयीं और २५५३२२६१०३) रु० की चीजें गयीं और सं० १९७६ में २२१७२९६००८) रु० की चीज़ें आयीं और ३३२१४१८०७६) रु० की चीजें गयीं। इन व्यापारिक अंकोंसे सामान्य मनुष्योंको यह भ्रम हो सकता है कि भारतवर्षका व्यापार बड़ी उन्नति दशामें है इसलिये वहाँके मनुष्य बड़े श्रीसम्पन्न और सुखी होंगे परन्तु यह बात नहीं है आनेवाली वस्तुएँ अधिकांश बनी हुई हैं जिनके व्यापारका असीम लाभ बनानेवालोंको हुआ है और होता है। इस देशसे जानेवाली वस्तुएँ लगभग सभी वे बनी हैं जिनके जानेसे भारतवासियोंको मजदूरी और बोझा ढोनेके बराबर लाभ है। यहाँसे प्रतिवर्ष पचास साठ करोड़ रुपयेकी कीमतका अनाज बाहर चला जाता है जिससे देशमें सदैव ही दुर्भिक्ष रहता है जिसने भारतवासियोंको दीन, दुखी और निर्बल बना दिया है। इसी तरह साठ सत्तर करोड़की रूई प्रति वर्ष बाहर जाती है जिसके कपड़े बनकर भारतवर्षमें आते हैं तब भारतवासी अपनी नंगी पीठको ढक सकते हैं। २६ करोड़ रुपयेके तेलके बीज जाते हैं इन बीजोंसे तरह तरहके तेल तैयार होते हैं, और विलायतके कारखानोंमें जितनी कलें चलती हैं उन सबोंमें इसी तेलसे काम लिया जाता है। १५ करोड़की खालें जाती हैं जिनसे तरह तरहकी चमड़ेकी चीज़ें बनकर भारतवर्षमें आती हैं और आठ दस गुनी कीमतमें बिकती हैं, इन चीज़ोंसे पक्का सामान भारतवर्षमेंही क्यों न बनाया जाय और सरकारने इन चीज़ोंके बनाये जानेके लिए अबतक क्यों सुविधाएँ नहीं कीं? इनका उत्तर देना कठिन है। यदि ये सब चीज़ें इसी देशमें बनने लगें ख़ासकर रुईकी चीज़ें तो विलायतसे आनेवाली चीज़ोंमें आधा अन्तर पड़ जाय फिर पचास साठ करोड़-का सूती कपड़ा भारतवर्षमें क्यों आये? जिस समय भारतवर्षमें बाहरसे बनी हुई चीज़ोंका

जाना बन्द नहीं तो कमसे कम चौथाई रह जाय और भारतवर्षकी कच्ची जानेवाली चीज़ें यहींके कारखानोंमें बनकर आनेवाली चीज़ोंकी जगहकी आवश्यकताएँ पूरी करदें तब समझो कि भारतवर्षकी दशा पलटी। अंगरेजी राज्यसे पहिले भारतकी आर्थिक दशा यही थी, अब हम उसी दशाको डेढ़ दो सौ वर्ष अंग्रेजी राज्य होते हुए चाहते हैं। इस बात-को सभी जानते हैं कि अंगरेजी राज्यके समय जितना अमन हुआ है उतना पहिले अन्य विदेशी राज्योंमें कभी नहीं रहा। रेल और तारके द्वारा जो देशमें सुविधाएँ हुई हैं वे भी बहुगणनीय हैं पर जो हानि व्यापार, उद्योग धन्धे, शिल्प-कला आदि कार्य्योंकी न्यूनतासे हुई है वह अत्यन्त शोचनीय है।

यह हर्षकी बात है कि सरकारका ध्यान अब इस ओर कुछ हो चला है और इसका कारण यूरोपीय महायुद्ध है, क्योंकि उस समय भारतवर्षसे जितनी चीज़ें चाही गयीं थीं उतनी नहीं मिल सकीं। तब सरकारको यहाँकी औद्योगिक हीन दशापर ध्यान देना पड़ा। इस दशाको सुधारनेके लिए सरकारने एक औद्योगिक कमीशन बैठाया था जिसमें सुधारके उद्देश्यसे बहुतसे विचार प्रगट किये गये हैं, यदि ये विचार कार्यमें परिणित हो जायँ तो वर्त्तमान शोचनीय दशामें बहुत कुछ परिवर्त्तन हो जाय। पर भारतके व्यापारकी पूर्ण उन्नति तो स्वराज्य स्थापित करनेपरही हो सकती है।

कन्नोमल

# राष्ट्र-संघकी प्रतिनिधि सभा

स्विज़लैंडके विख्यात स्वतंत्रताप्रिय जेनेवा नगरमें राष्ट्र-संघकी प्रतिनिधिसभाका अधिवेशन समाप्त हो गया। दो वर्ष हुए, फ्रान्सकी राजधानीके महलोंमें राष्ट्र संघका गर्भाधान हुआ था। जन्म लेतेही इसका पहिला कार्य्य अपने पिता का भक्षण हुआ। जिन सिद्धान्तोंको लेकर राष्ट्रपति विलसनने इस आदर्शको संसारके सामने रखा था वे सिद्धान्त राजनैतिक दांव पेंचके हथौड़ेकी चोटपर चोट सहकर, कैसे चूर्ण हुए, इसको दिखलानेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। पर जिन दोषोंको साथ लेकर इसका जन्म हुआ उनका दिखला देना बड़ा आवश्यक है।

५ वैशाख सं० १९७६ विक्र० को जो संगठन सर्वसम्मतिसे स्वीकृत हुआ था उसके अनुसार इस संघकी दो मुख्य संस्थायें हैं, एक तो समिति ( कौंसिल ) और दूसरी प्रतिनिधि-सभा ( असेम्बली )। समितिके पांच मुख्य सदस्य माने गये थे, अमरीका, ब्रिटेन, फ्रान्स, इटली और जापान। हालमें अमरीकाके निकल जानेसे अब केवल चारही रह गये हैं। इनके अतिरिक्त प्रतिनिधि सभाको भी इस समिति में चार सदस्य भेजनेका अधिकार है। इस समितिकी प्रतिवर्ष एक बैठक आवश्यक है, पर प्रतिनिधिसभाके कई एक अधिवेशन हो सकते हैं। सभामें संघके सभी राष्ट्र अपने अपने प्रतिनिधि भेज सकते हैं। संघके सदस्योंमें इन राष्ट्रोंके नाम हैं—अमरीका, बेलजियम, बोलविया, ब्रेजिल, ब्रिटिश सामाज्य ( कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूज़ीलैण्ड और भारतवर्ष ) चीन, क्यूबा, इक्वेडर, फ्रान्स, ग्रीस ( यूनान ), ग्वाटीमाला, हैती, हेजाज, हांडुराज, इटली, जापान, लाइबीरिया, निकार्गुआ, पनामा, पीरू, पोलैण्ड, पुर्तगाल, रुमानिया, सर्ब और स्लवराष्ट्र, श्याम, ज़ीकोस्लोम्बेका, और उर्गुये। इनके अतिरिक्त जिन राष्ट्रोंने युद्धमें भाग नहीं लिया था अर्थात अर्जेन्टाइन, चाइल, कोलम्बिया, हालैण्ड, नार्वे, स्वीडेन, स्विटज़लैंण्ड, सालवेडर, स्पेन, डेन्मार्क, परागुये, फारस, और वेनेजुइला निमंत्रित सदस्य माने गये हैं।

इस संगठनसे स्पष्ट है कि संघ विश्वभावी नहीं है। जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस और रूम, इन पराजित राष्ट्रोंको इसमें स्थान नहीं दिया गया है। इसका यह सबसे बड़ा मुख्य दोष है। इतनाही नहीं अब अमरीका भी जिसके राष्ट्रपतिने सबसे प्रथम यह आदर्श संसारके सामने रखा, इसके पक्षमें नहीं है।

इस दोषसे जो दूसरा दोष उत्पन्न होता है वह शक्तिका ह्रास है। संघके पास कोई ऐसा उपाय नहीं है जिसके बलपर वह दूसरे राष्ट्रोंको अपनी आज्ञा माननेकेलिए बाधित कर सके। इस तरहके उपाय दो ही तीन हो सकते हैं। इनमे सबसे प्रथम नैतिक बल है, परन्तु यह बल बिना विश्वव्यापकताके नहीं आसकता। रूस, जर्मनी, और आस्ट्रिया के विषयमें तो यह कहा जा सकता है कि ये राष्ट्र आज कल अराजकता की गोदमें खेल रहे हैं, पर अमरीकाकेलिए तो ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता। विश्वसमितिके विरुद्ध

## राष्ट्र-संघकी प्रतिनिधि-सभा

किसी राष्ट्रको सिर उठानेका साहस नहीं हो सकता। जो राष्ट्र इसमें भाग नहीं ले रहे हैं, उनको यह कहनेका पूरा अधिकार है कि तुम्हारी आज्ञा हमें माननी नहीं है। पर यदि वे इसके सदस्य होते तो उन्हें ऐसा कहनेका अवसर बहुत कम मिलता। दूसरा उपाय सैन्यबल हो सकता है। पर संघकी कोई स्वतंत्र सेना नहीं है। संगठनके समय फ्रान्सके प्रतिनिधिने ऐसी सेना रखनेकेलिए प्रस्ताव किया था पर इसपर उसकी हंसी की गयी थी क्योंकि ऐसा करना स्वार्थी सदस्योंके लिए हितकर न था। यह कहा जा सकता है कि मुट्ठीभर सिपाहियोंका स्वार्थी संसारपर दबावही क्या हो सकता है क्या बोलशेविक नेता लेनिनका इस खेलवाड़से बाल भी बांका हो सकता था? पर यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि यदि संघ विश्वव्यापी होता तो इसका एक सिपाही भी इसकी विश्वव्यापिनी सत्ताका प्रत्यक्ष चिन्ह हुआ होता। सड़कपर खड़ा पुलिस का एक सिपाही केवल अपने शारीरिक बलसे शान्ति भंग न होने दे ऐसा सम्भव नहीं है, पर जिस सत्ताका वह चिन्ह है उसके सहारे सहस्रों मनुष्योंपर वह अपना आतंक जमा सकता है। पर ऐसी सेना तो दूर रही अपने अपने सदस्योंके सैनिक संगठनकी बागडोर तक भी तो संघके हाथमें है ही नहीं। फिर यदि संघही युद्धके लिए सुसज्जित रहता तो उस शांति-सन्देशकी क्या गति होती जिसको लेकर संसारकी समर-भूमिपर इसका अवतरण हुआ था। अब तीसरा उपाय इसके हाथमें आर्थिक नीतिका संचालन रह जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह अस्त्र इसके उद्देश्योंके अनुकूल है। किसी देशके व्यापारको बन्दकरके यह उसको भूखों मार सकता है। पर इसमें भी अड़चन पड़ती है। बहुतसे देश ऐसे होंगे जो केवल संघकी आज्ञाका प्रचार करने और उसको मान्य बनाने-के लिए आर्थिक क्षति उठानेको तत्पर न होंगे। ऐसी दशामें यह प्रत्यक्ष है कि संघके पास कोई ऐसा बल नहीं है जिसके बलसे वह सार संसारपर अपना आतंक जमा सके।

संघके सदस्योंकी सूचीमें जितने राष्ट्रोंके नाम हैं यदि उतने भी न्याय और धर्मकी ओर दृष्टि रखकर किसी बातको कहें तो सहसा किसी राष्ट्रको उसके विरुद्ध जाने-का साहस नहीं हो सकता। पर इस संघके संगठनमें यह भी नहीं है। कारण यह है कि इसमें प्रजाके प्रतिनिधियों द्वारा काम नहीं होता बल्कि राजमंत्रियों द्वारा होता है जो सदा अपने राज्यका लाभ अपना उद्देश्य मानते हैं। इसलिये इसको 'राष्ट्र-संघ' की अपेक्षा 'राज्य-संघ कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। गत महानयुद्धके कुछ विजयी राज्योंने परोपकारके भावों-से पूरित सुहावने वाक्योंकी ओटमें राष्ट्रसंघको स्वार्थसाधनका एक द्वार बना रखा है। निस्सन्देह प्रजाहितमें वास्तविक राज्यहित है, पर राज्य इतनी स्वार्थी संस्था है कि उसको इस सत्यताका अबतक ज्ञान नहीं हुआ है। आज सहस्रों वर्षोंसे प्रजा और राज्यमें परस्परका युद्ध चल रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि धीरे धीरे राज्यका दृढ़दुर्ग टूट रहा है पर तब भी आज बड़े बड़े प्रजातंत्र देशोंमें भी राजा और प्रजा, राज्य और राष्ट्र एक नहीं है। दोनोंके उद्देश्योंमें आकाश पातालका अन्तर है। यदि राज्यको भूमिकी भूख है तो प्रजाको अन्नकी, यदि राज्यको तोप और बन्दूककी आवश्यकता है तो प्रजाको हल और फावड़ेकी, यदि राज्य-

को ज़री और पशमीनेकी चाह है तो प्रजाको नंगे बदन ढकनेके लिए मोटे सूती कपड़े-की। इसीलिए राजमंत्री प्रजाके प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते। संसार भरमें प्रजाहित एकसा है। यदि मनुष्यको भर पेट अन्न, शरीर ढकनेको वस्त्र और रहनेको घर मिले तो दूसरेपर आक्रमण करनेकी उसे नहीं सूझती। पर राज्यका जन्म युद्धसे हुआ है और आक्रमणही-पर उसका अस्तित्व निर्भर है। यही एक उपाय है जिसके द्वारा राज्य प्रजाको मनमाने भयके भुलावेमें डालकर उसको आत्मदशाके ज्ञानसे वञ्चित रखकर, अपनी रक्षा कर सकता है।

राष्ट्रसंघका यह वास्तविक स्वरूप देखकर विल्सनके उच्चादर्शपर आंसू बहाये विना नहीं रहा जाता। इस संघके मायाजालमें कितनेही देश फंस रहे हैं, अन्तमें सिवा पश्चात्तापके और कुछ हाथ नहीं आता। भारतवर्ष भी संघका पूरा सदस्य होनेमें अपना परम भाग्य समझता है। पर हसन इमाम और जाम साहब, जो भारत सरकार द्वारा भेजे गये हैं क्या प्रजाके सच्चे प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं? ब्रिटिश साम्राज्यने भारतको संघका सदस्य बनानेमें इतनी उदारता क्यों दिखलायी इसका कारण कुछ और ही है। संघके संगठनमें कहा गया है कि यह "स्वतंत्र राष्ट्र और उपनिवेशों" का संघ है। ऐसे संघके सदस्य बनानेमें संसारके सम्मुख भारतकी गणना स्वराज्य प्राप्त देशोंमें है। पर भारतको कैसा स्वराज्य प्राप्त है इसको भारतवासीही जानते हैं। भला इस धूर्तताका भी कोई ठिकाना है!

राष्ट्रसंघका दफ्तर जेनेवा नगरमें स्थापित किया गया है। ऐसा करनेमें भी बड़ी बुद्धिमतासे काम लिया गया है। यह नगर यूरोपमें सदा विचार-स्वातंत्र्यकी रक्षाके लिए प्रसिद्ध रहा है। बड़े कठिन समयमें इसने रूसो सदृश राज्यविरोधी और काल्विन सरीखे उदारधर्मावलम्बीको शरण देकर अपना नाम यूरोपीय स्वतंत्रताके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंसे अंकित कराया है। आज इसी प्रसिद्ध नगरकी उच्च अटालिकाओंसे 'न्याय और सत्यका' नकली भीषण नाद संसारको सुनाया जा रहा है। इस संघके निर्माणके विचारका श्रीगणेश ऐसे समयपर हुआ था जब सारा संसार तलवारोंकी झनकारसे गूंज रहा था। तब यदि कोई दूरदर्शी इसके विरुद्ध एक शब्दभी निकालनेका साहस करता तो उससे कहा जाता था कि सन्तोष करो, युद्धका जोश शान्त होनेपर इसके सच्चे लाभोंका पता लगेगा। पर इसके दो वर्षका इतिहास निर्मूल आशाओंपर पानी फेर रहा है जैसा कि इसके प्रबन्ध सम्मेलन-की कार्य्यवाहीसे प्रतीत होगा।

इस सम्मेलनमें लगभग ४० राष्ट्र शामिल थे। प्रतिनिधियोंकी संख्या १०० के लगभग थी। संसारमें सभी तरहके मनुष्य होते हैं, परमार्थी भी और स्वार्थी भी। सम्मेलन-में भी दोनों पक्ष उपस्थित थे, पर एक निर्बल तो दूसरा प्रबल। यहाँपर एक बात ध्यान रखने योग्य है। जो राष्ट्र युद्धकी लूटके बटवारेसे सम्बन्ध नहीं रखते थे उनके प्रतिनिधि उदार और उच्चविचारोंके थे, पर बटवारेमें हिस्सा लगाने वाले राज्योंने चुन चुनकर ऐसे प्रतिनिधियोंको भेजा था जो ज़रा ज़रा सी बातपर लड़ने मरनेको कटिबद्ध थे। कुछ

# राष्ट्र-संघकी प्रतिनिधि-सभा

विषयोंको छोड़कर अन्य बहुतसे विषयोंमें सर्वसम्मतिसे प्रस्तावोंका स्वीकृत होना सभाके लिए आवश्यक है। ऐसी दशामें इन लोगोंकी खूब दाल गली। कोई बात ज़रा भी इनके स्वार्थपर आघात पहुंचाने वाली हुई कि इन्होंने झट विरोधकी टांग अड़ादी।

परोपकारी और उदार दलके नेता थे स्विट्ज़र्लैण्डके प्रतिनिधि 'मोटा' और 'अडोर'। मोटाने अपने प्रथम भाषणमें पराजित राष्ट्रोंको शामिल करनेपर बहुत ज़ोर दिया। जिस विद्वता और उच्च विचारोंसे भाषण परिपूर्ण था उनका प्रभाव सारी सभा-पर पड़ा। सभाकी इस दशाको देखकर फ्रान्सके प्रतिनिधि विवियानीका खून उबल पड़ा। आपने वाक्छन्दकी किसी कलाका प्रदर्शन अपने पक्षके समर्थनमें उठा नहीं रखा। आपका कहना था कि जब तक जर्मनी सन्धिकी सारी शर्तें पूरी न कर ले संघमें शामिल नहीं हो सकता। सभाने भी जोशमें आकर तालियाँ पीट दीं। बेढब वाद विवाद प्रारम्भ हो गया। इस अवसरपर नीति-चतुर ब्रिटिश प्रतिनिधि लार्ड राबर्ट सेसिलने यह कहकर कि जर्मनीको सदस्य होने योग्य बनानेका यथाशक्ति शीघ्र प्रयत्न किया, जायगा दोनो पक्षोंको शान्त किया।

अडोरने ब्रूसेल्स सम्मेलनकी सिफ़ारिशोंको कार्य्यमें परिणत करनेकी प्रार्थना की। बड़ी बड़ी सेनाओंको तोड़ना और उनके व्ययको कम करना, आज कल युद्धकी लूटके बटवारे सम्बन्धी लड़ाई झगड़ेको बन्दकरके शान्ति स्थापनका प्रयत्न करना, व्यापारके मार्गकी बनावटी रुकावटोंको हटाकर उसको अन्तर्राष्ट्रीय और स्वतंत्र बनाना, आपसमें मित्रभाव और प्रेमका प्रचार करना इत्यादि मुख्य सिफ़ारिशें कीं। अडोरका समर्थन करते हुए स्वेडेनके प्रतिनिधि ट्रिगरने कहा कि "इस सभाके सामने दो मुख्य विषय हैं, एक तो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और दूसरे ब्रूसेल्स सम्मेलनकी कार्य्यवाही। यूरोप आज कल पूरा मोहताजखाना हो रहा है......सबसे भारी दुखकी बात तो यह है कि जनताके चित्तसे अभी लड़ाईका भूत गया नहीं है इसी लिए जिन उपायोंसे यूरोपकी आर्थिक दशा सुधर सकती है उनकी आवश्यकता उसकी समझमें नहीं आती है।" ट्रिगरके भाषणका अन्तिम भाग बड़े मार्केका है। आपने कहा कि—"मेरी रायमें प्रजातंत्र भावोंको, यदि अपनेको शक्तिके योग्य बनाना है तो न्याय और सत्यके पक्षमें सद्विचारोंके साथ साथ दृढ़ साहस दिखलानेकी भी अवश्यकता है। आतशबाज़ी की नाईं कोरे कोरे उत्तेजक वाक्योंहीसे काम नहीं चलेगा। इन विशेष प्रश्नोंके सम्बन्धमें हमें पूरा साहस दिखलाना पड़ेगा, क्योंकि जब तक हम जनताके अज्ञान और अन्ध विश्वासको दूर नहीं करेंगे तब तक हम उसे समृद्धशालिनी नहीं बना सकते। सत्य, न्याय और दृढ़ता, यह संसारकी वास्तविक बड़ी शक्तियाँ, और हमारे राष्ट्रसंघकी स्वाभाविक नेता हैं।"

परन्तु ट्रिगर साहबकी इस आतशबाज़ीका प्रभाव सभापर कुछभी न पड़ा, हां इतना अवश्य हुआ कि कनाडाके एक बारूदके गोलेमें आगकी चिनगारी पड़ गयी। गोलेकी आवाज़से सारी सभा कांप उठी। वहांके प्रतिनिधि रोवेल साहब एकदम बिगड़ उठे। आपने

प्रस्तावको असंगत और समयके प्रतिकूल बतलाया। फल यह हुआ कि जांचके लिए एक दूसरे कमीशनके मत्थे इस प्रश्नको टालकर सभाने अपना पिण्ड छुड़ाया।

अर्जेन्टाइनके प्रतिनिधिने भी ऐसेही कई एक प्रस्ताव पेश किये, पर उनके पास होनेमें इतनी अड़चनें डाली गयीं कि उसने हताश होकर सभासे सम्बन्धही तोड़ दिया। सम्मेलनका परित्याग करते हुए उसने सभापतिको लिखा कि "इस संघमें हमारे देशने शान्ति स्थापनके एक नवीन उपाय तथा राष्ट्रोंकी दशा सुधारनेकी सच्ची आशाकी उत्पत्तिका अनुभव किया था। इसके संगठनको सुधारनेमें उसको आशा थी कि सब लोग परस्पर मिल जुलकर इसको सर्वांग पूर्ण बना देवेंगे। इसी लिए बिना किसी संकोचके, उसी जोश और रुचिके साथ जो प्राय: सर्वसाधारणके हितके लिए काम करनेके ज्ञानसे उत्पन्न होती है, हमारा देश संघके काममें भाग लेनेके लिए तयार हुआ। सब स्वतंत्र राष्ट्रोंको तथा छोटे छोटे राष्ट्रोंको भी बिना वोटका अधिकार दिये हुए संघमें शामिल करना प्रजातंत्र भागोंके अनुसार समितिके सदस्योंका निर्वाचन कराना तथा सब झगड़ोंका अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निर्णय कराना ये हमारे मुख्य प्रस्ताव थे। इन सुधारोंको जिनसे हमारे प्रजातंत्र भाव और शान्ति प्रिय विचार इतने स्पष्ट रूपमें प्रकट हो रहे हैं सभाके सामने हमने इस आशासे रखा था कि उसके महान कार्यमें यह अर्जेण्टाइनकी ओरसे भेट स्वरूप समझे जायंगे। इनमें कोई प्रस्ताव ऐसा न था जिससे किसी सदस्यकी व्यक्तिगत या सम्मिलित जिम्मेदारीपर आघात पहुँचता हो। इसके प्रतिकूल सारे सभ्य संसारको मिला लेनेसे संघकी पुष्टि होती थी और इसका कार्य्यक्षेत्र विस्तृत हो जाता था। हमें विश्वास था कि अवसर मिलतेही इनपर विचार होगा क्योंकि संघके संगठनकी नींवके ये स्वभाविक अंग हैं। पर सभाके वोटने इन प्रश्नोंका अन्तही कर दिया। संघनेजो कुछ कार्य्य किया है उसीसे राष्ट्र इसके प्रति निज सम्मति स्थिर करके इसमें विश्वास कर सकते हैं। परस्परके विश्वासकी दशाहीमें इसकी उन्नति हो सकती है। संघकी सत्ता, और इसके उदार विचारोंकी रक्षा प्रजामतमें जिन प्रश्नोंसे हो सकती है उनपर बिना विचार किये हुएही सभाके सदस्य कुछ दिनोंमें विदा हो जायंगे। मेरी ऐसी बातें थीं जिनकी ओर राज्य और प्रजा दोनोंही की आंखें टकटकी लगाये थीं। इन्हींके हल होनेपर उच्चसे उच्च आशाओंकी जागृति हो सकती थी।"

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयका प्रश्नभी जैसे तैसे टाल दिया गया। न्यायालयके मसविदेमें इसके निर्णयको वाध्य बनानेके लिए जोर दिया गया था, पर पहिले समितिहीने इस बातको न मानकर न्यायालयके भावको निर्जीव बना डाला। सभामें यह प्रश्न फिर उठा। इसपर विचार करने के लिए एक कमेटी बैठायी गयी। इस कमेटीने भी समितिहीका साथ देना उचित समझा। ब्रिटिश प्रतिनिधि सर राबर्ट सेसिलने कहा कि दौड़नेके पहिले इस न्यायालयको पैरों चलना तो सीख लेने दो। पर इन वाक्योंसे स्विट्ज़र्लैण्डको सन्तोष न हुआ, उसने इसपर फिर वाद विवाद उठाया। तब सभाने इसको अगले सम्मेलन-

के लिए टाल दिया। यदि यह तमाशाई न्यायालय भी स्थापित हो गया होता तभी यह कहा जा सकता था कि सभाने कुछ कर दिखाया पर सो भी न हुआ।

हमारी भारतसरकारके प्रतिनिधियोंने क्या किया उसका पता अभी नहीं है।

इस तरह यह सम्मेलन समाप्त हुआ। इसकी कार्य्यवाही देख कर यही कहना पड़ता है कि "बहुत शोर सुनते थे पहलूमें जिसका, चीरा तो एक क़तरये खून निकला"

गङ्गा शङ्कर मिश्र।

# भारतवर्षके इतिहास लेखनमें भ्रमात्मक विचार और त्रुटियाँ
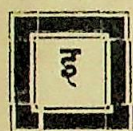
इतिहासाध्ययनकी उपयोगिता अब प्रायः सर्वत्र स्वीकृत हो रही है और वर्तमान असहयोग आन्दोलनमें शिक्षण संस्थाओंको सम्मिलित करनेका मौलिक सिद्धान्त इतिहासका दुरध्यन और दुरध्यापन ही है। वास्तवमें इतिहासका उचित रीतिसे अध्ययन और अध्यापन किसी जातिके युवकोंमें राष्ट्रीयताको दृढ़ कर देता है। नैपोलियन बोनापार्टने जिसकी बाल्यावस्था और युवावस्था इतिहास और युद्ध विद्याके अध्ययनमें व्यतीत हुई थी और जो इतिहासाध्ययनके महत्वको भली भांति समझकर और ऐतिहासिक शिक्षाओंके अनुकूल आचरणकर अपनेको इतना कीर्तिशाली बना सका था अपने पुत्र (रोमके राजा) को यह अन्तिम उपदेश भेजा था-"मेरा पुत्र बारम्बार इतिहासको पढ़े और उसपर विचार करे—यही सच्ची फ़िलासफ़ी है"। इन शब्दोंमें एक ऐसी महान् आत्माने इतिहासको दर्शाया है जिसने ऐतिहासिक शक्तियों और शिक्षाओंको आधार रखकर अपनेको ऐसा प्रभावशाली बनाया और ऐतिहासिक सिद्धान्तोंको भुलाकर अपना पतन किया। नैपोलियनके उपर्युक्त कथनमें अत्युक्तिका नाममात्र भी नहीं है। अत: इस विषयके अध्ययन और अध्यापनकी ओर विशेष ध्यान देना राष्ट्रीय शक्तिको सुदृढ़ करनेका उपाय करना है। परन्तु इसके साथ ही साथ इस विषयके ग्रन्थलेखनमें भी विशेष प्रयास, विशेष सावधानी और विशेष प्रकारकी शिक्षाकी आवश्यकता होती है।

आज भारतवर्षके इतिहास लेखनके सम्बन्धमें कुछ विचार करना है। कुछ ग्रन्थोंको छोड़कर अब तक जो ग्रन्थ किसी भी भाषामें भारतवर्षके इतिहासके सम्बन्धमें विशेषकर मध्यकालीन और अर्वाचीन भारतके सम्बन्धमें लिखे गये हैं वे प्रायः तिथि और घटनाओंकी सूचियाँ हैं। भारवर्षका इतिहास बालककी बुद्धिका प्रयोग नहीं कराता किन्तु केवल उसकी स्मरणशक्तिका और विशेषकर तिथि और घटनाओंको रट लेनेकी शक्तिका। यही कारण है कि भारतीय शिक्षालयोंके वे विद्यार्थी जो पश्चिमी देशोंके इतिहाससे थोड़ेसे भी परिचित हैं वे भारतीय इतिहासका विशेष अध्ययन न कर पश्चिमी देशोंके इतिहासको पढ़ना अधिक पसन्द करते हैं। यह बात माननीय है कि पश्चिमी इतिहासका अध्ययन अधिक शिक्षाप्रद है परन्तु अपने इतिहासका विशेष अध्ययन न करना राष्ट्रीय विचारोंके ह्रासका द्योतक है और भारतीय ऐतिहासिक साहित्यकी वृद्धिमें बाधक है। मेरा तो विचार है कि भारतीय इतिहास यदि उचित प्रयास और उचित दृष्टिकोणसे लिखा जाय तो उतना ही शिक्षाप्रद और हृदयंगम हो सकता है जितना कि किसी भी पश्चिमी देशका इतिहास। भारतीय विद्यार्थियोंमें भारतीय इतिहासाध्ययनसे हटनेकी रुचिका मूल कारण भारतीय इतिहासकी पुस्तकें हैं। लेखकोंने इन पुस्तकोंको (कुछ ग्रन्थोंको छोड़कर) बिना पर्य्याप्त प्रयास किये ही

लिखा है, कुछ भ्रमात्मक विचार प्रकटकर दिये हैं और सामग्रीकी कमीका आश्रय लेकर अपने ग्रन्थके महत्वको दर्शाया है। पाठकोंके पढ़नेके लिए येही पुस्तकें प्राप्य हैं और इनके पाठक बुद्धिके विकास और उदार विचारोंकी सामग्री न पाकर, स्मरणशक्तिको थकादेनेका भार पाते हैं जिस कारण ऐसे इतिहासके अध्ययनसे बचते हैं। यह इनका बचना एक उनके लिए सम्भव है अच्छा हो परन्तु संगठित राज्यके लिए बहुत ही हानिकर है। नीचे कुछ भ्रामात्मक विचारोंका उल्लेख किया जाता है। जो विशेषकर मध्यकालीन और अर्वाचीन भारतसे सम्बन्ध रखते हैं।

एक विदेशीय लेखकका एक बड़ा ही विचित्र भ्रमात्मक विचार आजकल प्राय: भारतीय इतिहासको न पढ़नेका पोषक इतिहासके विद्यार्थियोंकी जिह्वाओंपर ही रखा रहता है। वे 'मध्यकालीन भारतवर्ष' के लेखक डाक्टर लेनपूलको प्रमाण देते हुए यह कह उठते हैं कि भारतवर्षका इतिहास जन साधारणका इतिहास नहीं हैं वह तो राजाओं और बादशाहोंकी नामावली, कृत्यावली और अचानक निष्कारण उपजी हुई घटनाओंकी अवली है। इस विचारके जन्मदाता लेनपूल महाशय ही हैं। इन महाशयको मध्यकालीन भारतवर्षका इतिहास लिखना था। इलियट और डाउसनकी जिल्दें और विदेशीय यात्रियोंके यूरोपीय भाषाओंमें प्रकाशित ग्रन्थ (जिनका उल्लेख विशेष प्रेमसे आपने अपनी भूमिकामें किया है) इनके हाथमें थीं इन पुस्तकोंमें विशेषकर राजदर्बारोंके लेखकोंकी लिखी हुई पुस्तकोंके अनुवाद और बाहरसे राजदर्बारोंमें आये हुये यात्रियोंके वर्णन ही सम्मिलित हैं। अत: डाक्टर लेनपूलने इसमें यह अर्थ निकाल लिया कि भारतवर्षके इतिहासमें राजदर्बारोंके वर्णन, और राजकृतकार्य्योंके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ऐसी धारणा सर्वथा भ्रमात्मक और निर्मूल है। मध्यकालीन और अर्वाचीन भारतवर्षमें सर्वदा दो प्रकारकी भिन्न भिन्न भाषाएँ प्रचलित रही हैं। एक तो राष्ट्र भाषा, अर्थात् मध्यकालीन भारतवर्षमें फ़ारसी, और अर्वाचीनमें अंग्रेज़ी, और दूसरी जनसाधारणकी भाषाएँ जिसमें जनसाधारण लिखते और बोलते थे। इलियट और डाउसनने भारतवर्षपर बड़ी कृपाकर फ़ारसी अर्थात् राष्ट्र भाषाके ग्रन्थों को जो उन्हें मिले उल्थाकर प्रकाशित कर दिया परन्तु जनसाधारणकी भाषाओंके ओर लेशमात्रभी ध्यान न दिया। शायद उनको यह विचार खटका ही नहीं या यदि खटकाभी तो उन्हें इतना समय न मिला कि वह इस विषयको उठाते। इसका फल यह हुआ कि विदेशी विद्वानोंने यह तात्पर्य निकाल लिया कि भारतवर्षके जनसाधारणका इतिहास है ही नहीं। भारतवर्षके जनसाधारणमें सर्वदा कई भाषाएँ प्रचलित रहीं हैं, इनका विद्वान् मनुष्य एक जीवनमें नहीं हो सकता, विदेशी लेखकोंको सरलता इसीमें हुई कि अंग्रेज़ीमें इलियट वा डाउसन उठा लें और परेचेज़ पिल्ग्रिम्सकी पुस्तकावली मँगाकर सामने रखलें बस भारतवर्षके इतिहासकी सामग्री समाप्त हो गयी। इस सरलताने भारतवर्षके इतिहासपर पानी फेर दिया। बहुतसे ग्रन्थ जलजानेपर भी जनसाधारणकी भाषाओंमें अब भी तत्कालीन ग्रन्थ ऐसे हैं कि जिनसे इन समयोंके जनसाधारणका

इतिहास मिलता है। विदेशीय विद्वान् इन भाषाओंको पढ़ें, जनसाधारणमेंसे पुस्तकोंकी खोज करें तब उनको ज्ञात होगा कि भारतवर्षका जनसमूह भी अपना इतिहास रखता था जो इतिहास कि पश्चिमी देशोंके जनसमूहके इतिहाससे कहीं अधिक शिक्षाप्रद और हृदयंगम है और जिसमें यूरोपीय पुनरुत्थान और सुधारकी भाँति जनसाधारण प्रविष्ट साहित्यिक और धार्मिक लहरें मिल सकती हैं, चाहे राजनैतिक लहरें उस अंश तक न मिलें। जब तक ऐसा करके न देख लें तब तक भारतीय इतिहासपर हाथ लगाना किसी भी विद्वान्को अनधिकार चेष्टा करना है। भारतके कुछ विद्वानोंने इस विभागको उठा लिया है, अविरत परिश्रमकर रहे हैं, ईश्वरेच्छासे यह कार्य्य पूर्ण होगा और भारतवर्षके इतिहासकी भ्रमनिग्न लेखकोंकी लगायी हुई कालिमा दूर होगी।

दूसरी त्रुटि भारतवर्षके इतिहास लेखनमें विकासवादका ध्यान न रखनेकी है; विकासवाद इतिहास धुरन्धरोंको माननीय है और एक वैज्ञानिक ढंग समझा जाता है। एक क्षणके लिए यह मान भी लिया जावे कि भारतीय जन साधारणका कुछभी इतिहास नहीं है, परन्तु राजकीय इतिहासमें भी विकास वादानुकूल घटनाओंको समझाया जा सकता है और इसी प्रकार समझाना उचित भी है। उदाहरणार्थ पठान बादशाहोंका समय लिया जा सकता है। इन लोगोंने शासनप्रणालीमें बहुतसे परिवर्तन किये. बहुतसी नवीन रीतियां निकालीं। आरम्भसे कुछ काल तक शासनप्रणालीका विकास हुआ, फिर ह्रास प्रारम्भ हुआ जो बाबरके आगमनके लगभग अराजकतामें लोपप्राय हो गया। परन्तु यह विकास निरर्थक नहीं गया। बाबरकी मृत्यु उसके राज्य संगठनसे पहले हो गयी, और हुमायूँकी प्रकृति ऐसी न थी और न उसे वैरियोंके कारण इतना समयही मिला कि वह राज्यका पुनः संगठन करता। वह शेरशाहसे लड़ा और भारतवर्षसे भागा। शेरशाहका राज्य स्थापित हुआ। शेरशाह पठान था और इतिहासका विद्वान् था उसने विगत पठान राजाओंके शासनसे शिक्षा ली और जो जो बातें पठान बादशाहोंने भारतवर्षके कल्याणके लिए की थीं और जो बीचकी राज्य-क्रान्तिमें लोपप्राय हो गयी थीं उनको उसने फिरसे जीवन दान दिया। ऐसा जान पड़ता है मानो दैवी गति इन सब बातोंको स्वयं ही रच रही थी। पठान भारतवर्षमें एक आदेश देने आये थे, वह आदेश कुछ बादशाहोंके समयमें ही पूर्ण विकासको पहुँच गया। परन्तु उस आदेशमें कुछ बुराइयाँ भी आ मिलीं और इस आदेशका इन बुराइयोंके मिल जानेसे ह्रास होने लगा। ह्रासकी अन्तिम सीढ़ी आयी ही थी कि बाबर (मुगलजातीय अर्थात् तुर्क) आ पहुँचा। परन्तु यदि बाबर और उनके वंशज उसी समय यहाँ स्थित हो जाते तो प्रायः १०० वर्षके राजनैतिक अनुभवका लोप हो जाता। बाबरके वंशजोंको लौटना पड़ा और शेरशाहने आकर पठानोंकी (अपनी) बपौतीका पुनरुद्धार किया। जब यह हो चुका तो तुर्कोंके आनेकी बारी आयी और उनकी शासन प्रणाली और आदेशका आरम्भ हुआ। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रकृतिने यह सब सहेजकर भारतवर्षके इतिहासके लिए ही रख छोड़ा था। अकबर आदि मुगलोंका कर्त्तव्य पठानोंकी कृतिपर उन्नति करना था, परन्तु यह

कृति इब्राहीमलोदी तक लोपप्राय हो चुकी थी, इसलिए पठानोंकी की हुई भारतीय सभ्यता-के लिए सेवाको पुनर्जीवित करनेके लिए एक शेरशाहकी आवश्यकता थी। सम्भव है मेरे यह विचार भ्रमात्मक हों और इतिहासज्ञोंको न रुचें परन्तु यह केवल एक अपरिपक्व उदाहरण भारतीय इतिहासकी संस्थाओं और शृंखलाओंपर विचार करनेका है।

तीसरी त्रुटि लेखकोंमें पर्य्याप्त राजनीति ज्ञानकी कमी और तदनुकूल भारतीय राजनीति धुरन्धरोंके राजनीति गुणग्राहकताकी कमी है। मेरा विचार है कि अशोक या अकबर किसी भी नैपोलियन, पिट या लायडजार्जसे ( अपने समयके ) राजनीतिज्ञानमें कम न थे, इनकी राजनीतिज्ञताका प्रमाण इनके कृत्योंको एक एक करके मस्तिष्कमें भरकर उन-पर वर्षों विचार करनेसे पता चलता है। विन्सेण्ट स्मिथने अपनी "अकबर" नामक पुस्तकमें अकबरकी राजवृद्धिके मूल कारणोंमें राज्याकांक्षा को सबसे उच्च स्थान दिया है। मेरा विचार है कि कई देशोंके जीतनेमें उसे राजनैतिक कारणोंने बाध्य किया था। राज्याकांक्षा भी सम्भव है एक अंश रहा हो परन्तु केवल यह कहकर टाल देना कि राज्या-कांक्षा ही अकबरके राज्य बढ़ानेका कारण है, सच्चे इतिहास लेखकका लक्षण नहीं है।

भारतके इतिहास लेखकोंमें ( कुछको छोड़कर ) एक कमी और है। अधिकतर वे इतिहासके वैज्ञानिक नहीं हैं। अब तक सबसे बड़े भारतीय इतिहासके लेखक भारतके शासन विभागके कर्मचारी रहे हैं और अधिकतर इन्हें भारतीय इतिहास लिखनेकी रुचि कुछ पुरानी पुस्तकें मिल जानेसे हुई है। उदाहरणार्थ एलफिन्स्टन विन्सेण्ट स्मिथ और मोरलैण्डको ले लीजिए। एलफिन्स्टन विशेष ज्ञानी पुरुष था। विन्सेण्ट स्मिथ और मोरलैण्ड-को लेकर किसी ऐक्टर ( नट ) को दिखाइये स्पष्ट कहदेगा कि यह ऐतिहासिक विज्ञानके विद्वान् नहीं हैं। विन्सेण्ट स्मिथने तो अपने 'अकबर'को एक घटनावली बनाकर उसमें कुछ ऐतिहासिक विज्ञानके अंश जोड़ना चाहा है। मोरलैण्डकी 'इण्डिया ऐट दि डेथ आफ अकबर' अभी थोड़े दिन हुए ही प्रकाशित हुई है, इसकी वैज्ञानिक त्रुटियोंका अन्वेषण करना एक छोटी मोटी पुस्तिका लिखना हो जावेगा, परन्तु इस सम्बन्धमें पाठक अगस्त सन् १९२० के 'हिन्दुस्तान रिव्यू'में प्रकाशित प्रोफ़ेसर बथीजाका लेख और जनवरी सन् १९२१ में प्रकाशित प्रोफ़ेसर बेनीप्रसादका लेख पढ़ सकते हैं। कारण इसका यह है कि ये सज्जन ( इनके उपकारके हम ऋणी हैं ) इतिहासको अपना जीवनोद्देश्य बनाकर इतिहास नहीं लिखते हैं जैसा कि गिबन, मान्सेन, रांके, एक्टन कर चुके हैं और प्रेसिडेण्ट विल्सन कर रहे हैं। ये सज्जन भारतवर्षमें रह चुकनेके कारण पुस्तक लिखनेकी सामग्री पाजाते हैं, और जिसमें ऐसी सामग्री व्यर्थ न जाय और और विविध कारणोंसे पुस्तक लिख देनाही उचित समझते हैं।

सामग्रीकी अपर्य्याप्ति एक बड़ी कमी अवश्य है। भारतीय विद्यार्थियोंको भारतमें तो ऐसे संग्रह मिलते नहीं, इण्डिया आफिस ब्रिटिश म्यूज़ियम और बोडलियन लाइब्रेरी-की शरण जाना पड़ता है, जहाँसे हस्तलिखित प्रतियोंके फ़ोटो मिलनेमें वर्षों लग जाते हैं।

भारतवर्षमें भी दो एक ऐसी जगहें हैं जहाँसे कुछ सामग्री मिल जाती है जैसे खुदाबख्श लाइब्रेरी या परसनिसका पुस्तकालय बम्बईमें। परन्तु इस कारणसे, अपर्याप्त सामग्री लेकर ही पुस्तक लिखडालना मैं उचित नहीं समझता। हस्तलिखित सामग्री इकट्ठी तो करनी ही है प्रोफ़ेसर जदुनाथ सरकारकी भाँति (देखिये माडर्नरिव्यू जनवरी सन् १६२१) जब सामग्री अन्वेषण करते करते थक जायें तब पुस्तक लिखना चाहिये। ऐसे कार्य्यमें धन और समय दोनोंकी आवश्यकता है, परन्तु अब समय आ गया है कि यह दोनों उदारतासे और उचित रीतिसे व्यय किये जावें और भारतके धनी इस ओर ध्यान दें।

इसके पश्चात् एक त्रुटि लेखकोंमें और पायी जाती है। चित्रों और मानचित्रोंको व्यय बचानेके लिए बहुत कम लगाते हैं। यही बड़ी भूल है। मानचित्रोंके और लड़ाइयोंके चित्रोंके विना इतिहास ज्ञानका प्रविष्ट होना कठिन हो जाता है। कहीं कहींपर यह मानचित्र बड़ी अनुचित रीतिसे लगाये जाते हैं। विन्सेण्ट स्मिथने अपने 'अकबर' में विदेशी यात्रियों (जिनके आगमनका शायदही अणुमात्र प्रभाव भारतवर्षकी जनतापर पड़ा हो) के मार्गोंके मानचित्र तो दे दिये हैं परन्तु अकबरके युद्धमार्गोंके मानचित्रोंका नाम भी नहीं है। ऐसी भूल (उल्लंघनीय वस्तुका उल्लेख करना और लक्ष्य वस्तुका उल्लंघन करना) किसी इतिहास के वैज्ञानिकसे नहीं हो सकती थी। मध्यकालीन भारतवर्षके इतिहास लिखनेमें तो विशेषकर विदेशी लोग ऐसी भूल करते हैं। विदेशी यात्रियोंके आने जानेपर विशेष ध्यान दे देते हैं जैसे जहांगीरके समयमें सर टामसरो। सम्भव है इनका आगमन आगामी इतिहासमें अवश्य एक बड़ी बात है परन्तु जहाँगीरके समयमें इनके आगमनने कोई विशेष बात नहीं उपजायी। तत्कालीन भारतीयोंके लिए (बल्कि तत्कालीन केवल आगरा वालोंके लिए) यह एक दो दिनका तमाशा था। इसलिए इस घटनाका प्रभाव तत्कालीन भारतवर्षपर कोई विशेष न था और न उसे कोई विशेष स्थानही जहाँगीरके शासनके इतिहासमें दिया जाना चाहिए। हाँ, जहाँ ब्रिटिश सम्बन्धका उल्लेख हो वहाँ उसे स्थान देना उचित है।

चित्रोंके विषयमें भी यही बात है। चित्र इतिहासके पुस्तकोंमें प्रायः व्यक्ति विशेषके दिये जाते हैं न कि तत्कालीन समाजावस्थाके दर्शक। इस विषयमें प्रोफेसर रश्ब्रुक विलियम्स लिखित "ऐन इम्पायर बिल्डर आफ दी सिक्सटीन्थ सेञ्चरी" अर्थात् बाबर सराहनीय है। इस पुस्तकमें बाबरीय समाजसे सम्बन्ध रखनेवाले कई चित्र हैं, यद्यपि इन चित्रोंमें भी ऐतिहासिक अशुद्धियां हैं। इन महाशयने भी एक भूल की है। जहाँतक मुझे ज्ञात है यह चित्र लगभग तत्कालीन है। कुछ चित्र इनमें रंगीन होने चाहिए थे जिससे कि तत्कालीन चित्रकलाका भास तो हो जाता।

वर्त्तमान भारत-इतिहासकारोंके विषयमें मेरे यह विचार हैं। सम्भव है कि यह स्वयं भ्रामात्मक हों।

एक बात मुझे निजी विद्यालयोंके अधिष्ठाताओंसे कहनी है। मुझसे स्वयं एक ऐसे अधिष्ठाताने कहा है कि भारतीय इतिहास एक गिरती हुई जातिका इतिहास है और

## भारतवर्षके इतिहास लेखनमें भ्रमात्मक विचार और त्रुटियां

यूरोपीय इतिहास एक उन्नति करती हुई जातिका। इसलिए हमारे लिए ऐसे समयमें भारतीय इतिहास न पढ़कर यूरोपीय इतिहास पढ़नाही उचित है। मेरा विचार है इस उद्देश्यसे गिरती हुई जातिका इतिहास पढ़ना और भी आवश्यक है, परन्तु शर्त यह है कि गिरती हुई जातिका इतिहास उचित रीतिसे पढ़ाया जावे। भारतवर्षके गिरनेके कारण भारतीय इतिहासके सप्रयास अध्ययनसे जान लेनेपर यह कारण बचाये जा सकते हैं, अन्यथा भारतीय अपनी प्रकृत्यानुकूल विना जानेही स्खलन कर सकते हैं। दूसरे देशके इतिहाससे शिक्षा लेकर अपनी अवस्थामें लगाना बड़ाही दुष्कर कार्य्य है।

**ओंकारनाथ सक्सेना**

# सम्राट् अकबरके समयमें खाद्य वस्तुओंका निर्ख ।

अकबरके समयमें खाद्य वा अन्य आवश्यक पदार्थोंका क्या भाव रहा करता था इस प्रश्नके जाननेके लिए बहुत लोगोंको कौतूहल होगा। इस बातके जाननेका और भी कौतूहल इस कारण होता है कि अकसर हमारे ग्रामके वृद्ध लोग मिलकर जब आपसमें बाज़ारके भावका जिक्र करते हैं तब वे अपनी युवावस्थाके समयकी चीज़ोंकी दर याद कर बड़े दुःखसे सन्तप्त हो जाया करते हैं। उनमेंसे एक कहता है कि मैंने रुपयेका पांच सेर घी खाया है, दूसरा मेरे ज़मानेमें एक रुपयेका मन भर शुद्ध, पवित्र दूध मिलता था पर वे दिन अब स्वप्न हो गये। अब तो घी दूध के लाले पड़ गये। हम निरामिषभोजी हैं, अतः विना घी दूधके अपना इस दारुण समयमें कैसे जीवन निर्वाह कर सकेंगे।

यह ग्राम-वृद्धोंकी दुःख-गाथा अकसर हमें श्रवण गोचर होती है। इसके साथही साथ वे आजकल के लोगों की अपेक्षा अपने अहारकी मात्रा द्विगुण और त्रिगुण अधिक बताते हैं, और अपनी उद्योग शीलता, सामर्थ्य, नीरोगता और दीर्घजीविताकी भी बहुत ही तारीफ करते हैं। आजके नवयुवक ये सब बातें सुन कुछ आश्चर्य करने लगते हैं और बूढ़ोंका मखौल उड़ाते हैं। उन बेचारे बूढ़ोंकी बातका समर्थन करनेके लिए निम्नलिखित ऐतिहासिक प्रमाण पर्याप्त होगा।

सम्राट् अकबरके परम भक्त सचिव, पारदर्शी विद्वान् अबुलफज़लने अपने स्वामीके राजत्वकालका सारा ब्यौरा "अकबरनामा" और "आईन" नामकी दो पुस्तकोंमें सविस्तर लिखा है। इनमेंसे प्रथम पुस्तकमें राज्यके वृत्तान्तों और दूसरी पुस्तकमें शासन, व्यवहार और अन्यान्य बहुतसे ज्ञातव्य विषयोंका उल्लेख है। आईनमें जो खाद्य पदार्थोंके भाव लिखे हुए हैं उनकी यदि तुलना आजके भावोंसे की जायतो इन दोनोंमें ज़मीन आसमानका फर्क मालूम होगा।

उस समयके तोलनेका मन आज कलके मनसे हलका हुआ करता था इसका प्रमाण ई, टौमसने 'पठान राजाओंके इतिहास' के ४३० पृष्ठमें दिया है। उनके मतानुसार अकबरके समयका मन आजकलके २७ सेर १२ छटांककी तोलके बराबर होता था उस समय ४० दामोंका एक रुपया माना जाता था। तदनुसार चीज़ोंकी दर जो २७वें आईनमें दी हुई हैं, नीचेके कोष्ठकसे हमें विदित होंगी—

| खाद्य पदार्थ | | एक मनकी दरसे फी रुपयेसे | आज कल तोल |
|---|---|---|---|
| गेहूँ | ... | १६४¼ पाउण्ड, फी रुपया | ६७ सेर २ छटांक अर्थात् २ मन १७ सेर २ छटांक |
| जौ | ... | २७७½ पाउण्ड, फी रुपया | १३८ सेर ६ पाव अर्थात् ३ मन, १८ सेर, ६ पाव |

| | | | |
|---|---|---|---|
| चावल बढ़िया | ... | २० ३/४ पाउण्ड फी रुपया | १० सेर |
| ,, घटिया | ... | १११ पाउण्ड, फी रुपया | एक मन ३१ सेर |
| घी | ... | १२ १/५ पाउण्ड, ,, | ६ सेर ८ छटांकके लगभग |
| निमक | ... | १३८ ३/४ पाउण्ड ,, | १ मन १४ सेरके लगभग |
| तेल | ... | २१ ३/४ ,, ,, | १३ १/३ सेरके लगभग |
| सफेद चीनी | ... | १७ १/२ ,, ,, | ८ १/३ सेरके लगभग |
| मूंगकी दाल | ... | ३७ ,, ,, | १८ १/३ सेरके लगभग |
| चना | ... | १३४ १/४ ,, ,, | एक मन २६ सेर |

'कुछ चीज़ोंके भावों के हिसाव' शीर्षक आईन नम्बर २७, भाग पहलेके आधार-पर विन्सेन्ट स्मिथने स्वरचित अकबरके जीवन चरित्र के ३९० पन्नेमें आईनके मनकी तोल-को अंग्रेज़ी पाउण्डमें परिणितकर चीज़ोंकी दरका उल्लेख किया है। ऊपरके अददोंपर दृष्टि देनेसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि उस समय यह हमारी सस्यश्यामला वसुन्धरा अतुल धन धान्याकीर्ण थी और आजकलकी नाईं भारतके कई करोड़ प्राणी अधपेट भूखे न रहते थे। एक अधेलेमें एक आदमीका पूरा निर्वाह हो सकता था। स्मिथका कथन है कि धान्या-दिकी ही कीमत सस्ती न थी, लगभग हर एक वस्तु इसी तरह सस्ती थी। एक बकरी सवा रुपयेमें ख़रीदी जा सकती थी। एक मन दूध १० आनेमें मिलता था, अर्थात् हमारे हिसाबसे एक रुपयेमें ४४ सेर दूध मिला करता था। मांसका भाव फी रुपये १७ सेर था। आईनकी चीज़ोंकी दरके कोष्ठककी प्रमाणिकता स्वीकार करते हुए विन्सेण्ट-स्मिथ आईनके समर्थनमें यूरोपके यात्री रो, टैरी, टौम कोरियेटकी सम्मतियां भी उद्धृत करते हैं*।

टैरीका कथन है कि बाजारमें मछलियां इतनी सस्ती थीं कि मानों उनका कोई मोल-जोल ही न था और प्रायः सभी पदार्थ सारे राज्यमें इतने बहुतायतसे थे कि हर एक मनुष्य बड़ी आसानीसे भरपेट खा सकता था†।

अकबरके समयकी आवश्यकीय खाद्य पदार्थोंकी दर ऊपरके कोष्ठकमें दी गयी हैं जिनकी तुलना यदि संवत् १९२७ वि० और १९५८ की चीज़ोंकी दरसे की जाय तो यह मालूम होगा कि मँहगी किस क़दर बढ़ गयी है। संवत् १९२७ वि० में गाज़ीपुर जिलेके संब-

* "The Historian of Akbar is fully justified in using the evidence of Roe, Terry and Tome Coryate, who all resided in Northern and Western India between 1615 and 1618. Their tesimony emphatically confirms that of the Ain respecting the lowness of prices and wages, while adding to it by distinctly affirming the abundance of provisions in ordinary years." Akbar the Great Mogul, p. 391.

† Terry states that fish were purchaseble at such easy rates as if they were not worth the valuing, and that, generally speaking, 'the plenty of all provisions' was very great throughout the whole monarchy' every one there may eat bread without scarceness'.

न्थमें लिखते हुए ओल्ड हाम साहबने यह राय दी है कि 'आईन' में दी हुई चीज़ोंकी दरके अनुसार अकबरके समयके एक रुपयेसे, आजकलके एक रुपयेसे ख़रीदी जानेवाली चीज़ कमसे कम चौगुनी मिला करती थी। निम्नलिखित कोष्ठकसे खाद्य पदार्थोंकी दरोंका जो १६२७ और १६५८ विक्रमी संवत् में थी पाठकोंको पता लगेगा :—

| खाद्य वस्तु | अकबरके समयकी दर | १६२७ की दर | १६५८ की दर |
|---|---|---|---|
| गेहूँ | दो मन १७ सेरके लगभग फी रुपये। | १६.७ फी रुपया | १४ सेर ८ छटांक फी रुपया |
| जौ | ३½ मनके लगभग | २६ सेर | २१.१ सेर |
| चना | १ मन २६ सेर | २३. ६ सेर | १६.६ सेर |
| जुवार | २ मन ३१ सेर | २६. ८ सेर | २०.६ सेर |

इन अंकोंसे स्पष्ट है कि मँहगी १६२७ से १६५८ तक बहुत बढ़ गयी, और दिन दूनी और रात चौगुनी होती ही जाती है। इस त्रासजनक मँहगीका हमारी आर्थिक अवस्थापर क्या असर है इस प्रश्नपर विचार करनेके लिए हमें अपनी आमदनीका भी हिसाब जानना होगा। मँहगी बढ़ जानेपर भी यदि हमारे पास काफी द्रव्य हो तो मँहगीका हमपर कोई असर नहीं हो सकता। अकबरके समयका एक रुपयेका गेहूं आजकल २०) में ख़रीदा जा सकता है। यदि हमारी आमदनी २० गुनी हो जाय तो हमें मँहगीका असर न होगा।

किन्तु हमारी आमदनी इतनी नहीं बढ़ी। आईनमें एक मज़दूरकी आमदनी सवा तीन पैसे और एक कारीगरकी मज़दूरी सवा ११ पैसे प्रतिदिन बतलायी गयी है। आजकलके गेहूँकी मँहगीके हिसाबसे एक मज़दूर और कारीगरकी दैनिक आमदनी अकबरके समयसे २० गुनी होनी चाहिए। पर मज़दूर और कारीगरोंकी मज़दूरीमें इतनी वृद्धि नहीं हुई। अतएव इतनी हीन दीन दशापर बड़ाही त्रास होता है। मध्यम श्रेणीके लोगोंका ख़र्च तो बेतरह बढ़ गया है किन्तु आमदनी प्रायः ज्योंकी त्यों है। उस समयका किसान पैदावारका एक तिहाई जिन्स वा रुपयेकी शकलमें देकर दो तिहाईसे अपना भरण पोषण किया करता था। वह भी खुशहाल था। बाकी सब तरहके उद्योग धन्धे भी बड़ी उन्नत अवस्थामें थे। इस कारण भारतीय प्रजा केवल कृषिप्रधान न थी। लोग उद्योग-धन्धों-में व्यापृत रह सकते थे। केवल कृषिही जीविकाका साधन न थी। सर्वोपरि यह बात है कि बाहरका द्रव्य तो यहां आता था लेकिन यहांका द्रव्य कहीं न जाता था। अतएव हमारी राष्ट्रीय सम्पत्तिका कुछ पारावार न था। मुग़ल राजाओंके कोष सदा भरे रहते थे। धनकी असंख्यताके कारण उन्होंने आश्चर्यजनक कलाकौशलसे परिमण्डित भवन, प्रासाद और नगर बनवाये जिन्हें देख यूरोपके यात्री विस्मयसे दांतों अँगुरी दबाकर रह जाते थे।

## सम्राट् अकबरके समयमें खाद्य वस्तुओंका निर्ख।

अकबर बादशाह संसारके राजाओंमें सबसे धनाढ्य थे। उनकी मृत्युके पश्चात आगरेके किलेके कोषका ठीक ठीक चिट्ठा बनाया गया था जिसमें नगद २०,००००० सुवर्ण मुद्रासे अधिक द्रव्य था। इस तरह ६ और कोषागार थे जिनमें कमसे कम इतना तो द्रव्य होनाही चाहिए। विन्सेण्ट स्मिथका कथन है कि अकबर बादशाह ४०,००००० सुवर्ण मुद्रा कमसे कम छोड़ मरे थे जिस रक़मकी क्रयात्मक शक्ति न्यूनातिन्यून २००,०००० ० (बीस करोड़) आजकलकी सुवर्ण मुद्राके बराबर होगी* ।

इतना अतुल द्रव्य भारत जैसा समृद्धि-शाली देश ही अपने राजाको दे सकता था। इस सञ्चित द्रव्यका फिर कोई बाहर निकलनेका स्रोत न था। यहांका धन यहां ही खर्च होता था। प्रजापर कर बहुत भारी न था। राजा टोडर मलका बन्दोबस्त किसानकी बेहतरीके उद्देश्यसे ही कार्य्यमें परिणित किया गया था। अबुल फज़लका स्पष्ट कथन है कि इस बन्दोबस्तके पश्चात् रैयत बहुत ही खुशहाल थी। इन सब बातोंसे यह बात अशंकरूपसे कही जा सकती है कि बृटिश शासनकी अपेक्षा अकबरका शासन भारतवर्षके लिए आर्थिक दृष्टिसे अतीव हितकर था। यद्यपि अकबरके शासनका स्वरूप अनियन्त्रित सत्ता-त्मक था—अर्थात् वह प्रजाके प्रति सब कुछ मनमाना कर सकता था—तथापि वह केवल अकेलाही सत्ताधीश था। किन्तु बृटिश शासन तो प्रजातन्त्र है जिसका पराधीन देशके प्रति स्वेच्छाचार, एक बुद्धि सम्पन्न किन्तु स्वार्थ परायण प्रजाका स्वेच्छाचार है। अतएव वह असह्य है, घोर अनर्थकारी है। एक मनुष्यका स्वेच्छाचार सहन किया जा सकता है किन्तु एक जातिका नहीं। बृटिश जाति तो देखनेमें प्रजातन्त्र है किन्तु वास्तवमें अनि-यन्त्रित सत्ताकी विकराल मूर्ति है—इसके स्वेच्छाचारसे हमारा देश रसातलको जा रहा है।

**गंगा प्रसाद महता**

---

* "It is legitimate, therefore, to assume that Akbar left behind him fully forty million pounds sterling in coined money, equivalent in purchasing power to at least two hundred millions now." Akabar p. 347.

# आर्थिक उन्नति[1]।
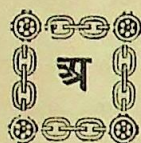
अर्थशास्त्रसे संबंध रखने वाले इतिहास तीन प्रकारके हैं, एक है आर्थिक विचारोंका इतिहास[2] दूसरा है अर्थशास्त्रका अथवा अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तोंका इतिहास,[3] और तीसरा है आर्थिक इतिहास[4]।

निस्सन्देह अर्थशास्त्रकी उत्पत्ति व उन्नति आर्थिक विचारोंसे ही हुई है ये उसके बीज हैं पर वृक्ष और उसके बीज दो भिन्न पदार्थ हैं यह सदैव ही स्मरण रखना चाहिये। महाशय हेनी "आर्थिक विचारोंका इतिहास" नामक अपनी पुस्तकमें लिखते हैं कि भारतवासी हिन्दुओंने संसारको कई आर्थिक विचार प्रदान किये हैं यथा, अनाप सनाप व्याज न लेना चाहिये, आपत्तिकालको छोड़ उच्च जातिवालोंको उससे कनिष्ठ जातिवालोंका धन्धा कदापि न करना चाहिये। पर खेद है कि न तो हेनी और न किसी अन्य आंग्ल लेखकने श्रीमद्भागवत चतुर्थ स्कन्धमें वर्णन किये हुए श्रीनारदीय आर्थिक विचारका तनिक भी लक्ष किया है पर यह है स्वाभाविक। "अधिकांश संख्यका अधिकांश हित" अर्थशास्त्रका एकमात्र ध्येय है[5]। पर श्रीनारदीय ध्येय यों वर्णित है :—

तज्जन्म तानि कर्माणि, तदायुस्तन्मतो वचः
नृणां येनेह विश्वात्मा, सेव्यते हरिरीश्वरः

भागवत चतुर्थ स्कन्ध।

अर्थ यह है :—इस संसारमें मनुष्योंका वही जन्मतो जन्म है, वेही कर्म कर्म हैं, वही आयुष्य आयुष्य है, वही मन मन है, और वेही वचन वचन हैं जिससे या जिनसे विश्वात्मा जो हरि हैं उनकी सेवा होती है। पूज्यते न लिखकर सेव्यते लिखा है। सेवाका कितना उच्च स्थान है। ईश्वरः न लिखकर विश्वात्मा लिखा है। अब विश्वका आत्मा सारे विश्व चर, अचर, खेचर, मानव सबमें ही व्याप्त है। जब सेवा इन सबकी हो तब विश्वात्माकी सेवा हो सकती है अन्यथा नहीं। अब देखना चाहिये कि पाश्चात्य आर्थिक ध्येय है अधिकांश संख्याका अधिकांश हित और हमारा नारदीय आर्थिक ध्येय है सर्वस्वका पूर्ण हित। वाचक स्वयं विचार कर देख सकते हैं कौनसा ध्येय बड़ा है। आर्थिक विचारोंके इतिहासोंमें उन विचारोंकी खोज की जाती है जिनमें कुछ आर्थिक तत्व है। ये विचार शास्त्र नहीं पर शास्त्र बनता है इन्हीं विचारोंसे।

दूसरे इतिहासमें या तो अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तोंकी ही खोज की जाती है या उन महानुभावोंके जीवनका संशोधन किया जाता है जिनने अन्यान्य आर्थिक सिद्धान्तोंका आविष्कार किया है। तीसरे इतिहास अर्थात् आर्थिक इतिहासमें पदार्थोंके उत्पन्न करनेके उन

1. Economic progress, 2. History of Economic Thoght. 3. History of the Doctrines of Economics 4. Economic History. 5. The greatest good of the geatest number is the one Economic maxim.

प्रकारोंका विचार किया जाता है जिनके कारण देशका धन बढ़ा है अथवा उन कारखानोंका इतिहास वर्णन किया जाता है जिनके कारण देशकी सम्पत्ति बढ़ी है। यह इतिहास औद्योगिक इतिहास है।

भारतीय सनातन सिद्धान्तियोंने चार फल माने हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सारा भौतिक संसार इच्छा और उनकी पूर्ति इन दोमें ही लिप्त है पर भारतके सामने धर्मसे प्रारंभ कर अर्थ कामकी सिद्धि कर मोक्ष प्राप्त करना यह एक विशिष्ट कार्य है और कहीं भलेही आर्थिक उन्नतिकी पराकाष्ठा केवल भौतिक उन्नतिसेही हो जाए पर यहाँ तो आर्थिक उन्नति धर्मके बिना सर्वथा अग्राह्य है। तिसपर भी उन्नतिकी पराकाष्ठा तब समझी जाती है जब धर्मानुसार इस संसारमें अपनी इच्छाओंकी पूर्ति कर अर्थ-सिद्धि करली जाय और शाश्वत शान्तिकी सम्पूर्ण सामग्री एकत्र करली जाय। केवल ऐहिक शान्ति प्राप्त कर लेनेसे पूर्ण उन्नति नहीं समझी जाती। धर्म और मोक्ष ये दो चोपदार अर्थ और कामके दोनों ओर खड़े कर दिये गये हैं।

अब यह विचार कर देखना चाहिए कि पाश्चात्य आर्थिक ध्येय "अधिकांश संख्याका अधिकांश हित" और नारदीय सिद्धान्तकी सिद्धि कैसे हो सकती है। इस संबंधमें आर्थिक उन्नतिकी मीमांसा करनेसे हमें बहुत कुछ सहारा मिल जायगा।

१. आर्थिक उन्नति क्या है और वह क्यों अपेक्षित है।
२. भारतवर्षमें आर्थिक उन्नति कितनी तथा कैसी हुई है।
३. प्राचीन भारतमें आर्थिक उन्नतिकी क्या दशा थी।
४. आर्थिक उन्नतिका नारदीय ध्येयसे कितना संबंध है।
५. भविष्यमें आर्थिक उन्नति किस दिशामें होनी चाहिए।

## १ आर्थिक उन्नति क्या है

साधारणतः सार्वजनिक सब प्रकारकी उन्नति आर्थिक उन्नति है। इस उन्नतिके ध्येय, देश विशेषके अनुसार भिन्न भिन्न हो सकते हैं पर सामान्यतः इसके ये ध्येय प्रधान हैं।

**अ.** हृष्टपुष्ट जनसंख्या जो चैनसे अपना जीवन बिता सके आर्थिक उन्नतिका प्रथम ध्येय है। इसके अन्तर्गत कई बातें हैं यथा स्वच्छ, सुथरे हवादार मकान, आसपासमें छोटे बड़े उद्यान, उदार तथा प्रभावशाली शिक्षण और ऐसी आमदनी जिससे वे अपना निर्वाह भली भाँति कर सकें।

**आ.** पदार्थोंके उत्पन्न[1] व उपभोग[2] करनेके प्रकार ऐसे होने चाहिएँ कि एक व्यक्ति या समूह के प्रकारसे दूसरे व्यक्ति या समूहको त्रास न हो। इन प्रकारोंकी लागत भी जितनी कम हो सके उतनीही होनी चाहिए। यह आर्थिक उन्नतिका दूसरा ध्येय है।

**इ.** वह आयोजन जिसके द्वारा उत्पन्न पदार्थ उत्पादकोंके पाससे उपभोक्ताओंके पास जाते हैं अत्यन्त नियमित, सरल, विशाल व कमखर्च बालानशीन होना चाहिए।

1. Production. 2 Consumption.

यह तब हो सकता है जब चीज़ोंके इधरसे उधर ले जानेके मार्ग ( जल स्थल व आकाश ) यथेष्ट हों, उनमें कोई रोक टोक न हो, क्योंकि ऐसा होनेसे चीज़ोंकी कीमत बढ़ती नहीं और लागत काटकर जो मुनाफ़ा बचता है वह उसके अधिकारियोंको ही उनके अधिकारके अंशानुसार ठीक समयपर ठीक प्रकारसे मिलता है। यह आर्थिकोन्नतिका तीसरा ध्येय है। इन सब बातोंके होनेके लिए अन्य कई बातोंकी नितान्त आवश्यकता है।

४. हृष्टपुष्ट संतुष्ट जनसंख्या अपने अपने समाजके धर्मका लक्ष्य रखते हुए अपने अपने कार्यको सम्पादित कर पदार्थोंको उत्पन्न करती है और क्रयविक्रय[1] के सरल और निर्धारित मार्गोंद्वारा उत्पन्न पदार्थोंको प्राप्तकर उनका उपभोग करती है। उत्पादकोंको अपना हिस्सा पूर्णतया मिलता है, बीचवाले[2] व्यर्थही अपना नाका बीचमें नहीं कायम करते। इस संख्यासे जो कर[3] स्वरूपमें सहायता या सेवा ली जाती है वह उसीके हित योग्य प्रकारोंसे उसकी सलाहसे खर्च की जाती है। अवर्षण, दुर्भिक्ष, महामारी इत्यादि दैविक आपदाओंका पूर्वसेही बन्दोबस्त हो जाता है। प्रजा पूर्ण शान्तिके साथ ऐहिक व्यापारोंको चलाती है। इस स्थितिके उपरान्त एक वह स्थिति है जो योग्य शिक्षण प्रणालीद्वारा चित्तको आह्लादित कर उसे विकसित करती है और ऐसी दशामें भारतवर्षीय प्रजाद्वारा सनातन प्रथानुसार शाश्वत शान्तिकी प्राप्तिकी चेष्टा करती है। इस प्रयत्नमें पूर्ण सुगमता हो यह आर्थिक उन्नतिका चतुर्थ ध्येय है। आर्थिक उन्नति इन चार पायोंपर विराजमान है। एक भी ऊँचा नीचा कम ज्यादा होनेसे वह देवी चलायमान हो जाती है। शान्तिकी जगह अशान्ति आ जाती है। जिस देशमें ये चारों पाये स्थिर, पक्के और एकसे हैं वहाँ आनन्दकी वर्षा होती रहती है। अस्तु आर्थिक उन्नतिके इन चारों मूल सिद्धान्तोंपर इस तरह विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि जीवन-सुख ( ऐहिक व पारलौकिक ) के लिए यह आर्थिक उन्नति अनिवार्य है और इसी कारण यह अत्यन्त अपेक्षित है।

## २ भारतमें आर्थिक उन्नति

भारतमें जनसंख्याकी वृद्धि हो रही है। पर यह वृद्धि ऐसे मनुष्योंसे नहीं हो रही है जो हृष्टपुष्ट हों, वरन् ऐसे जनोंसे जिनमेंसे अधिकांशको पेट भर अन्न और शरीरके लिए काफ़ी वस्त्र नहीं मिलते। यह इष्ट नहीं। प्रत्येक व्यक्तिकी औसत आमदनी और औसत खर्चका विचार करनेसे शीघ्रही विदित हो जाता है कि भारतकी दशा शोचनीय है। यह एक सिद्धान्त है कि जिस देशमें प्रथम श्रेणीके मनुष्य अधिक हैं या जिसमें तृतीय श्रेणीके मनुष्य अधिक हैं [अर्थात् धनाढ्य और गरीब] वह देश चैनका देश नहीं। पर जिस देशमें द्वितीय श्रेणीके जन अधिक हैं उसमें चैन है। इस चैन वाली श्रेणीका यह अर्थ है कि इस श्रेणीवाले न अमीर हैं न गरीब हैं, पर पेट भर अन्न और शरीरके लिए काफ़ी वस्त्र, बिना किसी प्रकारकी अधिक चिन्ताके पाते हैं, सभ्य हैं, शिक्षित हैं, और अग्रिम तथा भावी उन्नतिका लक्ष्य

1. Exchange 2. Middlemen 3. Tax

रखकर अपनेको तदनुसार वर्त्तते हैं। जिस देशमें चैनकी मात्रा अधिक है वही सराहनीय है। हम देखते हैं कि हमारे यहाँ द्वितीय श्रेणी वाले इने गिने ही हैं। प्रयत्न होना चाहिए कि इस श्रेणीकी संख्या शीघ्र बढ़े और भारतवर्ष सुखी बने।

यह भी प्रकट है कि इतनी मंहगी होते भी श्रमजीवियोंमेंसे अधिकांशकी स्थिति अति शोचनीय नहीं, पर तब भी ये द्वितीय श्रेणीके नहीं हैं।

आर्थिक उन्नतिके दूसरे ध्येयका विचार करके हम तुरन्त कह सकते हैं कि एक उपभोक्ताके कारण दूसरे उपभोक्ताको यद्यपि त्रास नहीं, तथापि एक उत्पादक इजारदार या पूँजीवालेके कारण अन्य उत्पादकोंको कई क्षेत्रोंमें त्रास होता है। यह अर्थशास्त्रकी कला[1] का क्षेत्र है। इसमें कई बातें एक दूसरेसे गुथी हैं।

आर्थिक उन्नतिके दूसरे ध्येयका विचार करते हुए हर्ष होता है। शहरोंके अन्दर अनेकों अच्छी और लंबी सड़कें बन गयीं और बन रही हैं। इक्के और गाड़ियाँ पहिलेसे बहुत अच्छी हो गयीं। सूचक और वाहक प्रकार[1] बहुतही योग्य हो चले हैं। नदियोंपर पुल रेल और सड़कोंने भारतवर्षके एक प्रान्तको दूसरेके अति निकटवर्ती बना दिया है। रेल और सड़कोंका चारों तरफ जाल सा फैला हुआ दृश्य हर प्रान्तमें दिखाई देता है। डाकखाने प्रायः सर्वत्र खुल गये हैं उनके साथ तारघर भी उपस्थित हैं। वायुसूचक यन्त्र और वायुयान भी अब यहाँ चलने लगे हैं। तात्पर्य यह है कि इन सब सामग्रियोंके कारण भारतवर्ष संकुचित सा हो चला है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि ये उन्नतियाँ उसी प्रकार और उन्हीं दिशाओंमें हुई हैं जिनमें होनी चाहिएँ।

यह भी विदित है कि उत्पादक अधिकारियोंको उनका पूरा हिस्सा जब कभी मिलता है तब बीचवाले[2] और पूँजीवाले[3] लाभका अधिकांश ले बैठते हैं।

आर्थिक उन्नतिके चौथे ध्येयका विचार करते समय सन्नाटा छा जाता है, विचारशक्ति मन्द पड़ जाती है और कहना पड़ता है कि इस भौतिक महत्वाकांक्षाके कारण और इस राक्षसी महात्वाकांक्षाके पूरक मार्ग और प्रकारोंके कारण भारतकी दशा सन्तोषजनक नहीं। जब ऐहिक सुखकी पराकाष्ठा दूर है तब शाश्वत शान्तिकी चेष्टा कौन कर सकता है। पर आर्थिक उन्नति स्वयंभू है। संसार और काल, चक्र कहलाते हैं। इनकी गति बदलती रहती है और चक्रका भाग जो ऊपर था वह नीचे जाता है और नीचेका ऊपर आता है। इसी नियमसे भारतकाकाल-चक्र ऊपरसे नीचे गया पर अब शीघ्रही नीचेसे ऊपर आने वाला है। आर्थिक उन्नतिको कोई रोके तो रुक नहीं सकती। पर इसकी चालमें यदि कोई सहारा लगादे तो यह जल्दही बढ़ने लगती है। भारतवर्षमें अब आर्थिक उन्नति कई प्रकारसे हो चली है इसमें कोई सन्देह नहीं।

## ३ प्राचीन आर्थिक उन्नति

प्राचीनताके विषयमें कहा जाता है कि उस समयके कोई इतिहास नहीं, कोई

---

1 The Art of Political Economy.

1 Means of communication and Transportation. 2 Middlemen. 3 Capitalist.

लेखपत्र नहीं, अतएव जो कुछ उस समयका वर्णन है वह विश्वसनीय नहीं। हम अति प्राचीन कालमें प्रवेश न करके उतनेही कालका विचार करेंगे जिनके विषयमें हमें कुछ अंक और वर्णन उपलब्ध हैं। तथापि मामूली समझवाले इतना तो स्वीकार करेंगे कि प्राचीन भारतवासी वर्त्तमान निवासियोंसे शरीर सम्पत्तिके हिसाबसे अधिक बलवान्, अधिक हृष्ट पुष्ट, अधिक दृढ़ और अधिक कर्मशील थे। महाशय मोरिसन, मोरलैंड, इत्यादि सज्जन सिद्ध करते हैं कि प्राचीन भारतमें महार्घता इतनी न थी, इतने सार्वभौम दुर्भिक्ष नहीं पड़ते थे। पर इनका कारण वे सूचक और वाहक प्रकारोंका अभाव बतलाते हैं। वे लिखते हैं कि एक गांवमें समृद्धि होती थी और पासही १०–१२ कोस पर अकाल, क्योंकि तब सड़कें वगैरह न थीं और न कोई उस समयका सच्चा हाल लिखना उन दिनों पसन्द करता था। अस्तु उसी समयके अन्यान्य नगर, गांव और प्रान्तोंमें अन्यान्य चीज़ोंकी कीमतें देखनेसे पता चलता है कि तब महार्घता भारतवर्षमें इतनी प्रसन्न न थी। पहिले यह होता था कि यदि एक वर्ष अकाल पड़ गया तो दूसरेही वर्ष लोगोंको अधिक सौकर्य हो जाता था। यदि एक चीज़की कीमत चढ़ जाती थी तो अन्य दूसरी चीज़ोंकी घट जाती थी, पर अब तो सतत अकाल है और एकाध चीज़ोंको छोड़ प्रत्येक चीज़की कीमत बढ़तीही चली जाती है। इनके कारण और प्रमाण अनेक हैं पर वास्तविक स्थिति अति शोचनीय है। अब दुर्भिक्ष एक वर्षका, या एक प्रान्तका या किसी विशिष्ट पदार्थका नहीं होता। अब तो सततवादी, सार्वभौम सर्व पदार्थोंका दुर्भिक्षराज होता है। ईश्वरसे प्रार्थना है कि इसको तो यहाँसे शीघ्रही विदा करें।

## ४ आर्थिक उन्नति और नारदीय ध्येय

आर्थिक उन्नति क्या है, वह कैसे हो सकती है और वह क्यों अपेक्षित है इत्यादि बातोंके अनुशीलनसे यह सहजही समझमें आ जाता है कि आर्थिक उन्नतिका ध्येय वही है जो आर्थिक सिद्धान्त "अधिकांश संख्याका अधिकांश हित" और नारदीय वचनका ध्येय है। सच तो यह है कि इस ध्येयकी प्राप्ति आर्थिक उन्नतिद्वारा ही हो सकती है। जहाँ आर्थिक उन्नति पूर्णतया नहीं वहाँ जनसंख्या पूर्ण सुखसे नहीं रह सकती। शान्तिका वहाँ वास नहीं, न ऋद्धि है न सिद्धि। वही देश पूर्ण उन्नत है वही देश समृद्ध है जहाँ आर्थिक उन्नति पूर्णतया सर्वांग विराजमान है। मानवी कल्याण पूर्ण तबही हो सकता है जब अन्यान्य चराचर अपना अपना हित-चिन्तन करते हुए दूसरोंके हितकी पूर्ण चेष्टा करेंगे। निदान यह प्रकट है कि नारदीय इष्ट सिद्धि और आर्थिक उन्नति एकही बात है। आर्थिक उन्नतिका प्रसार होना चाहिए, इष्ट सिद्धि अपने आपही हो जायगी।

## ५ भविष्यमें आर्थिक उन्नति

भारतवर्षमें पूर्वमें न इतने नगर थे, न इतने मकानात थे, न इतने नगरनिवासी थे और न इतने नागरिक व्यवसाय थे। इतनी और ऐसी सड़कोंका पूर्वमें नाम भी न था। जन संख्या भी

इतनी अधिक न थी। पृथ्वी माता भी इतनी वृद्धा न थीं। अब नगररचना और तद्शास्त्र वृद्धिगत होनेके कारण भारतवर्षकी रचना इस प्रकार हो चली है कि कालान्तरमें यह एक ऐसा बाग बन जायगा कि इसके बीच बीचमें माकानात नगर रूपमें होंगे, फिर उद्यान फिर मैदान। यह सन्तोषजनक और सराहनीय स्थितिकी आकांक्षा है। पर नगरमें रहनेवालोंका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, यह सभी जानते हैं। इसी कारण गांवोंकी स्वास्थ्यप्रद सुभीताओंको नगरोंमें लानेका प्रयत्न हो रहा है। वर्तमानमें आर्थिक उन्नतिका विचार करते समय प्रत्येक विचारवान पुरुष यह कह सकता है कि इन दिनों जैसी आर्थिक उन्नति भारतमें हो रही है वैसी पहिले नहीं थी। पर यह भी कोई नहीं कह सकता कि यह सर्वांग सुन्दर सर्व प्रकारसे त्रुटिरहित है और अब इसमें सुधार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

आर्थिक उन्नतिके प्रथम ध्येय हृष्ट पुष्ट जनसंख्याके चैनसे रहनेके प्रश्नपर विचार करते समय भारतवर्षकी जनसंख्या पर दृष्टि डालनी होगी।

यहाँकी जनसंख्या इस प्रकार है :--

| सं० | | स्त्री, | पुरुष | दोनों |
|---|---|---|---|---|
| १९२९ | ... | १००,१०६,८१५ | १०६,०५५,५४५ | २०६,१६२,३६० |
| १९३८ | ... | १२३,९४७,०४० | १२९,९४९,२९० | २५३,८९६,३३० |
| १९४८ | ... | १४०,५४५,०४२ | १४६,७६९,६२९ | २८७,३१४,६७१ |
| १९५८ | ... | १४४,४०९,२३२ | १४९,९५१,८२४ | २९४,३६१,०५६ |

अर्थात् जनसंख्याकी वृद्धि होती जाती है। अब यह विचारकर देखना चाहिए कि इस संख्यामें हृष्ट पुष्ट कितने हैं, अथवा क्या अधिकांश हृष्ट पुष्ट हैं और क्या वे अपना निर्वाह चैनसे कर सकते हैं? यहाँ एक व्यक्तिकी आमदनी अन्य देशीय व्यक्तिसे बहुत कम है। निर्वाह प्रकार भी बहुत नीची हालत का है। कितनेही लोगोंको तो आधा पेट भोजन भी नहीं मिलता है। अत्र माल्थस महाशयके कथनानुसार जनताको चाहिए कि वे उस समय तक संसारकी सृष्टि न बढ़ाएँ जब तक कि वे भावी सन्तानके लिए पेटभर अन्न और शरीरके लिए वस्त्र देनेमें समर्थ न हो लें। जनसंख्यामें काम करनेवालोंकी संख्या बढ़नी चाहिए ताकि उत्पादकगण अधिक होकर अधिक उत्पन्न करनेका प्रयत्न करें। उत्पन्न करनेके प्रकारोंमें भी रूपान्तर अवश्यही करना पड़ेगा। पूर्ववत् यदि सबही कृषिकी ओर आकर्षित हो जायँगे तो लाभ न होकर हानि होगी। व्यवसायोंकी भिन्नता[1] इन दिनों इष्ट है। कृषिप्रकारोंमें भी सुधार होने चाहिएँ। इन भिन्न भिन्न व्यवसाय और उद्योगोंकी स्थापना योग्य केन्द्रोंमें होनी चाहिए।

अबाधित (स्वतन्त्र)[2] और बाधित (रक्षित)[3] व्यापारका विचार करते हुए यही कहना पड़ता है कि वर्तमान स्थितिको देख "पहिले घर फिर जग" कहावतका पूर्ण अनुकरण करना चाहिए। यह भी विदित है कि इन दिनों प्रत्येक देश प्राचीन सिद्धान्तोंका

1 Diversity of occupations. 2 Free Trade. 3 Protection.

उल्लंघन कर उन नये प्रकारोंका सेवन कर रहा है जिनसे देशमें नित्यके आवश्यक पदार्थों-की कमी न पड़े। यहाँ भी उचित है कि स्वतन्त्र व्यापारोंके सिद्धान्तोंको त्यागकर रक्षित व्यापारप्रणालीका क्रमशः अनुकरण किया जाय। ऐसा करनेसे यह परिणाम होगा कि यहाँकी बढ़ी हुई जनसंख्याको काम करनेको नये नये धन्धे मिलेंगे और उपज भी बढ़ेगी पिपीलिका सदृश जनसंख्या घटकर, सिंह व्याघ्र सदृश जनसंख्या भी बढ़ेगी। इसपर कई साक्षेप कटाक्ष संभव हैं पर यथार्थताका विचार करते समय यही मार्ग योग्य दीखता है।

आर्थिक उन्नतिके दूसरे ध्येयका विचार रखते हुए यह कहना पड़ता है कि इजार-दारियोंके[1] उत्पत्तिप्रकारोंकी, देशहितका उद्देश्य सम्मुख रखते हुए योग्य व्यवस्था होनी चाहिए। प्रकारोंमें इन बातोंका भी समावेश है जैसे कलकारखानोंमें काम करनेवाले श्रमजीवि-योंका स्वास्थ्य, उनका वेतन, वहाँ बच्चे और स्त्रियोंका काम करना, उनके रहनेका मकान, काम करनेका समय, उनका खाद्य इत्यादि इत्यादि। अर्थशास्त्रीय कलाका विचार करते समय यह योग्य दीखता है कि इन दिनों स्वतन्त्र होड़[2] को पूरा अवसर न देना चाहिए, क्योंकि इसका परिणाम यह होता है कि स्थिति शोचनीय हो जाती है। सरकारको उस कलाके सिद्धान्तोंके अनुसार उत्पत्ति प्रकारोंमें हस्तक्षेप करना पड़ता है। अधिक पूँजी कतिपय व्यापारियोंके हाथमें पहुँचकर उनमें एक ऐसी शक्ति उत्पन्न कर देती है कि कई उद्योग वे अपने काबूमें कर लेते हैं और हजारों उद्योगीजन उद्योगरहित हो बैठते हैं।

उपयोग करनेके प्रकारोंके विषयमें इतनाही कहना पर्याप्त होगा कि ऐसे जनोंकी संख्या अधिक न बढ़ने पाए जिनके कारण आवश्यकीय पदार्थोंकी उपज कम हो और ऐश आरामकी चीज़ें अधिक पैदा होने लगें। यह नहीं कि ये चीज़ें बिलकुलही उत्पन्न न हों। जनताकी आवश्यकताओं, परिस्थिति इत्यादि बातोंका विचारकर उत्पन्न और उपयोगके प्रकारोंकी योजना होनी चाहिए।

आर्थिक उन्नतिके तीसरे ध्येयका विचार करते समय यह कहते हुए हर्ष होता है कि पहिलेकी अपेक्षा अब बहुत सुविधाएँ हैं। तथापि वाहक और सूचकमार्ग इन दिनों अधिक और सरल होते हुए भी अधिक त्रास देने लगे हैं। इनके कारण निरर्थकही चीज़ोंकी क़ीमत बढ़ जाती है। यह भी अयोग्य है कि भाड़ा इस प्रकार नियत किये जाएँ कि भिन्न भिन्न प्रकारके भिन्न भिन्न व्यापारियोंको, देशी और परदेशियोंको इन भाड़ोंके प्रकारसे भिन्न भिन्न प्रकारसे हानि और लाभ हो। अभी हमारे देशमें अमरीकाकी नौबत नहीं आयी है क्योंकि इन सूचक और वाहक मार्गोंमें परस्पर होड़ नहीं और इसी कारण भाड़ा मनमाना नियत कर दिया जाता है। उन मार्गोंका ध्येय देशहित न होनेसे पूँजी लगानेवालोंका अधिकसे अधिक मुनाफ़ा हो जाता है और देशके व्यापार और उपजको धक्का पहुँता है।

अर्थशास्त्रीय कलाका अधिक प्रचार और प्रसार न होनेसे उत्पादक अधिकारियोंको बटवारे[3] के समय उनके अधिकारानुसार उन्हें उनका भाग न मिलकर पूँजीवालोंको और बीच-

1 Monopolies. 2 Free Competition. 3 Distribution.

वालोंको अधिक लाभ होजाता है और यह स्थिति इतनी बढ़ जाती है कि सट्टेबाजी भी घुस पड़ती है और अनाप सनाप लाभके नशेमें देशका व्यापार तथा उत्पत्ति प्रकार सब शिथिल पड़ जाते हैं। ऐसा न होना चाहिए। योग्य बटवारा वह है जिसमें प्रत्येक उत्पादकगण, अपनी अपनी उत्पादक शक्तिके अनुसार, उपयोगिताके कारण प्राप्त हुए लाभका योग्य हिस्सा पाता है। दूरदर्शिता, समर्थता[1], नियोजकता[2] इत्यादि गुणोंके एवज़ निःसन्देह प्रत्येकको मिलनाही चाहिए। पर ऐसा क्यों हो कि जो दूसरोंकी समर्थता आदि गुणोंका फल है वह उन्हें न मिलकर अनधिकारियोंको ही मिल जाय। ऐसी बातें होनेसे जीवनसंग्राम अति दुस्तर कार्य हो जाता है और देशकी उन्नति रुक जाती है।

चतुर्थ ध्येय। जब प्रत्येक भारतवासीको पेट भर अन्न, शरीरके लिए वस्त्र और रहनेको यथेष्ट स्थान मिल जायगा तब अपने अपने मत और धर्मानुसार प्रत्येक अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हुआ विश्राम पाकर शान्ति देवीकी गोदमें बैठकर अपने आप विचारकर प्रस्फूर्ति पाएगा और प्रत्येक भारतवासी अपने हृदयसे उस सार्वभौमसत्ताको आशीर्वाद देगा, जिसके कारण यह सुविधा यहाँ प्राप्य हुई। तदनन्तर अपने अपने कर्त्तव्योंको पूरा करते हुए अपने शास्त्र, परस्पर हित, लोकसंग्रह इत्यादि विषयोंकी विवेचना करते हुए, विश्वात्माकी पूर्ण सेवाका स्वाद लेते हुए, ऐहिक कल्पना और अनुष्ठानोंका विचार और संबंध शिथिल करके उस शाश्वत-शान्तिके प्राप्त करनेका विचार, प्रयत्न और चेष्टा करने लगेगा जिसके द्वारा ही सच्चा सुख कभी प्राप्त हो सकता है और जिसके प्राप्त करनेके लिए यह मनुष्यजन्म सबसे श्रेष्ठ साधन है।

**बालकृष्णपति वाजपेयी भीमपुरे**

1 Efficiency. 2 Organising capacity.

# पुस्तकावलोकन

*प्राचीन भारत—लेखक, पंडित हरिमंगल मिश्र एम० ए० । प्रकाशक—ज्ञानमण्डल कार्यालय, काशी । पृष्ठ संख्या ४६३, मूल्य ३।॥-)*

प्राचीन भारतका सर्वमान्य विस्तृत इतिहास अभीतक नहीं लिखा गया। इसके कई कारण हैं। भारतकी सभ्यता सबसे प्राचीन है। इतने सहस्रों वर्षोंका लगातार इतिहास लिखना यथेष्ट सामग्रीके अभावसे असम्भव है। देशभी इतना विस्तृत है कि सब प्राचीन कालमें सब ऐतिहासिक घटनाओंका समस्त देश पर उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ता था। हिन्दुओंको इतिहास लेखन सामग्रीको एकत्र करना उस ढंगसे पसन्द नहीं था जिससे आधुनिक इतिहास लेखकोंको पूरा सन्तोष हो। फिर भारतवर्षकी विचित्र और ज्योतिमयी सभ्यताका इतिहास जानना कोई असंभव बात नहीं। खोज करनेवालोंने बहुत सामग्री एकत्र की है और बड़ी छानबीनके साथ उसकी परीक्षा की है। बहुतसी बातोंमें मतभेद होना साधारण बात है फिर भी प्राचीन भारतकी प्रमाणिक और सच्ची झलक मिल गयी है। अंगरेजीमेंही प्राचीन भारतका इतिहास अभी पूर्ण नहीं हुआ तो फिर अभी देशी भाषाओंमें कैसे हो सकता है? परन्तु हिन्दीको अब यह गौरव प्राप्त हो गया है कि इस भाषामें एक ऊँचे दर्जेका इतिहास तय्यार हो गया। आरम्भकालसे १००० विक्रमाब्दतकका इतिहास प्रस्तुत पुस्तकमें संक्षेपसे दिया गया है। पुस्तक कई वर्षके निरन्तर परिश्रमका फल है। वेद पुराणसे लेकर संस्कृत काव्यग्रंथसे लेकर अंगरेजीकी प्रमाणिक पुस्तकें और सामयिक पत्रोंतकसे लेखनमें सहायता ली गयी है। प्राप्त सामग्रीका अच्छा उपयोग किया गया है। रघुवंश और चन्द्रवंशसे पहिलेका इतिहास देकर दोनोंवंशोंका वर्णन दिया गया है। पुस्तकमें ४० अध्याय हैं और ११ चित्र और मानचित्र भी दिये गये हैं। भूमिका, 'आर्य जातिके लोग', 'श्रीकृष्ण', मौर्यवंश' 'धार्मिक साहित्य' आदि अध्याय विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। प्रसिद्ध घटनावली और अनुक्रमणिकाने पुस्तककी उपयोगिताको बहुत बढ़ा दिया है। इस अमूल्य पुस्तककी स्थानाभावसे विस्तृत समालोचना यहाँ नहीं हो सकी। हिन्दी प्रेमियोंके लिए यह बड़े सन्तोषकी बात है कि हिन्दीमें भी 'प्राचीन भारत' और 'भारतकी साम्पत्तिक अवस्था' जैसे स्वतंत्र और उत्तम ग्रंथ निकलने लगे। लेखक और प्रकाशक दोनों पूर्ण रूपसे धन्यवादके पात्र हैं।

*सीता—लेखक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्म्मा। प्रकाशक—श्रीयुत रामलाल वर्म्मा, मालिक बर्मन-प्रेस, ३७१ अपर चीतपुर रोड, कलकत्ता। पृष्ठसंख्या २३१ मूल्य २॥), सजिल्द २॥।) और रेशमी जिल्द ३)*

बर्म्मन प्रेससे प्रकाशित रमणीरत्नमालाका यह तीसरा रत्न है। भगवती सीता

का आदर्शचरित्र उपाख्यान रूपसे इसमें दिया गया है। लेखक महाशयने तुलसीकृत, वाल्मीकि रामायण तथा उत्तररामचरित्रके आधारपर यह सीताचरित्र लिखा है। भाषा सरल और मनोहर है। बालकबालिका एवम् महिलाओंको पढ़नेमें कठिनता न हो इसका विचार रखा गया है। इस पुनीत कथाको उपन्यासकी रोचकता देनेमें लेखक महोदय कृतकार्य हुए हैं। छपाई आदिकी बड़ाई करना आवश्यक नहीं क्योंकि वर्मन प्रेसके मालिक सुन्दर पुस्तकें निकालनेमें किसीसे पीछे नहीं हैं। १५ चित्र भी दिये हैं, जिनमें विशेषकर बहुरंगी हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह पुस्तक सर्वप्रिय होगी।

*पृथ्वीराज—लेखक श्रीयुत चन्द्रशेखर पाठक। पाठक एण्ड कम्पनी, नं० ५३, चोरबगान कलकत्ता से प्राप्य। पृष्ठ संख्या १५१।*

'ऐतिहासिक रत्नमाला' का यह प्रथम ग्रंथ है। पाठक एण्ड कं० ने ५) वार्षिक मूल्यपर इस रत्नमालाके ८० पृष्ठ प्रतिमास निकालना निश्चय किया है। वीर, देश-सेवक तथा समाज-सेवक जिन्होंने इतिहासमें अपना नाम अमर कर दिया है उन्हींके चरित्र इस मालामें निकलेंगे। पृथ्वीराजको प्रथम स्थान उपयुक्तही है। "पृथ्वीराजरासो" और बंगला-के "पृथ्वीराज" महाकाव्यके अतिरिक्त दस बारह अंगरेज़ीकी प्रमाणिक पुस्तकोंकी सहायतासे इसकी रचना की गयी है। पुस्तक पढ़नेसे स्पष्ट मालूम होता है कि इसके लिखनेमें इतिहासकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं किया गया है। प्रमाणिक पुस्तक लिखनेकाही प्रयत्न लेखक महाशयने किया है। इसमें २१ अध्याय हैं और चित्र भी हैं। सूचीपत्रकी आवश्यकता प्रतीत होती है। भाषा सरल है और छपाई उत्तम है। रत्न-माला पाठकोंके अपनाने योग्य है।

*असहयोग—प्रकाशक, राष्ट्रीय ग्रंथमाला कार्यालय, ६३ हिवेट रोड, इलाहाबाद। पृष्ठ संख्या ६० मूल्य ।≈)*

विषय नामसे प्रकट है। इसमें महात्मा गांधीके असहयोगपर प्रकाशित अंगरेजी तथा गुजराती लेखोंका हिन्दी अनुवाद है। लेखोंके चुननेमें बड़ी सावधानी दिखायी गयी है जिससे असहयोगका विचार सब पहलूसे हो सके। पुस्तक सामयिक तथा अच्छी है।

*चारुचरितावली—लेखक और प्रकाशक श्रीसिद्धगोपाल काव्य-तीर्थ, बिजनौर। पृष्ठ संख्या १६३, मूल्य १)*

यह संस्कृत भाषाकी पुस्तक है। इसमें महात्माओंके जीवनचरित्र और उनके उपदेश दिये हुए हैं। बुद्ध, शंकर, ईसामसीह, मुहम्मद, कबीर, नानक और दयानन्द सरस्वती इन सात महात्माओंका हाल है। इन महात्माओंके उपदेश और सिद्धान्तोंकीभी अच्छी आलोचना की गयी है। भाषा सुबोध और मधुर है। पूर्वभाषण विचारयुक्त है। महात्मा-ओंके चित्रभी दिये गये हैं। संस्कृत विद्यार्थियोंके लिए पुस्तक उपयोगी है। संस्कृतमें ऐसे ग्रंथका प्रकाशित होना हर्षकी बात है। लेखक महाशयने परिश्रमसे इसे लिखा है।

# सम्पादकीय

## चरखेका प्रचार

महात्मा गांधीका उपदेश है कि घर घर चरखेका प्रचार हो। गृहस्थ स्त्री पुरुष अपने हाथों घरमें सूत बनाकर कपड़ा बुनें और उसीका व्यवहार करें। महात्माजीने यह उपदेश किस लिए दिया है यह समझने योग्य बात है। चरखेके मधुर गानसे वे देशको जगानाही नहीं चाहते वरन समाजकी आधुनिक व्यवस्थाका पहिया उलटा घुमाकर प्राच्य देशीय प्राचीन सभ्यताका अभ्युदय देखना चाहते हैं। उन्होंने अपने असंख्य अनुयायी स्त्री पुरुषोंको यह जँचा दिया है कि स्वराज प्राप्तिके लिए चरखा एक आवश्यक साधन है और हमारे समाजकी अनेक बुराइयोंके संहारके लिए सुदर्शन चक्र है। यह सर्वमान्य बात है कि हमारा आर्थिक दासत्व दूर हुए बिना स्वराज्य प्राप्त नहीं हो सकता। दैन्य निवारण और आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिए स्वदेशी और वहिष्कारका उपदेश दिया गया था और साथमें कला कौशल और देशी व्यवसायकी उन्नतिका अनुरोध नेताओंने किया था। परन्तु इसमें पूर्ण सफलता एकाएक होना कठिन था। जो हुआ वह ठीक हुआ, परन्तु इतनेसे काम नहीं चल सकता। पिछले ११ महीनोंमें १ अरब १५ करोड़ रुपयेके लगभगका वस्त्रादि विदेशसे यहाँ आया है। इसका उपाय एकही है कि हम अपनी आवश्यकता आप पूरी करनेका प्रयत्न करें जिससे पराधीनता और आर्थिक हानिसे बच सकें। यहाँसे कपास विलायत जाती है वहाँसे कपड़ा बनकर यहाँ आता है इससे हमको बहुत ऊँचे दामों पर माल खरीदना पड़ता है। यदि कपाससे यहीं माल तय्यार हो जाय और साथमें कुछ रुकावटें हटा दी जायँ तो कपड़ा सस्ता होजाय, देशवासियोंको काम मिले और व्यवसाय की उन्नति भी हो।

## कारखाने और पुतलीघर—

खोलनेसे यह काम चल सकता है। परन्तु इसमें कितनीही बातें बाधक हैं। विलायती व्यवसायी बहुत प्रबल हो चुके हैं, उनकी सफलता पूर्वक बराबरी करना आसान बात नहीं है। उनके पास पूँजी मनमानी मौजूद है, पर इस देशमें वह इतनी सुलभ नहीं है। व्यवस्था और संघटनमें भारतीयोंसे वे बढ़ चढ़कर हैं और उनके मजदूरभी यहाँसे अधिक काम कर सकते हैं। कल पुर्ज़े हमको विलायतसे मँगाने पड़ते हैं। जो सुभीता विलायतवालोंको कलसे उन्नति और सुधार करनेका प्राप्त है वह हमको अलभ्य है। फिर सरकारकी मदद और व्यापार नीति भी उन्हींको विशेष हितकारी है यहाँ कौशल और व्यवसायका चमकना उनको नहीं सुहाता। ऐसी दशामें यह प्रत्यक्ष है कि कल कारखानोंकी उन्नति इतनी जल्दी नहीं हो सकती कि देशवासियोंकी स्वदेशी कपड़ेकी माँग पूरी हो सके। फिर

## सम्पादकीय

यह भी बात विचारणीय है कि यहाँ की मिलोंमें जो कपड़ा बनता है वह विशेषकर विदेशी सूतका होता है। इसलिए यह कपड़ा पूर्ण रूपेण स्वदेशी नहीं कहा जा सकता। स्वदेशी सूतका मोटा कपड़ा कुछ तो देशमें खपता है और उसका विशेष भाग बाहर अन्य देशोंको भी भेजा जाता है। जन साधारण जैसा महीन कपड़ा पहिनना पसन्द करते हैं वैसा यहाँ और भी कम बनता है। इसके अतिरिक्त

### *कारखानोंके बढ़नेसे हानि*

भी होती है। पाश्चात्य सभ्यताका और विशेषकर आजकलकी व्यवसायिक अवस्थाका यह परिणाम हुआ है कि समाजकी शान्ति भंग हो गयी है। धनवान अधिक धनी होते जाते हैं और निर्धनको सुगमतासे भरण पोषण भी कठिन होता जाता है। पूँजीवाले और मजूरोंमें खूब खिचा खिची रहती है। सामाजिक बन्धन विशेष जटिल हो गये हैं और मशीनके उपयोगसे मनुष्य स्वभावमें एक प्रकारकी कठोरता आ गयी है। बड़े बड़े व्यवसायी लोगोंका यही लक्ष्य रहता है कि चाहे जैसे भी हो जल्दी बहुतसा धन एकत्र कर लें। इससे समाजका नैतिक पतन होता है और धनोपार्जनमेंही जीवनकी उद्देश्य सिद्धि रह जाती है। पाश्चात्यदेश अर्थ-दासत्वकी पराकाष्ठापर पहुँच गये हैं और यही कारण देश देशमें परस्पर वैमनस्य और घोर युद्धका कारण होता है। प्राचीन सभ्यतामें जो एक प्रकारका शान्तिमय जीवन व्यतीत करनेका अवसर था वह अब जाता रहा और दिनप्रतिदिन अशान्ति, कलह, द्वेषके बढ़नेसे समस्त संसार एक संग्रामभूमि बना रहता है। इसका एक कारण मशीन, कल आदिका प्रचार है। हमारा यह मतलब नहीं है कि इनके प्रचारसे कुछ लाभही नहीं। यहाँपर प्रसंगवश दोनों ही ओर दृष्टि रखनी है। जिससे महात्मा गांधीके चरखेके प्रचारका मूल सिद्धान्त समझमें आ जाय।

इतनी बातका यह नतीजा निकला कि विदेशी व्यवसायीसे मुकाबला करना आसान बात नहीं और फिर जो उन्हीं की चालपर चले तो जो दोष यूरोपके देशोंमें देख पड़ते हैं वेही यहाँ भी अपना घर करेंगे और इससे अन्तमें देशकी आर्थिक और नैतिक अवस्था आदर्शसे दूर हो रहेगी।

### *उपाय क्या है ?*

यही प्रश्न अब रह जाता है, कल कारखानोंकी वृद्धिसे समाजमें शान्ति नहीं रही और इनके बिना न तो विलायती व्यवसायीसे हम मुकाबला कर सकते हैं और न वस्त्रकी अपनी आवश्यकता पूरी कर सकते हैं। इस देशमें थोड़े दिन पहले चर्खेका जितना प्रचार था उतना अब नहीं रहा। गांवों और शहरोंमें वृद्ध स्त्रियाँ चर्खा चलाया करती थीं परन्तु अब उसका प्रचार एकदम जाता सा रहा है। महात्मा गांधी इसीके प्रचारमें देशकी भलाई देखते हैं। इससे जो लाभ हैं वे स्पष्ट हैं। कलकारखानोंसे जो कई जटिल सामाजिक समस्यायें उपस्थित हो जाती हैं और जो समाजको कलुषित करती हैं उनका

झगड़ा ही न उठेगा। अपने अपने घरोंपर रहते हुए भी चरखा चलाया जा सकता है। बड़े बड़े शहरोंमें बहुसंख्यक मजूर स्त्री पुरुषोंका मैले मकानोंमें रहना, अनावश्यक हो जायगा। विलायती कपड़ेके भरोसे हमको न रहना पड़ेगा। स्वावलम्बन और आर्थिक स्वराज्य और स्वदेशी वस्त्रका प्रचार इससे सहजमें हो सकेगा। न बेकारी रहेगी, न निर्धनताका कष्ट होगा। बहुत बड़ी पूंजीकी भी आवश्यकता इसमें नहीं होगी। बहुतसे लोग खाली रहते हैं उनको कुछ धन्धा मिल जायगा। अनाथ स्त्री पुरुषोंको देश सेवा और स्वावलम्बनकी शिक्षाके साथ साथ अपना पेटपालन सहज हो जायगा। यदि चरखेका प्रचार न किया जाय तो शीघ्र ऐसा कोई उपाय नहीं हो सकता जिससे यथेच्छ वस्त्र बनाकर देशवासी अपना शरीर ढक सकें। महात्मा गांधीका विचार तो और भी सूक्ष्म है क्योंकि आपको अंगरेज़ी चालढाल पसंद नहीं है। आप सादे और सरल जीवनके पक्षपाती हैं। चरखेके सूतका मोटा कपड़ा आप देशवासियोंके शरीरपर देखना चाहते हैं। साधारण मोटे वस्त्रका व्यवहार बहुत विलास-प्रियताके त्यागमें सहायक हो सकता है। परन्तु चरखेका प्रचार सुगम नहीं है। उसमें अनेक बाधाएँ भी हैं उनका उल्लेख भी आवश्यक है।

## चरखेके प्रचारमें बाधा

महात्मा गांधीका आदेश है कि शीघ्र बीस लाख चरखे देशमें चलने लग जाँय। परन्तु चरखेके प्रचारमें कुछ बातें बाधक हैं। एक तो उसको काममें लानेसे बहुत समय लगता है। जैसा मामूली चरखा होता है उससे कई घंटे काम करनेपर थोड़ासा ही सूत बनता है। इतना परिश्रम सब लोग नहीं कर सकेंगे कि प्रतिदिन चरखा लेकर बैठें। जब तक कि मेहनतका फल उचित रीतिसे न मिले कोई काम लगातार जारी नहीं रह सकता। चरखेके सूतका वस्त्र एक ही तरहका बनता है और वह मोटा होता है। सबकी रुचि और आवश्यकता एकसी नहीं होती। यहाँ तक कि यदि ढाकेकी मलमल भी जितनी आवश्यकता हो उतनी तय्यार हो सके तो भी काम न चलेगा, क्योंकि उसके अतिरिक्त और तरहका कपड़ा भी चाहिये। तो चरखेका प्रचार होना और उसका जारी रहना एक साधारण और सहज बात नहीं मालूम होती। मनुष्य-स्वभाव जैसा है उसको भूलकर महात्मा गांधी यह आशा चाहे करलें कि लोग उनका सा सादा जीवन पसंद करलेंगे और गाढ़ेके वस्त्रसे अपना सब काम निकाल लेंगे। आजकल देशमें महात्माजीके आदेश और नेतृत्वको बहुसंख्यक लोग मानते हैं इसीसे आशा होती है कि चरखेका प्रचार शीघ्र हो जाय, परन्तु उसका जारी रहना और उसके द्वारा पर्याप्त स्वदेशी वस्त्रका मिलना हम कठिन समझते हैं। परन्तु इस बातके माननेमें किसीको आपत्ति नहीं हो सकती कि चरखेके प्रचारसे देशका लाभ अवश्य हो सकता है और वह थोड़े ही दिवसमें लोगोंके अनुभवमें आने लगेगा।

## नये वर्षका भारतीय बजट

आय व्ययका लेखा ठीक करनेके लिए सरकारी साल ३१ मार्चको समाप्त हुआ करता

है। गत वर्ष यह अनुमान किया गया था कि १३२ करोड़ रुपयेकी आमदनी होगी और १३० करोड़का व्यय होगा और इस तरह सरकारको २ करोड़की बचत हो जायगी। परन्तु वर्षके अन्तमें अंकोंके देखनेसे मालूम हुआ कि अनुमान सही निकला। १३० करोड़के व्ययमें ८½ करोड़ इस बातके लिए भी रखे गये थे कि पेपर करंसी कोषमें जो घाटा २ शिलिंग का एक रुपया कर देनेसे हुआ था वह पूरा हो जाय। परन्तु बादमें यह निश्चय हुआ था कि यह घाटा साधारण आमदनीसे पूरा न किया जाय। इसलिए बचत १०½ करोड़-की होनी चाहिए थी। बात उलटी हुई और ११¾ करोड़का घाटा हुआ अर्थात् आमदनीसे इतना ख़र्च अधिक हुआ। इस तरह २२ करोड़के लगभग व्यय वृद्धि अनुमानसे अधिक हुई। इस रकमका बड़ा अंश सैनिक खातेमें लगा है। अफ़गानिस्तानकी लड़ाईमें २३ करोड़-का व्यय हुआ है और इसके अतिरिक्त १२ करोड़ सीमापर सैनिक व्यय हुआ है। ३५ करोड़ अमीर और सीमाकी अन्य जातियोंसे छेड़छाड़में फूँक दिया गया और इस वर्षभी सीमाके आसपास लड़ाई झगड़े चले ही जाते हैं।

इसवर्ष १२६ करोड़का ख़र्च अनुमान किया गया है और यदि कोई कर न बढ़ाया जाय और पिछले वर्ष जितना था उतना ही रखा जाय तो आमदनी अनुमानसे ११०½ करोड़ होगी। इस तरह १८ करोड़से ऊपरका घाटा रहता है। यह कैसे पूरा हो? प्रजापर कर बढ़ाकर। सन् १९७६ में ६ करोड़का घाटा हुआ था पिछले वर्ष २३ करोड़का हुआ और इसवर्ष ११¾ का अनुमान किया गया है। तो तीन वर्षोंमें ४०¾ का घाटा भारत जैसे निर्धन देशके लिए कुछ छोटी बात नहीं है। पिछले दोवर्षोंकी कमी पूरी करनेके लिए नया कर नहीं लगाया गया। नोटकी संख्या बढ़ाकर और ट्रेजरी बिलोंसे यह कमी पूरी की गयी। अर्थात् धन उधार लेकर काम चलाया गया। ऐसा बार बार करना अनुचित है इसी लिए इसबार कर बढ़ाकर आमदनीमें १९ करोड़ १७ लाखकी वृद्धि का प्रस्ताव सरकारने किया है जिससे ८४ लाखकी बचत वर्षके अंतमें रहे।

पिछले वर्ष इनकम टैक्स, कस्टमस् और गेहूंकी खरीदपर मुनाफ़ा—इन तीन मद्दोंमें तो आमदनी अनुमानसे बढ़कर हुई मगर और सबमें कमी रही। १८ करोड़का घाटा इस प्रकार पूरा किया जायगा कि विदेशी वस्त्र आदिपर जो ७½ सैकड़ाका महसूल था वह बढ़ाकर ११ कर दिया जायगा। शराब पर और विलासिताके अन्य पदार्थों पर भी महसूल बढ़ाया जायगा। रेल और डाककी दर भी बढ़ायी जायगी। दियासलाईपर भी थोड़ा कर बढ़ेगा। इनकमटैक्सकी दर ऊँची की जायगी। अलग अलग मद्दोंसे इस प्रकार आय वृद्धि होगी। आयात करसे ८ करोड़ १७ लाख, माल गाड़ीके किरायेसे ५½ करोड़, डाकघरसे २¼ करोड़ और इनकमटैक्स, सुपरटैक्ससे ३¼ करोड़। १८ करोड़का घाटा इस तरह पूरा होकर ८४ लाखकी बचत रहेगी। १५ करोड़का एक सरकारी ऋण यहाँ लिया जायगा और ५० लाख पौण्ड अर्थात् ७½ करोड़ रुपयेका ऋण विलायतमें लिया जायगा। संक्षेपमें बजटकी बातें यह हैं। शासन सुधारके बादका यह पहिला बजट है। यह तो सभी जानते थे कि नयी व्यवस्था

होनेपर सरकारी खर्च बढ़ जायगा और प्रजापर सरकारकी बहुत वृद्धि होगी। परन्तु अनुमान यह था कि बहुतसा व्यय जो भारतीयोंके लिए लाभदायक नहीं है उसमें कमी होगी और शिक्षा, रोगनिवारण, कृषि कला कौशल आदि भी उन्नतिमें विशेष धन व्यय होगा। प्रजापरसे यथा संभव कर भार कम होगा। मगर यह आशा पूरी नहीं हुई और साथमें यह बात भी प्रत्यक्ष हो गयी कि भारतीय प्रतिनिधियोंको व्यवस्थापक सभामें वास्तविक अधिकार कितना है, उनके किये क्या हो सकता है और कितनी आवश्यक बातोंमें देश हित साधनकी शक्ति उनको नहीं दी गयी है।

सेना विभागका बढ़ता हुआ खर्च प्रत्येक भारतीयको खटका करता है। गोखले महाशय बजटपर बहस करते समय सेना विभागकी रकम कम करानेमें कोई बात उठा नहीं रखतेथे पर उनकी भी एक न चलती थी। किसी देशमें आमदनीके हिसाबसे सेनाका इतना खर्च नहीं है जितना इस देशमें है। आधीके लगभग आमदनी केवल सेना विभाग द्वारा खर्चकी जाती है। नये बजटमें ६२ करोड़ रुपयोंसे कुछ अधिक सेनाका खर्च अनुमान किया गया है। वैसे तो प्रतिवर्षही यह खर्च बढ़ाया जा रहा है, गतवर्ष अमीर काबुलसे लड़ाई छिड़ जानेसे ३५ करोड़ स्वाहा हो गया। भारतीयोंको आपत्ति यह है कि यदि हम लोगोंको सरकार उचित रीतिसे सैनिक शिक्षा दे तो खर्चकी कमी हो और हमको अपने देशकी रक्षा करनेका बल प्राप्त हो। सरकारको हमपर पूरा विश्वास नहीं है, इसलिए प्रजा-बल बढ़ाना उसको मंजूर नहीं। दूसरी बात यह है कि सेनाकी ऊंची ऊंची नौकरियाँ हिन्दोस्तानियोंको नहीं दी जातीं। फिर यह भी शिकायत है कि धनका व्यय बड़ी निर्दयतासे होता है। फ़ज़ूलखर्ची बड़ी भारी है। सबसे बड़ी बात यह है कि साम्राज्यकी रक्षाका ख्याल करके भी भारतपरही सेना विभागका विशेष भार लादा जाता है। यदि साम्राज्यका विस्तार हो तो हमको क्या लाभ? यहाँकी सेना दूरस्थ देशोंमें जाकर लड़े, यहाँका रुपया खर्च हो और लाभ अंगरेज़ और उनके व्यापारियोंको हो। सेनाका खर्च तभी कम हो सकता है जब सरकारको हमपर विश्वास अधिक हो और नीतिसे विशेष काम लिया जाय। सरकारकी ओरसे कहा गया है कि सीमाप्रदेश और वज़ीरिस्तानमें झगड़ा जारी है इसलिए खर्च विशेष होगा। अमीरकाबुलने भी रूससे संधि कर ली है। यह भी एक कारण सेना बढ़ानेका होगा। अब अशान्तिका भय विशेष रहेगा। एक और भी कारण बताया गया है जिसके भयसे सरकार सेना वृद्धि करनेका विचार करती है। वह है देश-व्यापी असहयोग-आन्दोलन। माननीय श्रीनिवास शास्त्रीने यह स्पष्ट रूपसे कहा भी है। सरकारको इस आन्दोलनके बारेमें यह सन्देह है कि उसका संबंध बोल्शेवियोंसे है और वह विप्लवकारी है। असहयोग आन्दोलनके संबंधमें हम यहाँ कुछ नहीं कह सकते। मगर यह बड़े खेदकी बात है कि उसको भी एक कारण बनाकर सरकार सेना-व्यय बढ़ाती है।

रेलपर १८ करोड़ खर्च किया जायगा और दिल्लीकी सरकारी इमारतोंपर ४ करोड़। आमदनी खर्चकी और भी जानने योग्य बातें हैं उनका अंक सहित फिर उल्लेख

## सम्पादकीय

होगा। इस बजटमें एक बात सन्तोषकी यह है कि विदेशी मालपर कर बढ़ाया गया है जिससे स्वदेशी कारीगरीको उत्तेजना मिलेगी। यह कर आमदनीके लिए है न कि देशी व्यापारकी रक्षाके लिए। सरकारकी नीयत व्यापार रक्षाकी नहीं थी परन्तु आमदनीके साथ व्यापारकी भी रक्षा हो जायगी। डाक विभागमें मनीआर्डर चिट्ठी आदिके दर बढ़ाये हैं। अच्छा हुआ जो हेली साहबके कुल प्रस्ताव नहीं माने गये। नहीं तो पोस्टकार्डका दाम दो पैसे और चिट्ठीके चार पैसे हो जाते।
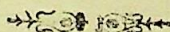
# ज्ञातव्यविषय तथा अंक

## जर्मनीपर दंड

मित्रराष्ट्रोंने जर्मनीसे अपना हर्जा इस प्रकार वसूल करना निश्चय किया है:—

| सम्वत् | इंग्लिस्तान | फ्रान्स | अन्य मित्रराष्ट्र |
|---|---|---|---|
| १९७८ | ३३,००,००,००० रु० | ७८,००,००,००० रु० | ३९,००,००,००० रु. |
| १९७९ | ३३,००,००.००० ,, | ७८,००,००,००० ,, | ३९,००,००,००० ,, |
| १९८० | ४९,५०,००,००० ,, | ११,७०,००,००००,, | ५८,५-,००,००० ,, |
| १९८१ | ४९,५०,००,००० ,, | ११,७०,००,००००,, | ५८,५०,००,००० ,, |
| १९८२ | ४९,५०,००,००० ,, | ११,७०,००,००००,, | ५८,५०,००,००० ,, |
| १९८३ | ६६,००,००,००० ,, | १५,६०,००,००००,, | ७८,००,००,००० ,, |
| १९८४ | ६६,००,००,००० ,, | १५,६०,००,००००,, | ७८,००,००.००० ,, |
| १९८५ | ६६,००,००,००० ,, | १५,६०,००,००(०,, | ७८,००,००,००० ,, |
| १९८६ | ८२,५०,००,००० ,, | १९,५०,००,००००,, | ९७,५०,००,००० ,, |
| १९८७ | ८२,५·,००,००० ,, | १९,५०,००,००००,, | ९७,५०,००,००० ,, |
| १९८८ | ८२,५०,००,००० ,, | १९,५०,००,००००,, | ९७,५०,००,००० ,, |
| १९८९ २०१९ | ९९,००,००,००० ,, | २३,४०,००,००००,, | ११,७०,००,००००,, |

जर्मन पदार्थोंके निर्यातपर जो १२½ प्रति सैकड़ाका कर लगाकर जो मिलेगा उसको भी मित्रराष्ट्र लेंगे। यह रकम ऊपर दिये हुए हर्जानेके अतिरिक्त है।

---

## हमारा आयात

गत वर्षके पिछले ११ महीनोंमें जो माल बाहरसे आया उसका मूल्य इस प्रकार था। तुलनाके लिए पिछले दो वर्षोंमें उन्हीं ११ महीनोंमें जितनेका माल आया था वह भी दिया जाता है—

| पदार्थ | सम्वत् १९७६ | सम्वत् १९७७ | सम्वत् १९७८ |
|---|---|---|---|
| १. भोज्य, पेय और तमाखू | २६,६२,४९,८३४ रु० | ३७,३१,६०,६४२ रु० | ३१,०५,२७,२७५ रु. |
| २. कच्चा माल और बिना बनी चीज़ें | ८,८१,१५,६६४ ,, | १६,०२,५४,३५३ ,, | १५,२६,१५,२७५ ,, |
| ३. तय्यार माल | १,१३,५३,४३,९७३ ,, | १,२७,२५,८२,१०१ ,, | २,५४,६४,९६,११३ ,, |
| ४. फुटकर | ४,८?,३३,३४१ ,, | ३,५१,०८,९३४ ,, | ६,८६,४०,७१८ ,, |
| जोड़ | १,५३,७७,४१,८४२ | १,८४,११,०६,०३० | ३,१०,८२,७९,३८१ |

सरकारी माल जो विदेशसे खरीदकर मंगाया जाता है, इसके अतिरिक्त है।

ओ३म् वन्देमातरम्

# स्वार्थ

वर्ष २ खण्ड १ | ज्येष्ठ १९७८ | अङ्क २ पूर्णाङ्क १४

## शिक्षासुधारकी योजना

र्तमान समयमें विद्यालयों स्कूलोंमें जो शिक्षा दी जाती है मेरे विचारसे वह यथार्थ शिक्षा नहीं होती, बिलकुल नकली होती है । कहनेका मतलब यह है कि सारी शिक्षा विद्यालयके कमरोंमें और पुस्तकोंको मध्यस्थ बनाकर दी जाती है, इस बातका उद्योग नहीं किया जाता कि विद्यार्थी अपने निरीक्षण और अनुभवसे शिक्षा प्राप्त करें। पुस्तकें अन्ततः पथदर्शक मात्र हैं, सच्ची शिक्षा बालककी उस शक्तिका विकास है जिससे वह अपने आस पासकी चीजों और नैसर्गिक घटनाओंको देखें और समझें। यदि हम उनको वह शिक्षा देना चाहते हैं जिससे वे अच्छे मनुष्य, अच्छे नागरिक बनें, जिससे उनकी सहानुभूति और बुद्धिका फैलाव हो, वस्तुओंको अपनी आँखोंसे देखें और उनका अर्थ समझकर मत स्थिर कर सकें तो हमें उन्हें विद्यालयोंसे बाहर निकालकर प्रकृतिको उनकी शिक्षाका साधन बनाना पड़ेगा, किताबें रास्ता दिखानेके लिए रह जायँगी।

इस आदर्श स्थितिमें पहुँचनेके लिए बहुतसी बातोंको बदलना पड़ेगा। इनमेंसे बहुतोंपर हमारा कुछभी जोर नहीं है क्योंकि शिक्षाविभागके अपने खास कायदे हैं, पाठ्यक्रमको बदलना हमारी सामर्थ्यके बाहर है। तथा ये ऐसी भी बातें हैं जिन्हें हम शिक्षा-विभागके किसी नियमका उल्लंघन किये बिना बदल सकते हैं और मेरी रायमें इतने ही परिवर्तनसे मनन बहुत कुछ रुचिकर और शिक्षा बहुत कुछ वास्तविक उपयोगी हो जायगी।

### बगीचे और खेतमें शिक्षा

वर्तमान पाठ्यक्रम (करीक्यूलम) में ऐसे दो विभाग हैं जिनमें बहुतसी उपयोगी शिक्षा शामिल की जासकती है। ये विभाग हैं (१) वस्तु पाठ और (२) स्वास्थ्य विज्ञान। पहिले शीर्षकमें हम निरीक्षण और निसर्ग शिक्षाको यथेष्ट मात्रामें रख सकते हैं अनेक विज्ञानों विशेषतः प्रकृति विषयक विज्ञानोंकी मुख्य मुख्य बातोंकी अथवा प्रारंभिक शिक्षा दे सकते हैं। परन्तु आजकल इस विभागकी ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता, वस्तु पाठ शिक्षाकी उन्नतिके

लिए प्रत्येक आरम्भिक विद्यालयके पास एक एकड़ और प्रत्येक मिडिल विद्यालयके पास तीन या चार एकड़ ज़मीन होनी चाहिए। यह ज़मीन विद्यालयसे मिली हुई होनी चाहिए। विद्यालयसे सबसे अधिक सन्निकट भागमें एक छोटासा पुष्पोद्यान होना चाहिए। शेष भागके छोटे छोटे खेत बना दिये जायँ और प्रत्येक छात्रको एक एक खेत दे दिया जाय। शिक्षकों और छात्रोंके अतिरिक्त अन्यको इन खेतोंमें काम करनेकी इजाज़त न हो। इनसे होनेवाली उपज भी, यही लोग जिस प्रकार चाहें काममें लाएँ। इनमें एक कुआँ होना भी आवश्यक है जो सिचाईका काम दे।

बालकोंको खोदना, जोतना, बोना, सींचना, लूनना, मांडना, उसाना आदि सिखाया जाना चाहिए।

## दिमाग़ और हाथकी सहकारिता

प्राणिशास्त्र, कृषिशास्त्र और भूगोल विद्याकी मूल बातें इन खेतोंमें बड़ी सरलतासे सिखायी जा सकेंगी। ऐसी व्यवस्था होनेसे छात्रोंके दिमागसे काम लेनेके साथ हाथसे काम लेनाभी आ जायगा, और यह प्रचलित धारणा दूर हो जायगी कि दिमाग और हाथ साथ साथ काम नहीं कर सकते। उन्हें खेती करनेके उन्नति-प्राप्त उपाय, विज्ञान, सभ्यता और नवाविष्कृत औजारोंसे काम लेना भी आसानीसे सिखाया जासकेगा। अनेक नये प्रकारके बीजोंसे भी उनका परिचय कराया जासकेगा। वयस्क होनेपर ये बालक अधिक अर्थप्रद साधनोंसे काम लेंगे और फलतः उनके सुखकी अच्छी वृद्धि होगी। आस पासके गांववाले भी उनके दृष्टांतसे लाभ उठा सकेंगे।

## सहयोग शिक्षाका सुभीता

इन खेतोंमें हम सहयोग-व्यवस्थाको काममें ला सकेंगे। इससे हमारे बालक सहयोगको समझेंगे और उसे काममें लाना सीखेंगे। इस प्रकार उस बहुत बड़े उद्योगको भी बहुत कुछ उत्तेजना मिलेगी जो इस समय अत्यन्त हतप्राण हो रहा है।

## वार्षिक प्रदर्शनी

इस सम्बन्धमें हमें प्रतिवर्ष एक प्रदर्शनी भी करनी चाहिए जिसमें भिन्न भिन्न विद्यालयोंकी उपज दिखायी जाय और अच्छे काम करनेवालोंको इनाम दिये जायँगे। इससे शिक्षकों और छात्रोंके इस कार्यमें उत्साह उत्पन्न होगा और वे इसे अच्छी तरह करेंगे।

## हस्तशिल्पकी शिक्षा

दूसरी वस्तु जो इस सम्बन्धमें अनिवार्य रूपसे आवश्यक है यह कि कमसे कम प्रत्येक मिडिल विद्यालयमें हस्तशिल्प ( मैनुअलट्रेनिंग ) की शिक्षाकी एक कक्षा हो। इस कक्षामें नक़शाकशी जो आजकल सिखाई जाती है, मिट्टीके खिलौने बनाना और थोड़ासा बढ़ईका काम सिखाना चाहिए।

# शिक्षासुधारकी योजना

## अजायबघर ( म्यूजियम )

प्रत्येक आरम्भिक विद्यालयमें एक कमरा अजायबखानेके लिए अलग होना चाहिए। इसमें आर्थिक और वैज्ञानिक महत्व रखनेवाली स्थानिक चीज़ें रखखी जानी चाहिएँ। जैसे—

( १ ) काममें आनेवाले सभी फलों और पौधोंके नमूने, परिचय और मनोरञ्जक गुण धर्मोंके नामके लेख सहित।

( २ ) खेतीमें काम आनेवाले औजारों विशेषतः सुधारे हुए या उन्नति-प्राप्त औजारोंके नमूने, उपयोगों और लाभोंके विवरण सहित।

( ३ ) स्थानिक पशुपक्षियोंके नमूने या प्रतिमाएँ ( माडेल ) उनकी जीवनचर्या स्वभाव, अन्य मनोरञ्जक बातों और उपयोग बतानेवाले लेखके सहित। इस सम्बन्धमें प्रथमवर्षके वार-जर्नलसे (लड़ाईके अखबारके अंगरेजी संस्करण में) प्रकाशित "मेरे गांवकी चिड़िया" शीर्षक--लेखमालाकी ओर ध्यान दिलाता हूँ। हमारे अजायबखानेमें रखे हुए पक्षियों और इनके घोसलोंके नमूने, इस लेखमालाके दिये हुए विवरणके साथ बालकोंकी शिक्षामें निश्चय ही बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे। इन्हें देखने और पढ़नेसे उनकी निरीक्षण शक्तिको बहुत बड़ी उत्तेजना मिलेगी। मेरा इरादा है कि अन्य जन्तुओंके विषयमें भी इस प्रकारकी जानकारी संग्रह करूँ, परन्तु उपर्युक्त ढंगका कोई अजायबखाना खुल जानेपर ही यह बात हो सकेगी।

( ४ ) मनुष्यके अंग प्रत्यंगोंकी प्रतिमाएँ और नक़शे उनके कार्य बतानेवाले लेखके सहित।

( ५ ) स्वास्थ्य रक्षा विज्ञान सिखानेवाली प्रतिमाएँ और नक़शे।

( ६ ) स्थानीय कारीगरीके मनोरंजक नमूने, जैसे खिलौने।

( ७ ) भुगोल और दूसरे विषयोंकी शिक्षामें सहायक—विविध प्रतिमाएँ और नक़शे।

इस तरहका अजायबखाना बहुत ही थोड़े ख़र्चसे बन सकता है। अधिकांश सामग्री उसे अपने आस पासमें ही मिल जायँगी। अध्यापक और विद्यार्थी उन्हें संग्रह कर लेंगे, उनपर परिचय पत्र ( लेबल ) भी वही लगा लेंगे, अथवा दूसरे लगा देंगे। परिचय स्पष्ट, और संक्षिप्त होने चाहिएँ। अध्यापक विस्तार पूर्वक सब बातें विद्यार्थियोंको समझाएँगे। ऐसे अजायबखानेके अपरिचित लाभोंके उल्लेखकी मुझे बिलकुल आवश्यकता नहीं जान पड़ती, वे प्रकट और स्पष्ट हैं।

## स्वास्थ्य-रक्षाकी शिक्षा

यह एक ऐसा विषय है जिसको बहुत अच्छी तरह सिखानेकी आवश्यकता है। हमारी स्वास्थ्य-रक्षा-व्यवस्था शोचनीय है, उसकी दशा देखकर रुलाई आती है। जबतक

हमारे देशवासी स्वास्थ्य-रक्षा शास्त्रसे अपरिचित रहेंगे, उनकी यह दशा बदलनेकी कोई आशा नहीं। हमारे विद्यालयोंमें आहार-व्यवहारमें पालनीय स्वास्थ्यनियम और स्थानादिके स्वास्थ्यके उपयुक्त बनानेकी विधिमें दोनों बातें सिखायी जानी चाहिएँ और इस कार्यमें उपर्युक्त रीतिसे अजायबघर बहुत उपयोगी होगा। जीवनशास्त्र अर्थात् शारीरिक क्रियाओंको परिचित करानेवाले शास्त्र और स्वास्थ्य-रक्षा-शास्त्रकी मुख्यमुख्य बातें तथा आघातोंकी तात्कालिक चिकित्साकी शिक्षा अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। वारजर्नलमें इन विषयोंपर कई अच्छे लेख निकल चुके हैं और सम्भवत: हिन्दीमें कई उत्तम पुस्तकें भी छप चुकी हैं इनसे हमें बहुत बड़ी सहायता मिलेगी।

## नियमित व्यायामकी व्यवस्था

हमारे छात्रोंकी शारीरिक अवस्था दिनपर दिन बिगड़ती जारही है। इसका उपाय होना अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमानमें इनसे थोड़ी कवायद करायी जाती है, पर नियमित और उपयुक्त व्यायाम नहीं कराया जाता। क्रिकेट और फुटबाल जैसे खेल इनके लिए उपयुक्त नहीं हैं इनकी सामग्री प्राप्त करना उनकी हैसियतके बाहर है। मेरी रायमें हमारे विद्यालयोंमें व्यायामकी व्यवस्था होनेसे बड़ा लाभ होगा। दण्ड, बैठक, मुग्दर आदि सीधी सादी देशी कसरतें ही यदि नियमित और उचितरूपमें की जायँ तो स्वास्थ्यका बहुत कुछ सुधार हो सकता है। ऐसे बीसों देशी खेल हैं जो वैसेही संघटित रूपमें खेले जा सकते हैं जैसे कि क्रिकेट और फुटबाल, पर जिनके खेलनेमें कौड़ीका खर्च नहीं। इनकी समुचित व्यवस्था होनी आवश्यक है। डिस्ट्रिक्टबोर्डको चाहिए कि इनकी व्यवस्थाके लिए जोर दें और अखाड़ेके लिए भूमिका प्रबन्ध कर दें। व्यायाम, कुश्ती और भारतीय खेलोंका सालमें एकबार दंगल करानेसे छात्रोंको व्यायामके लिए उत्साहित करनेमें निश्चयही सफलता होगी।

## बालसैनिक—शिक्षा

देशी भाषाओंके विद्यालयों, खासकर मिडिल विद्यालयोंमें बालसैनिक तैयार करनेके उद्योगका भी प्रस्ताव करूंगा। इस शिक्षासे हमारे बालक एक दूसरेके सहायक और सहकारी बनना सीखेंगे। उनमें ऐसे सामाजिक सख्य और भावोंका सञ्चार होगा जिनका इस समय अभाव सा है।

## अध्यापकोंकी तैयारी

यदि उपर्युक्त सूचनाओंमेंसे किसी एकको हम कार्यमें परिणत देखना चाहते हैं, तो पहिले हमें ऐसे अध्यापककी आवश्यकता होगी जो उसे कार्यमें परिणत करनेमें समर्थ हो। वर्तमानमें हमारे पास ऐसे अध्यापक नहीं हैं, अत: हमें सबसे पहिले कर्त्तव्य शिक्षा देकर उपर्युक्त विषय सिखानेमें समर्थ अध्यापक तैयार करनेकी ओर ध्यान देना होगा। समर्थ अध्यापकोंका अभाव बहुत बड़ी बाधा है। ऐसे शिक्षकोंका टोटा तबही मिटेगा

# शिक्षासुधारकी योजना

जब शिक्षाके सभी अंग प्रत्यंग उन्नत होंगे। तथापि, वर्तमान परिस्थितिमें अपने अध्यापक-वर्गको सुधारना असम्भव नहीं है। इसके लिए इस बातकी आवश्यकता है कि हमारे अध्ययन सिखानेवाले विद्यालय ( ट्रेनिंग स्कूल ) अधिक कार्यक्षम बनाये जायँ, उनके सुधारमें अधिक धन, ध्यान और उद्योग लगाया जाय।

इस समय काम चलानेके लिए मेरी रायमें अध्यापकोंकी शिक्षाका प्रबन्ध इस प्रकार होना चाहिए। दो महीने तक नियमित रूपसे व्याख्यान दिलाये जायँ। छुट्टियों या दूसरे अवसरपर, ज़िलेके विद्यालयोंके ३० या ४० अध्यापक नगरमें बुलाये जायँ और उन्हें कृषि-शास्त्र और स्वास्थ्य-ज्ञान की शिक्षा दी जाय। शिक्षा दोनों प्रकारकी हो--सिद्धान्त भी बताये जायं और प्रयोग भी कराया जाय। इस शिक्षाका प्रबन्ध करना कठिन न होगा। कृषिशास्त्रकी शिक्षाके लिए सरकारी खेतों ( फार्म ) का कोई निरीक्षक ( सुपरिन्टेंन्डेन्ट ) और स्वास्थ्य-शास्त्रके लिए कोई डाक्टर उपयुक्त होगा। उनके श्रमका पुरस्कार दिया जायगा, पर यह अधिक न होगा, क्योंकि उन्हें २-३ घंटेसे अधिक समय न देना पड़ेगा। इस प्रबन्धसे हम प्रतिवर्ष कमसे कम ३० अध्यापक इन विषयोंकी शिक्षा देनेके लिए तैयार कर लेंगे और इस दृष्टिसे यह प्रबन्ध बड़े महत्वका होगा।

## व्याख्यान व्यवस्था

इसके अतिरिक्त डिस्ट्रिक्टबोर्डको इस बातका प्रबन्ध करना चाहिए कि छुट्टियोंके दिनोंमें शहरके कालेजोंके कुछ विद्वान आचार्य विद्यालयोंके अध्यापकोंके लिए विविध विषयोंपर व्याख्यान दें। मुझे विश्वास है कि इस प्रबन्धसे सर्वसाधारण और अध्यापक समुदाय दोनोंको लाभ पहुँचेगा। इससे अध्यापकोंका भविष्य अधिक आशा पूर्ण हो जायगा। वैज्ञानिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, और सामाजिक विषयोंपर ज़िलेके विद्यालयोंमें व्याख्यान करानेमें न विशेष प्रयासकी आवश्यकता होगी, न धनकी। हिन्दू विश्वविद्यालय और दूसरे कालेजोंमें योग्य आदमी भरे पड़े हैं और अनुरोध करनेपर वे सहर्ष इस कामके लिए तैयार हो जायँगे।

## सस्ते पुस्तकालय

हमारे लिए दूसरी परमावश्यक और अत्युपयोगी वस्तु पुस्तकालय है। देहातोंमें इनकी इस समय बड़ी भारी आवश्यता है। साक्षरोंकी संख्या दिनपर दिन बढ़ रही है। वे हर समय कोई ऐसी वस्तु पानेको उत्सुक रहते हैं जो उनकी मानसिक भूख बुझा सके। हमारा कर्तव्य है कि उनके उस अभाव की पूर्तिके लिए अपनी शक्ति भर पूरा पूरा उद्योग करें। अध्यापकों, छात्रों और ग्रामवासी जनता तीनोंके ही लिए पुस्तकालय अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होंगे। इनकी नीव डालनेके लिए मेरी रायमें वर्तमानकाल ज़िलेके प्रत्येक देशभाषा विद्यालय ( वर्नाक्यूलर स्कूल ) में वाचनालय खोलना उचित होगा। हमारे प्रान्तसे इस समय हिन्दी और उर्दूमें अनेक अच्छे अच्छे मासिकपत्र निकलते हैं और उनके दाम भी कुछ अधिक नहीं हैं। दस पन्द्रह रुपयेमें तीन चार मासिक और पाक्षिक पत्र मिल सकते हैं यदि हम ज़िले भरके विद्यालयोंको हलकोंमें बाँटदें और प्रत्येक हलकेके विद्यालयमें दूसरे दूसरे पत्र

मँगाने लगें और उन्हें बारी बारीसे हलके करके सब विद्यालयोंमें भेजनेका प्रबन्ध करलें तो इतनेही ख़र्चसे प्रत्येक विद्यालयका वाचनालय वीसों ( उत्तमोत्त ) मासिक तथा पाक्षिक पत्र प्राप्त कर सकेगा । वर्तमानमें प्रत्येक ग्राम्य विद्यालयमें साधारणत: १० से १५ और कभी कभी इससे भी अधिक गांवोंके लड़के पढ़ने आते हैं । इतने गांवोंमें चन्दा करनेसे १५) इकट्ठा कर लेना कोई बड़ी बात नहीं है । आवश्यकता है केवल उत्तम संगठन और उद्योग की । मुझे विश्वास है इस कामके लिए डिस्ट्रिक्ट बोर्डको अपनी जेबसे एक कौडीभी न खर्चनी पड़ेगी । इसके बाद हमें प्रत्येक मिडिल विद्यालयमें हिन्दी उर्दूका एक छोटा सा पुस्तकालय और नगरमें एक अच्छा खासा केन्द्रवर्ती पुस्तकालय खुलवाना होगा जिससे ग्राम्य विद्यालयोंको पुस्तकें भेजी जा सकेंगी । इस कामके लिए लकड़ीके ५०० ऐसे बक्सोंकी आवश्यकता होगी जिनमें बीस बीस पुस्तकें आ सकें । इनमें पुस्तकें भर कर अध्यापकोंके पास भेजी जायँगी और वे उनको वितरित करेंगे । उनके भेजनेमें बहुत कम ख़र्च पड़ेगा, क्योंकि अध्यापक और ग्रामवासी इस कार्यको अधिकांश खुदही कर लेंगे ।

## ज़िला सभाका कर्तव्य

अच्छा पुस्तकालय भटपट नहीं बन सकता, इसके लिए समय चाहिए । ऐसी दशामें मेरी राय है कि ज़िला सभा ( डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ) कुछ अध्यापकों द्वारा स्थापित "पिम सर्कुलेटिंग लाइब्रेरी ( भ्रमणकारी पुस्तकालय )" को अपने प्रबन्ध और देख रेखमें कर लें और जिसमें प्राय: ५ वर्षके भीतर वह प्रथम श्रेणीका हिन्दी पुस्तकालय बन जाय। इसके लिए उसे वार्षिक धन दान दिया करें । ( यदि म्युनिसिपल बोर्ड इस कार्यमें उसका हाथ बटाना स्वीकार करें तो उसे भी प्रबन्ध और देख रेखमें साझी कर ले )

## अन्य पुस्तकालयोंसे सहायता

बड़े बड़े नगरोंमें अनेक पुस्तकालय हैं जो कुछ समयके लिए डिस्ट्रिक्ट बोर्डको अपनी पुस्तकें मँगनी दे सकते हैं । ये पुस्तकें ग्राम्य विद्यालयोंमें भेजी जा सकेंगी। अतएव यह योजना इच्छा होते ही काममें लायी जा सकती है ।

## कार्य-कारणी समिति

इस कार्यके लिए मैं तीन या चार सदस्योंकी एक कमिटी बनानेकी सलाह दूँगा जिसके निम्नलिखित कार्य होंगे—(१) वाचनालय स्थापित करना, उनके लिए मासिक, पाक्षिक आदि पत्र चुनना और उनके मिलनेका सुभीता करना तथा हलकेके विद्यालयोंमें बारी बारीसे उनके पहुँचाये जानेका प्रबन्ध और उनका निरीक्षण करना (२) गांवोंमें भेजनेके लिए पुस्तकें चुनना, विषयानुसार उनको गड्डियोंमें बाँटना, उनके घुमाये जाने, प्रबन्ध आदिके सब नियमोपनियम बनाना, (३) दूसरे पुस्तकालयोंसे पुस्तकें उधार लेनेका प्रबन्ध करना, (४) पिम पुस्कालयकी अवस्था ठीक करना और देख भाल करना (५) इसके और माध्यमिक विद्यालयोंके लिए पुस्तकें और दूसरी आवश्यक सामग्री खरीदना ।

डिस्ट्रिक्टबोर्ड और म्युनिसपलिटीके विद्यालयोंके इन्सपेक्टर यदि सहयोग करें

तो वे भी इस कमिटीके मंत्री बनाये जायँ । ये कार्यकारी अधिकारी और पुस्तकोंके भेजवाने और रक्षाके जिम्मेदार होंगे ।

## विशेष उद्योग

ऊपरकी पंक्तियोंमें जिस पद्धतिका उल्लेख किया गया है वह वर्तमानमें सर्वसाधारणको प्रोत्साहन भी देगी और रास्ता भी बताएगी । इन दोनों कामोंमें यह अतीव उपयोगी सिद्ध होगी । गावँ गाँवमें उत्तमोत्तम पुस्तकें भेजनेका प्रवन्ध करके हम सर्वसाधारणमें उत्तम और उपकारी शक्ति उत्पन्न कर सकेंगे और उन गन्दी और हानिकर पुस्तकोंसे बिना उनके लिए उत्सुकता उत्पन्न किये उनसे दूर रख सकेंगे जिनका आजकल खूब सुकाल है ।

सी० के० देसाई

# विदेशके विनिमयका भारतीय व्यापारपर प्रभाव

भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न सिक्कोंका चलन है। इंगलिस्तान, जर्मनी इटली, अमरीका, कनाडा, मेक्सीको आदिमें प्रधान सिक्के सोनेके हैं। भारतवर्ष, चीन, सिंगापुर आदिमें चाँदीके हैं।

इन सब देशोंमें परस्पर व्यापार होता है। सिक्कोंकी भिन्नताके कारण व्यापारियोंको मालकी कीमत लेने देनेमें बड़ी अड़चन पड़ती है। यदि सब देशोंमें एक ही धातुके और एक ही कीमतके सिक्के चलते हों तो यह अड़चन नहीं पड़े, पर ऐसा होना असम्भव है। व्यापारके सुभीतेके लिए लोगोंने एक देशके सिक्केको दूसरे देशके सिक्केसे बदलनेके नियम बाँध लिये हैं। इस प्रकार इन देशोंके सिक्के आपसमें बदलते रहते हैं अथवा एक देशके सिक्केकी कीमत दूसरे देशके सिक्केमें दी ली जा सकती है। इस प्रकार भिन्न भिन्न सिक्कोंके पारस्परिक परिवर्तनको विनिमय [ एक्सचेन्ज ] कहते हैं। किसी व्यापारीने इंगलिस्तानसे कुछ माल मँगाया उसकी कीमत १०० पौण्ड है। भारतवर्षमें पौण्डकी चलन नहीं है रुपयेकी चलन है। अतः, भारतवर्षके व्यापारीने १०० पौण्डोंकी जगह इतने रुपये भेज दिये, जो सौ पौण्डोंके बराबर हैं। पौण्डोंकी जगह रुपये देदेना—यही विनिमय या एक्सचेन्ज है। कितने रुपयोंके कितने पौण्ड होते हैं यानी एक पौंड कितने रुपयोंके बराबर है, अथवा एक रुपया पौण्डके कौनसे भागके बराबर है—इस सम्बन्धको निश्चय करना, विनिमयके भावको बताना है। कल्पना करो कि पौण्ड और रुपयाके विनिमयका भाव १० रुपये है तो १०० पौण्डकी कीमत १०००) रुपये हुए। यदि १५) का भाव है तो यही कीमत १५००) हुए। सिक्कोंका पारस्परिक परिवर्तन विनिमयके भावसे हुआ करता है और यह भाव घटता बढ़ता रहता है। इसलिए कभी एक पौण्डकी कीमत १५) हो जाती है कभी १२), कभी १०) और कभी ८)। इसी प्रकार अन्य सब सिक्कोंके परिवर्तनमें भी कीमतकी घटा बढ़ी होती रहती है। विनिमयके भावकी घटा बढ़ीके अनेक कारण हैं जिनमें कुछ ये हैं:—

१—यदि ऐसे दो सिक्कोंका परिवर्तन करना है जिसमें एक सिक्का सोनेका हो जैसे पौण्ड, और दूसरा सिक्का चाँदीका हो जैसे रुपया, तो इनके विनिमयका भाव सोने चाँदीके भावकी घटा बढ़ीपर घट बढ़ जायगा। कल्पना करो कि एक समय सोनेका भाव २६) तोला है और चाँदीका ।॥) तोला, और कुछ दिन पीछे सोनेका भाव २२) तोले हो गया और चाँदीका १—) तोले हो गया, तो विनिमयका जो भाव पहिले था वह अब नहीं रहेगा। अब वह तेज हो जायगा यानी पहिले १५) पौण्ड था तो अब ६) या १०) हो जायगा।

२—यदि सिक्के परिवर्तन करनेवाले देशोंमें युद्ध है अथवा कोई ऐसा भयंकर युद्ध हो रहा है जिसका प्रभाव सभी देशोंपर पड़ता हो तब भी विनिमयके भावमें अधिक घटाबढ़ी होगी। यूरोपके युद्ध समय यही दशा होगयी थी।

३––व्यापारके घटने बढ़ने पर भी भावमें अन्तर पड़ जायगा।

४––सिक्कोंके कम ज्यादा होनेपर अथवा एक प्रकारके सिक्कोंकी अधिक माँग होनेपर भी यही हाल होगा।

५––देशोंमें दुर्भिक्ष, भयंकर महामारी अथवा दूसरी दुर्घटनाओंका भी ऐसा ही प्रभाव पड़ता है।

६––जिस धातुके सिक्के बनते हैं उनकी कम ज्यादा पैदावार होनेपर भी भाव घटता बढ़ता है।

७––बंकोंका दिवाला निकलनेपर अथवा सोने चाँदीके जहाजोंके डूबनेपर विनिमयका भाव घट-बढ़ जाता है।

८––पहिले किसी सिक्केमें जितना सोना था या जितनी चाँदी थी, उसमें अब उतनी नहीं रहनेसे भावमें फरक पड़ जायगा। यह कमी चाहे सिक्केके घिस जानेसे हो गयी हो या चाहे राज्याज्ञासे सिक्का ढालनेमें कर दी गयी हो।

९––सिक्का चलनकी नीतिमें राज्यकी ओरसे अनुपयुक्त हस्तक्षेप होनेसे अथवा अस्वाभाविक और कृत्रिम नियम बाँधनेसे भी भावमें फर्क पड़ जाता है।

१०––यदि राज्यकी ओरसे सोना चांदीके आने जानेमें रोक टोक हो जाय अथवा उनपर अधिक महसूल लगा दिया जाय तो भी यही दशा होगी।

११––यदि किसी देशकी साख जाती रहे, जैसे इस समय जर्मनी, अस्ट्रिया, रूस देशोंकी जाती रही है तो उन देशोंके सिक्कोंकी कीमत कम हो जायगी और इसका असर वहांके विनिमयपर पड़ेगा।

१२––यदि चांदी सोनेके सिक्कोंके बदलेमें सिक्के नहीं दिये जायँ और केवल नोट ही दिये जायं तोभी इसका प्रभाव विनिमयपर पड़ेगा।

ऐसे ऐसे और भी कई कारण हो सकते हैं। इन्हींमेंसे कई कारणोंसे भारत और अन्य देशोंके विनिमयमें घटा बढ़ी हुई है। भारत सरकारने अपने कृत्रिम नियमोंसे विनिमयका भाव बाँधनेकी बड़ी चेष्टा की है, पर निष्फल हुई है। हालमें ही उसने पौण्डका भाव दस रुपयेका बांधा है पर वह चला नहीं है। युद्धके पहिले पौण्डका भाव १५) का था––अब सरकारने दस रुपयेका भाव बांधा है जिसके कारण इस देशके व्यापारियोंको बड़ी हानि हुई है जैसा कि आगे बताया जायगा।

जैसा कि अभी कहा पहिले विनिमयका भाव १५) रुपयेका था। जब इस सीमासे भाव नीचा जाय तो वह तेज भाव कहलायेगा, और इससे ऊँचा जाय तो मद्दा भाव कहा जायगा। जैसे १०) पौण्डका भाव विनिमयका तेज भाव है, १६) पौण्डका भाव मद्दा है––यदि आज १०) पौण्डका भाव है और कल ९) या ८) पौण्डका भाव हो जाय तो वह तेज भाव होगा और यदि ११) या १२) हो जाय तो मद्दा होगा। *'हाई और लो' एक्सचेंजका यही मतलब है।

*High or low exchange.

भारतवर्षके विनिमयका भाव प्रायः एक रुपयेपर रक्खा है। १ पौण्डके २० शिलिङ्ग होते हैं और १ शिलिङ्गके १२) पेन्स होते हैं। यदि पौंड १५) के बराबर है तो १) रुपया एक शिलिङ्ग चार पेन्सके बराबर है। यदि पौंड १०) का है तो १) दो शिलिङ्गका हुआ। सरकारने एक रुपयेकी कीमत २ शिलिङ्ग बांधी है, पर इस समय १) की कीमत १ शिलिङ्ग और ४॥ पेन्स है। यह रोज़ घटा बढ़ी होती रहती है। पिछले साल १) की कीमत २ शिलिङ्ग ११ पेन्स तक होगयी थी, यानी विनिमयका भाव अत्यन्त ही तेज था। उसके देखते अब बहुत मद्दा है।

विनिमयका तेज भाव होनेसे भारतवर्षके उन व्यापारियोंको नुकसान है जो यहाँसे अन्य देशोंको माल भेजते हैं क्योंकि उनको उस मालकी कम कीमत मिलती है। उदाहरणतः एक भारतवर्षके व्यापारी ने १००० पौण्ड की कीमतका माल जैसे रुई या गल्ला इङ्गलिस्तानको भेजा। जब पौण्ड का भाव १५) है तो उसे इस मालकी कीमतमें रु० १५,०००) मिलेंगे। यदि पौण्डकी कीमत १०) है तो १०,०००) और ८) है तो ८०००)। अब स्वयं देख सकते हैं कि विनिमयका भाव तेज होनेसे यहाँके व्यापारको कितनी हानि हुई। कहाँ तो उसको १५,०००) मिलते और कहाँ उसे ८००० मिले। लगभग दूनेका फर्क है।

आप यह कह सकते हैं कि यदि भारतवर्षसे माल भेजनेवाले व्यापारीको हानि हुई तो भारतवर्षमें बाहरसे माल मँगानेवालेको तो लाभ हुआ। हाँ, यह बात किसी मात्रामें ठीक है, पर यह जानना आवश्यक है कि भारतसे जितनी कीमतका माल जाता है उतनीका आता नहीं है। दूसरे शब्दोंमें यहाँसे जितना माल बाहर जाता है उतना आता नहीं है। सं० १९७५ में भारतवर्षसे २,३९,३१,००,०००) का माल बाहर गया और १,६६,०३,००,००० का माल भारतवर्षमें आया। इन दोनोंकी बाकी ७१,२८,००,०००) रुपये हैं। इसमेंसे सोना चाँदी आनेकी २३ करोड़की रकम निकाल दो तो ४७ करोड़ २८ लाख बाकी रहा। यानी भारतवर्षमें कुल आये हुए मालकी कीमत मुजरा देनेके बाद उसके अन्य देशोंकी ओर ४७ करोड़ २८ लाख रुपये निकलते रहे। इस बाकी निकलनेको अंगरेजीमें बेलेन्स आफ़ ट्रेड अर्थात् व्यापारिक बाकी कहते हैं। भारतवर्षकी ऐसी व्यापारिक बाकी अन्य देशोंको तरह हमेशा ही निकलती रहती है क्योंकि यहाँसे जितना माल जाता है उतना माल यहाँ आता नहीं है। अब आप विचारिये, इस बाकी निकली हुई रकमको चुकानेमें विनिमयके तेज भावसे अन्य देशवालोंको कितना लाभ होगा और इस देशको कितना नुकसान होगा। यह बाकी जो ऊपर दिखायी गयी है, १५) के पौण्डके भावसे होती है, क्योंकि उस समय यही भाव था। अब इसका नुकसान हुआ ७॥) या ८) पौण्डके भावसे, जिससे ४७ करोड़ २८ लाखकी रकम लगभग आधीके रह गयी। यदि १० पौण्डका भाव रक्खा जो पीछे बाँधा गया है तो भी इसमेंसे एक तिहाई रकम गायब हो गयी। हुआ वास्तवमें यही है कि यह बाकी प्रचलित विनिमयके भावसे चुकायी गयी है, जो ७॥) या ८) का था।

यह २३, २४ करोड़का नुकसान भारतसे माल भेजनेवाले व्यापारियोंको ही पड़ा। यहांसे जो माल जाता है वह प्रायः ऐसा है जिसे दीन दरिद्री कृषक रातदिन परिश्रम करके उत्पन्न करते हैं जैसे गल्ला, रुई, तिलहन आदि। यों कहना चाहिए कि यह नुकसान विचारे किसानोंका हुआ जिनकी दशा दिनपर दिन गिरती जाती है। भारतको केवल इतनी ही हानि नहीं हुई वल्कि बहुत कुछ और भी।

भारत सरकारने रुपये और नोट चलनकी रक्षाके लिए दो सरकारी कोश बना रक्खे हैं ये कोश लन्दनमें हैं। रुपया चलनकी रक्षाके लिए जो कोश है उसका नाम गोल्डस्टेन्डर्ड रिजर्व है। इस कोशमें सं० १९७६ के वृश्चिक ( मार्गशीर्ष ) मास ( नवम्बर सन् १९१९ ) को ३,७४,३८,३१७, पौण्ड जमा थे, जिसका १५ पौण्डके हिसाबसे ५६,१५,७४,७५५ रुपये हुए। दूसरे कोशका नाम है पेपरकरन्सी रिजर्व। इसमें उसी वृश्चिक मासमें इस भाँति पूंजी थी।

| | |
|---|---|
| सोनाचांदी | —५९,६७,००,०००) रु० |
| भारत सरकारके सूदी कर्जेके सूदी कागज | —२०,००,००,०००) रु० |
| ब्रिटिश राज्यके कर्जेके सूदी कागज | —१००,००,००,०००) रु० |
| | १७९६७,००,०००) रु० |

दोनों कोशोंमें २,३५, ८२,७४,७५५) रु० की पूंजी थी। यह हिसाव १५) रु० पौण्डसे है। अब दस रुपयेके पौण्डसे इस रकमका एक तिहाई हिस्सा गायब होगया, जो ७८६०९१५८५) रु० हुए, यानी ७८¾ करोड़से कुछ अधिक। लेकिन इस रकममें नुकसान असलमें अधिक है एक तो सूदी कागज़ोंके भाव गिरजानेसे, दूसरे इन कागजोंको ऐसे समय बेच देनेसे जब पौण्डकी कीमत ७॥) या ८) थी।

भारत सरकारने भारतके रहनेवाले अंगरेजी व्यापारियोंको लाखों रुपयोंकी हुण्डियाँ लन्दनपर बेचीं और ये बेचीं ७॥) या ८) पौण्डके हिसाबसे। इन हुण्डियोंका रुपया लन्दनमें भारत मंत्रीने गोल्डस्टेन्डर्ड रिजर्वकी रकमसे दिया, उसमें १५) पौण्डके भावसे खरीदे सूदी कागजोंको ७॥) या ८) पौण्डसे बेचकर रुपया दिया गया। इन सूदी कागजोंका भाव घटजानेसे उनकी असली रकममें भी बहुत टोटा गया। इस प्रकार इस कोशकी अधिकांश रकम उड़गयी है।

जब भारत सरकार इन हुण्डियोंको जिन्हें रिवर्स काउंसिल कहते हैं बेच रही थी तो इस विषयके मर्मज्ञोंने बहुत कुछ मना किया था और स्पष्ट कहा था कि इससे भारतकी बड़ी हानि है पर सुनता कौन है।

अब एक बात बड़े मर्मकी कहनी है। युद्धके समयमें विलायतके लोग लड़ाईमें

लगे थे, उनके सब कारखाने चौपट पड़े थे। बहुत कम चीजें बनती थीं और उन वर्षोंमें हिन्दुस्तानमें माल बहुत कम आया क्योंकि माल बनताही नहीं था। उस समय भारतवर्षसे बहुत माल गया। खाने पीने और युद्धोपयोगी बहुतसी सामग्री हिन्दुस्तानसे विलायतको गयी। इस प्रकार भारतको वहाँसे बहुत मालका कुछ रुपया लेना रहा। सोना चांदी आना बन्द होगया और विनिमयका भाव तेज होगया। अब भारतके रुपये अदा करनेका यह उपाय निकाला कि पौण्डका भाव १५) से १०) कर दिया जिससे भारतकी बाकी निकलती हुई पूंजी ⅔ रह गयी और इसप्रकार भारतसे माल भेजनेवाले लोगोंको नुकसान हुआ। जब युद्ध बन्द हो गया और विलायतके कारखाने फिर खुल गये और विलायतसे भारतवर्षमें दनादन माल आने लगा, यानी इतना माल आया कि पहिले कभी नहीं आया था और इसकी आमद भारतसे जानेवाले मालकी अपेक्षा अधिक होगयी तो विनिमयका भाव सस्ता कर दिया, तब जो १०) पौण्डका भाव बाँध दिया था वह नहीं रहा। भारतके व्यापारियोंने इस भावको ध्यानमें रखकर माल मँगाया, पर अब विनिमयका भाव १५॥) या १६) रुपयेके है। यानी एक रुपयेकी कीमत १ शिलिंग और ३½ पेन्स है। विलायतके व्यापारी अपने मालकी कीमत इस भावसे लेने लगे, हालाँकि जब लोगोंने माल मँगाया था जब पौण्डका १०) या १०) से नीचा भाव था अब ड्योढ़ा होगया और इस तरह भारतीय व्यापारियोंको लाखों रुपयोंका टोटा पड़ा।

क्या समझे ? जब भारतसे युद्धके समय माल लेना था और उसका रुपया देना था तब तो विनिमयका भाव तेज कर भारतको हानि पहुँचायी और जब भारतमें अपना माल बेचना था और उनसे रुपया लेना था तब विनिमयके भावको सस्ता कर अपना लाभ उठाया और भारतको हानि पहुँचायी। दोनों तरहसे अपनी जीत। चित भी मेरी और पट भी मेरी और भारतको हानि पहुँचायी।

विदेशीय विनिमयसे भारतीय व्यापारको बड़ी हानि हुई है। पहिले यहाँसे माल भेजने वालोंको, फिर माल मंगाने वालोंको।

विनिमयको नियत करनेमें सरकारने अपनी बुद्धिका दिवाला निकाल दिया है और इस देशको अत्यन्त हानि पहुँचायी है। इसी नीतिपर कोप प्रकट करते हुए नागपुरकी कांगरेसने प्रस्ताव पास किया है कि लंदनकी ट्रेजरी खजानेपर इस हानिके हर्जानेका दावा किया जाय। जो कुछ भारतवर्षको इस कुबुद्धि नीतिसे हानि हुई है ( सिर्फ़ भारतकी सरकारकोही ६४ करोड़की हानि हुई) उसका मुआवज़ा लिया जाय।

विनिमयके संकटको दूर करनेका सबसे अच्छा उपाय यह है कि विलायतम भी रुपयेकी चलन कर दी जाय, अथवा भारतमें कुछ पौण्डकी चलन की जाय और पौण्डोंके नोट यहाँ भी माने जाया करें। प्रजाके हाथमें तो यही उपाय है कि वह जो कुछ माल विलायतको भेजे या विलायतसे मँगाए उसकी कीमत रुपयोंमें तय कर लिया करे और पौण्डके मूल्यकी घटाबढ़ीसे कुछ सम्बन्ध न रखखे। उदाहरणत: किसीने विलायत माल भेजा तो वह पहिले तय करले कि मैं इतने रुपये कीमत लूंगा चाहे रुपया देनेके वक्त पौण्डका

कुछ भी भाव क्यों न हो। जो माल मँगाए वह भी तय करले कि मैं इतने रुपये कीमतमें दूँगा, विनिमय कुछ भी क्यों न हो। यदि यह नियम बँध जाय तो बहुत कुछ लाभ हो सकता है।

## कुछ प्रसिद्ध देशोंके सिक्के और रुपयोंमें उनकी कीमत

### २ चैत्र ( मीन ) सम्वत् १९७७ ( ११ अप्रैल २१ ) तक
### १ कुम्भ ( फाल्गुन ) १९७७

| देश | सिक्का | रुपयोंमें कीमत |
|---|---|---|
| | | शि० पें० |
| इंगलिस्तान | पौण्ड=२० शिलिंग=२४० पेन्स | रु० १) = १--३[illegible] |
| फ्रान्स | फ्रेन्क=१०० सेन्टाइमस् | रु० १००)=३३१ फ्रेन्कस् |
| जर्मनी | मार्क=१०० फेनिङ्गस् | रु० १००)=१२०० मार्कस् |
| जापान | येन=१०० सेन्स | रु० १६०)=१०० पेन्स |
| अमरीका (संयुक्त राज्य) | डालर=५०० सेन्टस् | रु० ४००)=१०० डालरस् |
| हाङ्कांग | डालर=१०० सेन्टस् | रु० १६८)=१०० डालरस् |
| सिंगापुर | डालर=१०० सेन्टस् | रु० १८५)=१०० डालरस् |
| शंघाय (चीन) | टेयल=१०० केन्डरीज | रु० २४८)=१०० टेयल |
| बेन्काक | डालर | रु० १६८)=१०० डालरस् |
| हिन्दुस्थान | रुपया=१६ आने | रु० १)=१ शि.—३[illegible] ऐन्स<br>या १५॥)=१ पौंड |

**कन्नोमल**

# दोहरी सभाओंद्वारा शासन

आज कल प्रायः सभी देशोंमें दो सभाओं द्वारा शासन करनेकी चालसी पड़ गयी है। इंगलिस्तानमें 'लार्ड्स' और 'कामन्स' अमरीकामें 'सिनेट' और 'हाउस आफ रिप्रेजेन्टेटिव', तथा अन्य देशोंमें इसीतरह भिन्न भिन्न नामोंसे यह दोनों सभायें प्रसिद्ध हैं। इंगलिस्तानके लिए तो यह कहा जा सकता है कि यह विभाग यहाँकी ऐतिहासिक घटनाओंका फल है, पर अमरीका ऐसे अन्य देशोंके विषयमें, जिनका राजनैतिक संगठन आधुनिक है, यह बात ठीक नहीं है। इस प्रथामें अवश्य कुछ ऐसे गुण हैं, जिन पर मुग्ध होकर राजनैतिक संसारने इसे अपनाया है।

प्रजातंत्र-शासनके चलानेके लिए जो संस्थायें हैं, वे बड़ी जटिल हैं। इनका संचालन प्रजाकी ओरसे निर्वाचित प्रतिनिधिसभा द्वारा होता है। इस सभामें निर्णयका सिद्धान्त बहुमत है। यदि किसी पक्षके अनुयायियोंकी संख्या अधिक है, तो उसकी विजय भी निश्चित है। ऐसी दशामें बहुसंख्यक दलका निरंकुश हो जाना कुछ असम्भव नहीं है, बल्कि स्वाभाविक है। यह दल अपने प्रतिद्वन्दी अल्प संख्यक दलपर मनमाना अत्याचार कर सकता है। इसीलिए पूर्णाधिकार, चाहे वह किसी एक व्यक्तिमें हो चाहे किसी समूहमें, सर्वत्र हानिकारक है।

प्रजातंत्र-शासनका आधार प्रतिनिधि चुननेका अधिकार है। प्रत्येक व्यक्तिको, जो पूर्ण अवस्था प्राप्त कर चुका है, और पागल नहीं है, यह अधिकार देना इस शासनका अन्तिम लक्ष्य है। जिस देशमें यह अधिकार जितना विस्तृत है, उसीके अनुसार, वह देश उतनाही, अपने शासनमें, प्रजातंत्र है। यह शासन 'वादे वादे जायते तत्ववोधः' के मार्गपर चलता है, इसलिए प्रतिनिधिमें वाक्पटुता एक आवश्यक गुण है। परन्तु यदि इस गुणमें बहुतसे लाभ हैं, तो कई एक दोष भी हैं। इसके सहारे नेता बननेमें बड़ा सुभीता रहता है। अपने वाक्योंके माया-जालमें भोली भाली साधारण प्रजाको सहजमें फाँस सकता है,* और उन लोगोंके वोटके बलपर सभामें प्रतिनिधि बन सकता है। ऐसे प्रतिनिधियोंकी अधिकताका फल यह होता है, कि प्रायः इन सभाओंमें, विचारोंकी गम्भीरता, गूढ़ प्रश्नोंका शान्त और निष्पक्ष अध्ययन, तथा आवश्यक अनुभवका बहुत कुछ अभाव सा रहता है। अब यदि ऐसी सभाको शासनका पूर्ण अधिकार दे दिया जाय, तो फिर कहनाही क्या है।

किसी प्रकारके शासनकी सफलताके लिए यह आवश्यक है, कि उसमें नियम और स्वतंत्रता, प्राचीन और अर्वाचीन, अनुदार और उदार, दोनों ही भावोंका पूरा पूरा

* भारतवर्षमें, अभी हालमें, प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओंके लिए जो चुनाव हुआ था, उसमें ऐसे बहुतसे उदाहरण मिलेंगे। संयुक्त प्रान्तमें एक महाशयने, भोले भाले किसानोंसे यह कहकर कि वे उनका लगान माफ़ करा देंगे, उनका वोट अपने नाम लेलिया। परन्तु अब प्रतिनिधि बनकर, बेचारे निरापराध उन्हीं किसानोंपर, रायबरेली जिलेमें, गोली चलाया जाना भी उनको अनुचित नहीं जान पड़ता है।

समावेश हो। मानवस्वभावमें यह दोनों ही प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं इसलिए, दोनोंको स्थान देनेसे ही शासन साधारण प्रजाके लिए हितकर हो सकता है। परन्तु जैसी सभाका संगठन ऊपर दिखलाया गया है, उसमें प्रायः एक ही भावकी प्रबलता रहती है। प्रजातंत्रके अन्तिम लक्ष्यकी धुनमें यह लोकसभायें नियमका ध्यान नहीं रखतीं, और प्राचीनताको सदा घृणाकी दृष्टिसे देखती हैं। फल यह होता है कि स्वाधीनताको नियमबद्ध रखनेवाली सीमायें टूटजाती हैं, और देश अराजकताकी प्रबल धारामें बहने लगता है।

इन्हीं दोषोंको दूर करनेके लिए लोक-सभाके साथ ही साथ एक दूसरी सभाका होना बड़ा आवश्यक है। इस सभाका संगठन ऐसा होना चाहिए जिसमें लोक सभाके प्रभावोंकी पूर्ति पूर्णरूपसे हो सके। ऐतिहासिक दृष्टिसे दोहरी सभाओंकी प्रथा बड़ी प्राचीन है। रोम और यूनान तथा भारतवर्ष ऐसे देशोंमें दोहरी सभाओंद्वारा ही शासन होता था। लोक-सभामें, स्त्री, बालक और दासोंको छोड़कर सारी प्रजाको भाग लेनेका अधिकार प्राप्त था, परन्तु दूसरी सभा, अर्थात् परिषद्का संगठन, ज्ञानी, अनुभवी, वृद्ध कुलपतियोंके आधारपर होता था। इस तरह सभा और परिषद् दोनों एक दूसरेके अभावोंकी पूर्ति करते रहते थे, और किसी एक पक्षके हाथमें पूर्णाधिकार देकर, उसका अनुचित प्रयोग न होने देते थे।

भारतवर्षमें बौद्धकालके साथही साथ सभाओं द्वारा शासन करनेकी प्रथाका ही लोप हो गया, परन्तु यूरोप सदा इसी चालपर डटा रहा। वहाँ प्रत्येक कालमें दोनों सभायें किसी न किसी स्वरूपमें शासनकार्य्य संचालन करती रहीं। इंगलिस्तान और फ्रान्स दोनोंहीने राजविप्लवके समयपर केवल लोकसभाद्वारा शासन करनेकी चेष्टा की, परन्तु एकही दो वर्षके अनुभवके बाद, यह रीति सर्वथा हानिकारी प्रतीत हुई, और छोड़नी पड़ी। अब यूरोपके सभी देशोंमें, अमरीका तथा उपनिवेशोंमें भी दोहरी सभाओंद्वारा ही शासन हो रहा है।

इन दोनों सभाओंके संगठनमें क्या भेद है, परस्पर कैसा सम्बन्ध है, और दोनों एक दूसरेके अभावोंकी पूर्ति कैसे करती हैं, इन बातोंका पता हमें तभी लग सकता है, जब भिन्न भिन्न देशोंकी ऐसी सभाओंका थोड़ा बहुत ज्ञान हो। इस लिए मुख्य मुख्य देशोंकी दोनों सभाओंका यहाँपर संक्षिप्त विवरण अनुचित न होगा।

प्राचीन जातीय संगठन नष्ट होनेके बाद बड़े बड़े राज्योंकी स्थापना हुई। इन राज्योंके जन्मके साथही साथ उन सभाओंका भी जन्म हुआ, जिनको आधुनिक राष्ट्रीय सभाओंका प्रथम स्वरूप समझना चाहिए लोक-सभा होनेकी अपेक्षा यह सभायें पहिले राजसभायें थीं, इनमें राज्यके जन्मदाता विजयी नेताके सामन्तगण ही रहा करते थे, और साधारण प्रजाको कोई भी अधिकार प्राप्त न था। इस सभाका मुख्य कर्तव्य राज्यकी रक्षा थी, पर राजनैतिक भावोंकी उन्नतिके साथ साथ तथा और बहुतसी ऐतिहासिक घटनाओं-के कारण, इन सभाओंमें धीरे धीरे प्रजाका समावेश होने लगा और कुछ काल पश्चात् यह सभायें प्रजाके अधिकारोंकी संरक्षक बन बैठीं।

# स्वार्थ

रोमके हाथसे छुटकारा पानेके पश्चात् इंगलिस्तानपर सैक्सन जातिका अधिकार हुआ। इस जातिने लगभग पाँचसौ वर्ष तक राज्य किया। सं० ११२३ में फ्रान्सके एक प्रान्त नार्मण्डीके निवासी, अर्थात् नार्मन लोगोंने विजय प्राप्त की। ऐंग्लो सैक्सन और नार्मन दोनोंही कालमें, इंगलिस्तानमें राजसभाका पता चलता है। इस सभामें बड़े बड़े राज-कर्मचारी जागीरदार और मठाधीश तथा महन्त लोग रहते थे। जिसके पास राज्यकी भूमि अच्छी तरह होती थी, वही आमन्त्रित किया जाता था, इस बातका बड़ा ध्यान रहता था, यहाँ तक कि महन्तोंको भी जागीरदारी हैसियतमें जाना पड़ता था। बड़े बड़े जागीरदारोंको, जो 'बैरन' 'पियर' या 'लार्ड' ऐसी उपाधियोंसे प्रसिद्ध थे, स्वयं राजा सभामें आनेके लिए निमन्त्रणपत्र भेजता था, परन्तु छोटे छोटे ज़मीन्दार, जो 'नाइट' के नामसे प्रसिद्ध थे, गाँवोंके सरकारी मुखिया, अर्थात् शेरिफद्वारा बुलाये जाते थे। इसके अतिरिक्त इन दोनोंमें एक और भेद था, जागीरदारोंको सरकारी खजानेमें सीधे मालगुजारी दाखिल करनेका हक़ था, परन्तु ज़मीन्दारोंको 'शेरिफ' अर्थात् मुखियाद्वारा भेजनी पड़ती थी। आगे चलकर भूमि सम्पत्तिकी शर्त जाती रही, और जिसको राजा उचित समझता, उसीको निमन्त्रणपत्र भेजकर राजसभामें आनेके लिए आज्ञा देने लगा। इस तरह आमंत्रित सभासद 'पियर्स' समझे जाने लगे। इसके सिवा 'अर्ल' 'ड्यूक' 'मार्क्विस' और 'वाइकाउन्ट' ऐसी उपाधियाँ भी राजा अपने विशेष आज्ञा-पत्रों द्वारा वितरण करने लगा। इनकी भी गणना 'पियर्स' में होती थी, और निमन्त्रणपत्रद्वारा यह लोग राजसभामें आमंत्रित होते थे। धीरे धीरे राजाज्ञापत्रों द्वारा उपाधिवितरण कर 'पियर्स' बनानेकी चाल पड़ गई *। यह उपाधियाँ परम्परागत हैं, किसी उपाधिधारीके मरने-पर वही उपाधि उसके ज्येष्ठपुत्रको मिलती है, ज्येष्ठपुत्रके सिवा और किसी पुत्रको ऐसी उपाधियोंके विशेष अधिकारोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कुछ लोगोंको कभी कभी केवल अपने जीवन भरके लिए ही पदवियाँ मिलती हैं, पर ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत कम होती है।

इस सभाके तीन मुख्य कार्य्य थे, राज्यकर बनाना, न्याय करना, और शासनके नियम अर्थात् कानून बनाना। राज्यकरमें प्रजाकी सम्पत्तिका थोड़ा बहुत ध्यान रखनाही पड़ता है। इस लिए तेरहवीं शताब्दीमें 'नाइट' अर्थात् जमीन्दारोंके साथ साथ कुछ नागरिक और व्यापारी भी मुखियाद्वारा सभामें बुलाये जाने लगे। साधारण प्रजा और जागीरदारों-में राज्य-करका भेद स्वाभाविक ही है। इसलिए नागरिक, व्यापारी और छोटे जमीन्दार लोग अपना वोट अलग देने लगे, और जागीरदार तथा महन्त अर्थात् 'पियर्स' लोग भी अलग हो गये। इस तरह चौदहवीं शताब्दीके मध्यमें, राजसभाके, जो अब अपने विस्तृत स्वरूपमें 'पार्लामेण्ट' के नामसे विख्यात है, दो भाग हो गये। पहिले भागका नाम

---

* बिहार और उड़ीसा प्रान्तके गवर्नर 'सत्येन्द्रप्रसन्न सिंह' को 'लार्ड' की पदवी इसी तरह प्राप्त है।

'कामन्स-सभा' और दूसरेका 'लार्ड्स-सभा' पड़ गया। प्रजातंत्र भावोंकी उन्नतिसे 'कामन्स सभा' के सभ्य प्रजाद्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होने लगे, जिसके प्रतिकूल 'लार्ड्स सभा' की रचना सरकारी आज्ञापत्रोंद्वारा होने लगी।

'कामन्स-सभा' के हाथमें जब राज्यकर आ गया, तो इसने 'लार्ड्स-सभा' के अन्य अधिकारोंपर भी हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया। कई शताब्दियोंतक दोनोंमें परस्पर झगड़ा चलता रहा, परन्तु कामन्स-सभाने धीरे धीरे कानून बनानेके सभी अधिकार छीन लिये हैं। लार्ड्स-सभा सुधार अवश्य पेश कर सकती है, पर कोई नियम रद्द नहीं कर सकती है। कामन्स-सभामें तीन बार बराबर पूर्ण रूपसे* कोई प्रस्ताव पास होनेपर, लार्ड्स-सभाकी अनुमति न होते हुए भी कानून बन जाता है। रुपये पैसे सम्बन्धी प्रस्तावोंपर लार्ड्स सभाको कोई भी अधिकार नहीं है। पर न्यायानुशासनमें इसके अधिकार अभी ज्योंके त्यों बने हैं। इसमें हस्तक्षेप करनेकी धृष्टता कामन्स-सभाने कभी नहीं दिखलायी। इसके सामने कामन्स-सभा वादी बनकर बड़े बड़े राज कर्मचारियोंपर अभियोग चला सकती है। भारतवर्षके प्रथम गवर्नर जेनरल, कुटिल नीति धुरन्धर वारन हेस्टिंग्ज़का अभियोग लार्ड्स-सभा हीमें हुआ था। कुछ अदालतोंकी अपील भी लार्ड्स-सभामें हो सकती है†।

इस समय लार्ड्स-सभाके सदस्योंकी संख्या लगभग सातसौके है। संसार भरमें अपने ढंगकी यह सबसे बड़ी सभा है। अधिकारोंकी थोड़ी बहुत मात्रा, जो इसके पास बची है, उसको भी कामन्स-सभा सहन नहीं कर सकती है। कुछ लोगोंकी राय है कि इसको समूलही नष्ट कर देना उचित है, कुछ लोगोंका कहना है कि प्रजातंत्र भावोंके अनुसार इसका पूरा सुधार होना चाहिए। बहुतसे दोषोंके होते हुए भी अपनी वर्त्तमान अवस्थामें भी, लार्ड्स-सभा, इंगलिस्तानके राजनैतिक-संगठनका एक अपूर्व और आवश्यक अंग है। कामन्ससभाके प्रस्तावोंकी जाँच यह एक दूसरी ही दृष्टिसे करती है। राजनैतिक दलोंके दांवपेंचसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके सदस्य प्रायः अनुभवी वृद्धजन हैं। नीति-निपुण पदच्युत मंत्रियोंको इसके द्वारा अपना मत प्रकट करनेका अवसर मिलता है। इंगलिस्तानकी पुरानी रईसीका यह एक अच्छा खासा नमूना है। यह सब होते हुए भी कभी कभी इसकी अनुदार-नीति, और हृदयकी संकीर्णता बड़ी खटकने वाली होती है। अमृतसरके हत्यारे डायरका पक्ष लेकर, इसने भारतवर्षको अपनी नीतिका परिचय अभी हालहीमें दिया है।

अमरीकाको इंगलिस्तान और हालैण्डके राजनैतिक संगठनका पूरा पूरा ज्ञान था। इसके अतिरिक्त कई एक स्वतंत्र रियासतोंमें भी इसको राजनैतिक अनुभवका अवसर मिला

---

* वादविवादके लिए, पास होनेके पूर्व प्रत्येक प्रस्ताव सभामें तीन बार पढ़ा जाता है।

† 'लार्ड्स' और कामन्समें परस्पर झगड़ेकी कहानी बड़ीही रोचक और शिक्षाप्रद है, किसी दूसरे लेखमें इसको विस्तृतरूपसे सुनानेकी चेष्टा की जायगी।

था। इसीलिए स्वतंत्रता प्राप्त करनेपर इसने भी दो सभाओंकी रचना की। एकका नाम है 'हाउस आफ् रिप्रेज़ेन्टेटिव' अर्थात् 'लोक प्रतिनिधिसभा' और दूसरेका 'सिनेट' अर्थात् 'राष्ट्रपरिषद'। पहिली सभामें प्रति तीस हजार मनुष्यों पीछे एक प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार प्रजाको है। सिनेटमें प्रत्येक राष्ट्रकी ओरसे दो प्रतिनिधि होते हैं। अमरीका कई एक राष्ट्रोंका एक संघ है, इसीलिए यह संयुक्त राष्ट्रके नामसे प्रसिद्ध है। इन राष्ट्रोंकी संख्या ४५ है, इसतरह सिनेटके सदस्योंकी संख्या ९० है। इसके सदस्य होनेके लिए यह आवश्यक है, कि वह किसी राष्ट्रका प्रतिनिधि हो, वहींका निवासी हो, और अवस्था में ३० वर्षसे कम न हो। प्रत्येक प्रतिनिधिको स्वतन्त्र मत प्रकाश करनेका अधिकार है। सिनेटका चुनाव ६ वर्षके लिए होता है। परन्तु प्रति दूसरे वर्ष एक तिहाई सदस्य आपही आप हट जाते हैं, और उनकी जगहपर नये प्रतिनिधि आजाते हैं। इसतरह सदस्य तो आया जाया करते हैं, पर सिनेटका कभी अन्त नहीं होता। दो तिहाई पुराने सदस्य बनेही रहते हैं। इससे सबसे भारी लाभ यह होता है कि परम्परागत होनेसे जो दोष आ जाते हैं उनसे यह बचा रहता है, पर साथही नीतिभी स्थाई बनी रहती है। प्राचीन और अर्वाचीन भावोंके गंगाजमुनी मेलका यह सबसे अच्छा नमूना है।

दोनों सभाओंके अधिकारोंमें बहुत कुछ समानता है। दोनों अपने प्रस्तावों द्वारा कानून बना सकती हैं। यदि किसी प्रकारका मतभेद होता है तो दोनोंकी एक मिश्रित समिति द्वारा निर्णय करा लिया जाता है, जो दोनोंके लिए बाध्य होता है। किसी प्रस्तावको कानून बनानेके लिए यह आवश्यक है, कि वह दोनों सभाओंसे एकही रूपमें पास हो। स्वयं पैसेके सम्बन्धमें यहाँ भी सिनेटको हस्तक्षेपका अधिकार नहीं है। पर न्याय विभागमें पूरा अधिकार है। प्रतिनिधिसभा वादीकी हैसियतमें उच्चराजकर्मचारियोंपर अभियोग ला सकती है, परन्तु उसकी जांच और निर्णय केवल सिनेटके हाथमें रहता है। सिनेटका अध्यक्ष अमरीकन संयुक्त राष्ट्रका उपसभापति होता है, पर जब स्वयं अमरीकाका राष्ट्रपति विचारके लिए सिनेटके सामने लाया जाता है, तब अमरीकाके चीफ जस्टिस, अर्थात् सर्वोच्च न्यायाधीश, अध्यक्षके आसनपर बैठता है, क्योंकि उपराष्ट्रपतिको अध्यक्ष बनानेसे पक्षपातका भय रहता है*। इसके अतिरिक्त वास्तविक शासनमें भी सिनेटको पूरा अधिकार है। राष्ट्रपति द्वारा निर्वाचित मंत्री तथा अन्य बड़े बड़े पदाधिकारियोंको मुअत्तिल करना सिनेटके ही हाथमें है। इसी तरह कोई सन्धि भी बिना इसकी अनुमतिके स्वीकृत नहीं होती। सिनेटकी ही सम्मति न होनेके कारण अमरीकाने अभी हालके सन्धिपत्रपर हस्ताक्षर नहीं किये हैं। ऐसे विषयोंपर विचार करनेके लिए सिनेटको गुप्त अधिवेशन करना पड़ता है।

सिनेटमें, सदस्योंकी संख्या कम होनेसे, इंगलिस्तानकी लार्डसभाकी अपेक्षा, कार्य शीघ्रतासे होता है। सारा समय व्यर्थके वाद विवादमें नष्ट नहीं होता है। 'लार्ड' की

*सं० १९२५ में राष्ट्रपति जान्सनका विचार सिनेटमें हुआ था।

## दोहरी सभाओंद्वारा शासन

उपाधि वितरण करनेमें ब्रिटिश सरकारको बहुतसी बातोंका ध्यान रखना पड़ता है। इसलिए प्रायः योग्य और अनुभवी नेता सभाकी कार्यवाहीमें भाग नहीं ले पाते हैं। परन्तु अमरीकामें सिनेटके सदस्योंका चुनाव भिन्न भिन्न राष्ट्रोंद्वारा होता है, इस तरह प्रायः सभी मत वालोंको भाग लेनेका अवसर मिल जाता है। यही कारण है कि देशका इसमें पूरा विश्वास है। इंग्लिस्तानकी लार्डसभा वहाँकी पुरानी रईसोंकी एक अधमरी संस्था है, परन्तु अमरीकाकी सिनेट, एक हृष्टपुष्ट जीवित सभा है, जिसका प्रभाव देशके सारे राजनैतिक जीवनपर पड़ता है।

प्रायः सभी ब्रिटिश उपनिवेशोंमेंभी अब दोहरी सभाओंद्वारा ही शासन होता है। पहिले यह सब उपनिवेश, ब्रिटिश साम्राज्यके एक सचिवके हाथमें रहते थे, परन्तु धीरे धीरे अब सबको साम्राज्यके अन्तर्गत पूर्ण स्वराज्य मिल गया है। ऐसे स्वराज्यप्राप्त तीन उपनिवेश हैं अर्थात् कनाडा, आस्ट्रेलिया, और दक्षिणी अफरीका। इन तीनों उपनिवेशोंमें पहिले प्रान्त अलग अलग थे, उनकी शासनपद्धति भी भिन्न थी। परन्तु अब यह सब प्रान्त एकमें मिला दिये गये हैं, और इनका शासन दो सभाओंमें विभक्त पार्लामेन्टोंद्वारा होता है। इन सभाओंका इतिहास, जो बड़ाही रोचक है, इस छोटेसे लेखमें नहीं बतलाया जा सकता, पर दूसरी सभाका, जो तीनों उपनिवेशोंमें 'सिनेट'के नामसे प्रसिद्ध है, संगठन, प्रतिनिधिसभासे सम्बन्ध, तथा उसके अधिकारोंको थोड़ेसे शब्दोंमें बतला देना बड़ा आवश्यक है।

कनाडामें सिनेटके सदस्योंकी संख्या ९० के लगभग है। तीन बड़े बड़े प्रान्तोंसे इन सदस्योंकी समान संख्या निश्चित है। इनको जीवनपर्य्यन्तके लिए गवर्नर जेनरल नामजद करता है। आर्थिक-नीतिका संचालन 'कामन्ससभा' के हाथमें है। दोनोंके परस्पर सम्बन्धके विषयमें नियम स्पष्ट नहीं है मतभेद होनेपर गवर्नर जेनरलको ६ सदस्योंके बढ़ा देनेका अधिकार है। इसके संगठनमें अमरीकाके प्रान्तीय विभागके साथ साथ लार्ड्स-सभाके सदस्योंकी तरह नामजद करनेके सिद्धान्तको मिलानेकी चेष्टा की गयी है। परन्तु व्यवहारमें इस मेलसे बड़ी असुविधायें हैं। यह सभा न तो अमरीकाके सिनेटकेही ढंगपर है, और न लार्डसभाकेही अनुसार है। इसके सुधारकी बड़ी आवश्यकता है।

आस्ट्रेलियामें सिनेटके सदस्योंकी संख्या ३६ है। प्रत्येक प्रान्तको ६ सदस्य भेजनेका अधिकार है। पर इन सदस्योंका निर्वाचन प्रत्येक प्रान्तमें प्रजाद्वारा होता है। इस तरह "हाउस आफ़ रिप्रेज़ेन्टेटिव" अर्थात् प्रतिनिधि सभा और सिनेटका आधार एकही है। कानून बनानेके अधिकार दोनोंके समान हैं। अर्थ सम्बन्धी प्रास्ताव केवल प्रतिनिधिसभामें पेश हो सकते हैं। सिनेट उसमें कोई संशोधन नहीं कर सकता, पर उनको अस्वीकृत करनेका उसे पूर्ण अधिकार है। यदि किसी विषयपर दोनों सभाओंमें बराबर मतभेद रहता है, तो गवर्नरजेनरल एकही साथ दोनों सभाओंको भंग कर देता है। पुनर्निर्वाचित होनेपर भी यदि वही मतभेद बना रहता है, तो दोनों सभाओंका अधिवेशन

एक साथ होता है, और उसका निर्णय दोनोंके लिए बाध्य होता है। और देशोंकी दूसरी सभाओंसे आस्ट्रेलियाके सिनेटमें कई एक विशेषताएं हैं। सदस्योंका निर्वाचन प्रजाद्वारा होनेसे इसकी नीति अनुदारताके बहुतसे दोषोंसे मुक्त रहती है। इसके अतिरिक्त कानून बनानेमें सिनेटकी स्थिति प्रतिनिधिसभाके समान ही है। इसलिए अपने ढंगकी यह निराली ही सभा है।

दक्षिणी अफरीकामें सिनेटके सदस्योंकी संख्या ४० है। मुख्य प्रान्त चार हैं, प्रत्येक प्रान्तको ८ सदस्य भेजनेका अधिकार है। बाकी ८ सदस्योंको गवर्नरजेनरल नामजद करता है। सदस्य होनेके लिए यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति किसी यूरोपियन जातिका हो और ब्रिटिशसाम्राज्यकी प्रजा भी हो। इस तरह काले और गोरेके भेदका ध्यान रक्खा गया है। अर्थ सम्बन्धी प्रस्ताव प्रतिनिधिसभामें जो 'हाउस आफ़ असेम्बली' के नामसे विख्यात है, पेश हो सकते हैं। आस्ट्रेलियाकी तरह इन प्रस्तावोंको अस्वीकृत करनेका अधिकार सिनेट-को यहाँ भी है, पर संशोधनका नहीं। दोनों सभाओंमें मतभेद होनेपर दोनोंका एक साथ अधिवेशन होता है और उसका निर्णय दोनोंको मान्य होता है। प्रान्तोंकी एकताके बाद १० वर्षके लिए सिनेटका ऐसा संगठन रक्खा गया है, तत्पश्चात् अफरीकाकी पार्लामेंटको इसमें अपने अनुभवके अनुसार फेरफार करनेका अधिकार है।

फ्रान्सका इतिहास राजनैतिक दृष्टिसे बड़ाही रोचक और शिक्षाप्रद है। सभी प्रकारकी शासनपद्धतियोंका इसने व्यवहार किया है। इसलिए यदि फ्रान्सको राजनैतिक प्रश्नोंकी अनुभवशाला कहा जाय तो अनुचित न होगा। पहिले यहाँ जागीरदार, पादड़ी-लोग, और साधारण प्रजा, तीनोंकी अलग अलग सभाएँ थीं। राज्यकरके सम्बन्धमें तीनोंका अलग अलग मत लिया जाता था। इसके सिवा, इन सभाओंका और कोई उपयोग न था। परन्तु सं० १८४६ में, फ्रान्समें राजनैतिक उथल पथल प्रारम्भ हुआ। इस अवसरपर लोकस-भाने जागीरदारों और पादड़ियोंको साथही मत देनेके लिए आमंत्रित किया। इस तरह तीनों सभाओंने परस्पर मिलकर एक राष्ट्रीयसभा स्थापित की। सम्वत् १८४६ से लेकर सं० १९३२ तक फ्रान्समें इतना गड़बड़ रहा कि कोई भी शासनपद्धति स्थायी न हो सकी। सं० १९३२ में तृतीय नेपोलियनके पतन होनेपर वर्तमान संगठनका निर्माण किया गया।

अब फ्रान्समें सिनेटके सदस्योंकी संख्या ३०० है, और चेम्बर आफ डिप्युटीज़ अर्थात् प्रतिनिधिसभाओंके सदस्योंकी ५६१ है। सिनेटके सभी सदस्य चुने होते हैं, परन्तु चुनाव साधारण प्रजाद्वारा न होकर विशेष संस्थाओं (जैसे म्युनिसिपलबोर्ड इत्यादि) द्वारा होता है। प्रत्येक प्रान्तको जन संख्याके अनुसार प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार होता है। सदस्योंका चुनाव ९ वर्षके लिए होता है, परन्तु प्रति तीसरे वर्ष एक तिहाई सदस्य आपही आप हट जाते हैं। सदस्य बननेके लिए फ्रांसका नागरिक होना आवश्यक है। अवस्था भी ४० वर्षसे कम न होनी चाहिए। युद्ध व्यापार सम्बन्धी सन्धि और राष्ट्रपतिके निर्वाचनमें दोनों सभाओंकी सम्मति आवश्यक है। राष्ट्रपति मंत्रियों तथा अन्य ऐसे

उच्च राजकर्मचारियोंपर केवल प्रतिनिधिसभा राजविद्रोहके अभियोग चला सकती है। परन्तु निर्णय सिनेटके हाथमें रहता है। यहाँ सिनेटको एक और विशेष अधिकार प्राप्त है, अर्थात् बिना इसकी अनुमतिके राष्ट्रपति प्रतिनिधिसभाको भंग नहीं कर सकता। कानून बनानेमें दोनोंके समान अधिकार हैं। अर्थसम्बन्धी प्रस्तावोंके पेश करनेका अधिकार केवल प्रतिनिधि-सभाको प्राप्त है पर उनको सिनेट अस्वीकृत कर सकता है, कभी कभी प्रतिनिधिसभाके विरोध करते रहनेपर भी यह उनमें संशोधन भी कर देता है। दोनों सभाओंमें मतभेद होनेपर प्रतिनिधि-सभाको भंग कर देनेके सिवा कोई उपाय नहीं है*।

संसारकी मुख्य दूसरी सभाओंका यह संक्षिप्त विवरण है। इसके अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि प्रजातंत्र-शासनके संगठनमें दूसरी सभाका होना नितान्त आवश्यक है फ्रान्सकी राजक्रान्तिके अवसरपर वहाँके एक नीतिविशारदने लिखा था कि यदि यह दूसरी सभा, प्रतिनिधि सभासे सहमत है, तो इसका होना व्यर्थ है और यदि यह सहमत नहीं है, तो उससे सर्वथा हानि है, क्योंकि यह प्रजामतके विरुद्ध है। परन्तु इतने दिनके अनुभवके पश्चात् अब संसार इस दलीलके चक्करमें नहीं है। इस सभाका मुख्य कर्तव्य प्रतिनिधि सभापर आतंक जमाना नहीं है, बल्कि उसके प्रस्तावोंकी फिरसे जाँच करना है।

---

*नये सुधारोंसे भारतवर्षमें भी दो सभायें बनायी गयी हैं एक तो लेजिस्लेटिव असेम्बली अर्थात् 'व्यवस्थापकसभा' और दूसरी कौंसिल आफ स्टेट अर्थात् राज्यपरिषद। कौंसिलमें सरकारी सदस्योंकी संख्या अधिक है अवधिमें भी भेद है और चुनाव भी भिन्न रीतिसे होता है। अन्य प्रजातंत्रराष्ट्रोंसे भारतवर्षकी तुलना करना व्यर्थ है। यहाँ तो संसारको दिखलानेके लिए प्रजातंत्रशासनका परदा डाला गया है जिसकी रंगाई और सफाईपर हमारे बहुतसे नेता भी मुग्ध होरहे हैं। पर इस परदेकी ओटमें नौकर-शाहीका अटल राज्य है। किसी सरकारी प्रस्तावको पास करनेके लिए गवर्नर जेनरलका एक सार्टिफिकट होना चाहिए कि वह सुशासन और शान्तिके लिए आवश्यक है, बस फिर उसको अस्वीकृत करने या कोई संशोधन करनेका अधिकार न तो कौंसिलको है और न असेम्बलीको। परन्तु अभिनयमें किसी बातकी कमी न रह जाय इसलिए दोहरी सभाओंका जितना मायाजाल है, उसका पूरा ध्यान रक्खा गया है। आर्थिक विषयोंमें कहा जाता है कि असेम्बलीको ही अधिकार है, पर मजा यह है कि असेम्बलीको बजटके दो तिहाई भागसे कुछ भी मतलब नहीं है। कानून बनानेके अधिकार बहुत कुछ समान हैं। मतभेद होनेपर दोनों सभाओंके एक साथ अधिवेशन होनेकी व्यवस्था है। कामन्स-सभाकी नकल दिखलानेके लिए, व्यवस्थापक सभा किसी प्रकार कौंसिलसे, जो लार्डसभाके ढंगकी समझी जाती है, कम नहीं रहना चाहती है। पर यहाँ तो वास्तविक शक्ति दोमें किसीके भी पास नहीं है। ऐसी दशामें व्यवस्थापकसभा 'माननीय' पद और 'बराबर भत्ते' के ही लिए लड़कर सन्तोष करती है।

इसके सिवा दूसरी सभाकी प्रणालीमें एक बड़ा भारी लाभ है । आज कल संसारकी राजनैतिक परिस्थितिमें फेडरल संगठन बड़ा उपयोगी जान पड़ रहा है । इसके अनुसार एक ही देशके कई प्रान्त या छोटे छोटे राष्ट्र, परस्पर मिलकर एक राजनैतिक संघ बनजाते हैं । इस तरहसे इनकी स्थानीय स्वतंत्रता भी नष्ट नहीं होती, और साथही साथ राष्ट्रीयताके भाव जागृत हो उठते हैं । अमरीका और ब्रिटिश उपनिवेशोंमें इसी सिद्धान्तका अनुसरण हो रहा है । दूसरी सभा होनेसे इस तरहके शासनमें बड़ी सुगमता होती है जैसा कि अमरीकाके सिनेटमें दिखलाया जा चुका है ।

इस सभाके संगठनमें कितना मत भेद है यह ऊपरके विवरणसे स्पष्ट ही है । गत शताब्दीके अनुभवके पश्चात् सिजविक सरीखे राजनीति-शास्त्रवेत्ताओंकी सम्मति है कि दूसरी सभाके सदस्योंका प्रजाद्वारा चुनाव होनाही ठीक है । यदि इसको प्रतिनिधि-सभाके साथसाथ कानून बनानेके समान अधिकार देते हैं तो फिर हमको परम्परागत बनानेमें या इसके सदस्योंको नामजद करनेमें, सर्वथा हानि है । क्योंकि ऐसी दशामें दोनों सभाओंमें बराबर मतभेद रहेगा । प्रतिनिधि सभाकी अपेक्षा इसका चुनाव भिन्न रीतिसे होना चाहिए । चुनावके विषय ऐसे होने चाहिए, जिसमें वयोवृद्ध ज्ञानी और अनुभवी लोगोंकी इसमें अधिकता रहे । दोनोंकी अवधिमें भी भेद होना चाहिए दूसरी सभाकी अवधि प्रतिनिधि सभासे अधिक रखनी चाहिए । ऐसा करनेसे शासन स्थायी रहेगा । प्रजा-मतमें क्षणक्षणपर परिवर्तन होता रहता है इसलिए राजनैतिक दलोंकी न्यूनाधिकताके अनुसार प्रतिनिधिसभाकी नीति भी बदलती रहती है । दूसरी सभा-की अवधि अधिक करनेसे यह दोष सहजमें ही दूर हो सकता है । परन्तु इस संबन्धमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि दूसरी सभाके कुछ भागका अदलबदल अवश्य होता है ऐसा न होनेसे भय है कि यह सभा अवसर पाकर पुरानी लकीरकी फकीर बन जायगी ।

प्रजातन्त्रशासनकी अन्यसंस्थाओंकी नाई इस संस्थाके प्रश्नका भी अभीतक उचित समाधान नहीं हुआ है । दूसरी सभाके संगठनकी काटछाँट सभी जगह हो रही है । अनुभवके साथसाथ इनका सुधार भी होता जायगा । पर ऐसी सभाओंकी उपयो-गितामें अब किसीको भी सन्देह नहीं है ।

गंगाशंकर मिश्र ।

# स्वतन्त्रताका इतिहास

( १ )

स्वतन्त्रता किस विचारे प्राणीको प्यारी नहीं। मनुष्य क्या पशु-पक्षियोंको भी इससे नैसर्गिक प्रेम है। इसके न होनेसे कोई भी देश वा जाति मृतप्राय समझी जाती है। सभ्य जीवनका यह न केवल आधार है बल्कि समस्त जगत्‌की सभ्यताकी उत्तरोत्तर उन्नति विना स्वतन्त्रताके हो नहीं सकती। जो देश पराधीनताकी बेड़ीमें जकड़ा हुआ हो, एवं जो व्यक्ति अपनी जीवनचर्यामें भाँति भाँतिकी बाधाओंसे पीड़ित हो तो वे दोनों ही उन्नति-पथके पथिक नहीं बन सकते।

स्वतन्त्रता एक जीती जागती शक्ति है। इसे आदर्श मानकर जातियाँ होती हैं। इसे खो बैठनेपर वे कालके गालमें तत्त्क्षण विलीन हो जाती हैं। इस पवित्र भावका आविर्भाव इतिहासमें सबसे पहिले ग्रीस देशमें हुआ। इस आदर्शको वहाँके लोगोंने जिस प्रकार चरितार्थ किया, समाज और राजनीतिमें जो जो परिवर्तन इसके अनुसार हुए उनका अवलोकन करना पराधीन और दैन्यग्रस्त भारतवासियोंके लिए बड़ाही शिक्षाप्रद है। हम स्वतन्त्रताके इतिहासके एक जाज्वल्यमान पर्वका पर्यालोचन ग्रीसदेशके ऐथेन्स नगरके इतिहासमें करते हैं।

स्वतन्त्रताके परम पुनीत भावका उदय ग्रीसके एथेन्स नगरमें हुआ। राजनीतिमें इस शब्दके मुख्यतया दो अर्थ हैं। दूसरे देशकी अधीनताके बंधनमें अमुक देशका न होना यही इस शब्दका पहिला अर्थ है। दूसरा अर्थ यह है कि जिस नीतिके सहारे प्रत्येक व्यक्ति अपने हित-सम्पादनमें स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्त हो सके अर्थात् उसके सविवेक कार्य करनेमें किसी तरहकी बाधा उपस्थित न होसके—उस राष्ट्रनीतिका नाम स्वतन्त्रता है। देश और व्यक्ति दोनों ही स्वतन्त्र होने चाहिए। पराधीन देश वा जातिका कभी समुदय नहीं हो सकता। कोई भी सभ्य जाति पराधीनताको क्षणमात्र भी सहन नहीं कर सकती, उसके शासकवर्ग चाहे जितने अच्छे क्यों न हों। प्रत्येक देशमें स्वतन्त्रताका भाव स्वाभाविक है। परन्तु दूसरोंसे विजित होनेपर उस देशकी दुर्गति सर्वथा दुर्निवार है। बिना स्वतन्त्रताके किसीभी देशका विकास सांगोपांग कदापि नहीं हो सकता।

व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यका प्रतिपादन जान स्टुअर्ट मिलने बड़ी ही विवेचनापूर्वक किया है। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि विवेकी मनुष्य अपने हितकी बात भलीभाँति जानता है। अतएव उसके साथ समाज वा राष्ट्रको बालककी भाँति व्यवहार न करना चाहिए। उसपर उसकी इच्छाके विपरीत शासन करनेमें उसकी आत्मोन्नति नहीं हो सकती। समाजका यदि कोई भी वर्ग उसकी स्वतन्त्रतामें बाधक होता है तो वही उसके लिए अनर्थकारी है। व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य सर्वथा अभीष्ट वस्तु है।

जिस भूमिमें स्वतन्त्रताके भावका अंकुर प्रथम उत्पन्न हुआ उसके इतिहासका

दिग्दर्शन अतीव शिक्षाप्रद है। विक्रमसे कई शताब्दी पूर्व ग्रीसके एथेन्स नगरमें इस परमोत्तम भावका उदय हुआ। व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के साथ उस नगरके लोगोंको परवशताका दुःख सहन न करना पड़ता था।

इसके अतिरिक्त उनकी स्वतन्त्रता उन्हें सभ्यताके उन्नत शृङ्गपर पहुँचानेका कारण हुई। उस देशकी स्वाधीनतामें तीन विशेष बातें थीं, एक तो परवशता न थी, दूसरी प्रत्येक व्यक्तिको समुचित स्वतन्त्रता प्राप्त थी, तीसरी बात फिर सर्वोपरि यह थी कि उनकी स्वतन्त्रताका परम लक्ष्य उत्तरोत्तर उन्नति करना था। एथेन्सवासी लोगोंका यह उद्देश्य था कि वे अन्नवस्त्रकी चिन्तासे विमुक्त हो अपने समय और सामर्थ्यका उपयोग विज्ञान और कलाकौशलकी उन्नतिमें करें।

एथेन्सके इतिहासमें जो स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिए महायुद्ध हुआ था वह संसारकी चिरस्मरणीय घटनाओंमें है। ईरानके बादशाह डेरियस और ज़रक्सीज़ तीन प्रबल आक्रमण ग्रीसकी छोटीसी जातिके विरुद्ध हुए, लेकिन एथेन्सनगरके सुवीवर वीरोंके अतुल पराक्रमसे उनका देश परवशतासे बच गया। ग्रीसका प्रथम इतिहास लेखक हीरोडोटसका कथन है कि ग्रीसका रक्षक एथेन्स ही था*। ग्रीसकी स्वातन्त्र्य-रक्षाके उपलक्ष्यमें और उसके स्मारक रूपसे उन्होंने प्लेटी नामक विजयक्षेत्रमें तरह तरहके खेल प्रति चौथे वर्ष जारी किये। एथेन्सवासियोंको यह अभिमान था कि वे किसी मनुष्यको अपना स्वामी नहीं कहते। महाशक्तिशाली ईरानके परास्त करनेके उपरांत, स्वतन्त्रता एथेन्सके जीवनकी सूत्रात्मा बन गयी। इस विजयका परिणाम यह हुआ कि एथेन्स नगरने स्वाधीन रहकर अपने राष्ट्रीय जीवनको सर्वांगसुन्दर बनानेके लिए भरसक उद्योग किया और वह इस अंशतक कृतकृत्य हुआ कि आज भी सभ्यसंसार एथेन्सकी आश्चर्यजनक उन्नतिपर मुग्ध हुआ बैठा है। यूरोपके ज्ञान, विज्ञान, और कलाकी ललित कुसुम-कलियोंका विकास एथेन्सके आलवालमें हुआ जिनका सौरभ समस्त सभ्य संसारमें अबतक फैला हुआ है। इस बातका इतिहास साक्षी है कि परवशताके बन्धनका प्राण-पणसे घोर विरोध करनाही ऐथेन्सकी उन्नतिका मूल कारण हुआ। भगवान मनुका उपदेश नितान्त सत्य है :—

> सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
> यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्॥

पराधीनता ही दुःख है, स्वाधीनता ही सुख है। जो कुछ परवश कर्महो उसका यत्नपूर्वक परिवर्जन करना ही उचित है।

'पराधीन सपने सुख नाहीं'

स्वतन्त्रताके सिद्धांतमें परवशताके अभावके साथही साथ प्रत्येक समाजके अवयवको यथेष्ट हितसम्पादनका अवकाश मिलना परमावश्यक है। अतएव स्वतन्त्र

* "The Savioar of Hellar"

देशमें कोई भी व्यक्ति किसी भी समाज वा व्यक्तिके अनुचित बन्धनमें रहना स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए राज-शासन प्रतिनिधि-सत्तात्मक वा प्रजातन्त्र होना चाहिए। शासन-व्यवस्था इस दशामें लोकमतके अनुकूलही होनी चाहिए। समाजके सारे व्यक्ति तो राजकाजमें भाग नहीं ले सकते अतएव उनके निर्वाचित प्रतिनिधियोंद्वारा देशकी शासन-प्रणाली रची जानी चाहिए। उनके प्रतिनिधि अवश्य उनके हितैषी होंगे और उनके मतानुसार ही राज-काज करेंगे। इस प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासनका विकास क्रमसे हुआ। जब स्वतन्त्रताका भाव सार्वभौम होनेलगा, जब वह एक विशाल देशके कोने कोनेमें व्यापक होने लगा तब राज-समाजकी अनगनित व्यक्तियोंका राजकाजके लिए एकत्र होना असम्भव होनेके कारण, प्रतिनिधिक पद्धति वा शैलीका अवलम्बन किया जाने लगा। किन्तु स्वतन्त्रताकी जन्मभूमि एथेन्समें इस पद्धतिके अवलम्बन करनेकी आवश्यकता न थी, क्योंकि उनका राजनैतिक क्षितिज एथेन्सनगर पर्यन्त ही परिमित था, अर्थात् उनकी राजकीय संस्थामें नगरके बाहरके प्रदेशका अन्तर्भाव न था। एथेन्सका नगरराज्य था* जिसमें स्वतन्त्रता पाये हुए नागरिक लोगोंकी संख्या कम होनेके कारण, सभी व्यक्ति स्वयं राज-काजमें भाग ले सकते थे। अत: एथेन्सकी शासनपद्धति शुद्ध प्रजातन्त्र राज्यका उदाहरण है† अर्थात् इस राज्यका काम प्रजा स्वयं करती थी और एतदर्थ उसे अपने प्रतिनिधियोंकी अपेक्षा न थी।

इस प्रकार एथेन्सके राजकीय समाजका सुसंगठन हुआ। वहाँकी शासन-विधि लोकमतके आधारपर स्थित हुई। "राजा प्रजाके हितार्थ बने हैं न कि प्रजा राजाके लिए।" इस राजनीतिके गम्भीर सिद्धान्तका डंकेकी चोट उद्घोष एथेन्सवासियोंने पहिले पहिल जगतमें किया। प्रजा राजकाजकी नियामक बनी, एक विशिष्ट व्यक्ति वा समाजका अत्याचार-प्रजातन्त्र शासनकी स्थापनाके पश्चात् असंभव होगया। एक व्यक्ति वा समाजका चाहे जैसा उत्तम शासन क्यों न हो तथापि जितना प्रजाधीन-शासनसे प्रजाका हित होता है उतना किसी भी अन्य प्रकारके शासनसे नहीं हो सकता‡।

प्रजाधीन-शासनमें यद्यपि कुछ त्रुटियाँ भी हों तोभी वह दूसरे प्रकारके शासनोंकी अपेक्षा श्रेयस्कर हैं। ऐसी प्रजानुकूल नीतिसे हरेक व्यक्तिको अपनी नैसर्गिक शक्तियोंके विकासार्थ पूरा पूरा अवकाश मिल सकता है। स्वतन्त्रताका यही अभिप्राय है। इस देवीकी उपासना जहाँ होती है वहाँ सभीको समान अधिकार और उन्नतिका समान अवकाश वा साधन मिले हुए होते हैं।

कुछ लोग यह शंका करेंगे कि समाजकी व्यवस्था ऐसे स्वच्छन्द शासनमें बिगड़ जायगी। समाज अपनी दृढ़ भित्तिसे हिल जायगा जिसका परिणाम यह होगा कि प्रत्येक

---

* City State.

† Direct Democracy.

‡ "A beneficent tyranny is not compared even with an unsuccessful government that is in our own hands".

व्यक्ति स्वेच्छाचार और स्वार्थकी ओर उन्मुख हो, सार्वजनिक हितके कार्य्योंमें 'अपनी अपनी बाँसुरी, अपनी अपनी तानों'की कहावत चरितार्थ करने लगेगा। यह आशंका नितान्त निर्मूल है क्योंकि सुव्यवस्थित लोकमतही प्रजाधीन-शासनका आधार है। कोई भी स्वतन्त्र प्रजावर्ग आर्यमर्यादाका उल्लंघन नहीं करसकता। उसे एक नियमित व्यवस्थामें रहनाही पड़ता है। मानवी स्वतन्त्रताका उद्देश्यही यह है कि हरेक व्यक्तिका अपने तथा सार्वजनिक हितचिन्तनमें सदा तत्पर रहना चाहिए। इस मन्त्रके अनुसारही सामाजिक और राजकीय व्यवस्था रची जाती है। कानूनकी पाबन्दी, नियमोंका परिपालन, स्वाधीनताकी रक्षाके लिए अवश्य कर्तव्य है। दार्शनिक प्लेटोका कथन है कि वह मनुष्य स्वतन्त्र है जो विवेकी और पुण्यात्मा है, और वही खासा चोखा गुलाम है जो अपनी दुर्वासनाओंके वशीभूत है। ग्रीसके तत्वदर्शी अरस्तूका भी यही मत है कि मनुष्योंको व्यवस्थाके बन्धनके अनुसार रहनेमें दासत्व न मानना चाहिए प्रत्युत वह बन्धनही उनका मोक्ष-मार्ग है।

किसी देश वा जातिको दासत्व शृंखलामें जकड़े हुए न रहना और अपने जीवनमें दूसरका अनुचित हस्तक्षेप वा अत्याचार सहन न करना—इन दो बातोंका स्वाधीनतासे घना संबन्ध है। किन्तु स्वतन्त्रताका एक तीसरा प्रयोजन भी है जो इसका अन्तिम लक्ष्य है। स्वतन्त्रता तो केवल साधन मात्र है। इसका साध्य तो कुछ और ही है। यदि सभी स्वच्छन्दरूपसे आचरण करने लगें तो किसीका भी भला न होगा। अतएव स्वतन्त्रताका उपयोग जीवनके सभी कार्य्योंमें होना चाहिए। स्वाधीनता पाकर यह हमारा धर्म है कि हम ज्ञान और कलाकी वृद्धि करें, देशकी आध्यात्मिक उन्नतिमें दत्तचित्त हों और अपनी जातिकी प्रतिभाको जगावें। स्वतन्त्रता उपलब्धकर एथेन्सके नगरने ऐसा ही किया था। उस अनुकूल परिस्थितिमें बड़े बड़े तत्ववेत्ता, कवीश्वर और कलानिपुण लोगोंने जिन्हें अब भी हम 'अलंकरणं भुवः-पृथ्वीके आभूषण मानते हैं, उत्पन्न हुए, और अलौकिक कृतियोंसे अपनी जन्मभूमिकी श्रीवृद्धि की। जब हम एथेन्सके इतिहासका शान्तिपर्व खोलकर देखते हैं तो उसके उज्ज्वल पृष्ठपर हमें विजयलक्ष्मीकी अलौकिक आभा झलकती है। स्वतन्त्रतामें क्या क्या तिलस्म भरे हुए हैं इस बातके समझनेके लिए एथेन्सका इरानके युद्धके पश्चात्का इतिहास हमें पढ़ना चाहिए। एक विद्वानका मत है कि स्वाधीनताके उन्मेषमें फूले न समाकर एथेन्सवासियोंने थोड़ेही समयमें दर्शन काव्य और कलामें अनुपम उन्नति की। इस उन्नतिमें भाग लेनेवाले कुछ गिने चुने प्रतिभा-सम्पन्न मनुष्य ही नहीं किन्तु अधम और मध्यम श्रेणीकी जनता भी थी। स्वतन्त्रताके पुण्य संस्कारसे वे सभ्य बन गये और अपनी कृतियोंद्वारा अपना नाम इतिहासमें सुवर्णाक्षरोंसे अंकित किया। अतएव बहुतसी समकालीन जातियोंके लाखों मनुष्योंकी अपेक्षा दो हजार वर्ष पूर्वके मुट्ठीभर एथेन्सवासियोंको अब भी हम प्रेमपुष्पाञ्जलि समर्पण करते हैं *।

* "For any one but a pedant, this is why a handful of Athenians of two thousand years ago are more interesting than the millions of most nations our contemporaries."

MATHEW ARNOLD, DEMOCRACY.

# स्वतन्त्रताका इतिहास

हम आजकल पाश्चात्यसभ्यताका बहुतही गुणगान सुनते हैं। विजयी और स्वाधीन एथेन्स कहीं इस पाश्चात्य-सभ्यताका प्राण एवं सूत्रात्मा है। इस नगरकी उर्वरा भूमिमें ही इसका अङ्कुरोद्भव हुआ। पाश्चात्य लोगोंके विकासमें स्वतन्त्रताका आदर्शही मूल हेतु है। विज्ञान, धर्म, राजनीति और समाज इत्यादि सभीपर इस भावका गहरा प्रभाव पड़ा है। राज-काजमें हरेक पाश्चात्य व्यक्ति प्राचीन एथेन्सवासियोंकी भाँति भाग लेता है। अतएव वह स्वाश्रयी तथा अपने स्वत्वका रक्षक बन गया है। उसी स्वतन्त्रताके भावने उसके मस्तिष्कको परिष्कृत कर उसमें सदसद्विवेकवती शक्तिका बीजारोपण किया है। पाश्चात्य देशोंमें अनियन्त्रित बुद्धिबलसे विज्ञानके क्षेत्रमें सत्यकी खोज की गयी जिसका परिणाम यह हुआ कि अनेक युगके कुसंस्कार, मूढ़ विश्वास, कल्पित कथाएँ, जिनके कारण मानव ज्ञान-चक्षु तिमिराच्छन्न हो रही थी, सब छिन्न भिन्न हो गये। फिर बुद्धिका विमल स्रोत सत्यके प्रवाह-पथसे बहने लगा। आधुनिक सभ्यताने ये सब विचार-शैलियाँ और संस्थाएँ प्राचीन यूनानकी विचक्षण प्रजासे सीखी हैं*।

आजकल जिस वस्तुको हम पाश्चात्यभाव कहते हैं वह निःसन्देह यूनानकी प्राचीन संस्कृतिका पुनर्विकसित स्वरूप है। और जिसके कारण उस सभ्यताका विकास हुआ उसके मूलमन्त्र स्वराजका उद्घोष एथेन्स नगरसे ही चारो दिशामें फैला था।

उस स्वराजके नादसे हमारा देश भी युगयुगान्तरकी मोहमयी प्रमाद-निद्रासे जाग उठा है। सदियोंसे परवशताके कारण यह विगत चेतन सा हो गया है, इसके शरीरकी नाड़ियोंका रक्त शोषण निरन्तर हो रहा है। दुर्दैवके अनवरत आघातसे जर्जरित इसके अस्थिपञ्जरमें कहीं कुछ साँस मात्रही बाकी हैं। इसके महारोगकी एकही महौषधि और वह स्वतन्त्रता है। इसकी तृषासे हमारे होंठ सूख रहे हैं। इस आदर्शपरही हमारे मनकी तन्मयता है। हमारा प्राणरूप भृंग इसकी ओर इकटक आशा लगाये हुए है:—

**इहि आशा अटक्यो रहै, अलि गुलाबके मूल।**
**अइहैं बहुरि बसन्त ऋतु, इन डारिन वे फूल॥**

**गङ्गाप्रसाद मेहता।**

---

* "What we call the western spirit in our own day is really Hellenism reincarnate." And the Political freedom to which it owes its birth, though faintly present in many Hellenic cities, had no more splendid expression than in Athens."
E. R. BEVAN, THE HOUSE OF SELEUCUS.

# आचार्य्य चाणक्य

इस पत्रका नाम 'स्वार्थ' है। अतएव एक महास्वार्थपरायण और कूटनीतिके एक उद्भट आचार्य्यका कुछ हाल इसमें लिखना अनुचित न समझा जायगा। इस स्वार्थशिरोमणिका असली नाम तो विष्णुगुप्त था, पर आप चाणक्य भी कहाते थे। यह पिछला नाम ही आपके लिए विशेष सार्थक था ; क्योंकि आप अव्वल नम्बरके चाणाक्ष थे। बात यह थी कि आप प्राचीन नीति-शास्त्रवेत्ता चणकके वंशज थे। इसीसे आप चाणक्य भी कहाते थे। द्रोमिण, अंशुल, कौटिल्य आदि आपके और भी कितनेही नाम या उपनाम थे। माइसोरके एक विद्वानने एक अर्थशास्त्रका पता लगाकर उसे प्रकाशित किया है। उस प्राचीन अर्थशास्त्रके कर्त्ता कौटिल्य ही थे। विद्वानोंकी खोजसे मालूम हुआ है कि ये कौटिल्य और कोई नहीं, चाणक्य ही हैं। चाणक्यकी इस कौटिल्य उपाधिको भी कोई कोई पण्डित वंशसूचक मानते हैं। पर अधिकांश लोगोंकी राय है कि कुटिल शब्दसे ही इस कौटिल्य नामकी उत्पत्ति हुई है। चाणक्य कुटिल या कूट-राजनीतिके उपासक थे। इसीलिए ये कौटिल्य नामसे ख्यात हुए। जिन्हें इनकी कूटनीतिज्ञताका परिचय प्राप्त करना हो वे विशाखदत्त कवि कृत मुद्राराक्षस-नाटक देखें। उसमें उन्होंने ऐसे ऐसे दांव-पेच खेले हैं और अपने आश्रयदाता चन्द्रगुप्तके स्वार्थसाधनके लिए ऐसे ऐसे जाल बिछाये हैं कि जर्मनीके प्रिंस बिस्मार्क और इंगलिस्तानके सर एडवर्ड ग्रे, लार्ड कर्जन और स्वयं लायड जार्जकी अक्ल भी उन्हें देखकर चक्कर खाजाय। इसीसे अध्यापक विल्सनने चाणक्यको भारतका मेकियावेल कहा है।

चाणक्यजी महाराज, मगधके चक्रवर्ती राजा चन्द्रगुप्तके प्रधान अमात्य थे। उन्होंने चन्द्रगुप्तके प्रतिद्वन्द्वी ९ नन्दोंका नाश करके और उनके सहायक राजाओंका तरह तरहसे पराभव करके चन्द्रगुप्तको मगधदेशका राजसिंहासन प्राप्त कराया। विक्रम सम्वत्से कोई २६३ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्तको मगध देशका सिंहासन प्राप्त हुआ था। अतएव चाणक्य महात्माका भी स्थितिकाल यही समझना चाहिए। सो उनको हुए आज से २२ सौ वर्ष हो चुके।

मगधनरेश जरासन्ध पुरुवंशी थे। पुराणोंमें लिखा है कि इसके बाद ३७ राजाओंने मगधदेशपर शासन किया। तदनन्तर नन्द नामके राजाको मगधका सिंहासन मिला। उसने अपने प्रबल पराक्रमसे उत्तरी भारतका अधिकांश अपने शासनाधीन कर लिया। मकदूनियाके राजा सिकन्दरने जब भारतपर आक्रमण किया था तब राजा नन्दने अपार सेना लेकर उसका सामना करनेकी तैयारीकी थी। नन्दके ९ पुत्र थे। चन्द्रगुप्त भी उसीका पुत्र था। वह उसमें सबसे बड़ा था और गुणोंमें भी सबसे अधिक पर वह मुरा नामकी एक दासीसे उत्पन्न था। इसीसे वह मौर्य्य कहाता था और

दासी पुत्र होनेके कारण निरादरकी दृष्टिसे देखा जाता था। उसके भाई उससे घृणा करते थे और कभी कभी उसका अपमानतक करते न हिचकते थे अतएव चन्द्रगुप्त सदा दुखी रहता था; उसे अपना जीवन भारभूत जान पड़ता था।

महाराज नन्दके दो मंत्री थे। एकका नाम राक्षस और दूसरेका शकटार था। नन्द बड़ा क्रोधी था। वह ज़री ज़रीसी बातपर बिगड़ उठता था। एक बार शकटारसे कुछ भूल हो गयी। इसपर नन्दने बड़ीही विकराल मूर्ति धारण की। उसकी बुद्धि ठिकाने न रही। उसकी विवेकशक्ति जाती रही। वह क्रोधसे पागल हो उठा। शकटारको उसने कैद कर दिया। उसके परिवारको भी उसने न छोड़ा। सबको उसने शकटारके साथही कारागरमें बन्द कर दिया। उन लोगोंके खाने पीनेका भी प्रबन्ध उसने ठीक ठीक न किया। परिणाम यह हुआ कि शकटारके सभी कुटुम्बी धीरे धीरे एक एक करके, कालके ग्रास हो गये। पर शकटार किसी तरह जीवन धारण करके बच रहा और भाग निकलनेका मौका देखता रहा। बहुत दिनों बाद उसे मौका मिल गया। और वह नन्दके कारागरसे भाग निकला। इस बीचमें नन्दकी क्रोधाग्नि भी कुछ कुछ शान्त हो चुकी थी। शकटारके परिवारके नाशका कारण वही था। इससे भी उसे परिताप हो सकता था। अतएव शकटारका अपराध क्षमा करके उसने उसे फिर अपना मन्त्री बनाया। पर अपने कुटुम्ब नाशके कारण शकटारके हृदयमें प्रचण्ड द्वेषज्वाला जल रही थी। यह दुःख उसे काँटेकी तरह चुभ रहा था। इस कारण वह राजा नन्द से बदला लेनेकी फिक्रमें रहने लगा।

एक दिनकी बात है कि शकटार कहीं जा रहा था। जगह निर्जन थी। उसने देखा कि गड़ामडील काला काला ब्राह्मण एक जगह कुश नामक घासको ज़मीनसे खोद खोद कर बाहर फेंक रहा है। एक तिनका भी उससे गड़ानहीं रहने पाता। इसपर उसे आश्चर्य हुआ। ब्राह्मणके पास आकर उसने पूछा—"महाराज, आप कौन हैं और माजरा क्या है? क्यों आप इन कुशोंके इतना पीछे पड़े हुए हैं?" यह सुनकर उस ब्राह्मणने उत्तर दिया—"महात्मन्, मेरा नाम विष्णुगुप्त है। मैं ब्राह्मण हूँ। ये कुश बड़ेही परपीड़क हैं। एक कुश मेरे पैरमें छिद गया। उससे मुझे बहुत कष्ट हुआ। इस कारण मैंने प्रतिज्ञाकी है कि इनका वंशनाश करके इनको एक दम जड़से उखाड़ कर कल करूँगा"। ब्राह्मणकी यह प्रतिज्ञा सुनकर शकटार मनहीं मन बहुत प्रसन्न हुआ। वह समझ गया कि यह ब्राह्मण बड़ाही दृढ़ प्रतिज्ञ और अध्यवसायशील है। यदि यह किसी प्रकार राजा नन्दपर क्रुद्ध हो जाय तो मेरा काम बन जाय। यह सोचकर वह चाणक्यको अपने घर ले आया और बड़े आरामसे उसे रक्खा।

कुछ दिन बाद राजा नन्दके पिताके श्राद्धका समय आया। राजाने अपने दूसरे मन्त्री राक्षससे कहा कि एक सुपात्र ब्राह्मण ढूँढ़ लाओ। इसकी ख़बर शकटारको भी हो गयी। उसने बिना राजा या राक्षसको सूचना दिये चाणक्यका आमन्त्रण कर दिया और यथासमय श्राद्धशालामें लाकर उसे बिठा दिया। यह करके आप वहाँसे रफूचक्कर हो गया।

# स्वार्थ

उधर राक्षस एक और ही ब्राह्मणका वरण कर चुका था। यज्ञशालामें आकर उसने देखा कि एक अपरिचित ब्राह्मण आसनपर डटा हुआ है। यह उसे बहुत नागवार गुजरा। मगर उठादेनेका साहस उसे न हुआ तब उसने राजाको खबर दी। राजा ठहरा महा क्रोधी। उसने कहा—'निकाल बाहर करो इस बिना बुलाये आये हुए ब्राह्मणको।" राजाज्ञा सुनतेही राजाके सिपाहियोंने चाणक्यकी चोटी पकड़ी और अर्द्धचन्द्र देते हुए उसे श्राद्धशालासे निकाल बाहर किया। चाणक्यकी शिखा बँधी हुई थी। सिपाहियोंके हाथ लगानेसे उसकी गाँठ खुल गयी।

समझमें नहीं आता। यह सब कैसे हुआ। चाणक्यने कहा क्यों नहीं कि मैं शकटारका निमन्त्रणपाकर आया हूँ। और जब उससे उठ जानेके लिए कहा गया तब वह चुप चाप क्यों न चल दिया। चोटी पकड़नेकी नौबत कैसे आयी। खैर, उस जमानेकी पुरानी बातोंका ठीक ठीक पता लगना अब एक प्रकारसे असम्भव सा है। जो कुछ पुरानी पोथियोंमें लिखा है वह वैसाही है जैसा यहाँपर बयान किया गया। अस्तु।

जिस तरह भयंकर सर्प कुचल जानेपर फनफना उठता है और अग्नि घृताहुति पाकर प्रज्वलित हो उठती है उसी तरह तेजस्वी चाणक्य भी राजासे अपमानित होकर, क्रोधसे जल उठा। उसका शरीर काँपने लगा। उसकी आँखोंसे क्रोधकी चिनगारियाँ निकलने लगीं। उसने जमीनपर जोरसे लात मारकर सबके सामने प्रतिज्ञा की—"अरे पापात्मा, तूने अकारणही मेरा अपमान किया। इसका फल तुझे मैं चखाऊँगा। जब तक मैं नन्दवंशको जड़से न उखाड़ फेकूँगा तबतक, देख, यह खुली हुई शिखा मैं न बाँधूँगा"। यह कहकर परम तेजस्वी चाणक्य चल दिया। उस समय उसकी काली काली शिखा काली नागिनकी तरह हिलने लगी।

चाणक्यका क्रोध देखकर शकटार समझ गया कि मेरा मनोरथ सिद्ध होगया। चाणक्यकी रुद्रमूर्तिका कोपानल उसने और भी प्रज्वलित कर दिया। उसने राजा नन्दके दोषों और दुर्गुणोंका वर्णन बड़ेही विस्तारसे किया। नन्दके सब प्रकारके छिद्र चाणक्यको मालूम हो गये। शकटारने उधर चन्द्रगुप्तको भी मिला रक्खा था। अपने भाइयोंके अनुचित कठोर अत्याचारोंके कारण वह बहुतही तंग आरहा था। कोई दिन ऐसा न जाता था कि उसे मर्माहत न होना पड़े। बड़ी कठिनतासे उसके दिन कटते थे। ऐसे समयमें शकटारके द्वारा उसे चाणक्यके कोप और हठत्वका समाचार ज्ञात हुआ। शकटारकी प्रेरणासे वह चाणक्यकी शरण आया। उसने चाणक्यकोही दुःखसागरसे उद्धार करनेका एक मात्र साधन समझा। चाणक्यने भी उसका साथ देनेकी प्रतिज्ञा की। उसने प्रण किया कि नन्दोंका समूलोन्मूलन करके मगध देशके राज्यसिंहासनपर मैं चन्द्रगुप्तहीको बिठाऊँगा।

आपसमें सलाह करके चन्द्रगुप्त और चाणक्यने नगर छोड़ दिया। वे दोनों तपोबनमें जाकर रहने लगे। वहाँ मन्त्रणा करके उन्होंने म्लेच्छोंके राजा पर्वतेन्द्रसे सहायता माँगी। शर्त यह हुई कि यदि युद्धमें विजय प्राप्त हो तो आधा राज्य पर्वतेन्द्रको मिले।

चाणक्यने प्रधान अमात्य बनकर शीघ्रही समरानल प्रज्वलित करा दिया। उसने ऐसे ऐसे जाल बिछाये और कूटनीतिके ऐसे ऐसे विकट खेल खेले कि प्रतिपक्षियोंके छक्के छूट गये। वह क्या कर रहा है, किस तरह कर रहा है, किसे किस कामपर नियुक्त कर रहा है इसका किसीको पताही न चला। चाणक्यके कौशलरूपी सुदर्शनचक्रने नन्दोंका दर्प-द्रुम टुकड़े टुकड़े करके काट फेंका। उनका राजासन चूर्णविचूर्ण होकर मिट्टीमें मिल गया। नन्दकी पताका गिरकर चन्द्रगुप्तके पैरोंकी ठोकरें खाने लगी। चाणक्यकी चातुरीसे चन्द्रगुप्तके प्रतिपक्षी एक एक करके सभी मारे गये। नन्दके मन्त्री राक्षसने चाणक्य-का नाश करनेकी बड़ी बड़ी योजनाएँ कीं। परन्तु उसे सफलता न हुई। चाणक्यने अपने अद्भुत बुद्धिबलसे नन्दवंशका नाशही करके कल ली। तब कहीं दुस्तर प्रतिज्ञासागरके पार होकर उसने अपनी शिखा बाँधी। चन्द्रगुप्तको उसने मगधदेशका चक्रवर्ती राजा बना दिया और आप उसका प्रधान अमात्य हुआ। ये सब घटनाएँ किस प्रकार घटित हुई, यह जाननेकी इच्छा जिसे हो वह मुद्राराक्षस नाटक देखकर जान सकता है।

और सब विपक्षियोंको तो चाणक्यने ठिकाने लगा दिया, एकमात्र अमात्य राक्षस बच रहा। वह चन्द्रगुप्तको अपदस्थ करनेकी फिक्रमें रहता था। अतएव उसके जीवित रहते न चन्द्रगुप्तही सुखकी नींद सो सकता था और न चाणक्यही। उसकी योग्यता, नीति-निपुणता, प्रभुभक्ति, कर्तव्यपरायणता आदि देखकर चाणक्य उसपर मनही मन मुग्ध भी था। वह सोचता था कि यदि किसी तरह वह भी चन्द्रगुप्तका पक्षपाती हो जाय तो काम बन जाय। इस उद्देशकी सिद्धिके लिए उसने बड़ेही अजीब अजीब ढोंग रचे। औरोंको दिखानेके लिए उसके सहायक उसे छोड़ छोड़कर चले जाने लगे। इसपर, आप जानते हैं, चाणक्यने क्या कहा। वह बोला--

**ये याताः किमपि प्रधार्य हृदये पूर्वं गता एव ते**
**ये तिष्ठन्ति भवन्तु तेऽपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः।**
**एका केवलमर्थसाधनकरी सेनाशतेभ्योऽधिका**
**नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मागान्मम॥**

अर्थात्--जो लोग मुझे छोड़कर चले गये वे तो पहिलेही चले गये। न मालूम क्या समझकर उन्होंने ऐसा काम किया। ख़ैर, गये सो गये। जो रह गये हैं वे भी चले जानेकी तैयारी करें। मैं उनको भी न रोकूँगा। मगर वे याद रक्खें कि मेरी अकेली बुद्धिही सेनाकी सैकड़ों बटालियनोंके बराबर है। उसीसे मेरा काम निकल जायगा। उसीने तो नन्दवंशका नाश करके अपने बल पौरुषका प्रताप दिखाया है। क्या लोग उसे नहीं देख चुके? बस जिसे जाना हो खुशीसे चला जाय। मेरी बुद्धि तो कहीं न जायगी। वह तो रहेगी। उसीसे मैं अपनी कार्य्य-सिद्धि कर लूँगा।

राक्षसको चाणक्य क्यों और किसतरह अपने वशमें कर लेना चाहता था, इसका कारण विशाखदत्तने यह बताया है--

# स्वार्थ

यदि भृशमभियुक्तः सोऽभ्युपेयाद्विनाशं
ननु वृषल वियुक्तस्तादृशेनापि पुंसा।
अथ निजबलमुख्यान् नाशयेत् सापि पीड़ा
वनगज इव तस्मात् सोऽभ्युपायैर्विनेयः॥

चाणक्य चन्द्रगुप्तसे कहता है—भैय्या, राक्षसपर अधिक बल प्रयोग करना ठीक नहीं। क्योंकि यदि वह मारा गया तो हम लोग वैसे नर रत्नसे वञ्चित हो जायँगे। और यदि वह इसी तरह छोड़ दिया गया तो सम्भव है वह हम लोगोंके बलका नाश कर डाले। यह भी दुःखकी बात होगी। इससे बेहतर यह होगा कि हम लोग उसे साम दान भेद आदिके द्वारा उसीतरह अपने वशमें करलें जिस तरह कि जंगलसे पकड़ लाया गया हाथी धीरे धीरे वशमें कर लिया जाता है।

चाणक्यको इसमें सफलता हुई। राक्षसको उसने अपने जालमें फाँस लिया। वह चाणक्यके वशमें हो गया। तब उसे चन्द्रगुप्तका प्रधान अमात्य बनाकर आचार्य्य चाणक्य तपोवनको पधार गये।

चाणक्यके नामसे राजनीति विषयक एक छोटासी पुस्तक प्रचलित है। उसका हिन्दी अनुवाद भी हो गया है। यह पुस्तक है तो छोटी, परन्तु इसके छोटे छोटे श्लोकोंमें बड़ीही सुन्दर नीतिका वर्णन है। इसके अनेक श्लोक सुभाषित प्रेमियों और संस्कृत पण्डितोंके कण्ठका हार हो गये हैं। चाणक्यके सदृश अद्भुत राजनीतिज्ञके किसी और ग्रन्थके अस्तित्व-का ज्ञान अबतक किसीको न था। पर भारतवासियोंके सौभाग्यसे उनके "अर्थशास्त्र" नामक एक और भी बड़ेही महत्वपूर्ण ग्रन्थका पता लगे कुछ समय हुआ। उसका पताही नहीं लगा। वह प्राप्त भी हो गया और छप कर बिकने भी लगा। उसका सारांश अंगरेजीमें भी प्रकाशित हो गया है और आजतक उसके सम्बन्धमें, अंगरेजी और बंगला आदि भाषाओंमें, अनेक लेख भी निकल चुके हैं। नामतो उसका अर्थशास्त्र है, पर आजकलके विचारों-के अनुसार उसे राज्यशासन शास्त्र कहना चाहिए। दो ढाई हजार वर्ष पूर्व भारतमें राजाओंके क्या कर्तव्य थे, वे अपने अधीन देशोंका शासन किस प्रकार करते थे, प्रजाके सुखदुःखका वे कितना ख्याल रखते थे, उनके राज्यके अन्तर्गत गावों, कसबों और नगरोंके शासनकी क्या प्रणाली थी—इत्यादि, बातोंका इस ग्रन्थमें बड़ाही विशद वर्णन है। जिन अनेक बातों-को हम पश्चिमी सभ्यताकी उपज समझते हैं उनमेंसे कितनीही उस समय भारतमें विद्यमान थीं। यदि कोई महाशय इस ग्रन्थका अनुवाद सरल हिन्दीमें करनेकी कृपा करें तो बड़ा काम हो।

**महावीरप्रसाद द्विवेदी।**

---

# नयी कृषि

रतवर्ष कृषिप्रधान देश है। उसके तीन चौथाई निवासी कृषिके पेशेसे ही अपनी जीविका प्राप्त करते हैं और यदि ग्रामोंमें रहनेवाले बढ़ई लोहार बंजारे चमार कहार आदि लोग जो कृषकोंको उनके काममें सहायता देते और भूमिकी उपजका भाग लेते हैं शामिल किये जायँ तो ६० प्रतिशतक लोग खेती बारीसे ही गुजारा करनेवाले होंगे। इसकी प्रधानता और व्यवसायकी शोकमय न्यूनतासे भारतवर्ष दुष्कालोंका शिकार और दरिद्रताके पङ्कमें पड़ा हुआ सड़ रहा है। क्या सारा दोष राज्यका है, या हमारे स्वभावका भी कुछ दोष है? मेरी सम्मतिमें तो हमाराही दोष अधिक है। हम इतने अनुन्नतिप्रिय हो गये हैं कि जो विधियाँ और जो औजार हमारे पूर्वज सहस्रों वर्ष पूर्व प्रयोगमें लाते थे वही हम आज भी प्रयोग कर रहे हैं। लंदनके ब्रिटिश म्युजियममें प्राचीन मिश्रके खेतीके औजार पड़े हैं। लकड़ीका हल, दांती, दो लकड़ियाँ, चमड़ेके पट्टेसे बाँधी हुई और बैलोंके सींगोंसे लटकने वाले तागेके लटकन। ऐसे ही कुछ सामान मानचेस्टरकी अद्भुतशालामें दिखाये गये हैं। इन्हीं सामानोंका दो तीन हजार वर्ष पूर्व हम उपयोग करते थे। चाणक्यके अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, मानव धर्मशास्त्रमें कृषिके वर्णनसे सादे औजारोंका पता लगता है। आज भी हम वही औजार, वही मुरदे बैलोंकी गाड़ियाँ और वही विधियाँ फसल बोने, उगाने और काटनेमें प्रयोग करते हैं दो तीन हज़ार वर्षोंमें क्या उन्नति इस विषयमें की गयी है? जब सारा यूरोप और अमरीका नयी विधियोंसे काम कर रहा है हम उनका प्रयोग क्यों नहीं कर सकते?

क्या यह लज्जाकी बात नहीं कि एक एकड़ भूमिपर हम केवल ११ बुशल अन्न पैदा करते हैं तो इंगलिस्तान वाले ३३ और डेन्मार्क वाले ४४ बुशल पैदा करते हैं? बेलजियममें ३७ और जर्मनीमें ३१ बुशल पैदा होता हो? नये देशोंमें जैसे न्यूज़ीलैंडमें २६ और कनाडामें २६ बुशल पैदा किया जाता है। जब अन्य देशोंके लोग हमसे तिगुना चौगुना उपज पैदा करते हैं तो हम क्यों उन विधियोंसे वञ्चित रहकर अपने तईं दुःख और दरिद्रताके भागी बन रहे हैं? जहाँ पश्चिमके लोग विज्ञानके नये नये आविष्कारोंसे लाभ उठानेमें चौकन्ने रहते हैं, वहाँ हम अपनी आँखें मूँद और कान बहरे करके बैठे हुए हैं। हमलोग पश्चिमकी उन्नतिकी बातोंकी ओरसे मुरदोंकीसी शून्यता धारण किये हुए हैं। वहाँकी खराब बातोंकी तो झट नकल करते हैं किन्तु जो अच्छी बातें हैं उन्हें सीखनेका विचारतक नहीं करते। क्या जापानमें जातीयताका कम जोश है जो वह पश्चिमियोंकी सब नयी नयी विधियोंके प्रयोगमें अग्रसर हो रहा है? यदि युद्धक्षेत्रमें मशीनगनोंसे रक्षित सेनाका मुकाबला लाठियोंसे संग्राम करनेवाली सेनासे नहीं हो सकता तो क्या आर्थिक क्षेत्रमें तीन हजार वर्ष पूर्व या विज्ञानकालसे पूर्वकी विधियों और औजारोंसे पश्चिमका मुकाबला कृषि, व्यवसाय या व्यापारमें हो सकता है? केवल मुकाबलेका ही प्रश्न नहीं है। बल्कि अपने जीवनको सुखी बनाने और देशजातिकी उन्नतिका पवित्र प्रश्न है।

# नयी कृषि

क्या किसान लोग और क्या हमारे ज़मींदार, दोनों अकर्मण्यता और उपरामताका जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जहाँ कृषिमें तीसरा या चौथा भाग हम पैदा करते हैं वहाँ पशु-पालनकी भी दुर्दशा है। सारी हिन्दूप्रजा गौकी पूजा करती है और क्या हिन्दू और क्या इतर जन सभी गौ भैंसोंके दूधसे शरीर रक्षा करते हैं। पर इस विषयमें भी कोई उन्नति नहीं। न हम गौवोंकी संख्या ( प्रति सहस्र जन संख्याकी दरसे ) में अन्य देशोंसे बढ़े हुए हैं, न दूधकी उत्पत्तिमें। इंगलिस्तानमें प्रतिदिन ५ सेर दूध देना प्रति गौ (मध्यम तौरपर) के लिए साधारण बात है, २० सेर तक दूध देने वाली गायें हैं। थोड़ा ही समय बीता है कि एक गौ ५००० पाउण्डमें अर्थात् ७०,००० से ७५,००० रुपयेमें बिकी थी, क्या वह लोग पागल हैं जो ७५ हज़ार रुपये एक गौके लिए देते हैं? क्या ऐसी गायसे वह इतना या उससे अधिक धन नहीं कमाते? क्या कृषिप्रधान और गौका सम्मान करनेवाले भारत देशमें कोई ऐसी मिसाल गौकी कीमतकी है? पश्चिमके लोगोंमें उन्नतिकी धुन है। वह अपनी और अपनी जातिकी उन्नति करनेमें लीन हैं। जिस काममें लगते हैं उसीमें कमाल कर दिखाते हैं। कुत्तोंके पालनेमें भी किसीसे पीछे नहीं रहते। आज कल लंदनमें कुत्तोंकी प्रदर्शनी हो रही है एक कुत्ते की कीमत ३००० पाउण्ड, लगभग ४५,००० रुपया माँगी जा रही है।

जिस किसी बातको लो उसी में आविष्कार और उन्नतिकी चिन्ता है, उसीमें दूसरोंसे बढ़ कर परिणाम दिखानेकी प्रौढ़ इच्छा है। आधा टुकड़ा खाकर और ठंढा पानी पीकर और लँगोटी बाँधकर रहनेसे जो आदमी गृहस्थ होता हुआ सन्तोष करता है वह महा पापी है। वह सारी जातिको भी अपने साथ दुःखके गढ़ेमें घसीटकर ले जाता है। झूठा संतोष त्यागकर, उन्नतिके लिए तत्पर होकर काम करनेसे, कल्याण होगा, नहीं तो आर्थिक दासता राजनैतिक दासतासे अधिक गिरानेवाली होती है। अतः शीघ्र संभलना चाहिए।

**बालकृष्ण।**

# यूनानियोंके राजनैतिक विचार

यूनान देश यूरोप महादेशमें अति गौरवान्वित देश है। सभ्यताकी ज्योति पहिले पहिल यहीं फैली थी। यूनानका इतिहास सुक्रात, प्लैटो, या अरस्तू ऐसे प्रसिद्ध दार्शनिक और तत्ववेत्ताओंके नामसे भूषित है। यह भूमि पाश्चात्य सभ्यताकी जननी कही जा सकती है। बैरन आदि अंगरेजी कवियोंने इस देशकी महिमा मुक्तकण्ठसे गाई है। जिस प्रकार यहाँ अन्य कला और विज्ञान आविर्भूत हुए हैं उसी प्रकार राजनैतिक विचारका भी सूत्रपात सर्व प्रथम यहाँही हुआ है। यदि हम यह अन्वेषण करना चाहें कि राजनैतिक विचार सर्व प्रथम यहाँके मनुष्योंके मस्तिष्कमें क्यों आये। तो, इस विषयको समाधान करनेवाली पहिली बात जो हमारे दृष्टि-पथमें आएगी वह इस देशकी स्थिति होगी। यह देश पहाड़ और ऊँची भूमिसे प्राकृतिक रूपमें अनेक खण्डोंमें विभक्त है, जो एक दूसरेसे पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। इन भिन्न भिन्न खण्डोंके अधिवासियोंने अपना अलग अलग स्वतन्त्र साम्राज्य बना लिया। इसप्रकार सदा स्वतन्त्र रहनेके कारण उनके मस्तिष्कमें स्वतन्त्र विचार उत्पन्न होते रहे।

द्वितीय कारण जो देखनेमें आता है वह यूनानियोंकी विचार विचित्रता है। यूनानियोंके विचार सांसारिक और व्यावहारिक थे। भारतवासियोंके ऐसा यूनानी लोग प्रत्येक बातको विश्वासके ही आधारपर नहीं मान लेते थे। उनकी सामाजिक किम्वा प्राकृतिक वस्तुकी विलक्षणता केवल ईश्वरीय शक्ति एवं मायाही नहीं जान पड़ती थी। प्रत्येक बातोंके कार्य्य कारणका पता लगाये बिना उन्हें सन्तोष न होता था। उनका मस्तिष्क इस भाँति नहीं बना था कि वे इस संसारकी सभी बातोंको विश्वास करलें और उन्हे श्रद्धासे देखें। वे अहर्निशि विचार क्षेत्रमें विचरण करते और तर्कके आलोकसे सभी वस्तुओंकी आलोचना किया करते थे। चाहे जोहो, पर यह प्रत्यक्ष है कि यूनानियोंके धर्म-विश्वासका बन्धन ढीला था। इसप्रकार पूर्वीय लोगोंके सदृश वे मानुषिक अल्पज्ञता, हीनता एवं असमर्थताके कायल न थे। वे इस अगम्य और अथाह संसारमें अपनेको एक क्षुद्र कणिका नहीं समझते थे। प्रत्येक यूनानियोंको अपनी आत्म-निर्भरतापर पूरा भरोसा था। इस प्रकार वह अपनेको, अपने समाज और पूर्ण अनुभवसे अलग समझता था, और उनपर एक समालोचकके समान दृष्टि रखता था। इस भाँति व्यक्तिगत महत्व यूनानियोंके राजनैतिक विचार बढ़ानेका आदि कारण हुआ।

इस भावके व्यावहारिक और वैज्ञानिक दोनों ही परिणाम हुए और इनको कार्य्यमें परिणत कर यूनानियोंने एक स्वशासित समाजके 'स्वतन्त्र नागरिक' का ज्ञान प्राप्त किया, जो यूनानी नागरिक साम्राज्य ( सिटी स्टेट ) का मूल मन्त्र कहा जा सकता है। चाहे इस विषयमें यूनानियोंको जो दोष लगाया जाय कि वे पूर्णके सामने अंशका कुछ ख्याल नहीं करते थे, लेकिन तौभी हरएक यूनानी राजनैतिक जीवनमें हस्तक्षेप कर सकता था। यूनानी

'सिटीस्टेट'में हरएक व्यक्ति यद्यपि एक दूसरेके प्रतिरूप न थे पर समान अवश्य थे और सभोंका ध्येय समान और एक ही था। यहाँपर मनुष्य थे जो साम्राज्यसे अलग थे, पर एक साथ वेही साम्राज्यका संगठन करने वाले थे और इस प्रकारके प्रश्न उठ खड़े हुए कि सब मनुष्योंके स्वत्व क्या समानही होने चाहिएँ? क्या प्रकृतिने सब मनुष्यको समानही बनाया है? या, यदि विभिन्नता है तो कैसी? साम्राज्यके क्या अधिकार हैं? इत्यादि, और इन प्रश्नोंके हल करनेमें यूनानियोंने जो यत्न किये वेही यत्न और विचार उनको राजनैतिक विचारकी वृद्धि करनेमें सहायक हुए।

तीसरा कारण जो यूनानी राजनैतिक विचारके प्रवर्द्धनमें सहायक हुआ वह यूनानी सिटीस्टेटका स्वरूपही है। सिटीस्टेटका स्वरूप स्थिर नहीं रहा, वरन् इसने कितनेही परिवर्तन और आन्दोलन देखे। स्पार्टा, यूनानी संसारका एक ही राज्य था जिसमें अवाधित रूपसे बहुत कालतक एक ही प्रकारका शासन रह गया था। अन्य नगरोंमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही जिसका सर्वत्र एक ही क्रम रहा, अर्थात् राजकतासे अरीस्ट्रोक्रेसी (अल्प संख्यक शासन), अरीस्ट्रोक्रेसीसे निरंकुश शासन, फिर निरंकुश शासनसे प्रजातन्त्र। इन परिवर्तनोंसे राजनैतिक विचारकी उन्नतिमें दो प्रकारसे सहायता पहुँची। इतिहासने भिन्न भिन्न प्रकारके शासनपद्धतिको सामने रख अन्वेषण करनेके लिए यथोचित सूत्रोंका संग्रह किया। इस प्रकार तुलना करने, वाद विवाद करनेका पूरा अवसर मिला, जो एक ही प्रकारके राज्य होनेसे नहीं हो सकता था। इन भिन्न भिन्न शासनपद्धतियोंके कारण भिन्न भिन्न राजनैतिक सिद्धान्त निरूपित हुए। प्रत्येक पक्षवालोंने अपनी अपनी शासनपद्धतिको आवश्यकीय एवं श्रेष्ठ प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया, जिससे भिन्न भिन्न राजनैतिक विचार प्रादुर्भूत हुए।

यूनानी नगर-साम्राज्य राजनैतिक विचार वृद्धिके लिए केवल कुछ ऐतिहासिक तुलनाओंको ही देकर न रह गया, वरन् उसने दूसरी रीतिसे भी राजनैतिक विचारमें सहायता दिया। नगर-साम्राज्य एक ही नहीं वरन् अनेक थे और प्रत्येककी शासनप्रणाली भिन्न भिन्न थी। प्रत्येक राज्य एक दूसरेके अति समीप थे और हरएक राज्यमें साम्राज्यका अर्थ भिन्न लगाया जाता था, अतएव लोगोंमें यह विचार पैदा हुआ कि साम्राज्यका वास्तविक स्वरूप क्या होना चाहिए? एथेन, थीव स्पार्टामें नागरिकके भिन्न भिन्न गुण और विशेषण थे। इस प्रकार यह भी प्रश्न लोगोंके दिलमें खटका कि 'नागरिक'का सच्चा अर्थ क्या है? ऐसे अवसरपर ऐसा प्रश्न भी उठना स्वाभाविकही है कि सबसे श्रेष्ठ शासन और सबसे उत्तम साम्राज्य क्या है? ऐसी दशामें मनुष्य एक आदर्श राज्यकी खोजमें लग जायँगे, और जब एक ऐसे साम्राज्यका रूप वे लोग सोच लेंगे तो वर्त्तमान राज्योंकी शासन-प्रणाली और स्वरूपको उससे तुलना करेंगे और देखेंगे कि वर्तमान राज्योंमें कौनसा राज्य सर्वश्रेष्ठ है वा नहीं है। इस प्रकारका अन्वेषण इस बातको ध्यानमें रखते हुए बिलकुल स्वाभाविक जान पड़ता है कि प्रत्येक यूनानी अपने साम्राज्यका अपनेको एक अंश समझता

था। नगर-साम्राज्य इतना छोटा था कि प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन राष्ट्रके जीवनमें अनुभव करता था। हरएक नगरको अपनी एक विशेषता थी और हरएक नगर एक नैतिक पुरुष समझा जाता था और उस नगरका प्रत्येक नागरिक अपने जीवनका एक मात्र कर्त्तव्य अपने नगरकी स्वतन्त्रताकी रक्षा करना समझता था। इसप्रकार सर्वदा प्रत्येक नागरिक अपने नगरको दूसरे नगरसे श्रेष्ठ मानता था। वास्तविक श्रेष्ठता जाननेके लिए जो वाद विवाद होता था उसने भी राजनैतिक विचारको बढ़ानेमें सहायता दिया।

इस प्रकार यह देखनेमें आता है कि नगर-साम्राज्यके कारण निम्नलिखित तीन प्रकारसे यूनानी राजनैतिक विचारको सहायता पहुँची—

**प्रथम**। नगर-साम्राज्य एक स्वशासित समाज था, जिसके कारण समाज और व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धके अन्वेषणकी आवश्यकता हुई।

**द्वितीय**। नगर साम्राज्य समय समय पर परिवर्तित होता गया, जिससे यथोचित सूत्र प्राप्त हुए। जिनके आधारपर राजनैतिक विचार कायम किये गये।

**तृतीय**। बहुतेरे नगर-साम्राज्य अपने भिन्न प्रणालीके साथ तथा समीप होनेके कारण तुलना करनेका अवसर पाते रहे। और इस तरह सर्व श्रेष्ठ शासन प्रणाली कौन है इसको निर्धारित कर सके।

यहाँतक यूनानी राजनैतिक विचारके कारण निश्चित हुए, आगे हम इसका रूप तथा विशेषता दिखानेकी चेष्टा करेंगे।

यूनानी लोग नगर-साम्राज्यको एक 'सदाचार प्रवर्त्तक समाज' मानते थे और नीति-शास्त्रको ऐसेही एक समाजका विज्ञान जानते थे। अतएव यूनानियोंको नीतिशास्त्र अधिकतर 'कर्त्तव्यशास्त्र' के रूपमें दीख पड़ता था। शासनपद्धति भी अरस्तूको साम्राज्य जान पड़ा। शासन-पद्धति केवल पदोंका वितरणही नहीं है वरन जीवनका सदाचार भी है। यह कानूनी ढाँचेसे कुछ अधिक है और यह जीवात्मक सदाचार है। अतएव एक यूनानी नीतिशास्त्रज्ञ अवश्यही राजनीतिशास्त्रको कर्त्तव्यशास्त्रकी दृष्टिसे देखेगा। वह, नीतिशास्त्रके बारेमें केवल कानूनी शब्दोंमेंही नहीं कहेगा, वरन् सदाचारिक दर्शनशास्त्रके रूपमें इसे अभिव्यक्त करेगा। नीतिशास्त्र उसके लिए समूचे समाजका कर्त्तव्य समूह जान पड़ेगा। अतएव इस शास्त्रको यह बतलाना चाहिए कि सम्पूर्ण समाजका कल्याण, क्या है? और इसे यह भी बतलाना चाहिए कि किस नियमके संगठनसे यह सामाजिक कल्याण प्राप्त किया जा सकता है, तथा इसे विशेष रूपसे अपनानेके लिए कौनसे कार्य्य करने चाहिएँ? यूनानियोंकी दृष्टिमें व्यक्तिका कल्याण समाजका कल्याण है। और व्यक्तिका धर्म और गुण वेही होने चाहिएँ जो समाजके हैं। व्यक्ति और समाजके सदाचारमें कुछ भी अन्तर नहीं है। इसप्रकार अरस्तूके लिए नीतिशास्त्र सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्यशास्त्र है। जब यह कहा जाता है कि अरस्तूने कर्त्तव्यको नीतिसे पृथक किया है तब इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि उसने कर्त्तव्यशास्त्रको नीतिशास्त्रसे बिलकुल विभिन्न माना है, इसका अर्थ केवल यही है

कि उसने व्यक्तिगत मानसिक अवस्थाको स्थिर, और सामाजिक गुण और मानसिक दशाको परिचालक शक्ति माना है। इसप्रकार अरस्तूके विचारसे सदाचारशास्त्र और नीतिशास्त्रमें एकता है और दोनोंहीका सम्बन्ध कानूनशास्त्रसे है। क्योंकि राष्ट्रके जो नियम कर्त्तव्या-कर्त्तव्य निरूपणके हैं वे ही कानून हैं और वेही स्वत्व हैं। सामाजिक नियम और नैतिक नियममें कोई अन्तर नहीं है। इसप्रकार यूनानियोंका नीतिशास्त्र त्रिगुणात्मक है। यह राष्ट्रका विज्ञान है, पर साथही साथ सदाचार और कानूनका भी शास्त्र है।

नीतिशास्त्रके इस स्वरूपने यूनानियोंको एक विशेष प्रकारका विचार धारण करनेके लिए बाधित किया जो आधुनिक विचारसे नितान्त भिन्न है। यद्यपि प्रत्येक यूनानी यह समझता था कि उसे उसकी योग्यतानुसार राष्ट्रमें सदा भाग प्राप्त है तथापि यह बात स्पष्ट है कि यूनानी नीतिशास्त्रमें व्यक्ति विशेषका स्थान ऊँचा न था। स्वत्व या अधिकारका ज्ञान उन्हें अति अल्प था। इसका कारण यह हो सकता है कि प्रत्येक यूनानी अपने जीवनको राष्ट्रके जीवनसे अलग नहीं समझता, अतएव राष्ट्रके प्रतिकूल अपना अधिकार प्राप्त करनेका विचार उसे कभी नहीं होता। यूनानमें यह इच्छा की जाती थी कि व्यक्ति विशेषका सब कार्य्य राज्यकी ही ओरसे किया जाय। यूनानी लोग बहुत चाहते थे कि उनके हरएक काम जैसे कि विद्याप्रचार, व्यायाम, इत्यादि सभी राज्यकी ओरसे किये जायँ। किसी किसी नगर-साम्राज्यमें खानेका प्रबन्ध भी राष्ट्रकी ही ओरसे होता था। पर आजकल हम इसप्रकारके राष्ट्रीय हस्तक्षेपके घोर विरोधी हैं। हम लोग यही समझते हैं कि राष्ट्रके काम केवल निषेधात्मक होने चाहिएँ। हमलोगोंकी इच्छा यह होती है कि हमलोगोंको आनन्दपूर्वक जीवन यापन करनेमें जो विघ्न बाधाएँ हैं उन्हें सरकार हटा दे। यह नहीं चाहते कि हमारे हरएक घरेलू और बाहरी कामोंमें सरकारी हस्तक्षेप हुआ करे। हमलोग व्यक्ति विशेषसे आरम्भ करते और यह समझते हैं कि उसे कुछ स्वत्व और अधिकार प्राप्त है। और, सरकारका काम केवल उन स्वत्वों और अधिकारोंकी रक्षा करना है। पर यूनानी लोग सरकारी हस्तक्षेपको सीमाबद्ध करनेके लिए तनिक भी उत्सुक न थे। व्यक्तिगत अधिकारकी महत्ताका उन्हें कोई ज्ञान न था। प्लेटो इसबातके एकदम विरुद्ध था कि प्रत्येक आदमीको अलग अलग धन और सम्पत्ति रहे। वह चाहता था कि सब धन राष्ट्रकी सम्पत्ति हो और स्त्रियाँ भी राष्ट्रकी सम्पत्ति समझी जायँ। नगर-साम्राज्यके कार्य्यका क्षेत्र इसप्रकार विस्तीर्ण था कि राजनैतिक संस्था और धार्म्मिक-संस्थामें कोई भेद नहीं जान पड़ता था। आधुनिक कालमें यह बात यद्यपि असंगत जान पड़ती है पर एक यूनानीको इसका कोई खटका न था। वह समझता था कि वह स्वयं राष्ट्र है, तो फिर राष्ट्रके कार्य्य-वाहियोंसे चाहे वे कितनाही सर्वव्यापी क्यों न हों, क्यों डरें?

यूनानियोंके विचार एकदम व्यावहारिक थे। और उन्होंने अपने नीतिशास्त्रको शासकके शब्दोंमें लिखा है। यूनानियोंका यह विश्वास था कि उनके भिन्न भिन्न शहरोंके भिन्न भिन्न रीति, नीति, लाइकरगस और सोलन ऐसे प्राचीन महात्माओंके कारण हैं।

जिन्होंने एक साँचा तैयार कर दिया, और जिसके अनुसार उनके बाद यूनानके शहरोंकी रीति नीति तैयार की गयी। इस विश्वासने यूनानके दार्शनिकोंको यह बात सोचनेके लिए बाधित किया कि पुराने कानून बनाने वाले जब यूनानके अतीत कालको जैसा चाहा बना गये, तो एक दार्शनिक क्यों नहीं वर्तमान यूनानको अपने मतानुसार बना सकता है? इसी विचारसे प्रेरित होकर यूनानके नीतिशास्त्रकारोंने अपने अपने राजनैतिक विचार प्रगट किये, और यही कारण था कि प्लेटोने डायोनिससको अपना "प्रजातन्त्र" कार्य्यमें परिणत कर जाँचनेको कहा था।

इसप्रकार हमलोग यूनानी नीतिशास्त्रकी विलक्षणता देख चुके। यह एक विचार-था जिसके अनुसार राष्ट्र एक सदाचार प्रवर्द्धक-समाज है और इस कारण नीतिशास्त्र कर्त्तव्य-शास्त्रके रूपमें देखा गया। यूनानियोंका विचार इतना व्यवहारिक था कि नीतिशास्त्रको उन्होंने व्यावहारिक रूपसे अध्ययन किया। यूनानी राजनैतिक विचारकी सबसे बड़ी विशेषता हीगेलके शब्दोंमें यह है कि यूनानी लोग समाज और राष्ट्रमें कोई अन्तर नहीं समझते थे।

राजकिशोर सिंह।

# स्वदेशी, बायकाट तथा कलाप्रयोग

## स्वदेशी और बायकाट

अनेक विचारकोंका मत है कि 'स्वदेशी' और 'बायकाट' समानार्थक हैं। श्रीयुत माधवराव सप्रे बी० ए० ने अपने लेखोंमें 'स्वदेशी' और 'बायकाट' को भिन्न भिन्न मानते हुए भी जगत्तत्वकी सृष्टिके लिए 'परमात्मा' और 'प्रकृति' की तरह दोनोंको एक दूसरेका सहायक माना है। आपका कहना है कि 'स्वदेशी' और 'बहिष्कार' (बायकाट) ये दोनों इतने सम्मिलित हैं कि इन्हें अलग अलग नहीं किया जा सकता। एक ओरसे देखनेपर केवल 'स्वदेशी' का रूप दिखाई देता है और दूसरी ओरसे केवल 'बहिष्कार' का ही रूप देख पड़ता है। इसी प्रकार "स्वदेशी" को अपर्याप्त जानकर अनेक विचारक 'बहिष्कार' को भी अपने आन्दोलनमें मुख्यता देना चाहते हैं। बंगभंगकी घटनापर आन्दोलनके दो सम्प्रदाय थे। एक स्वदेशीका, दूसरा बहिष्कारका। अब भी असहयोग आन्दोलनके लिए कांग्रेसने जो प्रस्ताव पास किया है। उसमें 'बहिष्कार' का निर्देश करते हुए स्वदेशी'-के अवलम्बनका आदेश किया है। इसलिए हम अपनी समझके अनुसार दोनोंमें स्पष्ट भेद कर देना चाहते हैं। हमारी सम्मतिमें स्वदेशीके, अपनेपनके, प्रेमके प्रेममय भावही भारतके लिए हितकर हैं। दूसरोंके प्रति ईर्ष्या, घृणा, द्वेष और हानि रखनेवाले "बहिष्कार' के भाव कदापि भारतके लिए हितकर नहीं। जिस प्रकार आंग्ल भाषाका 'पैसिव रेजिस्टेंस' या हिन्दीका 'निष्क्रियप्रतिरोध' शब्द सच्चे आत्मिक बल 'सत्याग्रह'का द्योतक नहीं, उसी प्रकार "बायकाट" या "बहिष्कार" भी उन भावोंके द्योतक नहीं, जिनकी भारतको इस समय आवश्यकता है।

"बायकाट" या "बहिष्कार" राजनीतिक आन्दोलन हैं जो किसी उद्भावक भावसे शासकोंके प्रति किया जाता है—जिससे शासकोंकी भलेही क्षणिक हानि हो जाय पर वास्तविक और स्थिर अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। यह सामयिक साधन है जो झंझावातकी तरह आता और चला जाता है या समुद्रके लहरोंकी तरह चढ़ता और उतर जाता है। वह आगके समान हो सकता है जो भस्मसात् भलेही करदे पर उससे किसी स्थिर फलकी आशा करना वृथा है। बायकाट निषेधात्मक है, स्वदेशी विध्यात्मक। बायकाटमें जो कुछ निश्चय किया जाता है वह नकारात्मक होता है, स्वदेशी सम्बन्धी निश्चय कुछ ग्रहण करनेके लिए होता है। बायकाट राजनीतिक साधन या आन्दोलन है, स्वदेशी आर्थिक। बायकाट दूसरोंसे बदला लेना, हानि पहुँचाना है, स्वदेशी आत्मसुधार करना है। बायकाट दूसरेके प्रति घृणा प्रकट करना, स्वदेशी अपने देशके प्रति सच्चे प्रेमयुक्त भावोंको दिखाना है। बायकाटकी सफलता अनिश्चित है पर स्वदेशीकी सफलता निश्चित है, भलेही यह

देरमें हो। बायकाट सामयिक है पर स्वदेशी एक स्थिर और सदा वर्तमान रहनेवाला साधन है। बायकाट प्रारम्भसेही एक राजनीतिक साधन राजनीतिक शिकायत दूर करनेके लिए रहा है परन्तु स्वदेशी एक शान्त, गम्भीर और उदार उपाय आत्मसुधारका है। बायकाट, स्वदेशी-का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं। स्वदेशी एक शुद्ध, पवित्र आन्दोलन है, जिसका उद्देश्य देशवासियोंमें स्वावलम्बनके भावोंका डालना और भारतीय घरेलू व्यवसायकी पुनःस्थापना तथा उचित साधनोंसे उसकी पालना द्वारा देशको समृद्ध करना है।

ऐसा विचार आज न केवल महात्मा गांधीका ही है प्रत्युत वंगभंगकी घटनाके भयंकर आन्दोलनके समय भी अनेक विज्ञजनोंका यही विचार था। भलेही कलकत्ता, सूरत और अबकी कलकत्ताकी विशेष महासभामें भी बायकाटका समर्थन किया गया, पर उस समय और इस समय भी विचारकोंका बड़ा दल बायकाटके विरुद्ध और स्वदेशीकेही अनुकूल था और है। पिछले समयके महानुभावोंकी साक्षियाँ दिखानेसे पूर्व यहाँ इतना अवश्य लिखना है कि इस बार कलकत्तेमें विदेशी वस्तु बहिष्कार या बायकाटका अंश असहयोग प्रस्तावमें धींगाधांगीसे मिला लिया गया है। विषयनिर्वाचनसमितिका विषय गोप्य है अतः उसपर प्रकाश न डालते हुए इतनाही कहना पर्य्याप्त है। महात्मा गांधीने भी अपने प्रारम्भिक भाषणमें स्पष्ट ही कह दिया था कि—"मुझे जिस कारणसे बायकाटका यह अंश अपने असहयोग प्रस्तावमें रखना पड़ा है, उसे मैं प्रगट नहीं करना चाहता। मैं उन लोगोंको अवसर देता हूं जो बायकाटके द्वारा कुछ सिद्ध किया चाहते हैं, पर मैं स्वतः इस पक्षमें नहीं हूँ। मैं एक देशकी दासतासे छूटकर दूसरेकी दासता मोल नहीं लिया चाहता।" तात्पर्य यही है कि इस बारका बायकाटका अंशभी पिछली कलकत्ता और सूरतकी महासभाओंकी भांति पास किया रह जायगा, क्षणिक आवेशमें आकर क्षणिक लाभ भलेही हो जाय, पर स्थिर लाभकी आशा करना वृथा है। अस्तु।

पीछे हमने लिखा है कि वंगभंगकी घटनाके आन्दोलनकालमें भी विज्ञलोगोंकी एक श्रेणी स्वदेशीके ही पक्षमें थी। माननीय श्रीयुत गोखलेने सम्वत् १९६० के लखनऊके अपने प्रसिद्ध व्याख्यानमें कहा था कि—"अब मैं कुछ शब्द 'बायकाट' के बारेमें कहना चाहता हूँ। मुझे निश्चय है कि इस शब्दका प्रयोग करने वाले भी इस शब्दसे यथासम्भव विदेशी वस्तुका प्रयोग न करके स्वदेशी वस्तुके ही प्रयोगका अर्थ ग्रहण करते हैं। पर अब यह अर्थ 'स्वदेशी'से ही ग्रहण होता है। 'बायकाट' अच्छे अर्थका द्योतक नहीं, इसका अर्थ दूसरोंको हानि पहुँचाना, स्वयं तुच्छ तथा अनुदार विचारोंका बनना है। मैं उचित समझता हूँ कि अब हमें अपने आन्दोलनके लिए "स्वदेशी" शब्दका ही प्रयोग करना चाहिए, बायकाटका नहीं! कहीं ऐसा न हो कि इससे हम अपनेही पैरों पर कुल्हाड़ा चला बैठें।" आगे आपने कहा कि—"हमारी वर्तमान व्यावसायिक स्थितिमें 'बायकाट' कदापि क्रियात्मक नहीं।"

श्रीयुत गोकुलदास परेखने "इण्डियन रिव्यू" में लिखा था कि—"बायकाट-से देश कोई आर्थिक लाभ नहीं प्राप्त कर सकता। पर इससे हमारे ही वस्तुओंमें बुरे भाव पैदा हो सकते हैं और उन्हें हमारेही प्रति भड़का सकते हैं जिनके प्रति हम इसका प्रयोग करेंगे। जिससे हमारा देश भयंकर आपत्तिमें पड़ सकता है।"

# स्वार्थ

श्रीयुत रासबिहारी घोषने सम्वत् १९६३ की कलकत्ता कांग्रेसके स्वागत भाषणमें कहा था कि—"इसमें किसको सन्देह होगा कि स्वदेशी आन्दोलनकी सच्ची सफलता देशके व्यवसायको समृद्ध करनेमें ही है जिसे हमारी सरकार खुले व्यापारकी हामी होनेसे तट-कर द्वारा नहीं कर सकती। केवल "बायकाट" कभी भी हमें इष्ट सिद्धि नहीं प्राप्त करा सकता। मृत्युके मुँहसे गरीब जनताको नहीं बचा सकता। यह केवल अपने देशकी आर्थिक अवस्थाओंके सुधारसे सम्भव है। यह आर्थिक अवस्थायें केवल घरेलू व्यवसायकी रक्षा और विस्तार तथा देशीय सम्पत्तिको व्यवसायमें ही लगानेसे सुधर सकती हैं। आजकल पश्चिमीय स्पर्धासे मारे गये व्यवसायमें ही भारत एक दिन सब देशोंका शिरोमणि था।"

महात्मा गान्धी तो "स्वदेशी आन्दोलन" के प्रारम्भसे ही बार बार उद्घोषित कर रहे हैं कि स्वदेशी आन्दोलन शुद्ध पवित्र भावोंसे चलाया गया है। इसमें बायकाटकी गन्ध भी नहीं है। नदियादकी महती सभामें आपने कहा था कि—"यह आन्दोलन बड़ाही शुद्ध, पवित्र, सात्विक और बायकाटकी गन्धसे सर्वथा शून्य है।" फिर आपने पूनेमें भी उद्घोषित किया था कि—"मेरा स्वदेशी आन्दोलन पूर्णतः आर्थिक है, राजनीतिक बिलकुल नहीं। राजनीतिक अंश इसमें बिलकुल भी स्थान न पाएँगे। बायकाटको इसमें मैं कदापि नहीं आने देना चाहता। यह आन्दोलन पिछले आन्दोलनसे भिन्न है।" स्वदेशी व्रतकी घोषणाके लेखमें भी आपने लिखा था कि—"मैंने स्वदेशी और बायकाटमें पहिलेही बड़ा भेद कर दिया है। मुझे पक्का भरोसा है कि बायकाटसे हिन्दुस्तानको कुछ भी लाभ नहीं पहुँच सकता। बायकाट करना ठीक ऐसाही है जैसा कि मुंहसे गाली बकनेवालेका नाक कान बदलेमें काट लेना। क्या हम अंगरेजी मालका बायकाट करके जापानके लिए और भी मैदान तय्यार कर देंगे?"

इन आप्त प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि भारतकी नष्टविभूति और उसके नष्ट भ्रष्ट व्यवसायकी पुन: स्थापना करनेका एक मात्र साधन "स्वदेशी" का ही आश्रय है। बायकाटसे इसे दूषित करके अपने आन्दोलनकी इष्टसिद्धिको सन्देहास्पद नहीं बनाना चाहिए। यही कारण है कि तुर्किस्तानके प्रति नौकरशाही और गोरेशाहीकी प्रतिज्ञाओंके भंग तथा खलीफ़ाको तहस नहसकी घटनासे बायकाटके लिए उतारू हुए मुसल्मानोंको भी महात्मा गांधी "स्वदेशी"के आश्रयका उपदेश करते रहे।

इससे अधिक प्रसन्नताकी बात क्या हो सकती है कि भारतकी पराधीनताके १५० वर्षके इतिहासमें कोई भी विषय ऐसा मिलता है जिसमें सम्पूर्ण राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक दलोंके नेता और अनुगामी सब एकमत हैं तो वह यही "स्वदेशी"का विषय है। आज भी स्वराज्यवादी और सुधारवादी सभी इस विषयमें एकही सम्मतिके हैं। लार्ड मैकालेके इच्छानुसार जो लोग केवल वीर्य तथा रंगमें भारतीय पर रहन सहन, सोच विचार, आचार व्यवहार और इच्छाओंमें गोरे या अंगरेज बन चुके हैं—उनसे हमें आशा तो है पर अभी उनकी ओर हमारा संकेत नहीं।

'बायकाट' इसलिए त्याज्य नहीं कि हम गोरेशाही या गोरे व्यापारियोंको प्रसन्न

रखना चाहते हैं या इंगलिस्तानकी प्रभुमण्डलीको कुपित नहीं किया चाहते, प्रत्युत यह इस लिए त्याज्य है कि वस्तुत: ही यह अक्रियात्मक और सफल न होनेवाला साधन है। उपाध्याय कालेने सं० १९६५ के "इण्डियन रिव्यू"के एक अंकमें दिखाया था कि पिछले बंगभंगके समयके वायकाटके आन्दोलनमें हमें बिलकुल सफलता नहीं हुई। आपने सं० १९६० से सं० १९६४ तककी पूरी तालिका उस सामान-ी दी है जिसके विरुद्ध बायकाट न केवल राजनीतिक अपितु सामाजिक और धार्मिक दृष्टिसे भी किया गया था।

आपकी तय्यार की हुई तालिका निम्न प्रकार है :—

| संख्या | पदार्थका नाम | १९६० | १९६१ | १९६२ | १९६३ | १९६४ |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | रुपये | रुपये | रुपये | रुपये | रुपये |
| १ | मीठा ... | ५९३५८००० | ७९०२७३१९ | ७७७४५१९९ | ८७३८११६४ | ९२२७०००० |
| २ | बर्तन, छुरी आदि ... | २३२७८००० | २३७९२००० | २२६६७००० | २६६०५००० | ३१६५४००० |
| ३ | तम्बाकू ... | ४९५९००० | ५५६३००० | ६६०९००० | ९९३९००० | ८४३६००० |
| ४ | सिलेहुए वस्त्र | १९९५७५७१ | २२३९९६२७ | २२११६८८५ | २११२२७५५ | २५८३०००० |
| ५ | गाड़ी आदि | ४३६३८६६ | ५५०२१०६ | १६८११२८ | ९२४६५४८ | ११८००००० |
| ६ | काचका सामान ... | ९९२०७५९ | ११२५७१०१ | ११२४७१०८ | १२११८१०८ | १४४५२००० |
| ७ | चमड़ेका सामान ... | २६१९६३३ | २५२१९०९ | ३०६०६२० | ३२५८६८१ | ३८३३८९ |
| ८ | दियासलाई | ६०६१०५७ | ४८९५२८३ | ५८८३२५७ | ६३१२७३१ | ७३७७००० |
| ९ | कागज़, गत्ता आदि ... | ५२१८२९६ | ६४३७२८८ | ७०४८४७८ | ८०११९०५ | ९९२४००० |
| १० | साबुन ... | २६५६६७३ | २७२३७०५ | ३१९०८९० | ३२२८१५९ | ४१७२१४७ |
| ११ | लिखनेका सामान ... | ३७०८ ४८ | ३९७७८००० | ३७१७४३३ | ४०४०३४७ | ४४३८००० |
| १२ | छाता ... | २४५८८७७ | १८९५०६४ | १९७९२९९ | १८८५९३९ | १९९९७६९ |
| १३ | छातेका सामान ... | ... | ... | १४३२६५२ | २३६३६८८ | २५९०८७१ |

तालिकामें रुपयोंमें बताया गया है कि मीठा आदि सामानकी मांग देशमें बढ़ती गयी है और विदेशोंसे यह सामान प्रतिवर्ष अधिकाधिक मात्रामें आया है। कहा जा सकता है कि कीमतकी बढ़तीसे आये सामानकी मात्राका रुपयोंमें दिखाना ठीक नहीं। परन्तु

यह भी सहजमेंही देखा जा सकता है कि जिस मात्रामें सामानका देशमें आना बढ़ा है उस मात्रामें पदार्थोंकी कीमत नहीं बढ़ी। मीठेके प्रतिकूल बहिष्कारका आन्दोलन सामाजिक और धार्मिक दृष्टिसे अधिक था अपेक्षा राजनीतिक दृष्टिके। फिर भी मीठा देशमें अधिकाधिक मात्रामें आया है। यह भी ध्यान रखना चाहिए यह वह चार पाँच वर्ष हैं जिनमें बहिष्कारका आन्दोलन पूरे जोरपर था। इस तालिकासे स्पष्ट है कि पिछले बंगभंगके 'बायकाट' आन्दोलनमें हमें नितान्त असफलता रही। विदेशी सामानका भारतमें आना बन्द नहीं हुआ, परन्तु बढ़ताही गया है। विदेशी सामानकी मात्रा ही बायकाटकी सफलता या असफलताकी मापक है और इस तालिकासे स्पष्ट है कि हमें अपने पिछले उद्योगमें सफलता नहीं हुई।

बायकाटकी सफलता इसलिए भी सन्देहास्पद है कि यह एकदम सब देशोंके सम्पूर्ण सामानके प्रति सम्पूर्ण जातिकर नहीं हो सकती। अतः हमारा व्यवसाय बिलकुल नष्ट भ्रष्ट हो चुका है। यदि किसी विशेष देशके सामानके प्रतिकूल बायकाट किया जाय तो इससे देशको नाममात्र भी लाभ नहीं। फिर, तब जब कि आजकल राजनीतिक दासताकी मूल व्यावसायिक दासता है। व्यावसायिक जगतमें भिन्न भिन्न देशोंके सामानमें भेद करना स[illegible] नहीं है। हमें अपनेको किसी देशविशेषसे स्वायत्त या स्वतन्त्र कर अपनी रक्षा नहीं करनी है, परन्तु सम्पूर्ण संसारकी व्यापारीय कलहकी आगसे अपनेको बचाना है। यह तभी सम्भव है जब कि एक ओर धीरे धीरे अपने घरेलू व्यवसायकी पुनः स्थापना की जाय और स्वदेशी पदार्थोंके ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञा की जाय। पारस्परिक सांसारिक बंधनोंने संसारभरको एक बाजार सा बना दिया है। सभी देश एक दूसरेसे आर्थिक बन्धनोंद्वारा बुरी तरह जकड़े जा चुके हैं। फिर भारतके हाथ पैर तो बलात् बांध लिये गये हैं। हमारी "सुवर्ण–महानिधि"पर तो दूसरोंका ही स्वत्व है। "रिवर्सकौन्सिल बिल्स" की हालकी ही बिक्रीने हमारी आर्थिक पराधीनताको बहुत ही व्यक्त कर दिया है। बंकोंके जालमें जिसमें प्रायः, सभी देश उलझे हुए हैं—भारत तो बेसुध होकर उलझा पड़ा है। अब यदि भारत एक उछाल लगाकर इन बन्धनोंको तोड़कर स्वतन्त्र होना चाहे तो यह इतना सहज और सम्भव नहीं जान पड़ता। अतः यदि "स्वदेशी" द्वारा अपनेको समर्थ बनाकर भारत उछाल लगाएगा तो निश्चित सफलता प्राप्त होगी, नहीं तो सं० १९६३ की तरह उलटे मुँह गिरना होगा।

बायकाटकी सफलताकी मापक आयात पदार्थोंकी मात्रा है एवं स्वदेशीकी सफलताकी मापक घरेलू व्यवसायकी वृद्धि है। हमने श्रीयुत उपाध्याय कालेकी तैयार की गयी तालिकासे दिखाया है कि भारतमें आयात पदार्थोंकी मात्रा बढ़ती ही गयी। यहाँ तक कि 'चीनी' तकका आयात कम नहीं हुआ और बढ़ता ही गया। वैसे नौकरशाहीकी स्वेच्छाशाहीपर भी बायकाटने कोई प्रभाव नहीं डाला। दूसरी ओर स्वदेशी आन्दोलनसे ही ढाका और मुर्शिदाबादका नष्ट व्यवसाय यत्किञ्चित् मात्रामें पुनः स्थापित होगया। आज शान्तिपुरकी धोतियाँ किसे नहीं आकर्षित कर लेतीं। काशीका विलुप्त रेशमी व्यवसाय पुनः जाग उठा। आज बनारसी दुपट्टे और साड़ियाँ किसके मुँहमें पानी

नहीं ला देतीं ? लुधियाना और मुलतानके जुलाहोंका फिरसे खड़ा होजाना केवल स्वदेशी आन्दोलनसे ही था। अहमदाबाद, बम्बई और मद्रासमें सूत और कपड़ाका व्यवसाय भी इसीसे चल निकला। इससमयका देशी व्यवसाय सब उस समयके स्वदेशी अन्दोलनका परिणाम है। तात्कालिक बायकाटका आन्दोलन किसी भी अंगमें सफल नहीं हुआ—इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं। इस समय भी महात्मा गान्धीने स्वदेशी आन्दोलनसे जो कर दिखाया है वह दूसरे लोग बायकाटके ही सहारे सालोंमें भी न कर पाएँगे। दूसरोंको कुछ हानि भले ही पहुँचा लें पर अपना सुधार भी कर सकेंगे कि नहीं—इस विषयमें नितान्त संदेह है। इस प्रकार इस थोड़ेसे विचारसे स्पष्ट होगया है कि भारतका लाभ शुद्ध, पवित्र, सात्विक, देशप्रेमके भावोंसे भरे स्वदेशी आन्दोलनमें ही है; न कि घृणा, द्वेष, परहानिक विचारों और भावोंसे भरे बायकाट आन्दोलनमें। हमें पूरा विश्वास है कि यदि भारतकी इष्टसिद्धि होगी तो इसी "स्वदेशी"के आश्रय से, न कि बायकाटके आश्रयसे।

## स्वदेशी और कलाप्रयोग

रही बात "स्वदेशी और कलाप्रयोग" की। संसारके कलाप्रयोगको अपने लिए आदर्श न मानकर हम अपनी स्थितिके लिए कलाप्रयोगके उपयोग और दुरुपयोगकी परीक्षा करना चाहते हैं। रामायण, महाभारत और नीतिग्रन्थोंकी पंक्तियाँ और वैदिक आदेश वैदिक आदर्शको कुछ समयके लिए पृथक् रखकर हम अपनी वर्तमान स्थितिके लिए 'कलाप्रयोग, की उपयोगिता जानना चाहते हैं। हमारी सम्मतिमें चाहे किसी समय कलाप्रयोग उपयोगी रहा हो और भविष्यमें भी उपयोगी होजाय पर भारतकी वर्तमान स्थितिमें सर्वसाधारणके लिए कलाप्रयोग कदापि श्रेयस्कर नहीं। इस विषयकी दूसरी उक्तियों और युक्तियोंसे पूर्व श्रीयुत महात्मा गान्धीजीके ही विचारोंका दिखाना आवश्यक है।

महात्माजीने "हिन्द स्वराज्य" में कलाप्रयोग विषयक अपने विचार प्रगट किये हैं। जिसका सारमात्र हम यहाँ देते हैं। आपका कथन है कि "मान्चिस्टरसे हुई भारतकी हानिका अनुमान करना कठिन है। मान्चिस्टरने भारतीय घरेलू व्यवसायको नष्ट भ्रष्ट किया है। इसके लिए हमलोग जो मान्चिस्टरके कपड़ोंका प्रयोग करते हैं- मान्चिस्टरको दोषी नहीं ठहरा सकते। बंगालका साहस सराहनीय है। वहाँ ही जहाँ कपड़ोंकी मशीनरीका प्रवेश नहीं हुआ है अपने घरेलू व्यवसायका पुनः उठाना सुगम है। कलाप्रयोगने ही यूरोपको बरबाद किया है। अब अंगरेजोंके द्वारपर भी बरबादी खड़ी उनके द्वार खटखटा रही है। कलागृहोंमें काम करनेवाली स्त्रियोंकी दशा हृदयविदारक है। भारतमें किया कलाप्रयोग भारतभूमिको भी दुःखमयी बना देगा। शायद यह अत्युक्ति समझी जाय, पर मैं यह कहनेको बाधित हूँ कि मान्चिस्टरको रुपया भेजना भला है अपेक्षा इसके कि भारतमें ही कलाएँ खड़ी करके इसे मान्चिस्टर या लिवरपूलकी धुंआदार कलाओंका घर बना दिया जाय। मान्चिस्टर रुपया भेजनेसे केवल आर्थिक हानि ही होगी पर मान्चिस्टर यहाँ बनालेनेसे हम आत्महत्या कर बैठेंगे। अतः भारतीयत्व नष्ट होजायगा। प्रचलित कलाओंसे पैदा हुई वर्तमान अवस्था मेरे कथनकी साक्षी है। यह सोचना भ्रममात्र है

कि भारतीय रौकफैल अमरीकन रौकफैलसे अच्छी अवस्थामें होगा। भारत दरिद्रताके चंगुलसे भले ही निकल जाय पर सदाचारशून्य साधनोंसे भारतीय स्वतन्त्रताकी रक्षा दुस्साध्य होगी। इन साधनोंसे धनी हुए लोग आंग्लराज्यकी यहाँ स्थिरता चाहेंगे। अतः उनका स्वार्थ इसी राज्यकी दृढ़तामें होगा। ऐसा धन भारतको शक्तिशून्य और आचार पतित बनाएगा। जहाँ पहिलेसे केवल शरीर नाश होगा वहाँ दूसरेसे शरीर, मन, आत्मा तीनों-का नाश हो जायगा। अतः कलाप्रयोगसे हितसाधनका विचार ही त्याज्य है। निस्सन्देह प्रचलित कलाओंका हटाया जाना कठिन है परन्तु कलाओंसे बनाये गये पदार्थोंके प्रयोगका छोड़ना कठिन नहीं है। कहा जाता है कि विदेशोंसे कलानिर्मित सामान इतना अधिक आता है कि उसके बिना जीवन निर्वाह कठिन है। इसके लिए मेरा यही कहना है कि भारत कलानिर्मित पदार्थोंके यहाँ आनेसे पहिले भी निर्वाह करता ही था। जो पदार्थ हम कल बिना न पा सकेंगे उनका सर्वथा त्याग कर देंगे। इसी प्रकार धनरक्षासे स्वदेशीका आश्रय लेते हुए स्वराज्य पाया जा सकता है, अन्यथा नहीं। सबसे एकदम ऐसी आशा करना वृथा है। क्रमशः धीरे धीरे ही त्याज्य और हेय पदार्थों को छोड़ते हुए ही सफलता सम्भव है। नेताओंके पीछे ही जनता चलती है। ट्राम और रेलादिकके लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह कलाएँ साँपकी बिलके समान हैं जिसमें एकसे अनेक साँप स्वतःही पैदा होजाते हैं। कलाओंसे बड़े बड़े शहर बनते हैं, फिर उनमें दूसरी कलाएं बनानी पड़ती हैं। स्वास्थ्य, धन आदि सब नाश हो जाते हैं। मैं कलाप्रयोगको किसी भी अंशमें उपयुक्त नहीं समझता, न उसमें कोई भलाई ही पाता हूँ। मुद्रणद्वारा मेरे विचार लोगोंमें फैलते हैं—इसलिए भी मैं इसका समर्थन नहीं कर सकता। अतः यह विषके प्रभावको मारनेके लिए विषका प्रयोग है। कलाओंका हमारे लिए उपदेश है कि "सावधान, मुझसे अलग रहना। मुद्रणकलासे भी वह ही लाभ पा सकेंगे जो कि मुद्रणकलाके पहिले ही शिकार बन चुके हैं।" यदि हमें कलाओंका आश्रय लेना भी होगा तो उसे बुराई समझकर ही लेंगे-पर अन्ततः उससे बच-नेका ही यत्न करेंगे।"

महात्माजीके उक्त विचारोंमें मतभेद हो सकता है पर भारतकी वर्तमान अवस्था-पर किया गया विचार इन विचारोंकी ओरही हो जाता है। भारतकी आजकी दशापर सोचिए—इतना गहन और एकान्त विचार कीजिए जितना किया जा सकता है। निश्चयही आप इस परिणामपर पहुँचेंगे कि संसारमें किसी और देशको इतना लूटना पड़ता तो आज उसकी मिट्टीभी न बचती। भारतकी दशा अनहोनी है, अभूतपूर्व है। गम्भीर विचार इसी परिणामपर पहुँचाता है कि आजकी दशामें भारतके लिए कला-प्रयोग कदापि हितसाधक और उपयुक्त नहीं हो सकता। **पूँजीका सर्वथा अभाव है।** खाने, पीने, ओढ़ने तकके सामानके लिए पैसा नहीं तो मान्चिस्टर और लिवरपूलकी सी विशाल कलाएँ कहाँसे खड़ी हो सकेंगी? दो पैसे दैनिक कमानेवालोंके पैसेके ढेरसे क्या समुद्रकी धाराका बाँध बँध सकता है? कभी नहीं। जो चार करोड़ अब भी पेट भरकर खाना नहीं खा सकते, क्या उनके गले और पेट काटकर कलायें खड़ी की जायँगी?

# स्वदेशी बायकाट तथा कलाप्रयोग

फिर, कलाप्रयोगसे समाजमें अत्यधिक ऊँचनीच होकर ऐसी अव्यवस्था हो जाती है कि उसका सुधार बिना कलाप्रयोगके नाशके सम्भव नहीं जान पड़ता। आर्थिक दुर्घटनाओंके साथ-साथ हुई आर्थिक कलहोंसे देश और जातिकी हानि, क्या नितान्त गिरावट होनी शुरू हो जाती है। जिसे हमारे शास्त्रोंमें वर्णसंकर कहा गया है, वह यही वर्णसंकर है। इसीका कुछ प्रायश्चित्त यूरोपको पिछले युद्धमें करना पड़ा है, पर अभी यूरोपकी आंखे नहीं खुली हैं। यद्यपि "कलाप्रयोगके गुणदोषका विवेचन" लेखका विषय नहीं है तथापि कलाप्रयोगके दो एक दोषोंका दिग्दर्शन बुरा न होगा। कलाप्रयोगसे सामाजिक, आध्यात्मिक और आर्थिक सभी तरहके दोष होते हैं। यहाँ केवल आर्थिक दोषोंपर ही दृष्टि निक्षेप करना है। कला-प्रयोगसे उत्पत्तिका ठेका कुछ एकके ही हाथमें दे दिया जाता है। वे लोग उत्पत्तिका एकाधिकार कर कीमतें मनमानी कर बैठते हैं। पक्के माल बनानेके एकाधिकारी कच्चा माल पैदा करनेवालोंको व्यर्थमें ही बहुत सताते हैं। अमरीकाकी तेलकम्पनीका तेलकी कानोंके ठीकेदारोंका सताना इस कथनका साक्षी है। कलाप्रयोगसे देशमें मजदूर या श्रमजीवियोंकी ही संख्या बढ़ती है न कि व्यवसायियों की। हजारों लाखों आदमियोंके भाग्यका बनाना या बिगाड़ना एक व्यवसायपतिके हस्तगत हो जाता है। व्यवसायियों और श्रमियोंकी पारस्परिक कलह देशमें बड़ी भयंकर दुरवस्था पैदा कर देती है। शहरोंमें रोशनी बन्द, पानी बन्द और सफाई बन्द इत्यादि तो साधारण दुर्घटनायें हैं। यूरोप विशेषतः इंगलिस्तान इन दुर्घटनाओंका स्वाद बहुत चख चुका है। भारतमें भी यह दुर्घटनायें घर करती जा रही हैं। अभी हालकी ही कोयलेकी कानोंकी भयंकर हड़तालका अनर्थ सबकी आंखोंके समक्ष है।

कपड़े और दूसरे सामानद्वारा रुपया बाहर भेजना बन्द करके कलाओं द्वारा रुपया बाहर भेजना महा मूर्खता है। भूखप्यास और दारिद्र्यकी औषध इस अवस्थामें इसप्रकार कलाप्रयोग नहीं। हमारा घरेलू व्यवसाय 'स्पर्धा' से मारा गया है। कलाप्रयोग स्पर्धा दूर न करेगा। जो कला आज हम यूरोप या अमरीकासे मंगाकर यहाँ प्रयोगमें लाते हैं— अभी वह यहाँ आकर काम देने लगती है कि उन देश में और भी अधिक कार्यक्षमताकी कलाका आविष्कार हमारी कलाको निकम्मी बना देता है। कार्यक्षमतामें बराबर ठहर जाना ही स्पर्धामें समान ठहरना है। कलाद्वारा कार्यक्षमतामें बराबर ठहरना हमारे हाथसे बाहर है। अब हम भारतीय सामानके लिए दूसरोंके आगे हाथ पसारते हैं। कलाप्रयोगसे कलाके लिए दूसरोंके दास हो जाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।

वर्त्तमान स्वदेशी आन्दोलन करघोंसे बहुत सम्बन्ध रखता है। एक दिन करघे ही वह सामान पैदा करने वाले थे जिसे इंगलिस्ताननिवासी राजकीय आज्ञाओंका उल्लंघन करके भी बड़े चावसे लेते थे। करघोंके विषयमें विशेष फिर कभी लिखनेका यत्न किया जायगा। यहाँ इतना अवश्य कह देना आवश्यक है कि स्वदेशीकी समृद्धिसे करघोंका व्यवसाय समृद्ध होगा। करघोंके व्यवसायकी समृद्धि निश्चयही अन्य भारतीय घरेलू व्यवसायोंको पुनरुज्जीवन कर देगी। बढ़ई, लोहार आदि सभीका काम बढ़ेगा। फिर वही गाँवकी झोपड़ी झोपड़ी भारतीय शिल्पगृह होंगे—जिनमें भारतीय उसी स्वराज्यानन्दको भोगा करेंगे जिसे वे आजसे एक डेढ़ शताब्दी पहिले देहलीकी राजगद्दीके बदलते रहनेपर भी भोगते रहते थे। यही स्वदेशीका स्वराज्य है, स्वदेशी व्यवसायकी समृद्धिका महान सुख है।

# स्वार्थ

इसप्रकार कला-प्रयोगके भी लाभकर न होते हुए, 'बायकाट' या 'बहिष्कार' की तरह इसे भी छोड़कर 'स्वदेशी'' का ही आश्रय लेना अपेक्षित है। स्वदेशीद्वारा उचित और लाभकर तत्वोंसे घरेलू व्यवसायको पुनरुज्जीवितकर आर्थिक सुधारमें ही असली भलाई है। अतः दृढ़निश्चय हो स्वदेशीके लिए ही खड़ा होना चाहिए। स्वदशीकी ही सफलतामें स्वराज्य और स्वतन्त्रता है। यही साधन दासताके बंधनोंसे निर्मुक्त कर सकता है। इसकी सफलताद्वारा आर्थिक सुख प्राप्त होनेपर दूसरे सुख स्वतः ही मिल सकते हैं। बिना 'स्वदेशी' साधनके उन्नतिके लिए हाथ पैर मारना 'मृगतृष्णा'के समान है। नष्ट भारतीय शिल्प और व्यवसाय, मरती हुई भारतीय सभ्यता, नाश होता हुआ भारतीय गौरव और भूखी मरती हुई भारत-सन्तान, यदि बच सकती है तो इसी स्वदेशीके सहारेसे—इसी स्वदेशी आन्दोलनमें कृतकार्य और सफल होनेसे; न कि बायकाट या कलाप्रयोगके आश्रय से।

श्रीयुत राजर्षि गोखलेके शब्दोंसे इस लेखको समाप्त करना भला होगा। आपका कहना है कि "भारतका व्यवसाय घरेलू व्यवसाय है और भविष्यमें भी भारतीय व्यवसाय घरेलू ही रहेगा। जहाँ सैकड़ों लोग कलागृहोंमें कार्य करते हैं, वहाँ हजारों लाखों और करोड़ों लोग अपनी कुटियोंमें घरेलू व्यवसायसे जीवननिर्वाह करते हैं। भारतीय श्रमियोंकी दशाके सुधारकी आशा करना कलाप्रयोग और फैक्टरीपद्धतिद्वारा दुराशामात्र है। भारतीय श्रमियोंकी दशाका सुधार और भारतीय व्यवसायकी उन्नति तभी सम्भव है जब कि ग्राम-ग्राममें प्रति झोपड़ीके निवासीकी दशाके सुधारका यत्न किया जायगा। ग्राम और शहरके दीन जुलाहों, गरीब सुनारों और लुहारों, भूखे बढ़ई और कुम्हारोंकी दशाके सुधारकी भारी आवश्यकता है जो पिता पितामहोंसे चलाये गये पेशेके ही सहारेपर जीते हैं और जो भारतीय व्यावसायिक श्रेणीके प्रधान अंग हैं और हमारी सहानुभूति और सहायताके लिए हाथ पसारे पड़े हैं। इन्हींपर दुर्भिक्षका पहिला आक्रमण होता है और यही हैं जो अति दीन-दरिद्र-दशा झेल रहे हैं। यदि—जैसा मुझे निश्चय है कि—यह स्वदेशी आन्दोलन नाममात्र भी इनकी दशा सुधारेगा, इनके बनाये सामानकी माँग पैदा करेगा, उनके निराशापूर्ण अन्धकारमय घरों और झोपड़ोंमें कुछ भी प्रकाश पहुँचाएगा—तो, निश्चय जानिए मेरी इस आन्दोलनसे पूर्ण सहानुभूति है। बड़े व्यवसायकी आंधीमें अपने घरेलू व्यवसायको नहीं भुलाना चाहिए जिसपर करोड़ों ग्रामीण भारतीयोंका जीवन आश्रित है।"

यद्यपि राजर्षि गोखलेने यह शब्द बंगभंगकी घटनासे उत्पन्न स्वदेशी आन्दोलनके विषयमें कहे थे। पर इन्हें आज भी इस आन्दोलनके बारेमें कहा जा सकता है। साथ साथ यह भी कहना अप्रासंगिक न होगा कि "जब होटल पद्धति (बड़े बड़े भोजनालय) हो जानेपर भी घरके चूल्होंपर रोटी पकाना बन्द नहीं हुआ तब कलाप्रयोग हो जानेपर भी हमारा घरेलू व्यवसाय क्यों बन्द हो जाय? यह समझ नहीं पड़ता।"

सत्यदेव।

ओ३म् बन्देमातरम्

# स्वार्थ

वर्ष २ खण्ड १ | आषाढ १९७८ | अङ्क १ पूर्णाङ्क १५

## स्वतन्त्रताका इतिहास

(२)

श्चात्य विद्वानोंका साधारणतया यह मत है कि पौर्वात्य सभ्यतामें परिवर्तनशीलताका गुण देखनेमें नहीं आता, इसके लम्बे इतिहासमें मानवी-संस्थाओंके विकासक्रमका खोजनेसे भी पता नहीं चलता और न मनुष्यकी प्रगतिका कोई भी दृष्टान्त इसमें मिलता है। यह मत तो नितान्त निर्मूल है। किसी पराधीन जातिके प्रति एक प्रबल, विजयी जातिकी ऐसी तिरस्कारदृष्टि होना स्वाभाविक है। किन्तु निष्पक्ष इतिहास इस मत और इस दृष्टिका प्रचण्ड प्रतिवाद कर रहा है। पाश्चात्य लोगोंने ही कुछ उन्नतिका ठेका नहीं ले रखा। यद्यपि वे वर्तमान युगके प्रवर्तक हैं तथापि उनकी उन्नति कुछ इने गिने दिनोंकी है। पौर्वात्य सभ्यताका इतिहास स्मरणातीतकालसे प्रारम्भ होता है। इसकी उन्नति सत्वगुणात्मिका थी किन्तु पश्चिमकी उन्नतिमें रजोगुणका ही आधिक्य है। पूर्व और पश्चिम दोनों ने ही उन्नति की, दोनोंके कार्य्य-क्षेत्र ही केवल भिन्न थे। इसलिए एकको उन्नतिशील और दूसरेको उन्नतिविमुख कहना इतिहासमूलक सत्यकी विडम्बना मात्र है। सत्वगुण प्रधान सभ्यता-में सहिष्णुता, शान्तिप्रियता, शालीनशीलता, निरभिमानता, गम्भीरता, निःस्वार्थता, अहिंसा, अद्रोह, आस्तिक्य इत्यादि गुण विशेष रूपसे रहते हैं, किन्तु रजोगुणके आधिक्य-से तृष्णा, अशान्ति, अभिमान, स्व पर भेद-बुद्धि, साहस, उद्दण्डता आदि गुण अमुक व्यक्ति और जातिमें घर कर बैठते हैं। पश्चिमी सभ्यतामें रजोगुणके सभी विकार हमारे दृष्टिगो-चर हो रहे हैं। तथापि उसकी आश्चर्यजनक उन्नतिका कारण समझनेका कौतूहल तो सभीको होता होगा।

एक विशेषरूपकी सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था ही पाश्चात्य देशोंकी वर्तमान उन्नतिका मूल कारण है। यहाँ व्यक्तिगत स्वेच्छाचार* के सिद्धान्तका व्यापक

* Individualism.

प्रभाव समाज और राजनीतिके अंग प्रत्यंगपर पड़ा है। भिन्न भिन्न रुचि रखनेवाले व्यक्तियोंके तरह तरहके गुण, सामर्थ्य और योग्यताके विकासार्थ अवकाश सम्पन्न करना ही, समाज और राजनीतिके नियमोंका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए, राज वा समाजके बन्धन अमुक व्यक्तिकी उन्नतिमें, यदि साधक न हों, तो बाधक तो कदापि न होने चाहिएँ। संक्षेपमें यही व्यक्तिगत स्वेच्छाचारके सिद्धान्तका अभिप्राय है।

जब वैयक्तिक स्वतन्त्रताके सिद्धान्तका उपयोग राज और समाजके संगठनमें हुआ तभीसे यूरोपके देशोंकी मानसिक और आर्थिक उन्नतिका आरम्भ हुआ। इस सिद्धान्तके स्वीकार करनेसे सभी देशोंमें घोर परिवर्तन तो क्या मानों युगान्तर ही उत्पन्न हुआ। 'स्वावलम्ब', 'स्वाधीनता' ये शब्द इस नवीनयुगके महावाक्य बन गये। जिन राजवंश और धर्मगुरुओंकी अबतक तूती बजती थी, जिनके अधिकार शासन बिल्कुल बाधारहित थे, जो "कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्" समर्थ थे, जिनका आदेश--उचित वा अनुचित कैसा ही क्यों न हो--धर्मशास्त्रके विधानकी भाँति शिरोधार्य्य माना जाता था, वे इस नवीन युगमें अपनी उच्च पदवीसे भ्रष्ट हो गये। उनसे उनके अधिकार छीने गये, उन्हें मानवसमाजकी सेवा करनेके लिए बाध्य किया गया। जहाँ कहीं उन्होंने इस नये भावका विरोध किया, वहाँ वे जड़मूल-से उखाड़ डाले गये। नवीन युगके प्रारम्भमें लोगोंका विश्वास परम्परागत आचार-विचार और प्रचलित रूढ़ियोंपरसे उठ गया क्योंकि पूर्ववर्तीकालमें अन्धविश्वासका दौर-दौरा था। अपनी बुद्धिसे काम लेना तो लोगोंने छोड़ दिया था और रेखामात्र भी चुगण मार्गसे इधर उधर होनेमें वे पाप समझते थे। जो धर्मगुरुका आदेश होता था वही सर्वमान्य सिद्धान्त समझा जाता था, स्वच्छन्दतासे विचार करनेका अधिकार किसी भी मनुष्यको प्राप्त न था। प्रजाको तो राजाका सदा वशंवद होनाही चाहिए क्योंकि राजाका अधिकार तो ईश्वरदत्त है—'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' इस प्रकारकी राजनीति प्रजाको शुकवत् कण्ठस्थ करायी जाती थी। उस युगमें ज्ञान-विज्ञान की खोज बन्द थी। यदि कोई विद्वान सत्यकी कुछ खोज कर नये मतका प्रतिपादन करता तो उसे वेदनिन्दक कह कर लोग उसका उपहास करते थे। यह वह युग था जिसमें मानवबुद्धि अनभ्यासके कारण बिल्कुल स्फूर्तिशून्य हो गयी थी। जब मनुष्यको अपने निराले ढंगसे सोच विचार करनेका अवकाश मिलता है तभी तो उसे नयी नयी बातें सूझती हैं और तभी वह नये नये आविष्कार कर सकता है। काव्य, शिल्प, चित्रण आदि ललितकलाओंमें मानवी प्रतिभाकी झलक ऐसे कुसंस्कारग्रस्त युगमें कहाँ देखनेको मिल सकती थी। अर्थात् मानव-उन्नतिका मार्ग बिल्कुल ही अवरुद्ध हो चुका था।

इतिहासवेत्ता लोग इस समयको "माध्यमिक युग" कहते हैं, और वे इसका मुख्य लक्षण यह बतलाते हैं कि इसमें मानव आचार विचारकी निश्चल अवस्था थी और रूढ़ि और परम्परागत बातोंका अक्षरशः अनुसरण किया जाता था। पश्चिमकी प्राचीन सभ्यताका केन्द्र यूनान देशमें था। वहाँके लोग स्वतन्त्रता-प्रेमी थे। अतएव उनका

आश्चर्य्यजनक मानसिक विकास, जिसका इतिहास साची दे रहा है, सर्वथा विघ्नरहित था*। उनके काव्य, नाटक, दर्शन, शिल्पकला आदि सभीमें उनकी प्रतिभाका विलक्षण विलास स्पष्ट प्रतीत होता है। उस युगमें हमारे नवीन युगके सभी लक्षण और करामातें मौजूद थीं क्योंकि मनुष्यकी बुद्धि और विवेक अपना अपना व्यापार स्वतन्त्रतासे करती थी। किन्तु बीचके युगमें तो विचार-स्वाधीनता अत्यन्त विलुप्त होगयी थी। धर्मगुरु पोप महोदय जो फ़रमाते थे वही ब्रह्म वाक्य माना जाता था।

इस बीचके युगकी सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्था इतनी दृढ़ और सुगठ बनी हुई थी कि वह देखनेमें अनाद्यनन्त प्रतीत होती थी किन्तु ऐसी व्यवस्था-का, मानव विवेकके उदय होनेपर, जीर्णशीर्ण होना अवश्यम्भावी था। जिस कारण-परम्परासे वह दुर्भेद व्यवस्था छिन्नभिन्न हुई उसका उल्लेख इस लेखमें प्रासंगिक नहीं। अतएव हम केवल उस प्रधान हेतुका निरूपण करेंगे जिससे पाश्चात्य लोगोंमें नई विचार जागृति उत्पन्न हुई। नवीन युगका अङ्कुर पूर्ववर्तीकालमें मौजूद था, वह केवल अपने समयकी प्रतीक्षा करता था। अनेक महानुभाव प्रतिभाशाली पुरुष इस युगके जन्मदाता हुए। किसी वीर धुरन्धरने धर्मगुरु पोपके धार्मिक अत्याचार और अनाचारके विषयमें आन्दो-लन चलाया, तो किसीने साहस कर भूमण्डलका भ्रमण आरम्भ किया और देशदेशान्तर-के पते लगाये। भूमण्डलके नये नये स्थानोंमें पश्चिमके लोग जाकर बसने लगे और वहाँके द्रव्य और व्यापारसे कुछ समयमें ही समृद्धिसम्पन्न हो गये। इन सब घटनाओंमें नवीन युगके उदय होनेके सङ्केत स्पष्ट नज़र आते हैं।

ये सब घटनायें तो हुईं और इसके कारण नवयुगका प्रवर्तक आन्दोलन प्रतिदिन बड़े वेगसे फैलता ही गया। मुद्रण-यन्त्रके आविष्कारसे जनतामें पुस्तकोंका प्रचार शुरू हुआ। लोग ग्रीस और रोमके पण्डितोंके मतसे परिचित होने लगे। उनके शास्त्रोंके अध्ययनसे उनके मस्तिष्कमें स्वतन्त्र विचार करनेकी शक्ति परिस्फुरित हुई। अश्रुतपूर्व विचारोंके आक्रमणसे एक वार तो उनका मस्तिष्क संभ्रमित हुआ ही होगा, क्योंकि उन विचारोंमें उस समयके परम्परागत ज्ञानसे बड़ी ही विभिन्नता थी। जब दो विभिन्न विचार-शैलियोंका विरोध एवं संघर्षण होता है तभी तो मानव सभ्यतामें कुछ विशेष उन्नति की संभावना होती है। जिन पुराने विचारोंपर लोगोंकी अन्धश्रद्धा जमी हुई थी उनका खण्डन बड़े प्रचण्डरूपसे होने लगा। पाश्चात्य लोगोंके मस्तिष्कमें ऐसा घोर परिवर्तन हुआ कि यह मालूम होता था कि मानव बुद्धि मानो उच्छृंखल होकर परम्परा प्राप्त पवित्र विषयोंकी अवहेलना करनेमें तत्पर हो गयी थी। यूनान और रूमके तत्वचिन्तनके अनुशीलनसे यूरोपकी ज्ञान चक्षुसे अज्ञानका आवरण सहसा हट गया जैसे जागनेपर स्वप्नकी सुचारु

---

* The characteristic of the middle ages may be approximately described as a return to the period of authoritative usage and as an abandonment of the classical habit of independent and self choosing thought"

BAGEHOT. PHYSICS AND POLITICS.

सृष्टि देखते देखते विलीन हो जाती है वैसेही नवीन भावोंके उदय होनेसे पुरानी श्रद्धायें-चिरकालके विश्वास-यूरोपसे धीरे धीरे अस्त होने लगे। महात्मा मार्टिन लूथरने डंकेकी चोट यह घोषणा कर दी कि प्रत्येक मनुष्य अपने धार्मिक विचारोंमें स्वतन्त्र है और उसे उस समयके धर्मभ्रष्ट गुरुओंकी अपने मोक्षके लिए लेशमात्र भी अपेक्षा नहीं। "श्रेयान् स्वधर्मः"—स्वनिर्धारित धर्मही श्रेयस्कर है यह भारतका प्राचीन सिद्धान्त न जाने महात्मा लूथरके हृदयमें कैसे उदित हुआ। इस सिद्धान्तके प्रचारका परिणाम यह हुआ कि सारा यूरोप दो बड़ी धार्मिक सम्प्रदायोंमें विभक्त होगया और इनके पारस्परिक विरोधके कारण चिरस्थायी अनेक युद्धोंका सूत्रपात हुआ। किन्तु जो स्वतन्त्रताका स्वर लूथरने अलापा था वह तो बराबर सान्द्र और तीव्र होता हुआ गूँजता रहा। जिन देशोंने उसके संदेशको सुना और अपनाया वेही स्वाधीनताके मार्गमें अग्रसर हुए।

इस नवीन धर्मके आवेशमें देशोंके राज-समाजमें भी परिवर्तन हुए। एकाधिकार शासन नष्टप्राय होने लगे, प्रजाधिकारकी सर्वत्र विजय हुई। राष्ट्रीयताके भावका उदय हुआ। माध्यमिक युगकी दो विशेष संस्थायें थीं, एक तो सार्वभौम धर्मगुरु और दूसरा सम्राट्* इन दोनोंके रहते राष्ट्रीयताका अंकुर जम नहीं सकता था। इन दोनों संस्थाओंसे पश्चिमके देश प्रथक् होने लगे। और अपने अपने स्वत्व और अधिकारकी रक्षामें कटिबद्ध हुए। स्वदेश-प्रेम लोगोंके चित्तमें आ समाया। नवीन युगकी राजनीतिमें स्वदेश और स्वत्वका अभिमानने एक जीती जागती शक्तिका रूप धारण किया। प्रजाके इस उग्र अभिमानके सामने बड़े बड़े स्वच्छन्दचारी राजाओंको अपना मस्तक झुकाना पड़ा। जो राजा अपने राजत्वको ईश्वर-दत्त अधिकार मान बैठे थे, जो अतुल शक्ति पाकर अपने आपको सुभगंमन्य समझ रहे थे—उन्हें भी विवश होकर स्वाधीनता चाहनेवाली प्रजाके वशमें होना ही पड़ा।

राजनैतिक स्वतन्त्रताके प्राप्त करनेमें इंगलिस्तान सबसे प्रथम अग्रसर हुआ। इस भावके विकासके लिए वहाँकी परिस्थिति अनुकूल थी। वहाँकी प्रजाने बहुतकाल पूर्वसे स्वाधिकार सुरक्षित रखा था। राजनीतिमें प्रजा सदासे न्यूनाधिक भाग लिया करती थी। प्राचीनकालमें इंगलिस्तानमें जर्मनीके लोग आकर बसे थे। राजा, सचिव-समिति और प्रजाकी प्रतिनिधिसभा ये तीनों ही उनके राजसमाजके अंग थे। शासनका कार्य इन तीनोंके परस्पर विचारद्वारा ही होता था। अंगरेजोंका इतिहास वस्तुत; प्रजाधीन शासनकी अखण्ड उन्नतिका ही इतिहास है। नीति निपुण बेजहटका कथन है कि पार्लीमेंटके नीति-नियमों और जटिल समस्याओंके विषयमें जो चर्चा और वादविवाद इंगलिस्तानमें सदासे हुए और होते चले आते हैं उन्हींके कारण वहाँकी राजनैतिक प्रतिभाका विकास हुआ†।

* Universal Pope and Emperor.

† "The Histry of the growth of the Parliament is the history of the English people; and the discussions about this constitution and the discussions within it, the controversies as to its structure and the controversies as to its true effects, have mainly trained the English political entallect, in so far as it is trained." Bagehot, Physics and Politics. P. 176.

# स्वतन्त्रताका इतिहास

जिन देशोंमें वादानुवादपूर्वक शासनकी प्रथा प्रचलित है वहाँकी प्रजा इतिहासमें पहिले स्वाधीन बनी । कहावत है कि वादविवादसे तत्वबोध हुआ करता है 'वादेवादे जायते तत्वबोधः' । वादविवादसे मनुष्यकी बुद्धि पैनी होती है, और जिसे बुद्धि होती है वही बलशाली होता है । जिन देशोंकी राजनीतिमें आपसके वादानुवादके लिए अवकाश था, वहीं उन्नति हुई, बुद्धिमानोंका आदर हुआ, पुराने रीति रिवाजके बन्धन शिथिल हुए। नयी बातोंकी खोज शुरू हुई, तरह तरहके आविष्कार हुए, शास्त्रोंका परीक्षा पूर्वक अनुशीलन किया गया, किम्बहुना, प्रत्येक व्यक्तिके लिए उसकी उन्नतिका मार्ग निष्कण्टक हो गया ।

हमारी दलीलका निष्कर्ष यह है कि जिन देशोंमें वादानुवादपूर्वक शासनकी प्रथा मौजूद थी वहीं मनुष्यकी बुद्धि और कृत्य निरन्तर समुन्नत होते चले गये । इतिहास इस बातका प्रमाण है । प्राचीन कालमें एथेन्स और रोम, बीचके युगके इटलीके प्रजातन्त्र राज्य, फ्रांसकी जनसाधारण समिति, इंगलिस्तानकी पार्लीयामेन्ट—इन सभी संस्थाओंमें जन-समाजमें जीवन संचार करनेकी विलक्षण शक्ति थी । यह शक्ति उन्हें अपनी स्वतन्त्रतासे प्राप्त हुई थी । मानव विचारके बड़े बड़े संकटके समयमें अशंक होकर बोलने और विचार करनेकी स्वाधीनताके होनेसे पश्चिमके इतिहासमें घोर कायापलट हुआ* ।

**गंगाप्रसाद महता ।**

* "All the great movements of thought in ancient and modern times have been nearly connected in time with government by discussion. Athens, Rome, the Italian republics of the Middle Ages, the states-general of France, have all had a special and peculiar quickening influence, which they owed to their freedom, and which states without that freedom have never communicated. And it has been at the time of great epochs of thought that such liberty of speaking and thinking have produced their full effect." Bagehot, Physics and Politics.

# विदेशी विनिमय

( २ )

## *देशोंका पारस्परिक लेनदेन किसप्रकार चुकाया जाता है*

गत आश्विनके लेखमें हम यह बता चुके हैं कि एक देश अन्य देशोंका कर्जदार या लेनदार किन किन कारणोंसे होता है । इस लेखमें हम इस प्रश्नपर विचार करते हैं कि उनका पारस्परिक लेनदेन किस प्रकार-से चुकाया जाता है ।

संसारके सभ्य देशोंमें चाँदी और सोनेकी मुद्राएँ प्रचलित हैं और उनका लेनदेन इन्हीं मुद्राओंमें कूता जाता है । यदि कर्जदारको, किसी कारणसे, अपने कर्ज चुकाने-का अन्य कोई साधन नहीं मिलता, तो उसे चाँदी या सोना भेजनेको वाधित होना पड़ता है परन्तु चाँदी सोना भेजनेमें भेजनेका किराया और बीमेका ख़र्च लगता है । इस ख़र्चको भेजनेवालेको देना पड़ता है इसलिए जहाँतक हो सके वहाँतक वह अन्य कोई साधनका अवलम्बन लेता है । व्यापारी लोग इस ख़र्चसे बचनेके लिए कई साधन-का उपयोग करते हैं और उनमेंसे मुख्य साधन "विदेशी हुंडी" है ।

हुंडी देशके आन्तरिक लेनदेनमें भी उपयोगमें आती है परन्तु विदेशी लेनदेन चुकानेका वह मुख्य साधन है । हुंडी एक आज्ञापत्र है । हुंडी लिखनेवाला किसी एक व्यक्तिको उसमें लिखी हुई रकम किसी तीसरे व्यक्ति या जिसको वह कहे उसे देनेकी आज्ञा देता है । जिसके नाम हुंडी लिखी जाती है जब वह उस हुंडीपर दस्तख़त करके उसे स्वीकार कर लेता है तब वह बाजारमें बहुत सरलतासे सिकारी जा सकती है । ये हुंडियें दो प्रकारकी होती हैं—दर्शनी और मुद्दती । दर्शनी हुंडीकी रकम, जिसके नाम-पर की जाती है उसे बतानेपर तीन दिनके अंदर देना पड़ता है । मुद्दती हुंडीकी रकम मुद्दत पूरी होनेके तीन दिन बादतक दी जा सकती है ।

विदेशी लेनदेन हुंडियोंद्वारा बंक या बड़े बड़े शराफोंकी सहायतासे चुकाया जाता है । जो कर्ज़दार है--जिसको अपना कर्ज़ चुकाना है उसे अपने कर्ज़ अदाकरने-की मितीपर अपना कर्ज़ चुकानेका इंतिजाम करना पड़ता है ।

मान लीजिए कि प्रयागके एक व्यापारी रामदयालने फ्रांससे २००० फ्रेंकका माल मँगाया । मालकी कीमत उसे फ्रेंकमें चुकाना है । यदि उसका किसी बंकसे लेनदेन नहीं है तो वह डाकघर* जाकर यह जाननेका प्रयत्न करता है कि क्या २००० फ्रेंकके विदेशी मनीआर्डर फ्रांस भेजा जा सकता है । यदि भेजा जा सकता हो तो वह मनी आर्डर कमीशन देकर रुपया भेज देती है । परन्तु यह मनी आर्डर कमीशन बंकके कमीशनसे

---

*Post office

बहुत अधिक रहता है इसलिए भारी रकमको बंकद्वारा भेजनेमें ही लाभ होता है। राम-दयाल भी जहाँतक होसकेगा वहाँतक बंकद्वारा ही रुपये भेजनेका प्रयत्न करेगा।

वह प्रयागके इलाहाबाद बंकके दफ्तरमें जाकर फ्रांसपर की हुई २००० फ्रैंककी हुंडियें माँगता है। बंक अकसर अन्य देशोंपर की हुई हुंडियें मौकेसे खरीदकर अपने यहां जमा रखते हैं। यदि बंकके पास फ्रांसपर की हुई कुछ हुंडियें होंगी तो वह रामदयालको अपना कमीशन लेकर बाजारू दरपर बेच देगा। यदि ऐसी हुंडी उसके पास न हुई तो वह फ्रांसके अपने अढ़तियेके नाम २००० फ्रैंककी एक हुंडी लिखकर रामदयालको बेच देता है। ऐसी हुंडीको अंगरेजीमें बैंकड्राफ्ट* कहते हैं। विदेशी मनी आर्डर और बंककी हुंडियोंद्वारा रुपये चुकानेमें रामदयालको एक बड़ी असुविधा यह होती है कि उसे तुरंत रुपये चुकाना पड़ता है।

इस असुविधासे बचनेके लिए वह इलाहाबाद बंकसे प्रार्थना करता है कि वह फ्रांसके व्यापारीद्वारा की हुई हुंडीको उसकी तरफसे स्वीकार करना मंजूर करले। यदि बंक रामदयालकी स्थितिसे अच्छी तरहसे परिचित है तो, और यह समझता है कि मुद्दत पूरी होनेपर रामदयाल उस हुंडीको सिकार सकेगा तो बिना किसी जमानत लिए उचित कमी-शन लेकर उसकी तरफसे हुंडी स्वीकार करना वह मंजूर कर लेता है। यदि बंकको हुंडीकी रकम मुद्दत पूरी होनेपर रामदयालद्वारा चुकाये जानेका भरोसा नहीं होता है तो वह राम-दयालसे कुछ जमानत माँगता है या उसको कोई सामान गिरवी रखनेको कहता है। उचित जमानत या गिरवीकी रकम पानेपर बंक उसको एक साखपत्र† देता है जिसमें वह रामदयालकी तरफ़से हुंडीको स्वीकार करनेकी प्रतिज्ञा करता है। इलाहाबाद बंक चाहे तो इस शर्तपर भी रामदयालपर की हुई हुंडीको खरीदना मंजूर कर सकता है कि फ्रांसका व्या-पारी उसके साथमें बिलटी‡ और बीजक भी जमा करदे। ऐसी साखको अंगरेजीमें (प्रमाण-पत्री साख) कहते हैं। यदि उपरोक्त शर्तपर इलाहाबाद बंक साखपत्र दे तो उसको यह अधिकार रहता है कि रामदयालद्वारा उस हुंडीके स्वीकार किये जाने या उसकी रकम चुकाये जानेतक वह बिलटी अपने पास जमा रखे। रामदयालको बिना बिलटी मिले माल नहीं मिलेगा और यदि माल देशमें आ गया तो वह बंककी गोदाममें पड़ा रहेगा।

रामदयाल इलाहाबाद बंक द्वारा दिये हुए साखपत्रको अपने फ्रांसके व्यापारी-के पास भेज देता है। फ्रांसका व्यापारी साखपत्रकी शर्तके अनुसार इलाहाबाद बंक या राम-दयालके नाम २००० फ्रैंककी हुंडी निकालता है। ऐसी हुंडीको व्यापारिक हुंडी§ कहते हैं। फ्रांसका व्यापारी इस हुंडीको अपने बंकको बेचनेके लिए ले जाता है। और उस

---

* Bank Draft

† Letter of credit.

‡ Bill of lading.

|| Documentary credit.

§ Commercial Bill.

बंकको इलाहाबाद बंकका रामदयालके नाम दिया हुआ साख-पत्र बतलाता है। यदि फ्रांसका बंक इलाहाबाद बंककी दशासे अच्छी तरहसे परिचित है तो वह उस हुंडीको खरीद लेता है और अपने भारतीय अढ़तियेके पास भेज देता है। भारतीय अढ़तिया उसे इलाहाबाद बंकमें ले जाता है जोकि उसे रामदयालकी तरफसे अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार स्वीकार कर लेता है। उसके स्वीकार होनेपर वह बाजारमें बड़ी सुगमतासे बेची जा सकती है। मुद्दत पूरी होनेपर रामदयाल इलाहाबाद बंकको रुपये दे देता है और इलाहाबाद बंक उस हुंडीके मालिकको, जिसने कि उसे खरीदा है, रुपया चुका देता है। इस व्यापारिक हुंडीसे यह लाभ हुआ कि फ्रांसके व्यापारीको अपने मालके लिए तुरन्त रुपये मिल गये और रामदयालको मालकी कीमत चुकानेमें असुविधा भी नहीं पड़ी। उसने अपना माल छुड़ाकर तीन महीनेके अंदर बेच लिया और जो कुछ रुपया आगया उसे इलाहाबाद बंकको मुद्दत पूरी होनेपर दे दिया। ऐसी हुंडियोंमें अधिक खतरा नहीं है और उसके उपयोगसे थोड़ी पूंजी वाले भी—भारी व्यापार कर सकते हैं।

उपरोक्त उदाहरणमें यदि यह मान लिया जाय कि फ्रांसकी बंक जिसके पास वहाँका व्यापारी रामदयालके नाम किया हुआ इलाहाबाद बंकका दिया हुआ साखपत्र ले जाता है, इलाहाबाद बंककी स्थितिसे परिचित नहीं है तो ऐसी दशामें वह हुंडीको नहीं खरीदेगा। तब रामदयालको इलाहाबाद बंकसे यह प्रार्थना करनी होगी कि वह लंदनके किसी बंक या सराफको उसके नामपर साखपत्र देनेके लिए राजी करे। इलाहाबाद बंक अपनी पहिचानके लंदनके एक प्रख्यात बंकको रामदयालके संबंधमें सब हाल लिख देता है और लंदनका बंक अपनी शर्तें तय कर उचित कमीशनपर रामदयालकी तरफ़से हुंडी स्वीकार कर लेना मंजूर कर लेता है। लंदनका बंक रामदयालको साख-पत्र इलाहाबाद बंकके जरियेसे भेज देता है जो कि वह अपने फ्रांसके व्यापारीके पास भेज देता है। फ्रांसका व्यापारी लंदनकी बंकके नामपर हुंडी निकालता है और अपने बंकके पास ले जाता है जोकि उसके साखपत्र बतानेपर उसे तुरन्त खरीद लेता है। यह भी दूसरी तरहकी व्यापारी हुंडी है। पहिली और इसमें यह अंतर है कि पहिली उसी देशपर कीगयी थी जिसको माल भेजा गया था और यह एक तीसरे ही देशपर कीगयी है। माल तो फ्रांससे भारत भेजा जाता है और उसके संबंधमें हुंडी लंदनपर की जाती है। ऐसी हुंडियोंका प्रचार बहुत है। इसका मुख्य कारण यह है कि इंगलिस्तानके खास बंकों और सराफोंने अपना रोजगार संसार भरमें फैलाकर अपनी साख इतनी बढ़ा ली है कि उनके नामपर की हुई हुंडियें संसारमें कहीं भी बेची जा सकती हैं। इसलिए अन्य देशोंके लेनदेनका बहुतसा भाग प्रायः लंदनपर की हुई हुंडियोंद्वारा चुकाया जाता है।

व्यापारिक हुंडियोंके अतिरिक्त एक तरहकी हुंडियोंका उपयोग लेनदेन चुकानेमें और किया जाता है। इनको अंगरेजीमें* 'रोजगारी अथवा व्यापारिक हुंडियें' कहते हैं।

* Financebills.

व्यापारिक हुंडियें और इनमें यह अंतर है कि व्यापारिक हुंडियें जिनके नामपर की जाती हैं वे या तो कर्ज़दार रहते हैं या कर्जदारकी तरफ़से उसे स्वीकार करना मंजूर करनेवाले होते हैं। परंतु रोजगारी अथवा व्यवसायिक हुंडियोंमें ऐसा नहीं रहता। इसमें इन हुंडियोंका लिखनेवाला, जिनके नामपर लिखी जाती हैं उनका कर्जदार हो जाता है। इन हुंडियोंमें-से कभी कभी व्यापारको बड़ा लाभ पहुंचता है। ऐसे देशोंमें जोकि अनाज और कच्चा माल बाहर भेजते हैं और विदेशोंसे बना हुआ माल मँगाते हैं, निर्यात किसी खास खास महीनोंमें ही अधिक परिमाणमें विदेश भेजा जाता है और आयात बारहो महीने बराबर आया करता है। इस कारण उन महीनोंमें जबकि निर्यातका जाना कम हो जाता है, आयातके कर्ज चुकानेके लिए काफी परिमाणमें व्यापारिक हुडियें नहीं मिलती। और जैसा अन्य लेखोंमें बतलाया जायगा हुंडियोंकी कीमत बनी हुई रहती है। तब बड़े बड़े सराफ और बेंकर लोग अपने विदेशी अढ़तिये और ब्रेंच आफिसरोंके नाम हुडी निकाल कर इस माँगकी पूर्ति करते हैं और देशसे सोना चाँदीका भेजा जाना रोकते हैं। उनको इन हुंडियोंकी कीमत भी अच्छी मिल जाती है। परंतु इन हुंडियोंद्वारा वे अपने अढ़तियों-के कर्जदार हो जाते हैं। इसलिए जब हुंडीकी मियाद पूरी होनेको आती है तो उनको अपने विदेशी अढ़तियोंको उसे सिकारनेके लिए दर्शनी हुंडी या रुपये भेजनेकी आवश्यकता पड़ती है। इसलिए वे बाजारमें हुंडियें खरीदनेको आते हैं। यदि इस समय देशसे कच्चा माल या अनाज बहुतायतसे बाहर जाता हो तो विदेशपर की हुई हुंडियें बहुतायतसे मिलेंगी और जैसा कि अन्य लेखोंमें बतलाया जायगा वे कम कीमतपर मिल जायँगी। इससे वह सराफ या बेंकर भी लाभ उठा सकेगा। व्यापारियोंको भी उससे यह लाभ होगा कि यदि वह इन हुडियोंको खरीदने नहीं आता तो इनकी पूर्तिकी अधिकताके कारण विदे-शियोंको उन्हें सोना चाँदी भेजना पड़ता जो कि फिर व्यापारकी मंदीके समयमें विदेश फिरसे वापस भेजा जाता। इन रोज़गारी—अथवा व्यवसायिक हुंडियोंके उपयोगसे सोने चाँदीका व्यर्थ दोबारा आनेजानेका ख़र्च बच जाता है।

परंतु ऐसी हुंडियोंसे हानि भी अधिक है। कोई कोई मनुष्य ऐसी हुंडियोंको बेचकर जो कुछ रुपया मिलता है उसे किसी ऐसे रोजगार या व्यवसायमें लगा देते हैं कि जहाँसे उनका वापिस निकाला जाना बिना नुकसानके आसानीसे नहीं हो सकता। इसलिए जब मुद्दत पूरी होती है तो उनके पास रुपया न होनेके कारण वे दूसरी हुंडी बेंच-कर उसे चुकानेका प्रयत्न करते हैं। यदि ऐसी हुंडियें निकालनेवालेका लगातार कुछ दिनोंतक नुकसान होता गया—जैसा कि कभी कभी हो जाता है—तो उसकी साख गिर जाती है और उसका दिवाला निकल जाता है। इसलिए रोज़गारी हुंडियोंमें लेन देन करनेवालोंको सदैव सावधान रहना चाहिए।

भारतमें कोई स्टैंडर्ड सिक्का न होनेके कारण भारत सरकारको भी विदेशी व्यापा-रिक लेनदेन चुकानेमें सहायता पहुँचानी पड़ती है। जब इंगलिस्तानमें भारतपर कीहुई

हुंडियोंकी माँग अधिक रहती है और यहाँके निर्यातकी मात्रा कम होनेके कारण इन हुंडियों-का बाज़ारमें अभाव रहता है तो भारतसचिव लंदनमें भारत सरकारके नाम हुंडियें बेंचकर बढ़ते हुए विनिमयके दरको अधिक बढ़नेसे रोकता है। ऐसी हुंडियोंको* 'कौंउसिल बिल' कहते हैं। इसी तरहसे भारतमें लंदनपर कीहुई हुंडियोंकी माँग अधिक रहती है और देश-से निर्यातकी कमीके कारण विदेशपर कीहुई हुंडियोंका अभाव रहता है तो भारत-सरकार भारतसचिवके नामपर हुंडियें बेचकर गिरते हुए विनिमयकी दरको अधिक गिरनेसे रोकती है। ऐसी हुंडियोंको "रीवर्स कौंसिल"† कहते हैं।

भिन्न भिन्न तरहकी हुंडियोंका विवेचन यहाँपर समाप्त कर हम अगले लेखोंमें यह बतलानेका प्रयत्न करेंगे कि विनिमयके दरकी घटाबढ़ीके क्या कारण हैं, लेनदेनकी विषमताका उसपर क्या प्रभाव पड़ता है और वह दर किस तरहसे स्थिर की जा सकती है।

**दयाशंकर दुबे।**

* Council Bills.

† Reverse Council.

# "ब्रिटिश-राजनैतिक-संगठनमें राजाका स्थान"

वि गत यूरोपीय महाभारतमें यूरोपके तीन बड़े बड़े राजछत्र भंग हो गये। जर्मनीके प्रबलप्रतापी सम्राट् कैसर आजकल हालैण्डकी हवा खा रहे हैं, रूसके 'पार्थिव परमेश्वर' ज़ारकी हड्डी पसुलियोंतकका भी पता नहीं है, आस्ट्रियाके सम्राट् प्रथम और अन्तिम कार्ल स्विज़रलैंडकी शरणमें हैं। परन्तु ब्रिटिश साम्राज्यके सम्राट् पंचम जार्ज अब भी सिंहासनारूढ़ हैं, इसका मुख्य कारण ब्रिटिश-राजनैतिक-संगठनमें राजाकी विचित्र स्थिति है।

प्रजाके अधिकारोंका भाव आधुनिक है, प्राचीन समयमें यदि किसीके अधिकार थे, तो वे राजाके, जिसने जातिपर विजय प्राप्तकर, राज्यकी स्थापना की थी। ऐसी अवस्थामें 'राजा करै सो न्याय' ऐसे भावका होना स्वाभाविक था। परन्तु कोई एक व्यक्ति वह कितना ही वीर क्यों न हो, विना सेनाकी सहायताके, राज्यकी स्थापना नहीं कर सकता। यही कारण है कि यदि विजयके अवसरपर नेता स्वयं राजा बनता था, तो उसे सेनाके अन्य मुख्य मुख्य नायकों को, राज्यमें जागीर देकर सन्तुष्ट करना पड़ता था। इस तरह राज्यके जन्मके साथ ही साथ जागीरदारी प्रथाका भी सूत्र-पात होता है। समय समयपर राजा इन जागीरदारोंको आमंत्रित करता था, और राज्यके कार्य्यसंचालनमें उनकी सम्मति लेता था। फल यह हुआ कि धीरे धीरे इन जागीरदारोंकी एक सभा बन गयी। ऐतिहासिक-घटना-चक्रमें पड़कर यह ही संस्था, अब अपने विस्तृत स्वरूपमें, 'राष्ट्रीयसभा' के नामसे विख्यात है।

शक्तिका लोभ, हत्याके लोभसे कम नहीं होता, जहाँ एकबार इसका चसका लगा, फिर छूटना कठिन हो जाता है, 'प्रभुता पाय काहि मद नाहीं' मानी हुई बात है। राज्यके जन्मके कुछ ही काल बाद राजाको जागीरदारोंका हस्तक्षेप खटकने लगा। दूसरी ओर जागीरदारोंको राजाका मनमाना शासन असह्य हो उठा। बस फिर क्या था परस्परमें युद्ध छिड़ गया। आधुनिक स्वतंत्रताके इतिहासमें इसको पहिली लड़ाई समझना चाहिये।

इंगलिस्तानमें, नार्मनविजय (सं० ११२३) के बाद ही यह झगड़ा प्रारम्भ हुआ। प्रथम नार्मन राजा विलियम विजयी फ्रान्सके नार्मण्डी प्रान्तका रहने वाला था। उसने नार्मण्डी निवासी सरदारोंकी सहायतासे इंगलिस्तानपर विजय प्राप्त की थी। इन लोगोंको संतुष्ट रखनेके लिए उसे बड़ी बड़ी जागीरें देनी पड़ी थीं। पर साथही साथ उसने इस बातका भी ध्यान रक्खा था कि इन लोगोंकी शक्ति अधिक न बढ़ने पाये। सैलिसबरीके मैदानमें प्रजाको राज भक्तिकी शपथ लेनी पड़ी थी। परन्तु यह स्थिति बहुत कालतक कायम न रह सकी। राजा और जागीरदारोंमें परस्परका मन मुटाव बढ़ता ही गया। राजाको युद्धके लिए अपने जागीरदारोंसे आर्थिक तथा सैनिक सहायताकी आवश्यकता रहती थी, परन्तु जागीरदारको सबसे पहिले अपनी जागीरसे लाभ उठानेकी चिन्ता थी।

दोनोंके उद्देश्योंमें अंतर था, दोनोंही निरंकुश शक्तिके आकांक्षी थे। डेढ़सौ वर्षतक यह झगड़ा चलता रहा, अन्तमें राजाकी हार और जागीरदारोंकी विजय हुई। सं० १२७२ में इंगलिस्तानके अत्याचारी राजा जानको 'स्वतंत्रता-पत्र' पर जो "मेग्नाकार्टा"के नामसे प्रसिद्ध है, हस्ताक्षर करने पड़े।

यह 'स्वतंत्रता-पत्र' इंगलिस्तानमें प्रजाके अधिकारोंका आधार समझा जाता है, पर वास्तवमें यह केवल जागीरदारोंका 'विजयपत्र' है। इसके अनुसार विना जागीरदारोंकी सम्मतिके राजा उनसे मनमाना कर नहीं ले सकता, न तत्कालीन नियमोंके विरुद्ध किसी स्वतंत्र मनुष्यको कैद ही कर सकता है, और न उसकी सम्पत्ति ही अपहरण कर सकता है। इस तरह राजाके हाथसे दो बड़े बड़े अधिकार जाते रहे।

परन्तु उस समय, राजाके इन बन्धनोंसे साधारण प्रजाको वास्तविक लाभ हुआ हो, इसमें बहुत सन्देह है, क्योंकि साधारण प्रजा जागीरदारोंके अधीन थी। साधारण प्रजाका राजासे सीधे सीधे, सम्बन्ध बहुत ही कम था। किसी विशेष अवसरपर प्रजाको केवल राजदर्शनहीसे सन्तोष करना पड़ता था, पर नित्य प्रतिके जीवनमें उसे जागीरदारोंहीसे काम था। इस विजयके बाद जागीरदारोंकी खूब बन आई। राजाका भी भय जाता रहा, और इन लोगोंने मन माना अत्याचार प्रारम्भ किया। सारी शक्ति इस समय इन लोगोंके हाथमें थी, यह ही लोग बड़े बड़े राज-कर्मचारी नियुक्त करते, और राज्यपरिषद बनाते थे, राजा इन लोगोंके हाथमें कठपुतलीकी तरह नाचता रहता था।

शक्तिके मदमें उन्मत्त जागीरदार लोग बहुत दिनतक आपसमें मिलकर काम न कर सके। इन लोगोंके कई एक दल बन गये, और परस्परहीमें युद्ध छिड़ गया। इन लड़ाइयोंसे सारी प्रजा परेशान हो उठी। ऐसी दशामें शान्ति स्थापन करनेके लिए प्रजाकी दृष्टि राजापर पड़ी। राजाने भी अपनी शक्ति दृढ़ बनानेका अच्छा अवसर देखा। फल यह हुआ कि सं० १५४२ में सप्तम हेनरीके राज्याभिषेकके साथही साथ इंगलिस्तानकी राज-शाहीके इतिहासमें एक नवीन युगका प्रारम्भ हुआ।

सप्तम हेनरी ट्यूडर वंशके राजा थे। इस वंशने सवा सौ वर्षतक इंगलिस्तानमें राज्य किया। इस कालमें राजाओंकी शक्ति फिर बहुत कुछ बढ़ गई। परन्तु इस नवीन शक्ति और प्राचीन शक्तिमें बड़ा भेद था। अब इंगलिस्तानकी 'राष्ट्रीय सभा' पार्लमेण्ट बन चुकी थी। इसमें जागीरदार और महन्तोंके साथ साथ प्रजाके प्रतिनिधि भी थे। पार्ला-मेण्टकी उपयोगिता प्रजाकी समझमें आगयी थी, और उसे इसके अधिकारोंको सुरक्षित रखनेका बराबर ध्यान रहता था। ट्यूडर राजा लोग भी प्रजारंजनके लिए पार्लमेण्टकी अवहेलना नहीं करना चाहते थे। इसलिए जो कुछ वह करते थे, उसमें पार्लमेण्टकी सम्मति अवश्य ले लेते थे। इधर प्रजाको शान्ति और नियमकी बेहद आवश्यकता थी, इस लिए पार्लमेण्टने राजाज्ञाओंकी भी उपेक्षा न करती थी और विना बहुत सोच विचारके

अपनी सम्मति दे देती थी, क्योंकि जागीरदारोंके नष्ट होजानेपर रक्षाका भार अब राजाहीके माथे था, इसलिए उसको रुष्ट करना, प्रजाके लिए हितकर न था।

यही कारण था कि ट्यूडरकालमें पार्लामेण्टपर राजाओंका पूरा आतंक जमा हुआ था। अभीतक पार्लामेण्टने राजाओंके लिए कई एक बन्धन बना रक्खे थे। बिना पार्लामेण्टकी आज्ञाके राजाको कोई नवीन कर लगानेका अधिकार न था। इसी तरह बिना पार्लामेण्ट-की सम्मतिके कोई नया कानून भी न बन सकता था। बिना वारण्टके जिसमें स्पष्ट-रुपसे अपराध दिखलाया गया हो, कोई गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था। फौजदारीके अभियोगोंमें बारह आदमियोंकी एक "जूरी" अर्थात् पंचायत बिठलानी पड़ती थी। कोई राजकर्म-चारी अपने अपराधको राजाज्ञाके बहाने टाल नहीं सकता था। मंत्रियोंपर अभियोग लानेका कामन्स-सभाको पूरा अधिकार था। परन्तु इन सब बन्धनोंके होते हुए भी ट्यूडर राजाओंने मनमाना शासन किया।

जागीरदारोंकी बचीखुची शक्तिको नष्ट करना सप्तम हेनरीका मुख्य उद्देश्य था। साधारण प्रजाको छोड़कर, अमीर जागीरदारोंसे उसने खूब द्रव्य ऐंठना प्रारम्भ किया। प्रजाके प्रतिनिधियोंने इसमें राजाका पूरा साथ दिया। अष्टम हेनरीके समयमें तो पार्लामेण्टको चूँ करनेतकका भी साहस न था। राजाको फ्रांसके साथ युद्ध करनेके लिए रुपयेकी आवश्यकता थी, उसने 'कामन्स सभा' में अपने प्रधान मंत्री वूल्सेको भेजा, परन्तु सभाने विरोधके पश्चात् थोड़ा रुपया देना स्वीकार किया। बस इसी बातपर राजाने पार्लामेण्टको सात वर्षतक आमन्त्रित नहीं किया। ध्यान रहे कि पार्लामेण्टको आमन्त्रित करनेका अधिकार राजा को ही प्राप्त है। इस अवसरमें जबरदस्ती कर्ज़ लेकर वह काम चलाता रहा। अन्तमें नवीन पार्लामेण्टको इस ऋणकी जिम्मेदारी लेनी पड़ी। अष्टम हेनरीने अपने सात विवाह किये थे। अंगरेजोंमें बहुपत्नी विवाहकी प्रथा नहीं है, इसलिए स्त्रीको किसी न किसी अपराधमें तिलाक देनेके बादही वह दूसरीसे विवाह कर सकता है। राजाने नियम बनाया कि उसकी परित्यक्त पत्नी एनीबोलीन और उसकी पुत्री एलिज़बेथके साथ उसके सम्बन्धपर किसी प्रकारका वादविवाद न हो। किसी व्यक्तिसे यदि इस विषयमें कुछ पूछा जाय, और उसका उत्तर राजाके निर्णय-के प्रतिकूल हो, या वह उत्तर देनेसे इन्कार करे, तो उसपर राजविद्रोहका अभियोग लाया जाय। यह राजविद्रोहकी परिभाषा कैसी विचित्र थी। पर सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस नादिरशाही नियमको भी पार्लामेण्टने पास कर दिया, इतना ही नहीं पार्लामेंटने यह भी नियम बना दिया कि सारी राजाज्ञायें, पार्लामेण्टसे पास किये हुए नियम तुल्य, समझे जायँ। इस तरह पार्लामेण्ट इस समय एक खेलवाड़ मात्र थी, और सारी शक्ति राजाके हाथमें थी।

पार्लामेण्टकी इस दीनताके कई एक कारण थे। सबसे पहिले तो रक्षाकी आ-वश्यकता, जैसा ऊपर दिखलाया जा चुका है, दूसरे जागीरदारोंके नष्ट होजानेसे

पार्लमेण्टमें निर्भीक नेताओंका अभाव क्योंकि अभीतक प्रजाके प्रतिनिधियोंमें इतना साहस नहीं था, तीसरे धार्मिक सुधारके आन्दोलनमें राजाकी विजय, और इंगलिस्तान-के चर्च ( धर्मसंघ ) के अधिष्ठाताके पदपर उसकी नियुक्ति, चौथे तत्कालीन यूरोपमें इंगलिस्तानकी राजनैतिक-स्थिति, इन्हीं सब बातोंसे इस समय पार्लमेण्ट चुप-चाप राजाका समर्थन, उचित और अनुचित सभी कार्य्योंमें करती गयी ।

इतिहासकी गति सचमुच बड़ी वक्र होती है । एक संस्था किसी उद्देश्यसे बनती है, उसका फल दूसरा ही होता है । देखनेमें तो राजाकी शक्ति धीरे धीरे निरंकुश होरही थी, पर साथही साथ पार्लमेण्टमें उन अस्त्रोंका निर्माण हो रहा था, जिन-के द्वारा राजाओंकी शक्ति सर्वदाके लिए छिन्न भिन्न हो गयी, पर इसका राजाओंको पता तक भी न था । यह काल यूरोपमें बड़े महत्वका था । सर्वत्र सुधारोंकी चर्चा थी । तरह तरहके आविष्कार होरहे थे, छापेखानेके प्रचारसे विद्यामें रुचि बढ़ रही थी । साधा-रण जन-समुदायमें एक विचित्र जागृति हो उठी थी । इसका प्रभाव राजनैतिक-जीवन-पर भी पड़ रहा था । इंगलिस्तानकी पार्लमेण्टमें भी प्रजाके प्रतिनिधि धीरे धीरे राजनैतिक शिक्षा और अनुभव ग्रहण कर रहे थे ।

रानी एलीज़बेथके राजत्वकाल (सं० १६१५ से सं० १६६०) में, जब यूरोपीय शत्रुओंके भयकी आशंका जाती रही, देशमें रक्षाका पूरा पूरा उपाय हो गया, और धार्मिक झगड़ेभी शान्त हो गये, तब पार्लमेण्टने अपना वास्तविक स्वरूप दिखलाना प्रारम्भ किया । हठी अष्टम हेनरीकी पुत्री ट्यूडर वंशकी अन्तिम रानी, एलिज़बेथ पार्लमेण्टकी धृष्टताको कब सहन करनेवाली थी, उसने सभाके सदस्योंको स्पष्ट रूपसे बतला दिया कि उन्हें केवल 'हाँ' या 'नहीं' कहनेकी वाक्स्वतंत्रता प्राप्त है, पर व्यर्थकी बक बक करनेका उन्हें कोई अधिकार नहीं है ।

पर स्वतंत्रताकी अग्नि एकबार सुलग कर शीघ्र बुझती नहीं है । एलीज़बेथकी मृत्युके पश्चात् ही यह पूर्ण रुपसे प्रज्वलित हो उठी । रानीको कोई सन्तान नहीं था, इसलिए इसकी फूफीके वंशका लड़का जेम्स जो स्काटलैण्डका राजा था, इंगलिस्तानका भी राजा हुआ । जेम्स स्टुअर्ट वंशका था । इसके धार्मिक विचार इंगलिस्तानसे पूर्णतया विरुद्ध थे । राजाके अधिकारोंको वह ईश्वरदत्त अधिकार समझता था, उसकी शक्तिकी कोई सीमा न थी, पार्लमेण्टको जो थोड़े बहुत अधिकार प्राप्त थे, वह उसके मतानुसार केवल राजाके अनुग्रहमात्र थे, अन्यथा पार्लमेण्टको कोई अधिकार न थे । इस तरहके विचार, और सामने ट्यूडर राजाओंका आदर्श, ऐसी स्थितिमें, जेम्स और पार्लमेण्टमें खटपट मानी हुई बात थी । उसने सदस्योंके चुनावमें बाधा डालना प्रारम्भ किया । बिना पार्लमेण्टकी सम्मतिके नये कर लगाये, अपने मतके विरुद्ध निर्णय करनेके अपराधमें, मुख्य न्याया-धीश कोकको पदच्युत किया । इतना ही नहीं कामन्स सभाके कई एक बकवादी नेताओंको जेलमें ठूँस कर प्रजाके प्रतिनिधियोंकी स्वतंत्रतापर सीधे सीधे कुठाराघात प्रारम्भ कर दिया ।

बदलेमें 'कामन्स सभाने' मंत्रियोंपर अभियोग चलाया, और राजकीय अत्याचारोंका घोर प्रतिवाद करते हुए 'समर्थन-पत्रमें' जो 'अपालोजी' नामसे प्रसिद्ध है, अपने प्राचीन अधिकारोंका बड़े जोरोंसे समर्थन किया। राजाकी ओरसे उत्तर मिला कि "राजकीय रहस्योंमें पार्लमिन्टको हस्तक्षेप करनेका कुछ भी अधिकार नहीं है, उसके सारे अधिकार राजाके अनुग्रहमात्र हैं।"

जेम्सके जीवनकालमें यह झगड़ा जैसे-तैसे चलता रहा, पर जेम्सका पुत्र चार्ल्स प्रथम, अपने पितासे भी बढ़कर था। जेम्सने तो केवल सिद्धान्त स्थिर किया था, पर चार्ल्सने इन सिद्धान्तोंकी वेदीपर अपनी बलि भी देनेका दृढ़ संकल्प कर लिया। इधर पार्लमिन्टने अपने अधिकारोंकी रक्षाके लिए पूर्ण रूपसे कमर कस ली। चार्ल्सने मनमाना रुपया वसूल करना जारी रक्खा और 'मार्शल-ला' (फौजी कानून) का पूरा प्रबन्ध कर दिया। बहुत झगड़ेके बाद सं० १६८५ में पार्लमेण्टने 'अधिकार-प्रार्थना पत्र'। जो 'पेटिशन आफ राइट्स' के नामसे प्रसिद्ध है, पेश किया। इसमें प्राचीन अधिकारोंका समर्थन करते हुए पार्लमिन्टने फिर प्रार्थना की कि बिना उसकी सम्मतिके कोई कर न लगाया जाय। मार्शल-ला रद्द कर दिया जाय और फिर बिना सभाकी सम्मतिके जारी न किया जाय, और न्याय देशके साधारण नियमोंद्वारा किया जाय। बड़े संकोचसे राजाने इसे स्वीकार कर लिया। पर ऐसे बंधनोंमें फँसना चार्ल्सकी प्रकृतिके विरुद्ध था, थोड़े ही दिन बाद उसने उनका उल्लंघन करना प्रारम्भ कर दिया। अब बिना शस्त्रोंकी झन्कारके यह प्रश्न हल होनेवाला नहीं था, पार्लमेण्ट और राजामें युद्ध छिड़ गया, अन्तमें राजाकी हार हुई और पार्लमिन्टने चार्ल्सको फाँसीपर लटकवा दिया। इंगलिस्तानमें प्रजातंत्र राज्यकी घोषणा हो गयी, और पार्लमिन्टका सेनाध्यक्ष क्रामवेल 'संरक्षक' के पदसे विभूषित किया गया।

परन्तु इस लड़ाईमें राजनैतिक पक्षकी अपेक्षा धार्मिक पक्षपर लोगोंका ध्यान अधिक था। चार्ल्स प्रजाके धार्मिकभावोंमें हस्तक्षेप करता था, प्रजाको उसकी धर्मनीति पसन्द न थी पर राजवंशसे प्रजाकी पूर्ण सहानुभूति थी। चार्ल्सका बध इनेगिने उद्दण्ड राजनैतिक नेताओंका काम था, जिससे साधारण प्रजा सहमत न थी। फल यह हुआ कि क्रामवेलके मरते ही मरते प्रथम चार्ल्सका पुत्र द्वितीय चार्ल्स प्रजाकी इच्छासे फिर राजा बन बैठा। द्वितीय चार्ल्सकी नीति विचित्र थी, उसका कहना था कि जितने अच्छे काम हैं, वे तो राजाके हैं, पर जो भूलें हैं, वे मंत्रियोंकी हैं,। बस इसी नीतिके अनुसार अपनी भूलोंका दोष वह किसी मंत्रीके मत्थे मढ़ देता था, जो बेचारा पार्लमेन्टके कोपका शिकार बनता था। चार्ल्स द्वितीय बड़ा मनमौजी और नीतिचतुर राजा था, उसे अपने काम निकालनेकी धुन रहती थी, और बेकार सिद्धान्तोंके पीछे प्राण देनेका विचार कभी न था, इधर पार्लमिन्टको भी ध्यान था, कि उसीकी प्रार्थनासे वह राज्य कर रहा है, इसलिए जैसे तैसे काम चलता गया, पर दोनों अपने दांव पेंचसे खाली न रहे। चार्ल्सके बाद

उसका भाई जेम्स द्वितीय गद्दीपर बैठा। यह अपने पिता चार्ल्स प्रथमके मार्गहीका अनुसरण करना चाहता था। न्यायाधीशोंपर दबाव डालकर उसने यह निर्णय कराया कि राजाको पार्लमेन्टके किसी नियमसे किसी व्यक्तिको युद्ध करनेका अधिकार है, इसी तरह किसी नियमको कुछ कालके लिए व्यवहारमें न लानेका भी अधिकार है। बस इसी निर्णयके सहारे उसने नियमोंका उल्लंघन प्रारम्भ कर दिया। इसपर सं० १७४५ में पार्लमेन्टने उसे निकाल बाहर किया, और उसकी बहन, तथा बहनोई मेरी और विलियमको राजा रानी बनाया। इस अवसरपर पार्लमेन्टने एक बड़े महत्वका प्रस्ताव पास किया, जो 'बिल आफ़ राइट्स' अर्थात् 'अधिकार प्रस्ताव' के नामसे प्रसिद्ध है। इसके अनुसार किसी व्यक्ति, या कुछ कालके लिए कानूनका उल्लंघन करना नियम विरुद्ध है, शान्तिके समयमें बिना पार्लमेन्टकी सम्मतिके, सेना नहीं रक्खी जा सकती, राजाको मन माना कर लगानेका अधिकार नहीं है, पार्लमेन्टके चुनावमें किसीपर बेजा दबाव नहीं डाला जा सकता है, पार्लमेन्टमें पूर्ण वाक्-स्वतंत्रता है, वहाँके वाद विवादपर किसी बाहरी न्यायालयमें अभियोग नहीं चल सकता है, प्रजाकी शिकायतोंको दूर करनेके लिए पार्लमेन्टके कई एक सम्मेलन आवश्यक हैं, 'प्रोटेस्टेन्ट' मतके सिवा और किसी मतका अनुयायी सिंहासनारूढ़ नहीं हो सकता है।

बस यहींसे राजाकी वास्तविक शक्तिका अन्त समझना चाहिए या कई शताब्दियोंकी लड़ाईके बाद यह अधिकार प्रजाको प्राप्त हो सके हैं। 'स्वतंत्रता-पत्र' (मैग्नाकार्टा) 'अधिकार प्रार्थना (पेटिशन आफ राइट्स) और 'अधिकार-प्रस्ताव' (बिल आफ़-राइट्स) इन तीनोंने सदाके लिए राजाके हाथ बाँध दिये हैं, निस्सन्देह प्रजाकी स्वाधीनताके यह आधार हैं।

रानी एनकी मृत्युके पश्चात् सं० १७७१, से हैनोवर वंशका राज्य प्रारम्भ हुआ। यह लोग जर्मन प्रान्त हैनोवरके रहनेवाले थे। इनको अंगरेजी भाषा और राजनीतिका कुछ भी ज्ञान न था, इसलिए पहिले दो राजाओंने सारा शासन भार प्रधान-सचिव और मंत्रिमण्डलके मत्थे छोड़ दिया। इधर पार्लमेन्टमें कई एक राजनैतिक दल उत्पन्न हो गये, और धीरे धीरे यह चाल पड़ गयी कि मंत्रिमण्डल पार्लमेन्टके सम्मुख जिम्मेदार है। प्रत्येक सचिव या मंत्रीके लिए यह आवश्यक है कि वह पार्लमेन्टका सदस्य हो, और यदि उसकी नीतिका समर्थन पार्लमेन्टमें बहुमतसे न हो, तो वह इस्तीफ़ा देदे। इस प्रथाका फल यह हुआ कि सारी वास्तविक शक्ति मंत्रिमण्डलके हाथमें आगयी।

सिद्धान्तके अनुसार राजा पहिलेकी नाईं अब भी राज्यका मुख्य अधिष्ठाता है, शासनमें उसका पद सबसे उच्च है, व्यवस्थापनमें प्रत्येक नियमके लिए उसकी अनुमति आवश्यक है। पार्लमेन्टको आमन्त्रित, स्थगित, भंग करनेका उसीको अधिकार है, सारे मंत्री और राजकर्मचारी उसके नौकर हैं, जिसको चाहे वह रख सकता है, और जिसे चाहे वह निकाल सकता है, सारा न्याय उसके नामसे होता है, न्यायाधीशोंकी नियुक्ति

# ब्रिटिश-राजनैतिक-संगठनमें राजाका स्थान

उसके हाथ है, उनका रखना न रखना उसकी इच्छापर निर्भर है, क्षमा और दण्डका उसे पूर्ण अधिकार है, सेनाका वह सर्वोच्च अध्यक्ष है, नौ और स्थल सेनाको घटाने बढ़ाने और संचालन करनेका भार उसके हाथमें है, सारी प्रतिष्ठाका वही मुख्य द्वार है, राजनैतिक पदवियाँ उसीके नामसे प्रदान होती हैं, राष्ट्रीय धर्म्मसंघका वही मुख्याधिष्ठाता है, उसीकी आज्ञासे धार्मिक सभाओंका संगठन और बड़े बड़े महन्त तथा मठाधीशोंकी नियुक्ति होती है, अन्य राज्योंमें राजदूत उसीके आज्ञासे जाते हैं, और सन्धि तथा युद्ध भी उसीके नामसे होते हैं।

परन्तु वास्तवमें यह सब अधिकार प्रधान सचिवके हाथमें है, शक्तिकी हैसियत-से, शासनमें हस्तक्षेप करनेका अवसर राजाको बहुत ही कम है। ब्रिटिश राजनीतिज्ञोंकी बराबर यही नीति रही है, कि राजाकी संस्था नष्ट न होने पाए, उसकी मान मर्य्यादा और प्रतिष्ठा ज्योंकी त्यों बनी रहे, पर साथही साथ व्यक्तिगत स्वेच्छा-चारिताका अवसर न मिले। इसीलिए पार्लमेन्टकी ऐसी कुछ व्यवस्था निकाली गयी है, कि राजा अब केवल राज्यका आभूषणमात्र है। सिद्धान्तमें तो प्रधान-सचिव राजाका नौकर है, पर वास्तवमें वह उसका स्वामी है। निस्सन्देह उसकी नियुक्ति राजाके हाथमें है, पर साथही साथ यह भी आवश्यक है कि वह पार्लमेन्टका सदस्य हो, और अपने अनुयायियोंकी अधिकतासे कामन्स-सभाका विश्वासभाजन हो। फल यह होता है, कि कामन्स-सभामें जिस नेताका सबसे प्रबल दल होता है, उसीको प्रधान-सचिव बनानेके लिए राजा बाधित है। इसी तरह न्यायाधीशोंको राजा अपनी इच्छासे नियुक्त और पदच्युत कर सकता है, पर नियुक्ति प्रायः प्रधान सचिवकी सिफारिशसे होती है, और जब तक पार्लमेन्टकी दोनों सभायें उसमें अविश्वास प्रकट न करें, वह पदच्युत नहीं हो सकता है,। सेनाका खर्चा पार्लमेन्टकी सम्मतिसे मिलता है, इसलिए वह व्यक्तिगत् स्वार्थ साधनके लिए सेनाका वृद्धि नहीं कर सकता। राज्यकी आयका व्यय पार्लमेन्टके ही हाथमें है, राजाको अन्य कर्मचारियोंकी तरह बँधा हुआ वार्षिक वेतन मिलता है, उसीसे उसको अपना व्यक्तिगत खर्च चलाना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट है कि वास्तवमें राजाके नामसे प्रधान सचिव और मंत्रिमण्डल राज्य करता है।

इंगलिस्तानके राजाओंने कब इस स्थितिको स्वीकार कर लिया है। हैनोवरवंशके पहिले दो राजा प्रथम और द्वितीय जार्ज तो किसी प्रकारकी बाधा डालनेके अयोग्य ही थे, पर तृतीय जार्जने इस स्थितिसे मुक्ति पानेके लिए कई बार प्रयत्न किया, परन्तु निष्फल रहा। चतुर्थ जार्जको अपनी विलासप्रियतासे ही छुट्टी न थी, और बेचारे चतुर्थ विलियमको राजकीय आडम्बर भारसा प्रतीत होता था, परन्तु रानी विक्टोरिया बड़ी चतुरता और बुद्धिमानी-से अपना प्रभाव जमाये रही।

राजा अपने व्यक्तिगत आचरण और योग्यतासे अब भी शासनपर बहुत कुछ प्रभाव डाल सकता है। एक साधारण व्यक्ति भी यदि समाजका हित करना चाहे तो उसके लिए

सैकड़ों अवसर और मार्ग हैं फिर भला राज्यके सबसे बड़े पदाधिकारीके लिए कहना ही क्या है ? राजनैतिक दलोंसे अलग रह कर वह निष्पक्ष भावसे गंभीर और जटिल प्रश्नोंका अध्ययन कर सकता है, और मंत्रियोंको उचित सम्मति दे सकता है जैसा कि रानी विक्टोरियाने कई बार किया था। असावधानीके कारण सचिव पामर्शट्नको उसने पदच्युत करवा दिया, और पूरी ताकीद कर दी कि अन्य राज्य सम्बन्धी जितने कागज़ात हैं, वे सब उसको दिखला दिये जाया करें, और उसकी सम्मत्ति लेली जाया करे। इसी तरह बाहरसे गल्ला आनेमें जो बाधायें थीं, उनको रद्द करनेमें उसने सचिव पीलकी नीतिका समर्थन किया और अपने मार्गपर डटे रहनेके लिए उसे खूब उत्साहित किया। सं० १८४१ में 'लार्ड्स' और 'कामन्स' के बीचमें कठिन समस्या उपस्थित थी, पर उसने बीचमें पड़कर निपटारा करवा दिया। उचित, निष्पक्ष सम्मति देना, और समयानुसार सचिवोंको उत्साहित तथा मना करना, आजकल व्यक्तिकी हैसियतसे राजाके मुख्य अधिकार हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार बैजारने बहुत ठीक कहा है कि इनके अतिरिक्त अन्य अधिकारोंकी आकांक्षा किसी दूरदर्शी और नीतिचतुर राजाको नहीं करनी चाहिए।

आज इंगलिस्तान एक छोटासा द्वीप नहीं है, संसारके कोने कोनेमें इसकी विजय-पताका फहरा रही है, इस बृहत् साम्राज्यमें राजछत्र एकताका चिन्ह है। भिन्न भिन्न देश और जातियोंको एकताके सूत्रमें बद्ध करनेके लिए राजभक्तिका भाव परम आवश्यक है। पार्लमिन्टसे शासनका सम्बन्ध भले ही हो, पर उसके प्रति यह भाव कदापि नहीं हो सकता। साधारण समाज केवल सिद्धान्तोंसे सन्तुष्ट नहीं रहता, उसको समझानेके लिए प्रत्येक भावको स्थूल स्वरूप देना ही पड़ता है। युवराजकी स्थितिमें सम्राट् सप्तम एडवर्ड और पंचम जार्जने साम्राज्यमें घूम घूम कर इस शृंखलाको दृढ़ बनानेका बराबर प्रयत्न किया है।

अंगरेज लोग राजछत्रकी इस उपयोगिताको खूब समझते हैं, वे भलीभाँति जानते हैं कि इंगलिस्तानके राजनैतिक संगठनमें राजाकी जो वर्तमान स्थिति है, उससे किसी प्रकारकी हानिकी अपेक्षा लाभ ही अधिक है। यही कारण है कि विगत महायुद्धमें राजछत्र भंग करने वाली प्रबल प्रचण्ड आँधी चलते रहनेपर भी आज ब्रिटिश राजछत्र अटल है।

**गंगाशंकर मिश्र**
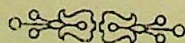
# भारतमें चीनीका व्यवसाय

ईख, चुकन्दर मूल एवं ताड़ और खजूर वृक्षके रसोंसे चीनी तैयार होता है। संस्कृतमें ईखको इक्षु कहते हैं और हिन्दीमें ऊख तथा ऊँखके नामसे भी पुकारते हैं। ईखका उल्लेख अथर्व वेदमें आया है। बहुत प्राचीन संस्कृत लेखकोंने चीनीका नाम 'शर्करा' लिखा है। यह खाण्डके नामसेभी प्रचलित था जो शब्द खण्ड् धातुसे निकला है। इससे विदित होता है कि प्राचीनकालमें ईखको खण्डित कर उससे चीनी तैयार होता था, न कि ताड़ वृक्षके रससे जहाँ खण्डित करनेकी कोई विधि नहीं। आजकल खाण्ड शब्द चीनीके एक विशेषरूपके लिए प्रयोग होता है जिसको शर्कर-खण्डी अथवा शुगर कैन्डी* कहते हैं। उसी प्रकार "गुदा" या "गुला" शब्दका अर्थ 'ढेर' अथवा 'गेंद' का है जो विशेष अर्थमें आजकल गाढ़ा रसके लिए प्रयोग होता है। इसी गुदा अथवा गुला शब्दसे आधुनिक गुड़ शब्द निकला है।

बंगालका प्राचीन नाम "गौर" देश है जो कुछ लोगोंकी रायमें गुर शब्दसे निकला हुआ समझा जाता है। इससे कुछ लोगोंकी धारणा है कि गुड़ बनानेकी विधि पहिले पहिल बंगालमेंही निकली। किन्तु यह विचार ठीक नहीं मालूम होता क्योंकि गुदा शब्दका उल्लेख ऐसे प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है जो आर्य्योंसे बंगालका आधिपत्य स्थापित किये जानेके पहिले लिखे गये थे।

ईखकी खेती पहिले पहिल भारतवर्षमेंही शुरू हुई थी इसमें कोई सन्देह नहीं। यहींसे अरब देश होकर पाश्चात्य देशोंको यह गयी। गाल्ट† नामके एक व्यक्तिने चीनीका इतिहास लिखा है जिसमें लिखा है कि यह निर्विवादरूपसे कहा जा सकता है कि सं० १२०८ में ईखकी खेती बड़े धूमधामसे सिसिली टापूमें होती थी और वेनिस निवासी इसका वाणिज्य करते थे। सेनटस‡ नामके एक दूसरे व्यक्तिने सं० १३६३ में लिखा था कि सुल्तानके अधीनस्थ देशोंमें ईखकी खेती बहुत अधिक तादादमें होती थी और वहींसे सीप्रस‖ रोडस्§ सिसिली¶ एवं अन्यान्य ईसाई देशोंमें गयी।

प्राचीन ग्रीक और रोमन लोगोंको चीनीकी उत्पत्तिका बहुत टेढ़ा मेढ़ा ज्ञान था। वे लोग इसे एक प्रकारका मधु समझते थे जो ईख सदृश घासोंसे निकाला जाता था। हेब्रू ग्रन्थोंमें चीनीका कहीं उल्लेख नहीं है इससे मालूम होता है कि बहुत पहिले अरब और मिश्र देशमें यह पैदा नहीं होता था। चीनवालोंको भी चीनीका ज्ञान बहुत प्राचीनकालसे नहीं है। ब्राइट श्नीडर* ने बहुत प्राचीन चीन ग्रन्थोंमें कहीं भी इसका उल्लेख नहीं पाया है। खीष्ट्रीयन शताब्दीसे दो सौके पहिले ग्रन्थोंमें पहिले पहिल इसका वर्णन मिलता है।

---

* Sugar-candy. † Galt ‡ Sanutus. ‖ Cyprus. § Rhodes. ¶ Sicily. * Breit schneider.

# स्वार्थ

पेन्टसेओ* के अनुसार सं० ६८४ में एक चीननिवासी चीनीके साफ़ करनेकी विधिको सीखनेके लिए चीनसे विहार प्रान्त भेजा गया था। उसके बादके वर्णनसे पता लगता है कि चीनमें चीनीका व्यवसाय बहुत उन्नत अवस्थामें था और वहाँसे दूर दूर देशमें भेजा जाता था। १६ वीं और १७ वीं शताब्दीके सभी विदेशी यात्री इस बातका समर्थन करते हैं और लिखते हैं कि उस समय चीनमें बहुत अच्छा और सस्ता चीनी मिलता था। वासकोडिगामा† जो सं० १५५१ में गुडहोप अन्तरीप होकर भारत आये थे लिखते हैं कि उस समय पश्चिमी तटके मुख्य वाणिज्यके स्थान कालीकटमें चीनीका वाणिज्य बहुत अधिक होता था। इसके बादके सभी विदेशी यात्री इस बातका समर्थन करते हैं।

आजकल थोड़ा बहुत चीनी भूमण्डलके हर प्रान्तमें तैयार होता है। अपनी अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए हर देशके निवासी चीनी अथवा गुड़ उत्पन्न करनेकी चेष्टा करते चले आये हैं। ऐसे देश इने गिने ही हैं जहाँ उस देशके निवासियोंकी आवश्यकतासे अधिक चीनी पैदा होता हो। ऐसे स्थानोंमें हिन्द महासागरके कुछ द्वीप, जावा, मौरिशस, फीजी इत्यादि, प्रशान्त महासागरके द्वीप फोरमुसा और मध्य यूरोपके देश हैं। हिन्द और प्रशान्त महासागरके द्वीपोंमें ईखसेही चीनी तैयार होता है किन्तु मध्ययूरोपके देशोंमें चुकन्दर मूलसे।

चुकन्दरमूलसे चीनी बनानेकी विधि प्राचीन नहीं है। सं० १८०४ में मरग्राफ‡ नामक एक जर्मन रसायनिकने पहिले पहिल चुकन्दर मूलमें चीनीका पता लगाया था और उसे चीनी बनानेके लिए उपजानेकी सलाह दी। पहिले पहिल जो चेष्टाएँ इस ओर हुई वे औद्योगिक दृष्टिसे निष्फल हुई, किन्तु सं० १८८७ से नये नये सुधारोंके प्रयोगसे इस विधिकी सफलताका सितारा चमका। बीजोंके चुनाव और खेतीके सुधारसे चुकन्दर मूलमें चीनीका तादाद शीघ्रही दूना हो गया। नये नये यन्त्रोंके आविष्कार और प्रयोगसे पैदा करनेका ख़र्च बहुत कुछ घट गया। आरम्भमें इस व्यवसायकी उन्नतिके लिए शासकोंकी ओरसे सहायता मिलने लगी जिससे उत्पन्न करनेके ख़र्चसे कम क़ीमतमें यह चीनी विदेशोंमें भेजा जा सका। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनोंमें इस चुकन्दरसे बने चीनीने ईखसे बने चीनीको यूरोपके बाजारोंसे निकाल भगाया। केवल यूरोपमें ही नहीं वरन दूर दूर देशों तक यह चीनी जाने लगा। सारे संसारमें जितना चीनी पैदा होता है उसका पाँचवा हिस्सा चुकन्दर मूलसे केवल जर्मनीमें चीनी तैयार होता है। ग्रेट ब्रिटेनको छोड़कर यूरोपके सभी देशोंमें अब चुकन्दरमूलमें चीनी तैयार होने लगा है। इसकी पैदावार अब अमरीकामें भी शुरू हुई है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही वहाँ भी इससे बहुत अधिक तायदादमें तैयार होने लगेगा।

---

* Pent Sao.

† Vasco-de-Gama.

‡ Margraf.

# भारतम चीनीका व्यवसाय

गत यूरोपीय युद्धके आरम्भ होनेके पिछले वर्ष अर्थात् सं० १९७१ में हिन्दुस्तान-की २५,४१,६०० एकड़ भूमि (देशी रियासतोंको छोड़) में ईखकी खेती हुई थी और उनसे प्राय: ८,५५,९८,००० मन गुड़ पैदा हुआ होगा* । कुछ प्रान्तोंमें ताड़ एवं खजूरके रसोंसे भी प्राय: २,५८,००० मन प्रति सालके हिसाबसे गुड़ पैदा होता है किन्तु ताड़ एवं खजूरके रससे गुड़ पैदा होनेके परिमाणमें साल प्रति साल कुछ अधिक परिवर्तन नहीं होता । गत युद्धके समय बाहरसे चीनीका आगमन बन्द हो जानेपर और चीनीका भाव बढ़ जानेपर भी इसकी पैदावारमें कोई वृद्धि नहीं हुई । इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि ताड़ एवं खजूरके रससे बने हुए चीनीके व्यवसायकी वृद्धिके लिए यहाँ कुछ अधिक समावेश नहीं† । उसी सं० १९७१ में चीनी और रवा दोनों, मिल कर प्राय: २,४३,९२,९६० मन बाहरसे इस देशमें आये ।

युद्धके पहिले तीन वर्षोंमें औसत सालाना प्राय: ६९,६३,२०० मन चीनी बाहरसे यहाँ कम आया । इसी समय अधिक भूमिमें यहाँ ईख बोयी गयी थी जिससे प्राय:, ९५,२०००० मन गुड़ अधिक पैदा हुआ होगा जो निम्नलिखित तालिकासे विदित होता है ।

## तालिका

| प्रान्त | पैदावार गुड़ फी एकड़ मनमें | सम्वत् १९७१ | | सम्वत् १९७५ | |
|---|---|---|---|---|---|
| | | रकबा एकड़में | पैदावार मनमें | रकबा-एकड़में | पैदावार मनमें |
| बंगाल ... | ३५·४ | २१६५०० | ७६५४००० | २०७००० | ७३२१००० |
| म्बबई ... | ८४·१ | ६३५०० | ५३५५००० | ११३००० | ९५३०००० |

* ठीक ठीक यह कहना कठिन है कि कितना गुड़ हर साल यहाँ पैदा होता है क्योंकि इसकी कोई गणना नहीं की जाती और न गणना करनेकी कोई सन्तोषदायक विधि ही मालूम है ।

लेखक ।

† इधर कुछ माससे मद्यनिवारिणी चेष्टाओंके कारण कई स्थानोंमें ताड़ीका बिकना बिल्कुल बन्द हो गया है । इससे कई एक पत्रोंमें लेख छपे हैं जिनमें ताड़के रससे गुड़ और चीनी बननेकी सलाह दी गयी है । यदि लोगोंका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और चेष्टा की गयी तब संभव है कि इससे बने हुए चीनीके तादादमें वृद्धि हो ।

लेखक

## तालिका

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| मंद्राज ... | ५६.८ | ८३६०० | ५००२००० | १२३००० | ७३६०००० |
| युक्त प्रान्त ... | ३२.६ | १३८६३०० | ४५३४०००० | १४६७००० | ४८८५०००० |
| बिहार और उड़ीसा | २६.६ | २६२६०० | ८१३६००० | २६३००० | ७८७०००० |
| पञ्जाब ... | २४.५ | ४१०८०० | १००६०००० | ५०२००० | १२२६०००० |
| मध्यप्रान्त ... | २६.६ | २०४०० | ६०६२०० | २५००० | ७४८००० |
| आसाम ... | २४.५ | ३७६०० | ६२७६०० | ३५१०० | ८५६६०० |
| उत्तर पश्चिम सीमाप्रान्त | ५४.४ | ३१८०० | १७३०००० | ३१००० | १६८७००० |
| भिन्न भिन्न छोटे रकबा | ३५.४ | २४६०० | ८८१२०० | २२००० | ७६७००० |
| मीजान ... | ... | २५४१६०० | ८५५६८१०० | २८१८०० | ६७२७६६०० |

ऊपर लिखित तालिकासे विदित होता है कि यद्यपि ईखकी खेती सबसे अधिक युक्तप्रान्त, विहार और बंगालमें होती है किन्तु पैदावार फी एकड़ इन प्रान्तोंमें अधिक नहीं होती। सबसे अधिक पैदावार वम्बई प्रान्तमें और मन्द्राज प्रान्तमें होती है। इसका कारण यह है कि इन प्रान्तोंमें सिंचाईका प्रबन्ध अच्छा है और खाद अधिक परिमाणमें व्यवहार होता है। युक्तप्रान्त विहार और बंगालमें शीतकालका अधिक समयतक ठहरनेसे भी पैदावारमें कुछ कमी होती है। युक्तप्रान्त और पञ्जाबमें नहरोंके रहने और सिंचाई होनेपर भी जलवायु समुचित नहीं रहनेसे मद्रास और बम्बई प्रान्तोंके बराबर पैदावार नहीं होती।

बंगाल, विहार और युक्तप्रान्तकी बहुतसी भूमिमें ईखोंका बिल्कुल सिंचाव

नहीं होता। युक्तप्रान्त और विहारमें कहीं कहीं सिंचाव भी होता है तो बहुत कम और वह कुएँसे ढेकी अथवा मोटद्वारा पानी खींच कर। जितनी एकड़ भूमिमें ईख उपजाई जाती है उतनीही भूमिमें हिन्दुस्तानकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए काफी चीनी पैदा हो सकता है, यदि उसकी खेती कुछ उन्नति रूपमें की जाय। इसके लिए निम्नलिखित बातोंपर ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

( १ ) भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें भिन्न भिन्न प्रकारके ईखोंकी उपजकी कोशिश करनी चाहिए जो प्रान्तोंके स्वाभाविक ताप परिमाण जलवायु और जल प्राप्तिके अनुकूल हों।

( २ ) ऐसे ईखकी उपजको बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिए जिनमें किसी प्रकारकी बीमारी असर न करे, ताकि किसानोंको ईखकी खेतीसे हानि होनेकी सम्भावना ही न रहे।

( ३ ) ईखकी खेतीमें अधिक परिमाणमें खाद्य व्यवहार करनेकी ओर जोर देना चाहिए। इसके लिए खरी, विशेष कर महुआ और एरण्डी और अमोनिया गन्धेत अधिक उपयोगी पाया गया है।

( ४ ) सिंचाईकी आवश्यकता और उसकी उपयोगितापर ध्यान देना और कुएंसे हाथ अथवा बैल द्वारा पानी खींचनेके स्थानमें जलकलका प्रचार करना उचित है।

( ५ ) चुकन्दर मूलसे गुड़ निकालनेकी विधिका भी प्रचार करना उचित है। इस पौधेके लिए भारतवर्ष बहुत उपयुक्त स्थान है।

ईख उपजानेमें क्या खर्च पड़ता हैं और भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें चीनीके कारखाने-वालोंकी ओरसे क्या कीमत मिलती है यह विचारना बहुत आवश्यक है।

विहार और युक्तप्रान्तमें युद्धके पहिले मामूली तौरसे खराब ईखोंके लिए चार आने फी मनके हिसाबसे कीमत मिलती थी। इसमें गुड़के भावकी कमी वेशीके कारण और भिन्न भिन्न कारखानेवालोंकी खींचातानीके कारण साढ़े तीन आनेसे ६ आनेतक इसमें हेर फेर होता था। युद्धके समय विहारमें इसका भाव कुछ बढ़ गया। उन जगहोंमें जहाँ मोटी मोटी ईख उपजाई जाती थी कीमत कुछ अधिक मिलता था। मद्रास और मैसूरमें किसान स्वयं ही ईखको कारखानेमें लेजाकर, उन्हें पेर, रस निकाल, गुड़ बना, तब बेचते हैं, जिससे करीब दससे बारह आना तक फीमन पड़ जाता था। मध्यप्रान्तमें नौ आने फीमनके हिसाबसे बेचनेपर किसान बहुत सन्तुष्ट रहते थे। बम्बई प्रान्तमें कृषि विभागकी ओरसे पूरा खाद देकर उपजानेमें चार आनेसे कुछ ही अधिक सं० १९७३ में खर्च पड़ा था। जो ईख बम्बईमें उपजाया गया था वही फीजी और मोरिशस टापुओंमें भी उपजाया जाता है। फीजीमें एक मन ईखमें प्रायः तीन आना खर्च पड़ता है। बोने काटने और ढोनेका खर्च भी इसीमें सम्मिलित है। मोरिशसमें हिन्दुस्तानी किसानोंको औसत सवापांच आना कीमतके हिसाबसे मिलता है। फोरमोसा टापूमें ( जो जापानियोंके अन्तर्गत है )

औसत, साढ़े चार आना फ़ीमन उपजानेवालोंको मिलता है। यह करीब करीब उतनाही आता है जितना युक्तप्रान्तमें किसानोंको मिलता है। युक्तप्रान्तमें कृषि विभागकी ओरसे चेष्टा की गयी थी कि किसान स्वयंही कारखानोंमें पेर कर गुड़ बना तब कारखाने वालोंके हाथ बेचें, किन्तु इसमें सफलता नहीं हुई और इसमें सफलता न हो सकती है जब तक अच्छे प्रकारकी ईख इन जगहोंमें उपजायी न जायगी।

यह कहना कठिन है कि हिन्दुस्तानमें कितना गुड़ पैदा होता है और उससे क्या कीमत मिलती है। गुड़ बरसातके मौसिममें अच्छी दशामें नहीं रहता, पसीजना शुरू हो जाता है। इससे किसान इसे रखना नहीं चाहते। ईखकी खेती समाप्त होते ही गुड़ों से बाज़ार भरजाता है जिससे भावमें बहुत उलट फेर होता रहता है। इस तरह अधिक गुड़ उसी समयमें बेच दिया जाता है जब कीमत बहुत कम मिलती है।

इसका कोई प्रमाण नहीं कि गुड़ की माँग दिन प्रतिदिन घट रही है अथवा बढ़ रही है। अभीतक ईखका बहुत थोड़ा अंश चीनीके बनानेमें प्रयोग होता है। युद्ध-के पहिले बाहरके देशोंसे अधिक परिमाणमें चीनी इस देशमें आयी। इसका कारण यह है कि आधुनिक सभ्यताके प्रचार और रहनसहनके परिवर्तनसे गुड़के स्थानमें चीनीका प्रयोग अधिकाधिक परिमाणमें होने लगा है। यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि ईख-की खेतीकी बढ़तीसे जो अधिक गुड़ पैदा होगा वह गुड़के रूपमें प्रयोग होगा अथवा चीनीके रूपमें। यदि गुड़का प्रयोग और उसकी माँग अधिक होगी तब गुड़का भाव अवश्यही महँगा होगा और उस दशामें चीनीके कारखानेवालोंको ईखके लिए अधिक कीमत देनी पड़ेगी। इसके प्रतिकूल यदि चीनीका प्रयोग बढ़ा और उससे उसकी माँग बढ़ी तब गुड़ सस्ता होगा और कारखानेवालोंके कम कीतममें ईख मिलेगी। युद्धके समयतक खाद्य पदार्थोंमें चीनी ही एक पदार्थ था जो बाहरसे इस देशमें आता था और कई वर्षोंतक यद्यपि और गल्लोंके भावोंमें बढ़ती हुई थी किन्तु चीनीका भाव साल प्रति साल गिरता ही गया जिससे हिन्दु-स्तानमें चीनी बनानेमें धीरे धीरे कम नफा होने लगा। प्रायः गत दो वर्षोंसे ही चीनीका भाव बहुत बढ़ गया है जिससे चीनीके कारखानेवालोंको आशातीत सफलता हुई है और इन दो वर्षोंमें चीनीकी नयी नयी कम्पनियाँ खुली हैं, यद्यपि ऐसी कम्पनियोंमें बहुत कम ही अभीतक यन्त्रोंके अभावसे चीनी बनानेका कार्य्य आरम्भ किया है। गत वर्षोंमें कृषि विभागकी ओरसे जो अन्वेषण हुए हैं उनसे यह निर्विवाद है कि इस चीनीके व्यवसायके लिए हिन्दुस्तानमें बहुत अधिक क्षेत्र है। नयी नयी विधियों और यन्त्रोंके प्रयोगसे उप-जानेका खर्च न बढ़ाते हुए भी पैदावारकी एकड़ बहुत कुछ बढ़ायी जा सकती है और इसके लिए यथेष्ट चेष्टा होनी चाहिए।

सं० १९७२ में देशी रियासतोंको छोड़कर और भागोंमें केवल २३ चीनीके कारखाने थे। उनमें युक्तप्रान्तमें, सात बिहार और उड़ीसा प्रान्तमें और पाँच मद्रासमें थे। इनमें कुछ कारखानोंमें गुड़से चीनी तैयार होता था और कुछमें सीधे ईखसे। कुछ

केवल ईखही प्रयोग करते थे और कुछ गुड़ और ईख दोनों। कुछ कारखानोंमें मद्य भी तैय्यार होती थी और एक अथवा दो कारखानोंमें कार्बनद्विप्रोषित गैस भी मीठा और खारा पानीके लिए लोहेके पीपोंमें भरा जाता था।

चीनीके कारखानोंका सफलता पूर्वक चलना बाहरसे आयी हुई चीनीकी दरपर निर्भर है। यहाँके पैदा हुए गुड़के भावपर भी यह बहुत कुछ निर्भर रहता है। यदि गुड़ कम पैदा हुआ तब इसका भाव अवश्यही चढ़ जायगा और जबतक साथ ही साथ चीनीका भाव न बढ़े तबतक कारखानेवालोंको इससे लाभ नहीं होगा, किन्तु हर्षका विषय है कि युद्धके बादसे बाहरसे आयी हुई चीनीका भाव बहुत चढ़ गया है जिससे–जैसा मैं कह चुका हूँ–यहाँके कारखाने वालोंको आशातीत सफलता हुई है, इन सफलताओंके कारणही अनेक नये नये चीनीके कारखाने खुल रहे हैं। इन कारखानोंको स्थायी बनाने और बाहरसे आयी हुई चीनीके परिमाणको कम करनेके लिए यह अत्यावश्यक है कि ईखकी उपज जितनी अधिक हो सके बढ़ायी जाय। अभीतक जितने चीनीके कारखाने खुले हैं और कार्य कर रहे हैं उनमें अधिकांश यूरोपियन व्यवसायियोंके हाथमें ही हैं। अब कुछ हिन्दुस्तानी व्यवसायी भी इस ओर झुके हैं किन्तु अभीतक ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत कम है। व्यवसायकी ओर झुकने वाले भारतवासियोंको इस ओर ध्यान देना चाहिए। अब भी बिहार और युक्तप्रान्तमें जहाँका मुझे बहुत कुछ ज्ञान है ऐसे अनेक स्थान हैं जहां चीनीके कारखाने बड़ी सुगमतासे खोले और चलाये जा सकते हैं। चीनीके कारखानेके लिए कुछ अधिक पूँजीकी आवश्यकता पड़ती है, इससे किसी एक अथवा दो व्यक्तियोंके लिये इसको खोलना और चलाना सम्भव नहीं, किन्तु आजकल कम्पनियोंका खोलना उतना कठिन नहीं जितना कुछ वर्ष पहिले था। लोग दिन प्रतिदिन व्यवसायकी ओर झुक रहे हैं और ऐसे व्यवसायके लिए जिसमें नफ़ा प्रत्यक्ष है सभी सहायताके लिए तय्यार होंगे। बिहार और युक्तप्रान्तके उत्साही व्यवसायियोंको इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

हिन्दुस्तानकी अधिकांश ईख ग्रामोंमें ही बैलसे चलनेवाली कलोंद्वारा पेरी जाती है और रस उबाल कर गुड़ बना लिया जाता है। इस कामको करनेके लिए बैलोंकी संख्या यथेष्ठ नहीं। उनको उचितसे अधिक काम करना पड़ता है इससे वे बहुत दुर्बल हो जाते हैं। इसके बाद उनको रबी और भदई फसलोंके लिए भी परिश्रम करना पड़ता है। बैलोंके इस अत्यधिक परिश्रमके कारण समयपर ईखका पेरना समाप्त नहीं होता वरन् ऐसे समयतक चला जाता है जब ईखके गुड़ बहुत घट जाते हैं। यह दशा प्रायः ऐसी हर जगह पायी जाती है जहाँ अधिक परिमाणमें ईख उपजायी जाती है। इससे साफ मालूम पड़ता है कि ईखकी खेतीको अधिक लाभदायक बनानेके लिए यह आवश्यक है कि जहाँ चीनीके कारखाने नहीं हों वहाँ ईख पेरनेके लिए कुछ ऐसी कलोंके व्यवहारकी ओरभी ज़ोर देना चाहिए जिनमें ये सब दोष न हों।

सबसे पुरानी ईख पेरनेकी कल पत्थरकी होती थी जो बैलोंसे घुमायी जाती थी।

इन कलोंसे प्राय: ३३ फ़ी सदी रस निकलता था। इस ढाँचेकी कलोंका आजकल बहुत कम प्रयोग देखा जाता है। इसके बाद लकड़ीके बेलनोंकी कल बनी, जिनमें प्राय: ५० फ़ी सदी रस निकलता था। आजकल ये भी प्रयोगमें नहीं आतीं। इनके स्थानमें लोहेके बने बेलनोंकी कल अब प्राय: सबही स्थानोंमें प्रचलित है। इन कलोंमें अधिकसे अधिक ६८ से ६० फ़ी सदी रस निकाला जा सकता है। इतना रस केवल मोटी मोटी ईख और अच्छे मज़बूत बेलोंसेही निकाला जा सकता है। साधारण प्रकारकी ईखसे इस दशामें केवल ६२ फ़ी सदी ही रस निकलता है। इससे कम अच्छी कलोंमें ५० से ६० ही फ़ीसदी निकल सकता है। इस प्रकार कमसे कम तिहाई हिस्सा गुड़ अथवा चीनीका इन गाँवकी कलोंमें नष्ट हो जाता है। इस हानिसे बचनेके लिए यह अत्यावश्यक है कि इन बैलसे चलनेवाली कलोंके स्थानमें भाफ़ अथवा तेलसे सञ्चालित छोटी छोटी इञ्जनकलोंका प्रचार किया जाय। इन कलोंकी क़ीमत इतनी होनी चाहिए कि किसान अपनी अपनी उपजके अनुसार खरीद कर उनसे लाभ उठा सकें।

इन विषयों पर जो कुछ प्रयोग पूना और दक्खिन भारतकी कृषिशालाओंमें हुए हैं उनसे मालूम होता है कि तीन बेलनवाली कलोंमें—जिनमें बेलनेकी परिधि १२ इंच और लम्बाई १८ इंच हो—तेल अथवा गैस द्वारा इञ्जन चलाये जानेपर बैलोंसे चलाये जानेकी अपेक्षा १५ फ़ी सदी ज्यादा रस निकलता है। इनके प्रयोगसे २५ से ३० फ़ी सदी पैदावार बढ़ गयी है, किन्तु ऐसी कलोंके प्रयोगमें दो कठिनाइयां हैं। पहली इनकी क़ीमत। साधारणत: किसानोंकी आर्थिक अवस्था इतनी सुधरी हुई नहीं है कि वे एक दो हजारकी कौन बात चलावे, पांच सात सौ रुपये भी खर्च कर ऐसी कलोंको खरीद सकें। दूसरे ऐसी कलोंको देखने भालनेके लिए एक ऐसे व्यक्तिकी जरूरत है जो यन्त्रोंके कल पुरजोंसे परिचित हों। ऐसे व्यक्तिका गांवमें मिलना कठिन है। बाहरसे मंगानेपर ऐसे व्यक्तिका वेतन देनेके लिए किसान तय्यार होंगे कि नहीं इसमें सन्देह है।

एक बात यहाँ चेंपके बारेमें भी कह देना उचित जान पड़ता है। अभीतक इसका कोई लाभदायक उपयोग नहीं पाया गया है। सुखाकर रसको गाढ़ा करनेके लिए जलानेकेही काममें इसका अधिक प्रयोग होता है। कहीं कहीं उसे जलमें भिंगाकर चीनीका कुछ अंश निकालकर खा बना तम्बाकू बनानेमें प्रयोग करते हैं।। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रसको गाढ़ा करनेके लिए इस चेंपके स्थानमें यदि और किसी जलावनका प्रयोग हो तब खर्च अवश्यही बढ़ जायगा, किन्तु ईखके पत्तेसेही जलावनका बहुत कुछ काम निकल जाता है। यदि इस चेंपको किसी दूसरे अधिक नफ़ेके कार्य्यमें लगायें तब और भी अच्छा होगा। ऐसा समझा जाता है कि इससे बहुत अच्छा कागज तय्यार हो सकता है। इस विषयपर अनुसन्धान करनेकी आवश्यकता है और यदि यह बात सच निकले तब कागज बनानेके लिए बहुत अच्छी सामग्री इस चेंपके रूपमें मिल सकती है। एक औद्योगिक रसायनशालामें इससे दहनशील गैसके बनानेकी चेष्टा हो रही है। किन्तु कहांतक उस कार्य्यमें सफलता हुई है, अभी नहीं कहा जा सकता।

# भारतमें चीनीका व्यवसाय

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि चीनीके कारखानोंके लिए हिन्दुस्तानमें बहुत अधिक क्षेत्र है। ईखकी पैदावार ज्योंकी त्यों रहने पर भी यहाँ पर्याप्त गुड़ पैदा होता है जिससे अनेक चीनीके कारखाने चल सकते हैं। यदि केवल ईखसे रस निकालनेकी विधिमें ही कुछ सुधार किया जाय तब उससे इतनी बचत हो सकती है कि बाहरसे आयी हुई चीनीकी आयात बिल्कुल बन्द हो जाय। चीनीके अनेक कारखानोंके खुलनेसे गुड़का मूल्य अवश्यही कुछ बढ़ जायगा, इससे किसानोंको अधिक तादादमें ईख बोनेका उत्साह होगा। इस प्रकार पुरानी रीतिसे रस निकालनेकी विधिको जारी रखते हुए भी केवल अधिक चीनीके कारखानोंके खुलनेसे इतना गुड़ पैदा हो सकता है कि बाहरसे चीनीकी आयातकी आवश्यकता बिलकुल न रहे।

फूलदेवसहाय वर्मा।

# प्राचीन रोममें गुलामीकी प्रथा

संसारमें ऐसा एकभी प्राचीन देश नहीं है, जहाँ गुलामीकी प्रथा कम अथवा अधिक रूपमें वर्तमान न रही हो। भारत, फारस, मिश्र, यूनान और रोम मानव सभ्यताके प्रथम क्रीड़ा-क्षेत्र रहे हैं। इनमेंसे प्रत्येकने सभ्यताके किसी न किसी स्वरूपको लेकर उसे उन्नतिके सर्व्वोच्च सोपान पर पहुंचा दिया है। सबोंने अपने अपने साहित्यमें मानव-जीवनकी पवित्रताको स्वीकार किया है, सब मानते हैं कि मनुष्यको अपने स्वार्थ-मय उद्देश्योंकी पूर्तिका साधन बनाना घोर पाप है। किन्तु जब इन देशोंके सामाजिक जीवन पर दृष्टि डाली जाती है, तो वहाँ कोई दूसरा ही दृश्य दिखलायी पड़ता है। इसे देख कर यही कहना पड़ता है कि या तो उपरोक्त सिद्धान्त केवल विद्वानोंके मुख और पुस्तकोंके पृष्ठोंकी शोभा बढ़ानेके लिए स्वीकार किये गये थे, अथवा अपने समाजमें ही इनकी मानव-जाति विषयक कल्पना की इतिश्री हो जाती थी। इन्हीं कारणोंसे ये जातियां गुलामीकी प्रथाको निर्मूल न कर सकीं।

हम इस छोटेसे लेखमें अन्यदेशोंकी गुलामीकी प्रथाके विषयमें कुछ नहीं कहना चाहते। हाँ, यह कहनेमें हमें कोई संकोच नहीं कि प्राचीन देशोंमें से ऐसा एकभी नहीं है, जो इस बातका अभिमान कर सकता है कि उसने अपने धर्म्म ग्रन्थोंको मान मानव-जातिके स्वत्वों पर सर्व्वथा अत्याचार नहीं किया।

रोमको अपनी प्राचीन सभ्यता पर बड़ा अभिमान है। उसने अनेक ऐसे दार्शनिक, शास्त्रकार, राजनीतिज्ञ, कवि, लेखक और वक्ता उत्पन्न किये जो सभ्यताके शृंगार गिने जा सकते हैं। बर्तमान यूरोप इन्हें अपना गुरुमान इनपर श्रद्धा करता है, परन्तु रोमने मनुष्यता पर जितना अत्याचार किया है, उतना कदाचित् ही किसी देशने किया हो। रोमने अपने सामाजिक जीवनकी नींव गुलामीकी प्रथा पर रखी थी। यह अपने समाजको छोड़ किसी भी मनुष्यको उस बर्तावके योग्य नहीं समझता था जोकि एक समाजको मानव-जातिके साथ करना चाहिए। रोमका आधिपत्य पाशविक बल पर अवलम्बित था। उसने बिजित देशोंके लोगोंको कैद कर उनके गलेमें गुलामी की तौक डालनेमें ही अपना गौरव समझा।

जिस समय रोमन-सूर्य्य गौरवके मध्य आकाशमें अपने पूर्ण तेजसे प्रकाशमान था, उस समय रोममें नागरिकोंकी अपेक्षा गुलामोंकी ही संख्या अधिक थी। ये एकही जातिके न थे। एशिया, आफ्रिका तथा पूर्व्वीय यूरोपकी जिन जिन जातियोंको रोमने युद्धमें पराजित किया, उनको अपने नागरिकोंकी सेवाके लिए गुलाम बना लिया। ये गुलाम युद्धके कैदी होते थे 'ज्योंही नगरोंमें यह समाचार पहुँचता कि सेनाध्यक्ष अमुक देशको पराजित कर स्वदेश लौट रहा है, त्योंहीं गुलामोंका व्यवसाय करनेवाले व्यापारियोंकी भीड़ सेनाध्यक्षके चारों ओर लग जाती। कुछ गुलाम सम्राट्की सेवाके लिए रख लिये

जाते । शेष इन व्यवसायियोंके हाथ बेच दिये जाते । ज्योंही ये व्यवसायी नगरोंमें पहुंचते त्योंही नागरिक गुलाम खरीदनेके लिए आतुरतासे दौडते । यूनानके मेसीडोनिया देशको जब रोमने युद्धमें पराजित किया तब वहां एक लक्ष पचास सहस्रसे अधिक गुलाम पकडे गए । रोममें पहुँचतेही ये हाथों हाथ बिक गये ।

उपरोक्त दशा अनेक वर्षों तक रही । परन्तु जब रोमका आधिपत्य सभी निकटवर्ती देशों पर स्थापित होगया और फलतः युद्धोंका अन्त होगया, तब गुलामोंका मिलना बन्द होगया । जनतामें बडी हलचल मच गयी । नागरिकोंने शासकों पर दबाव डाला कि गुलामोंकी प्राप्तिका कोई दूसरा उपाय निकाला जाय । विवश होकर सरकारने विजित देशोंमें गुलामोंके व्यवसायके लिए बाजार खोल दिये । यहांसे खरीदे जाकर वे फिर सहस्रोंकी संख्यामें रोममें आने लगे । यह व्यापार यहां तक बढ़ा कि यूनानके एक नगरमें एक बार गुलामोंकी बिक्रीकी संख्या एकही दिनमें दश सहस्र तक पहुंच गयी ।

रोमके जमीन्दारोंको गुलामोंसे बड़ा लाभ पहुंचता था, अतएव वे जब जब मौका मिलता तब तब बड़ी संख्यामें उनकी खरीद करते । उनमेंसे कुछको गृहके कार्य्यके लिए रख लेते । शेषको खेतीका काम करनेके लिए ग्रामोंमें भेज देते । जो बच रहते उन्हें दूकानोंमें लगा देते । पहले जब गुलामोंकी संख्या कम थी, तब किसी भी प्रकारकी हानि नागरिकोंकी दृष्टिमें न आयी । किन्तु जब वे सहस्रोंकी संख्यामें लाये जाने लगे, तब देशकी आर्थिक दशा और व्यापार पर इनका बड़ा प्रभाव पड़ा । प्रत्येक रोमन धनी परिवार अनेक गुलामोंको खरीद कर पृथक् पृथक् व्यवसायोंमें लगा देता । जीवनकी सुविधा-के लिए जितनी वस्तुओंकी आवश्यकता होती, उन्हें गुलाम तय्यार करने लगे । इन परिवारोंको किसी वस्तुको अन्य दूकानदारोंसे मोल लेनेकी आवश्यकता न रही । फल यह हुआ कि स्वतंत्र नागरिक लोग जिन उद्योग धन्धोंमें लगे थे, वे सब बन्द हो गये । इस प्रकार अनेक व्यापारी करोड़पतिसे कंगाल हो गये । यही हाल कृषकोंका भी हुआ । वे सैकड़ों मन अनाज उत्पन्न कर नगरोंमें भेजते थे । अब अनाजका खरीददार कोईभी न रहा । सहस्रों कृषक भूखों मरने लगे । इस प्रकार एक ओर कृषकों और व्यापा-रियोंकी अपरिमित हानि हुई और दूसरी ओर जमीनदार लोग और भी धनी बन बैठे, इसी समय रोमने सिसली पर विजय प्राप्त की । इस देशमें अन्नकी बड़ी प्रचुरता थी, अतएव वहाँसे सस्ता अनाज आने लगा । कृषकोंकी दशा और भी निकृष्ट हो गयी । वे अपने परिश्रम से इतना सस्ता अनाज उत्पन्न करनेमें असमर्थ थे जितना सस्ता सिसलीसे आता था । जमीन्-दारोंने भी देखा कि उनकी भी हानि होनेकी संभावना है । इन्होंने और भी अधिक गुलाम खरीदे । इस प्रकार सस्ते मजदूर मिलने के कारण वे भी सस्ता अनाज उत्पन्न करने लगे ।

जिन गुलामोंको शासन विभाग अपने लिए रख छोडता था वे धर्म्म-पुजारियोंके नीचे रहकर धार्मिक कालेजों और मन्दिरोंमें काम करते थे । कुछ पुलीस और चपरासी भी नियुक्त किये जाते थे, । यद्यपि वे शासन-विभागमें रहकर भी गुलाम थे, तौभी इनकी

दशा अपने उन बन्धुओं से कम शोचनीय थी, जिन्हें गावोंमें जाकर खेतोंमें काम करना पड़ता था। इन गुलामोंकी देखभाल करनेके लिए जमीन्दार लोग ओवरसियर नियत करते थे। इन निर्दय-हृदय ओवरसियरोंके हाथों इन्हें नरकसेभी कठोर यंत्रणाए भोगनी पड़ती थीं, कई देशी राज्योंमें आज बीसवीं शताब्दीमेंभी कृषकों पर घोर अत्याचार किये जाते हैं। ये कृषक स्वतंत्र हैं, किन्तु वे गुलाम थे। उनके साथ जो अत्याचार होते थे उनका केवल अनुमान किया जा सकता है। आजकल एक इक्केवालेको अपने घोड़े पर जो अधिकार है, वही अधिकार प्रभुओंका अपने गुलामोंपर होता था। नहीं, हम भूलते हैं। इक्केवाला यदि इक्केपर तीनसे अधिक सवारियां बैठा ले तो उसे कानूनद्वारा दण्ड मिलता है किन्तु इन गुलामोंके लिए कोई एसा कानून नहीं था। उनका प्रभु यदि चाहे तो उन्हें घोड़े और बैलोंके समान बेच सकता था। शासनकी ओरसे कोई रोक टोक नहीं थी। ओवरसियरोंके अत्याचारोंके समाचार पहले तो उनके मालिकोंके पास पहुँचने ही नहीं पाते। अगर पहुँचते भी तो ओवरसियर उन्हें उलटी सीधी सुझाकर अपनी ओर कर लेते। कभी कभी तो विपरीत परिणाम होता। शिकायत करनेवाले गुलामोंके प्राणोंपर नौबत आ जाती। इन अत्याचारोंके करनेसे ओवरसियरोंको रोकनेके लिए भी कोई कानून नहीं था।

अमरीकाके सुप्रसिद्ध कवि लांगफेलोने एक गुलामके कष्टमय जीवनका वर्णन बड़ी मार्मिक भाषामें किया है। यह गुलाम आफ्रिकाके उस भागका निवासी था जिसमेंसे होकर नाइगर नदी बहती है। अपने देशमें वह अपनी नीग्रो जातिका राजा गिना जाता था, उसके रानी थी, तीन चार बच्चे थे। वह अमित धन-धान्यका अधिकारी था। आततायियोंद्वारा जब वह पकड़ा गया, तब उसका अपने देश, पत्नी और बच्चोंसे विछोह हो गया। ओवरसियरोंका अत्याचार सहते सहते उसके प्राण कंठगत हो गये। कवि उसकी दशाका वर्णन करता हुआ कहता है—खेतोंसे काटकर जो धान इकट्ठे किये गये थे, वह उनके ढेरके पास कामसे थक कर सो गया। धान काटनेका हंसिया उसके हाथमें था। उसके रूखे और बिखरे हुए केश निकटस्थ बालूके ढेरमें गड़े हुए थे। नींदकीही अवस्थामें उसने अपनी जन्मभूमिको (स्वप्नमें) देखा। वह देखता है कि मातृभूमिके वन पर्वतोंमेंसे होकर नाइगर नदी मंदगतिसे बह रही है और वह राजकीय पोशाक पहिन खजूरके पेड़ोंके नीचेसे होकर अपने घोड़ेको दौड़ा रहा है। अनेक व्यापारी अपने ऊँटोंपर चढ़े हुए ढालू मार्गसे पहाड़ीके नीचे उतर रहे हैं और वह ऊँटोंके गलेमें बँधी हुई घंटियोंकी मधुर ध्वनिको सुन रहा है। क्षणभरमेंही दृश्य बदला और उसने अपनी रानीको बच्चोंके बीचमें खड़े हुए देखा। बच्चे उसकी गर्दनसे चिपट गये; उन्होंने उसके गालोंको चूमा; उसके हाथोंको अपने छोटे छोटे हाथोंसे पकड़ लिया। वह परमानन्दमें मग्न हो गया। सुप्त अवस्थामेंही नेत्रोंके आँसुओंके दो बिन्दु फूट पड़े और बालूमें गिर कर अदृश्य हो गये। यह सुखमय दृश्य भी वह अधिक देर तक न देख सका। कुछही देरमें उसने देखा कि वह अपने अश्वकी सोनेकी लगाम हाथमें लिये एक जंगल पार हो रहा है। उसके बाजूसे एक म्यानमें रखी हुई तलवार लटक रही है, जो

घोड़ेकी गति के कारण उछलकर बाजुओंसे लग शब्द कर रही है। उसने काफिरोंके झोपड़े देखे, समुद्र देखा, और सिंहकी गर्जना सुनी। एकाएक उसे ऐसा जान पड़ा मानो वनके प्रत्येक वृक्षकी पत्तियां जिह्वाका रूप धारणकर स्वतन्त्रताकी घोषणा कर रही हैं। मरुस्थलकी अस्थिर वायु स्वतन्त्रताका नाम लेकर इतने जोरसे पुकार उठी कि गुलाम अपने स्वप्नमें चौंक पड़ा और इन वन्य वस्तुओंका स्वातंत्र्यमय आनन्द देख उसके होठोंपर मुस्कुराहट आगयी। इस आनन्दमेंही उसके प्राण अस्थि-पिञ्जरको छोड़ निकल गये*।

जो गुलाम अपने धनी प्रभुओंके साथ उनके परिवारमें रहते थे, उनकी दशा कुछ अधिक अच्छी थी, मालिक प्रायः उच्च शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति होते थे। वे गुलामोंके परिश्रम और उससे होनेवाले अमित लाभको देख उनके साथ अधिक निर्दयता नहीं करते थे। जैसे जैसे उनकी स्वामि-भक्तिका परिचय उन्हें मिलने लगा तैसे तैसे वे उन्हें थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता देने लगे। किन्तु इस स्वतन्त्रतासे अधिक लाभ उनके स्वामी ही उठाते थे। उदाहरणार्थ, कुछ समयके पश्चात् गुलामोंको यह अधिकार हो गया कि वे किसी तीसरे व्यक्तिके साथ व्यवसाय कर सकेंगे। बाह्यरूपसे देखनेपर तो इससे स्वामियोंकी उदारता झलकती है, किन्तु वास्तवमें इससे उन्हींकाही हित-साधन होता था। गुलाम दूसरोंके साथ केवल ऐसे सम्बन्ध कर सकते थे, जिनसे उनके स्वामियोंको लाभ पहुंचे। गुलामोंका कानूनसे सर्वथा सम्बन्ध नहीं था। अतएव यदि वे किसी व्यक्तिसे कर्ज लेने अथवा देनेकी इच्छा करते तो यह केवल उनके मालिकोंके द्वारा किया जासकता था। ऐसा न होनेपर उनका राज़ीनामा नाजायज़ समझा जाता था। परिणाम यह होता कि स्वामी केवल ऐसे राज़ी-नामोंको स्वीकृत करता, जिनसे उसको भी लाभ हो। यद्यपि गुलामकी सम्पत्तिका अधिकारी, उसका स्वामी होता था, तोभी यदि वह किसीका कर्ज़दार होता, तो महाजन गुलामकी सम्पत्तिपर अधिकार कर सकता था। लेकिन ऐसा होनेके पूर्व मालिक उस सम्पत्तिमेंसे उतना भाग निकाल लेता जितना कि उसका दिया हुआ होता। वास्तवमें गुलाम अपने स्वामीके स्वार्थसाधनके लिए एक शस्त्र होता था। जो गुलाम शासन-विभागमें कार्य करते थे, वे भी इस प्रकार व्यक्तिगत सम्बन्ध जोड़नेके अधिकारी होते थे। परन्तु इनका सारा लाभ राज-कोषमें जाता था।

कभी कभी ऐसा होता कि स्वामी अपने गुलामोंकी सेवासे प्रसन्न हो उन्हें स्वतंत्र कर देते। जब वे देखते कि हमारा सारा विभव हमारे गुलामोंके परिश्रम तथा अध्यवसायका

---

* कवि उसकी मुक्त अवस्थाका वर्णन करता हुआ कहता हैं:—

He did not feel the driver's whip,<br>
Nor the burning heat of the day;<br>
For death had illumined the land of sleep,<br>
And his lifeless body lay<br>
A worn-out fetter, that the soul<br>
Had broken and thrown away!

फल है, तब उनके कठोर हृदयमें भी करुणाका सञ्चार होना स्वाभाविकही है। रोममें ग्रैक-चिग्रस, केटस, सीजर और पाम्पिग्रस सदृश अनेक ऐसे व्यक्ति हुए जो अपने गुलामोंके परिश्रमके बलसेही रंकसे कुबेर बन सेनाध्यक्ष, प्रान्तोंके शासक, सीनेट (रोमन पार्लामेन्ट) के सदस्य और सम्राट् तक हुए। उन्होंने अपने गुलामोंको केवल स्वतंत्रही नहीं कर दिया, वरन् उन्हें अपनी मातहतीमें ऊंचे ऊंचे पद तक दिये। भारतवर्षमें भी शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरीने अपने गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबकको सेनाध्यक्षका पद दिया। अपने स्वामीके मरनेपर चार वर्षों तक वह दिल्लीका सुलतान रहा। इसके पश्चात् उसका गुलाम अल्तमश उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसने अपना उत्तराधिकार अपने गुलाम बलबनको दिया। यह हाल कई वर्षों तक रहा और इस वंशका नामही गुलाम वंश पड़ गया।

परन्तु रोममें जो गुलाम स्वतंत्र कर दिये जाते थे, उनका संबन्ध अपने स्वामीसे पूर्णतया नहीं टूट जाता था। यह स्वतंत्रता कृपाके रूपमें दी जाती थी, अतएव इच्छा होनेपर स्वामी उसका हरण कर स्वतंत्र गुलामको फिरसे परतंत्रताकी शृंखलाओंमें जकड़ सकता था। यदि वह ऐसा न भी करता, तो भी गुलामको अपने स्वामीकी समय समयपर सेवाएँ करनी पड़ती थीं। इसके सिवाय वह अपने पुराने स्वामीपर किसी भी प्रकारका मुकद्दमा नहीं चला सकता था। कोर्टमें उसके अथवा उसके किसी सम्बन्धीके विरुद्ध गवाही भी नहीं दे सकता था। यदि स्वतंत्र गुलामकी मृत्यु होनेपर उसका कोई उत्तराधिकारी न होता तो सारी सम्पत्ति उसके पुराने प्रभुको मिलती।

रोमके कानूनमें गुलामोंके लिए कोई स्थान न था। उन्हें अपने प्रभुओंकी ओरसे गवाही देनेकी आज्ञा नहीं थी। यदि ऐसा आवश्यक होता तो अनेक यन्त्रणाएँ देकरही उनसे गवाही ली जासकती थी। यदि किसी गुलामको कोई जान अथवा मालकी हानि पहुँचावे तो वह कोर्टमें स्वयं नालिश नहीं कर सकता था। यदि उसका स्वामी चाहता, तो वह ऐसा कर सकता था। यदि कोई गुलाम किसी तीसरे व्यक्तिको हानि पहुँचाता तो साधारण कोर्टमेंही उसपर मुकद्दमा चलता। किन्तु उसे गुलामोंका हक नहीं समझना चाहिए। ऐसा केवल रोमकी जनताकी सुविधाके लिए किया जाता था। यदि किसी रोमनकी हत्या उसके गृहमें हो जाती तो उसके जितने गुलाम होते वे सब मार डाले जाते। एक मनुष्य दूसरे मनुष्यपर इससे अधिक अत्याचार और क्या कर सकता है?

समयके प्रवाहके साथही साथ रोमकी नौकरशाहीका अन्त होने लगा। एक ऐसा समय भी आया जब कि देशभरमें प्रजा-तन्त्रके विचारोंकी लहर उठी। कुछ सहृदय व्यक्तियोंने गुलामोंके अधिकारोंके पक्षमें आन्दोलन किया। कुछ समयके लिए उनमेंसे कुछ व्यक्तियोंको वोट देनेका हक प्राप्त हुआ। ज्योंही राज-तन्त्र प्रबल पड़ा, त्योंही यह अधिकार छिन गया। जब उन्हें बड़ेसे बड़े अधिकार दिये गये, तबभी वे सीनेटके सदस्य तथा मैजिस्ट्रेट बननेका हक न प्राप्त कर सके। जहाज़ोंपर वे पहलेसेही छोटे छोटे पदोंपर रखे गये थे। समय अनुकूल होनेपर उनके हितचिन्तकोंने नौ-विभागमें उन्हें उच्च पद

प्रदान किये। सैकड़ों वर्षों तक उन्हें युद्धमें भर्ती किये जानेका अधिकार न मिला। शासकों-को यह डर था कि यदि इन्हें रोमन युद्धप्रणालीकी शिक्षा दी गयी तो संभव है अधिक संख्यक होनेके कारण वे विप्लव करदें। किन्तु ज्यों ज्यों रोमके मनुष्य विलासितामें फँसकर आलसी और शक्तिहीन होते गये, त्यों त्यों ये युद्ध-विभागमें लिये जाने लगे। शासकोंका भय ठीक निकला। इनके सजातीय विदेशियोंने जब रोमपर आक्रमण किया तब ये उनसे मिल गये और रोमके विशाल साम्राज्यको उखाड़ फेंका।

बीसवीं शताब्दीका यूरोप अपनी सभ्यतापर गर्व करता है। क्रिश्चियन जातियां कहती हैं कि गुलामीका मूलोच्छेदन करनेका श्रेय हमको प्राप्त है। किन्तु उनके कथनमें कुछ भी सार नहीं है। यदि वर्त्तमान यूरोपने कुछ किया है तो व्यक्तिगत स्वार्थके स्थानपर राष्ट्रीय स्वार्थका आविर्भाव। फल यह हुआ है कि यदि ईसाकी प्रारम्भिक शताब्दियों-में व्यक्ति गुलाम थे तो आज बीसवीं शताब्दीमें राष्ट्र गुलाम है।

द्वारिकाप्रसाद मिश्र।

# हिन्दू-समाजमें शुद्धिके नियम

हिन्दू-समाजने शौचको धर्मका अंग माना है और शुद्धिविषयक ऐसे उपयोगी नियम बनाये हैं कि यदि मनुष्य इनपर बराबर चला जाय तो वह कभी रोगी ही न हो और आयु भी दीर्घ कर सके। ये नियम बड़ी दूरदर्शिता और वैज्ञानिक गवेषणापर निर्भर हैं। इनकी सत्यता और उपयोगिता आधुनिक विद्वानोंको भी मालूम हो चली है। यदि इन नियमोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो हिन्दू लोग संसार भरके मनुष्योंमें अधिक शुद्ध और सभ्य मालूम होंगे। शुद्धि विषयके मोटे मोटे साधन निम्न श्लोकोंमें दिये हैं :—

**अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।**
**विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥**

शरीर जलसे शुद्ध होता है, मन सत्यसे, आत्मा, विद्या और तपसे और बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती है।

**ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनोवार्युपाञ्जनम्।**
**वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम्॥**

ज्ञान, तप, अग्नि, भोजन, मिट्टी, मन, जल, लीपना, वायु, कर्म, सूर्य और काल इन सबसे प्राणियोंकी शुद्धि होती है अर्थात् ये सब शुद्धिके साधन हैं।

मनुष्यके शरीरमें पांच कोष हैं—अन्नमयकोष, प्राणमयकोष, मनोमयकोष, विज्ञानमयकोष और आनन्दमयकोष। मनुष्यका स्थूल शरीर अन्नमयकोष है और सूक्ष्म-शरीरमें—जो पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन और बुद्धि इन १७ वस्तुओंका बना है—प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमयकोष हैं; आनन्दमयकोष जीवात्मा है। हिन्दू शास्त्रकारोंने इन सभी शरीरों और सभी कोषोंकी शुद्धिकी मीमांसा की है। इनकी दृष्टि केवल दृश्यमान स्थूल शरीर तक ही संकुचित नहीं रही है। अन्य जातीय सभ्यताओंमें शौचके ऐसे मार्मिक नियम नहीं हैं। अब प्रत्येक शरीरकी शुद्धिके विषयमें सविस्तर विवेचन करते हैं।

## स्थूल शरीर

इसकी शुद्धि प्रायः जल और मृत्तिकासे होती है। मनुष्य ब्राह्म मुहूर्तमें यानी दो घड़ी सबेरे उठकर शौच जाय, जिसके नियम ये हैं कि वह वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, चन्द्र, जल और गौके सम्मुख मल मूत्र त्याग न करे। शरीर और शिरको वस्त्रसे ढंककर, मौन होकर, लकड़ी, ढेला, वृक्षका गिरा पत्ता या तिनकासे भूमिको ढंककर मलमूत्रका त्याग करना चाहिए। दिनमें उत्तर दिशा और रात्रिमें दक्षिण दिशाको मुख कर बैठना

चाहिये। मूत्रत्याग करनेके लिए नियम हैं कि मार्गमें, राखके ढेरपर, गोशालेमें, हलसे जुती जमीनमें, जलमें, चितामें, पर्वत शिखरपर, पुराने देवमन्दिरमें, वामीमें, जीवजन्तुवाले गढ़ोंमें और नदी किनारेपर मनुष्य मूत्रत्याग न करे और न उसे खड़े हुए या चलते हुए यह करना चाहिये। मल त्याग करनेपर गुदाको तीन बार, वाम हाथको दस बार, फिर दोनों हाथोंको सात बार मिट्टीसे धोना चाहिये, फिर आचमन करना चाहिये और नेत्रोंसे जल स्पर्श करना चाहिये-तब कहीं शुद्धि होती है। यह क्रम केवल गृहस्थोंका है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासीके लिए यह क्रिया क्रमशः दूनी, तिगुनी और चौगुनी है। मूत्रत्याग करनेपर भी लिंग या योनिको एक बार मिट्टीसे धोवे, और हाथकोभी मिट्टीसे धोवे। फिर आचमन करे और नेत्रोंसे जल स्पर्श करे, तब कहीं शुद्धि होती है। मनुष्यके देह-मलकी शुद्धि उतनी मिट्टी और उतने जलसे होती है जितनेसे कि दुर्गन्ध जाती रहे। देहमल १२ प्रकारके हैं:—चरबी, वीर्य, रुधिर, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, नाक-कानका मैल, खखार, आंसू, आंखोंका मैल और पसीना।

शौच जानेके पश्चात् मनुष्यको मुख धोना चाहिये। इसकी क्रिया यह है कि मुँहसे बहुतसे कुल्ले करे और थूक वगैरह निकाले। दांतुन करे और जिह्वाको साफ़ करे अर्थात् मुँहमें किसी प्रकारकी दुर्गन्धि न रहे और न दांतोंमें जमा मैल अथवा खाया हुआ अन्न रहे।

इसके उपरान्त स्नान करे। प्रतिदिन प्रातःकालमें स्नान करना परमावश्यक है। जब तक स्नान न करले तब तक किसी प्रकारका अन्न न खाय। स्नान सम्बन्धी नियम ये हैं:—स्नान जहाँतक बन पड़े प्रातःकालहीमें करे। नदी, सरोवर, जलाशय, सोता, झरना आदिमें स्नान करे। नंगा होकर स्नान करना वर्जित है। भोजनके बाद और आधी रातमें स्नान करना मना है। स्नान शुद्ध और निर्गन्ध जलमें करना चाहिये। वमन और दस्त होजानेपर और मैथुनके पश्चात् स्नान करनेसेही शुद्धि होती है। चाण्डाल, रजस्वला, पतित, प्रसूता, गीली हड्डी और मुरदेको छूनेपर स्नान करनेसे शुद्धि होती है। स्नान शिरसे करना चाहिये। पैरोंकी ओरसे नहीं।

भोजन करनेके विषयमें कुछ नियम ये हैं:—

भोजनके आदिमें हाथ पैर धोवे, आचमन करे, आंख, नाक, कान आदि इन्द्रिय, हृदय और शिरका स्पर्श करे और अन्तमें दो बार मुख धोवे। जिस वस्तुसे चिकनाई निकल गयी हो उसे न खाय, और न कोई अभक्ष्य वस्तुकोही खाय। भोजन करनेमें घबराहट न करनी चाहिये। बहुत प्रातःकाल और सायंकाल भोजन करना वर्जित है। सोते हुए खाना, एक हाथमें अन्न रखकर दूसरे हाथसे खाना, बैठनेके आसनपर भोजन धरके खाना वर्जित है। दूसरेका जूठा भोजन न करे और न अपना जूठा भोजन दूसरे को दे और न फूटे पात्रमें भोजन करे। निम्नलिखित अन्न त्याज्य हैं:—

क्रोधी, मतवाला और रोगीका अन्न, भ्रूणहत्या करनेवालेका देखा हुआ, रजस्वला

का छुआ, पक्षीका खाया, कुत्तेका छुआ, गौका सूंघा, 'जो चाहे खा जाय' ऐसा पुकारकर कहा हुआ, बहुतोंकी मददसे बनाया गया भण्डारेका अन्न, और वेश्याका अन्न निन्दित है। चोर, गवैया, बढ़ई, ब्याजखोर, कृपण और कैदीका अन्नभी त्याज्य है। महापातकी, नपुंसक, व्यभिचारिणी स्त्री, कपटब्रह्मचारी-इन सबका अन्न अथवा खट्टा, बासी, और शूद्रका जूठा अन्न न खाना चाहिये। वैद्य, शिकारी, क्रूर, जूठन खानेवाला, क्रूर कर्म करनेवाला, दस दिन तक सूतकमें रहनेवाला, इन सबका अन्न त्याज्य है। एक पँक्तिमें भोजन करने वालोंमेंसे किसीने भोजन करना छोड़कर आचमन ले लिया हो तो सभीको भोजन करना बन्द कर देना चाहिये।

अपमानसे दिया अन्न, पति-पुत्रहीन स्त्रीका, शत्रुके नगरका, पतित मनुष्यका, और जिसके ऊपर छींक हुई हो ऐसा अन्न न खाना चाहिये। चुगला, झूंठा, नट, दर्जी और कृतघ्नका अन्न भी त्याज्य है। लोहार, भील, बहुरूपिया, सुनार, अस्त्रबेचनेवाला, कुत्ते वाला, मद्यवाला, धोबी, रंगरेज, निर्दयी और जिसके यहां उपपति हो, इन सबका अन्न अशुद्ध और निन्दित है। जूंठे मुँह मनुष्यको इधर उधर न फिरना चाहिये और न अपने शिरको छूना चाहिये।

अब जो बातें शुद्धि और स्वास्थ्य विचारसे त्याज्यहैं उन्हें लिखते हैं :—

अग्निको मुखसे फूंकना, नंगी स्त्रीको देखना, अग्निमें अपवित्र वस्तु डालना और पैरके तलवेको उसमें सेंकना, खाटके नीचे आग रखना खाटको उल्लंघनकर जाना, सायंकालके समय सोना, जमीनपर नखसे लिखना, मूत्र, मल, थूक या जहर लगी हुई चीज़को जलमें डालना, ज़िस देशमें रोग फैला हुआहो उसमें रहना, कांसके बर्तनमें पैर धोना, दूसरेके पहनेहुए कपड़े, जूते, जनेऊ, फूलमाल और कमण्डलु धारण करना, प्रातःकालकी धूप, चिताका धूम खाना, फटे आसनपर बैठना, नख और बालोंको उखाड़ना, दांतोंसे नख काटना, रातको वृक्षकी जड़में सोना, नंगा होकर सोना, पैर धोकर सोना, मल-मूत्र देखना, दोनों हाथोंसे शिर खुजाना, उबटन, स्नानसे बचा जल, विष्ठा, मूत्रका रुधिर, खखार, थूक, और बमन छूना।

निम्न लिखित वस्तुएं सदा अपवित्र मानी गयी हैं :—

नाभिके नीचेकी इन्द्रियां, देहसे निकला मल, यानी, चरबी, वीर्य, रुधिर, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, नाक कानका मैल, खखार, आंसू, आंखोंका मैल और पसीना, तथा वह मृत्पात्र जिसमें मद्य, जल, चरबी आदि पहले भरी थीं।

ये वस्तुएं शुद्ध गिनी गयी हैं :—

अदिष्ट वस्तु, पानीसे धोया पदार्थ, ब्राह्मणोंकी वाणीसे पवित्र कहा हुआ पदार्थ, भूमिका ऐसा जल जिसमें गौकी प्यास दूर हो जाय और जो गन्ध, रस और वर्णसे ठीक हो, कारीगरका हाथ, बाजारमें बिकती हुई वस्तुएँ, ब्रह्मचारीकी भिक्षा, रतिसमय स्त्रियोंका मुख, फल गिरानेमें पक्षीकी चोंच, दूध निकालते समय बछड़ेका मुख, शिकारमें कुत्तेका मुख,

# हिन्दु समाजमें शुद्धिके नियम

नाभिके ऊपरकी इन्द्रियां, मक्खी, मुखसे निकली छींट, छाया, गौ, घोड़ा; सूर्यकी किरण, धूलि, भूमि, वायु और अग्नि-इन सबका स्पर्श, मुखसे शरीरपर पड़ी छींटें, मुखमें गया मूँछका बाल, दांतोंकी झिरियोंमें रहा अन्न, दूसरेको कुल्ला करानेपर पैरोंपर पड़ी छींटें।

मनुष्यके मरण और जन्मके समय उसके सपिण्डों और समानोदकोंको अशौच लगता है। इस अशौचका कारण गम्भीर वैज्ञानिक गवेषणापर अवलम्बित है। मृत्यु और जन्मका प्रभाव प्राणमयकोशपर पड़ता है। जितने सपिण्ड हैं यानी मृतक या उत्पन्न हुएकी सात पीढियों तकके मनुष्य और उसके पश्चात् वे लोग भी जिन्हें केवल जल देनेकाही अधिकार है-पिण्डदेनेका नहीं, इन सबके प्राणमयकोशमें इस घटनासे अशुद्धि होती है। इसे लौकिक बोलीमें सूतक कहते हैं। यह सूतक मृतकके सपिण्डोंको दस दिनतक रहता है और समानोदकोंको तीन दिन तक। गुरुकी मृत्युपर शिष्य अन्त्येष्टि कर्म करे तो उसेभी दस दिन तक सूतक लगता है और सहाध्यायीके मरनेपर तीन दिनमें शुद्धि होती है। विदेशमें मृत्युका समाचार दस दिनके भीतर सुने तो जितने दिन बाकी रहे हों उतनेही दिनोंका सूतक लगता है। यदि दस दिनोंके बीतनेपर यह समाचार सुने तो सिर्फ तीन दिनका अशौच होता है और एक वर्ष बीतनेपर स्नान मात्रसेही शुद्धि हो जाती है।

राजाको सूतक नहीं लगता क्योंकि वह आठ लोकपालोंके शरीरको धारण करता है, यानी उसमें चन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यमके अंश विद्यमान हैं। इसके सिवा उसे प्रजारक्षाका कार्य करना पड़ता है जो किसी दशामें भी त्याज्य नहीं है। मृत्युसूतकवाले मनुष्योंको क्षार, अलोना भोजन करना चाहिए, तीन दिन तक नदीमें स्नान करना चाहिए और भूमिपर पृथक् सोना चाहिए। जबतक सूतक वाला शुद्ध नहीं हो जाता है तबतक उसके हाथका छुआ भोजन और जल त्याज्य है। प्रजाको राजाकी मृत्युकी अशुद्धि एक दिन या एक रात रहती है यानी दिनमें मृत्यु हुई हो तो दिनभर और रातमें हुई हो तो रातभर। जैसे मरणपर सूतक लगता है वैसे ही पुत्रादिक उत्पन्न होनेपर भी लगता है। यह अशौच माता पिताको ही होता है—माताको विशेषकर।

रजस्वला स्त्रियां भी तीन दिन तक अथवा जब तक उनका रज बन्द न हो जाय, अपवित्र गिनी जाती हैं। रज बन्द होनेपर और स्नान करनेपर शुद्ध होती हैं। जबतक ये अशुद्ध रहती हैं तबतक इनकी छुई सब चीजें अपवित्र हो जाती हैं और त्याज्य होती हैं।

सूक्ष्म शरीरकी शुद्धिके विचारसे ही द्विजातियों यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंमें यथासमय उपनयन किया जाता है। जबतक इन लोगोंका यज्ञोपवीत न हो तबतक ये अपवित्र और श्रौतस्मार्त कर्म करनेके अयोग्य समझे जाते हैं।

अब हम उस शुद्धिके विषयमें लिखते हैं जिसका सम्बन्ध मनुष्यके मनोमय और

ज्ञानमय कोशोंसे है। इन कोशोंकी अशुद्धि महापातक और उपपातकोंके करने से होती है और यह प्रायश्चित्त आदि कर्मोंसे ही दूर होती है।

ब्रह्महत्या, मद्यपान, सुवर्णकी चोरी और गुरुकीस्त्रीसे व्यभिचार—ये महापातक हैं। अपनी बड़ाईमें झूठ कहना, राजासे किसीकी चुगली करना और गुरुको झूठा दोष लगाना—ये पाप ब्रह्महत्याके समान हैं। वेदको भूल जाना, वेदकी निन्दा करना, झूठी गवाही देना, मित्रका वध करना, और अभक्ष्य खाना—ये पाप मद्यपानके समान हैं। धरोहर मारना, मनुष्य, घोड़ा, चांदी, भूमि, हीरा और मणि चुराना, सुवर्णकी चोरीके समान हैं। सहोदर बहन, कुमारी कन्या, चाण्डालिनी, मित्र और पुत्रकी स्त्रीके साथ समागम करना, गुरुपत्नी-समागमके समान हैं।

सब प्रकारके पापोंकी शुद्धिके लिए शास्त्रकारोंने विविध प्रकारके प्रायश्चित्त बताये हैं। जबतक मनुष्य प्रायश्चित्त कर शुद्ध न हो जाय तबतक वह सभ्य समाजसे संसर्ग रखने योग्य नहीं होता है। ( अपूर्ण )

कन्नोमल

# तार और डाकके महकमेके मुलाज़िमोंके जुर्म

अँगरेज़ी राज्यमें तार और डाकके महकमोंकी बदौलत प्रजाको बहुत आराम और बड़े सुभीते हैं। अमीर और ग़रीब, राजा और प्रजा, कोई आदमी ऐसा नहीं जिसे कभी न कभी इन महकमोंसे—विशेषकरके महकमे डाकसे काम न पड़ा हो। एक पैसेका पोस्टकार्ड लिखकर आप पेशावरसे रवाना कर दीजिए। वह हिन्दुस्तानके दूसरे छोर ढाका या तूतीकोरिन पहुँच जायगा और एकही पैसा और खर्च करनेसे उसका जवाब भी आ जायगा। यह सुभीता हिन्दुस्तानमें कभी पहले न था। सरकारने गत मार्चमें एक पोस्टकार्डका मूल्य एकके बदले दो पैसे कर देना चाहा था, परन्तु प्रजाके प्रतिनिधियोंके बहुत शोरोगुल मचानेसे उसने अपना वह विचार स्थगित कर दिया। चिट्ठीका महसूल ज़रूर बढ़ा दिया; पर आधे तोले तककी चिट्ठीका महसुल वही पुराना आध आना बना रक्खा, यह उसने बड़ी कृपा की।

यद्यपि डाकके महकमेका इन्तज़ाम बहुत अच्छा है तथापि उसमें कभी कभी बहुत बड़े बड़े जुर्म हो जाते हैं। उसके मुलाज़िम पारसलोंसे कीमती कीमती चीज़े निकालकर उनकी जगह ईंट पत्थर भर देते हैं; बीमा चिट्ठियोंसे नोट निकालकर उनके भीतर रद्दी कागज़के टुकड़े रख देते हैं; कीमती किताबोंके पैकटके पैकट हज़म कर जाते हैं। अखबार और मासिक पुस्तकें खोलकर पढ़ लेना या उन्हें एक दम हड़प ही कर जाना तो कोई बात ही नहीं। क्योंकि इन पिछली चीज़ोंकी रजिस्टरी तो होती नहीं। और जिसकी रजिस्टरी नहीं उसका हिसाब भी नहीं रहता। सेविंग बैंकके रुपयेकी भी कभी कभी चोरी हो जाती है। जो लोग डाकखानोंमें यह काम करते हैं वे नाना प्रकारके जाल करके जमा करनेवालेका रुपया खा जाते हैं। उनमेंसे अधिकांश पकड़े भी जाते हैं। वे फौजदारी सुपुर्द होते हैं और सजायें भी पाते हैं। कुछ भाग्यशाली मुलाजिम सिर्फ बरखास्त हो जाते हैं। मुकदमा चलाये जानेसे अक्सर बच जाते हैं। डाकखानेवालोंके इन जुर्मोंकी रिपोर्टें बहुधा अखबारोंमें भी छपा करती हैं।

यद्यपि डाक और तार, इन दोनों महकमोंके हिसाबकी बड़ी कड़ी जांच होती है और शुभा होनेपर मुलाज़िमोंके साथ कानूनी काररवाई की जाती है तथापि जुर्म होते ही रहते हैं। कभी कभी तो लोग खूब माल मार कर भी बेदाग बच जाते हैं, कोई उनका बालतक बांका नहीं कर सकता। कुछ समय हुआ, सुनते हैं, एक मुलाज़िमने पारसल हज़म करके उसके भीतरसे सोना या और कोई कीमती चीज़ हज़म कर ली थी। मुक़दमा चला। पर टाँय टाँय फिस की मसल चरितार्थ हुई। आपके खिलाफ कोई सबूत न पहुँच सका। माल आपके घरसे बरामद हुआ नहीं। आप बेलाग छूट गये। जब बात पुरानी हो गई, तब आपके दिली दोस्तोंने पूछा कि भई, बताओ तो क्या खेल खेला था, अब तो कुछ डर रहा ही नहीं। तब आपने अपने शहरके पुराने बाग़ीचेका

एक कोना बता दिया। कहा देखलो, माल मैंने यहीं गाड़ दिया था। इसे आप एक उदाहरण समझिए, ऐसे ऐसे न मालूम कितने जुर्म डाकखानोंमें हुआ करते हैं। जिन लोगोंको रुपये पैसेका काम करना पड़ता है उन्हें जमानत देनी पड़ती है। कभी कभी इन लोगोंकी जमानतें जमा कर ली जाती हैं और कभी कभी इनकी तनख्वाहोंसे भी नुकसानीका रुपया अदा कर लिया जाता है। मामला संगीन हुआ और काफी सबूत पाया गया तो इन लोगोंके साथ फिर रियायत नहीं की जाती, ये ज़रूर ही पुलिसके सिपुर्द कर दिये जाते हैं। यह सब होनेपर भी जुर्म होते ही रहते हैं। हां, यह बात जरूर है कि जहां करोड़ों रुपया आता जाता है और जहाँ हजारों आदमी उसे लेते देते हैं वहाँ सालमें यदि दस, बीस या पचास आदमी विश्वासघात कर डालें तो कोई आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो तब होता जब इस तरहके कोई मुआमिले न होते, क्योंकि न तो आज कल सतयुग ही है और न सब लोग धर्म्मराज युधिष्ठिरके अवतारही हैं।

सरकारी महकमोंका हिसाब-किताब रखने और उसकी जांच करनेके लिए हर सूबेमें एक अफसर रहता है। वह अकौंटेंट जनरल कहलाता है। फिर इन सबके ऊपर एक और भी अफसर है। वह आडिटर जनरलके नामसे ख्यात है। वह सारे हिन्दुस्तानके सरकारी खर्चके कागज-पत्रोंकी निगरानी करता है। यह पिछला अफसर हर साल एक रिपोर्ट लिखकर भारतीय गवर्नमेंटको भेजता है। वह छपकर प्रकाशित भी होती है। इस रिपोर्टमें वह सालभरकी आमदनी और खर्चकी आलोचना करता है। रुपये पैसेके सम्बन्धमें जितनी भूलें, जितने जुर्म और जितनी जालसाजियां होती हैं उनमेंसे मुख्य मुख्यका वह उल्लेख भी करता है। इस अफसरकी लिखी हुई १९१९-२० सालकी रिपोर्ट निकले कुछ समय हुआ। उसमें उसने तार और डाकके महकमेकी जिन भूलों और जालसाजियोंका वर्णन किया है उनमेंसे कुछका उल्लेख नीचे किया जाता है। पहले तारके महकमेके कर्मचारियोंकी करतूतें सुनिए—

जब कोई तार देना चाहता है तब वह अपनी खबर तारके फार्मपर लिखकर तारघरमें दे देता है। वहांका कर्मचारी उसे लेकर तारका महसूल वसूल कर लेता है, भेजनेवालेको एक रसीद दे देता है, और तारकी खबर तारसे भेज देता है। रिपोर्टके साल तारके कितनेही कर्म्मचारियोंने एक उस्तादी की। उन्होंने तार तो भेज दिये। मगर भेजनेके बाद वसूल किया गया महसूल वे खा गये और तारकी खबरवाले कागज (यानी फार्म) को फाड़ फेंका। दफ्तरमें उसका कुछ भी हिसाब न रहा। मगर वे लोग पकड़े गये। जिन तारघरोंको तार भेजे गये थे उन्होंने तो उन खबरोंको फाड़ा नहीं। उन्होंने उन्हें बाकायदा जांचके दफ्तर (Check office) को भेज दिया। वहां "जोड़" मिलानेके लिए भेजनेवाले तारघरके खबरके फार्म जो ढूंढे गये तो नदारद। बस जाल पकड़ा गया, और जालसाजी करनेवालोंको सजा मिली।

तारघरके मुलाजिम एक तरहका जाल और भी कर सकते हैं। कल्पना कीजिए

कि देवदत्तने १२ शब्दोंका एक जरूरी तार दिया और तार बाबूने उससे उसका महसूल १॥) लेकर उतनेकी रसीद उसे दे दी। अब तारबाबूने उस तारको जरूरी न मानकर मामूली तार माना। (तार दो तरहके होते हैं, जरूरी और मामूली, और मामूलीसे जरूरीका महसूल दूना होता है)। तारबाबूने मामूलीकाही महसूल, अर्थात् ॥।) दफ्तरमें जमा किये और तारके फार्मपर "मामूली"ही लिखकर उसे भेज दिया। अब बताइए इस जालको कोई कैसे पकड़े? जांचके दफ्तरवाले अन्तर्यामी तो हैं ही नहीं। उन्हें सब फार्म ठीक मिलेंगे, महसूल भी वे जमा किया हुआ पावेंगे। बस मामला खतम। हां, देवदत्त यदि अपनी रसीद पेश करे और इस बातकी शिकायत करे कि उसने जरूरी तार भेजा था, पर पानेवालेको मामूलीही तार मिला तभी कुछ काररवाई हो सकेगी। मगर बहुत कम लोग जरूरी और मामूली तारका भेद जानते हैं या तार पढ़कर उसपर लिखे गये चिन्होंसे इस भेदको जान सकते हैं। अतएव सम्भावना यही है कि इस तरहके फीसदी ९९ जाल पकड़े नहीं जा सकते। तारके महकमेके अफसरोंको इस तरहके जाल पकड़नेका भी कुछ तोड़ निकालना चाहिये।

युद्धस्थलोंमें जो तारघर खोले गये थे वहांके कर्म्मचारी तो हजारों रुपया, सरकारी, खा गये। तारबाबुओंकी तनख्वाहकी किताबोंमें तो उन्होंने थोड़ाही रुपया लिखा, मगर उन्हींके वौचरों (Vouchers) या रसीदोंमें उससे अधिक। रसीदोंके अनुसारही उन्होंने रुपया बरामद किया। जितना उन्होंने किताबोंमें दिखाया था उतना तो उन्होंने पानेवालेको दे दिया, बाकी खा गये। मगर यह जाल बहुत भद्दा जाल था। फल यह हुआ कि जालसाज पकड़े गये। कुछको अपने पाससे रुपया भरना पड़ा। कुछकी सजा हो गयी। एक अकौंटेंट (हिसाबी साहब) को तो ५ वर्षकी सख्त कैद हुई और ३,२३७ रुपये जुर्माना भी हुआ।

इसी तरहके औरभी कितनेही जुर्म हुए। पर उन सबके निर्देश और वर्णनकी जरूरत नहीं। अच्छा अब डाकखाने के मुलाजिमोंकी दियानतदारीके दो एक नमूने लीजिये।

१८ अक्तोबर १९१९ को दो जाली मनीआर्डर, एक छोटे डाकखानेसे रवाना किये गये। उस डाकखानेकी मुहरभी ठीक ठीक लगा दी गयी। मगर न उनके रुपये जमा हुए और न हिसाबकी किताबोंमें कहीं उनका जिक्र ही आया। प्रत्येक मनीआर्डर ५५०) का था। वे दोनों एक बड़े डाकखानेके किसीके नाम भेजे गये। उसने वह रुपया वसूल कर लिया। जो नम्बर इन मनीआर्डरोंका था उन्हीं नम्बरोंके सच्चे मनीआर्डर ५) और १०) के २० अक्तोबरको उसी डाकखानेसे भेजे गये, पर दो और डाकखानोंके नाम। वहां भी उनका रुपया डाकखानोंसे पानेवालोंने बरामद कर लिया। पहले दोनों जाली थे, पिछले सच्चे। अब ये चारों मनीआर्डर जब जांचके दफ्तरमें पहुंचे तब पता चला कि अरे इन साढे पांच पांच सौ रुपयेके मनीआर्डरोंका रुपया तो भेजनेवाले डाकखाने

में जमा ही नहीं हुआ; हिसाबमें भी ये नहीं दिखाये गये। लो, जाल पकड़ा गया। जालसाज़ फौज़दारी सिपुर्द हो गये। उन्हें सज़ा मिली और खा गया रुपया भी उन्हें उगलना पड़ा।

एक "सब" पोस्टमास्टर साहब बहादुरने किसीके सेविंग बैंक हिसाबसे ४००) निकाल लिये। जिसका वह हिसाब था उसके जाली दस्तखत बनाकर रुपया निकालनेकी दरख्वास्त भी आपने बड़ी होशियारीसे कागज़ोंमें शामिल कर दी। आपकी दलील शायद यह रही होगी--मैं क्या जानूं; जिसका रुपया था उसीने तो रुपया लिया है; उसकी दरखास्त पर उसके दस्तखत देख लीजिए। डाकखानोंके हिसाबकी जांच करनेवाले दफ्तरने भी यह जाल न पकड़ पाया। पावें कैसे? सब काररवाई ठीक ठीक की गयी मिली। उनको तो सन्तोष हो गया, मगर जिसका रुपया गया था उसे सन्तुष्ट कौन करे? उसने जब शोर मचाया तब जालसाज महाशयकी आंखें खुलीं। उन्हें लेनेके देने पड़ गये। पहले तो आपपर मुकद्दमा चलाया गया, पर, पीछेसे, शायद काफी सबूत न होनेके कारण, वह उठा लिया गया। सो सजा पानेसे तो आप बच गये। पर नौकरीसे बरखास्त कर दिये गये।

इसी तरहके और भी अनेक जुर्मोका उल्लेख इस रिपोर्टमें है। पर रजिस्टरी और पारसलके सम्बन्धमें किसी जुर्मका उल्लेख नहीं। सम्भव है रिपोर्टके साल वैसे कोई जुर्म न हुए हों। परन्तु अखबार पढनेवाले जानते हैं कि कई तरहके जुर्म करनेवाले मुलाज़िमोंपर कहीं न कहीं मुकदमे चलाही करते हैं और उनकी रिपोर्टें अखबारोंमें छपा ही करती हैं।

जो डाक रेलसे रवाना होती है और उसका हिसाब रखने और उसे लेने देनेका काम जिन कर्मचारियोंके सिपुर्द रहता है वे भी बहुधा लोभमें आकर नोच खसोट कर बैठते हैं। जहां एक या दो ही आदमी इस कामपर नियत रहते हैं वहाँ उन्हें चोरी करनेका अधिक मौका मिलता है।

यह सब कुछ है। पर इन दोनों मुहकमोंकी बदौलत लोगोंको बड़ा आराम है। जहां हज़ारों आदमी काम करते हैं वहां यदि दस बीस अपने ईमानसे डिग भी गये तो कोई बड़ी बात नहीं। उनके काले कृत्यके कारण उन मुहकमोंकी उपयोगिता कम नहीं हो सकती।

**महाबीरप्रसाद द्विवेदी।**

# पुस्तकावलोकन

## तरंग

१—इस पुस्तकके लेखक हैं राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह एम० ए० और प्रकाशक हैं मंत्री, विहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्यसम्मेलन, मुजफ्फरपूर। पृष्ठसंख्या १०७ और मूल्य दस आने है।

इस छोटीसी पुस्तककी भाषा और वर्णनशैली बड़ी मनोरंजक है। वर्त्तमान राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओंका दिग्दर्शन इसमें कराया गया है। लेखकने दोनों पक्षोंका मत समुचितरूपसे प्रकट कर दिया है। पुस्तक पढ़ते समय साधारणतया यह स्पष्ट नहीं होने पाता कि लेखककी चित्तप्रवृत्ति किस मतके पक्षमें है। पुस्तक सामयिक है। सहयोगी और असहयोगी, पर्देकी प्रथाके समर्थक तथा विरोधी, स्त्रीशिक्षा चाहनेवाले तथा उसके विपक्षी, सभी इसे पढ़कर आनन्द ले सकते हैं। सफाई, छपाई तथा भाषा ठीक है।

## पंजाब-केसरी

२—यह हिन्दी-गौरव ग्रंथमालाका २२ वां ग्रन्थ है। लेखक पण्डित नन्दकुमार देव शर्मा, प्रकाशक 'गांधी हिन्दी-पुस्तकभण्डार, कालबादेवी, बम्बई।' पृष्ठसंख्या १०+२५१+४, मूल्य सजिल्दका २।) तथा विना जिल्दका १।।।)

इस पुस्तकपर नज़र पड़ते ही उसे तुरन्त हाथमें उठा लेनेकी हमारी इच्छा हुई। इसकी जिल्द वास्तवमें बड़ी सुन्दर और मनोमुग्धकारिणी है। कागज भी मोटा और चिकना है। छपाई इतनी साफ और सुरम्य है कि देखतेही बनती है। पुस्तक देख कर यही धारणा होती है कि मानो पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धाके कारण उसकी छपाई, सफाई और बँधाई एक दूसरेको मात करनेका प्रयत्न कर रही हैं। इस ऐतिहासिक पुस्तकमें महाराज रणजीतसिंहजीका वृत्तान्त दिया गया है। महाराजही सिक्खोंकी राजनीतिक सत्ताके अधि-नायक और प्रवर्त्तक थे। उनके सुविस्तृत और पृथक् जीवन लिखनेकी बड़ी आवश्यकता थी। हमें यह जान कर प्रसन्नता होती है कि प्रस्तुत पुस्तक कई अंशोंमें उस आवश्यकता-की पूर्त्ति करती है। इसमें ऐतिहासिक सामग्रीका अच्छा संकलन किया गया है। पढ़नेसे विशेष लाभ होगा। घटनाओंकी तिथि विक्रमी संवतमें दी गई है, पर साथ साथ ईसवी सन् भी दिया हुआ है। जहाँ पृष्ठ ३८ इत्यादिमें प्राचीन गाथा गाई गई है एवं पृष्ठ १४१ में फूलसिंहकी वीरताका वर्णन है, वहाँ पृष्ठ १२३ में पुस्तकके नायककी जघन्यताभी स्पष्ट दिखाई गई है। जिन जिन बातोंके सम्बन्धमें इतिहास-लेखकोंमें मतभेद है, उनपर भिन्न भिन्न सम्मतियाँभी लेखकने प्रकट कर दी हैं। छापनेमें चार छः छोटी छोटी अशुद्धियाँ हो गई हैं, पृष्ठ ३८,४३,५२,७६,८१,१२४ इत्यादि। लेखकने 'जय', 'पराजय', 'विजय'

इत्यादि शब्दोंको प्राय: स्त्रीलिंग ही लिखा है, किन्तु पृष्ठ १३६ में 'विजय'को पुल्लिंग माना है। पृष्ठ १२६ में 'अलाउद्दीनने···लाया था', इस वाक्यमें 'ने'का प्रयोग बहुत खटकता है। आशा है अगले संस्करणमें ये त्रुटियाँ दूर कर दी जायँगी। पुस्तकमें यथेष्ठ बातोंका समावेश किया गया है। वह सर्वथा सुपाठ्य और उपादेय है।

## सम्राट् हर्षवर्धन

३——यह पुस्तकभी हिन्दी-गौरव-ग्रन्थमालामें प्रकाशित हुई है। प्राप्तिस्थान भी वही है जो ऊपरकी पुस्तकका है। इसके लेखक श्रीयुत सम्पूर्णानन्द बी० एस सी०, एल० टी० हैं। पृष्ठसंख्या ५७ और मूल्य आठ आने है।

पुस्तककी भूमिकामें कहा गया है कि 'इस बातकी आवश्यकता है कि भारतीय इतिहासके प्रधान प्रधान नायकों और घटनाओंके वृत्तान्त पृथक् पृथक् एकत्र करके जनताके सामने लाये जायँ।···इनके पढ़नेसे तीन लाभ होते हैं—(१) अपने प्राचीन गौरवका पता चलता है, (२) अपने पूर्वजोंके सम्बन्धमें बहुतसी कुधारणाएँ दूर हो जाती हैं, और (३) हमें अपने अध:पतनके कारण ज्ञात हो जाते हैं।' हम लेखकके इस कथनसे सहमत हैं और उन्हें इस सम्बन्धमें कार्य करते देख हम हृदयसे बधाई देते हैं। ऐसे ग्रन्थोंसे हिन्दी साहित्यका गौरव बढ़ेगा और उसके पाठकोंकी ज्ञानवृद्धि होगी। इस पुस्तककी एक विशेषता यह है कि इसके अध्याय बहुत छोटे छोटे हैं। भाषा शुद्ध हिन्दी है, किन्तु कहीं कहीं कठिन संस्कृतके शब्दोंके आ जानेसे जन साधारणके लिए दुर्ग्राह्य है। पुस्तक गवेषणापूर्ण है। छपाई और सफाई बहुत सन्तोषदायक है।

## भारतमें दुर्भिक्ष

४——इस पुस्तकके लेखक हैं पण्डित गणेशदत्त शर्मा और प्रकाशक वही "गांधी हिन्दी-पुस्तक-भण्डार, कालबादेवी, बम्बई।" पृष्ठसंख्या २५+२५८, मूल्य कपड़ेकी जिल्दका २।) तथा साधारण संस्करणका १॥।) है।

इस पुस्तकमें वाञ्छनीय सामग्रीका सन्तोषप्रद संग्रह किया गया है। प्रसिद्ध प्रसिद्ध यूरोपीय तथा भारतीय लेखोंके अवतरण देकर तथा कई सूचियाँ इकट्ठा कर लेखकने पुस्तककी उपयोगिता बढानेकी चेष्टा की है। इसमें सन्देह नहीं कि पुस्तक अत्यन्त उपयोगी और लाभदायक है। छपाई बहुत साफ है और जिल्दकी तारीफमें कुछ कहनाही व्यर्थ है। पाठक इस पुस्तकका अवलोकन अवश्य करें।

## तरुण-भारत

५——यह नूतन साप्ताहिक पत्र पटनेसे प्रकाशित हुआ है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये है। इसमें महात्मा गांधीके पत्र 'यंग इण्डिया' के बहुमूल्य लेखोंका अनुवाद प्रकाशित हुआ करेगा। आकारभी इसका 'यंग इण्डिया' के ही समान है। प्रति संख्यामें आठ पृष्ट रहते हैं। इसकी दूसरी संख्या हमारे सामने है। इसमें गांधीजीके दो

तीन लेखोंका अनुवाद प्रकाशित हुआ है। जो लोग महात्माजीके लेखोंको हिन्दीमें पढ़ना चाहते हैं और उनका संग्रहभी करनेके अभिलाषी हों, उन्हें यह पत्र अवश्य मँगाना चाहिये। 'नवजीवन'के लेखोंका भी अनुवाद इसमें प्रकाशित हुआ करेगा। इस प्रकार महात्माजीके अंग्रेजी लेखोंका ही नहीं, प्रत्युत उनके गुजराती लेखोंकाभी रसास्वादन पाठक कर सकेंगे। पत्रव्यवहारका पता यह है--व्यवस्थापक "तरुण-भारत", बाबू जगन्नाथसिंह लेन, पो० आ० मेहेन्दु, पटना।

### स्वराज्य

६—यह भी राष्ट्रीय पक्षका नया साप्ताहिक पत्र है। इसका आविर्भाव उन्नावसे हुआ है। वार्षिक मूल्य ३॥) है। प्रथम संख्या हमारे सामने है। दो तीन अच्छे अच्छे लेखों और आवश्यक समाचारोंके अतिरिक्त कविवर श्रीमैथिलीशरण गुप्त तथा श्रीयुत 'सनेही' इत्यादिकी कविताएँ भी इसमें हैं। हम हृदयसे अपने नये सहयोगी-का स्वागत करते हैं।

### मारवाड़ी सुधार

७—यह सचित्र लेखमाला प्रति मास आरासे प्रकाशित होती है। इसके सम्पादक हैं बाबू शिवपूजन सहाय, "हिन्दीभूषण"। वार्षिक मूल्य तीन रुपये है। इसमें सरस्वतीके आकारके ३२ पृष्ठ रहते हैं। मारवाड़ी भाइयोंको अवश्य इसका आदर करना चाहिये। पता, मंत्री, मारवाड़ी-सुधार-समिति, आरा।

### श्री सनाढ्य

८—यह सनाढ्य ब्राह्मणोंका जातीय मासिकपत्र है। जबलपुर मध्यप्रदेशसे, श्री डालचन्द हिंगवासिया द्वारा प्रकाशित हुआ है। पृष्ठसंख्या ३२ के लगभग रहती है। वार्षिक मूल्य २॥) है। पत्र उपयोगी जान पड़ता है। सनाढ्य भाई इसे मँगाकर विशेष लाभ उठा सकते हैं।

# सम्पादकीय

## चायके कुलियोंका दुःख

आसाममें चायके बागीचोंमें जो कुली काम करते हैं, उनके दुःखोंकी कहानी समाचार-पत्र पढ़नेवालोंने पढ़ीही होगी। इस सम्बन्धमें कई चिट्ठियां और कई विवरण प्रकाशित हुए हैं। डाक्टर ग्रेहम इत्यादिने यह दिखलानेकी चेष्टाकी है कि वास्तवमें कुलियों-की दशा संतोष-जनक रही है। उनमें असन्तोष फैलानेके प्रधान दोषी असहयोगी हैं। यह बात कहाँतक सत्य है, हमारे पाठक अनुमान कर सकते हैं। जिस समय गोलन्दोमें पहुँचे हुए कुलियोंकी तलाशी ली गई, उस समय उनके पास एक रुपया भी न निकला। यदि उन्हें समुचित मजदूरी मिलती होती तो ऐसी दशाको पहुँच जाना उनके लिये असंभव था। घर पहुंचनेके लिए जिनके पासमें किराया नहीं, रास्तेमें खाने पीनेके लिए सेर भर आट नहीं और जिनकी स्त्रियोंके पास शरीर ढांकनेके लिए ठीक कपड़ेतक नहीं, उन्हें हम सुख और आरामसे रहता हुआ कैसे समझलें ? जिनके पसीनेकी कमाईसे आसामके गौरांग चायवाले मोटे होते हैं, उनके आरामकी यदि वे परवाह करें तो कदाचित् मनुष्य-जातिसे पतित हो जावें और इतनी दया दिखानेके कारण उनकी आत्मा कलुषित हो जावे। हम यह मानते हैं कि चायकी खेती करनेवाले गोरे मालिकोंमें दो चार साधु-प्रकृतिके और कुलियोंके साथ सहानुभूति रखनेवाले भी अवश्य होंगे, किन्तु हमने जो वर्णन कुलियोंकी परिस्थितिके सम्बन्धमें पढ़ा है उससे हमारी यही धारणा हो गई है कि उनके साथ मालिकोंने निष्ठुरताका व्यवहार अवश्य किया, नहीं तो इस प्रकार हजारोंकी संख्यामें यकायक वे रीते हाथ घरके लिये प्रस्थान न करते। भारतीय कुलियोंकी जो गिरी हुई दशा हो रही है, वह कौन नहीं जानता ? मालिकों और मजदूरोंमें मजदूरीके विषयमें मतभेद तो प्रायः सभी देशोंमें सदासे होता आया है। इंगलैण्डमें न जाने कितनी बार ऐसी हड़तालें हो चुकी हैं। पर भारतमें पारिश्रमिक तो कम मिलताही है, उसके अति-रिक्त यहाँके कुलियोंके साथ अकसर बड़ी दुष्टताका व्यवहार होता है। नीलकी खेती करनेवाले गोरोंका हाल हमारे बहुतेरे पाठकोंको विदित होगा। उनके अत्याचारोंसे प्रेरित होकर चम्पारनके कुलियोंकी दशा सुधारनेके निमित्त स्वयं महात्मा गांधीको जाना पड़ा था। आसामके गोरोंने भी अवश्यही उसी प्रकारकी उद्दण्डता की होगी। एक संवाद दाताने "सर्वेण्ट"में बसन्त और कालेश्वर नामक कुलियोंके जो बयान छपवाये थे वे बड़े करुणोत्पादक थे। उनसे हमारी शंकाका समर्थन होता है। इन कुलियोंको आसाममें जैसी मुसीबत उठानी पड़ी वह तो अलग रही, चांदपुर इत्यादिमें उनका कष्ट और भी बढ़ गया। वास्तवमें चांदपुरके हिन्दुस्तानी कमिश्नर श्रीयुत दे का व्यवहार अत्यन्त जघन्य था। कांग्रेस कमिटीके अध्यक्ष श्रीयुत अखिलचन्द्र दत्त और श्रीयुत दे में जो बातचीत हुई थी, उससे दे महाशयकी विलक्षण बुद्धिका पता चलता है। ईश्वरकी दयासे श्रीयुत एण्डू ज

महोदय तथा कांग्रेसके कार्यकर्त्ताओं, स्वयंसेवकों तथा सहानुभूतिपूर्ण जनताके अनवरत परिश्रमसे अब उनकी स्थिति बहुत कुछ सुधर गई है और वे धीरे धीरे अपने अपने घरके लिये रवाना हो रहे हैं। हम आशा करते हैं कि देश उन्हें समुचित कार्य देकर उनकी रक्षा और उदर पोषणका भार अपने ऊपर ग्रहण करेगा, क्योंकि वे उसकी ही सन्तान हैं।

## भारतका औद्योगिक भविष्य

हालमें शिमलेमें जो औद्योगिक सम्मेलन हुआ था, उसे आरंभ करते समय सर टामस हालैण्डनेजो भाषण किया था, उसमें उन्होंने दो तीन बातें बड़े मार्केकी कही थीं। आपने कहा कि "भारत पृथ्वीके उष्ण कटिबन्धका देश है। अत: उसमें कच्चे माल-का अधिकतासे उत्पन्न होना स्वाभाविक है...किन्तु राष्ट्रीय हितके विचारसे तथा भारतको शीघ्रही अपनी आवश्यकताएँ आप पूरी करनेकी उपयोगिताके विचारसे यह आवश्यक है कि केवल कच्चे मालको देकर अन्य देशोंसे बना बनाया माल लेनेकी उसकी स्वाभाविक प्रवृति रोकी जावे और उसमें कुछ कृत्रिम परिवर्तन किया जावे।" सर टामसने यह कोई नई बात नहीं कही। भारतीय व्यापार-मर्मज्ञोंने तथा यहांके देशभक्त अर्थशास्त्र-वेत्ताओंने न जाने कबसे इस बातपर ज़ोर दिया है। पर ब्रिटिश अधिकारियोंने यह पुकार न सुनी, अथवा सुनकर अनसुनी कर दी। यदि हमारी सरकार चाहती तो युद्धके समय भारतीय उद्योगोंको विशेष उत्तेजन दे सकती थी और नये नये कारखाने खोल सकती थी। उस समय वे खुशीसे चल निकलते, क्योंकि उस समय विदेशी प्रतियोगिता-की प्रबलता बहुत कम हो गई थी। किन्तु देशके कल्याणकी पुकार मचानेवाली, पर कार्य करनेमें सदा शिथिलता दिखलानेवाली, भारत सरकारसे यदि इतना ही बन पड़ता तो आज हमारे देशकी यह दशा ही क्यों होती? वह न जाने कबका औद्योगिक उन्नतिमें अग्रसर हो गया होता।

आगे चलकर हालैण्ड महाशय कहते हैं कि "यद्यपि कच्चे मालका जो अंश हमारी आवश्यकताओंसे बच रहे, उसे बेचकर दाम वसूल करना अवाञ्छनीय नहीं है, तो भी उसका अधिकसे अधिक भाग बचा रखना हमारे लिये उचित है। ऐसा करनेसे दो लाभ होंगे। एक तो हम स्वयं उस कच्चे मालसे अनेक प्रकारकी वस्तुएँ तैयार कर सकेंगे और तब हम अधिक अच्छी आर्थिक स्थितिमें रह सकेंगे। दूसरे ऐसा करनेसे देशके हजारों मनुष्योंको काम मिल सकेगा और वे अपने जीवन-निर्वाहकी समस्या हल कर सकेंगे।" इस कथनका एक एक शब्द सत्य है। भारतकी अनेक आर्थिक व्याधियोंकी यही एक प्रधान औषधि है कि हम अपनी आवश्यकताएँ यथा संभव स्वयं ही पूरी करना सीखें। इस काममें राजा और प्रजा दोनोंके ही हार्दिक प्रयत्नकी आवश्यकता है। हम यह मानते हैं कि यहांके धनिक अपनी पूँजी औद्योगिक कार्योंमें लगानेका साहस नहीं करते किन्तु सरकारका यह कहना सम्पूर्ण रूपसे सत्य नहीं माना जा सकता कि यहाँकी सम्पत्ति "लज्जाशील" है। आखिर इस "लज्जाशीलता" का कोई कारण भी तो होगा? विदे-

## सम्पादकीय

शियोंके साथ कठिन प्रतियोगिता, मालके गमनागमनकी असुविधाएँ, उपयुक्त अनुभवी एवं जानकार कार्यकर्त्ताओंका अभाव, तथा सरकारकी उदासीनता ही उसके प्रधान कारण हैं। भारतके आगत मालके निमित्त सरकारने जो सुविधाएँ कर रखी हैं उनके कारण विदेशी प्रतियोगिताकी प्रबलता कम हो ही नहीं सकती। रेलों इत्यादिके नियम कुछ ऐसे ढँगसे बने हैं कि उनके कारण विदेशी मालकी अपेक्षा देशी मालको अधिक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। विदेशोंमें नाना प्रकारकी कलाएँ और उद्योग-धन्धे सीखनेके लिए सरकारने सच पूछो तो भारतीयोंको उत्साहित ही नहीं किया। यदि भारतीय स्वयं अपनी पूँजीसे कारखाने खोलें, स्वयं अपने खर्चसे विदेशमें औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करें तो भारत सरकारका अस्तित्व किसलिए है ? यदि इतना करनेपर भी कठिनाइयां आ पड़नेके समय हमारी सरकार उद्योगरत पुरुषोंकी सहायता करने तथा हानि होते समय हाथ बँटानेको तैयार रहती, तो भी बहुत कुछ आशा की जा सकती थी। किन्तु इस विषयमें भी हम उसे शिथिल और अन्य-मनस्क पाते हैं। हम चाहते हैं कि सरकार अपनी यह मन्थर-गति त्याग दे और शीघ्रही देशके औद्योगिक उत्थानमें सच्चे दिलसे प्रयत्न-शील हो जावे। हम इस ओर अपने उन भाइयोंका ध्यान आकर्षित करते हैं जो आज जनताके प्रतिनिधि बनकर व्यवस्थापक सभाओंमें या सरकारके सचिव पदपर आरूढ़ हैं। उनकी संयुक्त वाणी और संगठित कार्यसे सरकारकी सुस्ती दूर करना कठिन नहीं है।

———

ओ३म् वन्देमातरम्

# स्वार्थ

वर्ष २ खण्ड १ | श्रावण १९७८ | अङ्क ४ पूर्णाङ्क १६

## बोर्ड आफ़ रेवन्यूकी रिपोर्ट

माल के कामसे सम्बन्ध रखनेवाले सबसे बड़े दफ्तरका नाम बोर्ड आफ रेवन्यू-का दफ्तर है। हर सूबेके लिए एक एक दफ्तर अलग अलग है। इस दफ्तरके अध्यक्ष हर साल गवर्नमेंटके सामने एक रिपोर्ट पेश करते हैं। इस रिपोर्टमें फसलसे सम्बन्ध रखनेवाली प्राय: सभी बातोंकी चर्चा रहती है। इसकी १९१९-२० की रिपोर्ट—अर्थात् अगस्त १९ से सितम्बर २० तककी—प्रकाशित हुए कुछ ही समय हुआ। इसमें की गई आलोचनाओंके कुछ अंश इस लेखमें हम देते हैं। साथ ही, आवश्यकतानुसार, अपने विचार भी प्रकट करते हैं।

१९१९-२० का पिछला साल अर्थात् १९१८-१९, बुरा साल था। पानी कम बरसने और कहीं कहीं न भी बरसनेसे फसल अच्छी नहीं हुई। फल यह हुआ कि जितनी ज़मीन बोई जानी चाहिए थी उससे फी सदी साढ़े तेरह कम बोई गई। इस साल वह कसर निकल गई, अर्थात् ४०,४०,३४२, एकड़ ज़मीन अधिक जोती बोई गई। परन्तु वृद्धिका यह औसत फ़ी सदी १३ ही पड़ा। पिछले साल साढ़े तेरह फी सदी ज़मीन कम बोई गई थी। उससे चाहिए था इस साल उससे बहुत अधिक बोई जाती तब तो परता पड़ता—तबतो पिछले सालकी घटीसे किसानोंका परित्राण होता। पर दुर्भाग्यवश यह न हुआ। जब एक साल पानीकी कमीसे लोग कम खेती कर सकते हैं तब अगले साल पानी पड़नेपर, दो-फसली खेती करके पेट-पूजाका प्रबन्ध जल्दी कर लेते हैं। इससे उनके पल्ले अनाज भी कुछ अधिक लग जाता है। उदाहरणार्थ—किसी खेतमें मक्का बोकर, उसे काट लेनेपर, फिर उसीमें ज्वार बो देते हैं। पर भारतीय किसानोंका पीछा दुर्भाग्य कभी नहीं छोड़ता। वे इस साल यह भी न कर सके। बरसात जल्द बन्द हो जानेके कारण इस प्रान्तके पश्चिमी जिलोंमें जितनी ज़मीनमें दो फसलें बोई जाती थीं उतनीमें भी फी सदी १२ की

कमी हो गई ! बात यह कि सारा दारोमदार वर्षाधिप अथवा मेघराज महाराजपर ठहरा। वे पानी देदें तो अनाज हो जाय, न देदें या कम देदें तो यहांके किसान मुँह बाये बैठे रहें। सरकारके पास क़ारूँका खज़ाना तो है ही नहीं जो कुवें, तालाव, झीलें, नहर, बाँध वग़ैरह तैयार कराकर बरसातके भरोसे खेती करनेवालोंका मेघ महाराजसे थोड़ा बहुत छुटकारा करा दें।

कुल खरीफ़की फसलका यह औसत रहा कि जहाँ १९१७ में ११५ बीघेमें खरीफ बोई गई थी तहाँ १९१९ में सिर्फ ११२ बीघेमें बोई गई। रबीकी दशा तो और भी बुरी रही। १९१७-१८ में उसका औसत ११३ का पड़ा था। १९१९-२० में घटकर वह ९४ ही रह गया !

परन्तु सरकारका कहना है कि फसल तो अच्छी हुई, रक़बा कम बोया गया तो क्या हर्ज ? १०० में ९५ बाजरा, ९० ज्वार और कोई ८५ धानका औसत पड़ा। रबीमें ९० गेहूँ, ९५ जौ, ९० चना, ९० अलसी और ७५ अफीम हुई। पर सरकार यह भी कहती जाती है कि फसल हुई तो अच्छी, परन्तु उतनी अच्छी नहीं जितनी १९१६-१७ में हुई थी। कारण कीड़े, ओले, और हवा। इन दुष्टोंने बहुत हानि की। नहीं तो शायद १०० में १०० हीका औसत पड़ता। सो इन्द्रदेवने दया की तो कीड़ों इत्यादिने निर्दयता !

अच्छी फसल पैदा करने और अधिक ज़मीनमें कृषि होनेके लिए आबपाशीके ज़रियोंका होना बहुत ज़रूरी है। पर इस प्रान्तका सितारा इतना बुलन्द है कि जितनी ज़मीन जोती बोई गई उसमेंसे केवल फी सदी ३१ सींची गई। बाकी ६९ फी सदी असींच रह गई। रबीकी फसल सींचनेकी कितनी ज़रूरत है यह कौन नहीं जानता। सींचनेसे गेहूं, जौ इत्यादि अनाज दूनातक हो सकता है। परन्तु फी एक सौ बीघे पीछे ६९ बीघे जमीन सींचनेका कुछ भी प्रबन्ध नहीं। ३१ फी सदी, जो रिपोर्टके साल सींची गई, इन जरियोंसे सींची गई—

( १ ) कुवोंसे १७ फी सदी
( २ ) नहरोंसे ८ ,,
( ३ ) तालाबों वग़ैरहसे ६ ,,

पहले इन प्रान्तोंमें ५, ६१, ९६३ पक्के कुँवे थे, जिनसे सिंचाई हो सकती थी। परन्तु रिपोर्टके साल उनकी संख्या घटकर ५, ५७, ३२५ ही रह गई। कोई तीन चार हजार कुँवे गिर गये, या बिगड़ गये, या और किसी कारणसे पानी देने योग्य न रह गये। पिछले साल १४, २१४ पक्के कुँवे तैयार हुए थे। रिपोर्टके साल उनकी संख्या १४, ६२७ तक पहुँच गई। अर्थात् कोई चारसौ कुँवे नये बने। यह कोई बड़ी बात न हुई। जहाँ हजारों पुराने कुँवे बरबाद हो गये तहाँ चार सौ यदि नये बन गये तो कुछ न हुआ। हर साल यद्यपि रेवन्यू बोर्डकी रिपोर्टों तथा अन्य सरकारी काग़ज़ोंमें इस बातपर ज़ोर दिया

जाता है कि आबपाशीके ज़रिये बढ़ाने चाहिए तथापि कुवोंकी विशेष वृद्धि नहीं होती। और हो भी कैसे ? किसी किसी ज़मींदारी और तअल्लुकेदारीमें कुँवे बनानेकी इच्छा रखनेवालोंपर नाजायज़ सख्ती तक की जाती है। उन्हें पक्के कुँवे बनानेकी इजाज़त नहीं दी जाती और दी भी जाती है तो उनसे कुछ ऐंठ कर। कुँवा पक्का हो जानेपर बेदख़ल करनेमें ज़रा झंझट जो होता है। सो फसल अच्छी हो या बुरी--किसान उजड़े या रहे—ज़मींदार या तअल्लुकेदार साहबकी बलासे। उन्हें अपने मतलबसे मतलब। अवधका तो और भी बुरा हाल है। वहाँकी दुनियाँ तीनों लोकोंसे न्यारी है। वहाँ अगर तअल्लुकेदार साहब तहरीरी इजाज़त न दें तो कुँवा बनानेवाला, बेदख़ल हो जाने पर, कुंवेका मुआविज़ा भी न पावे। क़ानून लगान ही कुछ इस तरहका है कि बहुधा, हर विषयमें, तअल्लुकेदारोंही-की जीत रक्खी गई है। ये जो इस साल कितनेही उपद्रव हो गये, उनका कारण अनेकांशमें इन लोगोंकी सख्ती ही है। यही लोग अब अपनी अपनी सनदोंकी दुहाई देकर यह कह रहे हैं कि अगर पट्टेदार किसान अपने जीवनमें बेदख़ल न किया जा सके तो बन्दोबस्तभी साठ सत्तर सालके बाद हुआ करे। मतलब यह कि मालगुज़ारी भी हमारी पचास साठ साल तक ज्योंकी त्यों बनी रहे, बढ़े नहीं। इन्होंने यह जो सुन लिया है कि अवधका क़ानून लगान बदलने वाला है और सम्भव है, बेदखलियां अब बहुत कम हो सकें। बेदख़ल करके काश्तकारोंसे नज़राना लेना और लगानमें इजाफा भी कर देना इनका रोज़ाना खेल है। बेदख़लीके रूपमें ऐसी अच्छी कामधेनुको ये भला खुशी खुशी कैसे छोड़ सकते हैं। पर इन्हें याद रखना चाहिये कि

सबै दिन नहीं बराबर जात।

देखिये अवधके अजूबा सूबेमें किसानोंको बेदख़ल करनेके लिए कितने नोटिस जारी किये गये। जनाबेमन ! सौ, दो सौ, हज़ार, दो हज़ार नहीं, तेतालीस हज़ार तीन सौ चौवन !!! रिपोर्टके पिछले साल इनकी संख्या केवल २४, ११४ थी। उस साल क़हत सा था। इससे ग़रीबपरवर तअल्लुकेदारोंने अपनी ग़रीब रियायाको कम सताया। सन् १६१६-२० में तो मज़ेकी बारिश हो गई थी न ? सो उन्होंने पिछली गुर्बापरवरी भूल कर दूनी बेदख़लियां धमक दीं ! सो ये उदार शिरोमणि बेगार भी लेंगे, भूसा-घास भी लेंगे, नज़राना भी लेंगे, लगानमें इज़ाफ़ा भी कर देंगे और अगर किसीने चूं किया तो उसे बेदख़ल भी कर देंगे। यह सब इसलिए कि हम राजा हैं, हम महाराजा हैं, तअल्लुकेकी ज़मीन हम अपने साथ हाथकी मुट्ठीके भीतर बन्द करके लाये थे ! धन्य इन लोगोंका प्रजापालन ! तिसपर भी सनदकी दुहाई !

आगरेके सूबेमें भी खूब बेदख़लियां हुईं। लगान देनेके कारण जितनी बेदख़लि-योंके लिए दरख़ास्तें गुजरीं उनमेंसे सिर्फ ६, ६८२ बेदख़लियां मंजूर हुईं, और नहीं। उधर १७, २६० काश्तकारोंके लगानमें इज़ाफा करनेकी मंजूरी मिली। रिपोर्टके पिछले साल, अर्थात् १६१८-१६ में इनकी संख्या १८,५३३ थी। सो इस मदमें, सूबे आगरेमें,

कमी ही रही। लगान अदा न करनेके कारण सिवा और कारणोंसे, सूबे भरमें, जो बेदख़लियां हुई उनकी संख्या १, ६७, ३६६ तक पहुँच गई! इस दशामें भगवान ही काश्तकारोंकी लज्जा रक्खे।

गवर्नमेंटको मालगुज़ारीके रूपमें ७, २१, ६०, २६५ रुपये मिलना था। उसमेंसे उसने मारकूट कर ७, १२, ७३, २५० रुपया वसूल कर लिया; ८, ५६, ६२५ रुपया छोड़ दिया; और कोई ४४½ हज़ार रुपयेकी वसूलयाबी मुलतवी कर दी। सो यह वसूल बुरा नहीं। रुपयेमें एक आना बकाया रह भी जायतो वह न कुछके बराबर है।

३० मार्च १९२० तक, एक सालमें, कुछ कम ३७ लाख मन चावल बाहरसे आया। ज्वार और बाजरेका चालानतो यहांसे खूब ही हुआ, पर सरकारी रोक होनेके कारण गेहूं कम गया। जितना गेहूं और साल इस प्रान्तके बाहर जाता था उससे ७६ हज़ार मन कम गया। गेहूं ज़रूर कम गया; परन्तु अनाज, जिसमें ज्वार और बाजरा भी शामिल है, इतना बाहर भेजा गया जिसका ख़याल करके छाती दहल उठती है, उसकी क़ीमत आप जानते हैं कितनी हुई? चार करोड़ ६ लाख रुपया! इस दशामें यदि प्रान्तमें महंगीका अकण्टक राज्य हो जाय और छः सात सेरका जौ बिके तो कोई आश्चर्य्य नहीं। यदि रेलवाले रेलके डब्बे काफी संख्यामें व्यापारियोंको देते तो न मालूम और कितना अनाज बाहर भेज दिया जाता। खैर इतनीही हुई कि डब्बे कम मिलनेसे और अधिक चालान नहीं हुआ। बंगाल नार्थ वेस्टन रेलवे ( गोरखपुर लैन ) का इन्तजाम इतना अच्छा रहा कि १९२० की बरसातमें उसके मालगुदामोंमें अन्दाज़न ५ लाख रुपयेकी क़ीमतका अनाज बरबाद गया। मालूम नहीं, इसका मुआविज़ा दिया गया या नहीं। सम्भावना तो यही है कि न दिया गया होगा, क्योंकि बरसातमें रेलवाले महाजनोंका अनाज उन्हींकी जिम्मेदारी पर बहुधा लेते हैं—उनसे वे रिस्क नोट ( Risk Note ) लिखा लेते हैं।

इनफ्लुयंज़ाके कारण, १९१८-१९ में, तो इस प्रान्तमें क़हर ही गुज़रा था। सरकारके इक़बाल और सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी कृपासे १९१९-२० में उतनी मौतें नहीं हुईं। तथापि १७½ लाख आदमी यमालयको चले ही गये अर्थात् १९१६-१७ में जितने आदमी मरे थे उनसे भी लगभग १ लाख आदमी अधिक मरे। किस रोगसे कितने मरे इसका मोटा मोटा हिसाब सुनिए—

| | |
|---|---|
| बुखारसे | १४½ लाख। |
| हैज़ेसे | १२ हज़ार। |
| प्लेगसे | २४ " |
| चेचक से ( केवल गाज़ीपुरमें ) | ११ सौ। |

बाकी मौतें और और बीमारियोंसे हुईं। सरकारका कहना है कि इतनी आबादीमें सत्रह-अठारह लाख आदमियोंका मर जाना कोई बड़ी बात नहीं। सब बातोंके लेहाज़से सर्वसाधारणकी तन्दुरुस्ती सन्तोषजनक ही रही; किसानींके काममें रुकावट पैदा करनेवाली किसी मरी या महामारीका प्रकोप नहीं हुआ—

## बोर्ड आफ़ रेवन्यूकी रिपोर्ट

"On the whole the public health was satisfactory and there was no epidemic calculated to interfere with agricultural activities."

जानवरोंहीकी बदौलत खेतीका काम होता है और अधिकांश लोगोंकी जीविकाका साधन खेती ही है। दूध, दही और घी भी गायों, भैंसों और बकरियोंहीकी कृपासे प्राप्त होता है। देहातियों और कुछ नगर निवासियोंकोभी जूते, मोट आदि भी इन्हींके चमड़ेसे नसीब होते हैं। सो इन इतने उपयोगी पशुओंकी संख्या जितनी ही अधिक हो उतना ही अच्छा। पर इस विषयमें भी यह प्रान्त बहुत अधिक हतभाग्य है। जनवरी १९२० में पशुओंकी गिनती हुई थी। उससे मालूम हुआ कि भैंसों को (भैंसियोंको नहीं) छोड़कर और सभी प्रकारके पशु लाखोंकी संख्यामें कम हो गये। पिछली गणनासे सिर्फ ७ हज़ार भैंसे अधिक निकले। पर इस अधिकतासे बहुत कम लाभकी सम्भावना है, क्योंकि हलमें भैंसे कम जोते जाते हैं। बड़े बड़े शहरों और रेलकी स्टेशनोंपर भैंसे ठेलों और गाड़ियोंमें ही अधिक जोते जाते हैं। भिन्न भिन्न प्रकारके पशु कितने कम हो गये, इसका कुछ हिसाब—मुख्य मुख्य पशुओंका—नीचे दिया जाता है। इनकी पिछली गणना १९१५ ईसवीमें हुई थी। तबसे जनवरी १९२० तक, सिर्फ ५ वर्षमें, कितनी कमी हो गई, यही इस हिसाबमें दिखाया गया है। देखिए—

| पशु | संख्यामें कमी | कमीका फी सदी औसत। |
|---|---|---|
| बैल | ३,५५,३५८ | ३ |
| गायें | १,३४,८९८ | २ |
| भैंसें | ६९,४९५ | २ |
| भेड़ें | १,१६,५५६ | ५ |
| बकरियां | ५५,७६,९५८ | ६० |

५८ हज़ार हल कम हो गये और १६½ हज़ार बैलगाड़ियां। सो महिष महोदय को छोड़कर और सर्वत्रही ह्रास, ह्रास, ह्रास ही का नाद सुनाई दे रहा है। जिन बैलों और गायोंपर खेतीका दारोमदार है वे पांचही वर्षमें अनुक्रमसे ३ और २ फी सदी कम हो गईं। बेचारी बकरियों पर तो क़यामतही आगई। सौ पीछे साठ कम होगईं। इनमेंसे अधिकांश मांसखोरोंके अमाशयोंमेंही जीर्ण होगई होंगी। यदि यह ह्रास इसी तरह जारी रहा तो कोई दिन ऐसा भी आवेगा जब एक भी बकरी और भेड़ जीती न रहेगी। तब ये लोग किस जानवरकी जान लेकर अपना पेट भरेंगे?

पशुओंके लिये चरी काफी नहीं; परती ज़मीन जुतती चली जा रही है। ज़मीनदारों और तअल्लुकेदारोंको पशुओंकी ह्रास—वृद्धिसे कोई तअल्लुक न ठहरा। हर गाँवमें कुछ ज़मीन चरीके तौरपर छोड़ी जानेका क़ानून सरकार बनाती नहीं। भेड़ियां,

बकरियां और गाय, बैल खाना लोग बन्द करते नहीं। इस दशामें यदि इस अभागे प्रान्तमें किसी दिन घी दूध अलभ्य हो जाय और बिना बैलोंके करोड़ों बीघे उर्वरा भूमि ऊसर-बंजर बन जाय तो क्या आश्चर्य्य !

महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

# राजनीतिकदल

मनुष्योंमें मतभेद स्वाभाविक है, इसीलिए मतानुसार अनुयायियोंके भिन्न भिन्नदल भी सर्वत्र और सर्वदा रहे हैं। राजनीतिके सम्बन्धमें भी यही बात है। परन्तु प्राचीन और अर्वाचीन राजनीतिक दलोंके संगठन तथा उद्देश्योंमें बड़ा अन्तर है। राजतंत्र-शासन-कालमें ये दल किसी व्यक्ति या किसी वंशको सिंहासनारूढ़ या सिंहासनच्युत करनेके लिए लड़ते भिड़ते रहते थे। विजयी नेता अपने अनुयायियोंको, सहायताके उपलक्षमें, बड़े बड़े पदोंपर नियुक्त करता था। इसके अतिरिक्त, कोई प्रबन्धकारिणी संस्था न होनेके कारण, इन दलोंका शासन-नीतिपर कुछ प्रभाव न पड़ता था। परन्तु प्रजातंत्र शासनके प्रचारके साथ ही साथ इन दलोंकी स्थिति बिलकुल ही बदल गई है।

पार्लमेण्ट्री शासनमें ये राजनीतिकदल संगठनके आवश्यक अंग समझे जाते हैं। इस शासनका मुख्य सिद्धान्त जनताके प्रति शासनाधिकारियोंका उत्तरदायित्व है। उनका चुनाव लोकमत द्वारा होता है। ऐसी अवस्थामें व्यवस्थापक सभामें, जिसदलकी अधिकता रहती है, उसीके हाथमें शासनाधिकार रहता है। इन राजनीतिकदलोंका एक मुख्य उद्देश्य और निश्चित कार्य्यक्रम रहता है, उसीके अनुसार इनकी रचना होती है। व्यवस्थापक सभा इन राजनीतिक दलोंका रणक्षेत्र बन जाती है, और प्रत्येकदल अपने विपक्ष दलको निकाल बाहर करनेका प्रयत्न किया करता है।

प्रतिनिधि शासनमें इन राजनीतिकदलोंके दो मुख्य कार्य्य हैं—एक तो, जिस सिद्धान्तके ये अनुयायी हैं, उसका प्रचार, और दूसरे अपने दलके सबसे अधिक प्रतिनिधियोंका निर्वाचन, इन दोनों कार्य्योंमें ये दल सदा व्यग्र रहते हैं। इससे जनताको बड़ी सहायता मिलती है। जटिल राजनीतिक प्रश्नोंपर व्यक्तिगत सम्मति निश्चित करना साधारण मनुष्यके लिये असम्भवसा है। उसका ज्ञान इतना विस्तृत नहीं है, कि वह उस प्रश्नके सब अंगोंपर दृष्टि डाल सके, इसलिए उसको एक निश्चित सिद्धान्त और कार्य्यक्रमके सहारेकी आवश्यकता रहती है। "महाजनो येन गतः स पन्थाः" सर्वसाधारणके लिये यही सबसे स्वभाविक पथ प्रदर्शक नियम है। जिस तरफ़ वह देखता है कि दस भले आदमी जारहे हैं, उसी ओर विना बहुत सोचे विचारे वह भी चल देता है। इस तरह अनिश्चित विचारसागरमें गोता खानेका भय नहीं रहता, सहारेके लिए मुख्य निश्चित सिद्धान्तका तख्ता मिल जाता है। निर्वाचनके समयपर भी इससे बड़ी सहायता मिलती है। सैकड़ों उम्मेदवारोंमेंसे किसको वह वोट दे और किसको न दे, इसके निर्णयमें उसका दिमाग चक्कर नहीं खाता है, वह आंख बन्द करके अपने दलके प्रतिनिधिको वोट दे देता है।

शासनके संचालनमें भी इससे बड़ी सहायता मिलती है। विजयी दल एक

मुख्य उद्देश्यको लेकर शासनाधिकारमें आता है। निश्चित अदृष्ट आदर्शके लिये वह अपनी सारी शक्ति नष्ट नहीं करता, उसके नेताओंका ध्यान पूर्व-निश्चित-नीतिपर पूर्णरूपसे आकर्षित रहता है। ऐसा न होनेसे दलकी ओरसे सहायता न मिलनेके कारण, पदच्युत होनेका भय रहता है। शासनाधिकारका प्रलोभन बड़ा भारी होता है, इसमें रहनेसे केवल सिद्धान्तोंको कार्य्यमें लानेका ही अवसर नहीं मिलता, बल्कि अपनी सांसारिक उन्नतिमें भी बड़ी भारी सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त शक्तिका चसका ही इतना स्वाभाविक है कि जहाँ यह एक बार लगा, फिर इसका छुड़ाना कठिन हो जाता है। फल यह होता है कि अधिकारि-दल अपने कर्तव्यमें तत्पर रहता है।

विपक्षीदलके भयका प्रभाव भी खूब पड़ता है। पदच्युत करनेकी दृष्टिसे अधिकारि-दलकी नीतिकी तीव्रसे तीव्र आलोचना इसके द्वारा हुआ करती है। इस भयके कारण अधिकारि-दल सदा जागृत रहता है, उसके नेता विपक्षियोंके आक्रमणसे सुरक्षित रहनेके लिए, अपने दलको सदा सुसंगठित रखते हैं। सभाओंमें बराबर युद्ध चला करता है। युद्धमें विजयके लिये सेनाका पूर्ण सगठन नितान्त आवश्यक है, इसलिये प्रत्येक दलका ध्यान बराबर संगठनकी ओर रहता है। इस तरह शासन-नीतिकी गति तीव्र रहती है, और सभा प्रतिनिधि समूहकी अपेक्षा विशेषकर सुसंगठितदलोंके ही दांव-पेंचकी युद्धस्थली बनी रहती है। यहाँ प्रत्येक प्रतिनिधि अपनी निराली तान नहीं अलापता, यदि ऐसा हो तो शासन कार्य्य ही न चल सके, उसे सदा अपने दलके सिद्धान्तोंका ध्यान रखना पड़ता है। कभी कभी अपने व्यक्तिगत भावोंको दबाकर अपने दलका साथ देना पड़ता है। ऐसा होनेसे कार्य्यवाहीमें कुछ समानता और एक प्रकारका क्रम रहता है।

इस प्रथामें कई एक दोष भी हैं। बड़े बड़े राजनीति-विशारदोंने इसको सर्वथा निन्द्य बतलाया है, और नैतिक सिद्धान्तोंकी ओटमें इसकी तीव्र आलोचना की है। इस प्रथाके अनुसार अधिकारिदल अपने ही अनुयायियोंको बड़े बड़े पद देता है। जब शासन भार इस अधिकारि-दलके हाथमें आता है, तब प्रायः बहुत थोड़े वोटोंसे उसकी विजय होती है। ऐसी दशामें यह कैसे कहा जा सकता है कि विजयीदलका सिद्धान्त ठीक है। सम्भव है उसने घूस देकर विजय प्राप्त कर ली हो। यदि ऐसा है, तो उसके हाथमें शासनकी बागडोर देनेसे क्या देशका हित होसकता है? विजयीदलके हाथमें सारी योग्यताका ठेका हो, यह भी नहीं कहा जा सकता। अल्पसंख्यक दलमें भी कई एक नीतिचतुर, सुयोग्य, कार्य्यदक्ष लोग मिलेंगे। उनको अधिकारसे वंचित रखकर, अयोग्य लोगोंके हाथमें अधिकार सौंपनेसे क्या विजयीदलकी स्वार्थपरता प्रकट नहीं हो रही है? यही बात विपक्षी-दलके विषयमें कही जा सकती है। बराबर विरोध करते रहनेसे क्या देशके हितमें बाधा नहीं पड़ती है? क्या यह विरोध सदा उचित उद्देश्योंहीको ध्यानमें रखकर होता है? क्या इसमें स्वार्थका लेशमात्र भी नहीं है? जिसने इसकी

कार्य्यवाहीका अध्ययन किया है, क्या वह हृदयपर हाथ रखकर कह सकता है कि यह विरोध अधिकार प्राप्तिसे लाभ उठानेके भावोंसे प्रेरित नहीं है ?

इस स्वार्थ-सिद्धिके युद्धमें सिद्धान्तोंका स्थान कहाँ है । यह तो जनताकी आंखोंमें केवल धूल झोंकना है । जिन सिद्धान्तोंके नाम पर निर्वाचनके समय पर विजय मिलती है, उनका ध्यान किसको है ? अमरीकाके दो राजनीतिकदलोंकी तुलना खाली बोतलोंसे की जाती है, जिसमें नामका परचा तो यही बना रहता है, पर भरनेको जो चाहे सो भर दो । इंगलिस्तानमें भी इस प्रथाका अधिक प्रचार है । यही दृश्य वहाँ दिखायी देता है । वर्तमान अधिकारि-दलके नेता प्रधान-सचिव लायड जार्जने निर्वाचनके समय पर राष्ट्रसे कैसे कैसे वायदे किये थे । पर आज वे सब वायदे कहां हवा हो गये ? यह धूर्तता नहीं तो और क्या है ?

भिन्न भिन्न राजनीतिक दलोंके कारण देशकी एकता नष्ट हो जाती है । घरकी फूट देखकर शत्रुको आक्रमण करनेका साहस होता है । देशमें ईर्षा, द्वेष, और वैमनस्यसे परस्परके व्यवहार घृणित हो जाते हैं । बड़े बड़े सिद्धान्तोंके चक्करमें पड़ कर प्रतिनिधि अपने निर्वाचकोंके हित का ध्यान नहीं रखते । स्थानीय प्रबन्धमें ऐसे सिद्धान्तोंसे हानि होनेकी सम्भावना रहती है !

इनके अतिरिक्त सबसे बड़ा दोष इस प्रथामें यह दिखलाई देता है कि प्रायः इसके अनुसरणसे लोग उच्च नैतिक आदर्शसे विचलित हो जाते हैं । इसका मुख्य कारण यह है कि इसमें प्रत्येक प्रश्न पर विचार, अपने दलके हितका ध्यान रख कर, होता है । प्रत्येक दल अपने विजयी नेताके दोषोंको छिपानेका प्रयत्न करता है । यदि अधिकारि-दल या विपक्षी-दलका कोई सदस्य अपने दलके हितसाधनके लिये कोई अनुचित उपायका प्रयोग करता है तो उसका दल ऐसे उपायको उदासीनताकी दृष्टिसे देखता है । सन् १८९९-१९०१ में जब इंगलिस्तानने दक्षिण अफ्रीकाके विरुद्ध युद्ध छेड़ा तो बहुतसे लोग यह जानते हुए भी कि इंगलिस्तान अन्याय-रत है, चुपरहे, क्योंकि यह युद्ध उनके दलके नेताओंने छेड़ा था । अपने हितसाधनके लिये कभी कभी बड़े निन्दनीय उपायोंसे काम लिया जाता है । घूस तथा और तरह तरहके प्रलोभन लोगोंको दिये जाते हैं । इस तरहसे यह देखा गया है कि देशहितकी अपेक्षा दलके हितका ध्यान अधिक रहता है । उच्चाकांक्षी वाक्चतुर नेता निज-स्वार्थ-साधनके लिये इन दलोंका मनमाना दुरुपयोग करते हैं, और बड़े बड़े बुद्धिमान, दलके छिन्न भिन्न होनेके भयसे चुपचाप इसे सहन करते हैं । इस तरह व्यक्तिगत विचार स्वातंत्र्यके स्थान पर स्वार्थसाधनका संपूर्ण राज्य हो जाता है ।

जब एक पक्ष दूसरे पक्षकी आलोचना करता है, तो वह इन दोषोंको बराबर मानता है । उसके सदस्य विपक्षीदलके सदस्योंको संकीर्णहृदय और दलके अनुचित हितके भावोंसे प्रेरित बतलाते हैं । ज्ञानी अनुभवी लोगोंसे प्रार्थनाकी जाती है कि वे निष्पक्ष होकर विचार करें, अपने संकीर्ण दलका विचार छोड़ देवें और देशका हित ध्यानमें रक्खें,

परन्तु साथही साथ अपने पक्षवालोंसे कहा जाता है कि अपने दलको न भूलना, इससे तुम्हें कितने लाभ हुए हैं, इसका ध्यान रखना, एवं यदि इसका कार्य्य अनुचित भी जान पड़े, तब भी साथ न छोड़ना। जो कुछ उसने तुम्हारे साथ उपकार किये हैं, उसके लिये कृतज्ञ रहना तुम्हारा कर्तव्य है। दलके बड़े बड़े नेताओंके नामकी लाज तुम्हारे हाथ है, दलद्रोही बनकर नाम कलंकित न करना। इस तरह एकही साथ दो दलोंसे एक दूसरेके प्रतिकूल भाव प्रकट किये जाते हैं।

इतने दोषोंके होते हुए भी यही कहना पड़ता है, कि बिना राजनीतिकदलोंके पार्लमेन्ट्रीशासन असम्भव है। ये दोष मनुष्य स्वभावके दोष हैं थोड़े बहुत सभी जगह मिलेंगे। ये कभी नष्ट हो जायंगे इसकी बहुत कम सम्भावना है, पर इनको कम करते रहना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है। प्रायः व्यवहारमें इनका प्रभाव उतना अधिक नहीं होता जितना कि बाहरसे देखनेमें प्रतीत होता है। इंग्लिस्तानमें इस प्रथाको पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है और भिन्न भिन्न देश इसको धीरे धीरे ग्रहण कर रहे हैं। सच पूछो तो राजनीतिक विचारोंके सघन-वनमें यह राजनीतिक दल ही पथ प्रदर्शक है। इसीके द्वारा एक प्रकारके नियम और क्रमकी स्थापना होती है। इंग्लिस्तान, अमरीका, फ्रान्स ऐसे बड़े बड़े प्रजातंत्र राष्ट्रोंका शासन बिना राजनीतिक दलोंके असम्भव सा है। यदि यहां ये संगठन न होते तो जनताका ध्यान राजनीतिक प्रश्नोंकी ओर कौन आकर्षित करता? निस्सन्देह, ये दल, प्रत्येकप्रश्नके सम्बन्धमें अपनेही पक्षका पहलू दिखलानेकी चेष्टा करते हैं, पर जनता इतनी अन्धी नहीं है, वादविवादमें उसको दूसरे पक्षके पहलूका थोड़ा बहुत ज्ञान हो जाता है। इस तरह राजनीतिमें जनताकी बराबर शिक्षा होती रहती है, और वह बराबर जागृत रहती है। निर्वाचनके पूर्व राजनीतिक प्रश्नोंकी खूब छान बीन होती है, और वे निश्चित स्पष्ट स्वरूपमें जनताके सम्मुख रखे जाते हैं। इससे निर्वाचित नवीन प्रतिनिधिको भी बड़ी सुगमता हो जाती है। उसका कार्य्यक्रम बना बनाया रहता है, और उसे प्रारम्भहीसे अपनी सारी शक्तियोंको काममें लानेका अवसर मिल जाता है। सरकारकी ओरसे तो केवल निर्वाचकोंके नामकी सूची प्रकाशित होती रहती है, पर इनकी उदासीनताको दूर करके राजनीतिक प्रश्नकी ओर ध्यान आकर्षित करना और प्रत्येक नागरिकको वोट देनेके कर्तव्यमें रत करना, इन राजनीतिक दलोंहीका काम है। यह कार्य्य ऐसे स्थायी दलोंके सिवा और किसी थोड़े कालके लिये स्थापित संस्थासे उचितरूपमें नहीं हो सकता है। ये दल अपना कोष भी रखते हैं, जिससे समय समयपर निर्धन प्रतिनिधियोंकी आर्थिक सहायता होती है, और सिद्धान्तोंके प्रचारका काम चलता है।

यदि ये दल न हों, तो उत्तरदायी शासनमें मंत्रियोंका स्थान सर्वथा अनिश्चित हो जाय, क्योंकि उनकी नीतिके लिये बहुमतका होना आवश्यक है। बिना अपने दलके संगठनके वह पहिलेहीसे कैसे जान सकता है कि उसके प्रभावके पक्षमें बहुमत होगा? प्रत्येक प्रश्नपर उसे अपने पद खोनेका भय रहेगा। पर जब उसे यह ज्ञान है कि सभामें

उसका दल सबसे प्रबल है, और उसके द्वारा अपने प्रस्तावके समर्थनका पूरा विश्वास है, तो वह निर्भय होकर अपनी नीतिको प्रस्तावोंके स्वरूपमें सभाके सम्मुख रखता है। यह सत्य है, कि जहां किसी महत्वके प्रश्नपर, किसी सदस्यकी आत्मा दलका साथ देनेके लिये प्रेरित नहीं करती, वहां उसको निष्पक्ष होकर स्वतन्त्र मत देना चाहिये, पर छोटी छोटी बातोंमें कुछ मतभेद होनेपर भी अपने व्यक्तिगत विचारोंको दलके सिद्धान्तोंके अधीन बनाना ही लोकहितकी दृष्टिसे उचित है, और जहाँ यह प्रथा प्रचलित है, प्रायः वहाँ ऐसा होता भी है।

दलोंका संगठन होनेसे किसी स्वार्थाकांक्षी वाक्चतुरकी दाल गलनेका अवसर कम रहता है। संगठनके अभावसे वास्तविक विचार-स्वातन्त्र्यकी अपेक्षा, ऐसे धूर्तोंकी खूब बन आती है। कुछ वर्ष पूर्व अमरीकाके सिनेटमें एक दलका पूरा प्रभाव था, लोगोंने इसको तोड़नेका प्रयत्न किया। फल यह हुआ कि सिनेट कुछ मनमाने नेताओंके हाथ जाता रहा, और इसकी सारी नीति अनस्थिर हो गयी। प्रत्येक शासनमें कुछ लोगोंको उत्तरदायी बनाना नितान्त आवश्यक है। प्राचीन एथेन्स ऐसे राष्ट्रोंकी सभाओंमें राजनीतिकदलोंका सर्वथा अभाव था, जिसका फल यह होता था, कि कोई अच्छा बोलनेवाला मनुष्य सारी सभापर जैसा चाहे रंग जमा ले, और जो चाहे सो करा ले, पर यदि उसमें हानि होती, तो उसका उत्तरदायी केवल एक वही मनुष्य होता था। परन्तु आज कल शासन-नीतिके लिये सारा अधिकारि-दल ज़िम्मेदार रहता है। एक व्यक्तिकी जिम्मेदारीकी अपेक्षा, एक सारे दलकी जिम्मेदारी कहीं अधिक उपयोगी है। कभी कभी कठिन अवसरोंपर भिन्न भिन्न दल मिलकर एक मिश्रित अधिकारि-दल बनाते हैं, जैसा कि इंगलिस्तानमें गत महायुद्धके समय हुआ था और अब भी है। परन्तु प्रायः ऐसा शासन सबलकी अपेक्षा निर्बल रहता है। कारण यह है कि परस्पर मतभेद होनेसे, काम चलानेके लिये किसी तरहका समझौता कर लिया जाता है। इनकी बुनियाद दृढ़ सिद्धान्त नहीं होते, इसीलिये ये समझौते स्थायी भी नहीं रहते। अतः एक ऐसे विपक्षीदलका रखना, जिसके हाथमें कभी शक्ति रह चुकी है, और आगे आनेकी आशा है, कहीं अच्छा है, क्योंकि इसको सदा अपनी प्रतिष्ठाका ध्यान रहता है, और यह सदा दूसरोंके विश्वास-पात्र बननेका प्रयत्न करता है।

भिन्न भिन्न देशोंमें राजनीतिक दलोंकी उत्पत्ति और उनके विकासका इतिहास बड़ाही रोचक है। इंगलिस्तानमें 'ह्विग' (Whig) और 'टोरी' (Tory) दलोंकी उत्पत्ति राजा चार्ल्स द्वितीयके समयमें हुई थी। राजा पार्लमेन्टको आमंत्रित नहीं करता था। कुछ लोगोंने ऐसा करनेके लिये प्रार्थना की। दूसरोंने इसका विरोध किया। प्रार्थनावादियोंको उनके विरोधी 'ह्विग' कहते थे, और प्रार्थनावादी अपने विरोधियोंको 'टोरी' कहते थे। इन दोनों शब्दोंके अर्थका सम्बन्ध सिद्धान्तोंसे कुछ भी नहीं है। स्काटलैण्डके कुछ विद्रोहियों के लिये 'ह्विग' शब्दका प्रयोग होता था, और आयर्लैण्डके ठग 'टोरी' के नामसे प्रसिद्ध

थे। आगे चलकर यही दल 'उदार' और 'अनुदार' के नामसे प्रसिद्ध हुए। धीरे धीरे इनके भिन्न भिन्न सिद्धान्त बन गये, और शासन इनके दाव पेंचका लक्ष्य बन गया। मनुष्यमें युद्धकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है। प्राचीन समयमें ये दल, मारकाट करके निर्णय किया करते थे। दो दलोंके बीचमें निर्णय तलवार और गोलीसे होता था, परन्तु अब गोलीकी जगह वोट हैं। जिस दलके पास इनकी अधिकता है, उसीकी विजय है। इसकी झलक अब भी निर्वाचनके समयपर देखनेमें आती है, अन्तर केवल इतनाही है, कि अब इस युद्धका स्वरूप, और अस्त्र शस्त्र दूसरेही हैं, पर तब भी कभी कभी, उन्हीं युद्ध सम्बन्धी प्राचीन वाक्योंका ( जैसे "सैन्य सुसज्जित करना" "किलेपर धावा बोलना" ) प्रयोग होता है। इन राजनीतिक दलोंके निरन्तर घोर आन्दोलनके कारण सारे देशमें जागृति रहती है। निस्सन्देह, इंगलिस्तान ऐसे देशके राजनीतिक जीवनकी ये दल नाटिकायें हैं।

कुछ कालसे भारतवर्षमें भी राजनीतिक दलोंकी उत्पत्ति हो गई है। वैसे कहनेको तो कई एक दल हैं, पर वास्तवमें जैसा महात्मा गांधीने कहा है, दो ही दल हैं, अर्थात् "सरकारी" और 'असहयोगी'। प्राचीन 'नरमदल' पूरा 'सरकारके' साथ है, और प्राचीन 'गरम' या 'राष्ट्रीय' दल, 'असहयोगियों' के नामसे प्रसिद्ध है। राष्ट्रीयपक्षके नेताओंके कौंसिलों में न जानेके कारण, उनमें विरोधी दलका पूर्ण अभाव है, जैसा कि संयुक्तप्रान्तीय व्यवस्थापक सभामें रायबरेलीवाले प्रस्तावपर, और भारतीय व्यवस्थापक सभा में बजटपर वादविवादसे स्पष्ट है। वास्तवमें राजनीतिक दलोंका महत्व उत्तरदायी शासनमें ही देखनेमें आता है। बिना ऐसे शासनके बहुतसे दलोंकी रचना करना, केवल दूसरोंकी नकल करना, और अपने घरकी फूट दिखाना है।

गंगा शंकर मिश्र एम० ए०।
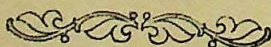
# हिन्दू समाजमें शुद्धिके नियम

( गतांकसे आगे )

व्रत, उपवास, वन-निवास, जल-अग्नि-सेवन, यज्ञ, तप, जप आदि अनेक प्रकारके शास्त्रविहित कर्म हैं जिनके करनेसे प्रायश्चित्त होता है। प्रत्येक पातकके लिए पृथक् पृथक् प्रायश्चित्त हैं जिनका सविस्तर विवेचन मनुस्मृतिके ग्यारहवें अध्यायमें दिया है। यहाँ उदाहरणत: एक दो पातकोंके प्रायश्चित्त लिखते हैं:—

ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त—

इस पातकसे निवृतिके लिए मनुष्य बारह वर्ष तक वनमें कुटी बनाकर रहे, भिक्षा मांगकर खावे और झोपड़ीमें शवकी खोपड़ी टांगे अथवा अश्वमेध, स्वर्गजित्, अभिजित्, गोसव, विश्वजित्, त्रिवृत् और अग्निष्टुत—इन यज्ञोंमेंसे कोई सा करे अथवा मिताहारी जितेन्द्रिय होकर किसी वेदका पाठ करता हुआ सौ योजन तक चला जाय अथवा वेदज्ञ ब्राह्मणको अपना सर्वस्व या जीविका योग्य धन या सब सामग्री सहित घर दे देवे अथवा हविष्य भोजन करता हुआ सरस्वती नदीके सोतकी तरफ गमन करे या नियमित भोजन करके तीनों वेद संहिताओंका पाठ करे या दाढ़ी मूंछ मुड़ाकर, गांवके बाहर गोशालामें, या वृक्षकी जड़में रहकर गो-ब्राह्मणके हितसाधनमें लगा रहे।

मद्यपानका प्रायश्चित्त—

अज्ञानसे मद्य पीनेपर द्विजको चाहिए कि अग्निके समान मद्यको तपाकर पीवे। उससे शरीर जल जानेपर इस पापसे छुटकारा मिलता है। अथवा गोमूत्र, जल, गौका दूध, घी, गोबरका रस इनमें किसी पदार्थको आगके समान लालकर जन्म भर पीवे या अन्नकण या तिलकी खली एक वर्ष तक रातमें एक बार खाय, कम्बल ओढ़कर, बाल रखकर और मद्य-पात्रका चिन्ह धारण करे।

गोवध उपपातकका प्रायश्चित्त—

गोबध करनेवाला मुण्डन कराकर, गोचर्म ओढ़कर एक मास गोशालामें रहे और जौकी लपसी चाटे। दो मास तक गोमूत्रसे स्नान करे, जितेन्द्रिय रहे, चौथेकाल यानी दूसरे दिन सायंकाल बिना नमकका थोड़ा भोजन करे। दिनमें गौओंके पीछे फिरे और खड़ा होकर उनके खुरसे उड़ी धूरको पीये। गो-सेवा करे, उन्हें प्रणाम करे, रातमें वीरासन-से बैठा रहे, सदा गौवोंके बैठनेपर बैठे। रोगी, चोर, बाघके भयसे व्याकुल, गिरी हुई, कींचड़में फंसी हुई गौको सब उपायोंसे मुक्त करे। धूपमें, वर्षामें, शीतमें और आंधी चलनेपर यथाशक्ति गौकी रक्षा करे फिर अपनी रक्षा करे। अपने या दूसरेके घरमें, खेतमें, खरिहानमें चरती गौको और दूध पीते बछड़ेको किसीसे न कहे। इस विधि गो-सेवा करनेवाला तीन महीनोंमें गोहत्याके पापसे मुक्त हो जाता है। उसे एक बैल और

दस गौका दान करना चाहिए। यदि वे पास न हों तो वह वेदज्ञ ब्राह्मणको अपना सर्वस्व अर्पण करे। यहां जो उदाहरण दिये हैं उनसे ज्ञात हुआ होगा कि एक एक पातकके लिए कई कई प्रायश्चित्त हैं। इनमें जौनसा सुगम और सुसाध्य हो उसे ही करे।

इस लेखके प्रारम्भमें दिये हुये श्लोकोंमेंसे एकका अर्थ ऐसा व्यापक है कि उसमें सब प्रकारकी शुद्धि आ गयी है अर्थात् उसमें लिखा है कि शरीरकी शुद्धि जलसे, मनकी सत्यभाषणसे, जीवात्माकी विद्या और तपसे और बुद्धिकी ज्ञानसे होती है। इस भावको लिये एक और श्लोक है जो नीचे दिया जाता है :—

**क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।**
**प्रछन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः॥**

विद्वान् क्षमासे, यज्ञादि न करनेवाले दानसे, पापी जपसे और वेदविशारद तपसे पवित्र होते हैं।

इस लेखमें बहुतसे शुद्धिके नियम ऐसे हैं जिनकी आधुनिक विज्ञानपद्धतिसे जांच होनी चाहिए जिससे नवशिक्षित मनुष्योंको इन नियमोंका महत्त्व मालूम हो। हम अपने ऋषि-महर्षियोंकी बहुतसी बातोंको उपहासमें ही उड़ा दिया करते हैं पर जब कोई पाश्चात्य विद्वान् उनकी प्रशंसा करने लगता है तो हम उन्हीं बातोंके महत्त्वका अभिमान करने लगते हैं। हमे स्वयं अपने प्राचीन ऋषियोंके लेखोंका महत्त्व देखना चाहिए और उसे नये ढंगसे प्रकट करना चाहिए। यदि पक्षपात छोड़कर कोई देखे तो उसे मालूम होगा कि इस शुद्धि विषयमें ही हमारे शास्त्रकारोंने अन्तिम सीमाकी परीक्षाकर शुद्धि नियमोंको लिखा है। अन्य देशीय विद्वानोंकी खोज स्थूल शरीर तक ही रही है और भारतीय ऋषियोंने स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरोंकी शुद्धिके उपाय बताये हैं और इस विषयका प्रतिपादन करते समय समस्त धर्म और आचार शास्त्रकी आलोचना कर डाली है। प्राचीन समयमें ये सब नियम हिन्दूसमाजमें प्रचलित थे पर अब समय परिवर्तनसे इनके साधन बहुत कुछ ढीलेढाले हो गये हैं लेकिन तब भी इन नियमोंका बहुत कुछ प्रभाव बना हुआ ही है। आधुनिक विज्ञानविशारदोंसे मेरी प्रार्थना है कि इस लेखको ध्यानपूर्वक पढ़कर इन शुद्धिके नियमोंके गौरव और महत्त्वको वैज्ञानिक रीतिसे दिखावें जिससे हमारे प्राचीन ऋषियोंका गौरव बढ़े और संसारका लाभ हो। अस्तु।

कन्नोमल।

# जनताका जमाना

हिन्दू समाज शास्त्रज्ञोंने मानवजातिके जीवनको चार हिस्सोंमें बांटा है। सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। पाश्चात्य देशोंके समाज-तत्वज्ञोंने केवल यह कहा है कि एक स्वर्णमय समय ( गोल्डनएज़ ) है। उसकी ओर उनकी आंखें लगी रहती हैं। अर्थात् उनका सतयुग अभी नहीं आया, आने वाला है या आरम्भ होगया है। वास्तवमें उनके दार्शनिक लोग यह मानते हैं कि मनुष्य दिनोंदिन उन्नति करता जाता है और आदिमकालमें वह जानवरोंकी तरह खूनखार और जंगली था।

भला बुरा, उन्नति और अवनति, सभ्य और असभ्य इत्यादि शब्द एक विशेष आदर्शका संकेत करते हैं। अपने अपने देश वा जमानेको लोग सबसे अच्छा वा सुवर्णमय 'गोल्डन एज़' मानते हैं। प्रत्येक युग वा जातिके अपने अपने आदर्श अवश्य होते हैं। परन्तु इतिहासके देखनेसे यह साफ जाहिर होता है कि प्रत्येक जाति वा देशके आदर्शोंमें एक अदृश्य समता रहती है। हर एक राष्ट्र किसी न किसी समय वा युगमें उन्हीं आदर्शों और साधनोंका अवलम्बन करता है जिनका और जातियोंने किया हो। अस्तु, मानव जातिके लौकिक जीवनमें ऐक्य और समता है।

### *"राज्य"का विकाश*

सारे संसारके विभिन्न राष्ट्रोंके जीवनमें एक ऐसा समय रहा है जब कि मनुष्य पशुवत थे। उनमें कोई राजा नहीं था। उनका जीवन संगठित और नियम बद्ध नहीं था। अर्थात् वह अराजकताका जमाना था। वह युग " जिसका लठ्ठ उसकी भैंस " का था। हमारे शास्त्रोंमें एक समय "मत्स्य-न्याय" का माना गया है, अर्थात् जैसे बड़ी मच्छी छोटी मच्छीको निगल लेती है वैसेही बलवान निर्बलको दबाये रखता था। हाब्ज़ने उस अराजकताके समयका दृश्य अपने "लेवायथन" में दिखाया है। उस समय मनुष्य जानवरोंकी तरह बलहीनको सताता था, और जो मनमें आवे वही करता था।

मानव जाति राज्यमें संगठित होकर नियम-बद्ध हुई और कार्य नियमानुसार चलने लगा। किन्तु बलवानोंने फिरभी अपना प्रभुत्व दूसरे रूपमें बनाये रखा। वह जमाना मानों बड़े बड़े ताल्लुकेदार और छोटे रजवाड़ोंका था। उसके बाद महन्त और मठोंका प्रभुत्त्व आरम्भ हुआ। कानून बनानेवाले महन्त और सन्यासी थे। जायदाद और भूमिके मालिक भी महन्त होते थे। तब फिर जमाना आया बड़े बड़े जमीन्दार और राज्य कर्मचारियोंका। उनके प्रभुत्वके बाद १६ वीं शताब्दीमें व्यवसायी लोगोंका प्रभुत्व बढ़ा और राज्यकी बागडोर उनके हाथमें आ गयी। राजा उनके हाथकी कठपुतली हो गया।

नियम व कानून भी उन्हींके मंशाके अनुसार और उनके हितकी ओर दृष्टि रखकर बनाये जाने लगे। व्यवसायी और धनाढ्य लोग बुद्धिमान भी थे। उन्होंने राज्य-संगठन और नियम-निर्माण ऐसे ढंगसे किया कि राज्यकी शक्ति उनके हाथमें आ गयी। साधारण स्थिति के लोगोंको, श्रमजीवियोंको और गरीब लोगोंको इस मध्यम श्रेणी, "मिडल क्लासने" इस तरह दबा रखा कि जनता चूँ नहीं कर सकती थी। क्रमशः जनता जागृति हुई। उसमें नवीन जीवनका प्रादुर्भाव हुआ। और बीसवीं शताब्दीका आरम्भ होते ही जनताका जमाना शुरू हुआ।

जनताके जमानेका आदर्श जनपद अथवा व्यक्तिगत हित है। प्रत्येक मनुष्य, ऊंच नीच, धनी निर्धन, स्त्री पुरुष, राज्य संगठनमें समान हैं। प्रत्येक व्यक्तिको अपने भाग्यका निपटारा करनेका स्वत्व है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य-प्रबन्धमें भाग ले सक्ता है और अपनी सम्मत्ति स्वयं वा अपने प्रतिनिधि द्वारा दे सकता है। 'मध्यमश्रेणी' ( मिडल क्लास ) के प्रभुत्त्वके समय राज्य (स्टेट) सर्वशक्तिमान था और व्यक्ति राज्यके लिये अर्पण कर दिया गया था। स्टेट (राज्य जो चाहे कर सकता था। बात यह थी कि उस जमानेमें, हाब्सके आधारपर, यह मान लिया गया था कि जनताने एकत्रित होकर एक दिन अपनी सब राष्ट्रीय शक्ति राज्य (स्टेट) को सौंप दी है और राज्य जनताका प्रतिनिधि स्वरूप जनतासे जैसा चाहे वैसा बर्ताव करे और उससे जो चाहे करावे।

## राज्य ( स्टेट ) और व्यक्ति

समयने ऐसा पल्टा खाया कि पाश्चात्य देशोंमें क्रमशः नवीन विचार, नवीन आदर्श, और नवीन आकांक्षा उत्पन्न हुई। जनता राज्य वा राजाके प्रभुत्त्वके विरुद्ध आन्दोलन करने लगी। लोग कहने लगे कि "राज्य (स्टेट) को किसी व्यक्तिको कोई काम करनेके लिये मजबूर करनेका अधिकार नहीं।" विगत पाश्चात्य महाभारतने जनताके जमानेको मानो जीवनदान दिया और जनताके जमानेके आदर्शका प्रादुर्भाव किया। जब १६१४ में यह घोर संग्राम प्रारम्भ हुआ तो "राज्य"ने अपनी रक्षा के लिये जनताको शत्रुके विरुद्ध लड़नेके लिये मजबूर किया।

यूरोपके हर एक देशमें एक छोटा सा दल जनतावादियोंका खड़ा हुआ। इस दलमें दो प्रकारके लोग थे। (१) कुछ लोग कहतेथे कि राज्य (स्टेट)को किसी व्यक्तिको उसकी मर्जीके खिलाफ लड़नेके लिये मजबूर करनेका अधिकार नहीं। लड़ाई करना आत्म-हत्याके तुल्य है। अतएव राज्य आत्महत्याके लिये किसी भी व्यक्तिको न्यायपूर्वक मजबूर नहीं कर सकता है। ऐसा करनेसे राज्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रताको छीनता है। (२) दूसरी तरहके लोग महात्मा गांधीकी तरह कहते थे कि लड़ना अथवा हिंसा करना महा-पाप है। "अहिंसा" सर्वोच्च आदर्श वा धर्म है। अतः शस्त्र धारण करना महा पाप है। (३) तीसरी कक्षाके लोग वे थे जो कहते थे कि सारी मानव-जातिके लो। हमारे बन्धु हैं। हम एक दूसरेके विरुद्ध लड़ना वा एक दूसरेको मारना अपने भाईके विरुद्ध

लड़ने वा भाईको मारनेके बराबर समझते हैं। अस्तु हम 'राज्य' की आज्ञा पालन नहीं करेंगे और "शत्रु"के विरुद्ध भी शस्त्र धारण नहीं करेंगे।

इसमेंसे पहली कक्षाके लोग 'साम्यवादी' 'सोशियलिस्ट' हैं। दूसरी कक्षाके लोग "फ्रेंड्स" वा "क्वेकर्स" हैं। और तीसरी कक्षाके लोग अन्तर्जातीय साम्यवादी (इन्टर नैशनल सोशियलिस्ट्स)। इन तीनों कक्षाके लोगोंको विलायत में "पैसिफिस्ट्स" और "कौंसेनशियस ऑब्जेक्टर्स" कहते हैं। पैसिफिस्ट्सके माने है "शान्तिप्रिय" और कौंसेनशियस ऑब्जेक्टरके माने हैं, अन्तःकरणके अनुयायी, अर्थात् जो लोग लड़ाई को बुरा समझनेके कारण युद्धके विरोधी हैं उनको कौंनसेनशियस ऑब्जेक्टर्स कहते हैं। इस प्रकारके युद्धके विरोधी लोग विलायत (इंगलैण्ड) में मुझे बहुत मिले। अमेरिका में भी उनकी संख्या कम नहीं थी। जर्मनी, फ्रांस, आस्ट्रिया और रूसमें भी युद्धके विरोधियोंके दल मौजूद थे। अपने शान्तिमय आदर्शोंके लिये इन लोगोंको "राज्य" के हाथों बड़ी बड़ी यन्त्रणा सहनी पड़ी। जो हालत आज दिन भारतवर्षमें असहयोगियोंकी है वही "युद्धके विरोधियों" की पाश्चात्य देशोंमें थी। जैसा कि भारतमें "अहिंसा परमोधर्मः"। के मन्त्रको जपनेवाले शांतिप्रिय असहयोगियोंको भारतीय सरकार, राज्यके शत्रु समझती है वैसेही पाश्चात्य देशोंके शत्रुके खूनके प्यासे राज्य भी युद्धके विरोधियोंको राज्यके शत्रु समझते थे। जैसा आजकल भारतवर्षमें जाब्ता फौजदारीकी १४४ वीं धारा का प्रयोग एक भारतीय मंत्री डाक्टर सप्रूकी कृपासे हो रहा है, वैसे ही लायड जार्ज महाशयकी बुद्धिमत्तासे इंगलैण्डमें *"डोरा" देवी द्वारा युद्धके विरोधियोंको दबानेके लिए सहायता ली गई थी।

## यूरोपमें जनताकी शक्ति

इस युद्धके समय 'जनताके जमानेने' अपना स्वरूप व शक्ति प्रत्यक्ष रूपसे दिखाई। जनताकी शक्तिका परिचय इन बातोंसे मिलता था कि राज्य शत्रुके पैशाचिक कर्मोंको कलंकित बताता था। प्रत्येक राज्य अपनी जनतासे कहता था कि शत्रु मानो केवल अनाथ अबला और बालक बालिकाओंकी हत्याके लिये रणक्षेत्रमें अवतरित हुआ है।

जब जर्मनोंके गोले हवाई जहाजोंसे आस्मानसे छूटते थे तो अखबार लिखते थे कि आज इतने बालक मरे, इतनी स्त्रियां मरीं, इतने गिरजाघर टूटे। इसी प्रकार जर्मन "राज्य" भी कहता था कि अंगरेज गोया बालकोंको मारने और स्त्रियोंपर

* फ्रेंड्स और क्वेकर्स ईसाके थोड़ेसे अनुयाइयोंका एक फिर्का है। ये लोग गिर्जाघरोंमें नहीं जाते हैं। इनके प्रार्थना समाज अलग हैं। इनके यहां पादड़ियोंकी पूजा नहीं होती। और चुपचाप बैठकर आंखमूदकर प्रार्थना करते हैं। जो कोई स्त्री वा पुरुष प्रार्थना करते समय सहसा बोलनेके लिये प्रवृत्त हो वह धर्मके विषयमें बोलता है।

* डोरा Dora, Defence of Realm Act का संक्षिप्त है।

अत्याचार करनेमें बड़े निपुण हैं। यही हाल उन सब देशोंका था जहां युद्ध हो रहा था, अर्थात् जनताको शत्रुके खिलाफ भड़काने और अपनी ओर उसकी सहानुभूति और सहायता करनेके हेतु "राज्य" झूठ भी बोलता था। इससे यह सिद्ध होता है कि राज्य को जनताकी शक्ति मालूम हो गई थी। जनताको अपनी तरफ करनेके लिये कई आडम्बर रचे जाते थे। शत्रुको पिशाचका रूप दिया जाता था

अब देखिये जनताके जमानेके वेगने क्या क्या किया। सबसे जबरदस्त, सबसे शक्तिशाली, सबसे अधिक अन्यायी राज्यके राजा रूसके सम्राट्को कान पकड़के अलग रख दिया और प्रजातंत्र राज्य उसकी जगह पर स्थापित कर दिया।

जर्मनीके जिस कैसरकी मूँछोंको देखके यूरोपके राजा और सम्राट् डरके मारे कांप उठते थे, जिस जर्मन सम्राट्ने संसारको हिला दिया, जिसके विरुद्ध लड़नेको सारा संसार खड़ा हुआ, उस शक्तिमान सम्राट् कैसरको जनताके सामने दुमदबाकर भागना पड़ा। जर्मनीमें भी जनताके जमानेने जड़ पकड़ी और जनपद राज्य वहां भी स्थापित हुआ। आष्ट्रियाका वही हाल हुआ। वहां भी जनताने अपना ज़ोर दिखाया और सम्राट्को भगा दिया। जनताके जमानेका इससे अधिक क्या सबूत दिया जासकता है?

## *भारतवर्षमें जनताकी शक्ति।*

जनताकी शक्ति भारतीय सरकारको भी भयभीत करने लगी है। यही कारण है कि अब बड़े बड़े सरकारी श्वेतांग कर्मचारी स्वयं जनताको समझाने आ रहे हैं, उनको अपनी ओर करनेका प्रयत्न कर रहे हैं, और असहयोगके विरुद्ध गलत खबरें उड़ा रहे हैं। क्या आजतक कभी सरकार (राज्य) ने भारतमें राजनीतिक विचार फैलाने या रेल और तारके लाभ बतानेका प्रयत्न किया था? अब क्यों जनताकी ओर सरकार अपने प्रार्थनापत्र और निमन्त्रण लेकर दौड़ रही है। और "अमन" सभायें करके जनताको लालायित कर रही है। इससे यही सिद्ध होता है कि जनताके जमानेका प्रादुर्भाव भारतमें भी होगया है। और जनताकी शक्ति अपनी ओर करने के लिये यह सब चेष्टा हो रही है।

## *जनताके जमानेका सर्वोत्तम लक्षण।*

जनताके जमानेका सर्वोत्तम और सबसे सन्तोषदायक लक्षण यह है कि अब नेतृत्वका जमाना नहीं रहा। कोई व्यक्ति चाहे कितनाही विद्वान् वा प्रभावशाली क्यों न हो जनता आंख मूंदकर उसका अनुकरण नहीं करती है। जनताका नेता तभी तक उनका नेता है जबतक वह उनके विचार, भाव, आदर्श और आकांक्षाको प्रकट करता है। इस बातको साफ करनेके लिये एक दो उदाहरण भारतीय नेताओंके जीवनसे लेने होंगे। बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा श्रीमती एनी बेसण्टकोही लीजिये। एक समय वह था जब जनता कोसोंसे उनके व्याख्यान सुनने के लिये आती थी और उनकी जयध्वनिसे आकाश विदीर्ण होता था। आज उनकी यह दशा क्यों! कि वे किसी सभामें व्याख्यान देने

को खड़े भी नहीं हो सकते हैं। उनकी 'जय'के बदले उनके नामपर धिक्कारके शब्द निकलते हैं। उनके अनुयायी २।४ ही मनुष्य रह गये हैं। इसका कारण यही है कि यह जनताका जमाना है। प्रत्येक व्यक्ति अपना नेता स्वयं है। वह अपने विचार आदर्श और हित अहितकी ओर दृष्टि रखकर कार्य करता है। जनता अब उसी व्यक्तिको अपना नेता बनाती है वा उसीका अनुकरण करती है जो उसकी आकांक्षा, उद्देश्य, और आदर्शको प्रकट करता है। आधुनिक नेता तभी तक नेतृत्वके सिंहासन पर आरूढ़ रहता है जबतक कि वह जनताके विचारोंको प्रकट करता है और उनसे सहानुभूति रखता हुआ जनताकी सेवामें तत्पर रहता है।

आज दिन महात्मा गांधीके सिरपर भारतीय नेतृत्वका मुकुट सुशोभित है। वह मुकुट तब तक उनके शिरकी शोभा बढ़ायगा जबतक महात्माजी जनताके भाव आकांक्षा और विचारोंको प्रकट करते रहेंगे। ज्योंही वे अपने पथसे हटे वा जनताकी आकांक्षा और आशाके विरुद्ध कहने व करने लगे त्योंही वे नेतृत्त्वके पदसे वंचित हो जायंगे और जनता किसी और व्यक्तिको अपना अगुवा बना लेगी।

## *जनताके जमानेकी खूबी।*

अब यह देखना है कि जनताके जमानेकी खूबी क्या है। हर एक मुल्क वा कौमका हर एक शख्स अपना नेता है, अर्थात् अपने भले बुरेका विचार कर स्वयं अपने भाग्यका निपटारा करना जन-समुदाय अपना स्वाभाविक स्वत्त्व समझता है। और उसीको अपना अगुवा बनाता है जो जनताका हितसाधन उसीके विचार और इच्छानुसार करे। जनता बिना अपना हित समझे बूझे, बिना उसपर विचार किये, अंधोंकी तरह पुराने जमानेकी प्रथाके अनुसार नेताका अनुकरण नहीं करती है। स्वयं प्रत्येक विषय पर विचार कर और अपने भले बुरे पर विचार करनेसे मानव-बुद्धिका विकाश होता है और मनुष्यकी विचार शक्ति बढ़ती है। मनुष्य और पशुके बीचका मुख्य भेद विचार-शक्तिही है। विचार शक्ति अंधेकी तरह नेताका अनुकरण करनेसे नहीं बढ़ती। ज्योंही मनुष्य स्वयं प्रत्येक विषय पर विचार करने लगता है त्योंही वह स्वयं अपना नेता बन बैठता है और उसी व्यक्तिका अनुकरण करता है जिसके विचार उसीके से हों और जिसका उद्देश्य और आदर्श भी वही हो।

यह हम माननेको तय्यार हैं कि जनता भूल कर सकती है और कभी कभी अपना अहित भी कर बैठती है। परन्तु स्वराज्यके माने ही यह है कि चाहे कोई व्यक्ति वा राष्ट्र स्वतन्त्रता पूर्वक अपने भाग्यका निपटारा करनेमें ग़लती क्यों न कर बैठे पर उसको स्वयं अपना भला बुरा विचारने और अपनी इच्छानुसार अपने घर वा राज्यका संगठन तथा इन्तजाम करनेका हक्क़ है। अपने इसी नैसर्गिक स्वत्त्वका प्रयोग करना जनताके जमानेका मुख्य लक्षण है।

जनताको इस बातका हक़ है कि वह अपनी इच्छानुसार अपने भाग्यका निपटारा करे। एक बड़े राजनीतिज्ञ अंगरेज, "मिल" महाशयने कहा है कि विदेशियोंद्वारा अच्छी

तरह अमन चैनके साथ शासित होनेके बदले अपने आप बुरी तरहसे अपने राज्यका प्रबन्ध करना श्रेयस्कर है। इसी प्रकारके विचार इंगलैण्डके एक मंत्रीने भी प्रकट किये थे कि परतन्त्रतामें सुराज्यके बनिस्बत स्वराज्यमें कुराज्य अच्छा है। जैसे अपने कुटुम्बका इन्तजाम दूसरे आदमी द्वारा किया जाना किसीको पसन्द नहीं, उसी प्रकार जनताको अपने राज्य अथवा देशका प्रबन्ध अन्य राष्ट्र द्वारा किया जाना पसन्द नहीं। यही कारण है कि सारे संसारमें आज स्वराज्य स्थापित हो गया है और भारतवर्षकी जनता भी भारतवर्षमें स्वराज्य स्थापित करनेको कटिबद्ध है। अब स्वाराज्यकी कामना एक दो नेताओंकी आकांक्षा वा बकवाद नहीं कहा जा सकता। वह कामना भारतकी सारी जनताकी है।

मुकन्दीलाल।

# हिन्दू जातिका पुनरुत्थान

सारकी जटिल समस्याओंमें जटिलतम समस्या आर्य्य जातिके पुनरुत्थानकी है। आज सैकड़ों वर्ष व्यतीत हो गये, अनेक महापुरुषोंने इस जातिको उठानेका यत्न किया परन्तु इसके अधःपतनकी मात्रा न्यून होनेके स्थानमें बढ़ती ही जाती है। चाहे अन्न सस्ता हो या महंगा, चाहे स्वराज्य कल मिले चाहे ५० वर्ष पीछे, परन्तु हिन्दुओंकी संख्यामें किसी प्रकारकी उन्नति होना सम्भव ही नहीं प्रतीत होता। हमारे वेद, हमारी उपनिषदें, हमारे दर्शन और स्मृतियां सभी इस समस्याकी मीमांसा करनेमें असमर्थ हो रहे हैं, हमारे दिग्गज पण्डित और धर्मध्वज विद्वान् अपने समस्त पाण्डित्यसे भी हिन्दुओंकी इस दशाको रोक नहीं सकते।

हिन्दुओंके सामाजिक संगठनको यथार्थ रखनेके हेतु चार वर्ण और चार आश्रम स्थापित किये गये थे, परन्तु वर्त्तमान स्थिति इस प्रकारकी है कि वह पुरानी औषधि अब काम नहीं देती। हम इस समय ऐसी जातियोंके संसर्गमें हैं जिनके साथ मिलना हमारे लिए वही लोकोक्ति चरितार्थ करता है कि खरबूजा छुरीपर गिरा तो खरबूजा मरा और छुरी खरबूजापर गिरी तो भी खरबूजा ही कटता है। छुरी साफ बच जाती है। साधारणतया देखा जाता है कि यदि कोई हिन्दू स्त्री किसी मुसलमान पुरुषके संसर्गमें आ जाती है तो वह और उसकी सन्तान सदाके लिए हमसे छूट जाती है, और यदि कोई हिन्दू पुरुष किसी मुसलमान स्त्रीसे सम्बद्ध हो जाता है तो वह और उसकी सन्तान भी हमसे अलग हो जाते हैं। कोई समय था कि जब हमारा क्षेत्र और हमारा वीर्य्य सभी प्रधान थे परन्तु आज न क्षेत्र ही प्रधान है और न वीर्य्य ही, अभी पत्रोंमें कोपागंज जिला आजमगढ़के कुछ मुसलमानों द्वारा एक मारवाड़ीकी लड़कीके ले भागनेकी दुर्घटना चल रही है और प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें यह प्रश्न उठ रहा होगा कि मुसलमानोंसे इस लड़कीको किस प्रकार वापिस लिया जाय। परन्तु सत्य तो यह है कि यह घटना नयी नहीं है। ऐसी घटनाएं प्रतिदिन आधिक्यसे हुआ करती हैं। एक बार मैं अवधके एक छोटेसे नगरमें गया और वहांके लोगोंसे उस नगरकी विशेषता पूछी। उत्तर मिला कि यहां ग्रामोंसे पचासों स्त्रियां नित्य प्रति आकर मुसलमान हो जाती हैं।

यह एक ऐसा प्रश्न है कि जिसको विचारते हुए हृदय कांपता है, और यदि नहीं विचारते तो एक प्राचीनतम जातिका ही सर्वथा नाश हुआ जाता है। हमको बहुत दिनोंसे दूसरोंपर दोषारोपण करनेका स्वभाव हो गया है। अतः अपनी समस्त विपत्तियोंका कारण दूसरोंको ठहराते हैं। परन्तु हमको सोचना चाहिये कि एक मन संखिया भी हमारे शरीरके बाहर हो तो वह हमको मार नहीं सकती। जब कि एक रत्ती संखिया भी पेटके भीतर जाते ही हमारी मृत्युका कारण हो जाती है। जिस जातिमें स्वयं निर्बलताएं नहीं हैं वह अपने

पड़ोसियोंके सहस्रों अत्याचारोंसे हानि नहीं उठाती, परन्तु अपनी निर्बलतायें पड़ोसी मित्रसे भी हानि ही उठवाती हैं। आजकल हिन्दू-मुसल्मानोंके ऐक्यके दिन हैं। नेताओंको चिन्ता है कि किसी प्रकार किसी हृदयको ठेस न लगे। हिन्दू-मुसल्मान एक जान और दो शरीर हों। यह सब बड़ी अच्छी बातें है और वस्तुतः हमको ऐसाही रहना चाहिये, परन्तु इसका एक भयानक परिणाम जो इस समय दृष्टिमें आता है, यह है, कि मुसल्मान तो हिन्दू बनेंगे नहीं और सैकड़ों हिन्दू स्त्रियां मुसल्मान हो जायंगी। मैं यह नहीं कहता कि यह ऐक्य नहीं। मैं चाहता हूँ कि यह ऐक्य भी हो और एक जातिको दूसरी जातिपर अत्याचार करनेका अवसर न मिले। यह कौन सोचे? मुसल्मान नेता? नहीं, इनसे कहना व्यर्थ है। प्रथम तो इनका दोष नहीं, दोष हिन्दुओंका है, जो चलनीमें दूध दुहकर दुर्भाग्यको दोष देते हैं। मुसल्मानोंसे इस समय हम यह प्रार्थना अवश्य कर सकते हैं कि वे अपने अत्याचारी लोगों को समझा लें, परन्तु बकरीकी मा कबतक खैर मनावे। आगे एक दिन आना है कि इस खरबूजेपर तो छुरी पड़ेगी ही। अतएव आवश्यकता यह है कि हम अपना घर पहले सुदृढ़ बनावें, तत्पश्चात् दूसरोंसे अपनी सहायताके लिए प्रार्थी हों। इस समय हमारा व्यवहार उलटा हो रहा है।

मैंने कई बार हिन्दू नेताओंको यह अभिमान करते हुए सुना है कि आर्य्यजाति वह प्राचीन जाति है जिसका अनेक अत्याचार होते हुए भी सर्वनाश नहीं हुआ। ऐसा कहनेसे ये लोग यह परिणाम निकालते हैं कि चाहे कुछ हो हमारी जाति कभी नष्ट न होगी। परन्तु यह कितनी भूल है। देखना यह है कि हमारा मुख न्यूनताकी ओर है अथवा आधिक्यकी ओर। प्रति दश बर्षमें जो मनुष्यगणना होती है उससे यही पता लगता है कि जहाँ इसी जलवायुका सेवन करते हुए अन्य भारतीय जातियां वृद्धिको प्राप्त हो रही हैं, हमारी जाति दिन प्रति दिन घट रही है। कोई समय था कि भारतीय जनता प्रति शतक सौ हमारी जातिकी थी, अब लगभग साठ प्रति शतक रह गयी। जिन कारणोंसे हम ४० प्रति शतक घट गये उनके उपस्थित रहते शेष ६०का लुप्त हो जाना क्या कठिन है?

कुछ महानुभावोंका विचार है कि थोड़ेसे धर्मात्माओंका उपस्थित होना बहुसंख्यक साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अच्छा है। किसी अंशमें यह सत्य है, परन्तु सामाजिक संगठनके लिए संख्या भी एक आवश्यक वस्तु है। जिस समाजके सदस्य ही थोड़े हैं उससे यह आशा रखना कि इसमें अपूर्व सदस्य उत्पन्न होंगे, असम्भव है। प्राकृतिक नियम बताता है कि जब हम आधसेर आटा खाते हैं तो एक तोला रक्त बनता है और वीर्य्य तो रत्ती भर भी कठिनाईसे बनता होगा। इसी प्रकार जिस जातिमें बहुसंख्यक मनुष्य होते हैं उसमें योग्य मनुष्य भी अधिक होते हैं। हमने संख्याके भावको अपने हृदयसे इतना निकाल दिया है कि हम छोटी छोटी बातोंपर लोगोंका बहिष्कार करनेके लिए तो तय्यार हैं परन्तु हमारे समाजमें अन्यका प्रवेश तो हो ही नहीं सकता। हमारे लिए मुख्य प्रश्न तीन हैं:—

# हिन्दू जातिका पुनरुत्थान

(१) विधवा स्त्रियोंको अन्य मतावलम्बियोंके हाथ पड़नेसे कैसे बचाया जाय।

(२) जिनको हम अछूत जाति कहते हैं उनको जातिके बाहर जानेसे कैसे रोका जाय।

(३) सर्वसाधारणमें यह भाव कैसे उत्पन्न किया जाय कि वह अपनी जातिकी संख्या बढ़ाने अथवा उसकी रक्षा करनेको अपना उद्देश्य समझे।

इसके अतिरिक्त एक गौण प्रश्न यह भी है कि आचार-हीन पुरुषोंको जातिके बाहर जानेसे कैसे बचाया जाय।

इस अन्तिम बातसे कुछ कुछ भ्रम फैलनेकी आशंका है। लोग कहेंगे कि जब सदाचारकी उच्चता हमारे ऋषियों, मुनियों, धर्मशास्त्रों तथा नेताओंका मुख्य लक्ष्य रहा है, तो पतित नराधम और आचार-हीन पुरुषोंको जातिके भीतर रखनेकी चिन्ता क्यों करें? यह तो जितनी जल्दी बहिष्कृत कर दिये जायं उतना ही हितकर है। जिस अंगमें सड़न उत्पन्न हो गयी उसको काट देनेमें ही कल्याण है। देखो गत समयमें हमारे पूर्वज किस प्रकार आचार-हीन पुरुषोंको झटसे बहिष्कृत कर दिया करते थे। यदि ऐसा न किया जाय तो हमारी जातिमें ऐसे दोष प्रविष्ट हो जायँगे कि समस्त जाति रोग-ग्रसित हो जायगी।

गत समयमें पतित होते थे या नहीं और यदि होते थे तो उनके उद्धारके लिए बहिष्करण ही एक मात्र औषधि थी या अन्य कोई, इसकी मीमांसा इस समय व्यर्थ है। क्योंकि ऋतु और समयके परिवर्तनसे औषधिका भी परिवर्तन आवश्यक है। इस समय एक विचारणीय बात यह है कि जाति सम्बन्धी नियम भी अधिकतर लोगोंके पतित होनेके कारण हैं। हम यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं।

कल्पना कीजिये कि एक सदाचारिणी युवतीपर किसी सजातीय या विजातीय पुरुषका आक्रमण होता है और उसका सतीत्व नष्ट कर दिया जाता है। उसके परिवार और जातिके लोग उसको छोड़ देते हैं। अब उसके तीन ही मार्ग हैं। या तो आत्मघात करले या पतित बनकर हिन्दूजातिमें अपना जीवन, अपना यश तथा अपनी कुलीनता सदाके लिए नष्ट कर ले, या ईसाई या मुसलमान हो जाय। पहला कार्य्य बहुत कठिन है और सर्वथा पापशून्य नहीं। दूसरा भविष्यको पापमय बनाने वाला है, क्योंकि हिन्दू-जातिमें रहते हुए जिस प्रकारसे जीवन व्यतीत होगा उसमें सुधारकी संभावना नहीं है। तीसरा जीवन आजकल हम देखते हैं कि पहले दो की अपेक्षा अधिक संभव और उच्च है परन्तु उस स्त्रीको सदाके लिए हिन्दू जातिसे छुड़ा देता है। सबका कारण क्या है? क्या उस अकेली अबलाका दोष है? कदापि नहीं। अकेला तो सब जातियों और सब देशोंमें अबला ही है। जिस जातिमें अबलापर अत्याचार होता है उस जातिके पुरुष या तो दुराचारी हैं या इतने निर्बल हैं कि अपनी अबलाओंके सतीत्वकी दूसरोंके अत्या-

चारोंसे रक्षा नहीं कर सकते। निर्दोष अबलाओंको अपनी जातिकी निर्बलताओं अथवा दोषोंके लिए दण्ड देना सर्वथा न्याय-विरुद्ध और अधर्म-युद्ध है।

एक ७ या ८ वर्षकी बालिकाका विवाह कर दिया गया। वह ९ या १० वर्षकी अवस्थामें विधवा हो गयी। अब उसके लिए इतनी कठिनाइयां हैं:—

(१) बालविवाह उसकी इच्छाके विरुद्ध हुआ।

(२) धर्म-धुरन्धर विधवा विवाहकी आज्ञा नहीं देते।

(३) देश तथा जातिके पास ऐसे साधन नहीं कि इन्द्रिय-दमन तथा तपस्याका जीवन व्यतीत करनेमें सुगमता हो।

(४) समाज तथा देशका वायुमण्डल विषयलालसासे परिपूर्ण है। विचारी विधवाके माता, पिता, भाई, सास, सुसर, भी भोग तृष्णासे मुक्त नहीं।

(५) बहकानेवाले इतने अधिक हैं कि उनसे बचना कठिन है।

(६) अन्य मतावलम्बी घोर प्रयत्न कर रहे हैं कि इसको अपनाया जाय। इस प्रकारके दृष्ट और अदृष्ट बहुसंख्यक उदाहरण है

इन कठिनाइयोंके होते यदि कोई बाल विधवा बहक जाय तो इसमें किसका दोष? उस स्त्रीका या समस्त जातिका? और इस दोषके लिए किसको दण्डनीय होना चाहिये?

इस प्रकारके अनेक उदाहरण हैं जिनमें बहिष्करण ही हिन्दूजातिके पण्डित एक मात्र उपाय बताते हैं और यही किया जाता है। परन्तु देखना यह है कि इसका परिणाम क्या होता है। यदि एक पतित स्त्री या पुरुष ईसाई हो जाता है तो उसके जीवनमें विशेष परिवर्तन होने लगता है और उसकी सन्तान सदाके लिए हमसे छूट जाती है।

दूसरा उदाहरण लीजिये। एक स्त्रीपर अचानक आक्रमण होता है और उसका धर्म नष्ट कर दिया जाता है। इसलिए नहीं कि उसमें सतीत्वके भाव न थे। संभव है कि वह बड़ी पतिव्रता हो परन्तु इसलिए कि जातिके पुरुषोंमें इतना बाहुबल नहीं है कि आक्रमण करनेवालोंसे उसकी रक्षा करते। अब देखिये उसका परिवार उसके साथ कैसा व्यवहार करता है। परिवारवाले उसे त्याग देते हैं और कहते हैं कि कुलटा स्त्रीको घरमें न रखना चाहिये। अब उसके लिए दो ही मार्ग हैं या तो आत्महत्या करे, या स्वतंन्त्रतासे पापकर्ममें प्रवृत हो। दोनों दशाओंमें हिन्दूजातिकी हानि है। और आजकलके समयमें पहलीकी अपेक्षा दूसरी अवस्था अधिक संभव है।

यही दशा बहुधा उन स्त्रियोंकी होती है जो रेल आदि मार्गोंमें भूलकर दूसरोंके साथ चली आती हैं और परिवारके लोग या तो झूटमूठ उनकी मृत्युकी घोषणा कर देते हैं या तीर्थस्थानादिमें छोड़ आते हैं और अन्तमें वे सबकी सब हिन्दूजातिके बाहर ही चली जाती हैं। कितने अनाथ हमसे प्रतिदिन और प्रति घड़ी छूटते हैं उनकी तो गणना करनी ही मुश्किल है।

## हिन्दू जातिका पुनरुत्थान

इसके अतिरिक्त आजकल एक और भयानक रोग शिक्षिता हिन्दू ललनाओंमें उत्पन्न हो रहा है। यह रोग अधिकतर या विशेष कर शिक्षिता स्त्रियोंमें ही है और केवल हिंदू स्त्रियोंमें ही। ईसाई या मुसलमान स्त्रियोंमें नहीं। रोग यह है कि जो अपनी जातिसे बाहरके पुरुषोंके लिए स्त्रियोंमें एक प्रकारकी घृणा थी वह कम हो रही है। उदारता तथा देशहित आदि कई उच्च भावोंसे प्रेरित होकर हमारी स्त्रियां जातित्वके संकुचित विचारोंको तिलाञ्जलि दे रही हैं। इसका परिणाम बुरा हो रहा है। हमारी उदारता भी हमारे लिए विषका ही काम करती है, और हमारे लीडर इसी बातमें अपनी उदारता समझते हैं कि उनकी स्त्रियोंको बाह्य पुरुषोंके समाजमें भ्रमण करनेमें कुछ भी संकोच न रहे।

इन सबका उपाय क्या है? इस विषयको भली प्रकार तो अग्रगन्ताओंको ही सोचना चाहिये परन्तु मेरा विचार यह है कि

(१) प्रथम तो विधवाओंके विवाहमें उतनी बाधा न होनी चाहिये और अधिक नहीं तो आपद्धर्म ही समझ कर रुकावटोंको दूर करना चाहिये।

(२) जिन दशाओंमें स्त्रियोंमें दोष आनेका कारण जातिकी निर्बलता हो उनको साधारण प्रायश्चित्तसे ही स्वीकृत कर लेना चाहिये।

(३) बहक जानेके समय स्त्रियोंके लिए थोड़ासा प्रायश्चित्त ही पर्याप्त है।

(४) प्रत्येक स्त्री पुरुषमें जातिकी संख्या वृद्धिका भाव होना चाहिये। इसका प्रचार उपदेश तथा पर्चों द्वारा करना चाहिये।

(५) प्रत्येक हिंदूको चाहिये कि किसी हिंदूका उसी अवस्थाके अ-हिंदूसे कम मान न करे।

मैं समझता हूं कि ऊपर दी हुई औषध पर्याप्त नहीं है, परन्तु यदि जातिको बचाना हो तो कुछ न कुछ करनाही पड़ेगा। मैं उन लोगोंसे सहमत नहीं हूं जो कहते हैं कि पहले स्वराज्य लेलो फिर इन विषयोंको ठीक कर लेना। क्योंकि प्रत्येक दिन जो हमारी असावधानीमें कटता है हमको हमारी कठिनाइयोंको दुगुना कर देता है।

गंगाप्रसाद
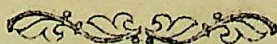
# सिकन्दरके समयका भारत।

हा प्रतापी सिकन्दरका जन्म विक्रमीय संवत्‌के पूर्व ३०८में हुआ। उसे बचपनहीसे साधारण जीवन व्यतीत करने तथा कठोर व्यायाम करने की आदत डाली गयी थी। जब वह १३ वर्षका हुआ, उस समय वह प्रसिद्ध ग्रीक फिलासफर (दार्शनिक) अरस्तू ( अरिस्टाटिल ) की देख-रेखमें रक्खा गया। अरस्तूहीसे उसने सब कुछ सीखा पढ़ा और उसीकी शिक्षाका प्रभाव सिकन्दरके समस्त जीवनपर बना रहा। १६ वर्षकी उम्रसे वह अपने पिता राजा फिलिपकी देखभालमें राज्यका प्रबन्ध करने लगा। विक्रमीय संवत्‌के पूर्व २७६ में पिताकी मृत्यु होनेपर वह ग्रीस देशके साम्राज्य पदपर अधिरूढ़ हुआ। एक ही वर्षमें भीतरी शत्रुओंको दबाकर वह निष्कंटक हो गया तथा राज्यका आवश्यक प्रबन्ध करनेके बाद विक्रम पूर्व २७७ वर्षमें उसने एशिया-विजयके लिए कूच किया। फारस, सिरिया, मिश्र, फिनीशिया, फिलस्तीन बाबिलोन, बैक्ट्रिया आदि एशियाई देशोंको जीतता और अपने राज्यमें मिलाता हुआ वह विक्रमके पूर्व २७० में लग भग ५०।६० हजार वीर योद्धाओंके साथ, हिन्दूकुशके दर्रोंको लांघकर सिकन्दरिया ( अलकज़ण्ड्रिया ) नगरमें आकर ठहरा।

उस समय काबुल और सिन्ध नदीके बीचका प्रदेश, जो आजकलका अफगानिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त है, कई छोटी छोटी स्वतन्त्र तथा युद्ध-प्रिय जातियोंके अधिकारमें था जो आपसमें सदा लड़ा झगड़ा करती थीं। इन जातियोंको जीतता तथा इनका दमन करता हुआ सिकन्दर अपनी बड़ी सेनाके साथ सिंधु नदीके किनारेपर आया और विक्रम पूर्व २६६ की बसन्त ऋतुमें उसने अटकसे १६ मील ऊपर ओहिन्द नामक स्थानके पास नावोंका पुल बनाकर सिन्धु नदीको पार किया। फिर उसने तक्षशिलामें प्रवेश किया। तक्षशिलाके राजा आँभि अथवा आँफिसने सिकन्दरकी शरण आकर उससे सन्धि कर ली। वह तन मन धनसे सिकन्दरकी सहायता करनेको उद्यत होगया। तक्षशिलाके राजाकी इस कायरताका कारण यह था कि इस समय अभिसार नामके पड़ोसी राज्यमें तथा एक और बड़े राज्यसे जिसका राजा पोरस ( पौरव अथवा पुरुवर्ष ) था आँभिकी परम शत्रुता थी। इन्हीं दोनों राज्योंके विरुद्ध वह सिकन्दरकी सहायता चाहता था और उसकी मददसे उन दोनोंको कुचलनेकी इच्छा रखता था। बुद्धके समयमें तक्षशिला गान्धार देशकी राजधानी थी। वहांपर एक बड़ा भारी विश्वविद्यालय भी था जहां बड़ी दूर दूरके विद्यार्थी अध्ययनके लिए आते थे। रावलपिण्डी जिलेमें शाहढेरी ग्राम-के पास १०।१२ मीलके घेरेमें कई ऊँचे ऊँचे टीले तथा धुस्स हैं। वहीं प्राचीन तक्षशिला नगर था। कई वर्षोंसे सर जान मार्शलकी अध्यक्षतामें भारतीय पुरातत्व विभाग वहांपर खुदाई करा रहा है। इस नगरसे सिकन्दरने पोरसके पास आत्म-समर्पण करने तथा अपना

आधिपत्य स्वीकार करानेके लिए सन्देशा भेजवाया। पोरस झेलम और चनाब नदियोंके बीच वाले प्रदेशका राजा था। पोरसने सिकन्दरको उसके दूतके हाथ बहुत ही उद्धत तथा अवज्ञा पूर्ण उत्तर दिया जिससे चिढ़कर सिकन्दरने उसके ऊपर चढ़ाई करनेके लिए सेनाको आज्ञा दे दी। पोरस भी अपनी पूरी शक्तिके साथ सिकन्दरका मुकाबला करने के लिए तैयार बैठा था। झेलम नदीके किनारे दोनोंका मुकाबला हुआ, जिसमें कई कारणोंसे सिकन्दरकी जीत हुई और पोरस बहुत घायल होकर क़ैद कर लिया गया। सिकंदरने भारतवर्षमें जितनी लड़ाइयां लड़ीं उनमें यह लड़ाई सबसे अधिक प्रसिद्ध और गहरी थी। पोरस जब सिकंदरके सामने लाया गया, तब वह पोरसके कद्दावर शरीर तथा उसके शिष्टाचार और सभ्य व्यवहारसे बहुत प्रसन्न हुआ और उसने पूछा कि मैं तुम्हारे साथ कैसा बर्ताव करूं। इसपर पोरसने कहा कि जैसा एक राजाको दूसरे राजाके साथ करना चाहिये। सिकन्दर इस उत्तरसे बहुत प्रसन्न हुआ और न केवल उसे उसका राज्यही लौटा दिया किन्तु बादको उसे पंजाबमें जीती हुई भूमिका प्रतिनिधि-शासक भी नियत किया। पोरसको जीतनेके बाद वह चनाब तथा राबी नदियोंको पार करता और बीचके देशोंको जीतता हुआ विक्रम पूर्व २६६ में व्यास नदीके किनारेपर अपनी सेनाके साथ आया। किन्तु इसकी सेनाने व्यास नदीके आगे बढ़नेसे इन्कार किया। इसपर लाचार तथा दुःखी होकर सिकन्दरने अपनी सेनाको पीछे मुड़नेके लिए आज्ञा दी।

व्यास नदीके किनारे, उस स्थानपर जहांतक सिकन्दर पहुंचा था और जहांसे उसकी सेना पीछेकी ओर मुड़ी थी, उसने अपनी विजयके उपलक्षमें बारह बड़े बड़े चैत्य या चबूतरे, १२ ग्रीक देवताओंके नामपर, बनवाये। सेनाके आगे बढ़नेसे इन्कार करनेपर वह मालव, क्षुद्रक आदि युद्ध-प्रिय और प्रजातंत्र राज्योंको जीतता हुआ फिर झेलम नदीपर वापस आया। वहांपर उसने बहुतसी नावोंका संग्रह किया तथा बहुतसी नयी २ नावें बनवायीं। नावोंका यह बेड़ा झेलम नदीसे विक्रमके पूर्व २६६ के कार्तिक महीनेमें सिकन्दरकी नौ-सेनाके सेनापति नि-आर्कसकी अध्यक्षतामें रवाना हुआ और उसके बहुतसे योद्धाओंको लेकर सिन्धु नदीके मुहानेपर आया। वहांसे चलकर और अरबके समुद्रसे होकर इस बेड़ेने विक्रम पूर्व २६७ में फ़ारसकी खाड़ीमें लंगर डाला। इधर सिकन्दरकी नौ-सेना सिन्धु नदीके मुहानेसे फारसकी ओर रवाना हुई और उधर स्वयं उसने कुछ फौज लेकर पश्चिमी पंजाब तथा सिन्धु-प्रदेशको जीतनेके लिए कूच किया। आती बार वह गन्धार प्रदेश तथा उत्तरी पंजाबको जीतता हुआ भारतमें आया था। जाती बार वह दूसरे रास्तेसे पश्चिमी पंजाब तथा सिन्धु प्रदेशको जीतता हुआ फारसकी ओर गया।

विक्रम पूर्व २६८ में भारत वर्षसे रवाना होनेके पहिले सिकन्दरने अपने अफसरों तथा भारतीय राजाओंका एक दरबार करके उसमें पोरसको झेलम और व्यास नदियोंके बीच जीते हुए प्रदेशका शासक नियत किया तथा तक्षशिलाके राजाको झेलम और सिन्धु नदियोंके बीचवाले प्रदेशका राजा बनाया। भारत-वर्ष छोड़नेके एक वर्ष बाद विक्रम पूर्व

२६६ में विश्व-विजयी सिकन्दर बेबिलनमें इस नाशमान शरीरको त्यागकर परलोक-वासी हुआ। उसकी मृत्युसे भारत-वर्षमें मकदूनियाके राज्यका भी एक तरहसे अन्त हो गया। चन्द्रगुप्तके नेतृत्वमें भारत-वासियोंने उन यूनानियोंको जिन्हें सिकन्दर पंजाब तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तपर शासन करनेके लिये छोड़ गया था बलवाकरके निकाल बाहर किया।

विक्रमीय सवत्के पूर्व चौथी शताब्दी में अर्थात् सिकन्दरके आक्रमणके समय यद्यपि मगधके सिवाय और किसी दूसरे राज्यका सविस्तर इतिहास लिखना असंभव है तथापि उस समय साधारण तौरपर भारत वर्षकी जो राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक अवस्था थी उसका कुछ कुछ पता अवश्य लगता है। यह स्पष्ट रीतिसे विदित है कि उस समय कोई ऐसा सम्राट् नहीं था जिसका कुल भारत-वर्षपर एकछत्र साम्राज्य रहा हो। पंजाब और सिन्ध, जहां सिकन्दर स्वयं गया था, न जाने कितने स्वतंत्र राज्योंमें बंटे हुए थे। केवल झेलम और व्यास नदियोंके बीचवाले प्रदेशमें ही सात भिन्न भिन्न जातियां बसती थीं। कुछ राज्य, जैसे तक्षशिला और पोरसका राज्य, राजाओंके शासनमें, कुछ दूसरे राज्य, जैसे मालव और क्षुद्रक जातियोंके राज्य, प्रजातंत्र थे और चुने हुए अमीर उमराव तथा सरदार वहां पंचायतके ढंगपर शासन करते थे। इन प्रजातन्त्र राज्योंके शासन-प्रकारका सविस्तर हाल हम लोगोंको विदित नहीं है। चाणक्यके अर्थशास्त्रमें भी लिच्छिविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु, पाँचाल आदि प्रजातन्त्र-राज्यों या संघराज्योंका उल्लेख है (अधि० ११ अध्या० १)। महाभारत (शान्तिपर्व) के १०७ अध्यायमें प्रजातन्त्रराज्यों या गणराज्योंका वर्णन दिया गया है। श्रीयुत काशी-प्रसाद जायसवालने "रिपब्लिक इन दी महाभारत" नामक एक महत्वपूर्ण लेख महाभारत, शान्ति पर्वके आधारपर 'जर्नल आफ़ दी बिहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोसायटी" जि० १,१६१५, पृ. १७३ में लिखा है। सिकन्दरके आक्रमणके २० वर्ष बाद मेगास्थनीजने लिखा है कि उस समय कुल भारतवर्षमें ११८ छोटे छोटे राज्य या जातियां थीं। ये राज्य आपसमें हमेशा लड़ा करते थे। इस आपसके विरोधसे सिकन्दरने भरपूर फायदा उठाया।

ग्रीक इतिहासकारोंके लेखों और चाणक्यके अर्थशास्त्रसे इस बातमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सिकन्दरके समय भारतवर्षके लोग सभ्यतामें बहुत बढ़े चढ़े थे और देशके भीतर तथा बाहर खूब व्यापार होता था। देश हर एक प्रकारके वैभव और सुखकी सामग्रियोंसे परिपूर्ण था। भारतवर्षके भिन्न भिन्न प्रान्तोंका एक दूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था और प्रायः सब प्रान्त व्यापारके द्वारा एक सूत्रमें बंधे हुए थे। चाणक्यके अर्थशास्त्रसे पता लगता है कि उस समय घोड़े काम्भोज (अफ़गानिस्तान) सिन्धु, आरट्ट (पंजाब) बनायु (अरब देश), वाल्हीक (बल्ख) और सौवीरसे आते थे (२ अधि० ३० अध्या० ४७ प्रक०)। कौटिल्य अर्थशास्त्रके अनुसार उत्तरी भारतकी अपेक्षा दक्षिणी भारतसे व्यापार करना अधिक लाभदायक था क्योंकि ज्यादा कीमती चीज़ें दक्षिणमें ही पैदा

होती थीं। उत्तरी भारतसे सिर्फ कम्बल, चमड़े और घोड़े आते थे। दक्षिणी भारतमें सोना, हीरा, मोती, जवाहिर इत्यादि बहुमूल्य वस्तुएं पैदा होती थीं। बनारस, मदुरा, कोंकण और चीनके रेशमी वस्त्र प्रसिद्ध थे। जल और स्थल दोनों मार्गोंसे विदेशोंके साथ व्यापार होता था। इसके लिए बहुतसे सरकारी कानून खास तौरपर बने हुए थे। देशके भीतर आने और देशके बाहर जानेके लिए हर एक मनुष्यको "मुद्राध्यक्ष" (सुपरिण्टेण्डेण्ट आफ पासपोर्ट) नामक अफसरसे "मुद्रा" या "पासपोर्ट" लेना पड़ताथा। जो इस नियमका भंग करता था उसे उचित दण्ड मिलता था (२ अधि०, १, ११, १६, २८, ३४ अध्या०) उस समय सिक्कोंका चलन था, पर उनकी बनावट बड़े भद्दे ढंगकी थी। ये सिक्के "पंच मार्कड" कहलाते हैं, क्योंकि इनपर "पंच" या "बर्मा" से भिन्न भिन्न चिन्ह खुदे रहते थे। खोटी चांदीके बने हुए ऐसे सिक्के कुल भारतवर्षमें पाये जाते हैं।

उन दिनों बौद्ध धर्मका प्रचार केवल प्रारंभिक अवस्थामें था। ब्राह्मणोंका सिक्का समाजपर पूरी तरहसे जमा हुआ था। प्रायः प्रत्येक राज्यमें ब्राह्मणही मन्त्री होते थे। सिन्धमें उन लोगोंने स्थानीय राजाओंपर अपना ऐसा प्रभाव डाला कि उन लोगोंको लाचार होकर सिकन्दरके हमलेका भरपूर मुकाबिला करना पड़ा। इस युद्धमें उन लोगोंने स्वयं अपने प्राणोंकी आहुति दी*। क्विंटस कर्टिअस नामक यूनानी इतिहास लेखकने लिखा है कि उन दिनों वृक्षोंकी पूजाभी होती थी और जो मनुष्य पवित्र वृक्षोंको हानि पहुंचाता था उसे फांसीकी सज़ा दी जाती थी। ब्राह्मण लोग मांस भोजन करते थे पर उन पशुओं का मांस न खाते थे जिनसे उन्हें खेतीमें सहायता मिलती थी। देवताओं में इन्द्र कृष्ण और गंगाकी पूजाका उल्लेख मिलता है †।

जनार्दन भट्ट।

---

* Arrian, Avab, Book IV, Chaps 7, 17.

† Strabo, Book XV Chap I Sics. 59, 69 ; Arrian, Indika Chap. 8.

# आयर्लैण्डका राजनीतिक इतिहास।

हम देखते हैं कि आज कई वर्षोंके बाद भी आयर्लैण्डवासियों और इंग्लैण्ड वासियोंमें वास्तविक प्रीति और सम्मेलन नहीं हुआ है। स्काटलैण्ड और वेल्स जिस दृष्टिसे इंग्लैण्डको देखते हैं, आयर्लैण्ड उसे उस दृष्टिसे नहीं देखता। यद्यपि समय समयपर तथा युद्ध-कालमें भी आयर्लैण्डने अपनी राजभक्ति प्रकट करनेमें कोई कसर नहीं की, पर यह तो स्पष्ट है कि उसका यह प्रेम चिरस्थायी एवं सुदृढ़ न हो सका। जब हम देखते हैं कि स्काटलैण्ड वाले और वेल्सवाले अपना सम्पूर्ण हिताहित इंग्लैण्डके ही हिताहितमें समझने लगे हैं, किन्तु आयर्लैण्ड अब भी अपना हित उससे भिन्न समझता है तो हमें आश्चर्य होता है। इसका कारण क्या है? क्या ग्रेट-ब्रिटेनसे आयर्लैण्डका एक पृथक द्वीप होना ही इसका पर्याप्त कारण कहा जा सकता है? क्या अधिकांश आयर्लैण्डमें रोमन-कैथालिक सम्प्रदायके और ग्रेट ब्रिटेनमें प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायके लोगोंका होना भी इसका मुख्य कारण समझा जा सकता है? इतिहास कहता है कि नहीं, ये बाधाएँ वास्तविक और मुख्य नहीं हैं।

सारा दोष आयर्लैण्डकी जनताका ही हो और इंग्लैंडके अधिकारी बिलकुल निर्दोष हों, यह तो संभव नहीं। आयर्लैण्डके साथ वैसा ही बर्ताव नहीं किया गया जैसा इंग्लैण्डने स्वयं अपने प्रति तथा स्काटलैण्डके प्रति किया था। हमारा खयाल है कि आयर्लैण्डकी ऊपर कही गई चित्तप्रवृत्तिका प्रधान कारण उसकी ओर इंग्लैण्डका दुर्व्यवहार ही है। अठारहवीं शताब्दीमें अधिकांश रोमनकैथालिक संप्रदायके अनुयायियोंको राजनीतिक अधिकारोंसे विहीन रखनेके निमित्त कई विधान बनाये गये। उनके भूमि रखने, एवं अपने बालकोंको शिक्षा देने तकमें बाधाएँ उपस्थित की गईं। आयर्लैण्डके जमीन्दारोंके अत्याचारोंसे वहाँकी कृषक जनता सदा उद्विग्न रहती थी। प्रोटेस्टैण्ट सम्प्रदायके लोगोंमें भी असन्तोष फैल गया था, क्योंकि ग्रेटब्रिटेनकी व्यापारिक नीतिके कारण उनकी भी औद्योगिक उन्नतिमें बाधा पड़ती थी।

आयर्लैंडकी पार्लमेन्ट विशेषकर प्रोटेस्टैण्ट लोगोंपर आश्रित थी। अतः उसे इंग्लैण्डकी पार्लमेण्टका समर्थन करना पड़ता था। किन्तु कानून बनानेमें इंग्लैण्डकी पार्लमेण्टका आधिपत्य उसे भी स्वीकार न था। आयर्लैण्डके राजकर्मचारी सदा इंग्लैण्डकी पार्लमेण्टकी आज्ञामें चलते थे, किन्तु द्रव्य इत्यादिकी तथा आवश्यक विधानोंको प्रचलित करनेकी स्वीकृति उन्हें आयर्लैण्डकी पार्लमेण्टसे लेनी पड़ती थी। ऐसा होनेसे कई बार राजनीतिक कार-बार रुक जानेका अवसर आया। जब फ्रांसकी राज्यक्रान्तिके समय इंग्लैण्डको युद्धमें शामिल होना पड़ा, तब इंग्लैण्डके कई राजपुरुषोंको आयर्लैण्डकी ओरसे

बड़ी शंका होने लगी। उन्होंने ऐसे समयमें आयर्लैंगडका अपनी अलग पार्लामेगट बनाये रखना देशके लिये हानिकारक समझा। तत्कालीन प्रधान सचिव विलियम पिटने विक्रम सम्वत् १८५७ सन् १८०० ईसवीमें 'यूनियन एक्ट' नामक विधान बनाकर आयर्लैंगडकी पार्लामेगटको इंग्लैंगडकी पार्लामेगटमें संयुक्त कर दिया। यद्यपि यह विधान बनाते समय पिट महोदयने आयर्लैंगडकी कठिनाइयोंको दूर करनेकी प्रतिज्ञा की थी, तो भी वे अपने जीवनकालमें अपनी यह प्रतिज्ञा पूरी न कर सके। आयर्लैंगडको व्यापारिक सुविधाएँ देनेके निमित्त उन्होंने पार्लामेगटमें जो बिल पेश किया उसे इंग्लैंगडके प्रतिनिधियोंने स्वीकार नहीं किया। अन्तमें वाद-विवाद होते होते उसमें इतना अधिक परिवर्तन कर दिया गया कि वह एक ढकोसलामात्र रह गया। अत: आयर्लैंगडवाले उससे पराङ्मुख हो गये। लार्ड रोज़बरीने अपनी लिखी हुई पिटकी जीवनीमें उनके सदाशयका समर्थन किया है। उनकी सम्मति है कि यदि पिट महोदय कुछ समय और जीते तो वे अपनी प्रतिज्ञाएँ अवश्य पूरी करते। यद्यपि हमें इस कथनपर अविश्वास करनेका कोई विशेष कारण प्रतीत नहीं होता है तो भी उक्त व्यापारिक सुविधाओंके बिलपर जो विवाद हुआ था उसे पढ़कर सहसा यह विश्वास नहीं होता कि चार छ: वर्ष अधिक जीनेपर भी पिट महाशय आयर्लैंगडके लिये कोई विशेष महत्वकी बात कर सकते। उनका उद्देश भलेही बहुत पवित्र और ऊँचा रहा हो, किन्तु "यूनियन एक्ट" पास हो जानेसे जो परिणाम हुआ वह आयरिश लोगोंके लिये मनोरम नहीं कहा जा सकता। उनकी कठिनाइयाँ दूर करनेकी प्रतिज्ञा तो पूरी हो ही न सकी और उल्टे उनकी पार्लामेगटतक छिना ली गयी।

आयर्लैंगडके किसानोंकी दु:ख कहानी अब भी समाप्त नहीं हुई। सम्वत् १९०३ में आलूकी फसल मारी जानेके कारण हजारों, लाखों मनुष्य अमरीका इत्यादि देशोंको प्रस्थान करने लगे। इस प्रकार कई लाख मनुष्योंको अपनी मातृभूमिसे बिछुड़नेके लिये बाध्य होना पड़ा। जहां जहां इन दु:खित लोगोंने प्रवेश किया तहां तहां उन्होंने आयर्लैंगड-की परिस्थितिके समाचार फैला दिये। यह देखकर ब्रिटिश सरकार कुछ सजगसी हो गयी और उसने किसानोंकी हालत सुधारनेका प्रयत्न भी किया। तो भी विक्रम बीसवीं शताब्दीके मध्यतक सम्पूर्ण रूपसे उनकी कठिनाइयां दूर नहीं हो सकीं। यदि आयर्लैंगडकी स्थिति सुधारनेमें इतना अधिक विलम्ब न किया जाता तो कदाचित् उसकी वह दशा न होती जो आज हम देख रहे हैं। किसी भी रोग या किसी भी अशान्तिका उपचार उचित समय-पर न होनेसे उसकी अवस्था कष्टसाध्य एवं असाध्यतक हो जाती है। आयर्लैंगड इसी सामान्य नियमका ज्वलन्त उदाहरण है।

आयर्लैंगडमें इस समय कई नेता उत्पन्न हो गये थे। उन्होंने समूचे देशमें खूब जागृति फैला दी थी। इसे दबानेके लिये पार्लामेगटमें एक बिल पेश किया गया। आयर्लैंगडके प्रसिद्ध नेता श्रीयुत पार्नलने इसका घोर विरोध किया, किन्तु शीघ्र ही उनका मुहँ बन्द कर दिया गया ( दफा १४४ से नहीं, किन्तु सभापतिकी विशेष आज्ञासे )। अन्तमें ४१

घण्टेके विवादके पश्चात् दमन-विधान पास हो गया। शीघ्रही पार्नेल पकड़े गये। किन्तु अन्तमें दमन-नीति असफल हुई और उन्हें छोड़ देनेमेंही प्रधान सचिवने अपनी भलाई समझी। अब वहाँकी जनता अपने मुखों द्वारा "होमरूल" की माँग प्रकट करने लगी। किन्तु आयर्लैण्डका अल्स्टर प्रान्त स्वतन्त्र पार्लमेण्ट एवं "होमरूलका" विरोधी था। वह कैथालिक सम्प्रदायकी जन-सत्ता स्वीकार करनेको तैयार न था। वह तो ब्रिटिश पार्लमेण्टका आधिपत्यही चाहता था। अत: श्रीयुत ग्लैडस्टनके 'होमरूल' बिलोंके कारण अल्स्टर-निवासी असन्तुष्ट हुए। जब तीसरी बार कामन्स सभामें होमरूल बिल पेश हुआ, तो इस असन्तोषकी मात्रा बहुत बढ़ गयी। यहाँतक कि आयर्लैण्डमें "सिविल वार" (प्रजाकी लड़ाई) की सम्भावना प्रतीत होने लगी। ठीक इसी समय यूरोपका महायुद्ध भी आरम्भ हुआ।

इतना होनेपर भी नेताओंके कहनेसे और यह समझकर कि इस सङ्कटके समय इंग्लैण्डकी सहायता करनेसे हमारी माँगें अवश्य ही शीघ्र पूरी करदी जावेंगी, आयरिश जनताने खुशी खुशी इंग्लैण्डका साथ दिया। कोई ढाई लाख मनुष्योंने तथा राष्ट्रीय दलके २५ हजार स्वयं-सेवकोंने सैनिकोंमें अपना नाम लिखाया। यहाँपर हम यह बतलादेना ठीक समझते हैं कि "राष्ट्रीयदलका" जो अर्थ इस समय भारतमें समझा जाता है, आयर्लैण्डमें उससे कुछ भिन्न समझा जाता है। राजनीतिक दृष्टिसे आयर्लैण्डवाले प्रधानतया तीन दलोंमें विभक्त हैं—(१) यूनियनिष्टदलके लोग जो अपनेको ब्रिटिश राज्यकी ठीक वैसी ही प्रजा मानते हैं जैसी इंग्लैण्डवासी अपनेको समझते हैं। (२) राष्ट्रीयदलवाले, जो ब्रिटिशसत्ता स्वीकार करते हुए भी, उससे अपनेको भिन्न मानते हैं। वे स्वतन्त्रता तो चाहते हैं, पर ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डलके बाहर नहीं। (३) प्रजातन्त्रवादी, जिनमें सभी सिनफीनर लोग शामिल हैं। ये अपनेको बिलकुल स्वतन्त्र देशके नागरिक समझते हैं। इस प्रकार जहाँ वर्त्तमान भारतके 'राष्ट्रीय' नेता ब्रिटिश सम्बन्धका न तो समर्थन ही करते हैं और न उसका विरोध, वहाँ आयर्लैण्डके लोग जो 'राष्ट्रीयदल' के नामसे प्रसिद्ध हैं, ब्रिटिश सम्बन्ध बनाये रखनेके पक्षमें हैं।

विक्रम १९७३ के आरम्भमें इंग्लैण्डमें विशेष अवस्थाके लोगोंको सेनामें भरती होना अनिवार्य कर दिया गया। किन्तु आयर्लैण्डने इस जबरदस्तीका विरोध किया। ईस्टरके समय वहाँ एक बलवा हो गया। इसके तीन सप्ताहके बाद सैनिक न्यायाधीशने अपराधियोंका विचार किया और उनमेंसे १४ मुखियोंका प्राणदण्डकी आज्ञादी। मामलोंको तीन सप्ताहतक जारी रखनेके कारण जनता उद्विग्न हो गई। कनाडाके आयरिशोंने तो सेनामें भरती होना बन्द ही कर दिया। इस प्रकार असन्तोष बढ़ता ही गया। यद्यपि पहिले श्रीयुत लायड जार्जने यह स्वीकार कर लिया कि आयर्लैण्डके २६ जिलोंको तुरन्त होमरूल दे दिया जाय, तो भी वे अपनी प्रतिज्ञाका पालन न कर सके। उन्हें चाहिये था कि वे अपने पदसे अलग होनेके लिये त्याग-पत्र दे देते, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। इस कारण

# आयर्लैण्डका राजनीतिक इतिहास

उनकी नीतिपर आयर्लैण्डवालोंका विश्वास और भी कम हो गया। सिनफीनरोंका प्रादुर्भाव तो ११ वर्ष पूर्वही हो चुका था, किन्तु इस समय उनकी प्रबलता बढ़ने लगी। राष्ट्रीयदलके लोग भी उस दलमें शामिल होने लगे।

जब श्रीयुत लायड जार्ज प्रधान सचिव बनाए गये तो उन्होंने अनिवार्यरूपसे सेनामें भरती होनेका कानून आयर्लैण्डके लिये भी बनाना चाहा और यह कहा कि हम "बहुत शीघ्र होमरूल विधान भी पास करा देंगे। यदि लार्डोंकी सभा उसे अस्वीकृत कर देगी तो हम त्यागपत्र दे देंगे।" आयर्लैण्डके धर्माधिकारियोंने अनिवार्य सैनिक सेवाका विरोध किया और वहाँके नेताओंने भी संगठितरूपसे उसके विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई। आख़िर, आयर्लैण्डके निमित्त उक्त विधान बनानेका विचार त्याग दिया गया। साथही साथ होमरूल विधान भी स्थगित कर दिया गया।

सम्वत् १९७५के अन्तमें सिनफीनरोंने डबलिनमें "डाल एरान" नामकी राष्ट्रीय संस्था स्थापितकर आयर्लैण्डकी स्वतन्त्रताकी घोषणा कर दी। जब पेरिसके संधिसम्मेलनमें आयर्लैण्डके प्रजातन्त्रवादी प्रवेश न पा सके तो वे झुँझला उठे। उन्होंने हिंसा-प्रवृत्ति को अपनाना शुरू किया। एक ओर मारकाट भी शुरू हुई और दूसरी ओर प्रजातन्त्रकी ओरसे न्यायालय इत्यादि भी स्थापित होने लगे। इन न्यायालयोंने इतनी ख्याति प्राप्त कर ली कि कट्टर राजभक्त प्रजा भी वहाँ अपने मुकद्दमें ले जाने लगी।

आयर्लैण्डवाले प्रायः सभी यूरोपके निवासियोंकी नाईं शारीरिक शक्तिमें विश्वास करते हैं। बल-प्रयोग द्वारा अपने कार्यमें सफलता पानेकी उन्हें दृढ़ आशा रहती है। यही कारण है कि वे इस प्रकार मार-काटमें प्रवृत्त हो गये हैं। भारतने जिस उपायका अवलम्बन किया है, उससे सिनफीनरोंका सिद्धान्त बिलकुल भिन्न है। लक्ष्य तो प्रायः दोनोंका एकही है, पर उपायोंमें अन्तर है। यह अन्तर बड़े महत्वका है। यदि भारत अपने शक्ति-पथ पर डँटा रहा तो आयर्लैण्ड ही नहीं, सारा संसार उससे शिक्षा ग्रहण करेगा। किन्तु आयर्लैण्डमें जो भीषण रक्त-पात हुआ है, या हो रहा है, उसका सारा दोष सिनफीनरोंका ही है, यह तो किसी भी विचारशील मनुष्यको कहनेका साहस न होगा। सरकारी सैनिकोंकी प्रतिहिंसा-प्रवृत्ति भी वहाँकी मार-काटका एक मुख्य कारण है। इस "बदला" निकालनेकी नीतिका संक्षिप्त वर्णन करनेके लिये भी यहाँ स्थान नहीं है। हमारा विश्वास है कि पाठकोंने यह वृत्तान्त समाचारपत्रोंमें पढ़ाही होगा। सैनिकोंकी अमानुषिक कार्रवाईसे तंग आकर ही इंग्लैण्डके सात धर्माधिकारियोंने एक पत्र श्री लायड जार्जके नाम लिखा था। उसके उत्तरमें प्रधान सचिवने सैनिकोंकी करतूतपर दुःख प्रगट करना तो दूर रहा और उलटे उनका समर्थन ही किया था। हमें स्मरण है कि "स्टेट्स-मैन" तकने उक्त उत्तरको निंद्य बतलाया था और उसकी तीव्र आलोचना भी की थी।

श्रीयुत लायर्ड जार्जने कहा था कि "आयरिश प्रजातन्त्रका स्थापित होना असम्भव है, क्योंकि एक तो ऐसा होनेसे ग्रेट ब्रिटेनके हित और रक्षामें बाधा होगी और

दूसरे आयर्लैंडमें आन्तरिक कलह उत्पन्न हो जायगा, क्योंकि अल्स्टर प्रान्त प्रजातन्त्र नहीं चाहता।" हम नहीं कह सकते कि अपनी भलाई और रक्षाके लिये एक जातिको दूसरी जातिकी स्वतंत्रतामें बाधा डालनेका क्या अधिकार है। यदि इंग्लैगडको अपनी भलाई और रक्षाकी इतनी फिकर है, तो आयर्लैंगडको भी उतनी ही फिकर हो सकती है। दोनों-को अपने अपने हित पर दृष्टि रखनेका पूरा पूरा अधिकार है। एक दूसरेके ऊपर जबर-दस्ती नहीं कर सकता। कमसे कम इस उन्नत बीसवीं शताब्दीमें न्यायका यह सिद्धान्त किसी सभ्य जातिको समझानेकी आवश्यकता नहीं है। समयके प्रभावसे असभ्य जातियों तकमें उसका प्रसार हो रहा है। ऐसी दशामें इंग्लैगडके प्रधान सचिवका उक्त कथन अनुचित स्वार्थ-प्रवृत्ति-द्योतक ही कहा जा सकता है।

ब्रिटिश सैनिकोंकी सख्तीकी निन्दा करनेका यह अभिप्राय नहीं है कि हम सिन-फीनरोंके हिंसात्मक सिद्धान्तको मानते हैं अथवा किसी भी प्रकार उनके कृत्योंको क्षम्य और अनुकरणीय समझते हैं। प्रायः सभी विचारवान् मनुष्य यह माननेको तैयार हैं कि सिनफीनरोंने बड़ा अन्धेर मचा रखा है। पर इसका यह आशय नहीं है कि उनके साथ मनमाना व्यवहार किया जाय। अपराधियोंको दण्ड देना और बात है, एवं उनसे 'बदला' लेना और बात है। एकसे न्याय-प्रियता और दूसरेसे हृदयकी नीचता और विचार-संकीर्णता प्रकट होती है।

ऊपरकी बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आयर्लैगडकी वर्तमान दशाका सारा उत्तर-दायित्व सिनफीनरोंपर ही नहीं है। ब्रिटिश राजनितीज्ञोंकी अन्यमनस्कता तथा आय-रिश कठिनाइयोंकी ओर उनकी उद्धत उपेक्षा एवं कार्यशिथिलताके कारण ही विशेषकर यह परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है। जिस समय आयर्लैगडवाले ब्रिटिश सत्ताके भीतर "होम रूल' माँगते थे, उस समय उनकी सुनाई नहीं हुई। इस टाल-मटोल और अनुदारताका फल यह हुआ कि आज अधिकांश जनता स्वतंत्रताकी लहरमें आकर निर्दिष्ट होमरूल भी लेनेको तैयार नहीं है। सरकारी सैनिकोंका व्यवहार देखकर वह अधिकाधिक सिनफीनरों की ओर सहानुभूतिपूर्ण चित्तसे आकर्षित हो रहो है। ब्रिटिश सैनिकोंमें मदिरापान और उच्छृंखलता खूब फैली हुई है। कठिन संयमकी बड़ी आवश्यकता है।

आयर्लैगडको सरकारने जो होमरूल दिया है उससे सिनफीनर लोग सन्तुष्ट नहीं हैं। उक्त विधानके द्वारा अब आयर्लैगडमें दो पार्लमेगट रहेंगी। एक दक्षिणके २६ जिलोंके लिये और दूसरी उत्तरके ६ जिलोंके लिये। जिन बातोंका सम्बन्ध समस्त आयर्लैगडसे है, उनका विचार करनेके लिए एक और सभाकी स्थापना हुई है, जिसमें दोनों पार्लमेगटोंसे बीस प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे। जिस प्रकार भारतमें नूतन सुधारोंके अनुसार कोई कोई विषय प्रजाके 'प्रतिनिधियों' को हस्तांतरित कर दिये गये हैं, और शेष संरक्षित रखे गये हैं, ठीक उस तरह तो नहीं, पर हां, कुछ कुछ उसी ढंगसे आयर्लैगडमें भी कुछ विषय अब भी संरक्षित रखे गये हैं। तीन वर्षतक पुलीस विभाग और जबतक संयुक्त

# आयर्लैंगडका राजनीतिक इतिहास

आयर्लैंगडके लिए एक ही पार्लमेंगट स्थापित न हो जाय, तबतकके लिए डाक-विभाग इत्यादि भी संरक्षित रहेंगे। अतः यदि पूर्ण स्वतंत्रता पानेका अभिलाषी सिन-फीनर-समुदाय इस "होमरूल" से असन्तुष्ट हो तो क्या आश्चर्य है? अभी उस दिन (२८ जून) आषाढ कृष्ण ८ को डबलिनमें नयी पार्लमेण्ट खोली गयी थी। किन्तु उस समय १६२ सदस्यों मेंसे केवल १६ सदस्य ही उपस्थित थे। जिस आयर्लैंगडमें आज इतनी अधिक राजनीतिक जागृति दिखाई देती है कि लोग अपने स्वत्वोंके लिये प्राणोंपर खेल जानेके लिये तैयार हैं, आशा है उस आयर्लैंगडमें शीघ्र ही इतना एका हो जायगा कि अल्स्टर प्रान्तवाले भी उन्हीं उद्देशोंकी अभिलाषा करने लगेंगे जिनके लिये अन्य प्रान्तवासी उत्सुक हैं। ऐक्य स्थापित हो जानेपर उद्देश्य-प्राप्तिमें शीघ्रता और सरलता हो सकेगी।

मुकुन्दीलाल।

# भारतीय कारखानोंके मजदूर ।

पाश्चात्य देशोंके मजूरोंने, मिलके मालिकोंसे लड़कर अपने स्वत्वोंको खूब अच्छी तरहसे स्थापित कर लिया है। धनिक सम्प्रदायने मजदूर दलको दबानेके लिये न जाने किन किन उपायोंका अवलम्बन किया, किन किन चालोंकी रचनाकी, पर अन्तमें उनकी एक न चली। उन्हें मजदूरोंकी मांगे पूर्ण करनी ही पड़ी। मजदूरोंने विजयी वीरके समान जनसत्ताकी अरोक प्रगतिके साथ अपनी सत्ताकी भी स्थापना बड़ी दृढ़ताके साथ की।

जब कि पाश्चात्य देशोंमें मजदूर दल सामाजिक और राजनीतिक अवस्थाओंमें घोर परिवर्तन उपस्थित करनेपर तय्यार है, बिचारा भारतीय मजदूर संतोषी श्वानके समान अपने मालिकोंके निर्धारित नियमों और आदेशोंका पालनकर, अल्प वेतनपर ही अपना जीवन-निर्वाह कर रहा है। इसमें संदेह नहीं कि यहां भी आजकल जगह जगह हडतालें हो रही हैं, और मजदूरी बढ़ानेके लिए आन्दोलन भी हो रहा है, किन्तु इसका कारण केवल मंहगी है। भूखसे विकल होकर ही मजदूरोंने हड़तालकी है। उनका ध्येय यह कदापि नहीं रहा है कि अपने स्वत्वोंकी रक्षाके लिए आन्दोलन करें। इसका मुख्य कारण मजदूर-संघका अभाव है। संगठनकी अनभिज्ञतासे मजदूरोंको अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। शिक्षितोंका यह कर्तव्य है कि निरीह मजदूरोंका ऐसी उपयोगी संस्थाके सिद्धान्तोंसे परिचय करावें। इसमें देशकी और उनकी, दोनोंकी भलाई है।

जब पाश्चात्य देशोंमें कारखाने पूर्णरूपसे प्रचलित होगये और वहांके सस्ते माल से भारतका बाजार भरने लगा, तब यहांके ग्रामीण उत्पादकोंको अपना धंधा समेटना पड़ा। क्योंकि कारखानोंकी बनी हुई वस्तुओंके आगे उनकी बनाई हुई चीजोंकी मांग घटने लगी, और इस कारण इन्हें घाटा पड़ने लगा। तबसे इन लोगोंने खेती करना प्रारम्भ कर दिया। आखिर विचारे करतेही क्या? किसी तरह जीविकाका प्रश्न तो हल करना ही पड़ता है। इस प्रकार एक ओर तो भारतीय व्यवसायियोंका रोजगार टूट रहा था और दूसरी ओर कल कारखानोंका भी प्रचार यहां नहीं हो रहा था। फल इसका यह हुआ कि भारतको अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए पाश्चात्य देशोंपर निर्भर रहना पड़ा। अन्तमें धीरे २ यहांके व्यापारियोंकी निद्रा भंग हुई और वे कल-कारखाने खोलनेपर बद्धपरिकर हुए। यद्यपि यहां कल-कारखानोंकी स्थापना अभीतक काफी संख्यामें नहीं हुई है, तथापि उनके दुर्गुणोंका प्रचार बड़ी शीघ्रतासे हो रहा है। प्रति दिन समाचारपत्रोंमें, खानों, चायके बागीचों और मिलोंमें काम करनेवाले मजदूरोंके साथ मालिकोंके निष्ठुर वर्तावके समाचार निकला करते हैं, जिन्हें पढ़कर उनकी शोचनीय अवस्थापर अत्यन्त खेद होता है।

# भारतीय कारखानोंके मजदूर

कारखानोंमें मजदूरोंका प्रवेश विचित्र ढंगसे हुआ करता है। कारखानेका मालिक कुछ मनुष्योंको, जो 'सरदार' या 'ठीकेदार' कहलाते हैं, मजदूर भर्ती करनेका ठीका देता है। ये लोग ग्रामोंमें घूम घूमकर गँवारों को कई प्रकारसे लुभाकर अपने जालमें फांसा करते हैं। उनके प्रलोभनमें आकर भोला किसान अपना हल छोड़कर शहरका मार्ग पकड़ता है। वहां उसे विना किसी कठिनाईके मिलमें स्थान मिल जाता है। सरदार महाशयको मालिकके यहांसे इसका उचित पुरस्कार तो मिलताही है, साथही साथ वे मजदूरसे भी अपने परिश्रमका पारितोषिक ऐंठते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि मजदूरको, जिसे एक तो मजदूरी कम मिलती है, दूसरे उसका एक मासका वेतन इस लिये रोक लिया जाता है कि वह कहीं भाग न जाय। इससे मजदूरोंको सरदार महाशयका कर्जदार बनना पड़ता है। इस ऋणसे मजदूर कभी उऋण ही नहीं हो सकता। वह ग्रामके धनियों और मालगुजारोंसे गला छुड़ाकर भागता है।

ग्रामीण किसानका स्वास्थ्य कारखानोंमें काम करनेवाले कुलियोंसे कहीं अच्छा और नीरोग रहता है। खेतमें अधिक काम करनेसे भी कोई विशेष हानि नहीं होती। खुले हुए मैदानमें प्रकृतिकी सुन्दर वस्तुओंसे पूर्ण स्थानमें सदा आनन्द और प्रसन्नताका समावेश रहा करता है। वहां थकावट पास नहीं आती। कार्यके साथ संगीतका और पक्षी-के कलरवके साथ उन्मुक्त वायुका अपूर्व सम्मिलन रहता है। आलसीके शरीरमें भी नव जीवनका संचार हो जाता है। इसके विपरीत मिलमें संकुचित स्थानमें, दुर्गन्ध पूर्ण कक्षमें जहां यथेष्ट प्रकाशका प्रबन्ध नहीं है, जहां धुंवेकी कालिखमें मिलके 'खटपट घर घर' के अतिरिक्त और किसी उत्तम वस्तुका मिश्रण नहीं है, मज़दूरोंको काम करना पड़ता है। वहाँ उन्हें केवल एकही अंगसे कार्य करना पड़ता है। किसीको बैठे बैठे कार्य करना पड़ता है तो किसीको खड़े खड़े, किसीका दहिना हाथ अधिक काम करता है तो किसीका बायां हाथ। इस प्रकारके काम करनेसे जीवन दुःख पूर्ण हो जाता है। शरीर क्षीण हो जाता है और मज़दूरोंको कठिन रोगोंका लक्ष्य हो जाना पड़ता है।

केवल इतनाही नहीं। कारखानोंके प्रचारसे और बहुतसी खराबियोंकी उत्पत्ति हुई है। अब आबाल-वृद्ध-बनिता सबको उनके योग्यतानुसार कार्य मिल सकता है। छोटे छोटे बालक कारखानोंमें आसानीसे भरती कर लिये जाते हैं। इससे उनकी मानसिक, और शारीरिक शक्तियोंका ह्रास हो जाता है। उन्हें खेल कूदके लिए यथेष्ट अवकाश नहीं मिलता, पठन पाठनकी व्यवस्था सुचारु रूपसे नहीं हो पाती। इससे उनमें पूर्ण रूपसे किसी भी शक्तिका विकाश नहीं होने पाता। वे मनुष्य बननेके पहिले ही संसार क्षेत्रमें उतर पड़ते हैं। भारतीय राष्ट्रको इससे बहुत हानि उठानी पड़ती है।

इसी प्रकार स्त्रियोंको भी कारखानों और मिलोंके दुष्परिणामोंको भोगना पड़ता है। गर्भवती स्त्रियोंके लिये कोई विशेष प्रबन्ध नहीं किया गया है। बच्चेवाली स्त्रियोंको,

जहाँ वे काम करती हैं वहाँ बच्चे ले जाना पड़ता है। यह बहुत अनुचित प्रथा है। इससे मिलके मालिकों और काम करनेवाली स्त्रियों, दोनोंको नुकसान है।

कारखानोंमें काम करनेवाले मजदूरोंको कभी कभी १५ से १६ घंटों तक काम करना पड़ता था। स्त्रियोंको रातमें कामपर जाना पड़ता था। इससे अनेक उत्पात खड़े होते थे। इन सब खराबियोंको मिटानेके लिए सरकारने १८८१ और १९१६ में कई कनूनोंकी रचना की, जिसमें ७ वर्षसे कम उमरके लड़कोंको काम देना जुर्म बतलाया गया, स्त्रियोंसे रातमें काम नहीं लिया जाता, किसी मर्द मजदूर को १२ घंटेसे अधिक काम नहीं करना पड़ता, ७से १४ वर्षके लड़केसे केवल ६ घण्टे काम लिया जाता है। इन नियमोंसे लाभ तो अवश्य हुआ, किन्तु इनसे दुःखोंमें कुछ विशेष कमी नहीं हुई। कुछ उत्साही मालिकोंने तो इन नियमों और कानूनोंका हृदयसे स्वागत किया किन्तु कुछ 'पैसा चूस' मालिकोंने इनके विरुद्ध प्रचण्ड आन्दोलन उठाया किन्तु अन्तमें उन्हें इन नियमोंको मानना पड़ा। अब कामके घण्टे १२ से १० कर देनेके लिए प्रयत्न हो रहा है। अभी हालमें अमरीकामें अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर कान्फरेन्स हुई थी। उसने भारत सरकारसे पूछा था कि भारतीय मज़दूर कितने घंटे काम करते हैं? यदि उनसे केवल ८ घंटे काम लिया जाय तो क्या हानि है? ऐसेही और भी कितने प्रश्न पूछे गये थे।

कामके घंटे कम करने की बात सुनकर मिलके मालिक बेतरह बिगड़ रहे हैं। उनका कहना है कि भारतीय मज़दूर १२ घंटे काम करनेपर भी ८ घंटे काम करनेवाले पाश्चात्य देशोंके मज़दूरके बराबर काम नहीं कर सकता। वह सुस्त होता है और इधर उधर घूमनेमें, तमाकू पीनेमें लगभग ४ घंटे यों ही बिता डालता है। अब यदि कार्य-काल और घटा दिया जायेगा तो कारखानोंकी उत्पादक शक्ति घट जावेगी। उनका कहना है कि यहाँका मज़दूर सस्ता होनेपर भी महँगा पड़ता है। इसके कई कारण हैं। एक तो उसको शिक्षा नहीं मिली होती। उसकी शारीरिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय रहती है। वह बहुधा अस्वस्थ रहा करता है। कलाकौशल सम्बन्धी शिक्षा न मिलनेसे वह कल-पुर्ज़ोंको सावधानी और योग्यता पूर्वक नहीं चला सकता। उसकी रहन सहन बिलकुल सादी है। इसलिये जबतक इन सब बातोंका सुधार पूर्णरूपसे न हो जाय तबतक कार्य-काल कम करनेसे, और वेतन बढ़ानेसे कोई लाभ न होगा। प्रत्युत हानि होनेकी ही अधिक सम्भावना है। १९१७ की बर्षाऋतुमें बम्बईवालोंने वेतनमें १० प्रतिशतक वृद्धिकी थी, जिसका फल यह हुआ कि माल पहिलेकी अपेक्षा कम तय्यार हुआ।

इन सब दोषों और विकारोंकी औषधि है रहनेके ढंगमें उन्नति और स्वास्थ्यमें वृद्धि। इन वस्तुओंको कोई तभी पा सकता है जब शिक्षित हो और उसके रहनेका घर अच्छी तरह सजा हो। शिक्षासे मज़दूरको अनेक अलभ्य लाभ होंगे। एक तो वह कल-पुर्ज़ोंको सावधानीसे काममें लायेगा। दूसरे, उसकी कार्य-क्षमता बढ़ जायेगी, जिससे वह कम समयमें अधिक कार्य करेगा, जैसा कि आजकल पाश्चात्य देशोंमें करते हैं। तीसरे,

# भारतीय कारखानोंके मजदूर

प्रतिदिनके काममें कमी करनेपर जो समय उसे विश्रामके लिए मिलेगा उसमें वह समाचार-पत्र या और कोई पुस्तक पढ़कर अपनी मानसिक उन्नतिके साथ साथ नैतिक उन्नति भी कर सकेगा। कभी यदि उसे अवकाश मिलेगा तो इधर उधर घूमनेके सिवाय उस समयका उपयोग वह और किसी दूसरे प्रकारसे नहीं कर सकता।

गृह सम्बन्धी समस्या भी कम उपयोगी नहीं है। मनुष्य जिस प्रकारकी वस्तुओंके बीचमें रहता है, उसके चरित्र और उसकी मानसिक अवस्थाकी उद्भावना भी उसी प्रकारकी हुआ करती है। आजकल तुच्छ और बद्ध कक्षमें रहनेवाले मजदूरोंकी दशा अत्यन्त शोचनीय है। उनका स्वास्थ्य जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अतिशय हीन दशामें हैं। लगभग एक तिहाई मजदूर सदा अस्वस्थ रहा करते हैं। बहुधा 'हुक वर्म' नामकी बीमारीसे वे सन्तप्त रहते हैं। इस रोगसे पीड़ित मनुष्यको काममें विशेष रुचि नहीं रहती। वह रह रहकर कामसे घबरा जाया करता हैं। मन लगाकर किसी भी कामको चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, नहीं कर सकता। मलेरियासे भी बहुत मजदूर तंग रहते हैं। उनकी उत्पादक शक्ति और कार्य-क्षमता एक दम घट जाती है।

मजदूरोंकी इन घोर विपत्तियोंको दूर करनेके लिए मालिकोंको चाहिए कि वे अच्छे अच्छे घर जिनमें मनुष्य सुखपूर्वक रह सकें बनवा दें। उनमें छोटे पुष्पोद्यान भी जैसा कि कुछ मालिकोंने करना प्रारम्भ किया है कुछ लगवना देना चाहिए। इस सुविधासे मजदूरोंका जीवन सुखमय हो जावेगा और ये निष्ठुर रोगोंके आक्रमणसे बच जावेंगे। साथ ही साथ औषधालयोंका भी प्रबन्ध करना मालिकोंका मुख्य कर्तव्य है। क्योंकि गरीब मजदूर बीमार पड़नेपर महीनों गला करते हैं। उनके पास यथेष्ट पैसा तो रहता नहीं कि डाक्टर या सुविज्ञ वैद्यको बुलाकर उपचार करा सकें। इससे उनको जो कुछ दुःख और कष्ट मिलता है सो तो स्पष्ट ही है। मालिकोंको भी हानि होती है। माल अधिक तैयार नहीं होता और उन्हें घाटा उठाना पड़ता है। कुछ उत्साही और सभ्यताभिमानी मालिकोंने इस ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया है, और मालिकोंको चाहिये कि शीघ्रतासे उनका अनुसरण करें।

मजदूरोंके बालकोंकी शिक्षा का प्रश्न भी विचारणीय है। ७ और १४ वर्षके बीचके बालक अर्धकालिक कहलाते हैं। इन बालकोंकी शिक्षाका प्रबन्ध करना अत्यन्त आवश्यक है। बम्बई सरकारने प्रस्ताव किया था कि इन बच्चोंके कार्यकाल दो हिस्सोंमें विभक्त कर दिये जायं और इन दोनों समयोंके बीचमें तीन घन्टे ऐसे निकाले जायं जिनमें इनको शिक्षा दी जाय। इस प्रस्तावकी खूब कड़ी आलोचना हुई। आलोचकोंने कहा कि मजदूर लड़कोंको स्कूलमें भेजनेके बदले इन तीन घन्टोंमें भी उनसे काम लिया करेंगे जिससे विशेष हानि संघटित न होगी। मद्रासके बकिंघम और करनाटक मिलोंने इस कार्यको प्रारम्भ कर दिया है और सफलता पूर्वक किया। वहां शिक्षा देनेमें जबर्दस्ती नहीं की जाती। प्रत्युत उनकी इच्छापर छोड़ दिया जाता

है। फिर भी उपस्थिति अच्छी रहती है। किंतु दूसरे स्थानमें जहां अनेकों मिलें हैं कार्यकी सफलतामें लोगोंको संदेह है ?

अन्तमें हमें यही कहना है कि मजदूरोंकी दशा सुधारनेके लिए समुचित और शीघ्र प्रबन्ध होना चाहिये। उनमें सहकारिताका बीज बोना, विश्राम देना, और खेल कूद के लिए यथेष्ट खुले मैदानका प्रबन्ध करना, औषधि सम्बन्धी कमीको दूर करना, और कई शिक्षा सम्बन्धी विषयोंको उनके सन्मुख उपस्थित करना, ये ही कुछ काम हैं जिनसे भारतीय मजदूरोंको विशेष लाभ हो सकता है। यदि मालिक चाहें तो मजदूरोंकी दशा बिना प्रयास सुधर सकती है। उनके क्लेश और कष्टमय जीवनकी सरिता पुण्यतोया जान्हवीके समान स्वच्छ और पवित्र हो सकती है। धनिकों और श्रमजीवियोंके युद्धसे बचकर यदि हमने व्यावसायिक उन्नति नहीं की, तो सम्पादक स्वार्थके शब्दोंमें 'हमारी सभ्यताकी क्या महिमा रही।'

कुलदीप सहाय

# पुस्तकावलोकन ।

### *हिन्दी-पुस्तक-माला ।*

यह पुस्तक-माला "हिन्दी-ग्रन्थ-भण्डार कार्यालय, नई सड़क, बनारस सिटी" से प्रकाशित होती है। स्थायी ग्राहकोंको सभी पुस्तकें पौनी कीमतपर दी जाती हैं। स्थायी ग्राहक बननेके लिये कोई फीस नहीं ली जाती। मतलब यह कि इस मालाकी पुस्तकें प्रायः सभी मनुष्य पौने मूल्यमें पा सकते हैं। इस मालाकी तीन पुस्तकें हमारे पास आई हैं—(१) चोट, (२) प्रबन्ध-पूर्णिमा, (३) विशाख।

१. चोट—इस पुस्तकके लेखक हैं बाबू अनादिधन बन्द्योपाध्याय। इसमें ग्यारह कहानियोंका संग्रह है। ये सब कहानियां हिन्दीके भिन्न भिन्न पत्र पत्रिकाओंमें छप चुकी हैं। पुस्तकका नाम जैसा अजीब है, उसकी कहानियां भी, सब तो नहीं, कुछ, जरूर अजीब कही जा सकती हैं। पढ़ने लायक़ चीज़ है। दो चित्र भी हैं मूल्य ।।।=) है। छपाई ठीक है। पृष्ठसंख्या १०३।

२. प्रबन्ध-पूर्णिमा—यह भी भिन्न भिन्न लेखकोंकी रचनाओंका संग्रह मात्र है। किन्तु संग्रह बुरा नहीं हुआ है। इसके लेख शिक्षाप्रद और पठनीय हैं। लोकमान्य तिलकका एक चित्र भी है। मूल्य १) है। और पृष्ठ संख्या १३१। छपाई इत्यादि सब ठीक है।

३. विशाख—यह एक ऐतिहासिक नाटक है। इसके लेखक बाबू जयशंकर "प्रसाद" हैं। यद्यपि इस नाटकको पढ़ते समय आरंभमें हमें कुछ अरुचि सी हुई थी, तो भी वह शीघ्र दूर हो गई। इसके दो चार पात्रोंका व्यवहार देखकर ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानों उस प्राचीन कालमें लोग बड़े अशिष्ट होते थे। उन्हें ठीक ठीक रूपसे बातचीत करना भी न आता था। पुस्तकमें कई स्थलोंपर जहां थोड़ा सा भी मत-विरोध हुआ कि तुरन्त किसी न किसी पात्रके मुखसे यही शब्द निकलते हैं—चला जा सीधे यहांसे, चुप मूर्ख, बस चुप रहो, इत्यादि. पृष्ठ ७, ८, १८, २२, २३, २४, २६, ४७, ४८... । दो एक स्थानोंपर कुछ अस्वाभाविकता भी जान पड़ी। संभव है हमारी प्रथम अरुचिके यही कारण हों। भाषा एकाध स्थानपर दुरूह होनेपर भी साधारणतया ठीक है। 'प्रत्येक पात्रोंको' इत्यादि प्रयोग खटकते हैं। प्रेमानन्द सन्यासीका चरित्र अनुकरणीय है। प्रथम अंकके तृतीय दृश्यमें राजाके सामने महापिङ्गलकी चंचलता देखकर पहिले तो आश्चर्य होता है, किन्तु कुछ और पृष्ठ पढ़ जानेसे तथा पात्र-सूची को देखनेसे वह दूर हो जाता है। वास्तवमें महापिङ्गल एक प्रकारका विदूषक मात्र है। अतः उसका उक्त व्यवहार ठीक ही है। नाटक अच्छा है। पाठकोंको उससे शिक्षा और मनोरंजन दोनो प्राप्त हो सकेंगे। पृष्ठसंख्या ११-७६। मूल्य ।।) है।

### *हंगरीमें असहयोग ।*

इसके लेखक हैं पण्डित जनार्दन भट्ट एस० ए०, और प्रकाशक हैं श्रीयुत एल० के० भट्ट, ६४, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता। ज्ञानमंडल कार्यालय, काशीमें भी यह पुस्तक मिल सकेगी। पृष्ठसंख्या ३४ और मूल्य =)॥ है।

## स्वार्थ

यह छोटीसी पुस्तिका राष्ट्रीय उपयोगिताके विचारसे बड़े महत्वकी है। हमारी धारणा है कि यदि घर घर इस पुस्तकका प्रचार हो तो देशका बड़ा लाभ होगा। पुस्तकके पढ़नेसे असहयोग आन्दोलनकी महत्ता और कार्य-क्षमता आनन-फानन समझमें आ जाती है। इसमें हंगरी राज्यके प्रसिद्ध देशभक्त फ्रैंसिस डेकका तथा उनके नेतृत्वमें हंगरीकी जनताके आन्दोलनका बड़ा अच्छा वर्णन किया गया है। भाषा सरल और रोचक है। पुस्तक पठनीय है और मूल्य भी अधिक नहीं है। छपाई सन्तोषजनक है।

## *गुलामीसे छूटनेके उपाय।*

इसके भी लेखक और प्रकाशक वही हैं जो ऊपरकी पुस्तकके हैं। ज्ञानमंडल कार्यालय, काशीमें भी यह पुस्तक मिल सकेगी। पृष्ठसंख्या ३० और मूल्य ≋) है।

यह पुस्तक भी सामयिक है। जो गुण ऊपरकी पुस्तकमें वर्तमान हैं वे इसमें भी पाये जाते हैं। हम कह सकते हैं कि इसे एक बार खरीदकर किसीको पछताना न पड़ेगा। पढ़नेसे मनोरंजन भी होगा और शिक्षा भी मिलेगी। हिन्दी संसारमें ऐसी छोटी छोटी पुस्तकोंकी बड़ी आवश्यकता है। "स्वराज्यके" निमित्त उत्सुक भाइयोंको तो अवश्य एक बार यह पुस्तक पढ़ जाना चाहिये।

पार्वती—लेखक श्रीनवजादिक लाल श्री वास्तव। प्रकाशक रिखबदास वाहिनी ७४ बड़तल्ला स्ट्रीट कलकत्ता, मूल्य सजिल्द २।), सादी २)।

इस पुस्तकमें लेखकने श्रीपार्वतीकी पौराणिक कथाका वर्णन किया है। शिवकी रामभक्ति, सतीका संदेह, परीक्षा, शिव प्रतिज्ञा, दक्षप्रजापतिका यज्ञ, शिवको निमन्त्रित न करना, सती आग्रह कर जाना, शिवका अपमान न सहनकर यज्ञकुण्डमें कूदना और यज्ञका विध्वंस करना और पार्वती रूपमें जन्म लेकर शिवसे पुनः विवाहित होने, आदिका वृतान्त पुराणके आधारपर बड़ी रोचकताके साथ दर्शाया गया है। आख्यायिकाका रूप देनेमें लेखकने अपनी कल्पना शक्तिका अधिक उपयोग किया है। यदि लेखक महाशयने पार्वतीको न लेकर किसी काल्पनिक नायिकाको लेकर ही ऐसी सच्चरित्रताका उदाहरण और पति-प्रेमकी पराकाष्ठाका वर्णन किया होता तो पुस्तक हिन्दी संसारमें अधिक उपयोगी होती। तिसपर भी पुस्तकसे हिन्दी संसारको लाभ होगा। पुस्तक जिस सजधजके साथ निकली है वह हिन्दीके लिये गौरवकी बात है। अनेक रंगीन और सादी तस्वीरोंसे प्रस्तुत और उत्तम जिल्दबन्दीके साथ सुन्दर टाइपोंमें यह पुस्तक अतीव रमणीय प्रतीत होती है।

## *आर्य-महिला।*

यह एक सचित्र त्रैमासिक पत्रिका है। इसका सम्पादन महारानी श्रीमती सुरथ-कुमारी देवी करती हैं। श्री भारतधर्म महामण्डल, काशीसे प्रकाशित होती है। प्रति संख्यामें ९६ पृष्ठ रहते हैं। वार्षिक मूल्य प्रकाशकको पत्र लिखकर पूछनेसे मालूम होगा। पत्रिकाके लेख अच्छे रहते हैं। भाषा भी ठीक है। छपाई, सफाई इत्यादि देखकर चित्त प्रसन्न होता है। सम्पादिकाजीका हिन्दी-प्रेम सराहनीय है।

# सम्पादकीय ।

## साम्राज्य-सम्मेलन ।

यद्यपि साम्राज्य-सम्मेलन गत यूरोपीय युद्धके पूर्व भी कई वर्षोंसे हुआ करता था, तो भी उसकी वास्तविक आवश्यकता और महत्व युद्ध-कालमें तथा उसके बाद ही जान पड़ा। लड़ाईके समय ब्रिटिश राज्यकी सहायताके निमित्त सभी उपनिवेशों तथा भारतको कटिबद्ध होना पड़ा था। उस समय ये लोग कहने लगे कि यदि हमें साम्राज्यकी रक्षाके निमित्त तन, मन, धनसे सहायता करना आवश्यक है तो उसकी युद्ध-नीति तथा शान्ति-नीतिके परिचालनमें हमें भी अधिकार मिलने चाहिये। यदि आप हमारी सहायता मांगते हैं तो आपको अपनी पर राष्ट्रनीतिमें हमारी सम्मति भी लेनी होगी। बस, साम्राज्य-सम्मेलनके वर्तमान महत्वका यही प्रधान कारण है।

इस वर्ष जो साम्राज्य सम्मेलन लन्दनमें हुआ है, उसके सामने मुख्यतः ये प्रश्न उपस्थित थे। (१) इंग्लैण्ड-जापानकी संधि (२) साम्राज्यकी व्यवसाय-नीति (३) साम्राज्यकी सैनिकनीति (४) वर्सेलकी संधि (५) साम्राज्यके भिन्न भिन्न भागोंका पारस्परिक सम्बन्ध। इस सम्मेलनमें शामिल होनेके निमित्त भारत सरकारने कच्छके महाराव साहबको तथा माननीय श्रीनिवास शास्त्रीजीको भेजा है। जिसमें भारतीय प्रश्नोंको समझनेकी थोड़ी भी शक्ति है तथा जो वास्तवमें भारतका कल्याण चाहता है, वह सामाज्यकी उस व्यवसायनीतिका समर्थन कभी न करेगा जिसकी योजना की जा रही है। इस नीतिके कारण इंग्लैण्ड को ही नहीं, आस्ट्रेलिया, कनैडा, दक्षिण अफ्रिका इत्यादिको भी भारतमें अपना माल भेजनेकी सुविधाएँ मिल जायँगी। एक तो हमारा देश उद्योग-धन्धोंमें योंही पिछड़ा हुआ है, वह प्रधानतया कच्चा माल उत्पन्न करनेवाला देश ही है, दूसरे अबाध व्यापार-नीतिके कारण विदेशी व्यापारियोंके साथ प्रतियोगिता करनेमें वह असमर्थ है। अब 'साम्राज्यके हितके निमित्त' जो व्यापार-नीति निर्धारित करनेका विचार हुआ है, उससे भारतको लाभ तो कुछ होगा ही नहीं, प्रत्युत हानिकी ही विशेष संभावना है। हाँ, जापान अमरीका इत्यादि साम्राज्यके बाहरके देशोंका माल अवश्य कम आने लगेगा। तो भी भारतकी परस्थिति न सुधरेगी। जापानके स्थानमें आस्ट्रेलिया, इंग्लैण्ड आदिका माल और भी तेज़ीसे भरने लगेगा। इस नीतिका आशय यह है कि साम्राज्यके अन्तर्गत किसी देशको जानेवाले निर्गत मालपर जो महसूल लगता है वह कम कर दिया जाय, एवं साम्राज्यके-भीतर किसी देशसे आनेवाले मालको भी वही सुविधा दी जाय। अतः यह स्पष्ट है कि अमरीका तथा जापानका माल जिस मूल्यमें यहां पड़ेगा, इंग्लैण्ड इत्यादिका उससे कम मूल्यमें पड़ेगा। हमारा कच्चा माल अमरीका इत्यादिको महँगा पड़ेगा। अतः इंग्लैण्ड इत्यादि साम्राज्यान्तर्गत देश ही उससे लाभ उठावेंगे। उन्हें यह माल इतना सस्ता पड़ सकेगा कि वे उसे हमसे खरीदकर स्वयं अमरीका इत्यादिको उसी भावपर बेच सकेंगे, जिस भावसे

अमरीका सीधे हमसे लेनेमें पावेगा। इस प्रकार जो लाभ वास्तवमें भारतको मिलना चाहिये, वह साम्राज्यके ये उन्नतिशील देश ही बाँट खायँगे। यही कारण है कि रूटरके प्रतिनिधिसे बात चीत करते समय शास्त्रीजीने इसके विरुद्ध अपनी राय दी थी। पर उनके विरोधसे होता ही क्या है ?

*इंग्लैण्ड और जापानकी संधि।*

इस समय इंग्लैण्ड और जापानकी संधिने बड़ा माहात्विक रूप धारण किया है। इस विषयमें बड़ा वादाविवाद हो रहा है। जापान और अमरीका दोनों ही शक्तिशाली देश हैं, और दोनों ही ब्रिटेनके मित्र हैं। किंतु इस समय अमरीका और जापानका परस्पर का दृष्टिकोण कुछ बदल गया है, अतः दोनोंको ही सन्तुष्ट रखना कठिन प्रतीत होता है कनैडा इस सन्धिके दुहराये जानेका विरोधी है, क्योंकि उसे भय है कि ऐसा करनेसे अमरीका असन्तुष्ट हो जायगा। अपने शक्तिशाली पड़ोसीको शत्रु बनाना उसे अभीष्ट नहीं है। इस ओर आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड जापानकी उन्नतिसे हृदयमें डाह करते हुए भी उससे शत्रुता नहीं करना चाहते। अतः कनैडा तो इंग्लैण्ड जापानकी संधिका विरोध करता है, किंतु आस्ट्रेलिया उसका पक्षपाती है। इंग्लैण्ड स्वयं दुविधामें पड़ा है। न तो वह अमरीकाको ही अप्रसन्न करना चाहता और न जापानको। यदि अमरीका किसी प्रकार अप्रसंन्न न हो तो इंग्लैण्ड यही चाहता है कि जापानके साथ उसकी संधि पुनः दृढ़ कर दी जाय। जापानसे इंग्लैण्डको बड़ा सहारा मिला है और पूर्वीय देशोंमें अपना प्रभाव अक्षत बनाये रखनेके लिये इंग्लैण्ड उसके साथ मैत्री बनाये रखना आवश्यक समझता है। जापानभी अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये इंग्लैण्डका बन्धुत्व चाहता है। किन्तु यह मैत्री अमरीकाकी आंखोंमें खटकती है। यही कारण है कि इंग्लैण्ड-जापानकी संधिका प्रश्न महत्वका हो गया है।

यद्यपि लड़ाईका असर सभी देशोंपर पड़ा है और उसके कारण बड़ों बड़ोंकी शक्ति क्षीण हो गई है, तो भी अमरीका और जापान अब भी शक्तिशाली बने हुए हैं। यद्यपि यूरोपीय प्रश्नोंमें अमरीका विशेष भाग नहीं लेता, तो भी प्रशान्त महासागरमें अपना प्रभुत्व बढ़ानेकी ओर वह प्रवृत्त हो सकता है। यदि उसने यह इच्छा की—और यह बात अस्वाभाविक नहीं है—तो जापानकी शक्ति उसके लिये अवश्य बाधक होगी। चीनमें अमरीका बाधा-विहीन प्रवेश चाहता है, किन्तु जापान वहां अपना ही रंग जमानेके लिये उत्सुक है। इस प्रकार जापान और अमरीकामें मुठभेड़ हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि जहां अपने स्वार्थकी रक्षाके निमित्त जापान अंग्रेजोंसे पुनः संधि करना चाहता है, वहां उसी हेतुसे प्रेरित होकर अमरीका उक्त संधिका विरोध करता है। "याप" नामका द्वीप भी अमरीकाके असन्तोषका कारण है। यह द्वीप प्रशान्त महासागरमें है और युद्धके पूर्व उसपर जर्मनीका अधिकार था। "याप"में जर्मनोंने बेतारका तार लगाया था। कई समुद्री तार भी वहां आकर एकत्र हुए हैं। इसी कारण इस छोटेसे द्वीपका इतना महत्व है।

# सम्पादकीय

राष्ट्रसंघके २२वें नियमके अनुसार तथा वर्सेलकी संधिके अनुसार जापानको जिस द्वीप-समूहपर अधिकार दिया गया है, उसमें "याप" भी संयुक्त है। यापके पास 'गुआम' नामका एक और टापू है। इसपर अमरीकाका कब्जा है और यहाँपर अनेक तारोंका सम्मिलन है। यापपर जापानका अधिकार होनेसे 'गुआम'का वह महत्त्व न रह जायगा जो पहिले था। इसी कारण अमरीकाने याप दिये जानेका विरोध किया। यद्यपि राष्ट्रसंघका सदस्य न होनेके कारण अमरीकाको उसके निर्णयमें परिवर्त्तन करानेका कोई अधिकार नहीं है, तो भी युद्धकालमें मित्रोंके दलमें सम्मिलित रहनेके कारण तथा उनकी ओरसे लड़नेके कारण वह अपनेको युद्ध सम्बन्धी बातोंमें हस्तक्षेप करनेका अधिकारी समझता है। उसने स्पष्ट कह दिया है कि हम राष्ट्रसंघका यह निर्णय न मानेंगे। जापानका कहना है कि इस आदेशमें परिवर्त्तन न होना चाहिये। यदि इसमें परिवर्त्तन होगा तो उन सब आदेशोंको भी बदलना होगा जो आस्ट्रेलिया आदिको दिये गये हैं।

यद्यपि जापान और इंग्लैण्डकी संधिका प्रत्यक्ष सम्बन्ध भारतसे नहीं है, तो भी हमें दो एक कारणोंसे उसका विरोध करना पड़ता है। हम देखते हैं कि यद्यपि जापान चीन आदि देशोंमें दूसरे देशोंका हस्तक्षेप नहीं चाहता तो भी वह स्वयं इस सिद्धान्तको नहीं मानता। यदाकदा उसकी अनधिकार चेष्टा देखकर हमें बुरा लगता है। जापानी सेनापतिके कहनेसे स्पष्ट है कि जापान अपनी सेना तनिक भी कम नहीं करना चाहता। कोरिया, साइबेरिया आदिमें जापानने जो दुर्व्यवहार किया है, उसके कारण हम उसे अत्यन्त निन्दनीय समझते हैं। हम इस संधिका विरोध एक और विचारसे भी करते हैं। इसमें एक शर्त्त यह भी रखी गई है कि यदि भारतमें बलवा हो जाय तो जापान अंग्रेजोंकी सहायता करे। हमें तो ऐसी स्थिति आनेके कोई लक्षण नहीं दिखाते, फिर भी यदि दुर्भाग्यवश ऐसा कोई अवसर आवे भी तो हम जापानका हस्तक्षेप कदापि उचित नहीं समझते। वह सहायता मुफ्तमें तो देगा नहीं। उसका बदला अवश्य मांगेगा और एक बार उसको भारतीय बातोंमें हस्तक्षेप करनेका मौका मिला कि फिर उसकी उत्सुकता और भी बढ़ जायगी। हम आत्माभिमानकी दृष्टिसे भी जापान द्वारा अपनी शान्ति-रक्षा नहीं चाहते। मिस्टर बेनटने भी यही समझकर संधिकी इस शर्तका विरोध किया है। श्रीयुत कर्नल वेजवुडने भी संधिपर विवाद होते समय यह विचार प्रकट किया था। आपने उस शर्त्तको संधि-पत्रसे निकाल डालनेका अनुरोध भी किया था। देखें, अन्तमें क्या परिणाम होता है। परिस्थिति अवश्य विचारणीय है।

## *सम्वत् १९७६ की रेलवे रिपोर्ट।*

सम्वत् १९७६की जो रेलवे रिपोर्ट इस वर्ष प्रकाशित हुई है, वह बहुत ही संक्षिप्त है। उसमें कई उपयोगी बातोंका समावेश नहीं किया गया है। प्रथम खण्डमें कुल ३७ पृष्ठ हैं, किन्तु उसका मूल्य रक्खा गया है १॥) । दूसरे खण्डका मूल्य २॥) है। ऐसी

हालतमें सर्वसाधारण लोग कहां तक इसे खरीदनेमें समर्थ होंगे, यह विवरण प्रकाशित करनेवाले ही जाने।

सम्वत् १९७६के अन्त तक भारतमें कुल ३६,७३५ मील रेल थी। इसे बनानेमें ५ अरब ७४ करोड़ ८ लाख रुपये व्यय हुए थे। रेलकी दुर्घटनाओंसे इस वर्ष ४७० मनुष्य मरे तथा १३९५ घायल हुए। फीरोजाबाद और माखनपुर स्टेशनोंके बीच ईस्ट इण्डियन रेलवे लाइनपर जो टक्कर हुई थी, उसमें १०० मनुष्योंसे अधिककी मृत्यु हुई। अधिक मृत्यु होनेका एक कारण यह भी है कि कई रेल कम्पनियां डब्बोंमें गैसका प्रकाश करती हैं। टक्कर लगनेपर गैस पम्प फट जाता है और डब्बेमें आग लग जाती है। आशा है कम्पनियां बहुत शीघ्र इस ओर ध्यान देंगी और जहां जहां डब्बोंको प्रकाशित करनेके लिये गैसका प्रयोग होता है, वहां उसके बदले बिजलीकी रोशनीका प्रबन्ध कर दिया जायगा।

सम्वत् १९७६में रेलोंको कुल ८९ करोड़ ३३ लाखकी आय हुई। कुल खर्च ५० करोड़ ६५ लाख हुआ। भारतमें रेलके एञ्जिनोंके लिए ६०॥ लाख टन (अर्थात् लगभग १६$\frac{1}{2}$ करोड़ मन) कोयला प्रतिवर्ष खर्च होता है। इसके अतिरिक्त ७५ हजार टन (अर्थात् लगभग २०$\frac{1}{4}$ लाख मन) कोयला बाहरसे आता है। इतना कोयला ढोनेके निमित्त १० हजार डब्बोंकी निरन्तर आवश्यकता रहती है। विशेष तालिकाएँ अन्यत्र दी गई हैं।
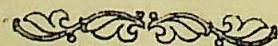
# ज्ञातव्य विषय तथा अंक

## प्रारंभिक शिक्षापानेवालोंका लेखा।

प्रारम्भिक शालाओंमें भिन्न भिन्न देशोंके सैकड़ा पीछे इतने छात्रोंके नाम दर्ज हैं—

| | |
|---|---|
| संयुक्त राज्य ( अमरीका ) ... ... | १९·८७ |
| इंग्लैण्ड ... ... ... | १६·५२ |
| जर्मन साम्राज्य ... ... ... | १९·३० |
| फ्रांस ... ... ... | १३·९० |
| जापान ... ... ... | १३·०७ |
| लंका ... ... ... | ८·९४ |
| रोमानिया ... ... ... | ८·२१ |
| रूस ... ... ... | ३·७७ |
| ब्रेजिल ... ... ... | २·६१ |
| भारत ... ... ... | २·३८ |

## सम्वत् १९७६ में रेलोंको निम्नलिखित आमदनी हुई

| दरजा | यात्रियोंकी संख्या | रेल किराया |
|---|---|---|
| १ ला दरजा | ११,०८,००० | १,२८,८८,००० |
| २ रा दरजा | ६४,३९,००० | २,१७,९४,००० |
| ड्योढ़ा दरजा | १,०२,००,००० | १,६९,६८,००० |
| ३ दरजा | ४६,०३,०५,००० | २७,६८,९४,००० |
| सीजन टिकट | ४,१९,७३,००० | ३०,९६,००० |
| फुटकर | | ५,९७,५७,००० |
| योग | ६२,००,२५,००० | ३५,१३,९७,००० |

## रेलकी दुर्घटनाओंसे हताहतोंकी सूची

| हताहत | १९७४ | १९७५ | १९७६ |
|---|---|---|---|
| हत यात्री | २६८ | ३४३ | ४६० |
| आहत यात्री | १०२९ | १११९ | १३९५ |
| हत रेल कर्मचारी | ४०८ | ४५६ | ४५० |
| आहत रेल कर्मचारी | ८९२ | ८४२ | १०२३ |
| अन्य हत | १७०८ | १७६४ | २२५१ |
| अन्य आहत | ५६८ | ६२४ | ६९० |
| योग | ४,८८३ | ५,१४८ | ६,२६९ |

## सम्वत् १९७६ में रेलोंमें लादे गये माल और उसकी आमदनीका व्योरा

| मालकानाम | वजन टनोंमें | भाड़ा रुपयोंमें |
|---|---|---|
| कोयला | २,१३,००,००० | ७,९०,००,००० |
| कपास | १५,००,००० | २,७२,००,००० |
| सूत-कपड़ा | २२,००,००० | ४,१६,००,००० |
| रंग | ४,००,००० | ३५,००,००० |
| खलीचारा | १५,००,००० | १,११,००,००० |
| फलफूल | ७,७५,००० | ५१,००,००० |
| अन्न | १,३६,००,००० | ९,४५,००,००० |
| चमड़ा | ३,७५,००० | ४२,५०,००० |
| सन | २०,००,००० | १,६३,००,००० |
| शराब | १,००,००० | १६,००,००० |
| धातु | २४,७५,००० | १,५५,००,००० |
| खानिजपदार्थ | ३४,७५,००० | ८२,५०,००० |
| किरासन | १०,५०,००० | १०,५०,००० |
| तेलहन | २६,७५,००० | २,२१,००,००० |
| किराना | ८,७५,००० | ९६,००,००० |
| नमक | २४,७५,००० | १,९०,००,००० |
| चीनीगुड़ | २०,००,००० | १,७३,००,००० |
| चाय | २,००,००० | ४२,००,००० |
| तमाखू | ४,००,००० | ४५,००,००० |
| लकड़ी | २३,५०,००० | १,१०,५०,००० |
| मवेशी | ३,००,००० | ५१,७५,००० |
| ऊन | १,००,००० | १९,५०,००० |

सूचना—एक टन करीब २८ मनके होता है।

ओ३म् वन्देमातरम्

# स्वार्थ

वर्ष २ खण्ड १ } भादों १९७८ { अङ्क ५ पूर्णाङ्क १७

## नैतिक शत्रुओंके साथ व्यवहार ।

नैतिक शत्रुओंके साथ कैसा व्यवहार किया जाता है । यह भी किसी देश या जातिकी सभ्यताका एक अंग है । भिन्न भिन्न देशों और समयोंमें भिन्न भिन्न रीतियां प्रचलित रही हैं । रोमका इतिहास बताता है कि जब रोमन विजेता किसी भारी शत्रुको पराजित करके आता था तो उसके सन्मानमें एक नगर कीर्तन होता था, जिसको ट्रायंफ कहते थे । इसमें पराजित शत्रुकी बड़ी घृणित दुर्दशा करके निकालते थे । उसका सिर मुड़ा दिया जाता था । उसको लोहेकी जंजीरोंसे विजेताके रथके पीछे बांध देते थे और जिस समय रोमकी गलियोंमें होकर जुलूस निकलता था, लोग इस शत्रुकी हँसी उड़ाते थे । उसपर थूकते तथा अनेक प्रकारसे उसकी दुर्गति करते थे । यह एक भयानक समय होता था, बड़ेसे बड़ा महाराजा जिसने अपने सर्वस्वको अपने देशकी स्वतन्त्रताके लिये न्यौछावर कर दिया, आकस्मिक पराजय पाकर घोरसे घोर अपमानका पात्र बना दिया जाता था । जो राजा देशहितको छोड़कर अपने आक्रमण करनेवालेकी खुशामद करता था वही आदरणीय समझा जाता था ।

रोम और अन्य कई देशोंमें यह भी रीति थी कि शत्रुको देवतापर बलिदान दे देते थे । रोममें शत्रु कैदियोंको एक अखाड़ेमें भयानक सिंह आदि पशुओंके साथ लड़नेके लिये भी बाधित करते थे । इस प्रकार लड़नेवालोंका नाम ग्लैडियेटर था ।

लोम्बार्ड अर्थात् लम्बी दाढ़ीवाली जातिमें, जिसने इटलीके उत्तरसे आकर लम्बर्ड देश बसाया, यह रीति थी कि पराजित शत्रुको मारकर उसकी खोपड़ीको सोनेसे मढ़वा लेतेथे और उसीमें उत्सवके अवसरपर शराब पीते थे । पहिले लोम्बर्ड राजाने शत्रुको मारकर उसकी कन्यासे बलात्कार विवाह कर लिया और एक दिन उसे बाधित किया कि वह अपने पिताकी खोपड़ीमें शराब पिये । प्राचीन रोम और कार्थेजकी जातियोंमें यह भी रीति थी कि शत्रुको देवताओंपर बलि चढ़ा देते थे ।

# स्वार्थ

भारतवर्षके मध्यकालीन इतिहासमें कई उदाहरण मिलते हैं कि एक राजाने दूसरे राजाको परास्त करके उसको अन्धा कर दिया, या उसकी खाल खिंचवाकर उसमें भूसा भरवा दिया।

आगमें जीवित जला देनेका रिवाज भी कई जातियोंमें था। एक बार एक राजा परास्त हो गया और उसको उसके कई पुत्रों सहित चारों ओरसे बन्द स्थानमें कैदकर दिया गया। वह सपुत्र बहुत दिनोंतक भूखे रहकर तड़प तड़पकर मर गया। दृश्य बड़ा भयानक था। बच्चे कहते थे कि पिताजी आपने हमारे शरीरको उत्पन्न किया है, कृपया इसीको खाकर अपने प्राण बचाइये। बूढ़ा पिता बच्चोंको भूखा देखकर तड़पता था और अपनी भुजाओंको दांतसे काट काटकर कोशिश करता था कि किसी प्रकार उसी मांससे कुछ देरके लिये पापी पेटको सन्तुष्ट करे।

गुलाम बनाकर बेंच देनेकी तो एक साधारण बात हो गयी थी। जब हम इन भिन्न भिन्न रीतियोंपर विचार करते हैं तो बड़ा दुःख होता है। ईश्वरके राज्यमें नियम यह है कि 'जो जैसा करे वैसा पावे।' शुद्ध, परोपकारी महानुभाव और पुण्यात्माको सुख और अन्यायी तथा पापीको दुःख। राज्य और जातियोंके नियम भी उसीके आधारपर बनाये जाते हैं। पूर्वीय देशोंमें राजाओंको ज़िल्लि-अल्लाह या ईश्वर-छाया कहते हैं। इसका मुख्य अर्थ तो यही है कि राजाओंके नियम ईश्वरके नियमोंके अनुरूप हों। इंग्लैण्डमें कुछ दिनों 'डिवाइन राइट' अर्थात् दैवी अधिकारोंकी बड़ी चर्चा रही। प्रथम जेम्स और प्रथम चार्ल्स इसके लिये बहुत लड़े। परन्तु भेद बड़ा भारी यह था कि यह लोग डिवाइन राइट अर्थात् दैवी अधिकारोंके लिये लड़े, न कि डिवाइन डिउटीज़ अर्थात् दैवी कर्त्तव्योंके लिये। राजाको ईश्वरकी छाया कहनेसे तात्पर्य्य यह था कि राजा ईश्वरके समान दयालु तथा न्यायकारी और रक्षक हो। यह तात्पर्य्य न था कि राजाके अधिकारोंको इतना विस्तृत कर दिया जाय कि वह जो चाहे सो कर सके। इसी प्रकार जातियों और देशोंके नियम इस प्रकारके होने चाहिये कि शुद्ध और उदारभावोंका प्रचार लोगोंमें हो।

राजाके दो प्रकारके शत्रु होते हैं। एक साधारण जिनको चोर, डाकू, व्यभिचारी आदि कहते हैं। ये स्वार्थता और नीचताके वश होकर घृणितसे घृणित कार्य्य करते हैं। इनके लिये दण्ड भी कठिन ही होना आवश्यक है। कुछ लोगोंका तो मत है कि दण्ड ऐसा हो कि जिससे लोग दुष्ट गुणोंका त्याग कर सकें।

दूसरे प्रकारके शत्रु नैतिक शत्रु होते हैं। ये नीच और अनुदार नहीं होते। यदि एक राजा दूसरे राजापर चढ़ाई करता है तो दूसरे राजाका कर्त्तव्य और उसके पदकी महत्ता इस बातपर उसे मजबूर करती है कि वह अपने देश तथा जातिकी स्वतंत्रताके लिये अपनेको स्वाहा कर दे। अतः ऐसा राजा हार भी जाय तो उसको बड़े सन्मानके साथ रखनेकी आवश्यकता है। इसी प्रकार यदि प्रजाको स्वतंत्र करनेके लिये कोई पुरुष प्रयत्न करता है

# नैतिक शत्रुओंके साथ व्यवहार

तो वह स्वार्थहीनता और उदारताका परिचय देता है। यदि राज्यके कुछ कर्म्मचारियोंके विचारसे वह अनुचित भी हो तो भी उसकी गणना चोर और डाकुओंकी कोटिमें नहीं है। क्रौम्वेल और वाशिंगटनके सहस्रों शत्रु थे, परन्तु ये ऐसे पुरुष थे जिनपर इनके सजातीय अभिमान करते हैं। जब द्वितीय चार्ल्सने क्रौम्वेलकी लाशको क़ब्रसे निकलवाकर फांसी दिलाई तो सभी उदार पुरुषोंने इस कार्य्यसे घृणा प्रकट की।

हम यह नहीं कहते कि सभी नैतिक शत्र उदारभावके होते हैं, कोई कोई दुराशय भी होते हैं। तो भी इनकी गणना चोर डाकुओंमें नहीं होती और न होनी चाहिये। जो राज्य सभ्य जातियोंके हाथमें है वहां राज-शत्रुओंके साथ कठोर व्यवहार नहीं होता। उनको यदि कारावास दिया जाता है तो केवल इसलिये कि वे राज-विरोधको सर्वसाधारणमें न फैला सकें। परन्तु कारावासमें भी उनको कष्ट नहीं पहुंचाया जाता। महाभारतमें इसका एक उदारहण आता है, जो सभ्यजातियोंके लिये आदर्श होना चाहिये। जो कौरव और पाण्डव रणक्षेत्रमें रुधिरके प्यासे रहते थे, वही रातके समय युद्ध बन्दकर सम्बन्धियोंके समान वर्त्तते थे, एकही साथ भोजन करते और एक साथ रहते थे। यदि इस बातमें कुछ अत्युक्ति भी हो तो भी आदर्शके लिये यह भाव अवश्यही आदरणीय है। 'यतो धर्मस्ततो जय:' एक उच्चतम सिद्धान्त है जो केवल पूर्णतया विकसित समाजोंमें ही पाया जा सकता है। राजा पुरुने सिकन्दरसे ठीक कहा था कि मेरे साथ वैसाही व्यवहार करो जैसा राजा राजाओंके साथ करते हैं। जब एडवर्ड ब्लैक प्रिंसने, जो इंग्लिस्तानका युवराज था, फ्रांस नरेश जौनको युद्धमें परास्त करके कैद कर लिया तो वह उसको बराबर घोड़ेपर बिठालकर इस प्रकार लाया जैसे कोई अपने मित्रको लाता हो। यह उसकी वीरता थी। नैतिक शत्रुओंकी नीतिको न बढ़ने देनेमें इतना दोष नहीं, जितना उनके साथ कठोर वर्ताव करनेमें दोष है। वस्तुत: नैतिक शत्रुओंका आधिक्य बताता है कि राज्यके शासकोंके शासनमें त्रुटि है, और जिस राज्यके शत्रु ऐसे पुरुष हों जिनका नैतिक जीवन अति उच्च, शुद्ध और पवित्र हो, जिनमें स्वार्थ त्याग हो उनका अस्तित्व तो राजकर्म्मचारियोंके अत्याचारोंका स्पष्ट प्रमाण है। संभव है कि ऐसे महापुरुषोंका निर्दिष्ट मार्ग उचित न हो, परन्तु तो भी शासकोंकी त्रुटियोंमें सन्देह नहीं है।

इस प्रकारके शत्रुओंको घृणित दण्ड देना, उनको उसी कारागारमें रखना जिसमें चोर डाकू रहते हैं, उनको उसी प्रकारका भोजन देना जो चोर डाकुओंको मिलता है, उनसे वैसाही घोर परिश्रम लेना या उनको ऐसे दण्ड देना जिससे अन्य लोगोंको देशहितके मार्गपर चलनेका साहस न हो सके, लोगोंके हृदयसे धर्म, उत्साह, देशप्रेम और सत्यपरायणताके भावोंको निकालनेका उद्योग करना है। यह सृष्टि और ईश्वरके नियमोंके विरुद्ध है, क्योंकि ईश्वरकी सृष्टिमें जो दण्ड दिये जाते हैं उनका प्रयोजन अपराधियोंका सुधार और उनमें अच्छी बातोंका समावेश करना होता है। जो राजा प्रजाका हित न विचारकर दण्ड देते हैं उनको हम ईश्वरके प्रतिरूप नहीं मान सकते।

**गंगा प्रसाद**

# हिन्दू-लॉकी उत्पत्ति और उसकी शाखाएँ

प्राय: कानूनकी उत्पत्ति राजा या राजसभासे होती है, पर हिन्दू कानूनकी उत्पत्ति इस प्रकार नहीं है। यह ईश्वरका दिया हुआ है। अत: हिन्दू धर्मशास्त्र राजाकी आज्ञा नहीं है बल्कि ईश्वरकी। राजाका अधिकार ईश्वरीय कानूनको प्रचलित करना है, उसके अनुसार प्रजाकी रक्षा करना है। पाश्चात्य देशोंमें कानून या तो राजा बनाता है या उसकी राजसभा, जो पार्लमेन्ट तथा अन्य नामोंसे कहलाती है। यह बात हिन्दू सिद्धान्तके विरुद्ध है। हिन्दू धर्मशास्त्रकी उत्पत्ति निम्नलिखित ग्रन्थोंसे है—

( १ )—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, और उपनिषत्। सब हिन्दू वेदोंको ईश्वर कृत मानते हैं, मनुष्यकृत नहीं, और वेदोंपर ही अन्य सब धर्म ग्रन्थोंका आधार है।

( २ )—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र ( गद्य ) और धर्मसूत्र ( पद्य )। धर्मसूत्र ( गद्य ) ११ शाखाओंमें विभक्त हैं, जैसे गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, विष्णु, हारीत, हिरण्याक्ष, उशनस, यम, कश्यप और शंख।

धर्मसूत्र ( पद्य ) १८ स्मृतियोंमें विभक्त हैं। जिनमें मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, पाराशरस्मृति, इत्यादि मुख्य हैं और अंगिरस, अत्रि, इत्यादि गौण हैं।

( ३ ) अठारह पुराण।

( ४ ) स्मृतियोंके भाष्य जिनमें मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य और पाराशरस्मृतिके भाष्य मुख्य हैं।

( ५ ) स्मृतियोंके आधारपर अन्य ग्रन्थ जिनमें मुख्य ये हैं:—दत्तकचन्द्रिका, दत्तक-मीमांसा, वीरमित्रोदय, मयूख, विवाद चिन्तामणि, विवादार्णवसेतु, विवादभागार्णव, विवादसारार्णव।

इन पांच उद्गमस्थानोंके सिवा अंगरेजी हाईकोर्टोंके फैसले और प्रान्तीय आचार और रिवाज भी हैं।

भारतवर्षमें हिन्दुओंके दीवानी और फौजदारीके मुकदमे हिन्दूधर्मशास्त्रके अनुसार नहीं होते हैं। फौजदारी मुकदमे सरकारी कानून जैसे ताजीरात हिन्द, जाब्ता फौजदारी तथा अन्य एक्टोंके अनुसार होते हैं। दीवानी मुकदमे भी बहुत कुछ सरकारी कानून जैसे कानून मीआदा इन्तकाल जायदाद, स्पेसिफिकरिलीफ एक्ट आदि आदिके अनुसार होते हैं। लेकिन नीचे लिखे मामलोंमें हिन्दू धर्मशास्त्रका आश्रय लिया जाता है:—विवाह सम्बन्धी झगड़े, पुत्रोंके अधिकार, दत्तकपुत्र, विधवाके अधिकार, मुश्तरका खानदान, कोपार्सनरी, मुश्तरका जायदाद और उसका इन्तकाल, दायभाग, पैतृकऋण, बटवारा, स्त्रियोंके अधिकार, उत्तराधिकार, वरासत मिलनेका क्रम, औरतोंकी वरासत, भरण-पोषण, स्त्रीधन और उसकी वरासत, बेनामीका मामला, दान और मृत्युपत्र, धार्मिक और खैराती

धर्मादे, पुजारी और महन्तोंके कर्त्तव्य और अधिकार, आदि आदि इन मामलोंके फैसले करनेमें भी कई सरकारी कानूनोंकी सहायता ली जाती है। जो सरकारी कानून हिन्दू धर्मशास्त्रके विरुद्ध हैं या जिन्होंने हिन्दू धर्मशास्त्रके सिद्धान्तोंको कुछ बदल दिया है वे ये हैं:—

( १ ) एक्ट नं० २१ सन् १८५० जिसका अभिप्राय यह है कि जबतक कोई हिन्दू हिन्दू जातिसे निकाल न दिया जाय तबतक उसकी जायदाद और उसका उत्तराधिकार सबन्धी अधिकार नष्ट नहीं समझा जायगा।

( २ ) एक्ट नं. १५ सन् १८५६ जो Widow remarriage Act या विधवा विवाह कानून कहलाता है। इस कानूनकी यह मनसा है कि विधवा फिर विवाह कर सकती है। उस विवाहसे उत्पन्न हुई सन्तान औरस मानी जायगी और उसे कानूनी हक प्राप्त होंगे।

( ३ ) एक्ट नं० १० सन् १८७० जिसे Indian Majority Act या बालिग होनेका कानून कहते हैं। इसके अनुसार हिन्दू १८ वर्षकी उमरमें बालिग माना जाता है।

( ४ ) एक्ट नं० २१ सन् १८६६ जिसे Native converts marriage dissolition Act कहते हैं। यानी ईसाई होनेवाले हिन्दूओंके वैवाहिक संबन्ध भंगका कानून। इस कानूनकी मनसा है कि किसी हिन्दूके ईसाई होनेपर उसका वैवाहिक सम्बन्ध अपनी स्त्री या पतिसे टूट जायगा।

हिन्दू-लाका सम्बन्ध केवल उन्हीं मनुष्योंसे नहीं है जो हिन्दूधर्मको मानते हैं। बल्कि उनसे भी जो हिन्दूधर्मके बाहर नहीं हैं चाहे वे जाहिर तौरपर हिन्दू प्रथाओंका पालन नहीं करते हों, जैसे—ब्रह्मसमाजी, सिख. जैन, खोजा, बौद्ध, कच्छी, मेमन मुसलमान, युरोपियनोंके अनौरसपुत्र, दो धर्म माननेवाले खानदान, सुन्नी बहोरे मुसलमान आर्यसमाजी आदि आदि।

हिन्दू-लॉका सम्बन्ध उन लोगोंसे नहीं है जो हिन्दूसे मुसलमान हो गये हैं अथवा ईसाई हो गये हैं।

हिन्दू-लॉके सम्प्रदाय—यानी हिन्दू धर्मशास्त्रकी शाखाएं—मुख्यतः दो हैं यानी मिताक्षरा और दायभाग। लेकिन मिताक्षरा शाखामें कई गौण शाखाएं हो गई हैं, जैसे बनारस, मिथिला, बंबई और द्रविड। इनमेंसे भी बंबई शाखके दो भेद हैं-महाराष्ट्र और गुजरात, और द्रविड शाखके तीन भेद हैं द्रविड, कर्नाटक, और आन्ध्र।

दायभाग शाखाको छोड़कर अन्य सब शाखाओंमें मिताक्षरा प्रधान मान्य ग्रन्थ है। लेकिन जिन जिन स्थानोंमें ये शाखाएँ प्रचलित हैं वहांके धर्मशास्त्रियोंके ग्रन्थोंका प्रमाण भी मान्य है, यहांतक कि उसके सामने मिताक्षराके प्रमाणको भी उस स्थानमें गौण मानेंगे। यही कारण इन शाखा भेदोंके होनेका है।

इन सब शाखाओंका प्रचार कहां कहां है और उनमें कौन कौनसी पुस्तकें मानी जाती हैं, इसका विवरण नीचे दिया जाता है। मिताक्षरा बंगालको छोड़कर सभी भारतवर्षमें मान्य है। केवल बंगालमें ही दायभाग, जो जीमूतवाहनका लिखा है, प्रचलित है।

मिताक्षरा सम्प्रदायकी शाखाओंके सम्बन्धमें यह है :—

**बनारस सम्प्रदाय**—इसका प्रचार बिहार, बनारस जिला, मध्यवर्ती भारत, और उत्तर-पश्चिम भारत तथा समस्त उत्तर भारतमें है। उड़ीसामें भी मिताक्षराको ही माना है यद्यपि वहां बंगालके अन्य सब कानून प्रचलित हैं। राजपूताना और माड़वार उत्तर पश्चिम भारतमें शामिल है।

इस सम्प्रदायके मान्य ग्रन्थ ये हैं—

१. मिताक्षरा, याज्ञवल्क स्मृतिपर विज्ञानेश्वरकी टीका है। ये भाष्यकार ११ वीं शताब्दीमें हुए थे और दक्षिणके चालुक्य नामक राजाओंकी राजधानी कल्याण (बंबई प्रान्त) में रहते थे। इनके भाष्यका अंगरेजी अनुवाद डाक्टर कोलब्रुक ने किया है। पीछे मिस्टर सेटलौर और घारपुरेने भी अनुवाद किये हैं।

२. सुबोधनी—यह मिताक्षराकी टीका है जिसे विश्वेश्वर भट्टने १३ वीं शताब्दीमें लिखा था।

३. वीरमित्रोदय—यह मिताक्षराके अनुकूल है। इस ग्रन्थको महामहोपाध्याय श्री मित्र मिश्रने १६ वीं शताब्दीमें लिखा था। इसका अंगरेजी अनुवाद गोपालचन्द्र शास्त्री-ने लिखा है।

४. कल्पतरु—इस ग्रन्थको पण्डित लक्ष्मीधरने १३वीं शताब्दीमें लिखा है।

५. दत्तक मीमांसा—इस ग्रन्थके निर्माणकर्त्ता पण्डित नन्द हैं जिनको हुए लग-भग तीन सौ बर्ष हुए। इसका अंगरेज़ी अनुवाद सदरलेण्ड साहबने किया है।

६. निर्णयसिन्धु—इस ग्रन्थको पण्डित कमलाकरने सन् १६१२में लिखा था।

**मिथिला सम्प्रदाय**—इसका प्रचार तिरहुतमें और उत्तर विहारमें है। इस शाखाको सन् १३१४में चन्द्रेश्वर और १५वीं शताब्दीमें वाचस्पति मिश्रने स्थापित किया था। इसमें मान्य पुस्तक ये हैं— १ मिताक्षरा जिसका हाल ऊपर दिया है। २ व्यव-हार-चिन्तामणि और विवाद-चिन्तामणि। इन दोनों ग्रन्थोंको वाचस्पति मिश्रने १५ वीं शताब्दीमें मिथिलामें बनाया था। मिथिला शाखामें इन ग्रन्थोंकी प्रधानता है। विवाद-चिन्तामणिका अनुवाद प्रसन्नकुमार ठाकुरने किया है। ३. विवाद रत्नाकर—इसके लेखक थे मिथिला नरेशके मंत्री पण्डित चन्द्रेश्वर। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद बाबू गुलाब चन्द्र सरकार और बाबू दिगंबर चटरजीने किया है। ४. दत्तकमीमांसा—इसका हाल ऊपर दे आये हैं। ५. द्वैतनिर्णय—यह ग्रन्थ वाचस्पति मिश्रका लिखा है। ६. शुद्धिविवेक—इसके लेखक पंडित रुद्रधार थे। ७. द्वैतपरिशिष्ट—इसके कर्त्ता पंडित केशव मिश्र थे।

## हिन्दू-लॉकी उत्पत्ति और उसकी शाखाएँ

**बम्बई सम्प्रदाय—**

महाराष्ट्र-शाखा—यह समस्त मराठी भाषा बोलनेवालोंके देशमें प्रचलित है। इसमें ये ग्रन्थ मान्य है:—

(१) मिताक्षरा। (२) व्यवहारमयूख—इस ग्रन्थके कर्त्ता नीलकण्ठ थे जिनका जन्मकाल सन् १६०० का है। (३) निर्णय सिन्धु—इसका हाल ऊपर दे चुके हैं। (४) दत्तक मीमांसा—इसका हाल पहले दे चुके हैं। (५) कौस्तुभ।

गुजरात शाखा—इसका प्रचार अहमदनगर तथा गुजराती बोलनेवाले देशमें है। इस शाखामें मयूखका सबसे पहला दर्जा माना गया है।

**द्रविड सम्प्रदाय**—इसकी तीन शाखायें हैं—द्रविड, करनाटक और आन्ध्र। जहां तामील भाषा बोली जाती है वहां द्रविड सम्प्रदाय है, जहां कानडी भाषा बोली जाती है वह करनाटक सम्प्रदाय है और जहां तेलगू भाषा बोली जाती है वह आन्ध्र सम्प्रदाय है। ये तीनों सम्प्रदाय मद्रास प्रेसीडेन्सी अर्थात् भारतके प्रायद्वीपके दक्षिण भागमें प्रचलित हैं। इन तीनोंमें नाममात्रका भेद है। द्रविड सम्प्रदाय १३वीं शताब्दीमें पंडित देवनन्द भट्टने जारी किया था। इसमें ये पुस्तकें प्रचलित हैं:—

१. मिताक्षरा। २. स्मृतिचन्द्रिका—यह ग्रन्थ पण्डित देवनन्द भट्टका लिखा है। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद भी हो गया है। ३. दाय भाग—यह दाय भाग नहीं है इसके कर्ता थे विजय नगरके राजाओंके प्रधान मन्त्री माधवी। यह १४वीं शताब्दीके पिछले भागमें हुए हैं। इस ग्रन्थका अंगरेज़ी अनुवाद हो गया है। ४. सरस्वती विलास—इसे उड़ीसाके राजा प्रताप रुद्रदेवने १६वीं शताब्दीमें लिखा था। इसका अंगरेज़ी अनुवाद भी है। ५. वरदराज—१६वीं या १७वीं शताब्दीमें वरदराजने लिखा जो तामिल देशके रहनेवाले थे। इस ग्रन्थका अंगरेज़ी अनुवाद हो गया है। ६. दत्तक चन्द्रिका। ७. पराशरमाधवीय—यह ग्रन्थ पराशर स्मृतिकी माधवाचार्यकृत टीका है।

स्मृतिचन्द्रिका और माधवी ये दोनों द्रविड़ सम्प्रदायके खास ग्रन्थ हैं।

**बङ्गाल सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदायको १५वीं शताब्दीमें जीमूतवाहन और रघुनन्दन मिश्रने जारी किया था। इसके प्रामाणिक ग्रन्थ ये हैं:—

१. दाय भाग—इस ग्रन्थके कर्त्ता पण्डित जीमूतवाहन थे। इनके टीकाकार रघुनन्दन श्रीकृष्ण तर्कालंकार हैं जो १६वीं शताब्दीके आरम्भमें हुए थे। जीमूतबाहनका समय १३वीं और १५वीं शताब्दियोंके बीचका बताया जाता है। इस ग्रन्थका अनुवाद मिस्टर कोलब्रुकने किया है। २. दायकर्मसंग्रह—इसके कर्त्ता थे श्रीकृष्ण तर्कालंकार। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद भी है। ३. दायभागकी टीका श्रीकृष्णकृत। ४. रघुमणिकृत दत्तक चन्द्रिका। इसके कर्त्ता कुबेर या देवनन्द भी कहे जाते हैं।

**बरार और नागपूर सम्प्रदाय**—इसमें मिताक्षरा, व्यवहार मयूख और वीरमित्रोदय ग्रन्थ मान्य हैं।

## स्वार्थ

**पंजाब सम्प्रदाय**—इसमें मिताक्षरादि ग्रन्थ मान्य तो हैं पर रिवाज अधिक मानाजाता है। इसलिये यहांका कानून कस्टमरी लॉ कहलाता है।

मिताक्षरा और दाय भागमें मुख्य भेद ये हैं :—

मिताक्षरामें मारूसी जायदाद मानी है, दायभागमें नहीं। मिताक्षरामें मुश्तरका खानदानमें हर एक आदमीका हिस्सा पृथक् नहीं होता, दायभागमें बापके मरनेपर हो सकता है। मिताक्षरामें करीबकी रिश्तेदारी या खानदानीके सम्बन्धहीसे होता है। स्त्री सम्बन्धी रिश्तेदारोंके मुकाबिलेमें मर्द सम्बन्धी रिश्तेदारोंको प्रधानता दी गयी है। दायभागमें यह बात नहीं है। समान हिस्सेदारोंके हककी बुनियाद पुत्रके जन्मसे ही होती है, दायभागमें यह बुनियाद बापके मरनेके पीछे होती है। ऐसे ऐसेही कुछ और भेद हैं जो हिन्दू कानूनकी पुस्तकोंमें दिये हैं।

कन्नोमल
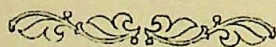
# यूनानके इतिहासका महत्त्व

ईसा मसीहके पहिले संसारमें कई स्वतंत्र सभ्यताक्षेत्र थे जो एक दूसरेसे सम्बन्धतो रखते थे पर बहुत कम। अमरीकन प्रदेशमें मेक्सिको और पेरूमें वह सभ्यता विराजमान थी जिसे स्पेन और पुर्तगालके क्रूराति क्रूर लोगोंने १६वीं शताब्दीमें रोमांचकारी निर्दयताके साथ नष्ट किया। शान्तमहासागरके उस ओर चीनमें मंगोलियन शिष्टता कंगफ्यूज़ीके से धार्मिक और नैतिक उपदेशक उत्पन्न कर चुकी थी। भारतवर्षमें वेद, उपनिषद् बन चुके थे, कपिलके समान तत्त्वज्ञानी और बुद्धके समान सुधारक देशका गौरव बढ़ा चुके थे। सभ्यताका चौथा क्षेत्र मध्यसागरके पूर्वीय किनारोंपर था। इसके और भारतवर्षके बीचमें फारसदेश था जो ढाई हज़ार वर्ष पहिले आजकी अपेक्षा कहीं अधिक बलशाली था। फारसके पश्चिममें बाबुल, मीडिया और लिडिया देश थे जो ईसाके दो तीन हज़ार वर्ष पहिले आश्चर्यजनक कृत्य कर चुके थे। कुछ दक्षिणको फिलिस्तीन और फिनिशिया प्रदेश थे, जहाँ की हज़ारों वर्षकी पुरानी सभ्यता आजभी संसारपर प्रभाव डाल रही है। कुछ पश्चिमकी ओर, अफ्रीकाके उत्तरमें, नीलनदीके किनारोंपर मिस्र देश था, जिनके बनाये हुए पत्थरके पिरैमिड नामक महान् स्तूपोंका रहस्य विज्ञानको आज तक नहीं मालूम हुआ। इसीसे पूर्व, मध्यसागरके सभ्यता-क्षेत्रसे यूनान और रोममें ज्योति पहुंची। यूनान और रोमके दरवाजेसे शेष यूरोपमें प्रकाश हुआ। यूनान अधिक पूर्वकी ओर है, अतएव वह रोमसेभी पहिले सभ्य हुआ। जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं और जैसा कि हम आगे विस्तारसे दिखावेंगे, यूनानने स्वयं रोमको बहुत कुछ सिखाया। विश्वव्यापी इतिहासमें यूनानका प्रथम महत्त्व यह है कि उसने पूर्वसे सभ्यता लेकर पश्चिममें पहुंचायी। दूसरा महत्त्व यह है कि रास्तेमें उसने सभ्यताकी बड़ी उन्नति की। गुरु गुड़ही रह गये और चेला शक्कर हो गये। अनुकूलन, परिवर्त्तन और उन्नतिकी शक्ति यूनानमें आश्चर्यकारी मात्रामें थी। फिनिशियासे उसने लिखना सीखा, पर लिपिको ऐसा बदला कि मानों वह यूनानकी ही ईजाद थी। फिनिशियासे उसने जहाज बनाना सीखा पर ऐसी उन्नति की कि गुरुजी कोसों पीछे रह गये। साहित्यकलामें तो वह ऐसा बढ़ा और इतनी तेज़ीसे बढ़ा कि मध्यसागरका कोई देश मुकाबिला ही नहीं कर सकता। वर्त्तमान यूरोपकी सभ्यताका इतिहास यूनानसे प्रारम्भ होता है। आजकल सामाजिक और राजनीतिक आलोचना ऐतिहासिक रीतिसे होती है। ऐतिहासिक रीतिका तत्त्व यह है कि सब चीज़ोंको आदिसे उठाना चाहिये। अरस्तूने कहा था कि किसी चीज़का मान समझनेके लिए उसकी उत्पत्तिसे प्रारम्भ करना चाहिये। अरस्तूके भी चार सौ वर्ष पहिले कंगफ्यूज़ीने इसी सिद्धान्तकी घोषणा की थी। अस्तु, यूरोपियन जीवनके और इतिहासके अध्येताओंके लिए यूनानका परिशीलन परमावश्यक है। भारतवर्षकी तरह जिन देशोंपर यूरोपियन प्रभाव पड़ चुका है या पड़ रहा है उसके लिए भी यूनानका

२

समझना ज़रूरी है । यह विषय हमारे लिए एक दूसरी दृष्टिसे भी मनोरञ्जक है । यूनानियोंने बहुतसी बातें मिश्र, फ़िनिशिया और लिडियासे सीखीं, पर बहुतसी बातें वे अपने साथ मध्यएशियासे ले गये थे । किसी समय यूनानी, लैटिन, जर्मन, केल्ट, पारसी, और भारतीय जातियोंके पूर्वज एकही स्थानपर रहते थे । वह स्थान कौनसा था ? यह विवाद-ग्रस्त विषय है । पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे सन्निकट सम्बन्ध रखते थे । संस्कृत, फारसी और यूरोपीय भाषाओंके शब्दोंके धातु एकसे ही हैं । पितृ, पिटर, पिदर, फादर, मातृ, मेटर, मादर, मदर ; भ्रातृ, फ्रेटर, ब्रदर, बिरादर, नाम, नेम इत्यादि बीसों उदाहरण दिये जा सकते हैं । इन भाषाओंके बोलनेवालोंके बहुतसे पुराने देवता भी एकही थे । वेदने जिसे द्युपितृ कहा है वह यूनानमें जूसपेटर और रोममें जुपिटर नामसे पूजा जाता था । अत्यंत प्राचीन समयमें समान होनेपर, भारत और यूनानकी सभ्यताके प्रवाहमें महान् अन्तर क्यों हो गया ? यह हमारे लिए बड़ा रोचक प्रश्न है ।

हमारेलिए सबसे उपयोगी इतिहास अपने समयका इतिहास है । उसपर हमारा सारा भविष्य निर्भर है । पर अर्वाचीन घटनाओंका प्रभाव अभी जारी है । विश्वास-पूर्वक हम नहीं कह सकते कि परिणाम क्या होगा । उनका पूर्णतः अर्थ समझना हमारी शक्तिके बाहर है, पर जो घटनाचक्र समाप्त हो चुका है उसका अर्थ हम पूरी तरह समझ सकते हैं, उससे बहुतसी शिक्षा हम ग्रहण कर सकते हैं । प्राचीन यूनानी इतिहास एक नाटक है जिसके अंक और दृश्य लगभग दो हज़ार बरस हुए पूरे हो चुके । सौभाग्य-वश, यूनानी सभ्यताने जीवनके सब अंशोंमें आश्चर्यकारी उन्नति की थी । उसका इतिहास सारे राष्ट्रीय जीवनका रहस्य हमें बतलाता है ।

आगामी लेखमें हम विस्तार पूर्वक बतावेंगे कि समुद्र, पर्वत, टापू आदिकी प्राकृतिक स्थितिसे यूनान देश अनेक राज्योंमें बँट गया था । इनमें बहुतसे छोटे छोटे नगर-राज्य थे—अर्थात् एक नगर और निकटस्थ भूमि-इतनाही एक राज्यका क्षेत्र था । छोटे छोटे नगर-राज्योंमें सब लोग एक दूसरेको जानते थे । अतएव वहां जीवन बड़े ज़ोरका था । राजनीतिक सत्ताके लिए लोग आपसमें खूब लड़ते झगड़ते थे । बहुतसे नगरोंमें और प्रधानतः एथेन्समें जनसत्ताकी स्थापना हुई । स्वतंत्रताका प्रभाव जिसे देखनाहो वह एथेन्स-का इतिहास पढ़े । जनसत्ता स्थापित होते ही एथेनियन जीवन मानो चमत्कारसे प्रफु-ल्लित हो उठा । आजतक किसी नगरकी जनता ऐसी तीक्ष्णबुद्धि नहीं हुई जैसी एथेन्सकी थी । आजतक एथेन्सके साहित्य और कला चित्तको आश्चर्यमें डालती है । इसके साथही जनसत्ताकी निर्बलताएं—जनसत्ताके खतरे—यूनानके इतिहासमें झलकते हैं । एथेन्सकी महासभाने कई बार ऐसी गलतियां कीं जिससे राज्यकी नींव हिल गयी । यूनानके कई नगरोंमें कुलीन सत्ता और एक सत्ता प्रचलित थी । उनके गुण दोषभी इतिहासमें स्पष्ट हैं । वर्त्त-मान परिस्थितियों में प्राचीन नगर-राजनीतिके सिद्धान्त सर्वथा नहीं लगसकते पर वे निस्सं-देह आजकलकी स्थितिपर बहुत प्रकाश डाल सकते हैं ।

# यूनानके इतिहासका महत्त्व

अनवरत राजनीतिक कार्यवाहीने राजनीतिक विचार—राजनीतिशास्त्र—को उत्पन्न किया। प्लेटो और अरिस्टाटलके राजनीतिक ग्रन्थ सदा आदरकी दृष्टिसे देखे जायँगे। आज भी वे राजनीतिक तत्त्वज्ञानके आधार हैं। हमारा देश बड़ी तेज़ीसे जनसत्ताकी ओर बढ़ रहा है। हमारे देशके जनसमूहमें ऐसी राजनीतिक जागृति हो रही है जैसी पहिले कभी देखी थी न सुनी थी। यही समय है कि जब हमारे लिए संसारकी राजनीति और राजनीतिविज्ञानका परिशीलन परमावश्यक है। इस परिशीलनका ठीक ठीक प्रारम्भ यूनानके इतिहाससे ही हो सकता है।

बेनीप्रसाद

# रूसोके राजनीतिक विचार

इस महापुरुषका जन्म फ्रांसके जिनेवा नगरमें संम्वत् १७६९ में हुआ था। उसका पिता आइज़क घड़ीसाजीका काम करता था। बाल्यावस्थामें अच्छी शिक्षा इसके भाग्यमें नहीं बदी थी। जीवन निर्वाहके लिए १२ वर्षकीही अवस्थामें इसे नौकरी करनी पड़ी थी। १६ वर्षकी अवस्थामें नौकरीको तिलांजलि देकर इसने भ्रमण प्रारम्भ किया। कुछ कालतक इसने शिक्षकका काम भी किया था, पर इस पेशेसे इसे बड़ी नफ़रत थी। इसने शिक्षकका पद छोड़ कर कुछ कालके लिए वेनिसके राजदूतका मंत्रित्व कबूल कर लिया। इसकी विशेष प्रसिद्धि मृत्यु (सं०१८३५) के पश्चात् ही हुई है। यह प्रजातन्त्र शासनका कट्टर पक्षपाती था। फ्रांसकी राज्यक्रान्तिके मूल कारणोंमें इसकी राजनीतिक पुस्तकोंकाभी स्थान है। इसी कारण क्रान्तिकारी इसे बड़ी श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे। यह बड़ी निर्भीकतासे अपने विचारोंको प्रकट करता था, इस कारण इसे कई बार आपत्तियोंमें भी पड़ना पड़ा था। इसकी समालोचनाएँभी बड़ी कड़ी हुआ करती थीं। कई बार अपने वाक्योंको नरम तथा परिवर्तित करनेके लिए यह विवश भी किया गया था। इसके राजनीतिक विचार बड़ेही उच्च हैं। राजनीतिसे सम्बन्ध रखनेवाली प्राकृतिक तथा सामाजिक अवस्थाकी इसने विशद विवेचना की है। वे विचार आज २०० वर्ष बाद भी ज्योंके त्यों सत्य हैं। इसकी मुख्य पुस्तक "सोशल कन्ट्रैक्ट" है। सम्पूर्ण पुस्तक चार खण्डोंमें विभक्त है। पहले खण्डमें मनुष्यकी प्राकृतिक और सामाजिक दशाका विचार किया गया है। शेष खण्डोंमें कानून और शासन प्रणाली इत्यादि की विवेचना है। इस लेखमें उसके पहले खण्ड—मनुष्यकी प्राकृतिक और सामाजिक अवस्था—के मूल सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

मनुष्य जन्मना तो स्वतन्त्र है, पर जहां देखो वहीं वह कठिन शृंखलामें आबद्ध देख पड़ता है। वह अपनेको दूसरोंका स्वामी मानता है, फिर भी वह उनकी अपेक्षा कठिनतर दासत्वकी बेड़ीमें जकड़ा रहता है। मनुष्यकी परिस्थिति क्यों ऐसी हो गयी है—आगेकी पंक्तियोंमें इसी बातकी विवेचना की जायगी।

परिवारही समाजका प्राचीनतमरूप है। पुत्रको जबतक पालन पोषणकी आवश्यकता रहती है तभीतक वह पितासे संलग्न रहता है। पीछे वह प्राकृतिक बन्धन गायब हो जाता है। यदि इनकी संलग्नता पीछे भी बनी रहे, तो यह प्राकृतिक न होकर केवल ऐच्छिक होगी। मनुष्यकी यह स्वतन्त्रता प्रकृति-प्रदत्त है। मनुष्य पूर्ण-वयस्क हो जानेपर, अपना स्वामी आप हो जाता है। परिवारही राजनीतिक समाजका भी नमूना है। पिताकी तुलना शासकसे और सन्तानकी प्रजासे की जा सकती है। समाजके सभी व्यक्ति बराबर और स्वतन्त्र हैं। यदि ये अपनी स्वतन्त्रता दूसरोंके हाथ

सौंप देते हैं तो केवल अपने लाभके लिए। पर, पिता और शासकमें अन्तर है। पिताके हृदयमें प्राकृतिक वात्सल्य प्रेम होता है। शासकके हृदयमें स्वभावतः यह प्रेम नहीं आ सकता। हाँ, उसके हृदयमें प्रेमकी जगह शासन करनेकी प्रसन्नता हो सकती है।

अधिकार और बलमें, किसी प्रकारका पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। बल शारीरिक शक्ति है। इसमें नैतिक बलका सर्वथा अभावही रहता है। आवश्यकतासे प्रेरित होकर, या विवश होकर ही कोई बलके सम्मुख सर झुका सकता है, इच्छासे नहीं। यदि बलकोही अधिकारका रूप दे दिया जाय, तो इसका परिणाम यह होगा कि जो जो अधिकतर बलवान होते जायँगे, अधिकारके हक़दार बनते जायँगे और तब सभी बलवान ही बननेकी धुनमें लग जायँगे, जिससे समाजमें भयानक गड़बड़ी मच जायगी।

किसी मनुष्यको अन्य व्यक्तियोंपर प्राकृतिक रूपसे कोई अधिकार नहीं मिला है। बलभी किसी अधिकारका प्रदायक नहीं माना जा सकता। फलतः मानव समाजमें जो कुछ न्यायोचित अधिकार पाया जाता है, उसका आधार पारस्परिक समझौता ही है।

जो मनुष्य अपने निर्वाहके लिए दासत्व कबूल करता है, वह अपनेको बेंच देता है। कई राजनीतिज्ञोंका मत है कि व्यक्तिविशेषकी तरह जातिविशेष भी अपनेको बेंच दे सकती है। रूसोका विचार इसके प्रतिकूल है, क्योंकि ऐसी कोई बात नज़र नहीं आती जिससे जाति अपनेको बेच देना आवश्यक समझे। राजा प्रजाका पालन कहांतक करेगा, वह स्वयं उससे कुछ न कुछ ऐंठताही रहता है। क्या प्रजा या जनता राजाकी वश्यता इसीलिए कबूल करे कि राजा उसकी स्वतंत्रताके साथही साथ उसकी सम्पत्तिका भी अपहरण करले? यह मान लिया जा सकता है कि कितने सर्वतंत्र स्वतंत्र राजा प्रजाको इस बातका विश्वास दिलाते हैं कि हम राज्यमें पूर्ण शान्ति रखेंगे, पर उनके कर्मचारी तथा मंत्रियोंकी कड़ाईसे ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो सकती है जो प्रजाको सर्वथा असह्य होजाय। यदि कोई मनुष्य अपनी इच्छासे ही किसीकी वश्यता कबूल करले तो वह पागलके अतिरिक्त और क्या समझा जायगा? किसी जातिके सम्बन्धमें भी वही बात कही जा सकती है।

यदि कोई मनुष्य अपना विक्रय भी कर दे, तो भी अपनी सन्तानोंको बेंच देनेका उसे अधिकार नहीं है। उनका जन्म स्वतंत्र मनुष्यके रूपमें हुआ है, उनकी स्वतंत्रता उनकी अपनी वस्तु है। उसे छीनलेनेका और किसीको अधिकार नहीं। पिता उनके भरण पोषणके लिए कुछ शर्तोंकी कैद लगा सकता है, पर स्वतंत्रतासे वञ्चित करदेना प्राकृतिक नियमके विरुद्ध तथा पिताके-अधिकार-क्षेत्रसे बाहर होगा! रूसोके विचारमें प्रत्येक पीढ़ीको यह अधिकार होना चाहिये कि वह चाहे तो किसी विशेष शासन-पद्धतिको मंजूर करे या रद्द करदे। पर इस हालतमें वह सरकार पूर्ण नहीं कही जा सकेगी।

स्वतंत्रताका खोदेना मनुष्यत्व, इसके अधिकार तथा इसके कर्तव्य खो देनेके बराबर

है। एक ओर पूर्ण अधिकार और दूसरी ओर अपरिमित वश्यता—इस प्रकारका समझौता या सम्बन्ध जायज़ नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिस व्यक्तिसे हमको सब कुछ ऐंठ सकनेका अधिकार है उसके प्रति हम किसी बातके लिए बाधित नहीं हो सकते।

ग्रोससका यह सिद्धान्त है कि युद्ध भी मनुष्योंके ऊपर दासत्वका अधिकार दिलाता है, क्योंकि विजेताको अधिकार है कि वह पराजितका वध कर सके। इसलिए पराजित अपनी स्वतंत्रता बेंचकर अपनी जान बचा सकता है और यह समझौता न्यायसंगत भी है, क्योंकि इससे दोनों पक्षोंको लाभ है। रूसोके विचारमें यह सिद्धान्त सर्वथा भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि जबतक मनुष्य अपनी प्राकृतिक (आदिम) स्वतंत्रताकी अवस्थामें रहता है तबतक उसे पारस्परिक शत्रुता या युद्धसे किसी प्रकारका सम्पर्क नहीं रहता। युद्धकी उत्पत्ति मनुष्यके पारस्परिक सम्बन्धसे न होकर वस्तुओंके घने सम्बन्धसे होती है। मनुष्य मनुष्यका युद्ध प्राकृतिक या सुव्यवस्थित सामाजिक अवस्थामें होना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

युद्ध दो राज्योंके परस्परका सम्बन्ध है। वैयक्तिक शत्रुता मनुष्य या नागरिककी दशामें न होकर सैनिककी दशामें होती है। सो भी देशकी प्रजाकी हैसियतसे नहीं, रक्षककी हैसियतसे।

यदि कोई विदेशी, चाहे वह राजा हो या जाति, राज्यके साथ युद्ध उद्घोषित किये बिना ही प्रजाका जानोमाल नष्ट करे तो रूसोके मतमें वह जाति शत्रुके बदले डाकू मानी जायगी। वास्तविक युद्धमें भी न्यायी राजा शत्रुके राज्यमें प्रवेश करते समय सर्व-साधारणके जानोमालको नहीं छूता। यह उसके अधिकारोंकी इज़्ज़त भी करता है। क्योंकि स्वयं उसकी सत्ताके आधार भी येही अधिकार हैं। युद्धका उद्देश्य शत्रु-राज्य-का विनाश है। कभी कभी किसीकी जान लिये विनाही राज्यका सर्वनाश सम्भव देखा जाता है।

युद्ध विजेताको विजित जातिको मारने वा दास बनानेका अधिकार नहीं देदेता। यदि यह भी मान लिया जाय कि मार डालने या दास बनानेका अधिकार भी विजेताको है, तो भी विजित जाति लाचारीकी हालतमें हीं विजेताकी आज्ञाओंका पालन करेगी। आज्ञा पालनके लिए वह कभी कर्त्तव्यके अनुरोधसे बाधित नहीं हो सकती। जानके बदले स्वतंत्रता लेकर विजेता विजितके साथ कुछ भलाई नहीं करता। विना कोई लाभ उठाये मारडालनेके बदले वह विजितको इस प्रकार मारता है जिससे उसको पूरा लाभ भी हो [ क्योंकि दास बनाना लाभके साथ मारनेके समान है ]।

किसी जनसमूहसे वश्यता क़बूल कराने और किसी समाजपर शासन करनेमें बहुत अन्तर है। यदि कोई व्यक्ति अनेकानेक मनुष्योंको बलपूर्वक क्रमशः दास बनाले, तो ये जाति और शासकका रूप न धारण कर दास और स्वामीके ही रूपमें रहेंगे। यदि उक्त व्यक्ति आधी दुनियांको भी अधिकारमें करले, तो भी वह व्यक्तिविशेष कीही

परिस्थितिमें रहेगा और उसके स्वार्थ व्यक्तिगत स्वार्थ होंगे। यदि उसकी मृत्यु हो जाय, तो उसका साम्राज्य बातकी बातमें तीन तेरह हो जायगा।

यदि मनुष्यकी ऐसी परिस्थिति उपस्थित होजाय जिसमें उसकी प्राकृतिक रुकावटें उसके निर्वाहके साधनसे अधिकतर बलवती हो जायं, तो यह परिस्थिति बहुत दिनोंतक जारी नहीं रह सकती। इस दशामें मानवजातिका अस्तित्व शीघ्र ही लुप्त हो जायगा।

यह निश्चित है कि मनुष्य नयी शक्तियां नहीं उत्पन्न कर सकता। जो शक्तियां पहलेसे ही मौजूद हैं उन्हींको संघशक्तिके रूपमें एकीकरण कर, प्रयोगमें ला सकता है। यह शक्तिविशेष सभी मनुष्योंके मिल जानेसे उत्पन्न होगी। पर इस दशामें मनुष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंको सुरक्षित नहीं रख सकता। अतः संघ इस प्रकारका होना चाहिये जिसमें उक्त शक्ति प्रत्येक मनुष्यके जानोमालकी रक्षा कर सके और संघका प्रत्येक व्यक्ति संघमें संम्मिलित होते हुए भी पहलेकी तरह स्वतंत्र बना रहे। इस लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सारी सम्पत्ति सहित अपनेको संघके सुपुर्द कर दे। सभी व्यक्तियोंके साथ येही शर्तें लागू होनेके कारण किसीको इन शर्तोंके असह्य बनानेमें कोई खास स्वार्थ भी न होगा। संघका कोई सदस्य अपने लिए कोई विशेष अधिकार भी नहीं रख सकता, क्योंकि इस दशामें संघ और व्यक्तिके बीच कोई श्रेष्ठतर निर्णायक न होनेके कारण संघकी स्थिति बिलकुल भयानक हो जायगी।

फलतः संघमें संम्मिलित होने पर मनुष्य अपना सब कुछ छोड़ते हुए भी कुछ नहीं छोड़ता। यदि उसके ऊपर दूसरोंका अधिकार होता है, तो दूसरोंके ऊपर उसका भी वही अधिकार हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक विशेष लाभ यह होता है कि जानोमालकी रक्षाके लिए महती शक्ति उसे मिल जाती है।

उक्त सिद्धान्तोंका सार यह है कि व्यक्ति अपना जानोमाल सार्वजनिक इच्छाके नेतृत्वमें रख देते हैं और संघकी हैसियतसे प्रत्येक सदस्य अखिल संघका अखण्ड अंश बन जाता है।

इस नियमसे बना हुआ संघ "प्रजातंत्र" कहलाता है। इसीको क्रियात्मक रूपमें "राष्ट्र" और अक्रियात्मक रूपमें "राज्य" कहते हैं।

वस्तुतः राष्ट्र किसी सदस्यको किसी प्रकारकी क्षति नहीं पहुंचा सकता। यह अपने अंश मात्रको भी किसी अन्य राष्ट्रके सुपुर्द नहीं कर सकता, क्योंकि जिन नियमोंके आधारपर संघ ठहरा हुआ है, उन्हींको तोड़ देनेसे इसका अस्तित्व ही मिट जायगा। राष्ट्र एक ऐसे व्यक्तिके रूपमें है जो अपना नियम आप ही बनाता है। इसलिए किसी ऐसे नियमसे राष्ट्रको जकड़ देना जिसका यह परिवर्त्तन या उलंघन न कर सके प्रजातंत्रके सिद्धान्तोंके विरुद्ध होगा।

यदि कोई सदस्य सार्वजनिक इच्छासे विभिन्न या प्रतिकूल किसी बातकी इच्छा करे और उसके स्वार्थ सार्वजनिक स्वार्थसे पूर्णतः विभिन्न हों तो इस प्रकारकी इच्छा या स्वार्थकी

सिद्धि प्रजातंत्रके कर्त्तव्योंके प्रतिकूल होगी। इस प्रकारका कार्य्य नागरिकके अधिकारोंका दुरुपयोग समझा जायगा। यदि यह अन्याय कुछ कालतक जारी रहा तो प्रजातंत्रका सर्वनाश अवश्यम्भावी है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति सार्वजनिक इच्छाका पालन करनेसे इन्कार करे तो पालन करानेके लिए उसे विवश करना चाहिए। फिर राजनीतिक यंत्र सुगमतापूर्वक चल सकनेमें समर्थ हो सकता है।

मनुष्य इस सामाजिक बन्धनमें प्रविष्ट होनेपर अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रता और इच्छित वस्तुको प्राप्त करनेके अमर्य्यादित अधिकारके अतिरिक्त और कुछ नहीं खोता, पर इनके बदलेमें वह सामाजिक स्वतंत्रता और अपनी वस्तुओंपर न्यायोचित स्वामित्व प्राप्त करता है। मनुष्यकी प्राकृतिक स्वतंत्रता व्यक्तिगत शक्तिसे आबद्ध है, पर सामाजिक स्वतन्त्रता सार्वजनिक इच्छासे-इन दोनों प्रकारकी स्वतंत्रतामें यही अन्तर है। संघमें सम्मिलित होने पर मनुष्य नैतिक स्वतंत्रता भी प्राप्तकर लेते हैं।

जिन नियमोंको हम अपने लिए आपही बनाते हैं उनका पालनही वास्तविक स्वतंत्रता है।

राजवल्लभ

# लंका—महा नगरी

सिकन्दर, नेपोलियन, तिमूर ये सभी ज्ञात इतिहासकी सीमाके भीतर अत्यन्त परिचित विजेता हैं। ऐतिहासिक विद्वान् सभी नामी महापुरुषों एवं सभी प्राचीन देशोंके इतिहासोंको पक्षपात रहित दृष्टिसे देखते हैं। उक्त महाविजेताओंके सम्बन्धमें ऐतिहासिकोंको किसी प्रकारका मतभेद नहीं है। अपने अपने कालमें प्रत्येक अपनी अनुपम शक्तिके कारण जगत्में अनोखा था। इसमें संदेह नहीं। सिकन्दरकी विजय विजयके उद्देश्यसे की गई थी। वह वीर निर्व्याज-विजयका इच्छुक था। नेपोलियन एक विशेष देशके उत्कर्षके लिए विजय करता था। तिमूर अपने पैशाचिक हत्याकाण्डसे देशोंको लूटने पाटनेके प्रयोजनसे ही विजयका व्यसन पूरा करता था। पर आज मैं यहां ज्ञात इतिहासकी सीमाको पारकरके एक अत्यन्त प्राचीन प्रसिद्ध दिग्विजेताका परिचय कराना चाहता हूं। वह दिग्विजयी वीर रावण था। इसकी दिग्विजयका नाद भारतवर्ष, हिमालय, उत्तर कुरु, सुमेरु, पामीर पर्वत-श्रेणी, आदि स्थानोंके अतिरिक्त पाताल अमरीकातक पहुंच चुका था किंतु सब दैत्य, दानव, देव, यक्ष, गन्धर्व, किंनर, आदि पर विजय पाकर भी वह अभागा घर बैठे एक क्षत्रियके हाथ अपने दिग्विजयी सेनापतियों सहित मारा गया। उस कालका इतिहास पढ़नेसे स्पष्ट पता लगता है कि उसके बलसे संपूर्ण जातियां थर थर कांपती थीं। इसीसे वह 'लोक-रावण' के नामसे प्रसिद्ध हो गया था। उसने सभी राष्ट्रोंको लूटकर उनका वैभव और भोग विलासकी सामग्री अपनी लंकामें इकट्ठी की थी। लंकाको यदि त्रेता कालकी रावणकी गजनी कहें तो अच्छा होगा। अब हम इसकी विशेष आलोचना करना चाहते हैं।

रामायणमें लंकाका विस्तार दश योजन चौड़ा और २० योजन लम्बा लिखा है। यह विस्तार रावणकी संपूर्ण राजधानीका है। जिसके चारों ओर सुवर्णका कोट लगा हुआ था कौटिलीय अर्थ शास्त्रके अनुसार * १ योजन ३ मीलसे कुछ अधिकका होता है। हम सुगमताके लिए ३ मील ही मानलेते हैं। इस हिसाबसे लंका ३० मील चौड़ी और ६० मील लम्बी थी।

वर्त्तमानमें सबसे बड़ा नगर लन्दन है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (११वां संस्करण)के अनुसार इस महानगरीका विस्तार ११×१६ मील था। अर्थात् रावणकी महानगरी

---

* ८ जौ = १ अंगुल = १/२ इंच
१२ अंगुल = १ वितस्ति = ६ इंच
२ वितस्ति = १ अरत्नि = १२ इंच = १ फुट
४ अरत्नि = १ धनुष = ४ फुट = १ गज + १ फुट
१००० धनुष = १ गोरुत = १००० गज + १००० फुट
४ गोरुत = १ योजन = ४००० गज + ४००० फुट = १ मील ५१ गज

३

लंका लन्दनसे ११ गुनी रही। क्या इतनी बड़ी नगरीका होना सम्भव है ? हमें यह विस्तार कोई असम्भव प्रतीत नहीं होता। प्राचीन कालमें यह महानगरी एक अच्छा खासा जनपद या राज्य मानी जाती थी। उसका राजा अपने महानगरके कोटमें ही सम्पूर्ण नगर और ग्रामोंको घेर लेता था, इससे सभीकी समानरूपसे रक्षा होती थी। १८०० वर्गमीलको घेरनेवाले विशाल कोट या महाभित्तिका बनना पुराने कालमें कोई असम्भव प्रतीत नहीं होता। यूनानमें साइक्लोप लोगोंकी विशाल दीवारोंके खण्डहर और वर्तमानमें भी चीन साम्राज्यकी उत्तर पश्चिम सीमापर बनी हुई कई सौ मील लम्बी दीवार संसारमें अबभी बड़ी विस्मय जनक है। प्रबल आक्रमणोंसे बचनेके लिये बड़े बड़े शक्तिशाली समृद्ध राष्ट्र प्राचीनकालमें ऐसी विशालभित्तियोंसे ही अपने जनपदकी रक्षा करते थे। लंकाका जनपद भी उसी श्रेणीमेंसे एक था।

मोटे तौरपर हम शिल्पोंको दो भागोंमें बांट सकते हैं—१ विशाल शिल्प, २ सूक्ष्म शिल्प। चीनकी महादीवार, विशाल शिल्पका नमूना है। बौद्धकालकी अत्यन्त सुन्दर मूर्त्तियां एवं चित्रकला सूक्ष्म शिल्पकी नमूना हैं। हम यहांपर लंकाके विशाल शिल्पका वर्णन करते हैं।

लंका वस्तुतः रामके जमानेमें एक अजेय दुर्ग था, जिसमें रावणकी पहली कई पीढ़ियोंने बराबर अन्य जातियोंको लूट लूटकर और विजये करके बड़ा भारी धन सञ्चय किया था। उस जमानेमें सोना और चान्दी बहुत अधिक थी। दैत्य और राक्षस तथा अन्य जातियां भी चाहे अपने रहन सहन और अन्यान्य आचार विचारोंमें कितनी ही नृशंस और असभ्यप्राय रूपमें रहती थीं परन्तु सुवर्ण और चान्दीकी कारीगरीमें किसी भी सभ्य जातिसे कम न थीं, यह माया-सभ्यता और अमरीकाकी प्राचीन 'इमका' सूर्योपासक जातिके इतिहाससे प्रतीत होता है। फलतः राक्षस जाति भी शिल्पमें किसीसे कम न थी। आजसे ५००० वर्ष पूर्वतकका सारा जमाना एक प्रकारसे दैत्य-सभ्यताका जमाना था। मिश्र, बाबिलन, असीरिया, और इसी प्रकार अमरिकामें, युकेतान (यक्षस्थान) गौटीमालय, आदि सभी प्राचीन विशाल नगरोंके भग्नावशेष दैत्य-सभ्यताके विशाल नमूने हैं जो कि किसी प्राचीन प्री-हिस्टारिक् युगमें बड़ी भारी जीवित जागृत सभ्यताके आदर्श थे। कालक्रमसे अब उनकी धीमी धीमी कीर्त्ति केवल दबे हुए भग्नावशेष भाग, पड़े पड़े गा रहे हैं। रावणकी लंका और रामकी अयोध्या भी अब उसी संहारक कालकी दाढ़ोंमें पिसकर चकनाचूर हो रही हैं। तो भी उनकी सत्ता और वैभवका नमूना वाल्मीकिके मधुर आलापों में चित्रित करके रखा हुआ है। रामायण एक युगके ऐतिहासिक अद्भुतालयका पूरा वर्णन है। अस्तु। वाल्मीकि लंका नगरीकी रक्षाके विषयमें लिखते हैं।

"वह महानगरी सोनेके कोटसे घिरी हुई थी। उसके द्वार सुवर्णके और चबूतरे वैदूर्य मणिके बने थे। मणियों और मोतियोंसे उसके फर्श जड़े हुए थे। सीढ़ियां भी बिल्लौरकी बनी थीं। सम्पूर्ण नगरी अलकानगरीकी दूसरी प्रतिमूर्त्ति थी" (सुन्दरकाण्ड

तृतीय सर्ग )। वाल्मीकि इस महानगरीकी दिव्य अपूर्व शोभाको देखकर वास्तवमें बहुत मुग्ध हो गये थे। इसका वर्णन उन्होंने रामायणमें एक नहीं बल्कि बहुतसे स्थानोंपर किया है। उसी महापुरीकी सुन्दरताका वर्णन करते करते सुन्दरकाण्डका निर्माण हुआ है। उसके कोटके विषयमें भिन्न भिन्न स्थानोंपर वाल्मीकि लिखते हैं—

१ काञ्चनेनावृतां रम्यां प्राकारेण महापुरीम्। ५। २।
२ शातकुम्भेनमहता प्राकारेणाभिसंवृताम्। ५। ३।
३ काञ्चनेन च शालेन राजतेन च शोभते। ६। ३६।

इसके पश्चात् अब हम इस लक्ष्मीकी एकमात्र खानि महानगरीकी रक्षाके प्रबन्धपर विशेष ध्यान देते हैं। इस सम्बन्धमें वाल्मीकि लिखते हैं—

हृष्टप्रमुदिता लंका मत्तद्विपसमाकुला।
महती रथसम्पूर्णा रक्षोगण-निषेविता॥ १०॥
दृढ़बद्धकपाटानि महापरिघवन्ति च।
चत्वारि विपुलान्यस्यां द्वाराणि सुमहान्ति च॥ ११॥
तत्रेषूपलयन्त्राणि बलवन्ति महान्ति च।
आगतं प्रतिसैन्यं तैः तत्र प्रतिनिवार्यते॥ १२॥
द्वारेषु संस्कृता भीमाः कालायसमयाःशिलाः।
शतशो रचिता वीरैः शतघ्न्यो रक्षसांगणैः॥ १३॥
सौवर्णस्तु महांस्तत्र प्राकारो दुष्प्रधर्षणः।
मणिविद्रुमवैदूर्यमुक्ताविरचितान्तरः॥ १४॥
सर्वतश्चमहाभीमाः शीततोया महाशुभाः।
अगाधाः ग्राहवत्यश्च परिखा मीन-सेविताः॥ १५॥
द्वारेषु तासाञ्चत्वारः संक्रमाः परमायताः।
यन्त्रैरुपेताबहुभिः महद्भिर्गृहपंक्तिभिः॥ १६॥
त्रायन्ते संक्रमास्तत्र परसैन्यागते सति।
यन्त्रैस्तैरवकीर्यन्ते परिखा सुसमन्ततः॥ १७॥
एकस्त्वकम्प्यो बलवान् संक्रमः सुमहादृढः।
काञ्चनैर्बहुभिःस्तम्भैर्वेदिकाभिश्च शोभितः॥ १८॥
स्वयं प्रकृतिमापन्नो युयुत्सु राम रावणः।
उत्थितश्चाप्रमत्तश्च बलानामनुदर्शने॥ १९॥ ( ६। ३। )

"सम्पूर्ण लंकानगरी अत्यन्त सुन्दर और रौनकदार है। उसमें मत्त हाथी और रथोंकी कमी नहीं। राक्षसलोग उसमें सुखसे निवास करते हैं। उसमें चार बड़े बड़े दरवाजे ( फाटक ) हैं, जिनमें बड़े मजबूत पक्के किवाड़ लगाये गये हैं। उनके पीछे एक बड़ा अरगला लगाया गया है। उन दरवाजों पर 'इषुयन्त्र' और 'उपलयन्त्र' लगाए गये हैं। जिनसे बाणों और पत्थरोंकी वर्षा कर दी जाती है। इन्हीं संहारक अस्त्रोंसे शत्रु-सेनाको मारकर भगा दिया जाता है। फाटकोंपर सब लोहेकी बनी बड़ी भयानक काली काली

सैकड़ोंकी संख्यामें तोपें ( शतघ्नी ) लगा रखी हैं, जिनपर सदा वीर राक्षस तैनात रहते हैं। सबसे बड़ी नगरकी रक्षा तो वह सोनेका बड़ा अजेय कोट है जिसमें बीच बीचमें बज्र और बिलौर मोती और मूंगेका काम भी हुआ है। उस कोटके भी चारों ओर कई बड़ी बड़ी गहरी भयंकर शीत जलसे भरी अथाह खाइयां हैं जिनमें बड़े बड़े मत्स्य और मकर भी निवास करते हैं। उन खाइयों को पार करने के लिये ४ बड़े बड़े पुल (संक्रम) हैं जो अच्छे लम्बे हैं। इनके दोनों पार्श्वों पर यन्त्रोंसे युक्त ( मशीनघर ) मकान बनाए गये हैं। जभी शत्रुके आगमनका भय प्रतीत होता है तभी उन यन्त्रों द्वारा वे पुल तोड़ फोड़कर खाइयोंमें तितर बितर कर दिये जाते हैं और आवश्यकता पड़ने पर फिर ज्योंके त्यों जोड़कर तैयार कर लिए जाते हैं। एक और बहुतही पक्का पुल है जो बहुत दृढ़ और मजबूत है। उसको भी सोनेके खम्भोंपर थमाया गया है और स्थानपर रक्षकोंके बैठनेके लिये स्थान बनाए गये हैं। इस प्रकार राजा रावणने बड़ी सावधानीसे नगरकी रक्षाकर रखी है।"

इसके बाद फिर यह लिखा है कि "खाइयां, तोपें, और नानाप्रकारके यन्त्र लंकाकी शोभा बढ़ा रहे थे। पूर्वकी ओरके फाटकपर दस हजार जवान जमा थे, जिसमें सभी बर्छों और तलवारोंसे आगे बढ़कर लड़ने वाले थे। दक्षिण द्वारपर १ लाख सेना थी जिसमें रथी, अश्व और हाथी और पैदल चारों प्रकारकी सेनाएं सम्मिलित थीं। पश्चिम द्वारपर १० लाख ढाल तलवारसे लड़नेवाले योद्धा थे। उत्तर द्वारपर १ करोड़ घुड़सवार और रथी लोग थे। और सवाकरोड़ सेना बीच लंकामें जमा थी।" (युद्धकांड ३ सर्ग, श्लोक २३—२८)

इस वर्णन पर हमारा इतना ही वक्तव्य है कि यद्यपि कविताके प्रवाहमें कुछ अंश अतिशयोक्तिका होगा परन्तु सब अंशमें अतिशयोक्ति नहीं है। मुसलमानी राज्यकालकी बड़ी बड़ी इमारतोंको देखकर यह कुछ भी असम्भव प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार मुसलमानी राज्यकालमें देहलीका विस्तार बढ़ते बढ़ते गाजियाबादसे लेकर फरीदाबादतक हो गया था और इस विस्तारमें जिधर देखो उधरही अबतक भी बराबर मुसलमानी कालकी टूटी फूटी इमारतें बिखरी दीखती हैं, उसी प्रकार राक्षसोंकी राजधानी लंका भी ३०।६० वर्ग मीलमें फैल चुकी थी इसमें क्या संदेह है। वाल्मीकि लिखते हैं—

**'शैलाग्रे रचिता दुर्गा सापूर्देवपुरोपमा'। १२।**
**'लङ्का पुनर्निरालम्बा देवदुर्गं भयावहा।'। २०। ( ६। ३। )**

लंका पर्वतोंकी चोटियों पर बसी हुई ऐसी प्रतीत होती थी मानो आकाशमें निरालम्ब लटक रही हो।

शिमला, धर्मशाला आदिके यात्रियोंको इस दृश्यके वर्णनकी सत्यताका पूरा अनुभव हो सकता है। हरे भरे वृक्षसंघोंमें ऊँचे ऊँचे महलोंकी जड़ें नहीं दीख पड़तीं बल्कि ऊपरका भाग खूब चमकता दीखता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पर्वतोंकी सीमा तो वृक्षों

तक ही है और बनी हुई इमारतें मानो आकाशसे आकर वृक्षोंके अग्रभागों पर मेघ खण्डोंके समान झूम रही हैं। इसीसे वाल्मीकि कहते हैं

(क) गिरि मूर्ध्नि स्थितां लङ्कां पाण्डुरै र्भवनैः शुभैः
ददर्श स कपिः श्रीमान् पुरीमाकाशगामिव। ५।२।१६

इसी प्रकार (ख) वास्त्वोकसारप्रतिमां समीक्ष्य नगरीं ततः।
खमिवोत्पतितां लङ्कां प्रहर्ष हनुमान् कपिः।५।५६२।

(ग) प्लवमानामिवाकाशे ददर्श हनुमान् कपिः ५।२।१०।

पर्वतके शिखरपर स्थित लंका अपने श्वेत प्रासादों सहित आकाशमार्गमें गमन करती हुई आकाशमें उड़ती हुई सी, आकाशमें तैरती हुईसी, मालूम होती थी।

गृहैश्च गिरि-सङ्काशैः शारदाम्बुद-सन्निभैः। ५।१६।

उसकी बड़ी बड़ी श्वेत इमारतें और महल शरत्कालके शुभ्र मेघोंकी तरह पर्वतकी चोटियोंपर छुए भासते थे। 'फलतः, रामायणके वर्णनसे लंकाकी शोभा पर्वतोंपर बसे उत्तम नगर शिमला, मसूरी, धर्मशाला अलमोड़ा, नैनीताल आदि नगरोंमें किसीसे भी कम न थी। उसको देखकर वाल्मीकिका हृदयभी उसी प्रकार तरंगित हुआ जिस प्रकार वर्तमानके पर्वतीय यात्रियोंका।

वर्तमान समृद्ध नगर, लन्दन, न्यूयार्क, आदि स्थानोंको देखकर निःसन्देह साधारण मनुष्य बड़े विस्मयमें पड़ जाते हैं। शिल्पसौन्दर्य विग्रहवान् होकर चमचमाता मालूम होता है। यह सब लक्ष्मीकी माया है। दरिद्रके गृहमें यह शोभा नहीं दीख पड़ती। बस दिगन्त-विजयी रावणकी राजधानीकी शोभा स्वर्णमयी थी, इसमें सन्देह नहीं। वह साम्राज्य अपने कालमें समृद्धिकी चरम सीमापर पहुंचा हुआ था। इस प्रकार वर्णित विलासोंका कुछ कुछ नमूना वर्तमान देशी रजवाड़ोंके राजमहलोंमें भी देखा जा सकता है। जयपुर महाराजके राजभवनको देखकर बार बार लंकाके वर्णित राजप्रासादोंका स्मरण हो उठता है। जयपुरके समीप ही पर्वतोंकी चोटियोंपर बसी कोसों घिरी आमेर [ अम्बर नगरी ] पुरीको देखकर तो आश्चर्य सागरकी सीमा ही टूट जाती है। उसके राजभवनोंको सिर उठाकर देखनेवाला आश्चर्यसे स्तब्ध होकर रह जाता है। अन्दरके शीशमहलों और स्फटिकमय भित्तियों और रत्न जटित, एवं मूल्यवान् अद्भुत प्रस्तरोंसे खचित फर्शोंको देख रामायणकी वर्णित राजलक्ष्मीके सभी विलास सत्यसे भासित होते हैं। आमेर-की ध्वस्तनगरीमें जब वह अलौकिक विलास है तब दिगन्तविजयी रावणकी लंका महापुरीमें क्या होगा, इसका अनुमान पाठक स्वयं कर सकते हैं।

कोट और परिखाके छोटे छोटे नमूनोंको देखनेके लिये अब भी भरतपुरकी खाई को देखा जा सकता है। कितनी विशाल खाई है और भरतपुरका दुर्ग स्वतः कितनी अधिक ऊँचाईपर बनाया गया है। पर्वतीय दृढ़ दुर्ग और कोटका नमूना कांगड़ेमें नगर कोटका किला है जो अब भंग्नावशेष रहकर भी अपनी दृढ़ताका परिचय दे रहा है।

पार्वतीय विशाल खाईका नमूना पठान कोटसे १२ मीलकी दूरीपर नूरपुरके किलेमें है । सारा किला एक बड़े घेरेमें है । चारों ओरके पर्वत स्वयं अद्भुत कृत्रिम रूपसे काट काटकर खाई बने हैं । उनको सहसा पार करके आना बहुत कठिन है ।

लंका महानगरी देखकर हनुमान जैसे महावीरका हृदयभी एकबार दहलही गया था । जिसपर उसने कह दिया

> आगत्यापीह हरयो भविष्यन्ति निरर्थकाः
> नहि युद्धेन वै शक्यं लंकांजेतुं सुरैरपि ।
> इमां तु विषमां लंकां दुर्गां रावणपालिताम्
> प्राप्यापिसुमहाबाहुः किंकरिष्यति राघवः ५।२।२५।२६ ।

'यहां वानरोंकी सेना आकर भी निरर्थक होगी । देवता भी इस दुर्ग समान लंका नगरीको नहीं जीत सकते । रावणकी रक्षामें इस लंकाके पास राम भी आकर क्या करेगा ।'

अन्तमें हम लंकाकी विशालता-सूचक एक और श्लोक लिखकर यह लेख समाप्त करते हैं ।

> वप्र-प्राकारजघनां विपुलाम्बुघनाम्बराम् ।
> शतघ्नीशूलकेशान्ता-मट्टालकवतंसकाम् ॥ ५।३।२१।

लंका एक साक्षात् महिला थी, विशाल कोटही मानों जिसकी जंघाएँ, बड़े २ बादल ही ऊपरका ओढ़ना था, कोटों और कंगूरोंपर लगी तोपोंकी लम्बी नालियां ही केश थे, और ऊँची २ सुन्दर अटारियां हीं आभूषण थे ।

जयदेव शर्म्मा ।

# संयुक्त प्रान्तका व्यापार।

भारतवर्ष एक देश नहीं महाद्वीप है और उसके अनेक भाग अनेक देशोंके समान हैं। विस्तारको देखते हुए भारतवर्षके प्रान्त यूरोपके अनेक देशोंसे बड़े हैं। जल-वायु तथा प्राकृतिक दशाओंका भेद तो इतना बड़ा है कि जितना यूरोपक देशोंमें भी नहीं है। अतएव भारतवर्षके भिन्न भिन्न प्रान्तोंकी उपजमें भेद है और पारस्परिक व्यापारके निमित्त अनेक वस्तुएँ हैं। भारतवर्षके भीतरी व्यापार की उन्नति एक महत्वपूर्ण विषय है। बहुधा हम भारतवर्षके अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विदेशी व्यापारका अध्ययन करते हैं, उसपर विचार करके अनेक प्रकारके नतीजे भी निकालते हैं, परन्तु देशके भीतरी व्यापारकी ओर बहुत कम ध्यान हमें है। अन्य देशोंके साथ देशके व्यापारकी उन्नतिके समान ही देशके भीतरी व्यापारकी उन्नतिकी आवश्यकता है। युद्धके पहले अन्य देशोंके साथ भारतके व्यापार—आनेवाले माल और जानेवाले माल—की कीमत पांच वर्षका औसत लगाकर ३७० करोड़ रुपये होती थी। संवत् १९७० में यह व्यापार ४४० करोड़ रुपयेकी लागतका था, और लड़ाईके प्रारंभमें घटकर फिर उसी कीमतका होने लग गया था। इसके मुकाबलेमें उस भीतरी व्यापारकी तुलना कीजिये जो देशके प्रान्तोंके बीचमें और रियासतोंके बीचमें रेल और नदियोंके द्वारा होता है। संवत् १९७० में यह भीतरी व्यापार ८ अरब ६४ करोड़ रुपयोंका था और लड़ाईके समयमें, माल भेजनेमें अनेक प्रकारकी रुकावटें रहनेके कारण, यह घट गया, किन्तु संवत् १९७४ में इसकी कीमत १० अरब ६५ करोड़के लगभग कूती जाती थी। अवश्य ही इतने बड़े व्यापारके अध्ययनसे देशकी आर्थिक उन्नतिके लिए विचार निश्चित किये जा सकते हैं। इस प्रबन्धमें हम केवल युक्त प्रान्तके व्यापारकी ओर दृष्टि डालेंगे।

भारतवर्ष की फसलका प्रभाव विदेशी व्यापारकी गति पर भी बहुत पड़ता है। परन्तु प्रान्तीय व्यापार पर वर्षा और फसलका तो सोलहों आने असर पड़ता है, क्योंकि वर्षा आदिकी एकसी दशा हमारे देशमें नहीं होती। परन्तु एक प्रान्तमें बहुधा एक ही सी होती है। यदि युक्त प्रान्तमें किसी वर्ष फसल खराब हो गयी तो उस वर्ष अन्य प्रान्तोंको यहांके मालकी रफ्तनी ( Exports ) कम हो जायगी और बाहरसे सूबेके अन्दर आयात ( Imports ) बढ़ जायगा। इसलिए किसी एक वर्षके लेखेसे प्रान्तिक व्यापारका अनुमान करना कठिन है। संवत् १९७५ में युक्त प्रान्तके व्यापार—आने जाने वाले माल—की मिकदार पिछले चार वर्षोंसे अधिक थी, परन्तु लगभग उतनी ही थी जितनी लड़ाईके पहिले वर्ष अर्थात् संवत् १९७०-७१ में थी। युक्त प्रान्तके व्यापारका ब्योरा इस भांति है।

| रेल द्वारा व्यापार | | लाख मनके अंक | |
|---|---|---|---|
| | १९७४ | १९७५ | १९७६ |
| आने वाला माल | ७२१ | ६२१ | ७३० |

| जाने वाला माल | ५६३ | ६६१ | ६१० |
|---|---|---|---|
| योग | १२८४ | १२८२ | १३४१ |

नदी द्वारा व्यापार कलकत्तेकी ओरसे

| आयात | १,८२ हज़ार मन | मूल्य १२० लाख रु० |
|---|---|---|
| निर्यात | ७० हज़ार मन | ,, १४ लाख रु० |

यह लेखा युक्त प्रांतके अन्तर्प्रान्तीय व्यापार अर्थात् अन्य सूबोंके साथ व्यापारका है। यह भारतवर्षके भीतरी व्यापारका एक भाग है। यह व्यापार जैसा ऊपर बताया गया है, कई अरब रुपयोंकी लागतका है। अब नीचेकी सूचीमें मूल्यके साथ वज़न भी दिया जाता है।

आयात और निर्यातका जोड़

| संवत् | वज़न (हज़ार मन) | मूल्य (लाख रुपयोंमें) |
|---|---|---|
| १६६५ | १३०८७२० | ६,७०,६० |
| १६७० | १८६००५६ | ८,६४,०६ |
| १६७३ | १८६३४७२ | ६,६५,४२ |
| १६७४ | १८८४०३६ | १०,६५,६१ |

युक्त-प्रान्तके व्यापारके अंक मनोंमें दिये हैं। एक टन लगभग २८ मनका होता है यह स्मरण रखके यदि हम युक्त प्रान्तके व्यापारका मुकाबला भारतवर्षके भीतरी व्यापार (अर्थात् प्रान्तों, देशी रियासतों और बन्दरगाहोंमें आने जानेवाले माल) से करते हैं तो मालूम होता है कि वज़नमें युक्त प्रान्तका व्यापार पंद्रहवां भागमात्र है। संयुक्त प्रान्तका व्यापार मुख्यकर किन २ वस्तुओंमें होता है अब हमें इस बातपर दृष्टि डालनी है। आनेवाले मालकी सूची इस भांति है।

दस हज़ार मनके अंक

| | |
|---|---|
| कोयला | ३,३१६ |
| रुईका माल | ११६ |
| अनाज और दाल | १४६७ |
| धातुएँ | १०० |
| मिट्टीका तेल | १३६ |
| तिलहन | १४३ |
| नमक | ६६८ |
| शक्कर | २६३ |
| ऊन | १२ |

इस सूबेसे जानेवाले मालके लेखेमें भिन्न २ वर्षोंमें बहुत अन्तर पड़ जाता है। नीचे तीन वर्षोंके लिए अंक दिये जाते हैं जिनसे अनुमान हो सकता है कि किस मात्राका कितना निर्यात यहांसे होता है।

# संयुक्त प्रान्तका व्यापार।

दश हज़ार मनके अंक

| | १९१६-१७ | १९१७-१८ | १९१८-१९ |
|---|---|---|---|
| रूई कच्ची | १२१ | ६७१ | ४३ |
| चारा | २२३ | ३४५ | ३५६ |
| अनाज और दाल | २१४५ | ३४९४ | २६३७ |
| चमड़ा और खाल | ७२ | ५१ | ४४ |
| खनिज पदार्थ | १४४ | २२६ | ३०४ |
| तेलहन | १०२८ | ५०८ | ६०९ |
| रेलका सामान | १५५ | २०१ | १३६ |
| शक्कर | ६३४ | ५४३ | ८२७ |
| चाय (देशी) | ३ | ३ | २ |
| लकड़ी | १८७ | २१६ | २९७ |

ऊपरकी सूचीसे बहुतसी बहुमूल्य बातें मालूम होती हैं। कोयला, मिट्टीका तेल और नमक ऐसी वस्तुएं हैं जो इस प्रान्तमें पैदा ही नहीं होतीं। अतएव आनेवाली वस्तुओंमें उनका मुख्य होना स्वाभाविक ही है। मिट्टीका तेल भारतवर्षके सब प्रान्तोंमें, सिवाय ब्रह्मादेशके, बाहरसे ही आता है। इसका सबसे अधिक प्रचार बंगाल प्रान्त और बिहार-उड़ीसा प्रान्तमें है। मद्रास प्रान्त और बम्बई प्रान्तमें भी इसका खर्च हमारे प्रान्तसे अधिक होता है। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि हमारे प्रान्तमें तेलहनकी उपज बहुत अधिक है और देशी कोल्हुओं द्वारा तेल पेरनेका व्यवसाय यहां अब भी चल रहा है। तेलहनकी उपज पञ्जाब और मध्य प्रान्तमें भी अच्छी है। यहां भी तेल पेरनेका उद्योग जीवितावस्थामें है।

युक्तप्रान्तमें अनाजकी पैदावार बहुत है। यह प्रान्त गेहूं, जौ, जुवार, चना तथा अरहरके प्रमुख उत्पादक प्रान्तोंमेंसे है। इसलिए यहांसे बाहर जाने वाली वस्तुओंमें अनाज और दाल सबसे मुख्य हैं। दूसरा स्थान तेलहनका है। वजनमें तेलहनके बराबर ही शक्कर (जिसमें गुड़भी सम्मिलित है) का निर्यात होता है। सारे भारतवर्षमें, लगभग २३ लाख एकडमें गन्नेकी कृषि होती है। जिसमें केवल युक्तप्रान्तमें १२ लाख एकड़में गन्नेकी कृषि हुई [ युद्धके पूर्वके अंक ]। अर्थात् गन्नेकी सारी खेतीका अर्द्धांश संयुक्त प्रान्तमें है। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि दक्षिणी प्रान्तोंमें फी एकड़ पैदावार यहांसे बहुत अधिक है। संवत् १९७५की गन्नेकी पैदावार इस प्रान्तमें अच्छी थी और उस वर्ष यहांसे शक्करका निर्यात पिछले वर्षोंसे बढ़ा चढ़ा था। उसके पश्चात् शक्करके उद्योगकी और भी अधिक उन्नति हुई है। संवत् १९७५के निर्यातमें ४७ लाख मन गुड़ और राब, २७ लाख मन कच्ची शक्कर और ६ लाख मनके लगभग बारीक चीनी थी। इसी वर्ष इस प्रान्तमें २६ लाख मन खांड़ आयी जिसमें कुछ गुड़ राब, कुछ कच्ची शक्कर और अधिकांश बारीक चीनी

थी। इससे स्पष्ट है कि इसको प्रस्तुत करनेके लिए उद्योगकी उन्नति करनेका इस प्रान्तमें बड़ा अवकाश है।

युक्तप्रान्तसे गल्ला जाता भी है और यहां आता भी है। परन्तु आता आधेसे भी कम है। यही स्थिति प्रत्येक प्रान्तकी समझिये। केवल उन प्रान्तोंकी स्थिति विभिन्न है जिनमेंसे होकर गल्ला विदेशोंको भेजा जाता है। इनमें सबसे अव्वल नम्बर बम्बई प्रान्तको समझिये। यहां बम्बई और किराची दो वन्दरगाहोंसे अनन्त अन्नराशि विदेशोंको लदती है। संवत् १९७४ में भारतवर्षके सब बन्दरगाहोंमें चीजें किस राशिमें पहुंचीं और उसमें इस प्रान्तसे कितनी गयीं यह नीचेके अंकोंसे स्पष्ट हो जायगा—

| | | |
|---|---|---|
| चना अरहर इत्यादि दाल | ८७४ हज़ार टन | |
| युक्तप्रान्तसे | २७२ | ,, |
| पञ्जाबसे | २९० | ,, |
| अलसी | १५४ | ,, |
| युक्त प्रान्तसे | ५० | ,, |
| बिहार और उडीसा | ४८ | ,, |
| सरसों लाही | १२५ | ,, |
| युक्त प्रान्तसे | ४७ | ,, |
| पञ्जाब से | ३१ | ,, |

अर्थात् दाल, अलसी और सरसों लाही आदिकी जितनी राशि बन्दरगाहोंमें जाती है उसका लगभग तृतीयांश इस प्रान्तसे जाता है।

युक्तप्रान्तकी आयात और निर्यातकी वस्तुओंपर दृष्टि डालनेसे यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि हमारा प्रान्त उद्योग धन्धोंमें बहुत पिछड़ा हुआ है। यहांसे बाहर जानेवाले मालमें अधिकांश कच्चा बाना है। खांड़के विषयमें भी दिखाया जा चुका है कि अधिकांश गुड़ राब इत्यादि अधूरी तय्यारीका ही माल है। यहांसे कच्ची रूई जाती है और रूईका बना हुआ माल आता है। कच्ची रूईकी अपेक्षा कहीं अधिक वजनका सूती माल आता है। उनके मूल्यमें कितना बड़ा अन्तर होता है कहनेकी आवश्यकता नहीं।

अब युक्तप्रांतको दश हिस्सोंमें विभाजित करके सरकारी लेखेमें यह हिसाब लगाया जाता है कि इन भागोंमेंसे किसमें कितना माल गया और किससे कितना आया और एक दूसरेमें किससे कितना व्यापार हुआ। यह लेखा इकट्ठा करनेमें बहुत परिश्रम करना पड़ता है और इसपर ध्यानपूर्वक विचार करनेसे व्यापारिक उन्नतिके लिए लाभदायक अनेक बातें भी मालूम हो सकती हैं। अन्य प्रान्तोंके साथ इसका व्यापार संवत् १९७५ में १३४० लाख मन वजनका था और प्रान्तके भीतर ३८२ लाख मनका। इन दश भागों-में कानपुर शहर स्वयं एक भाग है। हमारे प्रान्तभरमें कानपुर शहर सबसे बड़ा व्यापारिक केंद्र है। इसमें एक विशेषता यह भी है कि यहांसे जो माल बाहर जाता है उसमें पक्का

बाना भी है। अन्य भागोंसे जानेवाले मालमें प्राय: कच्चा मालही है। कानपुरके व्यापारकी कुछ चीज़ोंपर हम यहाँ दृष्टि डालते हैं।

निर्यातकी चीजें संवत् १९७५में (सहस्रमन)

| | कुल प्रान्तसे | कानपुरसे | |
|---|---|---|---|
| खली | २७२ | १९६ | |
| दाल | ७०२७ | ८८८ | |
| गेहूंका आटा | १००८ | ५२३ | मध्य दोआब दूसरा मुख्य भाग है। यहांसे १५४ हज़ार मन जाता है। आटा मुख्यकर बम्बईको जाता है। |
| पशुओंकी खाल | ३२४ | १६१ | |
| कच्चा चमडा | ५६ | ४१ | अधिकांश कलकत्तेको गया। |
| लोहा बना और वे बना हुआ | १२२ | ५० | अधिकांश पंजाबको जाता है। |
| अण्डीका तेल | १०२ | ४० | अधिकांश पंजाबको जाता है। |
| लाही सरसों | ८७ | ६० | अधिकांश कलकत्ता और विहार प्रान्तको जाता है। |
| अन्य तेल | १२६ | ५६ | |

इसी के साथही साथ तेलहनोंके व्यापारका लेखा देखिये।

| | | |
|---|---|---|
| अंडी या अरंडी | ५०६ | गंगा जमुनाके दोआबमें अधिकांश उत्पन्न होती है। केवल मध्य दोआबसे १७१ हजार मन जाती है। बम्बई करांची और कलकत्तेके बंदरगाहोंको लदती है। |
| लाही सरसों | ७७० | |

अधिकांश बंगाल और बिहार प्रांतको जाती है। जितना तेल उस ओर जाता है उससे लगभग नौगुनी लाही सरसों लद जाती है। यह अवस्था बड़ी विचित्र है। यदि तेल बनाकर भेजनेमें परता पडता है तो कच्चा तेलहन भेजनेका एक मात्र कारण यह हो-सकता है कि तेलकी मिलें थोडी हैं। जहां दस मिलें काम कर सकती हैं वहां केवल एक काम कर रही है।

अंडीका तेल पंजाबको जाता है परन्तु अंडी कलकत्ते बंबईको। इसका क्या कारण है? केवल जलनेवाला रेंडीका तेल यहां पेरा जाता है। साबुन, औषध आदिमें जो तेल पडता है वह यहांसे न बनकर उसके लिए रेंडी ही विदेशोंको लाद दी जाती है।

इस प्रान्तसे संवत् १९७५ में अन्य प्रान्तोंको ३११ सहस्र मन घी गया इसका मूल्य लगभग २ करोड रुपयोंके हुआ। इसमेंसे सबसे अधिक भाग बम्बईको जाता है।

खाल और चमड़ेके अंक भी ध्यान देने योग्य हैं। जिस वर्षके अंकों पर हम विचार कर रहे हैं उस वर्ष पौने तीन करोड़की खालें बाहर गयीं। चमड़ा केवल ५३ लाखका गया जिसमें ३४ लाखका बिना बना हुआ था। गत प्रान्तीय औद्योगिक कांफ्रेंस मुरादाबादमें इस विषय पर ध्यान आकर्षित किया गया था कि इस सूबेसे जितनी खालें बाहर जाती हैं उतनी किसी सूबेसे नहीं जातीं। किसी २ सालमें हिन्दुस्तानके तमाम ( सम्पूर्ण निर्यात ) का एक तिहाईसे ज्यादह कच्चा चमड़ा केवल इस सूबेसे जाता है। इस प्रान्तमें चमड़ा और चमड़ेका सामान तय्यार करनेका काम मुख्यकर कानपुरमें होता है, परन्तु जितनी खालें और कच्चा चमड़ा बाहर जाता है उससे स्पष्ट है कि अन्य शहरोंमें भी इस उद्योगकी उन्नतिके लिए कितना अवकाश है।

इसी प्रकार प्रत्येक प्रान्तकी इन बातोंपर ( अर्थात् वहां किन चीजोंकी उपज है। उनमेंसे कितना माल बाहर जाता है और किन वस्तुओंकी मांग बाहरसे पूरी होती है ) ध्यान देनेपर यह ज्ञात होता है कि किस प्रान्तमें उद्योग और व्यापारकी उन्नतिका मौका है।

रामसरूपगुप्त
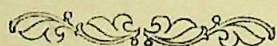
# श्रमजीवियोंका स्थानान्तर-गमन।

प्रायः देखनेमें आता है कि जहांकी जमीन अधिक उपजाऊ होती है या जहां नाना प्रकारके कल कारखाने या पेट भरनेके जरिये अधिकतासे रहते हैं, वहांकी जन-संख्या भी ज्यादा होती है। जहां इन बातोंका अभाव रहता है वहां आबादी भी नाम मात्रको रहती है। कलकत्ता, कानपुर, बम्बई, दिल्ली, इत्यादि स्थानोंमें व्यापार तथा उद्योग-धन्धोंकी अधिकताके कारण न जाने कहां कहांसे लोग आकर अपनी उदर-पूर्तिका सिलसिला जमाते हैं। इंग्लैण्ड इत्यादि देशोंकी बात जाने दीजिये, हमारे ही देशमें बीसों ऐसे नगर मिलेंगे जहांकी जन-संख्याका दशमांश या इससे भी अधिक उन लोगोंका होता है जो भिन्न भिन्न स्थानोंसे आकर वहां जा बसे हैं और किसी न किसी उपायका अवलम्बन कर अपना जीवन-निर्वाह कररहे हैं।

श्रमजीवियोंके स्थानान्तर-गमनका प्रधान कारण आर्थिक कष्ट ही है। जब घर रहकर पेट भरना कठिन हो जाता है, जब दिन भरकी कड़ी मेहनतके बाद भी पर्याप्त मजदूरी नहीं मिलती या जब ढूंढनेसे ठीक ठीक काम ही नहीं मिलता, तब लोगोंको विवश होकर "परदेशकी" राह लेनी पड़ती है। जब स्कूल-लीविंग पास बाबू साहब या उपाधि-धारी ग्रेजुएट महाशय अपने शहरकी सड़कोंकी धूल फांकते फांकते परेशान होजाते हैं, जब दो चार गौरांग साहबोंके चपरासियों इत्यादिकी खुशामदसे भी कोई नतीजा निकलते नहीं देखते तो बेचारे दूसरे जिलों या प्रान्तोंकी दौड़ लगानेके लिये तैयार होजाते हैं।

आर्थिक कठिनाइयोंके अतिरिक्त अन्य कई कारणोंसे भी लोग अपना गांव या शहर छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं। यदि जमीन्दार साहब या गांवके किसी मुख्य मनुष्यसे झगड़ा हो जाय या पड़ोसीसे शत्रुता हो जाय तो ऐसी अवस्थामें जीवन असह्य और कष्टप्रद होनेके कारण कभी कभी वह स्थान छोड़ देना पड़ता है। उसी प्रकार यदि किसी दुष्कर्मके कारण गांवमें बदनामी हो जाय, समाजके लोग हुक्का-पानी बन्द कर दें और घृणाकी दृष्टिसे देखने लगें तो मनुष्यको विवश होकर अपनी जन्मभूमिका परित्याग करना पड़ता है।

इस प्रकार स्थानान्तर-गमनके कारण प्रधानतः दो वर्गोंमें बांटे जा सकते हैं—एक तो आर्थिक कारण दूसरे सामाजिक कारण* किन्तु प्रायः देखा जाता है कि श्रमजीवियों

---

* कहीं कहीं राजनीतिक कारणोंसे भी लोग स्वदेश छोड़नेके लिये बाध्य होते हैं। आयर्लैण्डके लाखों मनुष्य अमरीका इत्यादि देशोंमें जा बसे हैं। इनके परदेश-गमनका प्रधान कारण तो आर्थिक कष्ट एवं जमीन्दारोंकी ज्यादती है, परन्तु कमसे कम आंशिकरूपमें राजनीतिक कारण भी उसमें घुसा हुआ है। यदि किसी राज्यमें जान-मालकी समुचित रक्षा न होती हो, यदि राजा दुराचारी हो, एवं यदि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा व्यापार-वाणिज्यमें अनेक बाधाएं हों तो लोग विवश होकर वह स्थान छोड़ देते हैं। भारतके इतिहासमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं, किन्तु अब उनकी संख्या बहुत कम हो गयी है।—लेखक

के प्रवासका कारण बहुधा आर्थिक कष्ट ही हुआ करता है। सामाजिक असुविधाओंकी प्रेरणासे बाहर जानेवाले श्रमजीवियोंकी संख्या बहुत कम रहती है। जो लोग "परदेश" जाते हैं वे प्राय: लोकापवादसे अपना परित्राण करनेके उद्देशसे ही जाते हैं, जीविकाके उपार्जन की इच्छासे नहीं।

जो लोग एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाते हैं, उनमेंसे बहुतेरे वर्ष, दो वर्षमें या कुछ अधिक समयमें फिर अपने घर लौट आते हैं। कुछ ऐसे भी रहते हैं जो सदाके लिये अपना पुराना निवास-स्थान त्यागकर दूसरे गांव या नगरमें जा बसते हैं। इस प्रकार थोड़े समयके प्रवास तथा सदाके लिये अन्यत्र जा बसनेके लिहाज़से स्थानान्तर-गमनके दो स्वरूप माने जा सकते हैं—स्थायी और अस्थायी। आयर्लैण्ड, ग्रेट ब्रिटेन, तथा यूरोप के अन्य कई देशोंमें स्थायी देशान्तर-वासके हजारों, लाखों उदाहरण पाये जाते है। पर भारतमें अल्पकालीन प्रवास ही अधिक देखनेमें आता है। जिस समय यहां रेलोंका विस्तार नहीं हुआ था, उस समय एक तो लोग इतनी अधिकतासे स्थान-परिवर्त्तन करते ही न थे, और यदि करते थे, तो उनमेंसे प्राय: अधिकांश हमेशाके लिये या चिरकालके लिये दूसरे स्थानमें जा बसते थे और वहीं अपना घर-द्वार, खेतीवारीका सिलसिला लगा लेते थे। तात्पर्य यह है कि उन दिनोंमें आजकलकी अपेक्षा अस्थायी प्रवाससे स्थायी प्रवास ही साधारणतया अधिक देखनेमें आता था। किन्तु अब रेलोंके प्रसारके कारण परिस्थिति बदल गयी है।

स्थानान्तर-गमनकी मात्रा भिन्न भिन्न देशों और भिन्न भिन्न समयमें घटती बढ़ती रहती है। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, यूरोपके कई देशोंकी अपेक्षा भारतमें इसका विस्तार बहुत कम है। यहाँके श्रमजीवी प्राय: आधा पेट भोजन करके, भीख मांगकर और कभी कभी दिन भरकी लंघन सहकर भी घर नहीं छोड़ते। परदेशमें जानेकी उन्हें हिम्मत ही नहीं होती।

सुकालकी अपेक्षा दुष्कालके समय स्थानान्तरगमनकी मात्रा बढ़ जाती है, किन्तु अच्छा समय हो जानेपर वह फिर घट जाती है। इसके सिवाय दुष्कालके समय जो लोग बाहर चले जाते हैं वे भी स्थायीरूपसे नहीं, किन्तु प्राय: अस्थायी रूपसे ही जाते हैं। सुकालमें वे फिर लौट आते हैं।

जिस प्रकार देश और कालकी विभिन्नताके अनुसार स्थानान्तर-गमनकी मात्रामें घटी-बढ़ी होती है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न जातियों तथा जुदी जुदी वृत्तियोंके लोगोंमें भी वह भिन्न भिन्न अंशमें पाया जाता है। मध्यप्रान्तके छत्तीसगढ़ विभागके तथा बस्तर राज्यके कोल, भील इत्यादि लोगोंमें स्थान-परिवर्त्तनकी प्रवृत्ति कम देखनेमें आती है। किन्तु मारवाड़ियोंमें यह प्रवृत्ति अधिक मात्रामें वर्त्तमान है। उसी प्रकार किसानोंकी अपेक्षा नाई, धोबी, बढ़ई, सुनार इत्यादि अधिक भ्रमणशील और प्रवास-प्रेमी होते हैं।

# श्रमजीवियोंका स्थानान्तर-गमन ।

किसानोंका स्थानान्तर-निवास करनेमें पीछे हटनेका एक कारण भी है। यदि कोई किसान आर्थिक कष्टके कारण दूसरे गांवमें, जहांकी ज़मीन अधिक उपजाऊ हो, जाकर रहना चाहे तो उसे अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा। किसान अपनी खेतीके कारण इस प्रकार जमेसे रहते हैं कि उन्हें अन्यत्र उठजानेमें बड़ी असुविधाएँ होती हैं। गाय-बैल, हल इत्यादि न जाने कितनी सामग्री उनके पास जुट जाया करती है, जिसे एक स्थानसे हटा कर दूसरे स्थानको ले जाना कोई ऐसा वैसा काम नहीं है। फिर केवल ले जानेसे ही छुटकारा नहीं मिल जाता। उनके रहने तथा सुरक्षित रखनेके निमित्त स्थान इत्यादिका प्रबन्ध करना पड़ता है। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि वह नयी ज़मीनके वास्तविक स्वरूपसे और नूतन स्थानके जल पवनसे अपरिचित रहता है। दो चार वर्ष उसे अपनी नयी परिस्थितिका पर्याप्त अनुभव प्राप्त करनेमेंही लग जाते हैं। मान लो कोई किसान पहिले अपने गांवमें रहकर गेहूंकी खेती करता था। अब वह अपना पुराना घर छोड़ कर किसी औरही गांवमें जाकर रहना चाहता है। भाग्यवश यहांकी ज़मीनमें गेहूँकी पैदावार अच्छी नहीं होती। चावलकी ही उपज होती है। अब चावलकी खेतीके लिये उसे नये अनुभवकी आवश्यकता होगी। उसका पुराना अनुभव यहां काम न देगा। यही कारण है कि कृषक-जनता प्रायः एक ही स्थानमें स्थिररूपसे निवास करना पसन्द करती है। स्थानपरिवर्तन उसे भला नहीं लगता। भारतके ही कृषकोंकी यह प्रवृत्ति हो, ऐसी बात नहीं है। संसारके प्रायः सभी देशोंके किसानोंमें यह विशेषता पायी जाती है। हां, यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारतमें वह अधिक स्पष्टरूपमें दृष्टिगोचर होती है।

किसानोंको अपना निवास-स्थान बदलनेमें जितनी कठिनाइयां होती हैं, उतनी सुनार, लुहार इत्यादि पेशेवालोंको नहीं होतीं। वे जब चाहें तभी अपनी दूकान बन्द करके अपने औजारोंको इकट्ठा कर किसी दूसरे गांव या शहरमें जाकर शीघ्र अपना सिलसिला जमा सकते हैं। हम बहुधा देखा करते हैं कि गांवोंसे प्रतिवर्ष न जाने कितने बढ़ई, सुनार नाई इत्यादि शहरोंमें आ बसते हैं। इनमेंसे बहुतेरे ऐसे भी होते हैं जिनके विषयमें हम कह सकते हैं कि वे "आधे इस गांवमें और आधे उस गांवमें" रहते हैं, अथवा कुछ समय अपने गांवमें और कुछ समय शहरमें रहते हैं।

लेखकों, मुहर्रिरों, वकीलों इत्यादिको भी स्थान-परिवर्त्तनमें विशेष कठिनाई नहीं होती। हां, नये स्थानमें इस बातकी आशंका अवश्य रहती है कि वहां उनके पैर जमें या न जमें अथवा चिरकालके बाद जमें। यही कारण है कि अन्य पढ़े लिखे मनुष्योंकी अपेक्षा वकील, डाक्टर इत्यादि इतनी अधिकतासे स्थान परिवर्त्तन नहीं करते।

चिरकालसे एक ही स्थानमें जमे हुए व्यापारीको भी सहसा अन्यत्र जानेमें असुविधाओंका सामना करना पड़ता है। फिर भी आज कल रेल इत्यादिके कारण आवागमनकी अधिक सहूलियत हो जानेसे स्थानान्तर-गमनकी मात्रा पहिलेसे बहुत बढ़ गयी है।

किन्तु यह तो स्पष्ट है कि अन्य देशोंकी तुलनामें भारतमें यह प्रवृत्ति, कमसे कम गांवोंमें बहुत कम देखनेमें आती है। इसके कई कारण भी हैं।

परदेश जानेमें प्रधानतः दो बाधाएं रहती हैं—एक तो आवागमनकी कठिनाइयां और दूसरे अन्य स्थानोंका भौगोलिक अज्ञान। हमारे देशमें पहिले प्रकारकी कठिनाइयां तो प्रायः अब नहीं रहीं, हां लोगोंमें अज्ञान अब भी बहुत फैला हुआ है। फिर भी समाचारपत्रों तथा लोगोंके गमनागमन तथा पत्र-व्यवहारसे जनताके भौगोलिक ज्ञानकी काफी वृद्धि हो रही है। जहां कोई नया कारखाना खुलता है, और जहां अधिक मजूरी मिलती है, लोगोंको शीघ्र उसकी खबर लग जाती है और दूर दूरके हजारों लोग वहां पहुंच जाते हैं। यदि किसी दफ्तरमें क्लर्ककी जगह, या किसी स्कूलमें मास्टरीका पद खाली हुआ कि विना विज्ञापन दिये लोगोंको उसका पता चल जाता है और थोड़ेही समयमें पचासों आवेदनपत्र उस स्थानके लिये आ टपकते हैं।

यह तो हम ऊपर कह ही चुके हैं कि स्थानान्तर—गमनकी प्रवृत्ति किसानोंमें बहुत कम पायी जाती है। भारतकी जनताका अधिकांश भाग किसान ही हैं। अतः उनकी इस "परदेश"–गमन–विषयक शिथिलताका प्रभाव अन्य लोगोंपर भी पड़ता है। यदि बहुत कष्टमें रहनेके कारण कोई मनुष्य बाहर जानेका प्रयत्न भी करता है तो गांवके बूढ़े–सयाने उसे ऐसा करनेसे रोकते हैं और कहते हैं "अरे बचवा, परदेशमें जाकर क्या करेगा? जो कुछ रूखी–सूखी मिले उसीसे सन्तोष कर और यहीं रह। जमाना टेढ़ा है।" कोई कहता है "लोभमें न पड़ो। घरमें आधा पेट खाकर रहना अच्छा, पर परदेश जाना अच्छा नहीं। हम भी खूब घूम चुके हैं (संभव है जिला कचहरी या ज्यादासे ज्यादा जगन्नाथजीके सिवाय और कहीं न गये हों!)। परदेशमें बड़ी तकलीफ होती है। इसीसे तो हमारे सयाने कह गये हैं कि 'परदेश कलेश नरेशनको।' इस प्रकार परदेशकी तकलीफोंका होआ हमारे ग्रामीण भाइयोंको इतना डरा देता है कि वे बाहर जानेका विचार त्याग देते हैं और भूख सहते सहते तथा कष्टोंसे पिसकर असमय ही काल–कवलित तक हो जाते हैं।

किन्तु परदेशकी तकलीफोंकी बात बिलकुल मिथ्या हो, यह कथा भी नहीं है। जहांके लोगोंसे जानपहिचान न हो, जहां अपना कोई संगी—साथी न हो; वहाँ किस बातकी तकलीफ नहीं होती? अपने गांवकी अपेक्षा 'परदेश' में खर्च प्रायः दूना हो जाता है। इस कारण अधिक पारिश्रमिक पाकर भी घरकी अपेक्षा न तो अधिक सुखसे ही रह सकते हैं और न कोई अच्छी रकम बचाकर ही रख सकते हैं। फिर परदेशमें कुटुम्बके सभी लोगोंको तो काम मिलता नहीं, अतः कोई अपना पूरा कुटुम्ब और कोई आधा ही पीछे छोड़ जाता है। भारतीयोंका स्वभाव अपने कुटुम्बियोंके साथ सम्मिलित होकर रहनेका है। अतः उन्हें यह कुटुम्ब-विच्छेद भला नहीं लगता। किन्तु पेटकी ज्वालाके कारण विवश होकर बाहर जाना पड़ता है। इस स्थितिमें अपनी तथा अपने कुटुम्बकी तृप्तिके लिये उन्हें

बार बार थोड़े समयके लिये घर आना पड़ता है। इस प्रकार बीसों रुपये रेल-किराये इत्यादिमें फुंक जाते हैं।

फिर भी अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंके अनुसार धन और श्रमके समान-वितरणके लिये स्थानान्तर-गमनकी बड़ी आवश्यकता है। अतः परदेशके क्लेशोंकी विशेष चिन्ता न कर आवश्यकता होनेपर कुछ मनुष्योंको तुरन्त बाहर चले जाना चाहिये। आज भी हमारे देशमें ऐसे कई स्थान हैं जहां श्रमजीवियोंकी बड़ी आवश्यकता है। साधारणसे दूनी मज़दूरी देने पर भी मज़दूर ढूंढे नहीं मिलते। इनकी अपेक्षा उन स्थानोंकी संख्या तो और भी ज्यादा है, जहां इतनी अधिकतासे मज़दूर पाये जाते हैं कि उनके लिये काफ़ी काम ही नहीं मिलता। मिलता भी है तो मज़दूरी कम मिलती है और पेट भरनेके लाले पड़ते हैं। एक स्थानमें कामकी अधिकता, किन्तु मजदूरोंकी कमी है; और दूसरेमें कामकी कमी, पर मज़दूरोंकी अधिकता है। "कहीं खूब-खूबी और कहीं हाय हाय" की यह परिस्थिति स्थानान्तर-गमनसे ही सुधर सकती है, अस्तु।

हम पहिले कह चुके हैं कि लोग आधे पेट रहकर या भीख मांगकर गुजर कर लेते हैं, पर बाहर नहीं जाना चाहते। बात यह है कि अपने गांवमें आर्थिक कठिनाइयां सहकर भी लोग तबतक बाहर नहीं जाना चाहते जबतक ऐसा करनेके निमित्त उनके सामने कोई विशेष प्रलोभन या आकर्षण न हो। पहिले तो उन्हें वहां अधिक मज़दूरी या वेतन मिलनेकी आशा होनी चाहिये। वहांकी जल-वायु खराब न होनी चाहिये। पहिचानके दो एक मनुष्य भी होने चाहियें, अथवा साथमें जानेवाला एकाध मनुष्य और होना चाहिये। यदि इन बातोंका सुपास हो गया तो बाहर जानेका तारतम्य शीघ्र लग जाता है। यदि इस प्रकार गांवके दो मनुष्य भी बाहर जाकर रहने लगें तो उनकी देखा-देखी तथा उनके भरोसे अनेकों मनुष्य प्रवासमें रहनेके लिये निकल पड़ेंगे। इनमेंसे कुछ तो "परदेश" में ही रहने लगेंगे और कुछ समय समय पर अपने गांवको आते जाते रहेंगे। १५,२० वर्ष पहिले मध्यप्रान्तके छत्तीसगढ़ डिवीज़नके बहुत कम लोग 'परदेश' में जा बसनेको तैयार होते थे। किन्तु अब दो चार मनुष्योंकी देखा-देखी हज़ारों श्रमजीवी बाहर निकल पड़े हैं। नागपुरके पुतलीघरमें ऐसे हज़ारों मनुष्य काम करते हैं जिनका असली घर संयुक्त प्रान्त, बुन्देलखण्ड, छत्तीसगढ़ इत्यादिके ज़िलोंमें है। उसी प्रकार कलकत्ता, बम्बई, कानपुर इत्यादिमें न जाने कहां कहांके श्रमजीवी इकट्ठे हो गये हैं। संयुक्त प्रान्त तथा मध्यप्रान्तमें हज़ारों बंगाली स्थायीरूपसे निवास करने लगे हैं।

एक ज़िलेसे दूसरे ज़िलेको जानेवालोंकी अपेक्षा, एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तको जानेवालोंकी संख्या कम है। हिन्दुस्थानके बाहर जानेवालोंकी संख्या तो और भी कम है। एक तो फिजी, आफ्रिका, ब्रिटिश ग्वाइना इत्यादि स्थान इतनी दूर हैं कि जिसका विचार करनेसे ही तबियत घबरा जाती है, दूसरे वहांके अत्याचारोंकी खबर पाकर लोगोंको देशके बाहर जानेका साहस नहीं होता। यदि उक्त स्थानोंमें भारतीयोंके साथ वैसा ही बर्त्ताव

किया जाय जैसा गौरांग जातियोंके साथ होता है तो विशाल समुद्रोंको लांघ कर भी न जाने कितने भारतवासी वहां सदाके लिये जा बसें। किन्तु जबतक भारतीयोंको अपनी मर्यादाकी रक्षा करनेकी शक्ति प्राप्त नहीं होती तबतक स्वेच्छायुक्त-देशान्तर-गमनमें वृद्धि होना असंभव ही प्रतीत होता है।

मुकुन्दीलाल।

# प्रथम अध्याय ।

# संसारके व्यवसायका इतिहास ।

## इटली-निवासी ।

यूरोपमें सभ्यताके पुनरभ्युत्थानके समय वाणिज्य और व्यवसायकी दृष्टिसे इटलीकी अवस्था अन्य देशोंकी अपेक्षा अधिक अनुकूल थी । तबतक भी रोमकी[1] प्राचीन उन्नति और शिष्टता निर्मूल नहीं हुई थी । कृषिकौशल न रहनेपर भी उर्वरा भूमि तथा रम्य प्रकृतिके कारण असंख्य प्रजाके लिये भरपूर अन्न हो जाता था । रोमकी प्राचीन मुनिसिपलिटी ( नगर-शासन ) की तरह उसके कला-कौशल तथा व्यवसायपर भी बहुत थोड़ा आघात पहुंचा था । उस देशभरमें समुद्र तटपर धीवर[२]-कर्म करके कितनेही लोग बड़ा लाभ उठाते थे और यही करते करते उन्हें मल्लाहीकी भी शिक्षा मिल जाती थी । इटलीके किनारे किनारे जहाजों द्वारा इतना वाणिज्य होता था कि स्थलपर आने जानेके साधकोंके अभावका पर्याप्त प्रतिकार हो जाता था । एशिया कोचक[२क] ( एशिया माइनर ) मिश्र[२ख] और यूनान[३]के पड़ोस तथा उनसे जलद्वारा सम्बन्ध रखनेके कारण इटली-को पूर्वीय देशोंके साथ वाणिज्य करनेकी विशेष सुविधा थी । पहले भी उत्तरीय देशोंमें रूसके मार्गसे थोड़ा बहुत वाणिज्य होता रहा । इसी वाणिज्यके सम्बन्ध द्वारा इटलीको उन सब विज्ञान तथा कलाओंको सीखनेका अवसर मिला जिन्हें यूनानवाले प्राचीन कालकी सभ्यताके समयसे जानते आये थे ।

जिस समय ओथो[४]ने इटलीके नगरोंका पुनरभ्युत्थान किया उसीकालसे उन्होंने इस बातकी पुष्टि की है कि व्यवसाय और स्वतन्त्रताका समवाय सम्बन्ध है चाहे कभी कभी एक दूसरेके पहले ही क्यों न उत्पन्न हो जाय । इस बातका प्रमाण प्राचीन तथा आधुनिक इतिहास दोनोंमें मिलता है । यदि कहीं वाणिज्य और व्यवसायकी उन्नति है तो निश्चय रखिये कि वहांसे स्वतंत्रता दूर नहीं है । यदि कहीं स्वतन्त्रताका आगमन हो गया है तो व्यवसायका फूलना फलना भी निश्चित ही है, क्योंकि यह स्वाभाविक बात है कि जब कभी मनुष्य मानसिक या भौतिक उन्नतिको प्राप्त कर लेता है तो उसका ध्यान उन साधनोंके सुदृढ़ सम्पादनकी ओर जाता है जिनके द्वारा उनको वह अपने उत्तराधिकारियों तक पहुंचा सके अथवा जब मनुष्यको स्वतन्त्रता मिल जाती है तो वह अपनी सब शक्ति दैहिक तथा मानसिक उन्नतिमें लगा देता है ।

पूर्वकालमें स्वतन्त्र राष्ट्रोंके पतनके अनन्तर इटलीहीके नगर ऐसे थे जिनमें सबसे पहले स्वतन्त्रता तथा ऐश्वर्यवान नागरिकोंका दर्शन हो सकता था । नगर और राज्यभूमि दोनोंहीने उन्नतिका आलिंगन किया और धर्मयुद्धों[५] द्वारा उनको बराबर उत्तेजना मिलती गयी । धर्मयोद्धाओंके माल तथा युद्धसामग्रीको भेजनेमें इटलीकी केवल समुद्रयात्राकी ही उन्नति नहीं हुई परन्तु उससे इटलीवासियोंको पूर्वीयोंके साथ व्यवसाय सम्बन्ध स्थापन

करने नये व्यवसायों तथा अनुभवोंका परिचय पाने, एवं आविष्कार तथा यन्त्र-निर्माणादिका अवसर और उत्साह प्राप्त हुआ। उसीके कारण जमीदारोंकी क्रूरताकी अनेक प्रकारसे घटती और नगरोंकी स्वतन्त्रता तथा कृषिकी दिनों दिन बढ़ती होती गयी।

वेनिस[५क] और जिनोआके[५ख] अनन्तर शिल्प तथा विनिमयमें[६] फ्लोरेन्सको[६क] प्रधानता मिली थी। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दीमें ही इस नगरका ऊन और रेशमका व्यवसाय बढ़ा चढ़ा था। वहांके राज-काजमें वणिक्समाजका भी हाथ था और उसीके प्रभावसे प्रजातन्त्र[७]राज्यका संघटन हुआ। वहां केवल ऊनकी ही २०० शिल्पशालाएँ थीं, जिनमें प्रतिवर्ष ८०००० थान तैयार होते थे, किन्तु ऊन स्पेनसे आता था। इसके अतिरिक्त ३००००० † गल्डनका कपडा प्रति वर्ष स्पेन, फ्रांस, बेलजियम और जरमनीसे आता था जो तय्यार करके लेवान्ट भूमध्यसागरका पूर्वीय भाग ) को भेजा जाता था। समस्त इटलीका लेनदेन फ्लोरेन्सहीसे होता था और वहां अस्सी कोठियां थीं। इटलीकी वार्षिक मालगुजारी करीब १ करोड़ रुपया थी जो महारानी एलीजेबेथके समयके ग्रेटब्रिटन और आयर्लैण्डकी मालगुजारीसे अधिक थी।

इससे यह स्पष्ट है कि और देशोंकी अपेक्षा १२वीं और १३वीं शताब्दीमें इटली-की अवस्था राष्ट्रीय आर्थिक ऐश्वर्य तथा व्यवसाय और वाणिज्यमें बहुत उन्नत थी। उसकी कृषि तथा कौशल दूसरे देशोंके लिए स्पर्धाजनक आदर्श था, और उसकी सड़कें तथा नहरें यूरोप भरमें अत्युत्तम थीं। समस्त सभ्य संसारने उसीसे लेनदेन करनेकी रीति, दिग्दर्शक-यन्त्र, जहाज-निर्माण, और नियम, नगर तथा राष्ट्रशासनकी बातें सीखी हैं। दक्षिणी समुद्रमें वाणिज्य, जलयात्रा तथा जहाजोंके सम्बन्धमें उसीका प्राधान्य था। संसारभरका वाणिज्य उसीके हाथमें था क्योंकि उत्तरी समुद्रके छोटे मोटे वाणिज्यको छोड़ और सब वाणिज्य केवल भूमध्यसागर और कालेसागरहीमें होता था। प्रत्येक जातिको इटलीहीसे बनी बनायी वस्तुएँ, विलासिताकी सामग्री तथा गर्म प्रदेशमें उत्पन्न होनेवाली उपज मिला करती थी और उनके बदलेमें उसे कच्चा माल मिलता था। इंग्लैण्डकी आधुनिक अवस्थाको पहुँचनेके लिए उसको केवल एक ही वस्तु—राष्ट्रीय एकता और तज्जन्य शक्ति—की कमी थी और इसी एक कमीके कारण उसका सम्पूर्ण ऐश्वर्य नष्ट होगया। इटलीके राज्याधिकारी और नागरिक अपनेको एकही राष्ट्रके अंग न समझकर अपनेको स्वतंत्र मान परस्पर लड़ा भिड़ा करते थे और इधरकी लड़ाई तथा उधरके प्रजातन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा सम्राट्तन्त्र राज्योंके झगड़ोंके मारे प्रत्येक राज्यका अधःपतन होता जाता था। एक तो ऐसे झगड़े यों ही राष्ट्रको निर्मूल कर देते हैं दूसरे ऊपरसे अन्य राजाओंके आक्रमण भी होने लगे और पुरोहितोंके अधिकार तथा उनकी कुमंत्रणाके कारण एक जाति दूसरी जातिपर शत्रुवत् प्रहार करने लगी।

इटलीके पतनका हाल उसके समुद्रतटस्थ राज्योंके इतिहास द्वारा जाना जा सकता

† नोट—माध्यमिक कालमें इस नामका जर्मनीमें एक सिक्का था जिसका मूल्य करीब २२ रुपयेके था।

है । पहले ८वींसे ११वीं शताब्दीतक अमलफीका अभ्युत्थान रहा । उसके जहाज सारे समुद्रपर फैले हुए थे और उसीके सिक्के इटली तथा लेवान्ट भरमें चलते थे । उसकी समुद्रीय नियमोंकी संहिता सबसे अधिक व्यावहारिक थी और भूमध्यसागरके प्रत्येक भागमें उसीका प्रयोग होता था । बारहवीं शताब्दीमें उसकी समुद्रीय शक्ति पीसा द्वारा नष्ट की गयी, पीसा-का मानमर्दन जिनोआ द्वारा हुआ और सौ वर्षकी लड़ाईके अनन्तर जिनोआको भी वेनिसके सामने सिर झुकाना पड़ा ।

यही क्षुद्र नीति वेनिसके भी पतनका कारण प्रतीत होती है । यदि इटलीके सब समुद्रस्थ राज्योंने एकाकर संधिका संघटन कर लिया होता तो न केवल यूनान, लघु एशिया ( एशिया माइनर ) मिश्र और यूनानके पूर्वके द्वीप समूहमें ही अपना अधिकार जमाना सुलभ होता परन्तु दिनों दिन वे अपनी उन्नति और विस्तार करते जाते । उस संधिके लिए तुर्कियोंका स्थलपर रोकना तथा उनकी समुद्रीय लूटमारको बन्द करना कोई बड़ी बात नहीं होती और यही नहीं पुर्तगालवालोंसे उत्तमाशा (गुडहोप)[९] अन्तरीपवाले मार्गके सम्बन्धमें झगड़ना भी सुगम हो जाता ।

किन्तु बड़ोंकी बात तो कुछ और ही थी । वेनिसको अपने विभवहीकी चिन्ता न थी । यूरोपके समीपवर्ती तथा इटलीके अन्य राज्योंकी लड़ाईके मारे उसकी उन्नति नष्ट हो गयी थी । जैसा ऊपर कहा गया है इटलीके भिन्न भिन्न राज्योंकी सुसंघटित संधिके लिए बड़े बड़े साम्राज्योंके सामने अपनी स्वतंत्रताको सुरक्षित रखना कुछ कठिन न होता । ऐसी संधिके सम्पादनका प्रयत्न सं० १५८३ (१५२६ ईसवी) में हुआ भी था, परन्तु उसकी स्थिति चिरस्थायी अथवा आवश्यक समय तक बनी न रही । सन्धिके सहकारियोंकी उदासीनता और धोखेहीके कारण मिलाने[१०] और टसकनके प्रजातन्त्र राष्ट्रोंका पतन हुआ और उसी समयसे इटलीके व्यवसाय और वाणिज्यके अवसानकी गणना की जाती है ।

वेनिसके प्रारम्भिक तथा माध्यमिक इतिहाससे सिद्ध होता है कि सर्वदा उसका विचार अलग राष्ट्र निर्माण करनेका था । जबतक उसको जर्जर यूनान और छोटे छोटे राष्ट्रोंसे लड़ना पड़ता था तब तक तो वह भूमध्यसागर तथा काले सागरके किनारे वाले देशोंमें अपने वाणिज्य और व्यवसायका चमत्कार दिखा सका परन्तु जब नीतिक्षेत्रमें बराबरी रखने वाले राष्ट्रोंसे काम पड़ा तो वेनिस एक छोटा सा नगर और उसका कुलीनतंत्र राज्य एक छोटे से-नगर-शासनकी हैसियतसे अधिक नहीं जान पड़ता था । यद्यपि उसने कई द्वीप और बड़े बड़े प्रान्त भी जीत लिए थे, तथापि उनके शासनका सम्पूर्ण भार अपने ही ऊपर रखनेके कारण जितना ही देश जीतता था उतना ही उसका बल कम होता जाता था ।

साथही साथ वे भाव भी जाते रहे जो उस प्रजातन्त्र राज्यकी उन्नतिके साधक थे । वेनिसकी शक्ति तथा अभ्युत्थान जो उद्योगी प्रजातन्त्रोपासक कुलीनतन्त्रकी देशभक्ति और वीरताके कारण हुआ था तभी तक कायम रहा जब तक प्रजातन्त्रता, देशभक्ति और वीरताका साहस मिलता गया । परन्तु जब उक्त कुलीनतन्त्रने निष्ठुरतापूर्ण अल्पजन

प्रभुत्वका रूप धारण कर प्रजाकी शक्ति और स्वतन्त्रतापर आघात पहुंचाना आरम्भ किया तो सम्पूर्ण ऐश्वर्य और शक्तिका मूल नष्ट हो गया पर राज्यकी स्थिति कुछ दिन और बनी रही।

मानटेस्क्यू[११] का कथन है कि जो राष्ट्र पराधीन हो जाता है वह अर्जित सम्पत्तिको सुरक्षित रखनेका यत्न करता है, बढ़ानेका नहीं; किन्तु स्वतन्त्र राष्ट्र बढ़ानेका यत्न करता है, रक्षाका नहीं। यह कथन तो सर्वथा सत्य है, पर इतना और भी कहा जा सकता था कि जो राष्ट्र उन्नतिके मार्ग पर आगे बढ़नेके बदले केवल स्थित रहना चाहता है उसकी अवनति दूर नहीं रहती और अन्ततः उसका अधः पतन एक दिन अवश्य ही होगा। वेनिस वालोंने अपनी व्यवसायवृद्धि करना तथा नयी नयी बातें ढूँढ निकालना तो दूर रहा, अन्य राष्ट्रोंके आविष्कारोंकी सहायतासे लाभ उठानेका विचार भी नहीं किया और जबतक उनकी वास्तविक हानि नहीं हुई तबतक उनको यह न सूझा कि नये मार्गका पता लग जानेके कारण भारत आदि देशोंसे उनका वाणिज्य रुक जायगा। जो बातें सारे संसारकी दृष्टिमें आती थीं उनपर उनका विश्वास नहीं जमता था। जब उन्हें परिवर्तित अवस्थाजन्य हानियोंको उठाना पड़ा तो वे अपनी अवस्थाको उसके अनुकूल कर उनका प्रतिकार करनेके बदले लकीरके फकीर बननेकी चेष्टा करते रहे। उनके मनमें यह बात न आयी कि अवस्थाका परिवर्तन होनेपर लाभ उठानेकी सुलभ रीति उसी नये कालका परिश्रमके साथ अनुसरण करना मात्र ही है, वरन् इसके विरुद्ध वे लोग व्यर्थ ही नवयुगकी शत्रुता करनेको उतारू हो गये। अन्तमें जब नये मार्गसे वाणिज्य करने वाले कादीज और लिसबनवालोंने वाणिज्य अपने हाथमें कर लिया और जो द्रव्य पहले इनको मिलता था अपना कर लिया तो मूर्ख और अतिव्ययीकी भांति ये सोना बनाने (कीमियांगिरी) में तत्पर हुए।

प्रजातन्त्र राज्यके ऐश्वर्य और वृद्धिके समय सुनहरी पुस्तकमें किसीके नामका उल्लेख किया जाना व्यवसाय, उद्योग अथवा राज्यके हितार्थ देशी या सैनिकसेवाका पुरष्कार समझा जाता था। इस पुस्तकमें विदेशियोंका भी नाम लिखा जाता था, जैसे कि उसमें फ्लोरेन्ससे आए हुए सबसे उत्तम रेशम बनानेवालेका भी उल्लेख किया गया था। परन्तु जब प्रतिष्ठा और राजवृत्ति केवल कुलीनोंकी बपौती समझी जाने लगी तो वह पुस्तक बन्द हो गयी। कुछ दिन अनन्तर शक्तिहीन कुलीनतन्त्रको उत्तेजित करनेकी आवश्यकताको अनुभव कर वह पुस्तक फिर निकाली गयी। परन्तु इस बार इसमें उल्लेख किए जानेकी योग्यता राज्यसेवाके बदले कुलीनता और धनाढ्यता मानी जाती थी। अन्ततः उस पुस्तकका आदर इतना घट गया कि एक शताब्दी तक खुली रहनेपर भी उसमें एक नाम भी न जोड़ा गया।

ऐतिहासिक अन्वेषणसे पता लगता है कि इटलीके प्रजातन्त्र राज्य तथा उसके वाणिज्यके नाशका कारण दुर्बल कुलीनतन्त्र राज्यकी मूर्खता, असावधानी तथा भीरुता और

दासत्व-प्राप्त जनताकी उदासीनता थी । 'उत्तमाशा' अन्तरीप वाले मार्गके न मिलनेपर भी उक्त कारणोंसे वेनिसके वाणिज्य और शिल्पका नाश होना अनिवार्य था ।

इसके तथा इटलीके अन्य राज्योंके पतनका कारण राष्ट्रीय एकताका अभाव, विदेशीय राज्योंका प्रभुत्व, पुरोहितोंका प्राधान्य और दूसरे बड़े, सुसंघटित बलवान राष्ट्रोंका अभ्युत्थान था ।

वेनिसकी व्यवसाय-नीतिके परिशीलनसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि आधुनिक व्यवसाय और शिल्प नीति उसीका अनुकरण मात्र है । हां, इतना अवश्य है कि अब इसने विस्तृत और राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है । समुद्र यात्राके नियमों तथा करों द्वारा स्वदेशके व्यवसाय और शिल्पकी रक्षा की जाती थी और उस समय भी यह सिद्धान्त प्रचलित था कि दूसरे देशसे कच्चा माल मंगाकर उसके बदले पक्का माल भेजना श्रेयस्कर है । स्वच्छन्द और अप्रतिबद्ध[१३] वाणिज्यके पक्षपातियोंने कहा है कि वेनिसके पतनका कारण उसकी उपरोक्त प्रतिबन्धक नीति ही थी । यद्यपि इस कथनमें कुछ अंश सत्यताका है तथापि इसका अधिकांश भ्रममूलक है । वेनिसकी ऐतिहासिक घटनाओंके पक्षपात रहित अनुसंधानसे जान पड़ता है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वच्छन्द वाणिज्य तथा प्रतिबद्ध वाणिज्य वेनिस एवं अन्य देशोंकी शक्ति तथा विभवके लिए भिन्न भिन्न समयमें हानि या लाभके कारण हुए हैं । प्रजातन्त्र राज्यके पहिले वर्षमें प्रतिबन्ध रहित स्वच्छन्द वाणिज्य अवश्य लाभकारी हुआ अन्यथा यह कभी सम्भव नहीं था कि मल्लाहीके अड्डेसे उन्नत होकर वेनिस व्यवसायका केन्द्र हो जाता । परन्तु कुछ धन और शक्तिके पाने पर प्रतिबन्धक नीति भी उसके लिए लाभकारी हुई क्योंकि उसीके कारण वह व्यवसाय और शिल्पके शिखरपर पहुँचा था । इस शिखर पर पहुंचनेके अनन्तर वाणिज्यका प्रतिबन्ध हानिकर हुआ क्योंकि उसके कारण दूसरे देशोंकी वस्तुके आनेकी रुकावट होनेसे तथा व्यवसायकी स्पर्द्धा बन्द होजानेसे वेनिसवाले स्वभावतः आलसी हो गये । अतएव हानिका कारण प्रतिबन्धक नीति न थी । आवश्यकता तथा अनुकूल समय न रहनेपर भी उसका अवलम्बन करते जाना ही अधःपातका कारण था ।

यद्यपि वेनिसका अधिकार कुछ प्रान्तों तथा द्वीपोंपर अवश्य हो गया था तथापि उसकी गणना एक नगरसे बढ़कर नहीं हो सकती थी । जब वेनिसके व्यवसाय और शिल्प उन्नत अवस्थापर थे उस समय उसको केवल इटलीकेही अन्य नगरोंसे मुकाबला करना पड़ता था और उस समय प्रतिबन्धक नीति भी सफल हो सकती थी । परन्तु जब राष्ट्रके राष्ट्र उसके मुकाबिलेके लिए खड़े हुए तो वेनिसके लिए केवल एकही गति रह गयी । उसको यही चाहिये था कि अपनेको इटलीके राष्ट्रसंघका मुखिया बनाकर समग्र देशके व्यवसायको अपना लेता क्योंकि अच्छीसे अच्छी व्यवसाय-नीतिके अवलम्बनसे भी कोई नगर सदा समूचे राष्ट्रोंका सामना नहीं कर सकता ।

वेनिसके उदाहरणसे आधुनिक प्रतिबन्धक व्यवसाय-नीतिके विरुद्ध केवल इतना ही अवगत होता है कि एक अकेला नगर ऐसी नीतिका पालन बड़े बड़े राज्य वा साम्राज्यके

सामने सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। उससे यहभी स्पष्ट है कि कोई राज्य जो प्रतिबन्धक नीतिका अवलम्बनकर अपने व्यवसाय और शिल्पकी उन्नति कर चुका हो, उस नीतिको पुनः छोड़ स्वच्छन्द वाणिज्यकी नीतिका अनुसरण कर सकता है।

उपर्युक्त प्रश्नपर तथा अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्यकी स्वच्छन्दतापर जब कभी विचार होता है तो "स्वच्छन्दता" के अर्थमें भ्रम हो जाता है। प्रायः लोग वाणिज्यकी स्वच्छन्दताका वही अर्थ समझते हैं जो धार्मिक या नागरिक स्वतंत्रताका है। अतएव स्वच्छन्दताके अन्ध भक्त भली वा बुरी सभी स्वच्छन्दता का पक्ष लेना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। अस्तु वाणिज्यकी स्वच्छन्दता"का अर्थ करते समय प्रायः लोग स्वराष्ट्रान्तर्गत स्वच्छन्दता तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वच्छन्दताके भेदको नहीं समझते यद्यपि दोनोंके भाग और प्रयोगमें बहुत बड़ा अन्तर है। कारण यह है कि स्वराष्ट्रान्तर्गत वाणिज्य-के प्रतिबन्ध कुछ ही अंशमें नागरिकोंकी व्यक्तिगत स्वतंत्रताके अनुरूप होते हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्यकी अवस्थामें बढ़ी चढ़ी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी प्रतिबन्धक नीतिके विरुद्ध नहीं हो सकती। हां यह सम्भव भी है कि अन्य राष्ट्रीय वाणिज्यकी चरमावस्था प्राप्त स्वतन्त्रताका यह परिणाम है कि किसी राष्ट्र विशेषका पतन और दासत्व की प्राप्ति हो सकती है जैसाकि आगे पोलेण्डके उदाहरणसे जान पड़ेगा। इसी सम्बन्धमें मांटिस्क्यूका कथन है कि वाणिज्यका सबसे अधिक प्रतिबन्ध स्वतन्त्रतराष्ट्रोंमें होता है और एकतंत्र राष्ट्रोंमें सबसे कम।

# द्वितीय अध्याय।

## हांसासमुदाय।

वाणिज्य, व्यवसाय और स्वतन्त्रताका प्रबल प्रवाह इटलीमें समुन्नत होता हुआ आल्पस पर्वतको पारकर तथा जरमनीमें व्याप्त होकर उत्तरी समुद्रके किनारे तक पहुँचा। सम्राट् प्रथम हेनरी इटलीके नगर शासनोंके उद्धारकका पिता था। उसने रोमके प्रदेश तथा उपनिवेशोंमें नगरोंके निर्माण और विस्तारके कार्यको और भी बढ़ाया।

फ्रांस और अंग्रेज़ी राजाओंकी तरह प्रथम हेनरी और इसके उत्तराधिकारी भी यह समझते थे कि नगरोंकी उन्नतिसे सरदारगण दबे रहेंगे और उनसे राष्ट्रको करकी बहुत बड़ी आय होगी और वे सदा राष्ट्रकी रक्षाके नये साधन होंगे। इन नगरोंका इटलीके नगरोंके साथ व्यवसाय-सम्बन्ध था और वे सदा इटलीके नगरोंकी स्वतन्त्रसंस्था तथा वाणिज्यके प्रतिस्पर्धी थे। इसी कारण शीघ्रही उन्हें सभ्यता और ऐश्वर्यकी प्राप्ति हो गयी। नागरिक जीवनमें आपसका साथ होनेके कारण लोगोंमें कला और शिल्पकी वृद्धि करने तथा उद्योग और धन द्वारा यश कमानेका उत्साह भर गया। धन पानेपर उनके हृदयमें अपनी राजनीतिक दशाकी उन्नति और शिष्टताको प्राप्त करनेकी धुन समा गयी॥

# संसारके व्यवसायका इतिहास

यद्यपि उत्तरीय जर्मनीके समुद्र तटस्थ नगरोंको नवप्राप्त स्वतन्त्रता तथा बढ़े चढ़े व्यवसायका बड़ा बल था तथापि जल और स्थलके लुटेरोंके भयसे उनको आत्मरक्षार्थ एक संघ स्थापित करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। इस उद्देश्यसे सं० १२९८ (१२४१ ईसवी) में हाम्बर्ग और ल्यूबकने एक संघकी स्थापना की। इसमें बाल्टिक और उत्तरीय सागर तथा ओडर, एल्ब, वेसर और राइन नामक नदियोंके तटस्थ प्रायः सभी प्रधान नगर सम्मिलित हुए। इनकी संख्या ८५ थी। उस संघने अपना नाम "हांसा" रखा जिसका अर्थ दाक्षिणात्य जर्मन भाषामें 'संघ' होता है।

संगठित व्यवसायसे व्यक्तिगत व्यवसायको कहां तक लाभ हो सकता है इसका अनुसन्धान कर हांसा लोग तुरन्तही ऐसी वाणिज्य-नीतिका अनुसरण करने लगे जिससे उनको अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने यह बात समझ ली थी कि समुद्रीय वाणिज्यके लिये जहाजी शक्तिकी बड़ी आवश्यकता है। अतएव इन्होंने इस शक्तिका भी सम्पादन किया। उनको इस बातकाभी विश्वास था कि किसी देशकी जलशक्तिकी दृढ़ता और दुर्बलता उसके वाणिज्यके जहाजों और समुद्रके मत्स्य-व्यापारपर निर्भर है। इसी विचारसे उन्होंने धीवर कर्मको बढ़ाया और यह नियम बना दिया कि हांसाकी वस्तु केवल हांसाकेही जहाजों पर आया जाया करें। इस संघके जलयात्रा सम्बन्धी नियम वेनिसके नियमोंके प्रतिरूप थे और अंगरेजोंके नियम हांसा वालोंके नियमोंकी नकल थे।

समुद्रीय उत्कर्षताका सम्पादन करनेके लिये इंग्लेंडवालोंने पूर्वकालके उत्कृष्ट लोगोंका अनुकरण किया है। ऐसा होने परभी "लम्बी पार्लमेण्ट"के समय जलयात्रा सम्बन्धी विधान बनानेका प्रस्ताव एक नयी बात समझी गयी थी। जान पड़ता है कि ऐडेमस्मिथको[२०] इस बातका ज्ञान नहीं था कि उससे शताब्दियों पहले कई अवसरों पर वैसेही प्रतिबन्ध लगानेके प्रयत्न किये गये थे जैसे उस विधानमें थे। कमसे कम उक्त विधानकी समालोचनामें ऐडेमस्मिथने इस प्राचीन बातका उल्लेख नहीं किया है। वैसाही एक प्रस्ताव सं० १५१८ (१४६१ ईसवी) में छठवें[२१] हेनरीने अस्वीकृत किया था और प्रथम जेम्स[२२]के वैसेही प्रस्तावको पार्लमेण्टने स्वीकार नहीं किया था। परन्तु वस्तुतः इन प्रस्तावोंके बहुत पहले सं० १४३८ (१३८१ ईसवी) हीमें द्वितीय रिचार्डने[२३] वैसेही प्रतिबन्ध लगाये थे। हां, यह सत्य है कि प्रयोग न होनेके कारण अब उनका नामतक मिट गया है। बात तो यह थी कि उस समय उनके राष्ट्रकी अवस्था ऐसे नियमोंका पालन करनेके लिये उपयुक्त नहीं थी। स्वदेशी वाणिज्यके रक्षार्थ अन्य नियमोंकी तरह जल-यात्राके नियमभी उन राष्ट्रोंके हृदयोंमें जमे रहते हैं जो अपनेको वाणिज्य और व्यवसायके भविष्य उत्कर्षका पात्र समझते हैं। यह सिद्धान्त इतना सत्य है कि अमेरिका (संयुक्तराष्ट्र) ने अपनी स्वतन्त्रताको पूर्ण रूपसे पानेके पूर्वही जेम्समेडिसन[२४] के कहने पर विदेशीय जहाजों पर कर लगा दिया था। आगे दिखाया जायगा कि अमेरिकाने इस नीतिसे प्रायः उतनाही लाभ उठाया जितना १५० वर्ष पहले अंगरेजोंने उसी नीति द्वारा उठाया था।

हांसा लोग जब कभी उत्तरीय देशोंके राजाओंके राज्यमें शिल्पशाला खोलते

या खोलवानेका प्रयत्न करते थे तो राजा लोग इसे अपना बड़ा भाग्य समझते थे और हांसा लोगोंको विशेष अधिकार तथा सुविधा देते थे। इसका कारण यह था कि हांसा लोगोंके वाणिज्यसे उनकाभी बड़ा उपकार होता था। उनके द्वारा वे नृपतिगण करसे विशेष आय कर लेते थे और अपने देशकी खपतसे बची वस्तुको बाहर भेजकर लाभ उठाने तथा उसके बदले तय्यार माल पानेके अतिरिक्त अपनी प्रजाको अपना समय आलस्य अथवा उपद्रव करनेमें व्यतीत करनेके बजाय व्यवसायमें लगा सकते थे। इंग्लैण्डके राजा इस काममें अन्य सब राजाओंसे बढ़े चढ़े थे।

ह्यूमका कथन है कि इंग्लैण्डका वाणिज्य पहले विदेशियोंके हाथमें विशेष कर हांसा लोगोंके हाथमें था। यहांतक कि उस समय हांसा लोगोंहीके सिक्के इंग्लैण्ड भरमें चलते थे। तृतीय हेनरीने[२६] हांसासंघको सरकारकी ओरसे प्रमाणित रूप देकर कई अधिकार दे रखे थे और इसके लिये उनके निमित्त चुंगी तथा व्यापारिक रुकावटें भी अलग कर दी गयी थीं।

अंगरेज लोग स्वयं तो वाणिज्यमें इतने कच्चे थे कि द्वितीय एडवर्डके[२७] समयहीसे सारा वाणिज्य स्टीलयार्डके व्यापारियोंके नामसे हांसासंघ द्वाराही होता था, और जैसा ऊपर लिखा गया है, हांसा लोगोंका वाणिज्य उन्हींके जहाजोंद्वारा होनेके कारण इंग्लैण्डकी जहाजी शक्तिकी भी दशा शोचनीय थी।

बहुत दिनोंतक इंग्लैण्डके साथ वाणिज्य-संबंध रखनेके अनन्तर सं० १३०७ में (१२५० ईसवीमें) कलोन नगरके कुछ जर्मन व्यवसायियोंने लण्डन नगरमें स्टीलयार्डके नामसे एक शिल्पशाला स्थापित की। यद्यपि यह संस्था बड़ी प्रसिद्ध हो गयी और व्यवसाय तथा शिष्टताकी बहुत बड़ी साधक हुई तथापि यही अन्तमें राष्ट्रीय द्वेषका केन्द्रभी बनी और ३७५ वर्ष तक बड़े बड़े झगड़ोंकी जड़ रही।

पहले इंग्लैण्ड और हांसासंघका वही सम्बन्ध था जैसा कुछ दिन अनन्तर पोलैण्डका हालैण्डवालों तथा जर्मनीका अंगरेजोंके साथ रहा। वह उनको ऊन, टीन, चमड़ा मक्खन, खनिज और कृषिजन्य पदार्थोंको देता और उनके बदले बनी बनायी वस्तुएँ लेता था। हांसा लोग इंग्लैण्ड तथा अन्य उत्तरीय देशोंसे जो कच्चा माल लाते वह ब्रूजेज़के कार्यालयमें ले जाते थे [जो सं० १३०६ (१२५२ ईसवी) में स्थापित हुआ था] और उनको बेल्जियमके कपड़े तथा अन्य तय्यार माल बदल देते थे। इटलीके द्वारा प्राप्त पूर्वीय देशोंका माल उत्तरीय समुद्रके तटस्थ सब देशोंमें हांसा लोग ले जाने लगे।

उनका तीसरा कारखाना जो रूसके नाव्ह गोराड नगरमें सं० १३२६ (१२७२ ईसवी) में स्थापित हुआ था, तय्यार मालके बदलेमें ऊन, सन्ई, पटुआ, और अन्य कच्चा माल उन्हें पहुंचाता था। चौथी शिल्पशाला जो नारवेके बरगेन नगरमें उसी वर्ष स्थापित हुई केवल मछली, मछलीका तेल और मछलीकी बनी दूसरी वस्तुओंकाही व्यवसाय करती थी। (अपूर्ण)

अनुवादक हरिहरनाथ

# सम्पादकीय

## स्वदेशी प्रचार और विदेशी बहिष्कार

आज भारतमें असहयोग आन्दोलन, कांग्रेसके मन्तव्यों, महात्मा गांधीके उपदेशों तथा अन्य नेताओंके प्रयत्नके कारण विदेशी वस्त्रके बहिष्कार और स्वदेशी वस्त्रके प्रचारके कार्यक्रमने फिर ज़ोर पकड़ा है। आज देशके प्रान्त प्रान्त, ज़िले ज़िले, कसबे कसबे, गांव गांव तथा घर घरमें स्वदेशीके प्रचार और विदेशीके बहिष्कारकी चर्चा हो रही है। जनता आज इस आन्दोलनको सफल बनाने के वास्ते जी जानसे प्रयत्न कर रही है और सब कुछ करनेको तैयार है। मिलके कपडोंसे देशकी आवश्यकता पूरी नहीं होगी, इस विचारसे, नेताओंके आदेशानुसार, आज घर घर चरखे चल रहे हैं और लोग मोटे और भद्दे सूतका मोटा कपड़ा, खद्दड़, खादी, गाढ़ा इत्यादि पहिननेको तैयार हैं। परन्तु जहां एक ओर यह हो रहा है वहां दूसरी ओर ऐसे लोगोंकी भी कमी नहीं है जो सब तरहसे यह साबित करना चाहते हैं कि स्वदेशी आन्दोलन अवश्यही निष्फल होगा। अपने तर्कोंके प्रमाणमें वे अर्थशास्त्रके सिद्धान्त, लंबे लंबे अंक तथा अपने भूतकालके अनुभवको पेश करते हैं। इसकारण आज हम भी इसी प्रश्न पर विचार करना चाहते हैं।

पहिले हम संक्षेपमें वर्तमान आन्दोलनका इतिहास बतला देना आवश्यक समझते हैं। स्वदेशी आन्दोलन पहिले पहिल संवत् १६५५ में पूनामें आरंभ हुआ। इसके जन्मदाता लोकमान्य जी तथा अन्य महाराष्ट्रनेता थे। पूनामें जो राजनीतिक कार्य होरहा था, उसीके संबन्धमें यह कार्य भी आरंभ हुआ। उस समय भी भारतके नेताओं ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि भारतका उद्धार स्वदेशी ही पर निर्भर है। इसी आन्दोलनका यह फल हुआ कि दक्षिणमें आज दिन भी स्वदेशीका प्रचार है और स्वदेशीकी उन्नति भी वहाँ अच्छी हुई है तथा बहुतसे बड़े बड़े कल-कारखाने इत्यादि भी वहां बन गये और अच्छी तरह चल रहे हैं। इस आन्दोलन और वर्तमान आन्दोलनमें भेद यह है कि आज दिन चरखे और करघे पर विशेष ज़ोर दिया जा रहा है, परंतु उस समय पाश्चात्य देशोंके ढंग पर बड़े बड़े पुतली घरों और कारखानों-हीकी स्थापना हुई और नेताओंका विचार था कि इन्हींसे अभीष्ट-सिद्धि होगी। इस भेदका कारण आगे चलकर बतलाया जायगा। पूनाके आन्दोलनके बाद वंग-भंगके समय, पुनः यह आन्दोलन बड़े ज़ोर शोरसे हुआ। उस समय इसकी पुकार चारों तरफ गूंज गयी। पूनाका आन्दोलन, दक्षिणको छोड़ कर और स्थानों पर जनता तक नहीं पहुंचा था, परन्तु वंग-भंगका आन्दोलन उससे अधिक देश-व्यापी हुआ और उस समय बहुतसे लोगोंने आजन्म स्वदेशीके व्यवहार करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। परन्तु वंग-भंगका मामला समाप्त होते ही इसमें कुछ शिथिलता आयी और प्रचारका काम धीरे धीरे बन्द हो गया। केवल वेही लोग जिन्होंने प्रतिज्ञा कर ली थी अवश्य इस पर डटे रहे। लोगोंमें स्वदेशीका प्रचार उसी हद्द तक रह गया, जहां तक उन्हें स्वदेशी वस्त्र विलायती की अपेक्षा

सस्ता मिलता था। आन्दोलनके समयकी पहचान कि महंगा स्वदेशी वस्त्र सस्ते विदेशी के मुकाबिले खरीदा जाता था लोप हो गयी। इसके बाद वर्तमान आन्दोलन चला। यह किस कारण और किस प्रकार आरंभ हुआ यह सब पर विदित ही है, इस लिये इस पर कुछ विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। केवल एक बातको पुनः दोहरानेकी जरूरत है। वह यह है कि इस संक्षिप्त इतिहाससे यह मालूम हो जाता है कि भारतके राजनीतिक उद्धारके वास्ते सर्वथा स्वदेशीका प्रचार और विदेशीका बहिष्कार आवश्यक समझा गया है। अब हम इसके कारणोंका अनुसंधान करेंगे।

× × × ×

इसके कारणोंको समझनेके वास्ते भारतके व्यापार, तथा कलाकौशल संबन्धी इतिहासका जानना आवश्यक है। हमें यह जाननेकी जरूरत है कि हमारी क्या हालत थी, क्या होगयी, क्या इस समय है, इसके कारण क्या हैं, हमारे उद्योग धंधोंके इतिहाससे हमारी वर्तमान राजनीतिक अवस्थाका क्या संबन्ध है। इतना समझने पर हमें स्वदेशी आन्दोलनके महत्वका ज्ञान होगा और हम यह समझ सकेंगे कि राजनीतिक उद्धार क्यों और किस तरह स्वदेशी पर निर्भर है और जिसके कारण प्रत्येक विचारवान् नेताने इस पर विशेष ज़ोर दिया है। भारतके प्राचीन इतिहासके देखनेसे ज्ञात होता है कि यहाँके कलाकौशलकी अपूर्व वृद्धि हुई थी। रेशम, सूतके कपड़े, गृह निर्माण ( इंजिनियरिंग ) चित्रकारी इत्यादि इत्यादि, जिस किसी विद्याको देखिये उसीमें भारत अद्वितीय था। आज दिनभी राजपूताने-के महल, ताज महल, एकसे एक सुदृढ़ दुर्ग हमारी उन्नतिके स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। परंतु हमें आज विशेष ध्यान कपड़के व्यापार पर देना है।

× × × ×

इतिहासके देखनेसे मालूम होता है कि अंगरेजों बल्के यूरोपीयनोंके आनेके पहिले भारतमें चर्खे और कर्घेका खूब प्रचार था और उनके द्वारा हम केवल अपनीही ज़रूरत भर नहीं बल्कि इतनी काफी तायदादमें कपड़ा बना लेते थे कि वह भारतके बाहरभी जाकर बिकता था।

वस्त्रभी केवल मोटे ही नहीं, प्रत्युत हर प्रकारके उत्तमसे उत्तम, बारीकसे बारीक, रंग बिरंगे बनते थे। मिश्रदेशके राजाओंके शव जो मोमियाई बनाकर बड़े यत्न से रक्खे जाते थे, वे भारतकी मलमलमें लपेटे हुए मिले हैं। इटलीकी महिलाएं इसी मलमलके कपड़े पहन कर राजदरबारमें जाना अपना सौभाग्य समझती थीं। विलासप्रिय फ्रांस और व्यवसायी इंग्लैंडमें भी भारतकी मलमल और छींटोंका खूब प्रचार था। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि भारतके कलाकौशल और उद्योग धंधेकी ऐसी उन्नत अवस्था थी, तो आज दिन हमारी अवनत अवस्थाका क्या कारण है और हम इस दशामें कैसे पहुंचे?

× × × ×

# सम्पादकीय

विक्रम अठारहवीं सदीके उत्तरार्द्धमें विलायतमें वहांके रेशम और ऊनके कपड़े बनाने वालोंके अनुरोधसे पार्लमेंटमें कानून पास हुआ कि भारतीय छींट या रंगीन कपड़े विलायतमें किसी काममें न लाये जायं और संवत् १७६३ ( १७०६ ईसवी ) में एक महिला-के पास ऐसा कपड़ा मिलनेके कारण २०० पाउंड जुरमाना किया गया। इसके अतिरिक्त भारतीय कपड़ेके ऊपर ७५ फी सदी कर लगाया गया जिसका फल यह हुआ कि सं० १८४४ में ढाकासे इंग्लैंडमें जो ३० लाखकी मलमल गयी थी वह कम होकर सं० १८६४ ( १८०७ ई० में ) ८½ लाख, १८७०में ३½ लाख मात्रकी रह गयी और १८६४ में तो बिलकुल बन्द ही हो गयी। इसीके सम्बन्धमें "मिल" ने लिखा है कि भारतीय माल इंग्लैंडमें वहांके मालकी अपेक्षा ५०, ६० फी सदी सस्ता पड़ता था और यदि उपरोक्त कर न लगाया गया होता तो मैनचेस्टरकी नयी मिलें भी भारतका मुकाबला न कर सकतीं। संवत् १८७८ में यह टैक्स बढ़ते बढ़ते इस प्रकार हो गया था—

| माल | टैक्स |
|---|---|
| कपासका कपड़ा | ८१ फी सदी |
| छींट | ८१ ,, |
| मलमल | ३२॥ ,, |

यह तो हुआ भारतीय मालका हाल। इससे यह स्पष्ट है कि इंग्लैंडकी नीति उस समय यह थी कि चाहे जिस तरह हो भारतीय माल विलायतमें, विलायती मालसे महंगा पड़े और वहां न बिकने पावे।

* * *

परंतु इतनेहीसे तो उनकी अभीष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती थी। विलायती मालकी उन्नतिके वास्ते यह भी आवश्यक था कि वहांका माल भारतमें भी बिक सके। परंतु यदि विला-यतमें हमारा मुकाबिला करनेके वास्ते ७५ फी सदी कर लगाना आवश्यक था और उसके ऊपर भी यह कानून पास करना पड़ा कि विलायतमें हिन्दुस्तानी छींट बिकने ही न पावे तो वैसी दशामें विलायती मालकी बिक्रीकी कठिनाइयां भारतमें तो और भी अधिक होंगी। अब हमें यह देखना है कि इस कार्यकी सिद्धिके वास्ते किन किन प्रकारोंका उपयोग किया गया। इसका इतिहास अत्यन्त दुःखजनक है परंतु सब बातोंको समझने के लिए हमें कहनाही पड़ेगा।

ईस्ट इंडिया कम्पनीके जमानेमें जब उसे कुछ अधिकार प्राप्त हो गया, तब यहां भारतीय व्यवसायका गला घोंटनेका कार्य आरंभ हुआ। कंपनीकी ओरसे इस नीतिका अवलबन आरंभ हुआ कि भारतीय जुलाहे, तथा सूत बनाने वाले केवल कंपनीहीके हाथ अपना माल बेचें। इस कार्यके वास्ते कंपनीके लोग गांवोंमें अपने गुमाश्तोंको भेज देते थे। ये गुमाश्ते लोगोंसे जबर्दस्ती उनका माल खरीद लेते थे और उनके हाथ अपना माल बेच देते थे। यदि कोई ऐसा करनेमें असमर्थ होता था तो उसे या तो हवालातकी हवा खिलायी जाती थी, या कोड़ोंसे खबर ली जाती थी। इसके अतिरिक्त माल खरीदने-में भी बेचारोंको बाजार भावसे कम कीमत दी जाती थी। इसके अतिरिक्त और भी

अत्याचार प्रयुक्त किये जाते थे और गुमाश्तोंसे बढ़कर तो उनके चपरासी उपद्रव करते थे। यदि कोई जमीन्दार इनके अत्याचारोंसे अपनी रिआयाको बचानेका साहस करता था तो उसकी भी खूब खबर ली जाती थी। लोग माल सिवाय कंपनीके और किसीके हाथ न बेचने पावें, इसके वास्ते लोगोंसे जबर्दस्ती इकरारनामे लिखवा लिये जाते थे और उन्हें थोड़ा बहुत अग्रिम दे दिया जाता था और यदि वे उसे लेनेसे इन्कार करते थे तो रुपया उनकी कमरमें बांध कर वे खदेड़ दिये जाते। कभी कभी अत्याचारकी मात्रा इतनी बढ़ जाती थी कि सूत कातने वाले अपनी असमर्थता दिखलानेके वास्ते अपने अंगूठे काट डालते थे! इसका परिणाम जो होना चाहिए था वही हुआ। हरे भरे, समृद्धशाली नगर और गांव उजड़ गये, भारतकी वह कला जिससे भारत भरापूरा, सुख सामग्रीसे परिपूर्ण था, आज इस अवनत दशाको पहुंच गयी है। एक समय था कि गांव गांव नगर नगरमें हजारों नरनारी चरखा कातकर, करघा चलाकर, लाखों रुपए पैदा करके सुख चैनसे अपना समय काटते थे परंतु उसके विपरीत आज खानेको अन्न नहीं, पहिननेको वस्त्र नहीं, रोज दुर्भिक्षका सामना करना पड़ता है। सं० १८६४ ( १८०७ ईसवी ) में कुछ स्थानोंका हाल हम नीचे देते हैं।

### पटना।

आबादी ३३ लाख; ३ लाख, ३० हजार, ४ सौ २६ स्त्रियां चरखा कातकर १० लाख, ८१ हजार रुपए कमाती थीं। धान १॥।) मन बिकता था।

### शाहाबाद।

१ लाख, ५६ हजार, ५०७ औरतें हर साल १२ लाख, ५० हजारका सूत कातती थीं। ७ हजार, ९५० करघे चलते थे और १६ हजारका वस्त्र बनता था।

### भागलपुर।

३ हजार २७५ करघे टसर बुननेके और ७ हजार, २७९ करघे सूत बुननेके थे।

### गोरखपुर।

१ लाख, ७५ हजार, ६०० स्त्रियाँ चरखा कातकर ९ लाख, १५ हजार कमाती थीं, ६ हजार ११४ करघे चलते थे, ५०० घरोंमें रेशमका व्यवसाय होता था और जुलाहे १६ लाख, १४ हजार रुपएका कपड़ा प्रति वर्ष बुनते थे।

जहां १८६४ में यह हाल था, उसके विपरीत १९७८ का हाल तो लोगोंपर विदित ही है कि हमारे यहां ६० करोड़ प्रतिवर्षका कपड़ा बाहरसे आता है। यदि ऐसी अवस्थामें हम दरिद्र न हों, हमारे देशमें रोज दुर्भिक्ष न पड़े, तो और क्या हो सकता है?

* * *

अब तक तो हमने यह दिखलाया है कि भारतका कपड़ेका कारबार जो उस समय तक हाथके कते सूत और हाथहीके बुने कपड़ेका था, उसे मैन्चेस्टरके कपड़ेके व्यवसायके रक्षार्थ तथा उसकी उन्नति करनेके विचारसे किस तरह नष्ट किया गया। परन्तु इतने हीसे यह इतिहास समाप्त नहीं हो जाता। चरखे और करघेके नाश होनेके बाद, अंगरेजोंकी देखा देखी यहां भी वैसेही कल कारखाने स्थापित करनेकी व्यवस्था होने लगी और बंबई तथा अहमदा-

बादमें बड़े बड़े पुतलीघर तथा कारखाने बन भी गये। इनके बने कपड़े विलायती मालका फिर मुकाबिला करने लगे और मैनचेस्टरके सम्मुख फिर वही पुरानी समस्या उपस्थित हुई।

इसका एक कारण यह भी था कि विलायती माल पर उस समय भारतमें कुछ कर लगता था। मैंनचेस्टरको भला यह कब सह्य हो सकता था। उसने इसके संबन्ध में तुरंत प्रयत्न करना आरंभ किया और इसका फल यह हुआ कि हिन्दुस्तानी मिलोंके माल पर भी उतनाही कर लगा दिया गया। कुछ दिनोंके बाद भारत सरकारको अपने खर्चके वास्ते अधिक आमदनीकी आवश्यकता पड़ने पर विलायती मालका कर बढ़ाना पड़ा और मैंनचेस्टरका ध्यान रखते हुए हिन्दुस्तानी मिलोंके कपड़े पर भी कर बढ़ाया गया। इसी प्रकार कई बार घटाया बढ़ाया गया। इस नीति पर भारतमें सर्वदासे बड़ा असंतोष रहा और इसकी सर्वदा बड़ी तीव्र आलोचना होती रही है परन्तु महासमरके आरंभ तक इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। महासमरके आरंभमें जब पुनः भारतसरकारको अधिक धनकी आवश्यकता पड़ी तब अन्यान्य करोंकी वृद्धिके साथ साथ भारतमें बाहरसे आने वाले वस्त्रों पर भी कर बढ़ाया गया। उस समय, भगवान जाने किस कारणसे भारतीय मिलोंके वस्त्रका कर बढ़ाना सरकारने उचित नहीं समझा। विलायतमें बड़ा असन्तोष फैला परन्तु गवर्मेंण्ट अपने निश्चय पर दृढ़ रही सुधार स्कीम के अनुसार नई कौंसिलों के बैठने पर अन्तिम बजेट के पास होनेके अवसर पर बाहरी माल पर फिर कर बढ़ाया गया परन्तु हिन्दुस्तानी माल पर पुराना ही कर रक्खा गया। इस पर भी मैन्चेस्टरमें बड़ा असंतोष फैला। भारत-सचिवकी सेवामें विलायती जुलाहोंके प्रतिनिधि-मंडल उपस्थित हुए, कामन्स सभा में बार बार इस विषय पर प्रश्न हुए और आजतक हो रहे हैं। भारत सरकार को इस प्रकार कर बढ़ाने का अधिकार है या नहीं, यह प्रश्न भी उठाया गया है, परन्तु अभी तक भारत सचिव दृढ़ हैं, उन्होंने सबको यही उत्तर दिया है कि सुधार स्कीमके अनुसार भारतको यह अधिकार प्राप्त है और कामन्स सभा उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकती। अस्तु यह तो हुआ भारतीय व्यवसायका संक्षिप्त इतिहास। अब यह देखना है कि आगेके वास्ते हम इस इतिहाससे कुछ उपदेश ग्रहण कर सकते हैं अथवा नहीं और यदि कर सकते हैं तो कौन कौन से?

× × × ×

यह जानते हुए कि अंग्रेज यहां व्यापारहीकी गरज़से आए और उनका उद्देश्य सर्वदा यह रहा है कि उसकी ही उन्नति होनी चाहिए, पहिला उपदेश जो हम सीखते हैं वह यह है कि अंगरेजोकी व्यापारिक तथा औद्योगिक नीति वही रहेगी जिससे विलायतको लाभ हो सके। विलायतका लाभ इसीमें है कि भारतमें केवल कच्चा माल पैदा हो और वह विलायतमें जाकर पक्का माल बन कर फिर भारतमें आकर बिके। इससे विलायतके मज़दूरों का पेट भरता है और कुल मुनाफ़ा विलायतमें रहता है। भारतकी इसमें सबसे बड़ी हानि यह है कि समस्त देश केवल खेती पर निर्भर हो गया है और अपने वस्त्र इत्यादिके वास्ते क़रीब क़रीब सब अन्न बेच देना पड़ता है यहां तक कि सालके छः महीनेके वास्ते भी पेट भर खानेको अन्न नहीं रह जाता। यदि कहीं भी अनावृष्टि हुई तो वहां दुर्भिक्ष पड़ जाता है और उद्योग धंधोंके नष्ट हो जानेके कारण पैसा पैदा करनेका कोई उपाय नहीं रह जाता और

# स्वार्थ

गांठमें पैसा न रहनेके कारण, यदि निकटवर्ती स्थानोंमें अन्न हो भी तो उसे खरीदनेकी शक्ति नहीं रह जाती। फल यह होता है कि हाथ पर हाथ धर कर दूसरोंका मुंह देखना पड़ता है और यदि किसी कारण बाहरसे यथोचित सहायता न मिली तो जो परिणाम होता है उसे कहने की आवश्यकता नहीं है। आजदिन भी अल्मोड़ा, मिर्जापुर, छत्तीसगढ़ तथा खुलना आदि स्थानोंमें जो करुणाजनक दशा हो रही है वह सब पर विदित ही है। इसका दूसरा परिणाम यह होता है कि प्राणी स्वावलंब भूल जाता है और सब दुर्घटनाओंको किस्मतका खेल कहकर संतोष कर लेता है। तीसरा परिणाम इसका यह होता है कि देशकी दरिद्रता बराबर बढ़ती जाती है क्योंकि प्रतिवर्ष कई करोड़ रुपये हमें अपने वस्त्र इत्यादिके मूल्य स्वरूप बाहर भेज देना पड़ता है। यदि हम अपने यहां इन आवश्यकताओंकी वस्तुओंको बना लें, तो हमारा उतना धन अपने देशमें रह जाय। उनका मूल्य चुकानेके वास्ते अपना अन्न बाहर न भेजना पड़े, और वह अन्नभी अपने देशमें रहे, अन्न वस्त्रका कष्ट दूर हो जानेसे हममें और भी गुण आवें और हम पुनः उन्नति मार्ग पर पदारूढ़ हों परंतु यह भी स्पष्ट ही है कि वर्तमान शासनमें उसकी व्यापार-नीतिके कारण यह असंभव है। समस्त बातोंका ध्यान रखते हुए हमें आगेके वास्तेभी यह आशा न करना चाहिए कि उस व्यापार-नीतिमें कुछ विशेष परिवर्तन होगा। ऐसी अवस्थामें हमें स्वयं ही अपने उद्धारका मार्ग ढूंढना पड़ेगा हमको अब देखना चाहिए कि वह मार्ग कौन सा होसकता है?

\+ + + +

भारतमें जो शिक्षाप्रणालीका क्रम अब तक रहा है और जो पुस्तकें स्कूलोंमें पढ़ायी जाती है उनका यह प्रभाव पड़ता है कि हिन्दुस्तानी सर्वथा निकम्मे रहते हैं, वे अपनी उन्नत्ति स्वयं नहीं कर सकते आज तक हम सर्वदा सरकारका मुंह जोहा करते थे। परंतु उपरोक्त संक्षिप्त इतिहास से यह भली प्रकार विदित हो गया है कि हमें सरकारसे कोई आशा नहीं करनी चाहिए। यही कारण है कि असहयोग आन्दोलनमें स्कूलों तथा कालेजोंके बहिष्कारको सबसे प्रथम पद दिया गया है जिससे यह बुरा प्रभाव दूर हो और हम अपने उद्धारका मार्ग स्वयं सोच निकालें। यह भी स्पष्ट ही है कि अपने उद्धारके वास्ते सबसे पहिले अन्न तथा वस्त्रकी फिकर करनी पड़ेगी। अन्न तो अपने देशमें होता ही है। वस्त्रका व्यवसाय चाहिए। यह भी पहिले था, और अत्यन्त उन्नत अवस्था पर था। उसीका हमें पुनरुत्थान करना है। यह पुनरुत्थान किस प्रकार होगा यही प्रश्न हमारे सामने है।

× × × ×

महात्मा गांधी कहते हैं और उनकी बातको अन्य नेताओंने मान लिया है कि चरखे तथा करघेहीसे हमारा यह व्यवसाय फिर चलेगा और इसकी उन्नति होगी। इसकी पूर्ण उन्नतिके वास्ते यह भी देशने ते किया है कि विदेशी का बहिष्कार किया जाय। इस कार्य क्रमके विरुद्ध बहुतसी बातें कही जाती हैं। हम उन पर अगले महीनेमें विचार करेंगे और यह भी दिखलानेका प्रयत्न करेंगे कि भारतमें यदि कोई यंत्र सफलता पासकते हैं तो वे चरखे और करघे हैं।

ओ३म् वन्देमातरम्

# स्वार्थ

वर्ष २ खण्ड १ | आश्विन १९७८ | अङ्क ६ पूर्णाङ्क १८

## जनता और जनसम्मति

नताकी राजसत्ता—प्रजातंत्रशासनका मुख्य सिद्धान्त है। जनताके लिये, जनता द्वारा, जनताका शासन—वास्तवमें प्रजातंत्र शासनकी यही परिभाषा है। पर यह जनता क्या है? वर्तमान राजनीतिक संसारमें जनताकी डुग्गी बराबर सभी जगह पिटती रहती है। जनताहीके नामपर शासन होता है, जनसम्मतिके आधार पर तरह तरहके नियम बनते हैं, जनताहीके नामपर निरंकुश राजसत्ता नष्ट करनेके लिये फ्रान्सके राजा सोलहवें लुईका बध किया गया, फिर उसी जनताके नामपर प्रजातंत्रशासनकी गद्दीपर सम्राट् नेपोलियनका राज्याभिषेक हुआ, जनताहीकी रक्षाके लिये जनताही पर जलियांवालाबागमें गोली चली, जनताहीके नामपर मालेगांव और अलीगढ़में पुलिसपर अत्याचार होता है, जनताहीके नामपर नगर नगरमें अमन सभाएँ स्थापित होती हैं, साथही साथ उसी जनताके नामपर गांव गांवमें कांग्रेसकी ओरसे असहयोगकी घोषणा होती है, प्रत्येक सभामें प्रत्येक वक्ता अपना मत जनसम्मतिके समर्थनसे पुष्ट करता है, सिद्धान्त और भावोंमें आकाश पातालका अन्तर होते हुए भी प्रत्येक समाचारपत्र अपनेको जनताका मुखपत्र बतलाता है। ऐसी दशामें "जनता क्या है?" इस प्रश्नपर बुद्धि चक्कर खाने लगती है।

आजकल 'जनताकी सत्ता' केवल सिद्धान्त मात्र नहीं है, बल्कि वास्तविक ऐतिहासिक घटना है। मनुष्य स्वभावसे ही शक्तिका उपासक है, जनताकी शक्ति स्पष्ट ही है, इसी लिये वह उसका भक्त है। उसका अनुमान है कि व्यक्तिगत स्वार्थके लिये स्थान न होनेसे जनताहीमें सच्चा न्याय है और उसीमें सारे देशका ज्ञान एकत्र है, यही कारण है कि जनतापर उसको अटल विश्वास है। इस विश्वासके होनेसे, जनतामें एक अद्भुत दैवी शक्तिका आभास होने लगता है, जिसके सामने आजकल राजा रंक सभीको मस्तक झुकाना पड़ता है। जनसम्मतिकी प्रबल धाराके आगे व्यक्ति अपनेको असमर्थ पाता है और उसीमें पड़कर बहने लगता है।

# स्वार्थ

'जनता'–ऐसे जटिल शब्दका वास्तविक अर्थ समझनेके लिये, भिन्न भिन्न देशोंमें समय समयपर जिन भावोंमें इसका प्रयोग होता रहा है, उन पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है। देशकी सारी जनसंख्याकी गणना जनतामें कभी नहीं हुई है। प्राचीन समयमें, जो लोग युद्धमें भाग लेते थे, उन्हींको शासनका अधिकार था। यूनानके प्रजातंत्र नगर-राष्ट्रोंमें, 'सैनिक' और 'नागरिक' में कोई भेद न था। इस तरह स्त्रियां और दास शासनमें भाग लेनेसे वंचित रहते थे और राजनीतिक अर्थमें 'जनता' शब्दसे केवल सैनिकोंका बोध होता था। परन्तु आजकल यह बात नहीं है। कई देशोंमें स्त्रियोंको भी प्रतिनिधि चुननेका अधिकार प्राप्त है और सैनिक सेवा प्रत्येक युवकके लिये बाध्य नहीं है। ऐसी दशामें विदेशियोंका प्रश्न आता है। जो विदेशी देशमें आकर बस गये हैं, क्या उनकी गणना नागरिकोंमें हो सकती है? यदि नहीं, तो फिर उनकी इच्छाओंका ध्यान कैसे रखा जा सकता है? इसके सिवा देशकी जनसंख्याका एक भारी भाग ऐसा होता है, जिसका राजनीतिक जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। 'कोऊ नृप होय हमैं का हानी' यही उनका सिद्धान्त रहता है। क्या ये लोग भी 'जनता' के अन्तर्गत आ सकते हैं? सभी देशोंमें जनसंख्याका कुछ भाग ऐसा होता है, जो सामाजिक दृष्टिसे अवनत समझा जाता है, जैसे अमरीकामें हबशी, अफ्रीकामें काफ़िर और भारतवर्षमें अस्पृश्य जातियां। जनताकी गोदमें क्या इनके लिये स्थान नहीं है?

जनता अपनी शक्ति कैसे प्रकट कर सकती है–जब इसपर विचार करने लगते हैं, तो प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। प्राचीन समयमें सभाओंमें एकत्रित नागरिक एक साथ चिल्लाकर अपनी सम्मति प्रकट करते थे, परन्तु अब इसके स्थानपर अलग अलग वोट या मत देनेकी चाल है। इसमें निर्णयका सिद्धान्त बहुमत है। बहुसंख्यक दलका मत जनताका मत समझा जाता है और अल्पसंख्यकदलको उसका शासन स्वीकार करना पड़ता है। यहांपर कई एक प्रश्न आ जाते हैं और इस रीतिसे जनताकी सम्मति प्रकट होने से, उसके न्यायमें सहजही बहुत कुछ सन्देह होने लगता है। यदि कोई दल, पांच सौ सदस्योंकी सभामें, केवल पांच सदस्योंकी अधिकतासे विजय प्राप्त करता है, तो विजयी पक्षका मत उचित है, ऐसा अनुमान नैतिक दृष्टिसे कहांतक ठीक है? इतना ही नहीं, इसी तरह थोड़ा और विचार करनेसे प्रजातंत्र शासनका सिद्धान्त ही निर्मूल प्रतीत होने लगता है। कई लाख व्यक्तियोंके समुदायके अतिरिक्त जनता क्या है? इस जनसमुदायमें व्यक्तियोंकी अपेक्षा अधिक बुद्धि कहांसे आजाती है? प्रायः देखा गया है कि इन समूहों में अधिकता ऐसेही मनुष्योंकी होती है जिनके ज्ञान और बुद्धिकी मात्रा बहुत कम रहती है। इस समुदायकी बुद्धि या ज्ञान उतने व्यक्तियोंकी एकत्रित बुद्धि या ज्ञानमात्र है। कोई वस्तु केवल एकत्रित होनेहीसे अच्छी नहीं होती। इसी तरह यह कहना कि जनतामें व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धिका अवसर नहीं मिलता उचित नहीं जान पड़ता। व्यवहारमें प्रायः देखा गया है कि चतुर वक्ता भोले भाले जनसमुदायको

भुलावेमें डालकर सर्वसाधारणके हितका कुछभी ध्यान नहीं रखते और जनताके नेता बनकर सदा स्वार्थ–साधन किया करते हैं।

प्रत्येक जनसमुदाय अपनेको जनता बतलाता है। यह समुदाय जितना ही बड़ा होता है, इसमें उतनी ही विवेककी कमी और भावुकताकी अधिकता होती है। अस्थिरता इसका मुख्य चिन्ह है। क्षणभर पहिले, जिस नेताकी यह जय बोलता है, उसीको, दूसरे क्षण, जरासी बात पर धुन बदल जानेसे, पैरों तले कुचलनेको उद्यत हो जाता है। ऐसे चंचलप्रकृति, विवेकहीन व्यक्तिसमुदायसे जटिल राजनीतिक प्रश्नोंके समाधानकी आशा रखना व्यर्थ है। यह ठीक है कि साधारण मनुष्यका उद्देश्य प्रायः उचित होता है, पर व्यवहारमें इससे कहांतक काम लिया जाता है? प्रतिनिधियोंके चुनावपर, देखा गया है कि आधेसे अधिक ही अधिक-मत देने-वाले किसी प्रकारका भाग नहीं लेते। जो निर्वाचनमें भाग भी लेते हैं, उनमें कितने ऐसे होते हैं जिन्हें सामयिक प्रश्नोंका पूर्ण ज्ञान होता है और जो योग्य प्रतिनिधि चुनना अपना कर्त्तव्य समझते हैं? ये लोग कभी किसी लालचसे प्रेरित होकर या कभी किसी नेताकी कोरी बातोंके चक्करमें पड़कर उसके लिये अपना वोट दे देते हैं। भला ऐसे अविवेकी जनसमुदायमें कौनसी दैवी शक्ति है, जिसके पीछे आधुनिक सभ्य संसार लट्टू हो रहा है?

जिन देशोंमें जनताके हाथमें शासन है, उनके राजनीतिक जीवनके अध्ययनसे इस बातका पता चल सकता है कि ऐसे विचारोंमें भ्रमकी मात्रा कितनी अधिक है। पर इस विषयका विस्तृत विवेचन इस लेखका उद्देश्य नहीं है। यहां तो हमें केवल 'जनता' शब्द-पर विचार करना है। परन्तु इसकी शक्तिमें लोगोंका इतना अतुल विश्वास क्योंकर हो गया, इस पर कुछ विचार करलेनेसे इसके वास्तविक भावको समझनेमें थोड़ी बहुत सहायता अवश्य मिलेगी। इसकी उत्पत्ति राजाओंके अत्याचारसे होती है। निरंकुश शक्तिका दुरुपयोग स्वाभाविक है। राजा या किसी अल्पसंख्यक दलके हाथमें पूर्ण शासनाधिकार रहनेसे सर्वसाधारणके हितका ध्यान शासकको बहुत कम रहता है। वह राज्यको अपनी निजकी सम्पत्ति समझने लगता है, यही अत्याचारका मूल कारण होता है। इसकी सबसे उचित चिकित्सा निरंकुश शक्तिका छिन्न भिन्न कर देना है। इसी भावको लेकर प्रजातंत्र-सिद्धान्त-की नींव पड़ी है।

ऐसी दशामें लोगोंका ध्यान जनसंख्याके सबसे अधिक भागपर गया। इस भागके अन्तर्गत प्रायः साधारण स्थितिके मनुष्य आते हैं। धनकी अधिकता न होनेसे इन लोगोंमें वे गुण पाये जाते हैं जिनका अमीरोंमें ह्रास है। धन और व्यसनका पुराना और घनिष्ट साथ है। धनाढ्योंके हाथमें शासनका भार सौंपनेसे उसके दुरुपयोगकी सम्भावना अधिक है। परन्तु साधारण मनुष्यके विषयमें ऐसा नहीं कहा जाता, यही कारण है कि राजाओं और रईसोंकी अपेक्षा उसकी न्यायशीलतामें लोगोंको अधिक विश्वास होने लग गया। इस विश्वासकी वृद्धि बराबर होती गयी, कहीं कहीं, जैसे कि आजकल रूसमें, इसकी

मात्रा इतनी बढ़ गयी कि जिस निरंकुश शक्तिको नष्ट करनेके लिये इस दलका जन्म हुआ था, उसी शक्तिका यह स्वयं अधिकारी बन बैठा। इस तरह इसका उद्देश्यही नष्ट होगया। रूसमें ज़ार इस दलपर अत्याचार करनेमें कोई कसर न उठा रखते थे, उसी तरह आजकल यह दल अमीरोंपर अत्याचार करनेमें किसी ज़ारसे कम नहीं है। वास्तवमें लोगोंका उद्देश्य केवल इतनाही था कि जनसंख्याके सभी भागोंमें समानता रहे। कोई दल धनी या कुलीन होनेके कारण प्रबल न होने पावे। सभी अपने अपने योग्यतानुसार राष्ट्रकी सेवा करें। इस तरह राष्ट्रकी पुष्टि भी होगी और सर्वसाधारणका हित भी होगा।

इसी भावके साथ साथ साधारण मनुष्यकी योग्यतामें भी एक प्रकारका विश्वास उत्पन्न हो गया। साधारण मनुष्यसे अभिप्राय ऐसे मनुष्योंका है जिनको सांसारिक बातोंका अच्छा ज्ञान है, जो अपने पड़ोसियोंके साथ बराबरका व्यवहार करते हैं, प्रत्येक सामाजिक प्रश्नपर जिनका निर्णय उचित और निष्पक्ष होता है, जिन्हें हर घड़ी अपनी विद्वत्ता दिखलानेकी चिन्ता नहीं रहती और जो अमीरोंकी तरह उद्दण्ड नहीं होते हैं। ये लोग प्राय: मृदुल स्वभावके होते हैं और निजके सुखको अपने ढंगसे पानेका प्रयत्न किया करते हैं, यही स्वतंत्रता वे अपने पड़ोसियोंको भी देनेके लिये सदा तत्पर रहते हैं। जनसंख्याका सबसे भारी भाग ऐसे ही मनुष्योंका होता है। लिखने और बोलनेकी पूर्ण स्वतंत्रता होनेसे सर्वसाधारणके हितका इन्हें सहजहीमें ज्ञान हो सकता है। यही कारण है कि इनका निर्णय प्राय: उचित होता है।

अब नये नये आर्थिक प्रश्नोंके उत्पन्न हो जानेसे इस दलमें भी कई एक दल बन गये हैं और उनमें परस्परका युद्ध होने लग गया है, तो भी अभीतक ऐसे मनुष्योंके विश्वासमें बहुत कुछ सत्यता है। जहां अधिकार और कर्त्तव्यमें सभीका भाग है वहां अपना विचार प्रकट करनेका अच्छा अवसर मिलता है। बोलनेकी पूर्ण स्वतंत्रता होनेसे भिन्न भिन्न विचारोंका संतुलन हो सकता है और उससे विवेककी वृद्धि होती है। ऐसे मनुष्य कोरे सिद्धान्तोंके मायाजालमें नहीं फंसते और न सदा भावुकताकी धाराहीमें बहा करते हैं। नागरिक होनेका उत्तरदायित्व अपने मत्थे पड़नेसे कुछ कालमें उन्हें अपने कर्त्तव्यका ज्ञान होने लगता है। यदि किसीके ज्ञानकी सीमाएँ संकुचित होती हैं, तो वह भी दूसरोंको देख देख कर उनको विस्तृत बना लेता है। इस भावमें यह कहना असत्य नहीं है कि सबसे अधिक बुद्धिमान दल या व्यक्तिकी अपेक्षा सर्वसाधारण जनतामें बुद्धिकी मात्रा कहीं अधिक है। इस भावको अमरीकाके सुप्रसिद्ध राष्ट्रपति, अब्राहम लिंकनने इस सुन्दर वाक्यमें प्रकट किया है—"सब लोगोंको कुछ कालके लिये, या कुछ मनुष्योंको सर्वदाके लिये, भले ही कोई मूर्ख बनाले, पर सब मनुष्योंको सर्वदा कोई मूर्ख नहीं बना सकता।"

इस तरह यह स्पष्ट है कि आधुनिक प्रजातंत्र राष्ट्रोंमें जनतासे अभिप्राय उन सर्वसाधारण मनुष्योंसे है, जिनको राष्ट्रके शासनमें किसी न किसी तरह थोड़ा बहुत

भाग लेनेका अधिकार है। अब प्रश्न यह होता है कि ये लोग अपनी इच्छा कैसे प्रकट कर सकते हैं और अपनी शक्तिको किस तरह काममें ला सकते हैं? उत्तरमें कहा जाता है "वोट देने से।" स्विटजर्लैण्ड और अमरीकाकी कई एक रियासतोंमें बड़े बड़े प्रश्नों पर प्रत्येक नागरिकका मत अलग अलग लिया जाता है। इंगलिस्तान ऐसे देशोंमें, जहां यह चाल नहीं है, जनताकी ओरसे निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा उसकी इच्छा जाननेका प्रयत्न किया जाता है।

यद्यपि वोट देनेकी प्रथा सभी देशोंमें है, तोभी यह प्रथा पूर्णतया सन्तोषप्रद नहीं कही जा सकती। इसमें कई एक दोष हैं। प्रतिनिधि सदा अपने निर्वाचकोंका मत प्रकट नहीं कर सकते। व्यक्तिगत मत और निर्वाचकोंके मतमें जब भेद होता है, तो प्रतिनिधि प्रायः अपना ही मत प्रकट करते हैं। इनके निर्वाचनमें भी उनकी व्यक्तिगत योग्यताहीपर लोगोंका ध्यान अधिकतर जाता है, उनके सिद्धान्तोंको कोई भी नहीं पूछता। इसके सिवा बहुतसे लोग किसी तरहके दबावमें पड़कर उनको अपना प्रतिनिधि चुन लेते हैं और अपनी वास्तविक इच्छा प्रकट नहीं करते। इसलिये ऐसे प्रतिनिधियोंके मतको जनसम्मति कहना कहांतक उचित है? फिर इन प्रतिनिधियोंके चुननेका अधिकार योग्य अयोग्य सभीको एक समान प्राप्त है। इस तरह योग्यताकी अपेक्षा संख्याहीकी प्रबलता रहती है। पहिले दोषको दूर करनेका उपाय प्रत्येक निर्वाचकका पृथक् पृथक् मत लेना है। यह प्रथा अब कई देशोंमें चल पड़ी है और 'रिफ़ेरण्डम'के नामसे प्रसिद्ध है। वैसेही उचित नियमोंके बननेसे अनुचित दबाव डालना भी रोका जा सकता है। परन्तु तीसरे दोषको दूर करनेके लिये अभीतक कोई ठीक उपाय नहीं निकला है। निर्वाचकोंमें क्या गुण होने चाहियें और निर्वाचन किस ढंगसे होना चाहिये, जिसमें अयोग्यकी अपेक्षा योग्य मनुष्योंको अपनी योग्यता-प्रदर्शनका पूर्ण अवसर मिले, इस विषयमें बड़ा मतभेद है। वोटकी प्रथामें यह सबसे भारी दोष है। इस अंधेर नगरीमें भाजी और खाजा सभी टका सेर हैं। इस तरह यह कहना कि वोट देनेकी प्रथासे जन-सम्मति प्रकट हो सकती है, सर्वथा उचित नहीं जान पड़ता।

जनसम्मति कैसे प्रकट की जासकती है? इसका उत्तर देनेके पहिले 'जनसम्मति क्या है' इसपर विचार कर लेना आवश्यक है। साधारणतः 'जनसम्मति' शब्दसे समाज-सम्बन्धी किसी प्रश्नपर भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके संयुक्त मतका बोध होता है। इस मतमें तरह तरहके विचार, भाव, ईर्षा, द्वेष, आकांक्षाएँ, आदि सभी कुछ मिलते हैं। यह मत न तो श्रृंखलाबद्ध है और न इसमें किसी प्रकारकी स्थिरता ही है। क्षण क्षणमें इसकी गति बदला करती है, परन्तु इस पंचमेलमें भी एक ऐसा रंग अवश्य होता है जो धीरे धीरे ज़ोर पकड़ने लगता है। सामयिक प्रश्नोंके विवेचन और वादविवादमें कुछ काल बाद एक या कुछ मत ऐसे अवश्य निकल आते हैं जिनपर सर्वसाधारणका विश्वास जम जाता है। वास्तवमें यही जन-सम्मति है। आज कल अपनेही देशमें न जाने कितने आन्दोलन

चल रहे हैं, मनमाने मत जनताके नामपर प्रकट किये जा रहे हैं, पर हवा किस ओर बह रही है, यह किसीसे छिपा नहीं है। किसीके भयसे हम स्पष्ट न कहें यह दूसरी बात है, पर हवाका झोंका सभीको लग रहा है, इसीका नाम 'जनसम्मति' है।

इस जन-सम्मतिको निश्चित करनेका क्या उपाय है? निर्वाचन प्रतिदिन नहीं हुआ करते, इसके अतिरिक्त निर्वाचनका सम्बन्ध केवल राजनीतिक प्रश्नोंसे है और इसमें कई एक दोष भी हैं जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। समाचारपत्रोंसे भी इसका ठीक पता नहीं चलता है। प्रायः उनकी कोई विशेष नीति हुआ करती है। इसी लिये वे समाचारोंको उसी रंगमें रंगनेका प्रयत्न किया करते हैं। वे अपनी नीतिका बराबर समर्थन किया करते हैं और जनताके सच्चे मतको जाननेकी कोई चेष्टा नहीं करते। यही हाल सभाओंका है। बड़े बड़े नगरोंमें कोई वक्ता कुछ कालके लिये भारी सभामें अपना प्रभाव जमा सकता है। आजकल आन्दोलनके ऐसे ऐसे ढंग निकले हैं, कि वास्तविक जनसम्मतिका जानना बड़ा कठिन हो गया है। बराबर आन्दोलन करके किसी मतको थोड़े समयके लिये जनसम्मतिका स्वरूप दिया जा सकता है। आजकल अपने देशमें 'असहयोग' और 'अमन' सभाओंके आन्दोलनमें यह बराबर देखनेमें आ रहा है। ऐसी दशामें वास्तविक जनसम्मतिके जाननेके लिये इन सभाओंपर निर्भर होना ठीक नहीं है। इसके जाननेका सबसे अच्छा उपाय यह है कि देशभरमें भ्रमण किया जाय और सभी विचारोंके आदमियोंसे मिलकर उनके मत नोट किये जायं, तब कहीं ठीक ठीक पता लग सकता है। प्रायः सभाओं और समाचार पत्रोंमें, कई कारणोंसे, लोग अपना सच्चा मत प्रकट नहीं करते। हाथीके दांत दिखलाने और खानेके लिये भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। लोगोंसे बराबर सहानुभूतिके साथ मिलने और बातचीत करनेसे ही उनके सच्चे भावोंका ज्ञान होता है।

अब देखना यह है कि जनसम्मतिकी उन्नति तथा प्रचार कैसे होता है और सच्ची तथा झूठी अर्थात् दिखावे मात्रकी जनसम्मतिकी पहचान कैसे हो सकती है? जनसम्मतिके निर्माणमें तीन दल काम करते हुए दिखलाई देते हैं। एक दल तो उन मनुष्योंका है, जो अपना सारा जीवन सार्वजनिक प्रश्नोंके अध्ययनमें लगाते हैं। इसमें प्रायः व्यवस्थापक सभाओंके सदस्य, उच्चकोटिके समाचारपत्र लेखक और निज कर्त्तव्य तथा उत्तर-दायित्वके ज्ञाता नागरिक होते हैं। इनकी संख्या अवश्य कम होती है। पर ये ही लोग हैं जो जटिल समस्याओंको हल करके सिद्धान्त स्थिर करते हैं और जनसम्मतिको वास्तवमें जन्म देते हैं। अपनी वक्तृताओं और लेखों द्वारा ये लोग जनताके सम्मुख अपने विचार रखते हैं और उक्तियोंसे उन्हें अपना मत स्थिर करनेमें सहायता देते हैं। ये लोग जनताके नेता माने जाते हैं। दूसरा दल उन लोगोंका है जिन्हें बराबर सार्वजनिक जीवनमें भाग लेनेका अवकाश नहीं है, पर जिन्हें ऐसे प्रश्नोंमें रुचि अवश्य है और जो सदा ऐसे साहित्यका अध्ययन किया करते हैं। नेतागण जो दलीलें और सिद्धान्त इनके सामने रखते हैं उनपर मनन करके, ये लोग अपना मत स्थिर करते

हैं। इनके विचारोंका प्रभाव नेताओंके सिद्धान्तोंपरभी पड़ता है और उन्हें जनसम्मतिका स्वरूप देता है। इस तरह जनसम्मतिके निर्माणमें सबसे भारी प्रभाव इस दलका है। इन्हींकी सम्मति वास्तवमें जनसम्मति है, ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं है। तीसरा दल बचे खुचे लोगोंका है जिनका न तो कोई सिद्धान्त है और न कोई सम्मति। ये लोग अपने मनकी मौजके अनुसार जिस दलकी विजय देखते हैं उसीका साथ देने लगते हैं। सिवा संख्या बढ़ानेके इस दलसे जनसम्मतिपर और कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

प्रत्येक देशके राजनीतिक जीवनमें ये तीनों दल स्पष्ट रूपसे दिखलायी देते हैं। अपना ही देश ले लीजिये। इसमें महात्मा गांधी, लाला लाजपतराय, श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्री, सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और ऐसेही इने गिने लोग नेता हैं। ये लोग अपनी दलीलोंके साथ जनताके सामने अपना मत रखते हैं। दूसरा दल उन लोगोंका है जो उनकी दलीलोंको सुनकर अपना मत निश्चित करते हैं, और आवश्यकतानुसार नेताओंके सिद्धांतोंकी काट छांट करके अपने मतानुसार एक या दूसरी ओर भाग लेकर उन सिद्धान्तोंका आन्दोलन द्वारा प्रचार करते हैं। असहयोगियोंमें यही दल है जिसपर आजकल सरकारकी दमन नीतिका कुठार चल रहा है। मूल कारण —नेताओंपर— हाथ उठानेका साहस नहीं होता है, केवल वृक्षके तनेपर आघातपर आघात हो रहे हैं। शायद सरकारको यह ध्यान नहीं है कि बहुतसे वृक्ष ऐसे होते हैं जो, तना टूट जानेपर भी, मूलके बने रहनेसे फिर हरे भरे बने रहते हैं। स्वतंत्रताके वृक्षकी भी उन्हीं में गणना है। तीसरा दल उनलोगोंका है जो किसीको बोलते देख कर झुंडके झुंड एकत्र हो जाते हैं और भावुकता उकसानेके हेतु वक्ताकी योग्यताके अनुसार कभी "महात्मा गान्धीकी जय" और कभी "ब्रिटिश सरकारकी जय" पुकारने लगते हैं।

इस तरहसे जनसम्मतिका निर्माण होता है। पहिले इसकी धारा बरसाती नदीकी नाईं होती है जिसमें बालू, कीचड़, कूड़ा कर्कट, कंकड़ पत्थर इत्यादि, सभी चीज़ें बहती रहती हैं, पर समय पाकर उक्तियोंके संघर्षसे इस मैलकी तलछट नीचे बैठ जाती है और सुन्दर स्वच्छ जलका प्रवाह स्पष्ट दिखलायी देने लगता है। इस प्रवाहमें भावुकताका उद्वेग नहीं होता बल्कि गम्भीरता और स्थिरताकी मंद गति दिखलायी देती है। केवल स्वरूप देने भरका आन्दोलन शान्त हो जाता है। स्वार्थपरता, कूड़े कर्कटकी तरह, अलग फेंक दी जाती है। बिना तत्त्वके बकवाद करनेवालोंका मुंह, थककर, आपही आप बन्द हो जाता है। साधारण व्यक्ति स्वयं ही इसमें बहने लगता है। वोट देनेकी प्रथा इसको प्रकट करनेका एक कृत्रिम यंत्र अवश्य है, पर यह विचार-प्रवाह इन संकुचित यंत्रोंमें बन्द नहीं रह सकता। यह इनको तोड़ता फोड़ता हुआ सारे देशमें अपना अस्तित्व प्रकट किया करता है।

उचित जनसम्मतिके निर्माणके लिये कुछ बातोंका होना नितान्त आवश्यक है। इनमें सबसे मुख्य जनसाधारणकी बुद्धि और सार्वजनिक विषयोंमें उनकी रुचि है। इनके प्रति-

रिक्त मुख्य मुख्य सिद्धान्तोंपर एक मत होनेकी भी बड़ी आवश्यकता रहती है। इन्हींके न्यूनाधिकतानुसार इसकी गति प्रबल या निर्बल हुआ करती है। एकता न होनेसे राष्ट्रकी शक्ति छिन्न भिन्न हो जाती है और जनसम्मतिका प्रभाव निर्बल हो जाता है। जहां मतभेद अधिक होता है वहां जनसम्मतिका स्थिर होना समयपर निर्भर रहता है। जिनका पक्ष निर्बल है, वे आपही आप शिथिल पड़ जाते हैं और अन्तमें सत्यकी विजय अवश्य होती है।

जनसम्मतिकी उत्तमता साधारण बुद्धि. क्षमता तथा सर्वव्यापी आन्दोलनके बिना प्राप्त नहीं हो सकती। स्वराज्यकी योग्यताकी पहचान ऐसी ही जनसम्मतिसे हो सकती है। इसको पूर्ण बनानेके लिये, उपर्युक्त आवश्यकताओंके अतिरिक्त अन्य कई एक मुख्य मुख्य बातोंका ध्यान रखना पड़ेगा। राष्ट्रमें कुछ ऐसे मनुष्योंका होना आवश्यक है जो अपना जीवन सार्वजनिक हितके लिये अर्पण कर चुके हैं, जिन्होंने सामयिक प्रश्नोंपर मनन किया है और घटनाओंके आधारपर अपना मत स्थिर किया है। इनका नेताओंके नामसे ऊपर उल्लेख हो चुका है। इनके बाद ऊपर कहे हुए तीन दलोंमेंसे तीसरेकी अपेक्षा दूसरेकी अधिकता होनी चाहिये। ये वे लोग हैं जो नागरिकके कर्तव्यसे प्रेरित होकर, ऐसे विषयोंपर सदा ध्यान रखते हैं और किसी कोरे बकवादीके फंदेमें न फंसकर उक्तियोंकी सत्यताके अनुसार अपनी निष्पक्ष सम्मति स्थिर करते हैं। राष्ट्रके यही सच्चे आधार हैं। नेताओंमें साहस, त्याग और क्षमता अवश्य होनी चाहिये। इनको लोक-प्रियताका ध्यान छोड़कर सत्यतापर दृढ़ रहना चाहिये। जनसम्मतिमें प्रायः सबसे बड़ा दोष यह होता है कि इससे विरोधका सहन नहीं होता। ऐसा होनेसे बड़ी हानि होती है। मुख्य उद्देश्य नीचे पड़ जाता है और खाली विरोधमें सारी शक्ति नष्ट होने लग जाती है। जनसम्मतिको शुद्ध बनानेके लिये सभीको अपने विचार प्रकट करनेकी पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। किसी प्रतिकूल मतके प्रकट होनेसे इसकी हानिकी अपेक्षा पुष्टि होती है। यदि प्रतिकूल मत असत्य है तो उसकी हार अवश्य होगी। उसके प्रकट हो जानेसे लोगोंका भ्रम दूर हो जाता है।

यहांपर 'जनता और जनसम्मति' का विवेचन केवल राजनीतिक अर्थमें किया गया है, पर इससे यह न समझना चाहिये कि धार्मिक और सामाजिक जीवनसे इनका सम्बन्ध नहीं है। ठीक अभिप्राय समझमें आजानेसे वहां भी उचित जनता और जनसम्मतिका निर्माण कैसे हो सकता है और उससे लाभ कैसे उठाया जा सकता है, इसका अनुमान हो सकता है। जनताके संगठनके लिये किसी प्रकारके उत्तरदायित्वकी बड़ी आवश्यकता है। बिना जिम्मेदारीके मनुष्यको अपने कर्त्तव्यका ध्यान नहीं होता। जब उत्तरदायित्वका भार आ पड़ता है, तो कुछ कालमें निज कर्त्तव्यका ज्ञान स्वयंही हो जाता है। इसी तरह उचित जनसम्मतिके लिये बोलने और लिखनेकी स्वतंत्रता आवश्यक है। हमारे देशमें इन दोनोंका अभाव होनेसे न तो जनताकाही संगठन है और न जनसम्मतिकाही

निश्चित स्वरूप है। यदि हमें स्वराज्य लेना है तो इन दोनोंके लिये सदा सरकारका मुंह ताकना ठीक नहीं। हमें अपने देशके प्रति उत्तरदायित्वका ध्यान रखना चाहिये और परस्परमें विचार प्रकट करनेकी स्वतंत्रता और एक दूसरेके प्रति सहानुभूति तथा सहनशीलता-को बढ़ाना चाहिये। ऐसा करनेसे स्वराज्य-प्राप्तिमें हम लोगोंको सहायता मिलेगी और दासतासे मुक्त होनेपर हम अपने देशकी जनता और जनसम्मतिका उचित संगठन कर सकेंगे।

गंगाशंकर मिश्र

# हिन्दुओंका दाय-विधान

आज कल राजरियासतों और तअल्लुकेदारियोंको छोड़कर हिन्दूसमाजमें प्रायः सर्वत्र यही नियम है कि किसी मनुष्यके मरनेपर उसकी सम्पत्ति उसके लड़कोंमें बराबर बराबर बँट जाती है। यह नियम पैत्रिक सम्पत्तिके लिये है, स्वार्जित सम्पत्तिके लिये नहीं। स्वोपार्जित धनके विषयमें तो उपार्जन करने वाला स्वतंत्र है। जैसा कि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हृतमप्युद्धरेत्तु यः।
दायादेभ्यो न तद्दद्यात् विद्यया लब्धमेव च॥

(दायभाग-श्लोक ११९)

हाँ, यदि अपने जीवनकालमें बिना किसी प्रकारका बँटवारा किये ही किसीकी मृत्यु हो जाय तो इस स्वोपार्जित धनपर भी पुत्रोंका समान स्वत्व होगा।

परन्तु पैत्रिक सम्पत्तिके विषयमें गृहस्वामीको स्वाधीनता नहीं दी गयी है। उसके जीवनकालमें भी लड़कोंका स्वत्व रहता है और वह इस सम्पत्तिको नष्ट नहीं कर सकता। उसके मरनेपर जितने लड़के हों उतने विभाग हो जायंगे। इस प्रथाका एक बड़ा आधार याज्ञवल्क्य स्मृतिके व्यवहाराध्यायके दाय-विभाग प्रकरणका ११७वाँ श्लोक है। वह यों है—

विभजेरन्सुताः पित्रो रूर्ध्वं रिक्थमृणं समम्।
मातुर्दुहितरः शेष मृणात्ताभ्य ऋतेऽन्वयः॥

इसका पूर्वार्ध स्पष्ट कहता है कि पिताके मरनेपर लड़के धन और ऋणको बराबर बराबर बाँट लें।

परन्तु आर्य्योंमें सदैव यही प्रथा नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अति-प्राचीनकालमें यह प्रथा थी कि सारी सम्पत्तिका स्वामी ज्येष्ठ पुत्र ही हो। अन्य पुत्रोंका पैत्रिक धनपर कोई अधिकार नहीं था। पीछेसे अन्य पुत्रोंको भी रिक्थ (हिस्सा) मिलने लगा पर ज्येष्ठसे कम। और आगे चल कर सब पुत्रोंके रिक्थ समान हो गये।

दाय-विभागका कथन करते हुए आपस्तम्ब कहते हैं 'ज्येष्ठो दायाद इत्येके' (अर्थात् किसी किसीका कहना है कि ज्येष्ठ ही दायाद होता है)। 'एके' शब्दसे उन्होंने अस्वारस्य प्रकट किया है, पर यह तो स्पष्ट है कि उनके समयमें भी कुछ लोग इस पक्षका समर्थन करते थे। मनु भी (अध्याय ९, श्लोक १०५ में) कहते हैं—

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं धनम्॥

अर्थात् ज्येष्ठ पुत्र सारा पैत्रिक धन लेले। दूसरे लड़के पिताकी भाँति उसके उपजीवी हो कर रहें। इस श्लोकसे यह बात टपकती है कि पैत्रिक धन तो बड़े लड़केको सारा मिल जाता था पर उसके भाइयोंको उपजीवी बनकर रहनेका स्वत्व था। आजकलकी बोलचालकी भाषामें हम यह कह सकते हैं कि उनको रोटी कपड़ेका हक़ था। इसके पीछेकी व्यवस्था मनुस्मृतिके उसी अध्यायके ११७ वें श्लोकसे प्रकट होती है—

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्द्धं ततोऽनुजः।
अंशमंशं यवीयांस इतिधर्म्मो व्यवस्थितः॥

अर्थात् ज्येष्ठ पुत्र दो भाग, उससे छोटा डेढ़ भाग इत्यादि क्रमसे पैत्रिक सम्पत्तिका बटँवारा हो। (शेष पुत्र अर्थात् द्वितीयके पीछे वाले एक २ अंश पाते थे)।

इससे यह प्रतीत होता है कि दायविधान सदैव एक सा नहीं रहा है। उसमें क्रमागत परिवर्तन होते गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि परिवर्तनकालमें देशके भिन्न २ प्रान्तोंमें युगपत् कई प्रथाएँ प्रचलित रही होंगी। मनुस्मृतिमें इन विरोधी विधियोंके विधायक श्लोकोंका पाया जाना ही इस बातका प्रमाण है। पीछेके टीकाकार चाहे कुछ कहें पर सीधासादा अर्थ यही निकलता है कि वर्तमान दायविधान एक वृहत् परिवर्तनकी सन्तति है। वस्तुतः ऐसा माननेसे धर्म्मशास्त्रोंका कोई निरादर नहीं होता। हिन्दू समाज कोई जड़ यंत्र नहीं है। वह एक जीवित संस्था है जिसमें विकाशकी शक्ति कूट कूट कर भरी है। देशकालपात्र-भेदसे समय समय पर नयी स्मृतियों, नये धर्म्मशास्त्रोंकी सृष्टि होती रहती है। इससे धर्म्मके तात्विक रूपका ह्रास नहीं होता प्रत्युत उसके बाह्य परिवेष्टनका समयोचित संस्कार होता रहता है।

प्रत्येक परिवर्तनका कुछ न कुछ कारण होता है। यों तो महाभारतके शान्ति पर्वमें भीष्मने युधिष्ठिरको विश्वास दिलाकर कहा है—

कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूत् राजा कालस्य कारणम्॥

राजा कालका कारण है। इस वाक्यमें राजा शब्दकी यदि व्यापक व्याख्या की जाय तो यह अर्थ होगा कि राजसत्ता (उसका रूप चाहे कैसा ही हो—यह नियम निरंकुश नरेशों, पार्लमेण्टों, व्यवस्थापक सभाओं, सभीके लिये लागू है) कालकी प्रेरक है। वह देशको जैसा चाहे बना सकती है। यह एक सीमातक ठीक है पर राजसत्ताकी शक्ति भी अपरिमित नहीं होती। वह प्रजाकी रुचि देखकर ही चलती है, नहीं तो उसका अस्तित्व ही मिट जाय। अतः आर्य्य जनतामें जो समय समयपर विधान प्रचलित थे वे तत्तत्कालीन नरेशों और ऋषियोंके द्वारा मनमाने ढंगपर कभी न बनाये गये होंगे। उनके कारण रहे होंगे और इन कारणोंका आर्य्य जनताकी सामाजिक तथा आर्थिक अवस्थासे सम्बन्ध रहा होगा। इस परिवर्तनके इतिहासको ढूँढ़ निकालना बड़ा रोचक काम है पर उसके लिये यह उपयुक्त स्थल नहीं है।

# हिन्दुओंका दाय-विधान

इस समय हमको यह देखना चाहिये कि यह दायविधान हमारी वर्तमान् अवस्था-के लिये उपयुक्त है या नहीं। यदि उपयुक्त है तब तो कोई बात ही नहीं है, अन्यथा यह देखना होगा कि इसमें किस प्रकारके सुधारकी आवश्यकता है। यह भी सम्भव है कि समीक्षा करनेपर यह इतना निकम्मा जँचे कि इसको पलटकर कोई नितान्त भिन्न विधान ही बनाना उचित प्रतीत हो। यदि ऐसा भी हो तो बुरा नहीं है। किसी प्रथाका प्राचीनपन ही उसे त्रिकालके लिये उपयुक्त नहीं बना सकता। जो परिवर्तन श्रौत धर्म्मके मूल तत्वोंको आघात न पहुँचाता हो उससे घबरानेका कोई कारण नहीं है। अतः हमको यह देखना चाहिये कि इस प्रथाका हमारे कौटुम्बिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवनपर क्या प्रभाव पड़ता है और यदि यह प्रभाव बुरा है तो इसका परिहार कैसे हो सकता है।

मैं निर्मूल छिद्रान्वेषण नहीं करना चाहता पर मुझे तो इस प्रथाके निम्नलिखित पांच महाफल देख पड़ते हैं:—

( १ ) कृषिकी दुर्बलता—प्रत्येक शक्तिके लिये उपयुक्त क्षेत्र चाहिये। छोटे क्षेत्रमें अधिक शक्ति भी कुण्ठित हो जाती है। मान लीजिये कि एक कामको दस मनुष्य चार घण्टेमें करते हैं। इसीको बीस मनुष्य दो घण्टेमें करेंगे। यदि यह क्रम चलाजाय तो १,६३,८४० मनुष्य उस कामको $\frac{११३}{१२८}$ सेकेण्ड अर्थात् १ सेकेण्डसे भी कममें कर लेंगे, पर यह असम्भव है। दो तीन कड़ियोंके पीछे क्रम बिगड़ने लगता है क्योंकि जो शक्ति लगायी जाती है उसे क्षेत्र नहीं मिलता।

यही दशा हमारी कृषिकी है। यदि एक मनुष्यके पास किसी भूमिका १६ आना है, तो उसके लड़कोंके पास चार आना ही रह जाता है। उतरते उतरते पाइयोंकी नौबत आती है। इन छोटे टुकड़ोंसे कभी अच्छी खेती नहीं हो सकती। भूमिका सत्यानाश होता है। पहिले तो ऐसे छोटे कृषकोंके पास सामग्री ही नहीं, दूसरे यदि हो भी तो इन छोटे टुकड़ोंपर उसका प्रयोग नहीं हो सकता। नये प्रकारके यंत्र और खाद बड़े बड़े खेतोंके लिये हैं। यही कारण है कि ऐसी उर्वरा भूमिके होते हुए भी हमारे कृषक पाश्चात्त्य बड़े किसानों (farmers)की प्रतियोगिता नहीं कर सकते। खेत और फार्ममें महान् अन्तर होता है। छोटे खेतोंका होना अच्छा है पर प्रत्येक खेत इतना बड़ा होना चाहिये कि उससे एक कुटुम्बका पालन होसके। इससे क्या लाभ कि चार इतने छोटे छोटे टुकड़े हुए जो किसीके काम न आये।

कभी कभी ऐसा विचित्र बँटवारा होता है कि एक मनुष्यको मिलते तो हैं कई खेत, पर एक दूसरेसे दूर दूर। यह भी शक्तिके नाशका साधन है। जितने खेत होते हैं उतनी ही चिन्ता बढ़ती है और व्यर्थ व्यय बढ़ता है। यदि सब मिले हों तो काम आधा रह जाय और लाभ दूना हो जाय। यह स्मरण रहे कि ऊपर मैंने बराबर खेत शब्दका प्रयोग किया है, पर मेरा वक्तव्य केवल खेतोंके लिये नहीं वरन् ज़मींदारियोंके लिये भी है।

(२) मुक़द्दमेबाज़ी—जहाँ बँटवारेका मार्ग खुला है वहाँ मुक़द्दमेबाज़ी भी

होगी ही। यह सम्भव है कि पहिले समयमें पञ्चायतोंके द्वारा ऐसे मुक़द्दमे सुने जाते रहे हों, इससे व्यय कम पड़ता रहा हो पर झगड़े तो आये दिन लगे ही रहेंगे। यह भी स्मरण रहे कि यद्यपि मैंने ऊपर खेतोंका उदाहरण दिया है पर ऐसे झगड़े शहरोंमें भी बराबर होते हैं। झगड़ेका कारण खेत नहीं तो घर, बाग़, धन, आभूषण, आदि हो जाते हैं।

(३) निरुद्यमता—जहाँ कुछ थोड़ी बहुत भी सम्पत्ति होती है वहाँ बहुधा देखा गया है कि जिन लोगोंका उस पर स्वत्व पहुँचता है वे बचपनसे ही निरुद्यमी हो जाते हैं। चाहे एक ही आनाका हिस्सा हो पर यदि तीन हक़दार हैं तो तीनों उसके नामकी माला फेरेंगे। वे यह समझते हैं कि चारपाई के टुकड़ेसे हमारा कुछ न होगा, पर जमींदार और रईसका नाम कितना बड़ा है।

(४) दरिद्रता—जहाँ बहुतसे हृष्ट पुष्ट मनुष्य आलसी बनकर पड़े रहेंगे, प्रति दिन मुक़द्दमेबाज़ी होती रहेगी, भूमिकी शक्तियां नष्ट कर दी जायंगी, वहाँ दरिद्रता आप ही आ विराजेगी। जिस वृक्षकी जड़ नित्य ही कटती रहती है वह बेचारा कहाँ तक पनप सकता है।

(५) कलह—जहाँ मुक़द्दमेबाज़ी होगी वहां कलह भी होगा। मुक़द्दमेबाज़ीके पहिले भी कलह होता है और पीछे भी। होना चाहिये था भाई भाई में प्रेम, पर रहता है वैमनस्य। आपसमें बोलचाल तक बन्द हो जाती है।

इन प्रधान परिणामोंके अतिरिक्त कई गौण परिणाम भी होंगे। इनमेंसे 'एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र तु पञ्चकम्'। इनके विपरीत, यदि लाभोंकी खोज की जाय तो स्यात् यही एक लाभ मिलेगा कि सब को कुछ न कुछ मिल रहता है। जब एक ही पिताके चार बेटे हैं तो कोई कारण नहीं है कि एकके साथ पक्षपात किया जाय। ज्येष्ठ या कनिष्ठ होना तो एक आकस्मिक बात है। इसके उत्तरमें हम यह कह सकते हैं कि हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि कनिष्ठ होना दोष है, पर हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि सम विभागसे कई हानियां होती हैं। यह निश्चय है कि हमारा सुखदुख, हमारी मानसिक और आर्थिक अवस्था हमारी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। उससे सामान्य जनताका, राष्ट्रका सम्बन्ध है। प्रथा और विधान ऐसा होना चाहिये जिससे साधारणतः सुख, सौहार्द, सन्तोष, समृद्धि आदिकी वृद्धि हो। संसारसे दुःख सर्वथा उठ तो नहीं सकता पर कम हो सकता है। इसलिये जब हम यह देखते हैं कि सम विभागसे क्षति होती है तो इसे उठा देना चाहिये। यह ठीक है कि इस प्रथाके द्वारा सबको कुछ न कुछ मिल रहता है पर यह मिलना किस कामका? चार दरिद्रोंके स्थान-में एक तो सम्पन्न रहेगा। रहे शेष तीनों, सो उनकी दशा भी अबसे अच्छी रहेगी। इंगलैण्ड आदिमें क्या होता है? पिता जानता है कि मेरा बड़ा लड़का तो सम्पत्तिका स्वामी होगा, पर शेष लड़कोंको अपनी जीविकाका आपही प्रबन्ध करना होगा। लड़के भी यह

बात जानते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि चाहे बड़े लड़केकी पढ़ाई लिखाईमें कोई त्रुटि रहजाय, पर छोटे लड़कोंको यथासम्भव पूर्ण शिक्षा दी जाती है। वे आरम्भ-से ही किसी न किसी उद्यममें लगाये जाते हैं। जब उनको यह विदित है कि हम छोटेसे बड़े नहीं हो जायँगे, फिर बड़े भाईसे द्वेष करना भी निष्प्रयोजन है और आपसमें द्वेष करना अकारण है। फल यह होता है कि कलह भी नहीं होता, सम्पत्ति भी केन्द्रीभूत रहनेके कारण सुरक्षित रहती है और आलसियोंकी संख्या भी नहीं बढ़ने पाती, क्योंकि वहां अधि-कसे अधिक यह हो सकता है कि बड़ा लड़का निकम्मा निकल जाय।

अब रहा छोटे बड़ेका प्रश्न, सो यह तो एक सुभीतेकी बात है। बड़े लड़केको छोटोंकी अपेक्षा अधिक अनुभव रहता है और बड़ा एक निश्चित व्यक्ति है। छोटेका निश्चय बहुत दिनोंतक होही नहीं सकता क्योंकि लोगोंको सत्तर सत्तर वर्ष तक लड़के होते जाते हैं। रहे बीचके लड़के, सो न तो उनमें कोई विशेषता है, न उनको दायाद बनाने-में कोई सुविधा है।

अतः मेरी समझमें तो अब फिर उस प्राचीन प्रथाके प्रचारका समय आया है जिसके अनुसार केवल ज्येष्ठ पुत्र ही दायाद होता था। ऐसा करना समयानुकूल और युक्त है। धर्म्मशास्त्रका भी इससे कहीं विरोध नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि जो अभ्यास सैकड़ों वर्षोंसे पड़ गया है उसके हटानेमें कष्ट होगा, पर ऐसी जल्दी तो है नहीं कि यह परिवर्तन आज हो जाय। यदि आन्दोलन किया जाय और जनताके सामने यह प्रश्न रखा जाय तो थोड़े ही दिनोंमें लोग इसकी आवश्यकताको समझ जायँगे।

सम्पूर्णानन्द।

# यूरोपीय राजनीतिके इतिहासमें अरस्तूका स्थान
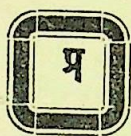
प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटोके शिष्य और सिकन्दरके आचार्य्य अरस्तूको पश्चिमीय संसारके लोग राजनीतिशास्त्र और वैज्ञानिक विधियोंके जन्मदाताकी पूज्य दृष्टिसे देखते हैं। उसमें उनकी भक्ति इतनी अधिक है कि श्रीयुत डाक्टर पोलक लिखते हैं कि जिस प्रकार संस्कृतके सभी ग्रन्थ ज्ञानपति गणेशकी बन्दनासे प्रारम्भ किये जाते हैं उसी प्रकार राजनीतिके सभी ग्रन्थ अरस्तूके पुण्य नामकी बन्दनासे ही प्रारम्भ होने चाहिये।"

सच पूछिये तो बात भी ऐसीही है। यूरोपकी वर्द्धित और परिमार्जित आधुनिक राजनीतिने अरस्तूसे ही जन्म ग्रहण किया था। राजनीतिके प्रायः सभी ग्रन्थोंका आधार अरस्तू द्वारा लिखित राजनीति (The politics) ही है। अरस्तू यूनानी नगर राज्यका अन्तिम दार्शनिक था। प्लेटो और सुकरातके ढांचेके कई दार्शनिक उसके पूर्व्व हो चुके थे, परन्तु उनके राजनीतिक विचार अन्य विचारोंके साथ मिश्रित थे, उन्हें वे निश्चित और सुव्यवस्थित रूप न दे सके। यह अरस्तूकी मेधावी शक्तिका ही कार्य्य था जिसने अपने पूर्व्व पुरुषोंके विखरे हुये विचार और सिद्धान्तोंको इकट्ठा कर एक सर्व्वांग पूर्ण ढांचा तैयार कर दिया। उसकी चामत्कारिक निरीक्षण-विधिने उस समयकी राजनीतिक घटनाओंका पूर्ण रूपसे अध्ययन और अन्वेषण करनेमें सहायता दी और इस प्रकार राजनीति शास्त्रपर वह वैज्ञानिक रंग चढ़ा सका।

हर एक दार्शनिक और विद्वानपर उसकी समीपवर्त्ती अवस्थाओं और प्राचीन विद्वानोंके ग्रन्थोंका कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है, और अरस्तूने भी अपने पूर्व्वके विद्वानोंसे कुछ ग्रहण अवश्य किया था, पर वह बहुत न था। इस बातका विचार रखते हुए भी हम लोग निस्सन्देह यूरोपीय राजनीतिके इतिहासमें अरस्तूको सर्व्वप्रथम स्थान दे सकते हैं, क्योंकि उसने नीतिशास्त्रको कर्त्तव्यशास्त्रसे विलग किया और इस प्रकार नीति-शास्त्रको एक विशेष जीवन दे इसकी वृद्धिका मार्ग उसने साफ़ कर दिया।

न्यायको स्थान देते हुये हमलोग इस बातका उल्लेख करना कभी नहीं भूल सकते हैं कि सुकरात और प्लेटोके विचारका प्रभाव अरस्तूके मस्तिष्कपर बहुत अधिक पड़ा था। यथार्थमें अरस्तूने इस बातका दावा कहीं नहीं किया है कि मैंने संसारके ज्ञान-समुद्रमें दर्शन और सिद्धान्तकी नयी तरंग उठायी है। उसका कार्य्य केवल संगठन और परिमा-र्ज्जनका कार्य्य हुआ है। अरस्तूमें सबसे अधिक प्रशंसाकी यह बात थी कि वह बड़ा भारी समालोचक था। समालोचनाके कार्य्यमें वह ऐसा न्यायपरायण और साहसी था कि जहां कहींपर उसमें और उसके आचार्य्य प्लेटोमें मतभेद हुआ है वहां उसकी समालो-चना करनेसे भी वह बाज़ नहीं आया है। शिक्षा विषयक सिद्धान्त और राष्ट्रके मन्तव्यमें

प्लेटोकी बातोंसे अरस्तूकी पूरी सहानुभूति है, पर अन्य बहुतसी बातोंमें अरस्तू और प्लेटोमें विभिन्नता है। सबसे मार्केकी विभिन्नता जो गुरु शिष्यमें है वह रीति (method) की विभिन्नता है। नीतिशास्त्रको कर्तव्यशास्त्रसे अलग कर देनेके कारण अरस्तू प्लेटोसे बहुत आगे बढ़ गया।

प्लेटोने जो कुछ लिखा है, वह एक आदर्श राष्ट्रके सम्बन्धमें है, पर अरस्तूने इसके विरुद्ध वास्तविक मनुष्य-समाज, राष्ट्रका संगठन और शासन आदि व्यावहारिक विषयोंपर लिखा है। उसने बहुतसे जानने योग्य समाचार और सामग्रियोंको एकत्र कर ग्रीसके भिन्न भिन्न नगरोंकी शासन-पद्धतिका सम्यक् रीतिसे अध्ययन किया। प्लेटोके आदर्शवाद और अरस्तूके यथार्थवादमें जो विभिन्नता है वह निम्नलिखित वाक्योंमें बहुत ही स्पष्टरूपसे दिखलायी गयी है—

"प्लेटो गुब्बारेपर चढ़े हुए मनुष्यके समान है जो एक नये देशके ऊपर उड़ता सा जान पड़ता है, जहां-ऊंचे आकाश-से कभी कभी उसकी दृष्टि धुन्धके बीचसे होती हुई भूगर्भपर पड़ जाती है, पर अरस्तू एक ऐसे प्रवासीके समान है जो उस स्थलपर जाकर सड़क बना देता है।"

अरस्तूने प्लेटोके समष्टिवादका भी खण्डन किया है।

सबसे बड़ी विशेषता जिसके कारण अरस्तूका सिक्का अर्वाचीन राजनीतिक दार्शनिकोंपर जमा हुआ है वह उसकी पुस्तक "पालिटिक्स" का आधुनिक ढंग और वक्तव्य है। अरस्तूको इस बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ा था कि यूनानी संसार परिमित होनेके कारण उसके अध्ययनके योग्य उचित और यथेष्ट साधन नहीं मिल सकते थे, पर तो भी मनुष्य स्वभावके अनुशीलनमें उसकी दृष्टि इतनी तीव्र और दिव्य थी कि शताब्दियों पहले उसने जिन सर्व्वव्यापी सिद्धान्तोंको अपनी पुस्तकमें लिखा था आज दिन भी वे पुराने और समयके प्रतिकूल नहीं जान पड़ते। उसकी पुस्तक "पालिटिक्स" आज भी उसी चावसे पढ़ी जाती है जिस चावसे प्रारम्भ कालमें पढ़ी जाती थी। स्पष्ट तो यह है कि "पालिटिक्स" का प्रभाव हर युगके राजनीतिकोंपर पड़ता आता है। केवल माध्यमिक काल ( Middle age ) में "पालिटिक्स" के ज्ञानमार्तण्डको ( Social contract theory ) प्रतिबद्ध समाजसिद्धान्तके कारण ग्रहण लग गया था, पर तुरन्तही अन्धकार फट गया और अत्यन्त चमकती हुई प्रभाके साथ अरस्तूने फिरसे बाजी मार ली और आज दिन भी "पालिटिक्स"-का स्थान उतना ही ऊंचा है।

अरस्तू किस प्रकार हम लोगोंका समकालीन कहा जा सकता है अथवा वह राज-नीति शास्त्रवेत्ताओंका मार्गदर्शक क्यों कहा जाता है—यह बात उसके "पालिटिक्स"के कुछ खण्डोंके दिग्दर्शनसे साफ साफ जान पड़ेगी। "पालिटिक्स"के प्रारम्भहीमें वह विश्लेषण-रीति (analytical method) का अनुसरण करता है जो आधुनिक

# यूरोपीय राजनीतिके इतिहासमें अरस्तूका स्थान

यूरोपीय वैज्ञानिक रीतिका विशेष लक्षण है। वह इसी रीतिका अनुसरण कर शीघ्र ही इस परिणामपर पहुँच जाता है कि राष्ट्र-संगठनका असली सिद्धान्त "आर्थिक आवश्यकता" है। अतएव राष्ट्र एक संगठित समाज है जिसका आशय "सर्व्व-व्यापक कुशलता है"। राष्ट्र कानूनी ढोंग नहीं है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रनिर्माण नहीं किया जाता है वरन् आपसे आप निर्मित हो जाता है। यह उस मार्गका प्राकृतिक और अवश्य-म्भावी पूर्ण फल है जिस मार्गकी प्रथम सीढ़ी परिवार है। इन बातोंको निर्धारित करते हुए अरस्तू शीघ्र इस परिणामपर पहुँचता है कि मनुष्य नागरिक होनेहीके लिये उत्पन्न होता है। यह बात आधुनिक राजनीतिक वार्तालापमें एक सिद्धान्तपूर्ण कहावत सी प्रयुक्त होने लग गयी है। राष्ट्रका स्वरूप बतानेके पश्चात् वह भिन्न भिन्न शासन-पद्धतिका अध्ययन प्रारम्भ करता है। वह उन्हें श्रेणियोंमें विभक्त करता है और उसकी यह परिपाटी आज दिनभी काार्य्यमें लायी जाती है। उसने उनके उत्तम और निकृष्ट दोनोंही स्वरूप दिये हैं। पर यहींपर वह ठहर नहीं जाता वरंच आगे भी बढ़ता है। वह कार्य्य यह है कि उसने राष्ट्रके भिन्न भिन्न कार्य्योंका भी वर्णन कर दिया है जो इस प्रकार हैं—विधेयात्मक, प्रबन्धात्मक और न्यायात्मक। राष्ट्रके इन्हीं तीन कार्य्योंपर आधुनिक राजनीतिज्ञ भी ज़ोर देते हैं।

विभिन्न राष्ट्रोंकी नामावली और राष्ट्रके भिन्न भिन्न कार्य्योंका उल्लेख करनेपर यह प्रश्न उसके सामने आजाता है कि "नागरिक क्या है अथवा नागरिक किसे कहते हैं?" अरस्तूकी दृष्टिमें नागरिक वही है जो देशके कानून बनाने और न्याय-वितरणमें भाग ले सके। यद्यपि वर्तमान कालमें हमलोग "नागरिक"की ठीक वैसीही परिभाषा नहीं करते जैसी कि अरस्तूने की है, पर बहुत अंशमें हमलोगोंका "नागरिक" विषयक अनुमान अरस्तूके ही विचारपर निर्धारित है।

पर अरस्तुका यह कथन कि शासनपद्धति ही राष्ट्र है (Constitution is the state) आधुनिक राजनीतिज्ञोंसे विषमता उत्पन्न कर देता है। जिस राष्ट्रमें अरस्तूने अपना जीवन व्यतीत किया था उसकी अवस्थाको ध्यानमें रखते हुए अरस्तूके इस भ्रमपूर्ण विचारके लिये भी हम उसे दोषी नहीं ठहरा सकते। जब उसने ऐसा लिखा था उसके दृष्टिपथमें यूनानी नगर साम्राज्यके व्यतिरिक्त कोई-दूसरा राष्ट्र नहीं आया था। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंका उसे कुछ ज्ञान ही न हो सका। इन त्रुटियोंके रहते हुए भी उसने लिखा है कि चाहे राज्यकी बागडोर एक मनुष्यके हाथमें हो या कुछ चुने हुए लोगोंके हाथमें हो, या बहुमतसेही राज्य शासित हो, पर शासनपद्धतिका निर्माण और प्रयोग इस प्रकार होना चाहिये जिसमें सबकी समान भलाई हो। उसका यह विचार हम लोगोंके "बहुसंख्यक लोगोंका अधिकतम कल्याण" (The gteatest good of the greatest number) के सिद्धान्तसे बिलकुल मिलता जुलता है।

अरस्तू द्वारा लिखित "पालिटिक्स"के "क्रान्तिकी उत्पत्ति" और 'शान्तिके उपाय' शीर्षक परिच्छेद बड़ी उत्तमताके साथ लिखे गये हैं और उनके लिखनेका ढंग आधुनिक ढंगोंसे पूर्ण रूपसे मिलता हुआ है। उन्हें पढ़ते समय यही जान पड़ता है कि ये

आजही लिखे गये हैं। इन परिच्छेदोंमें ऐसे व्यावहारिक और गम्भीर विचारोंका समावेश है, जो आज तक ऐसे ही बने हैं जैसे वे अरस्तूकी लेखनीसे निकलनेपर थे। संसारका कोई राजनीतिज्ञ उनसे उत्तम विचारोंको संसारके मनुष्योंके सामने नहीं रख सका है।

बड़ी तीव्र दृष्टिसे बुराई और असन्तोषकी जड़को पहचान लेने और दूरदर्शितासे उनकी विनाशक औषधिका उल्लेख करनेका अरस्तूका ढंग सबसे निराला था। उसने स्पष्ट शब्दोंमें लिख दिया है कि "न्यायका भ्रमपूर्ण विचार और आर्थिक कष्ट" ये ही दोनों राज्यक्रान्तिके प्रधान कारण हैं। वह राजसत्तात्मक, अल्प संख्यक शासन और बहुसंख्यक शासन—इन तीन प्रकारके भिन्न राज्योंमें क्रान्ति उपस्थित होनेके विशिष्ट कारणोंका उल्लेख करता है और उनके शमनके लिये समुचित उपायोंको भी बतलाता है।

इस प्रकार अरस्तूद्वारा लिखित पुस्तकें उसके एक महान् पुरुष होनेकी सूचना देती हैं। इसके अतिरिक्त वह अपने आश्चर्य्यजनक स्पष्टीकरणकी वैज्ञानिक रीतिके द्वारा राजनीति-शास्त्रके जनक होनेका दावा कर सकता है। वह पूर्ण रूपसे एक व्यवहार-कुशल मनुष्य था। उसने आदर्श राष्ट्रकी खोजमें प्लेटोके समान उड़ान न ली, क्योंकि वह संसारकी यथार्थ रीतियों और अवस्थाओंसे भली भांति परिचित था। उसकी समझमें यह बात शीघ्र ही आगयी कि पूर्ण दार्शनिक और तत्त्ववेत्ताका शासन सर्व्वोत्कृष्ट होता है, पर साथ ही साथ यह बात अशक्य और असम्भव है। अतएव उसने माध्यमिक राहपर ही बर्तना उचित समझा। उसने देखा कि एक मनुष्यका शासन उच्छृंखलतापूर्ण निरंकुश शासन है और बहुसंख्यक और निर्धन मनुष्योंका शासन हुल्लड़बाजीका शासन हो जाता है, अतएव उसने सोचा कि माध्यमिक श्रेणीके लोगोंद्वारा शासित राष्ट्र ही आदर्श राष्ट्र हो सकता है। वह स्वयं खुशहाल था, अतएव वह व्यक्तिगत स्वत्वकी महत्ताको जानता था और यही कारण था जिससे वह प्रत्येक मनुष्यको समान स्थितिमें ला देने वाले "समष्टिवादके" विरुद्ध था। प्लेटोसे विभिन्न अरस्तू बहुमतकी महत्ताको मानता था और सांसारिक सम्पत्तिसे उसे घृणा और त्याग-वृत्ति न थी। वह राजाओंकी सभामें और राजनीतिक कार्य्यक्षेत्रोंमें रह चुका था। अतएव उसकी राजनीतिके ढंगमें व्यावहारिकताकी झलक दिखायी पड़ती है।

अरस्तूकी एकदेशीय प्रशंसामें हम अन्धपरम्पराका अनुसरण कदापि नहीं करना चाहते। अतएव हम इस विषयका उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते कि वह मनुष्य था, उसने प्रारम्भिक सामग्रियोंको दूसरोंसे लिया और उन्हें परिष्कृत कर उनपर अपनी मोहर लगा दी। उसे स्वयं इतनी सामग्रियां प्राप्त न थीं कि बिल्कुल अपनी ईंट और अपनी सुरखीसे वह स्वतन्त्र रूपसे एक विशेष ज्ञानभवन तैयार कर सकता। इस बातकी स्पष्टता हमें तब मालूम होती है जब हम अरस्तूको प्लेटोका अनुकरण कर एक आदर्श प्रजातन्त्रके निर्माणके निमित्त अपने विचारके पंखोंपर उड़ते और कुछ दूर चढ़ कर गिरते हुए देखते हैं।

**ठाकुर राजकिशोर सिंह।**

# भारतीय सभ्यताका प्रसार।

कलकत्ता विश्वविद्यालयके व्याख्याता श्रीयुत डा० गौरांगनाथ बन्द्योपाध्याय-ने India as known to the ancient world नामक एक ग्रन्थ अंग्रेजीमें लिखा है। यह हालहीमें आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेससे प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ डा० हेल्मोल्ट्स डा० हर्थ्स, रैफलीज़, गैस्टन मैसपेरो, रौलिनसन और डा० राधाकुमुद मुखोपाध्याय आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध पुरातत्व वेत्ताओंकी खोजोंके आधारपर लिखा गया है। ग्रन्थकार भी एक अच्छे पुरा-तत्व-वेत्ता हैं। प्राचीन इतिहासपर सामयिक पत्र-पत्रिकाओंमें आपके कई महत्व-पूर्ण लेख प्रकाशित हो चुके हैं। एक दो मौलिक ग्रन्थ भी पुरा-तत्वपर आपकी लेखनीसे निकल चुके हैं। यदि यह बात न होती, तो आपका प्रस्तुत ग्रन्थ उपर्युक्त पुरातत्त्व-वेत्ताओंकी खोजोंका संग्रह ही रह जाता। इस ग्रन्थमें अतीत जगत्में भारतके स्थानका विचार दो दृष्टियोंसे किया गया है—व्यवसाय और सभ्यता। हम इस लेखमें सभ्यता विषयक बातोंका संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

यों तो संसारका ऐसा कोई देश नहीं, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें भारतीय सभ्यताका ऋणी न हो, परन्तु पूर्व्वीय एशियापर यह ऋण इतना बढ़ा कि उसका काया-कल्प ही हो गया। चीन देशने इस ऋणको अपने साहित्य-खातेमें स्वर्णाक्षरोंसे लिख रखा है। साहित्यिक खोज प्रारम्भ होते ही पुरातत्त्व-वेत्ताओंकी दृष्टि इस खातेपर पड़ी, और फाहियान, हुए न सांग तथा इ-त्सिंगकी यात्राओंके वर्णन भारतीय इतिहासके भाग बना दिये गये।

चीनी जाति प्रारम्भसे ही सभ्य थी। भारतीय धर्म्मोपदेशक विक्रम संवत्के लगभग १७० वर्ष पूर्व्व चीन पहुँचे। जागृत चीनियोंने केवल इनका स्वागत ही नहीं किया, वरन् उनमेंसे कुछ विक्रमके ६६ वर्ष पूर्व्व अनेक कष्टोंको सहते हुए भारतमें आये और बुद्ध भगवान्‌की स्वर्ण-प्रतिमा अपने देशको ले गये। चीनके राज-वंशने भी नये धर्म्मका स्वागत करनेमें देर न की। सम्राट् मिंगतीने संवत् ११७ में दूतोंको भेजा और ये लोग मध्य-भारतसे अनेक ग्रन्थ तथा धर्म्मोपदेशक साथ ले गये, जिनमें आचार्य्य कश्यप मातंग प्रधान थे। इन आचार्य्योंने चीन पहुँच कर वहाँकी भाषाका अध्ययन किया और बौद्ध धर्म्म-ग्रन्थोंका चीनी भाषामें उल्था किया। इस घटनाका जो परिणाम हुआ, वह तीन शताब्दियोंके पश्चात्‌के इतिहाससे प्रकट होता है। चतुर्थ शताब्दीके मध्यमें उत्तरीय चीनकी लगभग सारी जनता बौद्ध धर्म्मके रंगमें रंग गयी और देशके एक कोनेसे लेकर दूसरे कोनेतक बौद्ध-विहार दिखलायी पड़ने लगे। सं० ४८२ के लगभग भारतमें बौद्ध धर्म्मका पतन द्रुत गति-से होने लगा। राज-वंशोंकी छत्रच्छाया उसपरसे उठ गयी और ब्राह्मणोंका विरोध उत्त-

रोत्तर बढ़ने लगा। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य्य बोधि धर्म्मसे निराश होकर अपने अनेक शिष्योंके साथ चीन चला आया। इस घटनासे चीनमें बौद्ध धर्म्मको और भी उत्तेजना मिली और कुछ ही शताब्दियोंमें यह धर्म्म चीनका प्रधान धर्म्म हो गया।

उपर्युक्त बातोंका पता यूरोपियन इतिहास लेखकोंको बहुत पहिले लग गया था, परन्तु उन्हें क्रमबद्ध करनेका श्रेय डा० हेल्मोल्ट्सको ही प्राप्त है। इन बातोंका जानना भी अधिक कठिनाईका काम नहीं था। जो कुछ कठिनाई थी वह चीनी भाषाके अध्ययनकी थी। परन्तु यही बात ब्रह्मदेशके दक्षिणके प्रदेशों और मलय द्वीप-समुदायके विषयमें नहीं कही जा सकती। इन देशोंपर भारतीय सभ्यताका जो प्रभाव पड़ा, वह परिमाणमें चीनकी अपेक्षा किसी प्रकार कम नहीं है, प्रत्युत विभिन्नताके कारण अधिक भी कहा जा सकता है। मलय, सुमात्रा, यव, सिंहपुर आदि नामोंको सुन खोजी इतिहासकारोंको विश्वास हो गया था कि ये द्वीप कभी न कभी भारतीय धर्म्म और सभ्यताके प्रकाशसे आलोकित रहे हैं, इससे इनके निवासियोंके साहित्यमें इस ऋणका दर्शन न पाकर वे उन्हें कृतघ्न समझते थे, परन्तु फ्रान्सकी सरकार द्वारा भेजे गये पुरातत्वज्ञोंके सराहनीय परिश्रमसे अब यह भ्रम दूर होने लगा है। प्रति वर्ष कोई न कोई नयी खोज होती है और अब यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि यदि चीनने भारतीय ऋणका उल्लेख अपने साहित्यमें किया है तो इन देशों और द्वीपोंके निवासियोंने उसे अपनी शिल्प कला द्वारा स्तूपों और देवालयोंपर अंकित कर चिरायु कर दिया है।

चीनमें जो लोग भारतीय सभ्यताका प्रकाश ले गये, वे सबके सब बौद्ध थे, परन्तु ब्रह्मदेश और मलय द्वीपोंमें जिन्होंने सबसे पहिले प्रवेश किया, वे पौराणिक धर्म्मावलम्बी ब्राह्मण थे। ब्रह्मदेशके उत्तरसे लेकर कोचिन चाइना तक आज भी सहस्रों नष्ट-भ्रष्ट मंदिर पाये गये हैं, जिनपर संस्कृत भाषामें शिला-लेख दृष्टिगत होते हैं। तृतीय शताब्दीसे लेकर १५६४ सं० के लगभग तक कम्बोडियामें जितने राजा हुए, उनमेंसे अधिकांशके नाम इन शिला लेखोंपर खुदे हैं।

सम्राट् सिकन्दरके समकालीन इतिहास लेखक वालेने लिखा है कि पूर्व्वीय एशियाके दक्षिणी प्रायद्वीपका सारा किनारा द्वितीय शताब्दीमें सिन्धु ( हिन्दू ) लोगोंसे बसा था। इस प्रमाणसे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि भारतीय लोग कम्बोडिया आदि देशोंमें जहाज़ों द्वारा पहुँचे। ये भारतीय दक्षिणसे गये अथवा उत्तरसे—यह प्रश्न विवाद-ग्रस्त है। परन्तु कुछ लोगोंका यह कथन समीचीन जान पड़ता है कि सिकन्दरके समयतक दक्षिण भारतके द्रविणोंपर आर्य्योंकी पूर्ण विजय नहीं हुई थी, अतएव वहाँसे धर्म्मा॰देशकोंका जाना असंभव है। इस कथनको सत्य मान कर यह निश्चय किया गया है कि जिस समय आर्य्योंने उड़ीसापर अधिकार किया, उसके कुछ समय बाद ही वे जहाजों द्वारा पूर्व्वीय द्वीपोंमें पहुँचे।

कम्बोडिया और श्यामके अधिकांश मन्दिर शिव और गणेशके हैं। तथापि

विष्णुकी उपासना भी यहाँ होती रही है। इतनाही नहीं, जितने अत्यन्त महत्वके तथा सुन्दर मन्दिर पाये गये हैं, वे सब विष्णुके ही हैं। अंगकोर थोम और अंगकोर वटके मन्दिर इस बातके प्रमाण हैं, जो लगभग सं० ८८० के निर्माणित हुए थे। शिल्प-कला-परीक्षक दर्शकोंका कहता है कि भावगम्भीरता और शिल्पकी उत्कृष्टताकी दृष्टिसे ये दोनों मन्दिर एशियामें ही नहीं, सारे संसारमें अद्वितीय हैं। अंगकोरवटके मन्दिरके चारों ओर अगणित प्रतिमाएँ हैं, उनका निर्माण रामायणकी कथाके आधार पर हुआ है। एम० पिएरे लाँटीने श्याम देशपर जो ग्रन्थ लिखा है, उसमें इस मन्दिरका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है।*

मलय द्वीप-समुदायके साथ भारतवासियोंका व्यापार अत्यन्त प्राचीन कालसे होता रहा है। व्यापारियोंके अनुगामी बनकर ही भारतीय धर्म्मोपदेशक इन पूर्व्वीय द्वीपोंमें आये। जिस समय ये लोग भारतसे रवाना हुए, उस समय वहाँकी धार्म्मिक एकताका अन्त हो चुका था। बौद्ध धर्म्मके विरोधमें पौराणिक हिन्दूधर्म उठ खड़ा हुआ था और दोनों धर्म्मोंमें भयंकर संग्राम मचा हुआ था। सोलहवीं शताब्दीमें यूरोपकी जो राजनीतिक दशा थी, विक्रमीय चौथी शताब्दीमें भारतकी वैसीही धार्म्मिक दशा थी। जिस प्रकार राजनीतिक तथा व्यावसायिक स्पर्द्धाके कारण पोर्तुगाल, हालैण्ड, इंग्लैंड और फ्रान्सके निवासी पूर्व्वीय देशोंमें व्यापार करनेके लिए एकही साथ आये, उसी प्रकार धार्मिक स्पर्द्धाके कारण बौद्ध और पौराणिक हिन्दूधर्म्म दोनोंके अनुयायी धर्म्मोपदेशके अभिप्रायसे लगभग एकही साथ मलय द्वीप-समुदायमें पहुंचे। बौद्ध धर्म्मका इतिहास इन द्वीपोंमें भी भारतके समान ही बना। अर्थात् प्रारम्भमें बौद्ध धर्म्मने आशातीत सफलता प्राप्त कर पौराणिकोंको दबा दिया, परन्तु अन्तमें पौराणिक द्विगुणित उत्साहसे उठ खड़े हुए और बौद्ध-धर्म्मका अन्त कर दिया। हिन्दूधर्म्मके अनुयायी अबतक मलय द्वीपोंमें पाये जाते हैं, परन्तु बौद्ध धर्म्मके पौर्व्वकालिक अस्तित्वका पता केवल नष्ट भ्रष्ट मंदिरोंसे ही लगता है।

मलय प्रवासी भारतवासी, स्वदेशके किस प्रान्तसे स्थानान्तरित हुए, इसके विषयमें मत-भेद है। डाक्टर फर्ग्युसनका अनुमान है कि बौद्ध-धर्म्मोपदेशक गुजरात और कृष्णा नदीके मुहानेसे प्रवासी हुए। जावा द्वीपका शिल्प और उनपर अंकित संस्कृत भाषा इस

* This temple is one of the places in the world, where men have heaped together the greatest mass of stones, where they have accumulated the greatest wealth of sculptures, of ornaments, of foliage, of flowers and faces. It is not simple as are the lines of Thebes and Baalbek. Its complexity is as bewildering even as its enormity. Monsters guard all the flights of steps, all the entrances, the divine Apsaras in indefinitely repeated groups are revealed every-where along the overhanging, creepers—M. Pierre Loty on "Siam".

अनुमानको पुष्ट करती है, परन्तु डा० कर्न और ग्रोनमैनकी सम्मति इसके विपरीत है। सुमात्राके मंदिरोंकी रचना करने वाले बौद्ध हिनायान सम्प्रदायके थे, यह निश्चित है। हिनायान सम्प्रदायका प्रभाव दक्षिण भारतमें ही अधिक था, अतएव इन दोनों विद्वान डाक्टरोंकी सम्मतिमें बौद्ध लोग दक्षिणसे ही मलयद्वीपोंमें आये।

मलय द्वीप-समुदायके जिन द्वीपोंमें भारतीय सभ्यताका प्रभाव पड़ा, उनमें मुख्य जावा, सुमात्रा, बाली और बोरनिओ हैं। यद्यपि जावा अन्य द्वीपोंकी अपेक्षा भारतसे अधिक निकट नहीं है, तथापि ऐसा जान पड़ता है कि यहीं सबसे पहिले भारतीयोंका आगमन हुआ और अन्त तक यही उनके प्रभावका केन्द्र रहा। सोलहवीं शताब्दीके पोर्तुगाल वासियोंके लिए एशियामें गोवा जितना महत्वपूर्ण था, पांचवीं शताब्दीके प्रवासी हिन्दुओंके लिए जावाका भी उतनाही महत्त्व था। जावाके प्रथम प्रवासी वैष्णव धर्म्मावलम्बी भारतवासी थे। चीनी यात्री फाहियान भारत-भ्रमणके बाद इस द्वीपमें भी आया था। उसने स्वमतावलम्बी लोगोंके विषयमें कुछ न लिखकर केवल हिन्दुओंका उल्लेख किया है। वर्तमान बटेवियाके समीप जो नष्टभ्रष्ट चिन्ह पाये गये हैं, उनसे भी हिन्दुओंके प्रथमागमनकी बातकी पुष्टि होती है। चौथी और पांचवीं शताब्दीमें जावामें हिन्दू-धर्म्मका पोषक कोई नरेश अवश्य रहा होगा। सातवीं शताब्दीमें आदित्य धर्म्म नामके एक राजाका उल्लेख शिलालेखोंमें मिलता है। यह केवल पश्चिमीय जावाका शासक था, परन्तु इसने सुमात्राका कुछ भाग जीता और शिवराग नामक जावाके एक दूसरे नरेशको पराजित किया। जान पड़ता है शिवराग पौराणिक देव शिवका उपासक था। आदित्यधर्म्म उत्कट बौद्ध था। इसीलिए इसने उसको पराजित किया। यह कहना कठिन है कि आदित्यधर्म्मके ही समयमें बौद्धोंका आगमन पहिले पहिल हुआ। यह निश्चित है कि इसके समयमें बौद्धोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी। चीनियोंके लेखोंसे पता चलता है कि सं० ७३० के लगभग जावामें एक राज्य था, जिसको छोटे छोटे राजा कर देते थे। इस समय सिमा नामकी एक स्त्री सिंहासनासीन थी।

इसके बाद दो सौ वर्षोंके अन्दर जावामें बौद्ध धर्मका अभूतपूर्व प्रचार हुआ। बोरोब्यूदर नामक एक राज्यका अभ्युदय हुआ, जिसने बौद्ध मन्दिरोंके निर्माणमें प्रचुर सम्पत्तिका व्यय किया। बोरो ब्यूदरका मन्दिर जावामें ही नहीं, एशियामें अद्वितीय है। मिकदारकी दृष्टिसे यह मिश्र देशके पिरामिडके सिवा संसारकी और किसी भी इमारतसे छोटा नहीं है, परन्तु बहु-व्यय-निर्म्मित होने तथा सौन्दर्य्यके कारण वह इन पिरामिडोंसे भी बढ़ गया है। जावाके अभ्यन्तर इस पहाड़ी मन्दिरके निर्म्माणके लिए जितने मज़दूरोंकी आवश्यकता हुई होगी उनका अनुमान करते ही पिरामिड भी तुच्छ जान पड़ने लगते हैं।

दसवीं शताब्दीके मध्यसे जावामें भारतीयोंका प्रभाव घटने लगा। यद्यपि कुछ वर्षोंके बाद जावाके पूर्व्वीय भागमें बौद्ध धर्म्मका स्थान नवीन हिन्दूधर्म्मने ग्रहण किया,

और द्वीप भरमें भारतका सर ऊँचा रखनेका प्रयत्न किया, परन्तु यह सफल न हुआ। जावा-निवासी समृद्धिके साथ ही साथ विलासी हो चले थे। नवीं शताब्दीमें ही विलास-वस्तुएँ लेकर अरबके व्यापारियोंने जावामें प्रवेश किया। समयके प्रवाहके साथ ही साथ इनकी संख्या बढ़ती गयी और ये वहीं बस गये। इस समय अरब-निवासी मुसलमान धर्म्ममें दीक्षित होकर इस नये मतका प्रचार सर्वत्र शक्ति और उत्साहसे कर रहे थे। जावामें भी उनके उद्योगसे इसलामने स्थान पाया। हिन्दू और बौद्ध धर्मोंके वास्तविक अनुयायी उच्च कुलके लोग थे। साधारण जनता केवल बाह्य आडम्बरोंको अपनाये हुए थी। अतएव इसलामने सहजही इसमें प्रवेश कर लिया। धार्म्मिक प्रभावने राजनीतिक सत्ताको जन्म दिया। हिन्दुओं और बौद्धोंको सर झुकाना पड़ा और जावा अरबोंके हाथमें चला गया।

सुमात्रा जावाकी अपेक्षा भारतके अधिक निकट है। यह अपने मसालोंकी उपजके लिये प्रख्यात है। जान पड़ता है कि इन्हींके व्यापारके लोभसे पहिले पहिल भारतीय यहाँ आये। पहिले उन्होंने उत्तरीय किनारेपर कदम रखा और फिर धीरे धीरे अभ्यन्तरमें प्रवेश किया। यद्यपि सारा जावा द्वीप भारतीय सभ्यताके प्रभावमें आ गया था, तथापि राजनीतिक अधिकार अधिकतया मूल-निवासियोंके ही हाथोंमें था। सुमात्रामें इसके विपरीत बात हुई। उत्तरीय सुमात्रामें भारतवासियोंने राजनीतिक नेतृत्व ग्रहण किया और भारतीय ढंगपर छोटे छोटे राज्योंकी नीव डाली। दक्षिणीय सुमात्रापर प्रारम्भसे ही जावा निवासियोंका प्रभाव था, परन्तु १४३४ वि० के लगभग जावाके मेच्योपहित राज्यके शासकने इसपर पूर्ण रूपसे अधिकार कर लिया। जावाके लोग सहस्रोंकी संख्यामें यहाँपर आकर बसने लगे। सोलहवीं शताब्दीके मध्यमें जब जावापर अरबोंका आधिपत्य हुआ तब उन्होंने सुमात्राको भी अधिकृत कर लिया।

मलय द्वीप-समुदायके जिलोंमें सुन्द द्वीप सबसे कम प्रसिद्ध है। यहाँ सुसंगठित सामाजिक तथा राजनीतिक जीवनका प्रायः अभाव रहा है, परन्तु बाली द्वीपके विषयमें यह बात नहीं कही जा सकती। विक्रमकी द्वितीय शताब्दीके प्रारम्भमें जब जावामें नवीन हिन्दू-धर्म्मका अखण्ड आधिपत्य था, तब बाली द्वीपमें भी ब्राह्मण सभ्यता पूर्ण उन्नतिपर थी। कलिंग कुंगके कौसम्ब मन्दिरमें हिन्दू पुराणोंकी कथाओंके आधार पर बनी हुई अनेक प्रतिमाएँ मिली हैं। ये आजकल बरलिनके कौतुकालयमें हैं। ९८० वि० के लगभग बालीमें उग्रसेन राजा राज्य करता था। ११६० वि० में जयपंगु नामक शासकका उल्लेख मिलता है। अरबोंने बालीकी ओर भी पग बढ़ाया। लम्बकको अधिकृत भी कर लिया, परन्तु सफलमनोरथ न हुए। बालीके ब्राह्मण राज्योंने मुसल्मानोंको मुँहतोड़ जवाब दिया। लम्बकको फिर छीन लिया और सम्बावा दखल करनेका उद्योग किया। इन प्रयत्नोंका यह परिणाम हुआ कि इसलाम धर्म्मकी बाढ़ बालीमें न पहुँच सकी और फलतः आज तक वहाँ हिन्दू पाये जाते हैं।

बोरनिओ मलय द्वीप-समुदायका सबसे बड़ा द्वीप है, परन्तु चारों ओरसे आरोग्य-

नाशक नीची जमीन और जंगलोंसे घिरे रहनेके कारण यह उस महत्त्वको नहीं प्राप्त कर सका जो उसके विस्तारके कारण उसे प्राप्त होना चाहिए था। तथापि इस द्वीपका भी दक्षिणी किनारा जावाके निकट होनेके कारण भारतीय सभ्यताके प्रभावसे नहीं बचा है। मन्दिरों और मूर्त्तियोंके अवशिष्ट चिन्होंके अतिरिक्त भारतीय सभ्यताका इसपर प्रभाव सिद्ध करनेके लिए साहित्यिक प्रमाण भी पाये गये हैं। हिन्दू-धर्मके प्रचारके साथ ही साथ जावासे अनेक निवासी यहाँ आये और बस गये। १६५६ वि० में जबतक इसलामने यहाँ अपनी जड़ जमायी तबतक हिन्दुओंका दबदबा रहा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चीन, जापान, ब्रह्म देश, स्याम, अनाम कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बाली और बोरनिओ आदि सभी देशों और द्वीपों अर्थात् पूर्वीय एशिया भर-में भारतके लोग भारतीय सभ्यताकी ज्योति ले गये। ऐसी दशामें डाक्टर ब्यूलके निम्न लिखित वाक्योंपर कौन विश्वास करेगा—

"India never felt the need of Seeking the outside world, but it always was destined to be the goal for the other nations by land as well as by sea. From its vast treasures it has given to the world more than any other country on the earth, but the world has had to fetch, these treasures for itself."

द्वारका पसाद मिश्र।

# संसारके व्यवसायका इतिहास ।

## ( गतांकसे आगे )

सभी समयोंके राष्ट्रोंका अनुभव बतलाता है कि जब तक कोई राष्ट्र असभ्यावस्थामें रहता है तब तक उसको अप्रतिबद्ध वाणिज्यसे बहुत लाभ होता है । ऐसे वाणिज्यसे वे लोग मृगया, चरागाह, जंगल और खेती द्वारा प्राप्त वस्तुओं तथा हर प्रकारके कच्चे मालके बदलेमें अच्छे कपड़े, अच्छी वस्तुएं तथा कल, बरतन और बहुमूल्य धातु ले रखते थे । इन्हीं सुविधाओंके कारण वे लोग पहले अप्रतिबद्ध वाणिज्यको अच्छा समझते थे । अनुभव यह भी बतलाता है कि ज्यों ज्यों वे राष्ट्र शिष्टता और व्यवसायकी उन्नति करते गये त्यों त्यों ऐसे वाणिज्यको बुरा समझने लगे और अन्तमें उनका विचार इतना परिवर्तित हुआ कि वे उसीको अपनी उन्नतिका बाधक समझने लगे ।

इंग्लैण्ड और हांसावालोंके वाणिज्यका यही हाल था । स्टीलयार्डकी शिल्पशालाको स्थापित हुए एक शताब्दी भी नहीं हुई थी कि तृतीय एडवर्डने[२८क] सोचा कि कच्चा ऊन भेजकर पक्का ऊनी कपड़ा मंगानेके बदले राष्ट्रको कोई अच्छा काम करना चाहिये । अतएव वह फ्लैण्डरके[२८ख] जुलाहोंको अधिक अधिकार देकर इंग्लैण्डमें बुलानेकी चेष्टा करने लगा और जब बहुतसे जुलाहे आगये तो उसने अपने देशमें विदेशी वस्तुओंका व्यवहार रोक दिया ।

जिस समय इंग्लैण्डमें इस सुनीतिका अवलम्बन किया जा रहा था उस समय अन्य देशोंकी नीति इतनी भ्रष्ट थी कि इंग्लैण्डकी सफलता बढ़ती ही गयी । इंग्लैण्ड और अन्य देशोंका ऐसा उदाहरण व्यवसायके इतिहासमें बहुतायतसे मिलेगा । फ्लैण्डर और ब्राबेण्टके[२८ग] प्राचीन शासकोंने अपने वाणिज्यकी जितनीही वृद्धि की थी पीछेसे उसको उतनीही हानि पहुंचायीं । इस कारण वहांके व्यवसायी बड़े असन्तुष्ट हुए । बहुतसे तो देश छोड़ कर चले गये ।

सं० १४७० ( १४१३ ईसवी ) में अंगरेजोंने ऊनके व्यवसायकी इतनी वृद्धि की थी कि उस समयका उल्लेख करते हुए ह्यूमने लिखा है कि इंग्लैण्ड वाले विदेशी व्यापारियोंसे बड़ी डाह रखते थे और उनके लिये उन्होंने बड़े बड़े प्रतिबन्ध लगा रक्खे थे । जो व्यापारी इंग्लैण्डमें माल भेजता था उसे बेचे हुए मालके मूल्यके बराबर कोई न कोई अंग्रेजी माल अवश्य खरीदना पड़ता था । चतुर्थ एडवर्डके[२९] समय डाहकी मात्रा इतनी बढ़ गयी थी कि कपड़ा तथा अन्य वस्तुओंका बाहरसे आना एकदम रोक दिया गया था ।

यद्यपि हांसा लोगोंने इंग्लैण्डके राजाको दबा कर प्रतिबन्धोंको हटवा दिया था तथापि इससे इंग्लिस्तानके ऊनके व्यवसायको बड़ा लाभ हुआ । सप्तम हेनरीके[३०] शासनका वर्णन करते हुए ह्यूमने यों लिखा है—"व्यवसाय और कलाकी उन्नतिका जनता-

पर इतना प्रभाव पड़ा जितना कदाचित् राजाज्ञाका न पड़ता।" इसके कारण धनियोंकी बहुतसे नौकर रखनेकी लत छूट गयी। पहले वे लोग अपनी बड़ाई अधिक नौकरोंके रखनेमें और उनके बाहुबलमें समझते थे, परन्तु वे अब अपने घरोंकी सुन्दरता, सामग्रीकी बहुमूल्यता तथा सवारीकी अच्छाईके सम्बन्धमें प्रतिस्पर्द्धा करने लगे। जो लोग पहिले नौकरीके बहाने सुस्त पड़े रहते थे उनको अब यह चिन्ता हुई कि कोई न कोई रोज़गार सीख कर समाजमें कुछ उपयोगी कार्य करें। ऐसा कानून भी निकल गया कि सिक्के या साधारण प्रकारकी धातु भी बाहर न भेजी जाय। परन्तु उसका यथार्थ पालन न होनेके कारण ऐसा नियम फिर बनाया गया कि जितने मूल्यकी वस्तु कोई विदेशी व्यापारी इंग्लैण्डमें बेचेगा उतनेही मूल्यकी कोई न कोई तद्देशीय बनी बनायी वस्तु उसे अवश्य खरीदनी पड़ेगी।

अष्टम हेनरी[११] के समयमें विदेशी चीज़ोंकी अधिकताके कारण भोज्य पदार्थोंका मूल्य बहुत बढ़ गया था। यह इस बातका प्रमाण है कि देशी उद्योगकी बढ़तीके कारण वहाँकी कृषिको बड़ा लाभ हुआ।

किन्तु राजा हेनरीकी बुद्धिमें इसका यथार्थ कारण नहीं आया। लोग विदेशीय व्यवसायोंके विरुद्ध उसका कान भी भरने लगे, क्योंकि ये लोग विदेशी कारीगरोंको अधिक चतुर, परिश्रमी और मितव्ययी समझते थे। मंत्र-परिषद (प्रिवी काउन्सिल[१२]) ने १५००० बेल्जियमके कारीगरोंको निर्वासित करनेकी आज्ञा दी और उनपर यह अपराध लगाया गया कि तुमने यहांकी वस्तुओंको मंहगी कर देशमें अकालकी संभावना उपस्थित कर दी। प्रतिकार रूपमें व्यक्तिगत व्ययको घटानेके लिये, कपड़े लत्तेका व्यय तथा खाद्य पदार्थोंका मूल्य और मज़दूरी नियन्त्रित करनेके विचारसे कई नियम बनाये गये। हांसा लोगोंने स्वभावतः इस नीतिका सत्कार किया, क्योंकि वे लोग अष्टम हेनरी तथा उसके पहलेवाले राजाओंके साथ, जिनकी नीति हांसा लोगोंके स्वार्थके अनुकूल थी, बड़ी प्रीतिका व्यवहार रखते थे। हांसा लोगोंने अपने लड़ाईके जहाजोंको भी हेनरीके अधिकारमें कर दिया। अब क्या था, हेनरीके जीवनपर्यन्त इंग्लैण्ड और हांसाका वाणिज्य धूमधामसे चलता रहा। हांसा लोगोंके पास जहाज और मूलधन दोनों ही थे और सौभाग्यसे उनमें वह चतुरता भी थी जिससे वे स्वहितको न समझने वाली मूर्ख प्रजा और राज्यको फुसला सकते थे। उनकी युक्ति आधुनिक वाणिज्यके अनन्याधिकार-वादियोंसे भिन्न थी। हांसा लोग अपने वाणिज्य-स्वत्वका प्रतिपादन वास्तविक सन्धि-पत्र तथा चिरकालके व्यवसाय-अधिकारके प्रमाणसे करते थे और आजकलके व्यापारी कोरे सिद्धान्तोंके सहारे ऐसा करते हैं।

षष्ठ[१३] एडवर्डके शासन-कालमें मंत्र-परिषद्ने बहाना खोज कर स्टीलयार्डके व्यापारियोंके सारे विशेष अधिकार छीन लिये। हांसा लोगोंने इस नयी बातका बड़ा विरोध किया, परन्तु मन्त्र-परिषद् अपने पथपर अटल रही। इससे राष्ट्रको बहुत बड़ा लाभ हुआ। अंग्रेज़ व्यापारियोंको उसी देशके निवासी होनेके कारण विदेशियोंकी अपेक्षा कपड़ा, ऊन और दूसरे पदार्थोंको खरीदनेमें अधिक सुविधाएं थीं, किन्तु अभीतक उनकी

आंखें नहीं खुली थीं। अतः इन सुविधाओंका अपूर्व अनुभव कर स्टीलयार्डके सदृश धनी संस्थाके साथ चढ़ा ऊपरी करनेका साहस उन्हें न हुआ। परन्तु सभी विदेशी व्यापारियों-पर प्रतिबन्ध हो जानेके कारण अंग्रेज जातिमें उन्नतिकी आकांक्षा उत्पन्न हो गयी और देशके एक छोरसे दूसरे छोरतक यही भाव फैल गया।

इस प्रकार हांसा लोग इंग्लैण्डके ऐसे वाणिज्यसे निकाले गये, जिससे कि वे लोग ३०० वर्षोंतक लाभ उठाते रहे। परन्तु रानी मेरी[१४] ने जर्मनीके सम्राट्के निवेदन-पर हांसा लोगोंको फिरसे सब अधिकार लौटा दिये। इन्हें वे बहुत दिनोंतक भोग न सके। अधिकारोंको अटल रखनेकी इच्छासे ही नहीं, प्रत्युत उन्हें अधिक विस्तृत बनानेके अभिप्रायसे वे लोग एलिजबेथ[१५] रानीके समक्ष रानी मेरी और षष्ठ एडवर्डके द्वारा किये गये व्यवहारपर बिलपने लगे। रानीने बुद्धिमत्तापूर्वक उत्तर दिया कि मुझको और कुछ परिवर्त्तनका अधिकार नहीं है और साथही यह वचन भी दिया कि जितने अधिकार आपको मिले हैं उनके भोगनेमें मैं आपकी सहर्ष रक्षा करूंगी। परन्तु हांसा लोग इस उत्तरसे संतुष्ट न हुए। कुछ समय बीतनेपर उनका वाणिज्य फिर रुक गया। इस बार अंग्रेजोंको बड़ा लाभ हुआ और उन्होंने अपने देशकी चीज़ोंको बाहर भेजनेका लाभ पूर्णतया अपने ही हाथमें कर बड़े कौशल और सफलताका परिचय दिया।

उस देशके कुछ व्यापारियोंने कपड़ा और स्वदेशकी अन्य वस्तुओंको विदेशीय राज्यों अथवा नगरोंमें घूम घूम कर बेचना आरम्भ किया और शेष एक स्थानपर रहकर वाणिज्य करते रहे। इसपर हांसा लोगोंकी डाह इतनी बढ़ी कि अंग्रेज़ोंकी ओरसे अन्य देशोंका ख्याल बिगाड़नेमें उन्होंने कुछ भी उठा न रखा। अन्ततः सं० १६५४ के श्रावण मास (अगस्त १५९७) में उन लोगोंने जर्मनीमें यह राजाज्ञा निकलवा दी कि कोई अंग्रेज़ जर्मनीके राज्यमें वाणिज्य न करे। इसके उत्तरमें सं० १६५५के पौष मास (जनवरी १५९८) में एलिज़बेथने एक घोषणा प्रकाशित की। उसके आधारपर हांसा वालोंके ६० जहाज़ स्पेनके साथ अनधिकार वाणिज्य करनेके अपराधमें पकड़ लिये गये। रानीका ख्याल था कि इन जहाजोंको पकड़कर फिर छोड़ देनेसे हांसा लोगोंसे मैत्री हो जायगी, परन्तु उसने सुना कि लूबेक नगरमें हांसा संघका अधिवेशन यह सोचनेके लिये हो रहा है कि अंग्रेज़ोंके विदेशी वाणिज्यको किस प्रकारसे हानि पहुंचायी जाय। तब उसने जहाज़ोंको माल सहित छीन लिया। केवल दो जहाजोंको छोड़ कर उनके द्वारा रानीने सन्देशा भेजा कि मैं हांसा संघ तथा उसके काम और सभाको अत्यन्त घृणित भावसे देखती हूं।

इस प्रकार एलिज़बेथने उन्हीं हांसा लोगोंके साथ ऐसा व्यवहार किया जिन्होंने उसके पिता तथा इंग्लैण्डके पूर्व राजाओंकी सहायताके लिये लड़ाईमें अपने जहाज उधार दिये थे। यह बात ध्यान रखनेके योग्य है कि यूरोपके सभी राजा इन हांसा लोगोंकी खुशामद करते थे। डेनमार्क तथा स्वीडेनके राजा शताब्दियोंतक इन्हें अपना अधिपति मानते थे और इन्हींके आज्ञानुसार उनके देशमें आते और जाते थे। ये हांसा लोग वे ही

थे जिन्होंने बाल्टिक सागरके तटपर बस कर सभ्यताका प्रचार किया और समुद्रमें लूट पाटको रोका। ये लोग वे ही थे जिन्होंने थोड़े ही दिन पहले शस्त्रपाणि होकर अंग्रेज़ोंसे अधिकार लिये थे और जिनके पास अनेक बार अंग्रेज़ी राजाओंने अपने मुकुटतकको बन्धक रक्खा था। किसी समय इंग्लैण्डके प्रति इनकी क्रूरता और दर्प इतना बढ़ गया था कि अपने धीवर कर्मकी भूमिके समीप जानेके अपराधमें उन्होंने सौ अंग्रेज़ी मल्लाहोंको समुद्रमें डुबा दिया था। हांसा लोगोंकी शक्ति अब भी एलिजबेथसे बदला लेनेके लिये पर्याप्त थी परन्तु उनमें पहलेका उद्योग तथा स्वतन्त्रता और ऐक्यजन्य शौर्यका भाव न रह गया था। अन्ततः हांसा लोगोंका भी पतन हुआ। सं० १६८७ में (सन् १६३०) में इनका संघ तोड़ दिया गया। यूरोपके सब राजाओंसे इन्होंने नम्र निवेदन किया कि अपने देशमें वस्तुओंको लानेका विशेष अधिकार हमें दीजिये, पर सब स्थानोंमें इन्हें निरादर सहना पड़ा।

उनके पतनके कई बाहरी और भीतरी कारण थे। डेनमार्क और स्वीडेन वाले भी इतने दिनोंतक हांसा लोगोंके दास बने रहनेका बदला लेनेके अभिप्रायसे उनके वाणिज्यमें जहाँतक हो सका बाधा डालते रहे। रूसके[१६] ज़ारने अंग्रेज़ी कम्पनीको वाणिज्यका अधिकार दिया था।

ट्यूटन[१७] सरदारोंका वर्ग भी जो कई शताब्दियोंसे हांसा लोगोंका मित्र था तथा इन्हींके द्वारा स्थापित हुआ था, टूट गया। अंग्रेज और हालैण्डवालोंने उनको सब देशोंके बाज़ारोंसे निकाल दिया और उनका तिरस्कार किया। इसके बाद उत्तमाशा (गुडहोप) अन्तरीप होकर भारतादिको जाने वाले मार्गके मिल जानेसे उनकी सबसे बड़ी हानि हुई।

इस संघवालोंने अपने अच्छे दिनोंमें जर्मनीसे संधि करनेका ध्यान भी न किया होगा। परन्तु अब जर्मनीकी राज-सभा ( रीस्टाग ) से उन्होंने प्रार्थना की कि अंग्रेज लोग प्रति वर्ष २,००,००० थान बाहर भेजते हैं, जिसका अधिक अंश जर्मनीमें ही जाता है। जर्मनीमें अंग्रेजी कपड़ेके थानोंका आना बन्द किया जाय। ऐसा करनेसे ही हमारा अधिकार इंग्लैण्डमें फिर हो सकता है। एन्डरसनका[१८] कथन है कि ऐसा करनेका बहुत कुछ विचार किया गया, परन्तु गिलपिन नामक अंग्रेजी राजदूतने इसको न होने दिया। हांसासंघके टूटनेके १५० वर्ष बाद उनके नगरोंमें उस प्राचीन महत्त्वकी स्मृति भी न रह गयी थी। जस्टिस मोजरने[१९] लिखा है कि एक बार जब हम उन नगरोंमें गये और उस प्राचीन अधिकार और गौरवकी कथा सुनाने लगे तो वहाँके लोगोंने हमारी बातका विश्वासतक नहीं किया। जिस हैम्बर्ग नगरके नामसे समुद्रीय लुटेरे कांपते थे एवं जिस नगरने समुद्रीय लूटपाटको निर्मूल कर दिया था और समस्त ईसाई संसारमें जिसकी प्रसिद्धि हो गयी थी, वही अब हानिसे बचनेके लिये अलजियर्सके लुटेरोंको वार्षिक कर देने लगा।

कुछ काल बीतनेपर समुद्रका अधिकार हालैण्डवालोंके हाथमें गया और तबसे लुटेरोंके साथ व्यवहार रखनेकी एक नयी नीति प्रचलित हुई। हांसालोग इन लुटेरोंको

सभ्य जगतका शत्रु मान कर जहाँ उन्हें पाते थे नष्ट कर देते थे। पर डच लोग समुद्रीय लुटेरोंको दण्ड देनेके बदले मित्र बनाकर अमनचैनके समय दूसरे देशोंके वाणिज्यके जहाज लुटवाकर स्वयं लाभ उठाते थे। अंग्रेजोंने भी उत्तरी अफ्रीकाके किनारेपर लुटेरों-को दबानेका कुछ भी प्रयत्न न किया। अब फ्रांस वालोंने इसका बीड़ा उठाकर सभ्यताके प्रचारमें बड़ा योग दिया है।

हांसा लोगोंके नगरोंका वाणिज्य राष्ट्रीय पद्धतिके अनुसार नहीं था। कारण यह था कि उसकी नींव न तो देशकी आन्तरिक उत्पादक शक्तिहीपर रखी गयी और न किसी राजनीतिक शक्ति द्वारा उसकी पर्याप्त सहायता ही होती थी। हांसासंघके नगर अपने भिन्न भिन्न स्वार्थकी चिन्तामें पड़े रहते थे। उनका स्वार्थप्रेम देशप्रेमसे भी बढ़ गया था। कलोनने संघ और इंगलैण्डके इस झगड़ेसे अपना लाभ उठाया और हैम्बर्ग वाले डेनमार्क और लूबेकके झगड़ेसे स्वार्थ-साधन करने लगे।

हांसा लोग इस बातका विचार नहीं करते थे कि व्यवसाय अपने देशकी उपज, खपत, कृषि और शिल्पके अनुसार होना चाहिये। वे अपने देशकी कृषिकी उपेक्षा करते थे और उनके वाणिज्यसे दूसरे देशोंकी कृषिकी बढ़ती होती थी। वे लोग अपने देशमें शिल्पशाला खोलनेके बदले बनी बनायी वस्तु बेलजियमसे खरीद लिया करते थे। उनके व्यवसायके कारण पोलैण्डकी खेती, इंगलैण्डकी राई, स्वीडेनके लोहेका व्यवसाय तथा बेल्जियमके शिल्पकी उन्नति हुई। हांसालोग उसी सिद्धान्तपर कार्य करते रहे जिसको आजकलके कल्पनाकुशल अर्थशास्त्रज्ञ सबको सिखाते फिरते है, अर्थात् "जहाँ सस्ती वस्तु मिले वहीं खरीदना चाहिये।" परिणाम यह हुआ कि हांसा लोगोंके लिये और देशोंका मार्ग बन्द हो जानेपर वे कहींके भी न रहे, क्योंकि न उनकी कृषि ही उन्नत थी और न उनका शिल्प ही इतना चढ़ा बढ़ा था कि वे अपनी बची हुई पूँजी उसमें लगा देते। अतएव उनका सब धन हालैण्ड और इंग्लैण्डमें जाकर उनके शत्रुओंकी व्यवसाय-शक्ति और धनकी वृद्धिका साधक हुआ। इन बातोंसे यह सिद्ध होता है कि जो वाणिज्य राष्ट्रीय न होकर केवल निजी तौरसे किया जाता है वह राष्ट्रके ऐश्वर्य या शक्तिके लिये सदा उपयोगी नहीं होता। इन नगरोंने धन कमानेके पीछे अपनी राजनीतिक उन्नतिपर कुछ ध्यान न दिया। इन्हें बढ़तीके समय यह जानतक नहीं पड़ता था कि हम जर्मन साम्राज्यके अंग हैं। वे स्वार्थ और घमण्डमें भूले हुए कूप मण्डूककी तरह अनेक राजाओं तथा महाराजाओंसे खुशामद कराने और समुद्रके अधिपति बन बैठनेहीसे अपने को कृतकृत्य मानते थे।

यदि वे चाहते तो अपने अभ्युत्थानके समय जर्मनीके कुलीनतन्त्रकी बराबरीमें एक साधारण लोगोंकी प्रतिनिधि सभा स्थापित कर राष्ट्रीय एकताका सम्पादन कर लेते। उनके लिये यह कठिन न था कि इस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति द्वारा रीगासे डनकर्क तकके समुद्र-तटको एक राष्ट्रके अधीन कर जर्मनीको शिल्प, व्यवसाय, तथा समुद्रीय शक्तिमें आधि-

पत्य प्रदान कर देते। परन्तु समुद्रीय आधिपत्यका नाश होते ही उनका इतना भी प्रभाव न रह गया कि जर्मनीकी राजसभा (रीस्टाग) द्वारा अपने वाणिज्यको राष्ट्रीय अंग कहला कर उसकी रक्षा कराते। जर्मनीके कुलीन-तन्त्रने उलटे अवनतिप्राप्त नागरिकोंकी दुर्दशा कर डाली। उनके भीतरी नगर जहां तहांके राजाओंके हाथमें पड़ गये, जिससे उनके साथ समुद्रीय स्थानोंका कुल सम्बन्ध टूट गया।

इंग्लैण्ड वालोंमें ये दोष नहीं थे। उनके विदेशीय वाणिज्य तथा व्यवसायके जहाजोंकी व्यवस्था उनकी कृषि और व्यवसायके अनुरूप तथा उसीके आधारपर थी। उनके देशी वाणिज्यकी वृद्धि भी विदेशी वाणिज्यके अनुरूप ही हुई थी। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता इस प्रकार प्राप्त की कि उससे राष्ट्रीय एकतामें ज़रा भी धक्का नहीं पहुँचा। उनके देशमें राजा, कुलीन और सर्वसाधारणका परस्पर स्वार्थ बड़ी ही उत्तम रीतिसे संघटित हुआ।

इन बातोंपर भली भाँति विचार कर क्या कोई कह सकता है कि अंग्रेज लोग शिल्प, समुद्रीय शक्ति तथा व्यवसायकी इतनी अपूर्व और विशाल उन्नति इस वाणिज्य* नीतिके विना ही प्राप्त कर सकते थे? कदापि नहीं। यह कथन तो बिलकुल असत्य प्रतीत होता है कि अंग्रेज़ोंकी शक्ति और बड़ाई उनकी इस नीतिके अनुसार न चलने अथवा उसके प्रतिकूल चलनेके कारण हुई थी।

यदि अंग्रेज़ोंने कुछ न किया होता तो अब तक स्टीलयार्ड वाले उसी प्रकार लन्दनमें वाणिज्य करते ही रहते और आँग्ल देश बेल्जियमवालोंपर अब तक कपड़ेके लिये आश्रित रहता। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड अब तक उसी प्रकार हांसा लोगोंका ऊन उत्पन्न करनेका स्थान रहता जैसे पुर्तगाल एक कुटिल नीतिज्ञकी सहायतासे अब तक अंग्रेज़ोंके लिए शराब उत्पन्न करनेका स्थान बना है। सच बात तो यह है कि अंग्रेज़ लोग इस वाणिज्यके विना इस प्रकारके नगर-शासन तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके भागी न होते क्योंकि इसके मूल कारण व्यवसाय और धन ही हैं।

इन बातोंके रहते हुए भी न जाने क्यों एडम स्मिथ महोदयने इंग्लैण्ड और हांसा संघके वाणिज्यकी चढ़ा ऊपरीके इतिहासका आद्योपान्त अनुसरण नहीं किया है। उनके ग्रन्थके कुछ अंशोंके पढ़नेसे स्पष्ट विदित होता है कि उन्हें इस संघके पतनके कारण तथा उसके परिणामका ज्ञान नहीं था। इनका कथन है कि व्यापारीको किसी विशेष देशका नागरिक होना ही आवश्यक नहीं है। उसको इस बातकी कोई भी चिन्ता न होनी चाहिये कि मैं किस देशमें व्यवसाय कर रहा हूँ। थोड़ी भी अरुचि होनेपर वह अपने व्यवसाय और पूंजीको दूसरे देशमें ले जा सकता है और इसमें तबतक कोई बाधा या हानि नहीं हो सकती जबतक उसकी पूंजी उस देशके गृह अथवा भूमिकी स्थायी उन्नतिमें न लगायी गयी हो। आज दिन बारहवीं या तेरहवीं शताब्दीके इतिहासके पत्रोंको छोड़ कहीं

---

* प्रतिबन्धक नीति।

भी हांसा लोगोंकी संपत्तिका पता नहीं मिलता। इसका भी पता नहीं कि हांसा लोग कहाँ रहते थे अथवा उनके अधिकारमें कौन कौन नगर थे जिनके नाम लैटिन भाषामें हैं और उनका मूल नाम क्या था।

आश्चर्यकी बात तो यह है कि एडेमस्मिथ महोदयने हांसा संघके पतनके अप्रधान कारण भली भाँति जानते हुए भी उसके प्रधान कारणके अन्वेषणमें तनिक भी ध्यान न लगाया। इसके लिये उन्हें दूर जानेकी आवश्यकता न थी। न तो इतिहासहीके उलटनेकी आवश्यकता थी और न हांसा वालोंके नगरों अथवा उनके नामोंके चिन्तनहीकी कोई आवश्यकता थी। स्मिथ महोदयने यदि आंख उठा कर अपने ही देश निवासी ऐण्डर्सन मकफरसन[४०], किंग[४१] और ह्यूमके ग्रन्थोंका मनन किया होता तो उन्हें पर्याप्त सामग्री मिल गयी होती।

फिर यह समझमें नहीं आता कि इतने बड़े अन्वेषकने ऐसी महत्व पूर्ण बात को कैसे छोड़ दिया। इसका केवल एक ही कारण जान पड़ता है कि इस गवेषणाका फल उनके स्वच्छन्द-वाणिज्य-वादके विरुद्ध होता। उन्हें यह बात माननी ही पड़ती कि हांसा-लोगोंके साथ स्वच्छन्द-वाणिज्य नीतिके कारण जब अंग्रेजोंकी कृषि उन्नत हो गयी तब इंग्लैण्डने जिस प्रतिबन्धक नीतिका आश्रय लिया था उसीके कारण हांसालोगों, बेलजियनों तथा डचलोगोंको परास्त कर वह अपना वर्त्तमान व्यापारिक प्रभुत्व प्राप्त कर सका था। किन्तु स्मिथ महाशय ये बातें माननेको तय्यार न थे, क्योंकि, जैसा कि श्री जे. बी. से महोदयने कहा है, उनसे यही सिद्ध होता है कि प्रतिबन्धक वाणिज्य नीतिहीके कारण अंग्रेजोंकी इतनी वृद्धि हुई॥

# तृतीय अध्याय।

## नेदरलैण्ड*के निवासी।

हालैण्ड, फ्लैण्डर और ब्रावेण्ट देश, अपने निवासियोंकी चाल, स्वभाव, जन्म, भाषा तथा भौगोलिक स्थिति और राजनीतिक सम्बन्धके विचारसे जर्मन साम्राज्यके अंग कहे जा सकते हैं। शार्लमेन*का बारम्बार आना जाना तथा इन देशोंके पासही उसका रहना इनकी सभ्यताके लिये दूरस्थ जर्मन प्रदेशोंकी अपेक्षा अधिक हितकर रहा होगा। इसके अतिरिक्त फ्लैण्डर और ब्रावेण्टकी भूमि प्रकृतिकी कृपासे कृषि और शिल्पके लिये अधिक उपयुक्त थी। हालैण्डभी वाणिज्य और पशुपालनके लिये यथोचित स्थान था।

---

* ( नेदर=अध:+लैण्ड=भूमि ) हालैण्डको कहते हैं। कारण यह है कि वहांकी भूमिकी सतह समुद्रकी सतहसे नीची है और समुद्रका पानी बांधों द्वारा रोका गया है।

* इसका राज्य समग्र जर्मनी और फ्रांस तथा इटली और स्पेनके अधिक भाग-पर था। मृत्युके बाद (८१४) उसका राज्य छोटे छोटे टुकड़ोंमें बँट गया।

# स्वार्थ

इन देशोंसे बढ़कर जर्मनी भरमें कहीं भी समुद्र द्वारा माल जानेकी सुविधा नहीं थी। यही अवस्था उनकी कृषि और उनके नगरोंकी उन्नतिकी बड़ी साधक हुई। इसी कारण उन लोगोंको बहुत पहलेही अपनी उन्नतिकी बाधाओंको दूर करने तथा नहरों-के खोदनेका साहस हुआ होगा। फ्लैण्डरकी उन्नतिका सबसे बड़ा कारण यह था कि वहांका शासक अन्य नरपतियोंसे पहलेही प्रजारक्षा, अच्छी सड़कों तथा शिल्प और नगरोंके उदयकी महत्ता समझने लगा था। देशकी प्राकृतिक अवस्थाकी सहायतासे उन लोगोंने लुटेरों और जंगली जंतुओंका नाश कर डाला। इतना होनेपर नगर तथा देश भरमें वाणिज्य-सम्बन्ध स्थापित हो गया और पशु, विशेषकर भेड़, पालनेकी वृत्ति बढ़ गयी तथा अलसी और सनकी खेती होने लगी। यह साधारण बात है कि जिस देशमें धन और यात्रियोंकी रक्षाका अच्छा प्रबन्ध रहता है वहां श्रम तथा कारीगरीकी कमी नहीं होती। इतिहाससे यहभी जाना जाता है कि वहांके काउण्ट देशी जुलाहोंके भरोसे न रह कर विदेशसे ऊन बीनने वालोंको बुलवाते थे।

हांसासंघ और हालैण्डके परस्पर वाणिज्यसे सहायता पाकर उत्तरमें फ्लैण्डर ऊनके व्यापारका उसी भांति केन्द्र बन गया जैसे दक्षिणमें अपने व्यवसाय और जहाजी शक्तिसे वेनिस नगर बन गया था। व्यापारियोंका जहाजी वाणिज्य, हालैण्ड और हांसा वालोंका पारस्परिक व्यवसाय एवं फ्लैण्डर वालोंका ऊनी व्यापार सब मिल कर एक बड़ा राष्ट्रीय व्यवसाय बन गया था। प्रतिद्वन्द्वीके अभावसे उनको वाणिज्य-प्रतिबन्धक नियमोंकी कोईभी आवश्यकता न थी। वहांके काउण्टभी स्मिथ[४२] महोदयकी पुस्तक पढ़े बिनाही भली भांति समझते थे कि जब तक कोई बराबरी करने वाला न खड़ा हो स्वच्छन्द वाणिज्यसे हानि नहीं हो सकती। एक बार इंग्लैण्डके राजाने फ्लैण्डरके शासक तृतीय राबर्टसे स्काटलैण्ड वालोंको अपने राज्यसे निकाल देनेका प्रस्ताव किया था। जिस भावसे आजकलका कोईभी स्वच्छन्द वाणिज्यवादी उत्तर देता, ठीक उसी प्रकार उसनेभी उत्तर दिया कि 'फ्लैण्डरवाले अपने बाजारमें संसार भरके व्यापारियोंको स्थान देते रहे हैं। इस सिद्धान्तसे विचलित होना उनके हितके लिये अच्छा न होगा।''

इस प्रकार कई शताब्दियों तक फ्लैण्डर और ब्रूजेज़ क्रमशः उत्तरीय यूरोपके प्रधान व्यापारकेन्द्र बने रहे। इसके बाद वाणिज्य ब्राबेण्ट प्रान्तके निवासियोंके हाथ चला गया। इसका कारण यह था कि फ्लैण्डरके काउण्ट उनके वे अधिकार देने को उद्यत न थे जिन्हें उन्होंने अपनी उन्नतदशामें प्राप्त किया था। तबसे उत्तरीय यूरोपमें लूवेन नगरने प्रधान शिल्प स्थान होनेका गौरव प्राप्त किया और ऐण्टवर्प वाणिज्यका केन्द्र बना। इस अवस्था-परिवर्तनका परिणाम यह हुआ कि ब्राबेण्टकी कृषि अत्यन्त उन्नत दशाको पहुंची। पूर्वकालमें अनाजके बदले नगद कर देनेकी प्रथा चल गयी थी और जागीरदारीकी प्रथा (फ्यूडल सिस्टम) भी परिमित हो गयी थी। इन कारणोंसेभी ब्राबेण्टकी बड़ी अर्थ-सिद्धि हुई। (क्रमशः)

अनुवादक-हरिहरनाथ।

# संसारकी राजनीति

संसारकी राजनीतिक दशा आजकल ऐसी कठिन और जटिल हो गयी है कि उसके एक एक अंगपर बड़े बड़े ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। इतना परिश्रम और व्यय करनेपर भी प्रकृत अवस्था समझाना संभव होगा वा नहीं, इसमें संदेह ही है। अतः इस मासिक पुस्तकके अल्प स्थान और समयमें इसे समझानेका प्रयत्न करना दुस्साहस मात्र समझा जायगा। तथापि संप्रति भिन्न भिन्न देशोंका परस्पर संबंध इतना घनिष्ट हो गया है कि अन्य राष्ट्रोंके विचार और उद्देश्य समझे बिना तथा स्वार्थसंघर्षका स्थान और संबंध जाने बिना स्वदेशसेवा करना भी कठिन हो गया है। इसलिये इन लेखोंमें वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय नीतिका साधारण परिचय बहुत ही संक्षेपमें करा देनेका प्रयत्न किया जायगा। इसके लिये अन्तर्राष्ट्रीय नीतिको प्रधानतः पांच कार्यक्षेत्रोंमें विभक्त करना आवश्यक है—(१) इंग्लैण्ड और फ्रांसका संबंध, (क) निकट पूर्व और (ख) मध्य यूरोप; (२) अमेरिका और इंग्लैण्डका संबंध (क) आयर्लैण्ड और (ख) समुद्री तार; (३) अमेरिका, जापान और इंग्लैण्डका संबंध; (४) बोलशेविकी शासन नीतिका प्रादुर्भाव और उसका संसारपर प्रभाव; (५) सैनिक प्रतियोगिता। यहांपर यह भी कह देना आवश्यक है कि ये पांचो कार्यक्षेत्र सर्वथा स्वतंत्र नहीं हैं बल्कि इनका परस्पर संबंध बहुत ही घनिष्ट है। पर लेख-सौकर्यके लिये उक्त पांच विभाग करना आवश्यक हुआ है।

(१)

## इंग्लैण्ड और फ्रांसका संबंध।

इंग्लैण्ड और फ्रांसमें न कभी सौहार्द था, न कभी होगा। यूरोपके इतिहासमें ये दोनों देश परस्पर शत्रुताके लिये ही प्रसिद्ध हैं। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ प्रिंस बिस्मार्कके उपदेशकी अवहेला कर कैसर विलियमके परामर्शदाताओंने रूस संबंधी अपनी नीतिसे ज़ारशाही रूसको और ब्रिटेनकी प्रतियोगितामें जलसेनावृद्धिसे इंग्लैण्डको अपना शत्रु बना लिया था। इससे सन् १८७१ ईसवीकी पराजय तथा भयंकर अपमानका जर्मनीसे बदला लेनेका अवसर दग्धहृदय, कूटनीतिज्ञ फ्रांसको मिल गया। जर्मनीके विरुद्ध फ्रांस, रूस और इंग्लैण्डका शक्तिशाली गुट बन गया। उधर जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और इटालीका भी गुट बन गया था पर समयपर इटालीने विश्वासघात किया। वह पूर्वोक्त गुटसे मिल गया और अन्तमें शक्तिशाली अमेरिकाने भी बलवानोंका साथ देकर जर्मन साम्राज्यकी अन्तिम क्रिया कर डाली। इस विजयसे फ्रांस और इंग्लैण्डके मिलकर रहनेका प्रधान कारण दूर हो गया। वर्सेल संधिको काममें लानेके लिये मित्रोंका मित्रत्व किसी प्रकार बना हुआ है सही पर उसकी असलीयत जाती रही है। भीतर ही भीतर कांचकी भट्टीकी तरह

आग सुलग रही है। एक न एक दिन, संभवतः शीघ्र ही, यह प्रकट भयंकर रूप धारण किये बिना न रहेगी। इसके प्रधान दो कारण हैं—निकट पूर्व देशोंमें अर्थात् भूतपूर्व रूम साम्राज्यमें अंग्रेजोंकी साम्राज्यवृद्धिकी लालसा तथा मध्ययूरोपमें पोलैण्डकी सहायतासे अपना प्रभाव बढ़ाकर जर्मनीको सदाके लिये दबा डालनेकी फ्रांसकी लालसा। जिस तरह निकटपूर्व देशोंमें अंग्रेज और मध्य यूरोपमें फरांसीसी अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते हैं उसी प्रकार मध्य यूरोपमें अंग्रेज और निकटपूर्व देशोंमें फरांसीसी शान्ति स्थापन करनेकी भी चेष्टा कर रहे हैं। यही संघर्ष फ्रांस और इंग्लैण्डमें मेल नहीं होने देता है। महायुद्धके कारण पहली संधि रद्द हो गयी है। फिर वैसी ही संधि करनेकी बातें यद्यपि दोनों देशोंके राजनीतिज्ञ मुंहसे करते हैं पर यह स्वार्थविरोध दूर करना उनके लिये भी असंभव हो रहा है। निकटपूर्व देशोंमें इन दो "मित्रोंमें" वैमनस्य उत्पन्न होनेका प्रधान कारण अमीर फीजुलका फ्रांससे विरोध और इंग्लैण्डका अमीरसे स्नेह है।

समाचारपत्रोंके पाठक जानते हैं कि, जिस दिन रूमने महासमरमें जर्मनीका साथ दिया उसी दिन वह स्वभावतः अंग्रेजोंका भी शत्रु हो गया। इस शत्रुताके कारण और रूमकी शक्ति घटानेके उद्देश्यसे अंग्रेजोंने वृद्ध हुसैनको हज्जाजका शाह बनाया। अनन्तर उन्होंने ही हुसैनके एक लड़के अब्दुल्लाको ट्रांस-जोर्डानियाका सिंहासन दिया और हालमें ही अब्दुल्लाके भाई फीजुलको इराकके नव-कल्पित सिंहासनपर बैठाया है। अपने अधीन एक नवीन अरब राज्यकी स्थापना कर तुर्कोंको निर्बल दिखाना ही अंग्रेजोंका उद्देश्य है। इसीसे रूम-यूनान युद्धमें अंग्रेजोंकी गुप्त सहानुभूति ग्रीक अथवा यूनानियोंके साथ है। अंग्रेजोंकी इस चालसे फरांसीसी बहुत ही दुःखित हैं। उन्होंने रूमका जो सीरिया प्रान्त ले लिया है उसमें अरब अधिक हैं। इसलिये फीजुल फरांसीसियोंका शत्रु हो गया है। यूनानियोंकी दृष्टि भी सीरियापर है इसलिये वे भी फरांसीसियोंसे संतुष्ट नहीं हैं। स्वभावतः फ्रांसकी सहानुभूति रूमके साथ है। इसीसे सेवरकी संधिमें फ्रांस ऐसे परिवर्त्तन करनेके पक्षमें है जिससे तुर्कोंको उनके पूर्व साम्राज्यका कुछ भाग वापस मिल जाय, पर अंग्रेज इसके घोर विरोधी हैं। सेवर संधिपर विचार करनेके लिये लंडनमें मित्रोंकी जो सभा हुई थी उसमें अंग्रेज फरांसीसियोंका विरोध, उनके विचार और उनकी सहानुभूतिका परिचय संसारको मिल गया था। हालमें ही अंग्रेजोंको फारससे विफलमनोरथ होकर मय माल असबाबके लौट आना पड़ा है और वह देश बोलशेवी रूसका मित्र बन गया है। इराकमें भी वस्तुतः यही बात हुई है। सैनिक बलसे सदाके लिये उस देशको अपने अधीन बनाये रखना भी संभव नहीं था और वहाँकी मिट्टीके तेलकी खानोंका लोभ त्याग करना भी असंभव ही था। इसलिये, अंग्रेजोंकी स्वार्थ-सिद्धिके लिये वहाँ अरब राज्यकी (!) स्थापना की गयी है। सच पूछिये तो यह अंग्रेजी ही राजनीतिक अदूरदर्शिताका फल है। जिस दिन अंग्रेजोंने फारस बांट लेनेके लिये रूसके साथ संधि की थी उसी दिन उन्होंने रूमको ही नहीं पर सारे मुसलमान

राज्योंको अपना शत्रु बना लिया था। ज़ारशाही रूसकी नजर कुस्तुनतुनियांपर थी, अतः रूसके लिये यह विश्वास करना असंभव हो गया था कि अंग्रेज अपने मित्रकी उद्देश्यसिद्धिमें बाधक होंगे। लाचार उसे जर्मनीसे मिलना पड़ा। अब फ्रांसकी भी यही हालत हुई है। अंग्रेजोंको अपने शत्रु फीजुलका इस तरह प्रकट पक्षपात करते और "अरब" राज्योंकी स्थापना करते देखकर वह भी भयभीत हो गया है। फ्रांसके भूतपूर्व राष्ट्रपति पोआंकारेने पेरिसके "ले माताँ" नामक पत्रमें गत बीसवीं जूनको स्पष्ट ही लिखा था कि, "बगदादमें फीजुल और सीरियाकी सीमापर अब्दुल्लाके स्थापित किये जानेका स्पष्ट अर्थ यही है कि जिस देशका शासनादेश हमें मिला है उसमें फिर षड्यंत्र होने लगेंगे।" केवल यही नहीं, यह विरोध अति व्यापक हो गया है। सुनिये पोआँकारे कहते हैं—"थ्रेससे अनातोलियातक, स्मिरनासे अंगोरातक, सिलिसियासे फिलिस्तीनतक जिधर देखिये उधरही गत ढाई वर्षोंसे फ्रांस और इंग्लैण्ड भिन्न भिन्न मार्गोंसे चल रहे हैं।" इस प्रकार निकटपूर्वमें इंग्लैण्ड और फ्रांस एक दूसरेके विरोधी हो गये हैं।

मध्य यूरोपमें भी इन दो मित्रोंमें ऐसा ही मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया है। यूरोपमें फ्रांस जर्मनीको कुचल कर पोलैण्डकी सहायतासे स्वयं प्रभुता ग्रहण करना चाहता है। फ्रांसके वर्त्तमान शासक वस्तुतः स्व. नेपोलियन बोनापार्टका पदानुसरण कर रहे हैं, केवल समयानुसार उसमें परिवर्त्तन किया गया है। जर्मनीके पूर्वी प्रदेश साइलीशियाका उद्योग-धन्धोंसे परिपूर्ण सम्पत्तिशाली भाग पोलैण्डको दिलानेसे जर्मनी फिर कभी सिर ऊंचा न कर सकेगा, पोलैण्डकी शक्ति बढ़ जायगी और वह जर्मनी तथा रूसको मिलने नहीं देगा तथा अन्तमें साइलीशियाके कल कारखाने और खानें फ्रांसके पूंजीवालों और एञ्जिनियरों-के ही हाथ लग जायंगी। पर यह अंग्रेजोंके लिये इष्ट नहीं है। उनकी प्राचीन शक्ति-तुला (Balance of Power) नीतिके यह विरुद्ध है। इससे फ्रांसकी शक्ति बहुत बढ़ जायगी और अन्तमें वह अंग्रेजोंके लिये भी घातक होगी। अतः साइलीशियाका मुख्य भाग जिसमें जर्मनीको ही मिले, इसका प्रबन्ध करना अंग्रेजी राजनीतिका कर्त्तव्य हो गया है। इस संबंधमें इटाली भी अँग्रेजोंके साथ है क्योंकि अति बलवान् फ्रांस एक न एक दिन इटालीको भी हानि पहुँचा सकेगा। इन स्वार्थ विरोधोंके कारण वस्तुतः जर्मनी और इंग्लैण्ड एक ओर तथा फ्रांस और पोलैण्ड एक ओर हो गये हैं। जैसे इटालीकी सहानु-भूति इंग्लैण्डके साथ है वैसे ही बेलजियम फ्रांसका साथ दे रहा है। अनुमान किया जा सकता है कि इस झगड़ेमें फ्रांसको नीचा देखना ही पड़ेगा तथा इंग्लैण्ड और फ्रांसकी कृत्रिम मित्रताका अन्त भी हो जायगा।

वर्सेलकी सन्धिके समय ज़ारशाही रूस, जर्मनी और आस्ट्रियाके कुछ भाग काट कर प्राचीन पोल राज्यकी पुनः स्थापना की गयी थी। उसी समय यह प्रश्न उठा था कि साइलीशिया किसे दिया जाय। यदि वस्तुतः समस्त प्रान्तकी दृष्टिसे इसका विचार किया जाता तो वह भाग जर्मनीको ही मिलता। इसलिये फरांसीसी कूटनीतिज्ञोंने ऐसा

अधिकांश भाग, जिसमें जर्मन लोकसंख्या बहुत ही अधिक थी, पहले ही जर्मनीको दे डाला। पर धन-धान्य-सम्पन्न, कल कारखानों और खानोंसे परिपूर्ण थोड़ासा भाग अलग रखा। वस्तुतः यही भाग समस्त साइलीशिया प्रान्तका ही नहीं पर जर्मनीका ही जीवन है। जर्मनोंके धन और परिश्रमसे इसकी औद्योगिक उन्नति हुई है। जर्मनोंने रेल, तार और जहाज द्वारा यहाँके गमनागमनके सब साधन बढ़ाये हैं। पर यहां पोलैण्डकी लोकसंख्या अधिक होनेकी संभावना थी। अतः फ्रांसके अनुरोधसे वर्सेलेमें सब मित्रोंने स्वीकार किया कि यहाँके अधिवासियोंका मत लिया जाय कि वे जर्मनीमें रहना चाहते हैं अथवा पोलैण्डमें और जिस पक्षमें बहुमत हो उसे ही यह भाग दिया जाय तथा तबतक इस भागका शासन और संरक्षण मित्रोंका एक कमिशन करे। तदनुसार आज वहाँका शासन इंग्लैण्ड, फ्रांस और इटालीके प्रतिनिधियोंका एक समूह कर रहा है और इन तीनों देशोंकी कुछ कुछ सेना भी वहाँ रखी गयी है। यहाँपर यह भी कह देना आवश्यक है कि संधिके अनुसार इस कमिशनका और सेनाका समस्त व्यय उसी प्रान्तको देना पड़ेगा अथवा जिस देशको यह प्रान्त मिलेगा उसके सिर यह देना भी मढ़ा जायगा। यह मौका देखकर फरांसीसी सरकारने वहाँकी अपनी सेनाका वेतन चौगुना बढ़ा दिया है!

संधिके नियमानुसार गत २०वीं मार्चको उत्तरी साइलीशियाके अधिवासियोंका मत लिया गया। यद्यपि मत लेनेके नियम सर्वथा जर्मनीके विरुद्ध और पोलैण्डके पक्षमें थे पर प्रतिशत ६० मत जर्मनीको और चालीस पोलैण्डको मिले। न्याय तो यही था कि वह भाग जर्मनीको दे दिया जाता। पर इससे फ्रांसकी साम्राज्य—कल्पनाके मूलमें ही कुठाराघात होता था इसलिये उसने विरोध करना प्रारंभ किया। उधर फ्रांसकी ही गुप्त सहानुभूतिसे कोरफांटी नामक एक पोल सेनापतिने बलवा किया। उसकी बलवाई फौज जर्मनोंको मारने लगी। लाचार वहाँके जर्मनोंको भी आत्मरक्षार्थ सेना तैयार करनी पड़ी। पर जर्मनोंके हथियार पहले ही मित्रोंने ले लिये थे इसलिये वे भलीभाँति आत्मरक्षा न कर सके। इसपर भी फरांसीसी सिपाही जर्मनोंका ही दमन करते थे। यह अवस्था देखकर अंग्रेजोंसे न रहा गया। उन्होंने जेनरल कोरफांटीके कार्यका प्रकाश्य रूपसे विरोध किया। इससे फ्रांस असंतुष्ट हुआ सही पर उसे भी बात माननी ही पड़ी। तबसे वह यह चाल चल रहा है कि जहाँतक हो सके इस मामलेका निर्णय ही मत होने दो। इसके साथ ही साथ फरांसीसी सिपाही चुपके चुपके जर्मनोंको उसकाने लगे। मतलब यह कि उत्तेजित होकर अज्ञान नगरवासी कुछ अत्याचार करेंगे तो वहां अधिक सेना भेजने और दमन करनेका मौका मिल जायगा। फ्रांसकी यह घृणित गुप्त इच्छा सफल हो गयी। उत्तर साइलीशियामें फरांसीसियोंके साथ ही अंग्रेजों तथा इटालियोंकी भी पल्टनें गयी थीं। पर वहांके जर्मन फरांसीसी पल्टनोंका धिक्कार तथा अंग्रेजी पल्टनोंका सहर्ष स्वागत करते थे। केवल यही नहीं, भीड़से किसी आदमीने एक फरांसीसी मेजरका खून कर डाला। फ्रांस तो यही चाहता था। देखते देखते सारे फ्रांसमें आगसी भभक

उठी। फरासीसी समाचारपत्र बदला लेनेके लिये चिल्लाने लगे। फरांसीसी सरकारने भी जर्मन सरकारको एक पत्र लिखा जिसमें अपने मेजरके खून तथा अन्य कल्पित अत्याचारोंपर जोर दिया गया था। अन्तमें कहा गया था कि साइलीशियामें इस समय फरांसीसी सेना काफी नहीं है, इसलिये वहां और भी सेना पहुंचानेका बदोबस्त कर दो।

वर्सेल संधिमें यह शर्त्त की गयी है कि उत्तर साइलीशियाके विवादग्रस्त भागका जबतक निपटारा न हो जाय तबतक उसका शासन मित्रराज्योंके हाइकमिश्नर करें और इसके लिये जितनी सेनाकी आवश्यकता होगी उसे वहां पहुंचा देनेका बंदोबस्त जर्मन सरकार करे। फ्रांसने सेना पहुंचानेकी जो प्रार्थना की थी उसका आधार यही संधिसूत्र था। जर्मन सरकारने बड़ी गंभीर पर शांत और संयत भाषामें इसका उत्तर दिया था। उसमें लिखा था कि उत्तर साइलीशियामें जर्मनोंद्वारा शांतिभंग होनेकी बिलकुल संभावना नहीं है। फरासीसी मेजरकी हत्या तथा अन्य अत्याचारोंके लिये जर्मन सरकार जिम्मेबार नहीं है। साथ ही उसने यह भी दिखाया था कि, आत्मरक्षा करनेवाली वहांकी जर्मन सेनाके तो हथियार छीन लिये गये हैं पर बलवाई पोल सेना अभी वहीं मौजूद है। उसके शस्त्र छीननेका प्रयत्न अबतक वहांकी फरांसीसी सेनाने नहीं किया है। उधर इस झगड़ेका निपटारा करनेमें भी विना कारण देर की जा रही है। इस दशामें वहांकी फरासीसी सेना बढ़ानेसे अधिकतर शांति होनेकी आशा नहीं की जा सकती। इस प्रकार अधिक सेना भेजनेके पक्षकी युक्तियोंका खंडन कर संधिके नियमके संबंधमें जर्मन सरकारने लिखा कि, संधिसूत्रके अनुसार 'सब' मित्रोंके कहनेसे ही जर्मन सरकार वहां मित्र सेना भेजनेको बाध्य है पर यह अधिकार किसी एक मित्रराज्यको नहीं है। अतः फरासीसी सरकार कृपा कर लिखे कि उसने सेना पहुँचानेकी जो प्रार्थना की है वह केवल अपनी ओरसे की है। अथवा सब मित्रोंके नाम की है। इसका सयुक्तिक उत्तर देना असंभव था। इस लिये "शेषं कोपेन पूरयेत्" न्यायसे फरांसीसी समाचारपत्र लगे "अद्वातद्वा" बकने और फरासीसी सरकारने कहा कि जर्मन सरकारका उत्तर हमारे लिये भयंकर अपमानकारक है! इससे जर्मनीकी बदनीयत साबित होती है!! अब सब मित्रोंको मिलकर सेना भेजनेके लिये कहना चाहिये जिसमें जर्मनीके होश दुरुस्त हों और फ्रांसकी इज्जत बच जाय!!!

सौभाग्यवश इंग्लैण्ड और इटालीके शासकोंके हृदय भी फरासीसी शासकोंके हृदयके समान जर्मनीके प्रति घृणा और द्वेषसे परिपूर्ण नहीं थे। फ्रांसके पत्रके उत्तरमें अंग्रेज सरकारने प्रकाशित किया कि जर्मनीका उत्तर अपमानजनक नहीं है। वस्तुतः साइलीशियामें सेना भेजनेका अधिकार मिलित मित्रराज्योंको है, किसी एक राज्यको यह अधिकार नहीं मिला है। इसी समय लण्डनमें साम्राज्य सम्मेलन हो रहा था। ब्रिटिश उपनिवेशोंके प्रधानमंत्री भी वहां उपस्थित थे। फ्रांसके पत्रपर विचार करनेके लिये ब्रिटिश मंत्रिमंडलका जो अधिवेशन हुआ था (२८ जुलाई, सन् १९२१) उसमें ये लोग भी उपस्थित थे और सबने मिलकर निश्चय किया कि उत्तर साइलीशियाके

सम्बन्धमें जो कुछ करना हो वह अंग्रेज और फरासीसी मिलकर ही करें । औपनिवेशिक मंत्रियोंकी इस रायसे ब्रिटिश मंत्रिमंडलके उत्तरका प्रभाव और भी बढ़ गया । इस उत्तरमें फ्रांसके इस अभियोगका भी सयुक्तिक उत्तर दे दिया गया था कि, आजकल अंग्रेज जर्मनीसे मिलकर और फ्रांसके विरुद्ध कार्य कर रहे हैं । इसमें लिखा था कि, सेना भेजनेकी प्रार्थना सुप्रीम कौंसिल द्वारा न कराकर फ्रांसने ही भूल की है । यहांपर सुप्रीम कौंसिलका परिचय देना आवश्यक है । वर्सेलकी संधिमें जर्मनीसे जो प्रतिज्ञाएं करायी गयी थीं उनका पालन करानेके लिये मित्रराज्योंके प्रतिनिधियोंकी एक समिति बनायी गयी । इसीका नाम सुप्रीम कौन्सिल है । इसमें फ्रांस, ब्रिटेन, इटाली, जापान और अमेरिकाके प्रतिनिधि रहते हैं । पर अमेरिकाने यूरोपीय राजनीतिमें हस्तक्षेप करना छोड़ दिया है इस लिये सुप्रीम कौन्सिलके अधिवेशनोंमें उसके प्रतिनिधि नहीं जाते अथवा केवल दर्शकरूपसे ही उपस्थित होते हैं । संधिसन्बन्धी सब विषयोंमें यही सुप्रीम कौन्सिल जर्मनीसे बातचीत करसकती है ।

फ्रांसकी नीतिसे अन्य मित्रोंकी सहानुभूति नहीं है, यह जानकर ही वह सुप्रीम कौन्सिलका अधिवेशन ही शीघ्र होने नहीं देता और स्वयम् ही जर्मनीको दबानेका प्रयत्न करते रहता है । इस बार भी उसका यही मतलब था पर जर्मनीके विरोध और अंग्रेजोंकी दृढ़तासे उसे मुंहके बल गिरना पड़ा । अंग्रेज मंत्रिमंडलके ऊपर लिखे पत्रके अन्तमें स्पष्ट ही लिखा गया था कि जबतक फ्रांसका मतलब हमें न मालूम हो जाय तबतक इस विषयपर और बातचीत करना वृथा है । अंग्रेज सरकारके मतसे साइलीशियामें सेना भेजनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । साथ ही इस पत्रसे यह भी मालूम हो गया कि अब झगड़ा उत्तर साइलीशियाकी त्रिकोण भूमिके सम्बन्धमें ही रह गया है । यही त्रिकोण कलकारखानों और खानोंसे पूर्ण है तथा जर्मनोंके ही धन और श्रमसे वहां इतनी उन्नति हुई है । इस त्रिकोणके दो टुकड़े कर उसे जर्मनी और पोलैण्डमें बांट देना संभव नहीं है, इसे अंग्रेज और फरासीसी दोनों ही स्वीकार करते हैं । पर फरासीसी इसे पोलैण्डको देना चाहते हैं और अंग्रेज जर्मनीको देनेके पक्षमें हैं । काटोविज और ग्ला-इन विजकेबीचमें यह औद्योगिक त्रिकोण है । अस्तु । अंग्रेज सरकारका पत्र पाकर फ्रांस-से न रहा गया बल्कि यह कहना चाहिये कि उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका ज्ञान नहीं रहा । उसने अंग्रेज सरकारको लिख भेजा कि, यदि आप साइलिशियामें अधिक सेना न भेजेंगे तो हम सुप्रीम कौन्सिलका अधिवेशन ही न होने देंगे । इसका सरल अर्थ यह है कि, फ्रांस और इंग्लैण्डका संबंध—विच्छेद होगा—मित्रताकी इतिश्री होगी । इसका उत्तर ब्रिटिश सरकारने गंभीर भाषामें दिया । फ्रांसके सम्मानकी रक्षाके लिये सब मित्रोंके राजदूतोंने बर्लिन सरकारसे कहा कि "आवश्यकता होनेपर और सेना साइलीशिया पहुँचानेके लिये तैयार रहे" । वस्तुतः इसमें कोई नयी बात नहीं है । जर्मनीने सब मित्रोंके कहनेपर सेना पहुँचानेसे कभी इनकार नहीं किया था पर फ्रांस अपनी भूल समझने लगा था और इसी-

पर उसे संतोष मानना पड़ा । ८ अगस्तको पेरिसमें सुप्रीम कौन्सिलका अधिवेशन करना निश्चित हुआ । तदनुसार उक्त अधिवेशन हो गया । उसमें इटाली और जापानने भी अंग्रेजोंके ही मतका समर्थन किया । फ्रांस अकेला रह गया । पर वह अपनी ही बातपर अड़ गया । मालूम होता था कि अब संतोषजनक विधिसे इस झगड़ेका निपटारा न होगा । अंग्रेज प्रतिनिधियोंने घर लौट आनेका भी निश्चय कर लिया । ऐसे समय किसीको अच्छी युक्ति सूझी । इस संकटसे बचनेके लिये सबने एक स्वरसे उसे मान भी लिया । फरासीसी प्रधान मंत्री मुंसिये ब्रियांदके प्रस्ताव, अंग्रेज प्रधान मंत्री मि० लायड जार्जके अनुमोदन तथा सर्वसम्मतिसे निश्चित हुआ कि यह झगड़ा निपटारेके लिये जेनेवामें राष्ट्रसंघके पास भेज दिया जाय और उसका निर्णय सब स्वीकार करें । अभी झगड़ा यहीं तक बढ़ा है । इसमें प्रधान विषय अब औद्योगिक त्रिकोण नहीं है । फ्रांस और इंग्लैण्डकी " मित्रता " ही प्रधान विषय हो गया है । मित्रताके लिये समान स्वार्थ और एक उद्देश्यकी आवश्यकता होती है । फ्रांस और इंग्लैण्डमें इन दोनोंका अभाव है, यह बात निकटपूर्व देशों और मध्ययूरोपकी उल्लिखित घटनाओंसे ही सिद्ध हो गयी है । अब प्रश्न केवल यही है कि, यह कृत्रिम मित्रता कितने दिन टिकेगी ?

सदाशिव ।

# पुस्तकावलोकन ।

## *राष्ट्र-संजीवनी ग्रन्थमाला*

यह ग्रन्थमाला हालमें ही "मानमन्दिर, काशी" से पण्डित प्राणनाथ विद्यालंकारके सम्पादकत्वमें निकलने लगी है । इसके प्रथम तीन पुष्पोंकी सुगन्धि लेनेका सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है ।

**१ भारतीय किसान**—पृष्ठ संख्या २०+१०, मूल्य ≋)॥ । यह पुस्तक उक्त ग्रन्थमालाका प्रथम पुष्प है । इसे पढ़नेसे मालूम होगा कि "ग्रामोंका स्वावलम्बन परावलम्बनकी ओर बड़ी तेजीके साथ झुक रहा है ।" अन्य उद्योगोंको प्रोत्साहन न मिलनेके कारण लोग उन्हें छोड़ छोड़ कर खेतीकी ही ओर बढ़ रहे हैं । ईसवी सन् १८९१ से १९०१ तक अनुमान दो करोड़ तीन लाख कारीगर, व्यापारी आदि विवश होकर खेतीके कामोंमें जा पड़े । परिशिष्टमें जो सूचियाँ दी गयी हैं, उनके कारण पुस्तककी उपयोगिता बढ़ गयी है । छपाई तथा भाषा सम्बन्धी दो चार त्रुटियाँ इधर उधर रह गयी हैं ।

**२ किसानोंपर अत्याचार**—इसकी पृष्ठ संख्या ४१ और मूल्य ।-) है । इसमें किसानोंपर किये जानेवाले निरन्तरके अत्याचारोंका उल्लेख कर लेखकने यह निष्कर्ष निकाला है कि "इस हालतमें लगान या मालगुजारीका देना पाप करना है ।" किसानोंसे नजराना इत्यादिके रूपमें "पापकी कमाई" इकट्ठा करनेके कुल १४२ प्रकारोंकी तालिका पुस्तकमें दी गयी है । इसे पढ़नेसे किसानोंकी स्थितिका ज्ञान—यदि किसी को न हो—तो अवश्य प्राप्त हो जायगा, किन्तु इतनेसे ही इस विकट प्रश्नका समीकरण नहीं होता । अत्याचारोंसे छूटनेका उपाय नहीं सूझता । 'मुटरावन', 'घुड़ावन' देना बन्द करनेमें विशेष कठिनाई नहीं है पर लगान देना बन्द करनेका उपाय नहीं देख पड़ता । खैर इसमें कोई, सन्देह नहीं कि इस पुस्तकको पढ़कर मालगुजार भाई लेखकको चाहे जितना कोसें, पर किसान भाई तो उसे अवश्य धन्यवाद देंगे ।

**३ किसानोंका अधिकार**—पृष्ठ संख्या ३७, मूल्य ।)॥ है । इसमें स्विट्जरलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इत्यादि अन्य देशोंकी भी परिस्थितिका संक्षिप्त वर्णन कर यह बतलानेकी चेष्टा की गयी है कि ज़मीनपर किसानोंका ही अधिकार है । उसपर "राज्यका स्वत्व होना न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता ।" पुस्तक उपयोगी है । प्रथम दो पुस्तकोंकी नाईं इसमें भी थोड़ी बहुत अशुद्धियाँ नज़र आती हैं ।

[ शेष पुस्तकों की समालोचना दूसरे अंकमें की जायगी । ]

ये पुस्तकेंभी मिलगयीं, भेजनेवालोंको धन्यवाद ।

१. गोरखपुरमें गांधी जी
२. काशीमें महात्मा जी
३. मैं निरोग हूं या रोगी
४. पहली पोथी
} हिन्दी पुस्तक एजेन्सी-कलकत्ता

५. उपाधिकी व्याधि— पंडित नर्मदाप्रसाद मिश्र बी० ए०
दीक्षितपुरा—जबलपुर ।

# सम्पादकीय ।

हमने अन्तिम मासमें स्वदेशीके प्रचार तथा विदेशीके बहिष्कारका संक्षिप्त इतिहास देते हुए यह दिखलाया था परम्परासे देशके नेताओंने देशके राजनीतिक उद्धारका सबसे बड़ा साधन इसीको समझा है । हमने इसका कारण अन्वेषण करते हुए भारतके प्रति अंगरेजोंने जिस व्यावसायिक नीतिका अवलम्बन किया था उसका वर्णन किया था । उससे हमें पता चला कि अंगरेजोंका प्रयत्न सर्वदा अपने व्यवसायकी उन्नतिकी ही ओर रहा है और अपने इस प्रयत्नमें वे भारतीय व्यापार और उद्योगधंधेका गला घोंटने और उसे दबानेमें तनिक भी नहीं हिचके हैं । इस कारण हमने यह कहा था कि हमको अब हर बातमें गवर्मेन्टका मुंह देखने और उससे भीख मांगनेकी आदत छोड़ देनी चाहिए और स्वावलंब अख्तियार कर अपने उद्धारका मार्ग ढूंढ निकालना चाहिये । आज हम केवल इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि यह मार्ग कौनसा हो सकता है ।

* * * *

हमारे नेताओंने इस समय अपना कुल जोर चरखे और करघे पर लगा दिया है और उन लोगोंका कथन है कि सुदर्शन चक्रकी तरह चरखा ही हमारा दुःखदारिद्रय हरण करेगा । इसके विरुद्ध बहुत सी बातें कही जातीं हैं । हम पहिले उनपर विचार करेंगे और फिर यह दिखलावेंगे कि भारतका उद्धार हो सकता है तो केवल चरखे और करघेहीसे ।

* * * *

'विरोध पक्षमें यह कहा जाता है कि चरखे और करघेसे आप विलायतके बड़े बड़े कारखानोंका मुकाबिला नहीं कर सकते । वहांका बना कपड़ा सर्वदा सस्ता पड़ेगा । परंतु यदि हम थोड़ा सा भी विचार करें तो इस दलीलका खोखलापन हमारी समझमें आजायगा । अन्तिम मासमें हमने यह भली भांति दिखला दिया था कि विलायतमें जिस समय कल कारखाने स्थापित होने लगे, उस समय वे हिन्दुस्तानके चरखे और करघेके मालका मुकाबिला नहीं कर सकते थे और उनकी रक्षार्थ हिन्दुस्तानी मालपर पहिले बहुत अधिक कर लगाया गया और जब वह भी पर्याप्त नहीं हुआ तब कानूनन् भारतीय माल का व्यवहार ही नाजायज कर दिया गया और उसके बाद भारतमें ऐसी काररवाई हुई कि यहांके कपड़ेका व्यवसायही नष्ट हो गया। ऐसी दशामें यह स्पष्ट है कि चरखे और करघे बड़े बड़े कल कारखानोंका मुकाबिला कर सकते हैं । इसके उत्तरमें संभवतः यह कहा जाय कि जिससमयका हवाला आप देरहे हैं, उस समय बिलायती कल कारखानोंकी प्रारंभिक अवस्था थी, अब उन्होंने बहुत उन्नतिकी है, किफायतके बहुतसे

रास्ते निकाले हैं, बड़े पैमाने पर काम करनेमें भी बड़ी किफायत होती है इत्यादि। ऐसी हालतमें आपका तर्क नहीं चल सकता और आप अब अपने करघे और चरखेसे विलायती कल कारखानेका मुकाबिला नहीं कर सकते। परंतु तनिक विचार करनेसे ही हमें इन दलीलोंका जवाब भी मिल जायगा। यह ठीक है कि १५०, २०० वर्षोंमें विलायत वालोंने बहुत कुछ उन्नति की है और बड़े पैमाने पर काम करनेमें बहुत कुछ किफायत होती है और अन्य लाभभी रहते हैं। परंतु साथही आरंभमें बहुत धनकी आवश्यकता होती है और पीछे चलानेके वास्ते भी सर्वदा बहुत धन लगता है। इसके अतिरिक्त २४ घंटे के वास्ते मजदूरोंको तथा अन्य लोगोंको नौकर रखना पड़ता है और उन्हें पूरी मजदूरी देनी पड़ती है क्योंकि वे अन्य किसी कामको नहीं कर सकते। साथही माल खरीदने और बेंचनेमे भी कमीशन इत्यादि देना पड़ता है। इसके विरुद्ध चरखे बहुत सस्ते मिलते और बनते हैं, प्रत्येक गांवके बढ़ई बहुत सहजमें इसे बना सकते हैं और बना रहे हैं। प्रत्येक गांवमें रूई जरूरत भर पैदाकी जा सकती है और बहुत जगह पैदा होती भी है। इस कारण कच्चे माल याने रूईकी कोई कठिनता नहीं पड़ सकती। प्रत्येक ग्रामीणको कुछ न कुछ समय अपना काम धंधा करनेके बाद अवश्य बच रहता है। आज कल यह समय बिलकुल नष्ट होता है। परंतु पहिले इसी समयमें चरखे चलते थे और आजभी उसी काममें यह अवकाशका समय लगाया जा सकता है। इस तरह एक प्रकार बिना मजदूरीहीके सूत तैयार हो जायगा। अन्तमें गांवके जुलाहे अथवा जो कोई कपड़ा बुनता हो उसके हाथ बहुत सस्तेमें कपड़ा बुन जायगा और इस तरह माल खरीदने और बेंचनेमें जो मुनाफा बिचवइयोंके हाथ जाता है वह भी बच जायगा।

ये सब बातें एक उदाहरण द्वारा बहुत साफ हो जायंगी। आजकल मामूली मोटी मिलकी धोती ५) जोड़ा मिलती है। लंबाईमें इसमें दस गज कपड़ा होता है। तौलमें करीब १ सेर यह होती है। यदि १ सेर रूई धुनी हुईका दाम हम एक रुपया रखलें और १२ आना बुनाईकी मजदूरी तो अपने हाथसे सूत कातने वालेको १॥।) में उतना ही कपड़ा मिल जायगा। यह तो हुआ उसके लिये जो रूई खरीदता है, परंतु जो आदमी रूई भी अपने खेतमें उपजा लेगा उसे कपड़ा और भी सस्ता पड़ जायगा और साथही बिनौला उसे एक दम मुफ्तमें मिल जायगा। जिससे उसे तेल और खली बड़े सुबीतेसे मिल जायगी। इस प्रकार चरखे और करघे द्वारा बना वस्त्र जितना सस्ता पड़ेगा उतना सस्ता मिल द्वारा वस्त्र कभी पड़ही नहीं सकता। आवश्यकता केवल चरखों और करघोंको पुनर्जीवित करनेकी है। गांव गांव घर घर प्रचार करनेकी जरूरत है।

*　　*　　*　　*

दूसरा विरोध जो बहुधा पेश किया जाता है वह यह है कि आज भारतमें भारतकी जरूरत भर कपड़ा नहीं बनता और एक दम विदेशीके बहिष्कारसे देशमें कपड़ेका अकाल पड़ जायगा। कपड़ा अत्यन्त महंगा हो जायगा और बड़ी आफत मचेगी। हमने

## सम्पादकीय

अभी यह दिखलाया है कि चरखे और करघेका यदि अच्छी तरह उपयोग किया जाय तो कपड़ा अत्यन्त सस्ता पड़ेगा। तनिक विचारसे यहभी मालूम हो जायगा कि इन्हीं साधनों द्वारा देशमें कपड़ेकी भी कमी न पड़ने पावेगी। हमें यह बतलानेकी जरूरत नहीं है कि देशमें देशकी आवश्यकता भर रूई होती है। वास्तवमें हमारी आवश्यकतासे अधिक होती है। एक सयय जब हमारा कपड़ेका काम सत्यानास नहीं हुआ था, उस समय हम इसी रूई द्वारा अपनेही भरको नहीं बल्कि अन्य देशोंमें भेजनेके लायकभी कपड़ा बना लेते थे। उस समय हमारे अस्त्र यही चरखे और करघे थे। इस कारण आजभी हमारा उद्धार इन्हींसे होगा। चरखे और करघेकी संख्या बहुत जल्दी बढ़ाई जा सकती है। स्वदेशीके वर्तमान आन्दोलनके कारण आज बहु संख्यामें चरखे चलने लगे हैं, और इनकी संख्या नित्य बढ़तीही जाती है। पंजाब, अन्ध्रदेश, आसाम इत्यादि प्रान्तोंमें तो इस समय चरखोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है। इन प्रान्तोंमें कुछही दिन पूर्व यह काम होता था और इस कारण वहां पुनरारंभमें बहुत कम कठिनाई पड़ी। अन्य प्रान्तोंमेंभी काम बड़े जोरोंसे चल रहा है और जनतामेंभी इसके विषयमें खूब उत्साह फैल रहा है। असल बाततो यह है कि इस समय भी ग्राम ग्राम में वृद्ध स्त्रियां उपस्थित हैं जो इस कामें दक्ष हैं और जो कुछही दिनों पहिले इस कामको करती थीं। चरखेका कितना प्रचारथा वह एक ग्रामीण कहावत से विदित होता है :—

‘ उठो बूढ़ी सांस लो ’
‘ चरखा छोड़ो जांत लो ’

इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि इस समय भारतमें केवल चरखे और करघेके प्रचारकी आवश्यकता है। यदि ये सब जगह अच्छी तरह पहुंचा दिये जायं तो बहुत शीघ्र जरूरत भर कपड़ा बन जायगा।

* * * *

इसके संबंधमें एक बात और कहना आवश्यक है। बहुतसे लोगोंका आजदिन भी यही विचार है कि अब बड़े बड़े कारखाने और मिलों द्वाराही वस्त्रका प्रश्न हल हो सकता है। परंतु भारतके वास्ते चरखाही उपयुक्त है। यदि हम मिलोंके पीछे दौड़ेंगे तो हमें पहिले तो अधिक धन और फिर मिलोंकी इमारतें और कल कांटेकी आवश्यकता पड़ेगी। इन सबके लिये बहुत समयकी आवश्यकता होती है। प्रत्येक अनुभवी व्यक्तिको यह मालूम होगा कि एक बड़ी मिलके बनानेमें कितना समय लगता है। काशीके राजा मोतीचंद साहब और अन्य सज्जनगण मिल कर एक मिल स्थापित करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। पर यद्यपि प्रायः एक वर्षके ऊपर हो गया परंतु अभी तक यह कुछ समझमें नहीं आता कि काम कब आरंभ होगा। इसके विपरीत चरखे और करघे बहुत कम समयमें और पर्याप्त संख्यामें बनाए जा सकते हैं और आज दिन बन भी रहे हैं। इस विचारसे भी चरखे और करघे परही हमारा उद्धार निर्भर है।

* * * *

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि चरखे द्वारा सूत कात कर जीविका निर्वाह करना असंभव है। उनका कहना है कि आठ घंटा भी प्रतिदिवस काम करने पर पावभर से अधिक रूई कातना असंभव है और इतने सूत कातनेकी जो मजदूरी मिलेगी उससे पेट नहीं भर सकता। इसके संबन्धमें हम यह पहिलेही बता चुके हैं कि अधिकतर लोग तो इस कामको करने वाले ऐसे होंगे जिनका असल पेशा दूसरा होगा, परंतु अपने अवकाशके समय वे इस कामको करेंगे। इस कारण जितना समयभी इस काममें वे लगावेंगे वह ऐसा होगा जो इस समय बिलकुल नष्ट होता है। अतएव जो थोड़ा बहुत भी वे लोग इस अवकाशके समयमें कमा लेंगे, वह उन्हें लाभही लाभ है। साथही ध्यान रखने की आवश्यकता है कि भारतके अधिकांश लोग खेती ही करते हैं। यह ऐसा काम है जिसके कारण वे लोग अपना गांव छोड़ कर बाहर नहीं जा सकते।

उनका जो अवकाशका समय है वहभी ऐसा होता है कि वे अपना गांव छोड़कर आसपासके शहरोंमें जीविका उपार्जन करने नहीं जा सकते। ऐसी हालतमें घर बैठे कोई ऐसे उद्यमकी उन्हें आवश्यकता पड़ती है जिसे वे जब चाहें, उस समय और जितनी देर तक चाहें करें। साथही वह ऐसा कामभी होना चाहिये जिसमें बहुत थोड़े मूलधनकी आवश्यकता पड़े। यदि उस काममें किसी यंत्रकी आवश्यकता हो तो वह भी ऐसा होना चाहिये, जो अत्यन्त सरल हो और जिसकी मरम्मत इत्यादि भी गांवमें सहजमें हो सके। साथही उद्यम ऐसाभी होना चाहिए, कि उसके द्वारा बनी चीजकी मांग हो और वह सुगमतासे बिक जाय। यदि हम देखें तो चरखा और करघा ही इन सब शर्तोंको पूरी करता है। कपड़ेके बिना कोई एक दिनभी नहीं रह सकता। अन्नके बिना तो आदमी दो, चार, दस रोज काटभी ले, परंतु वस्त्र बिना तो अन्नोपार्जन भी असंभव हो जाता है। फिर चरखा, अत्यन्त सरल यंत्र है और गांवके बढ़ई केवल उसकी मरम्मतही नहीं, बल्कि यंत्रभी बड़ी सुगमतासे बना लेते हैं। अन्तमें उसका मूल्यभी बहुत सामान्यही होता है और रूई तो प्रत्येक काश्तकार अपने खेतमें भी उत्पन्न कर सकता है। कामभी ऐसा है कि जब जिस समय चाहे जितनी देर तक किया जाय और अभ्यास हो जाने पर जो अवकाशका समय गपाष्टकमें व्यतीत होता है, उस गपाष्टकमें भी विघ्न नहीं पड़ सकता। इस दृष्टिसे यह दलीलभी कि इस कामसे मजदूरी काफी नहीं मिलेगी, रद्द हो जाती है।

* * * *

साथही स्त्रियोंके वास्ते तो इससे उपयोगी काम कोई होही नहीं सकता। भारतमें परदेका रिवाज तो हैही परंतु योंभी भारतमें ही नहीं, समस्त संसारमें मनुष्यका भाव यही है कि स्त्रियोंको घरके बाहर जीविकोपार्जन हेतु नहीं जाना चाहिये। यह स्वाभाविकभी है। परमेश्वरने उन्हें ऐसाही बनाया है और मानुषिक जीवन में उनका कार्यभी ऐसा है

# सम्पादकीय

कि उन्हें घरके बाहर काम नहीं ही करना चाहिये। सन्तान पालन तथा गृह कार्यकी ज़िम्मेदारी ऐसी है कि घरके बाहर काम करनेमें उन्हें बड़ी असुविधा पड़ती है। मांको जब अपने पेटके लिये संतानकी ओरसे ध्यान हटाना पड़ता है तब संतानकी उचित फिकर नहीं हो सकती और उसकी मानसिक तथा शारीरिक उन्नति में बाधा पड़ती है। इसका फल केवल व्यक्तिगत नहीं है, बल्कि इसका प्रभाव देश पर पड़ता है और इसमें समस्त देशकी हानि होती है। इसका कारण यह है कि देशकी भावी सन्तान परही देशकी उन्नति निर्भर है और यदि यह सन्तान पूर्ण शक्तिशाली, सर्वगुणसंपन्न, न हुई तो देशकी उन्नतिके बदले अवनति होगी। आज समस्त संसारमें इस बात पर ध्यान दिया जा रहा है। इन सब कारणोंसे हमारा कर्तव्य है कि स्त्रियोंके वास्ते कोई ऐसा कार्य खोज निकालें, जिसे वे अपने घर पर, अपने गृहकार्यसे छुट्टी पाकर, अपने अवकाशके समय कर सकें और जिसके करनेमें यह अनिवार्य न हो कि वे कुछ समय तक उसे छोड़ न सकें, इसके विपरीत वह कार्य ऐसा होना चाहिये कि आवश्यकतानुसार जब चाहें उसे कुछ देर तक छोड़ सकें। साथही काम ऐसा भी होना चाहिये कि रात दिनमें जब अवकाश मिले किया जा सके। ध्यान करनेसे और खूब सोचने विचारनेसे चरखेसे सूत कातनेकी अपेक्षा इन सब शर्तों को पूरा करने वाला और कोई काम नहीं देख पड़ता। और भी कुछ काम ऐसे हैं जिन्हें स्त्रियां घर पर कर सकती हैं, जैसे, कसीदा काढ़ना इत्यादि, पर वे सब ऐसे हैं जिनकी मांग अमीरोंके यहां ही है और यदि किसी कारणसे उसकी मांग कम हो जाय तो मुश्किल पड़ जाय। इसके विरुद्ध, जैसा हम पहिले कह चुके हैं, वस्त्रके बिना मनुष्यका काम एक रोज भी नहीं चल सकता, इस कारण उनके परिश्रमका मूल्य मिलनेमें उन्हें कभीभी कठिनाई न पड़ेगी। इन्हीं सब कारणोंसे चर्खा द्वारा सूत कातना एक समय स्त्रियोंमें इतना प्रचलित था। यहां तक कि पंजाबमें तो विवाहमें कन्याको बिदाईके समय एक चर्खाभी दहेजमें दिया जाता था और आसाममें आजदिनभी जो स्त्री कपड़ा बुननेमें दक्ष नहीं होती उसका विवाहही कठिन हो जाता है। इन सब कारणोंके अतिरिक्त यदि हम इस विषय पर ध्यान दें कि आज इस वृत्तिके नष्ट हो जाने से स्त्रियोंको क्या करना पड़ता है और उससे उनकी क्या दशा होती है तो चर्खेका महत्त्व और अच्छी तरह हमारी समझमें आजायगा। आज स्त्रियोंको बाहर सड़क पर, मिलोंमें तथा परदेश, फिजी आदि में जीविकोपार्जन हेतु जाना पड़ता है। वहाँ उनकी क्या दुर्दशा होती है, स्त्रियोंका सबसे बड़ा आभूषण लज्जाका किस तरह सत्यानाश होता है और उनके सतीत्वका क्या हाल होता है, यह भी किसीसे छिपा नहीं है। परंतु चर्खेसे इन सबकी रक्षा होती है। इसी कारण महात्माजीने कहा है कि हमारी बहिनोंकी रक्षाके लिये चर्खेसे बढ़कर कोई चीज नहीं है।

*   *   *   *

बड़े बड़े कल कारखानोंके विषयमें हमें एक बात और कहना है। आज संसारके

उन देशोंमें जहां कल कारखानोंकी सबसे अधिक उन्नति हुई है, वहां इनके विरुद्ध आन्दोलन हो रहा है। वहां "काटेज इंडस्ट्रीज" अर्थात् गृह उद्योग धंधोंकी ओर लोगों का ध्यान जा रहा है और यह प्रयत्न हो रहा है कि ऐसे उद्योग धन्धोंका आविष्कार किया जाय जिससे मानव जीवनकी आवश्यक चीजें घर घर बन सकें। बड़े बड़े कल कारखानोंके दोष आज उनको देख पड़ रहे हैं। वे कहते हैं कि प्रचलित प्रथामें धन कुछ थोड़े से आदमियोंके हाथमें एकत्र हो जाता है और वे अकेले करोड़पति हो जाते हैं। इसके विपरीत श्रमजीवी मजदूर दलको काफ़ी मजदूरी नहीं मिलती। वह दरिद्र हो जाता है। इसके अतिरिक्त मजदूर भी निर्जीव कल कारखानेके सदृश एक यंत्र सा हो जाता है। उसमें मनुष्यत्व नहीं रह जाता है। इस प्रथाके और भी बहुतसे दोष बतलाते हुए वहां भी इसके विपरीत आन्दोलन हो रहा है। ऐसी अवस्थामें हम लोगोंको उनके अनुभवका लाभ उठाकर उसमें फंसनेके बदले उससे बचना चाहिए। इसी प्रथाका फल आज यूरोप तथा अन्य देशोंमें श्रमजीवियों तथा धनजीवियोंका वह झगड़ा है जिसके कारण समस्त कल कारखाने हिल गए हैं। इन सब बातोंको जानते हुए हमें तो इससे बचेही रहना चाहिए और अपना आशा-भरोसा छोटे छोटे उद्योग धंधो पर जो सुगमता पूर्वक प्रत्येक गृहमें हो सकें, उन्हीं पर रखना चाहिए।

* * * *

इन सब बातोंसे यह तो अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि हमारा उद्धार चरखों और करघोंपर ही निर्भर है और उन्हींको पुनर्जीवित करनेका प्रयत्न करना चाहिए। अब हमें उनके पुनर्जीवित करनेके प्रकारों पर विचार करना है। विगत मासमें हम यह दिखला चुके हैं कि विलायतने अपने उद्योग धंधेकी उन्नतिके वास्ते किस प्रकार कानून द्वारा प्रयत्न किया था। आज भी विलायतमें पुनः उसी प्रकारकी कारवाई हो रही है। विलायतमें हालमें ही दो कानून व्यवसाय-रक्षा और उसकी उन्नतिके वास्ते बनाए गए हैं। परन्तु इस प्रकारका प्रयत्न केवल स्वतन्त्र देशही कर सकते हैं, परतन्त्र भारतको ये साधन प्राप्त नहीं। ऐसी अवस्थामें हमें अपनेही उद्योगों द्वारा वह काम करना पड़ेगा जो और देशोंमें उनकी गवर्मेन्ट द्वारा होता है। जिसप्रकार बाल्यकालमें बच्चोंकी रक्षा करनी पड़ती है उसी प्रकार आरम्भमें प्रत्येक उद्योग धन्धेकी रक्षा करनी पड़ती है। यहीं हमें अपनी देश भक्तिकी आवश्यकता पड़ती है। अन्य देश यह काम कर द्वारा करते हैं, अर्थात् विदेशी वस्तु पर कर लगा कर उसे इतनी महँगी कर देते हैं कि वह स्वदेशीके मुकाबिले में महँगी पड़े, फ़रक केवल इतना है कि एक अवस्थामें सर्वसाधारण पर यह बात विदित नहीं रहती कि अपने देशके वाणिज्य व्यापारकी रक्षार्थ हम मूल्य अधिक दे रहे हैं, परन्तु दूसरी हालतमें सफलता जनसाधारणके पूर्ण ज्ञान और उनकी दृढ़ता पर निर्भर रहती है। आज यही समस्या हमारे सामने उपस्थित है। आज भारतका उद्धार हमारे स्वार्थ-त्याग पर निर्भर है। यदि समस्त भारत आज अपने कर्तव्य पर दृढ़ हो जाय,

## सम्पादकीय

यदि क्षणिक आर्थिक हानिकी परवाह न कर हम लोग हाथके कते हुए और हाथके बुने हुए खद्दरके तन मन धनसे उपासक बन जायँ, यदि हम चर्खे और करघेका घर घर, ग्राम, ग्राम, नगर, नगर, प्रान्त प्रान्त पूर्ण प्रचार कर दें, तो वह दिन आनेमें देर न लगेगी जिसके वास्ते आज समस्त देश लालायित हो रहा है, जिसकी सब लोग एक टक होकर प्रतीक्षा कर रहे हैं और जिसका सुप्रभात हमें आज भी देख पड़ रहा है।
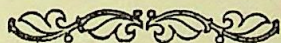
# विशेष सूचना ।

गत मासमें "स्वार्थ"के वार्षिक मूल्यमें परिवर्त्तन करनेके सम्बन्धमें हमने अपने ग्राहकों और अनुग्राहकोंकी सेवामें, उनका मत जाननेके निमित्त, एक एक कार्ड भेजा था। हमारे उस अनुरोधके उत्तरमें जो सम्मतियां भेजी गयी हैं, उनका निष्कर्ष यही है कि "स्वार्थ"का वार्षिक मूल्य कुछ कम कर दिया जाय एवं पृष्ठ-संख्याभी बढ़ा दी जाय। अतः हम सहर्ष यह प्रकाशित करते हैं कि आगामी कार्तिक माससे अर्थात् इस वर्षके दूसरे खण्डसे "स्वार्थ"का वार्षिक मूल्य घटाकर ५) कर दिया जायगा। पृष्ठ संख्याकी भी वृद्धि कर दी जायगी। अब प्रति संख्यामें ९६ पृष्ठ रहा करेंगे। कागज अवश्य साधारण लगाया जायगा। इसके अतिरिक्त हमने अपने ग्राहकोंके लिये एक और सुविधा कर दी है। उन्हें "ज्ञानमण्डल"की सभी पुस्तकें पौने मूल्य पर मिल सकेंगी। आशा है इतनी सुविधाएँ कर देनेसे अब औरभी अधिक सज्जन "स्वार्थ"के ग्राहक* बन कर लाभ उठासकेंगे।

*जो सज्जन इसी वर्ष ६) वार्षिक मूल्य देकर ग्राहक बने हैं, उनका शेष रुपया अगले वर्ष मुजरा कर दिया जायगा। अथवा उतने मूल्यकी पुस्तकें "कार्यालय"से भेज दी जायँगी।

**व्यवस्थापक "स्वार्थ"**
**ज्ञानमण्डल, काशी।**

ओ३म् वन्देमातरम्

वर्ष २
खण्ड २

कार्त्तिक १९७८

अङ्क १
पूर्णाङ्क १९

# अराजकताका मत।

धुनिक कालमें मनुष्य जातिके नैतिक राजनीतिक तथा सांपत्तिक जीवनमें जो अनेक बड़ी बड़ी त्रुटियां आगयी हैं और जिन त्रुटियोंके कारण मानव-समाज नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है इन महती त्रुटियोंको दूर करनेके लिए उन्नीसवीं शताब्दीके तृतीय पादमें यूरोपमें दो नूतन और अति प्रभावशाली मतोंका प्रचार हुआ। एक साम्यवाद और दूसरा अराजकताका मत। यद्यपि प्राचीन कालमें यूरोपके शिरमौर यूनान तथा पूर्वीय सभ्यताके केन्द्र भारतवर्षके कुछ विद्वानोंके ग्रन्थोंमें साम्यवादसे और अराजकताके मतसे मिलते जुलते कुछ विचार पाये जाते हैं तथापि इन दोनों मतोंको नवीन मत कहना ही उचित है। प्राचीन समयमें इस तरहके विचार चन्द विद्वानोंकी कल्पनाशक्तिके फलस्वरूप मात्र थे। जनसमूह इस प्रकारके विचारोंसे नितान्तही अपरिचित था। उस समय आजकलकी तरह न तो ऐसे विचारोंका प्रतिपादन ही किया जाता था और न इनको कार्यमें परिणत करनेके लिये जी जानसे यत्न ही किया जाता था।

इन दोनों—साम्यवाद तथा अराजकता—का यथार्थ रूप और महत्व समझनेके लिए और यह जाननेके लिए कि वर्तमान युगमें इनका ऐसा विकाश तथा प्रचार क्योंकर और कैसे हुआ, अठारहवीं शताब्दीके यूरोपके आर्थिक तथा राजनीतिक इतिहासपर दृष्टिपात करना अति आवश्यक है। अठारहवीं सदीके द्वितीयार्द्धमें यूरोपमें दो बड़ी महत्व-पूर्ण घटनाएं हुई, इनने वहांके आर्थिक तथा राजनीतिक समाज-संगठनकी काया ही पलट दी। ये घटनाएँ थीं व्यावसायिक[1] परिवर्तन और फ्रान्सकी राज्यक्रान्ति। इन दोनों घटनाओंके पूर्व पाश्चात्य अर्थात् यूरोपीय और पूर्वीय अर्थात् एशिआई देशोंके समाज-संगठनमें आज-कल जो बड़ा भेद है वह नहीं था। दोनों यूरोपीय और एशिआई देशोंका व्यावसायिक

1. Industrial Revolution.

तथा राजनीतिक समाज-संगठन मूलतः एकही था, किन्तु इन घटनाओंके चरितार्थ होते ही यूरोपमें एक नया युग शुरू हो गया।

पहिली घटना अर्थात् व्यावसायिक परिवर्त्तनसे अपनी जिम्मेदारीपर काम करनेवाले स्वतन्त्र कारीगरोंका यूरोपसे लोप होता जाता है। भाफ द्वारा चलनेवाली नयी नयी मशीनोंके आविष्कारसे कारीगरोंका जीवनभरके परिश्रमसे सीखा हुआ हुनर वृथा हो जाता है। इन कारीगरोंके छोटी मात्राके स्वतन्त्र व्यवसायके स्थानपर बड़ी बड़ी मिलें और कारखाने कायम किये जाते हैं। रोटीके लिए व्यवसाय नष्ट हो जानेपर येही स्वतन्त्र कारीगर, विवश होकर, मजदूरीपर काम करनेवाले श्रमजीवी हो जाते हैं। इस प्रकार आधुनिक समाजका श्रमजीवि-वर्ग पैदा होता है। छोटी मात्राके व्यवसायके[1] स्थानपर सर्वत्र बड़ी मात्राके[2] व्यवसायकी नीव डाली जाती है। इन सब बातोंका फल यह होता है कि धनका[3] बटवारा एक नवीन रूप धारण कर लेता है। यद्यपि इस व्यावसायिक परिवर्त्तन-से समस्त यूरोपकी सम्पत्ति सहस्र गुणा बढ़ जाती है तथापि समाजका बड़ा भाग पहिलेसे भी अधिक दुःखी और दरिद्र हो जाता है। सारी नूतन सम्पत्ति अल्पसंख्यक बड़भागियोंके हाथोंमें इकट्ठी हो जाती है। इस तरह समाज दो भागोंमें विभक्त हो जाता है—एक ओर तो सामान्य सुखोंसे भी वंचित श्रमजीवी और दूसरी ओर समस्त ऐश्वर्यभोगी धनकुबेर।

दूसरी घटना, फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिसे स्वतंत्रता, समानता तथा जातीयताके भाव सब पाश्चात्यदेशोंके सर्वसाधारणमें फैलते जाते हैं। इससे अनियंत्रित शासनप्रणालीका नाश होकर उसके स्थानपर नियंत्रित शासनप्रणाली स्थापित होती जाती है। नियमोंके बनानेमें जनसमूहका पूर्ण अधिकार माना जाता है और इस प्रकार प्रजासत्तात्मक तथा प्रति-निधिसत्तात्मक शासनप्रणालियोंका विकाश होता है। जातीयता[4]का भाव ऐसा जोर पकड़ता है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी सेनाको बढ़ाता है और मनुष्यसंहारके कार्यमें विज्ञानके नूतन आविष्कारोंसे पूरी पूरी मदद लेता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय ईर्षा तथा स्पर्द्धाकी बुनियाद दृढ़ कर दी जाती है। कानूनके समक्ष समानताका विचार फलीभूत होकर शीघ्रही साम्यवादके मूल सिद्धान्त धन तथा अवसरकी समानताके भावोंका वीजारोपण करता है। श्रमजीवियोंकी दशाको सुधारनेके लिए शासनप्रणालीके कार्यक्षेत्रका दायरा बढ़ा दिया जाता है। अबतक राष्ट्रको शत्रुओंसे सुरक्षित रखना और प्रजाकी जान और मालकी रक्षा करना ही शासनप्रणालीका कर्त्तव्य समझा जाता था, किन्तु इस कालसे सामाजिक जीवनकी प्रत्येक बातमें शासनप्रणाली हस्तक्षेप करने लगती है।

इस प्रकार इन दो महती घटनाओंसे यूरोपीय देशोंका प्राचीन समाज-संगठन

---

1. Small Scale Industry.
2. Large Scale Production.
3. Distribution of Wealth.
4. Nationalism.

नष्ट कर दिया गया। आधुनिक इतिहासमें प्रथम बार यूरोपीय विद्वानोंके सामने अत्यन्तही जटिल सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएं—जैसे कि श्रमजीवि-प्रश्न[1], पूंजीकी सत्ताका[2] प्रश्न और शासनप्रणाली[3]के कार्यक्षेत्रका प्रश्न—संशोधनार्थ उपस्थित होती हैं। इनका हल करना अत्यन्तही कठिन है। इन्हीं समस्याओंका उचित उपाय करनेके लिए साम्यवादका तथा अराजकताके मतका प्रचार होता है। ये दोनों परस्पर विरुद्धमत मनुष्यके स्वभावकी विरुद्ध मनोवृत्तियोंपर निर्भर हैं। साम्यवाद समाज तथा संगठनकी ओर आकर्षित करनेवाले मनुष्यके प्राकृतिक भावोंपर निर्भर है। साम्यवादी श्रमजीवी तथा पूंजीवालोंका झगड़ा दूर करनेके लिए स्वत्वका नाश कर तथा सब सम्पत्ति राष्ट्रीय बनाकर उसे परिश्रमानुसार प्रजावर्गमें बांट देनेके वास्ते केवल मनुष्यकी प्रकृत्तिकी समाजमें रहनेवाली मनोवृत्तियोंपरही ध्यान देता है। साम्यवादके पिता कार्लमावर्सका कहना है कि समाजकी ओर लेजानेवाली मनुष्यकी मनोवृत्तियां शीघ्रही ऐसी बलवती हो जायँगी कि राष्ट्र सर्व सम्पत्तिका स्वामी होकर देशवासियोंमें उनके परिश्रमके अनुसार धनका बटवारा करेगा। इस प्रकार बड़ी सुगमतासे आधुनिक आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याएँ स्वतः हल हो जायँगी।

अराजकताका मत, साम्यवादके विरुद्ध, मनुष्यके स्वभावमें जो व्यक्तित्वका भाव है उसपर अधिक ज़ोर देता है। राज्यविप्लववादी आधुनिक राष्ट्र-संगठन तथा शासन-प्रणाली हीमें मनुष्यजातिके सारे दुःखोंकी जड़ देखता है। श्रमजीवी तथा पूंजीवालोंका झगड़ा, अन्तर्जातीय ईर्षा तथा युद्ध और शासनप्रणालीकी व्यक्तिगत स्वतंत्रताका नाश करनेवाली शक्तियोंका नाश करनेके वास्ते राज्यविप्लववादी आधुनिक राष्ट्रोंका नाश करना अत्यावश्यक समझते हैं। राष्ट्र तथा शासनप्रणालीका नाश हो जानेसे समाज पुनः स्वाभाविक तथा सरल हो जायगा। इसका फल यह होगा कि मनुष्य राष्ट्रके गुलाम न होकर फिरसे स्वतंत्र व्यक्ति हो जायंगे। वे सम्पत्ति पैदा करनेवाली हाड़मांसकी मशीनें न होकर संपत्तिके भोगनेवाले स्वतंत्र मनुष्य हो जायंगे।

प्रायः लोग 'राज्यविप्लववादी' शब्दसे घबड़ा जाते हैं। आमलोग राज्यविप्लव वादीका अर्थ हत्याकारी षड्यंत्री करते हैं। उनकी धारणा है कि जो मत राष्ट्रका नाश करनेकी आज्ञा देता है वह अवश्यही बम बनाना, हत्या करना आदि नृशंस कार्योंकी शिक्षा देता होगा। किन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। जो लोग राष्ट्र तथा प्रचलित शासनप्रणालीको बम द्वारा नष्ट करना चाहते हैं वे भी राज्यविप्लववादी कहे जाते हैं पर उन राज्यविप्लववादियों और अराजकताके मतपर विश्वास करनेवाले राज्यविप्लववादियोंमें, नाम एक होने परभी बड़ा अन्तर है। सामान्य राज्यविप्लववादी राज्य विशेष तथा शासनप्रणाली विशेषको ही नष्ट करना चाहते हैं। वे एक प्रकारकी शासन-

1. Labour Problem.
2. Capitalism.
3. Question regarding the Functions of Government.

प्रणाली तोड़कर उसके स्थानपर किसी दूसरे प्रकारकी शासनप्रणाली कायम करना चाहते हैं, किन्तु अराजकताके मतपर चलनेवाले सब प्रकारके राष्ट्रोंका नाश चाहते हैं। वे सब प्रकारकी शासनप्रणालियोंको नष्ट कर देना चाहते हैं और ऐसा करनेके लिए वे बमकी सहायता नहीं चाहते। वे तो सब प्रकारकी पाशविक शक्तिके शत्रु हैं। आधुनिककालमें राष्ट्र तथा जातीयताके भावसे खून खराबी बढ़ रही है। इस बढ़ती हुई हिंसाको रोकनेके लिएही अराजकताके मतपर चलनेवाले राज्य-विप्लववादी राष्ट्रका नाश चाहते हैं। तब फिर भला वे किस प्रकार हत्याकारी हो सकते हैं। उनको हत्याकारी कहना और उनके मतके विषयमें ऐसे विचार करना बड़ी भारी भूल है।

बहुतसे लोगोंकी ऐसी धारणा है कि अराजकताका मत न्यायकी अपेक्षा बलको संसारमें श्रेष्ठ स्थान देना चाहता है। क्योंकि राज्यविप्लववादी शासनप्रणालियोंको नष्ट कर कानूनोंको दूर करना चाहते हैं। इससे यही प्रतीत होता है कि वे शक्तिको न्यायसे अच्छा समझते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। राज्यविप्लववादी "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावतपर कदापि विश्वास नहीं करते। वे बाहरी कानूनोंका डर हटाकर मनुष्यके हृदयमें सद्भावोंको पैदा करना अधिक उचित समझते हैं। मनुष्यकी आत्मापर और उसकी स्वाभाविक भलमनसाहतपर उनको कानूनोंकी अपेक्षा अधिक विश्वास है। इस तरहपर यद्यपि कानून हटा दिए जायँगे तथापि न्यायका गला नहीं घोंटा जायगा। राज्य-विप्लववादियोंका तो आधुनिक समाजसे यह उलाहना है कि न्यायको उचित सम्मान तथा पद देनेमें कानूनी असमर्थ हुए हैं, और यदि मनुष्य इन कानूनी बन्धनोंसे मुक्त कर दिये जायंगे तो फिरसे न्याय, सुख और शान्ति संसारमें आ जायगी।

जिस प्रकार लोगोंकी यह धारणा कि राज्यविप्लववादी न्यायसे बलको ऊंचा स्थान देना चाहते हैं, गलत है, उसी प्रकार उनकी यह धारणा भी कि वे सदाचारके विरोधी हैं बिलकुल गलत है। उनका तो सारा मत इसी एक मूलमंत्रपर निर्धारित है कि मनुष्य स्वभावतः नेक और सुशील है। यह बात सत्य है कि आजकल समाजमें जो प्रचलित बनावटी सदाचारके नियम हैं उनको वे बड़ी तुच्छ दृष्टिसे देखते हैं। किन्तु वे असल सदाचारके पूर्ण पक्षपाती हैं। इसी सदाचारको दृष्टिमें रखकरही राज्यविप्लव-वादी वर्त्तमान राष्ट्रोंके प्रचलित नियमोंकी अपूर्णता दिखलाते हैं कि वे किस प्रकार अपराधीको सन्मार्गमें लानेकी कोशिश कर उसे उसके अपराधके लिए दंड देकर छोड़ देते हैं और इस तरह भूले भटकोंको राहपर लानेका एक सुअवसर वृथाही खो दिया जाता है।

राज्यविप्लवकारियोंका सारा आक्षेप वर्त्तमान शासनप्रणालीपर है। उनका कथन है कि बिना किसी राष्ट्र तथा शासनप्रणालीके मनुष्य समाजमें रह सकता है। इस तरहपर शासनप्रणाली एक अनावश्यक संस्था है। इसकी अनावश्यकताही इसे नष्ट करा देनेके लिए पर्य्याप्त है। ऊपरसे इसने संसारमें अनेक अनर्थ किये हैं। राष्ट्रमें रहनेसेही मनुष्यकी संतति इतनी भिन्न भिन्न जातियोंमें विभक्त हो गयी है कि एक जाति

अपनेको दूसरी जातिका परम शत्रु समझती है। एक देशकी सब शक्ति दूसरे देशवासियों-की स्वाधीनताका हरण करनेमें और उन्हें कष्ट पहुंचानेमें ही स्वाहा हो जाती है। इस संकीर्ण जातीयताके भावने विश्वप्रेमका संसारसे लोपही करा दिया है। लोगोंका बहुत कालसे ऐसा ख़याल था कि जब सर्वसाधारणके हाथोंमें अधिकार आ जायँगे और संसारमें प्रजासत्तात्मक शासनप्रणालियां स्थापित हो जायँगी तो संसारमें सुख और शांतिका अखण्ड राज्य कायम हो जायगा। किन्तु वास्तवमें इसकी ठीक उलटी बात हुई। प्रजासत्तात्मक-शासनप्रणालीने जातीयताके भावको और भी अधिक दृढ़ करके मानव समाजके प्रेमी तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्'के सिद्धान्तपर चलनेवालोंकी आशाओंपर पानी फेर दिया। विश्वप्रेम तथा मानवसमाजकी एकताकी बात जाने दीजिये। ये तो आकाश कुसुम समझे जाते हैं। आधुनिक राजनीतिज्ञोंकी अनन्य भक्तिके पात्र राष्ट्रोंकीही भीतरी दशा देखिये। शासनप्रणालीने मनुष्योंको कैसा गुलाम बना दिया है। शासनक्षेत्र पहिलेसेभी इतना अधिक बढ़ गया है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका नाश हो गया है। मनुष्यको शासनप्रणालीके विरुद्ध चूँ तक करनेकी शक्ति नहीं है। इसलिए ऐसी हानिकारक तथा अनावश्यक संस्थाको नष्ट कर देनेहीमें मनुष्य जातिका श्रेय है। राष्ट्र तथा सब प्रकारकी शासन-प्रणालियोंके नष्ट होजानेपर मनुष्य केवल समाजमें रहेंगे। क्योंकि समाजमें रहना स्वाभाविक है इसलिए न तो यह नष्ट ही किया जासकता और न इसे नाश करनेमें कोई लाभ ही है। नियमोंको पालन करानेवाली शक्तिके नाश होनेपर भी समाजमें किसी प्रकारका अनाचार नहीं होने पायेगा। बाहरी आज्ञाओंको छोड़कर मनुष्य अपनी पवित्र आत्माकी आज्ञाओंका पालन करेगा। मनुष्यकी स्वाभाविक सज्जनता उसे अन्याय तथा अनाचारसे रोकेगी। इस प्रकार न्यायका अखण्ड राज्य कायम रहेगा। एकदमही सिपाही तथा कारागारोंकी आवश्यकताएँ संसारसे उठ जायेंगी, क्योंकि जब कोई अन्याय ही नहीं करेगा तब फिर इनकी आवश्यकताही क्या। आधुनिक आर्थिक संकट शासनप्रणालियोंकेही फल हैं। राष्ट्रके नाश होनेपर ये भी स्वतःही नष्ट होजायँगी। इस प्रकार फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिने तथा व्यावसायिक परिवर्त्तनने जो जो असुविधाएं उत्पन्न की हैं वे सुधार दी जायँगी और मानव-समाज सहस्त्रों वर्षोंके बाद संकीर्णता तथा जातीयताके भावोंको भुलाकर पुनः एक हो जायगा।

राज्यविप्लववादियोंद्वारा आधुनिक राष्ट्र तथा शासनप्रणालियोंपर जो आक्षेप किये जाते हैं वे बहुतही सही हैं। प्रत्येक पक्षपातहीन व्यक्तिको उनके आक्षेपोंकी सत्यता स्वीकार करनी पड़ती है। यह स्वीकार करना पड़ता है कि शासनप्रणाली कभी भी वर्गविशेषकी प्रभुताको रोकनेमें समर्थ नहीं हुई है। कभी जन्मकी प्रभुता होती है तो कभी धनकी। किसी न किसी छोटेसे समूहका बाकी लोगोंपर सदाही प्रभुत्व कायम रहता है। अराजकोंका कहना है कि बिना राष्ट्रका नाश हुए इस वर्ग-प्रभुत्वका नाश होना असंभव है। उनका दूसरा आक्षेप जातीयताके भावपर है। क्रुद्ध सिंहकी तरह एक

राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको घुरेर रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारोंने जितनी संपत्ति नहीं बढ़ायी है उससे कहीं अधिक संपत्तिका नाश करनेवाले यंत्र तय्यार किये हैं। पहिले जितनी जान और मालकी हानि सौ युद्धोंमें होती रही उतनी अब एकही युद्धमें होती है। वास्तवमें वर्त्तमान सभ्यताकी श्रेष्ठता इसी बातमें है कि उसने यूरोपीय राष्ट्रोंको अभूतपूर्व क्रूरतासे युद्ध करनेमें पारंगत बना दिया है। जिस प्रकार रोमराज्यमें एक दूसरेको मारनेके लिए 'ग्लेडिएटर्स' सारे जीवनबलका संचय करते थे उसी प्रकार आजकल यूरोपीय जातियां एक दूसरेका नाश करनेके लिए रातदिन कठोर परिश्रम कर नयी नयी प्राणसंहारिणी कलों तथा मशीनोंका आविष्कार करती हैं।

स्वभावत: अब यह प्रश्न उठता है कि क्या वर्त्तमान राजनीति अराजकता की ओर जा रही है; और यदि नहीं; तो क्या उसे जाना चाहिये? इस प्रश्नके पूर्वार्द्धका उत्तर तो प्रत्यक्ष ही है। जिधर देखिये उधरही शासनप्रणालीकी शक्ति क्रमश: घटनेके बदले बढ़ती जा रही है। राष्ट्र दिन दिन दृढ़ होता ही जा रहा है। उसका कार्यक्षेत्र पहिलेकी अपेक्षा अधिक विस्तीर्ण हो गया है। आधुनिक राजनीतिज्ञों तथा सर्वसाधारणका शासनप्रणालीपर प्रेम बढ़ताही जा रहा है। यदि पहिले जान स्टूअर्टमिल तथा हर्बर्ट स्पेन्सरके सदृश बहुतसे राजनीतिविशारद राष्ट्र तथा शासनप्रणालीको राज्यविप्लववादिओंकी तरह हानिकारक तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रताका नाश करनेवाली, किन्तु साथही, राज्यविप्लववादिओंके मतके विरुद्ध, एक अनिवार्य बुराई समझते थे तो आज उनके स्थानपर प्राय: सभीलोग राष्ट्रको हेगल और ग्रीनके मतानुसार एक आवश्यक लाभकारी और नैतिक संस्था समझते हैं। आधुनिक आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सब तरहकी बुराइयोंको दूर करनेके लिए शासनप्रणाली अत्युत्तम संस्था समझी जाती है। रोडबर्टसके समान अनेक राष्ट्रीय साम्यवादी भी इसके अनन्य भक्त हैं।

प्रश्नके द्वितीयार्द्धका उत्तर भी, यदि हम मनुष्यकी प्रकृतिपर ध्यान दें तो व्यक्त हो जायगा। अराजक लोग राष्ट्र और कानूनोंको तोड़ना चाहते हैं क्योंकि मनुष्यके स्वभावत: नेक होनेसे इनकी आवश्यकताही नहीं है। उनका यह विश्वास है कि मनुष्य स्वभावहीसे नेक और सदाचारी है। यद्यपि उनके इस विश्वासमें सत्यका एक बड़ा अंश है और यद्यपि आजकल, जब कि बहुतोंका ऐसा विश्वास है कि मनुष्य स्वभावत: एक हिंसक जीव है और उसकी कुवृत्तियोंको रोकनेके लिए ही राष्ट्र तथा शासनप्रणाली है, इस बातपर जोर देना आवश्यक है तथापि वास्तवमें मनुष्य न तो टालस्टायके कथनानुसार स्वभावहीसे नेक है और न हाब्सके कथनानुसार वह स्वभावत: दुष्टही है। वह एक अदुष्ट व्यक्ति है। उसपर जैसा पारिवारिक और सामाजिक असर पड़ता है वैसाही वह हो जाता है। यदि सब कानून तोड़ दिये जायँगे तो मनुष्योंकी कुवृत्तियोंको रोकना कठिन हो जायगा। केवल मनुष्यकी नेकीपर विश्वास कर राष्ट्रको नष्ट करनेका विचार अभीतक अधिकांश मनुष्योंको अपनी ओर आकर्षित करनेमें असमर्थ हुआ है।

## अराजकताका मत

अराजकोंका यह कहना कि राष्ट्र अस्वाभाविक और अनावश्यक है और केवल समाज स्वाभाविक है—ठीक नहीं है। राष्ट्र और समाजको अलग अलग कर दोनोंकी भिन्नता दिखलाना असंभव है। यह स्वीकार करना कि समाजमें रहना स्वाभाविक और युक्त है, राष्ट्र और शासनप्रणालीकी आवश्यकता प्रतीत कर देता है। बिना किसी नियम और शासनके मानवसमाज नहीं टिक सकता। मानव-समाज ही क्यों; पशु, पक्षी यहां तक कि मधु मक्खी और चींटीके समूहभी बिना नियमोंके नहीं रह सकते। अराजकोंका यह कहना कि बाहरी आज्ञाओंकी अपेक्षा आत्माकी आज्ञाओंका पालन करना अधिक उत्तम है बहुतही ठीक है। किन्तु शोक यही है कि बहुत कम लोगोंकी आत्माएं इतनी उच्च हैं कि वे उनकी आज्ञाएं मालूम कर सकें। अधिकतर लोगोंको ठीक राहपर चलानेके लिए ही कानून हैं। ये कानून स्वयंही मनुष्यकी प्रकृतिके सात्विक गुणोंपर निर्भर हैं। इसलिए ये बाहरी होकर भी भीतरी ही हैं और इनको पालन कर राष्ट्रमें रहना उपयुक्त है। मनुष्यके इन्हीं स्वाभाविक, सात्विक गुणोंपर बने हुए कानूनोंका प्रचार करनेके लिए ही शासन प्रणाली तथा राष्ट्र हैं। यही कारण है कि हमलोग इतिहासमें जब कभी मनुष्यको समाजमें रहते हुए पाते हैं तो किसी न किसी प्रकारके राजनीतिक शासनमेंभी अवश्य ही पाते हैं।

इस प्रकार यद्यपि अराजकोंका सब प्रकारकी शासनप्रणालियोंको नष्टकर समाजमें रहनेका ध्येय असंभव है तथापि उनके घोर विरोधियोंकोभी यह स्वीकार करना पड़ता है कि उन्होंने आधुनिक शासन सम्बन्धी त्रुटिओंको दिखलाकर और कुछ नवीन विचार पेशकर संसारको बड़ाही अनुगृहीत किया है। बकूनिन क्रोपोटकिन और टालस्टाय इत्यादि सभी प्रतिष्ठित अराजकोंका सबसे बड़ा आक्षेप जो आधुनिक सभ्यतापर है वह यह है कि इसने वर्णप्रभुत्वका केवल कलेवरही बदला है, उसका नाश नहीं किया है। उसका नाश करना अत्यावश्यक है और शीघ्रही यह काम करना चाहिये।

आधुनिक जातीयताके भावने संसारमें जो अन्धेर मचाया है उसका भी चित्र टालस्टायने बड़ी खूबीसे खींचा है। इस जातीयताके भावसे प्रेरित यूरोपीय राष्ट्र एक दूसरेसे बलमें बढ़ जानेकी इच्छासे एक ऐसे चक्रमें चक्कर काट रहे हैं जिससे उनका निस्तार होना असंभव सा प्रतीत होता है। जब इस बातका ध्यान आता है कि सर्वमान्य टालस्टायके विश्वप्रेमके संवादके बाद भी वर्त्तमान महासमर हो गया तब कहीं हम लोगोंको जातीयताके भीतर मनुष्यजातिका विध्वंस कर देनेकी सामर्थ्य रखनेवाली जो अग्नि धधक रही है, उसका किञ्चिन्मात्र ज्ञान होता है। महामान्य टालस्टाय और क्रोपोटकिनके जातीयताके ऊपर आक्षेप कैसे उचित, समयोपयुक्त तथा मार्केके थे। कैसी बुद्धिमत्तासे उन्होंने आधुनिक झगड़ोंकी जड़ मालूमकर उसके विरुद्ध आवाज उठायी थी, यद्यपि क्रुपके कारखानोंके लोहेकी खटखटोंमें उनका कथन अरण्यरोदन सदृश था।

यूरोपीय राजनीतिज्ञोंने मनुष्यके कर्त्तव्योंकी इति श्री राष्ट्रमें ही कर दी थी।

अराजकोंने इस मतके विरुद्ध आवाज उठाकर यह दिखला दिया कि मनुष्य स्वयं सब प्रकारकी संस्थाओंसे बढ़कर है और इसीलिए राष्ट्रके प्रति कर्त्तव्यके पहिले मनुष्यका मनुष्यके प्रति कर्त्तव्य है। आजकल लोग इस बातको प्रायः भूल जाते हैं कि राष्ट्र और समाज सब मनुष्यके ही सुखके लिए हैं। वे कभी भी हमारी इच्छाओंके एकमात्र लक्ष्य नहीं हो सकते हैं। इसलिए जाति और राष्ट्र—इन सबके ऊपर मानवसमाज है। जातीयताके आवेशमें हमें मनुष्यजातिके प्रति हमारे जो कर्त्तव्य हैं उन्हें कभी भी नहीं भूलना चाहिये।

राजनीतिशास्त्रका यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है कि कौनसे कार्य शासन-प्रणाली करे और कौनसे कार्य वह व्यक्तिकी इच्छापर छोड़ दे। आजकल शासनप्रणालीका कार्यक्षेत्र बढ़ रहा है। इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके लोप होनेकी आशंका है। अराजकों-के शासनप्रणालीपर किये गये आक्षेपोंसे बहुतसे लोगोंका ध्यान पुनः इस प्रश्नकी ओर ऐन मौकेपर खींचा गया है। इससे व्यक्तिगत स्वतंत्रता लुप्त नहीं होने पावेगी।

आधुनिक समाज अराजकोंका जिस बातके लिए सबसे अधिक ऋणी है वह उनकी स्वाभाविक भलमनसाहतका विश्वास है। महामान्य टालस्टायको मनुष्यके मनुष्यत्वका अखण्ड विश्वास था। उनका वर्त्तमान शासनप्रणालीपर यह एक मुख्य आक्षेप था कि उसने यूरोप वासियोंको महात्मा ईसाके सिद्धान्तोंसे हटा दिया है। इसीके कारण मनुष्य मनुष्यका विश्वास नहीं करता है। यह शासनप्रणाली अपराधीको दण्डही देना जानती है, उसे सुधारकर फिरसे मनुष्य बनाना तो यह जानती ही नहीं है। अराजकोंका यह कथन यद्यपि अक्षरशः सत्य नहीं है तथापि वर्त्तमान शासकोंको इस बातका स्मरण दिलानेकी बड़ी आवश्यकता है। धर्मसे अलग किये जानेपर राजनीति मनुष्यको स्वभावसेही दुष्ट और कुटिल बना देती है। अतएव राजनीतिज्ञोंके कानोंमें बार बार मनुष्यके सत्वगुणोंका गान करना अत्यावश्यक है।

शिवदत्त त्रिपाठी।

# पारिश्रमिककी विभिन्नता ।

हम देखते हैं कि इस संसारमें नाना प्रकारके उद्योग-धन्धे प्रचलित हैं। अपनी अपनी योग्यता, सुविधा और रुचिके अनुसार लोग भिन्न भिन्न उद्योगोंमें लगे हुए हैं। यदि सारी पृथ्वीपर केवल एकही प्रकारका धन्धा प्रचलित होता तो न जाने संसारकी आज क्या हालत होती। यदि क्षणभरके लिये हम यह मान भी लेवें कि सब मनुष्योंमें एकही कार्यको करनेकी पूरी पूरी योग्यता होना कोई असंभव बात नहीं है, तो भी सबके लिये उसेही रुचिकर और सुविधाजनक मान लेना अवश्यही बड़ी भूल होगी। तात्पर्य यह है कि भिन्न भिन्न काम-काजोंकी उत्पत्ति मनुष्यके लाभके लिये ही की गयी है। हमने अपनी सुविधाओं तथा रुचियों और आवश्यकताओंके अनुसार ही उनकी रचना की है। अस्तु।

जिस प्रकार इस भूमण्डलपर जुदा जुदा तरहके पेशे देखनेमें आते हैं, उसी प्रकार हम देखते हैं कि उन पेशोंके करनेवालोंको आमदनी भी भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है। सबको बराबर पारिश्रमिक नहीं मिलता। किसीको चार आने रोज मिलता है तो किसीको आठ आने, किसीको पन्द्रह रुपया मासिक मिलता है तो किसीको सौ रुपये या हजार रुपये मासिक मिलता है। फिर किसीकी आमदनी निश्चित होती है, किसीकी अनिश्चित। किसी अच्छे बैंकके कर्मचारीको उसका मासिक वेतन नियमित रूपसे निश्चित परिमाणमें मिल जाता है, किन्तु एक साधारण कृषकके विषयमें यह बात नहीं कही जा सकती। उसके पारिश्रमिककी मात्रा तथा समय, दोनोंही प्रायः अनिश्चित होते हैं। कभी तो वह चौगुनी फसल काटता है, और कभी बीजमात्रतक पाना उसके लिये कठिन हो जाता है। किसी वर्ष वर्षा शीघ्र और नियमित रूपसे होनेपर उसके परिश्रमका बदला भी शीघ्र मिल जाता है, और किसी वर्ष दैवी (तथा लौकिक) कारणोंसे पारिश्रमिक-प्राप्तिमें विलम्ब भी हो जाता है। अतः हम स्पष्टही देखते हैं कि इस विश्वमें जिस प्रकार परिश्रमकी विभिन्नता प्रचलित है, उसी प्रकार पारिश्रमिककी भी भिन्नता सर्वत्र पायी जाती है। इसका क्या कारण है?

जिन सब कारणोंसे पारिश्रमिककी मात्राका निर्णय किया जाता है, उनमें परिश्रम करनेवाले मनुष्यकी कार्य-क्षमता प्रधान है। जो मनुष्य किसी निर्दिष्ट कार्यको करनेके लिये जितनाही अधिक योग्य होगा, उसे साधारणतया* उतना ही अधिक पारिश्रमिक भी मिलेगा। यद्यपि यह सत्य है कि कारखानोंके मालिक तथा श्रमजी·

---

*हमारा समाज अभी तक अनेक दोषोंसे परिपूर्ण है। उसमें एक दोष यह भी है कि सभी मनुष्योंको, सभी समय, उनकी कार्य-क्षमताके अनुरूप पारिश्रमिक नहीं मिलता। इसीलिये ऊपर हमें "साधारणतया" शब्दका उपयोग करना पड़ा है—लेखक

वियोंसे काम लेनेवाले अन्य लोग प्राय: कमसे कम पारिश्रमिक देकर अधिकसे अधिक काम कराना चाहते हैं, तो भी किसी न किसी अंशमें उन्हें अपने अधीन लोगोंको सन्तुष्ट रखनाही पड़ता है। यदि उन्हें वास्तवमें अपना काम करना है तो अपने आदमियों-को समुचित पारिश्रमिक देनेका सदा ख्याल रखना पड़ता है। यदि वे ऐसा न करें तो उन्हें न तो नये काम करनेवालेही मिलेंगे और न पुराने ही उनके यहां अधिक दिनों तक टिक सकेंगे। जो दो-चार श्रमजीवी अपनी किस्मतके कारण लाचार होकर रहनेके लिये बाध्य भी होंगे, वे चित्त लगाकर काम न कर सकेंगे। ऐसी हालतमें काम क्योंकर पूरा हो सकता है ?

यहाँपर एक बात स्मरण रखनी चाहिये। जिस प्रकार पूंजी लगाने वाले प्राय: यही चाहते हैं कि कमसे कम रुपया खर्च करके अधिकसे अधिक काम निकालें, उसी प्रकार साधारणतया श्रमजीवी भी चाहते हैं कि कमसे कम परिश्रम करके अधिकसे अधिक रुपया प्राप्त करें। ऐसी हालतमें, काम करने वालोंको सन्तुष्ट रखना अनिवार्य होते हुए भी पूंजीवाले उन्हें मुह-माँगा वेतन नहीं दे सकते। किसी मनुष्यके पारिश्रमिककी वृद्धि करते समय उन्हें इस बातका ध्यान रखना पड़ता है कि वह कितना और किस किस्मका काम करता है अर्थात् उसकी काम करनेकी योग्यता कितनी है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किसी मनुष्यकी कार्य-क्षमताका अन्दाजा किस प्रकार लगाया जा सकता है ? देवदत्त अधिक योग्य है या विष्णुदत्त, इसका निर्णय कैसे होगा ? दोनोंके किये कार्यका केवल परिमाण देखकर ही इसका तसफिया नहीं हो सकता। संभव है देवदत्तने एक घण्टेमें जो काम किया हो, विष्णुदत्त वही काम डेढ़ घण्टेमें करे, पर केवल इतनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि विष्णुदत्त देवदत्तकी अपेक्षा कम कार्यशील है। यद्यपि एकने निर्दिष्ट कामको घण्टे भरमें कर डाला और दूसरेने उसे डेढ़ घण्टेमें किया तो भी यदि द्वितीय मनुष्यने अपना काम अधिक सावधानीसे किया हो तो संभव है पहिलेकी अपेक्षा उसे अधिक पारिश्रमिक मिले। किन्तु इसकी भी सीमा होती है। कारखानेका मालिक दूसरे मनुष्यको वेतनतो अधिक देगा, पर इतना अधिक भी नहीं कि उसे टोटा उठाना पड़े। वह सब बातोंका ख्यालकर दोनोंके कार्योंको तुलनात्मक दृष्टिसे देखेगा। तत्पश्चात् दोनोंका वेतन निर्द्धारित करेगा।

मान लीजिये किसी महाशयने कलकत्तेमें एक अच्छी "अप-टू-डेट साइंटिफिक टेलरिंग शाप" (कपड़े सीनेकी दूकान) खोली और उसमें देवदत्त तथा विष्णुदत्तको नौकर रखा। अब यदि दिनभरमें देवदत्त तीन कोट सीकर देवे और विष्णुदत्त सिर्फ दोही देवे तो यह आवश्यक नहीं है कि देवदत्तको विष्णुदत्तकी अपेक्षा ड्योढ़ा वेतन दिया जाय। देवदत्तके तीन कोटोंकी सिलाई मान लीजिये ४॥) मिली और विष्णुदत्तके दो कोटोंकी ६), तो देवद-त्तको, विष्णुदत्तकी अपेक्षा ड्योढ़ा काम करनेपरभी, ड्योढ़ा पारिश्रमिक न मिलकर विष्णु-दत्तके बराबर भी न मिलेगा। विष्णुदत्तका काम कुछ शिथिल होते हुए भी अधिक अच्छा

और मूल्यवान् होनेके कारण उसे वेतन भी अधिक दिया जायगा। यदि देवदत्तको २) दैनिक पारिश्रमिक दिया जाय तो संभव है विष्णुदत्तको २।) दिया जायगा। अब यदि विष्णुदत्त अपनेको बहुत होशियार समझकर ३) रोज़ मांगे तो उसकी यह "महत्वकांक्षा" पूरी करनेमें दूकानवाले महाशय अवश्य नाक-भौं सिकोड़ने लगेंगे। वे अपने मनमें सोचेंगे कि "देवदत्तसे मुझे ४।।) आमदनी होती है और विष्णुदत्तसे ६), अर्थात् करीब करीब सवायी आय होती है। विष्णुदत्तको अधिक वेतन देना उचितही है, किन्तु किसी निर्दिष्ट सीमातक। मैं उसे अधिकसे अधिक सवाया वेतन दे सकता हूं और वह मांगता है ड्योढ़ा! ऊँहू, यह ठीक न होगा।"—"नहीं भाई, विष्णुदत्त, हम तुम्हें २।।) से अधिक नहीं दे सकते। तुम्हें इतनेसे सन्तुष्ट हो जाना चाहिये......।"

इस प्रकार किसी मनुष्यकी कार्य-क्षमताका विचार करते समय सिर्फ इतना ही देख लेनेसे काम नहीं चलता कि वह निर्दिष्ट समयमें कितना काम करता है, प्रत्युत यह भी देखना पड़ता है कि वह किस क़िस्मका और किस मूल्यका काम करता है। इसके सिवाय कार्य करनेका ढँग भी विचारणीय है। जो मनुष्य अपना काम बड़ी सफाई और सिलसिलेसे करता है उसे उस मनुष्यकी अपेक्षा अधिक पुरस्कार मिलता है जिसका काम प्रायः उतना ही मूल्यवान् होते हुए भी बेसिलसिले और चित्ताकर्षक न हो।

फिर जो मनुष्य अपना काम प्रसन्नचित होकर और यह समझकर करता है कि इसे पूरा करना मेरा धर्म है, वह उस मनुष्यकी अपेक्षा अधिक वेतन पानेका अधिकारी है जो अपना काम किसी न किसी तरह पूरा तो कर देता है, पर उसे अपना कर्त्तव्य मानकर नहीं, प्रत्युत उसे अनावश्यक भार समझते हुए द्रव्योपार्जनकी लालसासे करता हो। काम चाहे दोनोंही मनुष्य पूरा पूरा करतेहों, फिर भी पहिले मनुष्यकी मुखाकृति देखकर मालिकका चित्त प्रसन्न होता है और दूसरेकी टेढ़ी भृकुटि, मुर्दनी सूरत तथा विचित्र भाव-भंगी देखकर उसके हृदयमें एक प्रकारकी घृणासी उत्पन्न होती है—यह मनुष्यमात्रका स्वभाव है, उसमें मालिकका कोई दोष नहीं। इसके सिवाय पहिला मनुष्य अपने कामसे प्रीति करनेवाला (उसमें "इण्टरेस्ट" लेनेवाला) होनेके कारण, बहुधा मालिकके बिना कहे ही उसे अधिक उन्नत और सुचारु बनानेका प्रयत्न करेगा। मान लीजिये कृष्णदेव और भूदेव ऐसे दो मूर्त्तिकार हैं जिनकी गुणावली क्रमशः ऊपरके दोनों मनुष्योंसे मिलती-जुलती है। अब यदि दोनोंको पांच पांच मूर्त्तियां एक हफ्तेके भीतर तय्यार करनेके लिये दी जायँ, तो संभव है दोनों ही अपना काम निर्दिष्ट समयमें और अपने स्वामीके आदेशानुसार पूरा कर डालें। किन्तु यदि किसी कारणसे पांचो मूर्त्तियां एक हफ्तेके पहिलेही तय्यार हो जायँ तो पहिला मूर्त्तिकार अपने नियोजकको तुरन्त इसकी सूचना देकर और काम मांगने लगेगा, अथवा उन्हीं मूर्त्तियोंको मालिकके आदेशसे भी अधिक सुन्दर और चित्तविमोहक बनानेका प्रयत्न करेगा। दूसरा मनुष्य ऐसा करना मूर्खता समझेगा। उसके हृदयमें यह प्रवृत्ति कदाचित् उठेगी ही नहीं। यदि उठी भी तो

बहुत कमजोरीके साथ। वह मौज़ उड़ाता हुआ अपना काम घसीटकर बराबर सप्ताह भर ले जायगा। ऐसी हालतमें इन दो मनुष्योंसे काम लेनेवाला मनुष्य—यदि वह कंजूस या अविवेकी न हो तो—पहिलेको दूसरेकी अपेक्षा अवश्य ज्यादा तनख्वाह देगा। यदि वह ऐसा न करे तो संभव है पहिला मनुष्य इतना कर्त्तव्य परायण होकर भी कुछ समयके बाद निरुत्साहित हो जाय और इच्छा न होनेपर भी दूसरे मनुष्यकी श्रेणीमें पहुँच जाय। अतः पारिश्रमिक निश्चित करते समय मालिकको इन सब बातोंका बड़ा ख्याल रखना पड़ता है। अस्तु।

पारिश्रमिककी न्यूनाधिकताका एक और कारण काम करनेवालेकी प्रामाणिकता है। जो आदमी ईमानदार है और जिसकी सचाईपर विश्वास किया जा सकता है, उसे बेईमान और झूठे मनुष्यकी अपेक्षा अधिक पारिश्रमिक मिलेगा। हम एक रईसको जानते हैं। उनके अधिकांश घरू नौकरोंको तीन तीन, चार चार रुपये मासिक वेतन मिलता है। कुछ दिन पहिले उनके प्रधान कर्मचारीसे भेंट होनेपर हमने कहा "भाई, इस कठिन महँगीके समय तीन-चार रुपयेमें इनकी गुज़र कैसे होती होगी?" उत्तर मिला "बेईमानीसे! दिवालीके समय यही तीन तीन रुपये पानेवाले पचास पचास रुपये लेकर जुआ खेलते फिरते हैं। उनकी स्त्रियां चांदीके गहनोंसे लदी रहती हैं। श्रीमान्ने बहुत कोशिश की कि इनकी यह बदनीयती और बेईमानी छुड़ा दें, पर वे कृतकार्य न हुए। नौकरोंका यह स्वभावही पड़ गया है। जब दस और बारह रुपये मासिक देने पर भी उनकी यह लत नहीं छूटती तो फिर उन्हें वेतनवृद्धि देनेसे लाभ? वे कई बार नौकरीसे अलग भी कर दिये गये, किन्तु फिर फिर कर लौट आने तथा पाँवोंपर गिरनेके कारण हमारे दयाशील स्वामीने उन्हें पुराना नौकर समझकर पुनः नियुक्त कर लिया.........।" ऐसी घटनाएँ प्रायः सर्वत्रही देखनेमें आती हैं। साहूकार लोग जब किसीको कोई रकम उधार देते हैं तो वे इसी सिद्धान्तका अनुसरण करते हैं। जिसे वे ईमानदार समझते हैं उसे ज़्यादा रक़म कम व्याजपर देदेते हैं, किन्तु जिसकी सचाईमें उनका विश्वास नहीं होता, उसे या तो वे उधार देते ही नहीं या फिर छोटी रक़म अधिक व्याज पर देते हैं। संसारमें ऐसा कोई भी बेवकूफ़ मालिक न होगा जो अपने ईमानदार और विश्वासी नौकरोंको बेईमान नौकरोंकी अपेक्षा अधिक पारिश्रमिक देनेकी आकांक्षा न करता हो।

अभ्यास तथा अनुभवकी मात्राके अनुसार भी पारिश्रमिकमें अन्तर पड़ता है। जिस मनुष्यको किसी कामको करनेका जितना ही अधिक अभ्यास और अनुभव होगा, उसे उतनाही अधिक पारिश्रमिक भी मिलेगा। यही कारण है कि किसी ताज़े ग्रेजुएटकी अपेक्षा एक अभ्यस्त और अनुभवशील ग्रेजुएटका नियुक्त करना लोग ज्यादा पसन्द करते हैं और उसे अधिक वेतन देनेको भी तय्यार रहते हैं।

अभ्यास तथा अनुभवके सिवाय शिक्षाका भी बहुत महत्त्व होता है। अधिक शिक्षित व्यक्तिको जो वेतन मिलता है, वह कम शिक्षित या अशिक्षित व्यक्तिको नहीं

मिलता। यद्यपि दुर्भाग्यवश अनेक बार इस नियमका उल्लंघन हो जाया करता है, फिर भी साधारणतया लोग उसका अनुसरण करते ही हैं।

इस नियमके जितने अपवाद हमें दृष्टिगोचर होते हैं, वास्तवमें वे सबही अपवाद नहीं कहे जा सकते। शिक्षाका न्यूनाधिक्य केवल विश्वविद्यालयकी डिग्रियों या प्रमाण-पत्रोंसे नहीं नापा जा सकता। अनेक ग्रेजुएट ( बी. ए. ) ऐसे होते हैं जो एम. ए. वालोंके कान काटते हैं और अनेक ऐसे भी होते हैं जो एक अच्छा सा मजमून भी तय्यार नहीं कर सकते, और जिन्हें साधारण व्यावहारिक बातोंका ज्ञान भी नहीं रहता ( अर्थ शास्त्रके बड़े बड़े सिद्धान्तों या वैज्ञानिक तत्त्वोंसे भले ही उनकी जानकारी हो! )।

इसके सिवाय समान शिक्षा पाये हुए दो व्यक्तियोंको बराबर २ पारिश्रमिक न मिलनेके और भी कई कारण होते हैं। इनमेंसे कुछका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। उनके अतिरिक्त मनुष्यका स्वभाव तथा शील और चरित्र भी पारिश्रमिककी असमानताके कारण होते हैं। क्रोधी, दर्पपूर्ण तथा अशिष्ट मनुष्यको, उसी प्रकार लोभी चंचल-हृदय, अकृतज्ञ एवं भ्रष्ट आचार वाले मनुष्यको भी अधिक वेतन मिलनेकी सम्भावना बहुत कम रहती है। किन्तु जिस व्यक्तिका स्वभाव सरल और सौम्य होता है, जिसकी वाणी मीठी और स्नेह पूर्ण रहती है तथा जो आत्माभिमानी होते हुए भी ज़रा ज़रा सी बातपर जामेसे बाहर नहीं हो जाता एवं जिसका चरित्र निर्मल जलकी नाई स्वच्छ और पारदर्शी होता है, उसे किसी अपूर्व प्रेरणासे प्रेरित होकर मालिक खुदही अधिक पारिश्रमिक देनेके लिये उद्यत हो जाता है।

शारीरिक या मानसिक परिश्रमकी मात्राके अनुरूप वेतन भी अधिक या कम दिया जाता है। जिस मनुष्यको एक स्थान पर बैठकर केवल साधारण चौकीदारीका काम करना पड़ता है, उसकी अपेक्षा दौड़ धूप या और कोई मेहनतका काम करनेवालेको अधिक वेतन दिया जाता है। कड़कड़ाती दुपहरियामें किसी लोहारकी दूकानमें बैठकर लोहा गरमकर वज़नी हथौड़ेसे काम करनेवाले मनुष्यको जितनी मज़दूरी मिलती है उतनी सड़कपर बैठकर गिट्टी फोड़नेवाले मज़दूरको नहीं मिलती। यही बात मानसिक परिश्रमके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। किन्तु शारीरिक और मानसिक परिश्रमको बराबर बराबर महत्त्व देना भूल है। साधारणतया संसारमें शारीरिक परिश्रमकी अपेक्षा मानसिक परिश्रम ही अधिक मूल्यवान् समझा जाता है। इसी कारण केवल हाथ-पाँव से काम लेनेवालोंकी तुलनामें मस्तिष्कसे काम लेनेवालोंको अधिक वेतन मिलता है।

एक बार किसी तहसीलदार साहबके चपरासीने अपने मालिकसे शिकायतकी कि "हुजूर, मैं गांव गांव पैदल घूमकर मरा जाता हूँ, आप मुझे आठ रुपये महीनाही देते हैं। पर आपके मुन्शीजी दफ्तरमें आरामसे बैठकर लिखते रहते हैं, उन्हें आप तीस रुपये देते हैं। इसका क्या कारण है?" तहसीलदार साहबने उस समय तो उसे टाल दिया, किन्तु फिर एक दिन मौका देखकर उसे अपने पास बुलाया और कहा "देखो मन्नू, पड़ोसमें ये

बाजे क्यों बज रहे हैं ?" चपरासीने पूछ तांछ करके उत्तर दिया "हुजूर कहींसे बारात आयी है" तहसीलदार साहबने फिर पूछा "बारात कहांसे आयी है ?" चपरासी फिर दौड़ा गया। समुचित उत्तर पानेपर उससे फिर प्रश्न किया गया "बारात किसके यहां आयी है ?" चपरासी महाशयने एक और दौड़ लगायी। इस प्रकार उस बेचारे को पांच छः बार उस 'दुष्ट' बारातका पता लगाने जाना पड़ा। इसके बाद तहसीलदार साहबने वही पहिली बात पूछनेके लिये अपने मुन्शीको भेजा। ये महाशय जाकर एकही बारेमें सब बातोंका पता लगा लाये। तब तहसीलदार साहबने अपने चपरासीको बुलाकर कहा "देखोजी, तुमने जो काम पांच छः बारमें किया, वही इन्होंने एकही बेरमें कर दिया। इनसे भी पहिले हमने सिर्फ वही बात पूछी थी जो तुमसे पूछी थी, पर जहां तुम सिर्फ उसी बातका उत्तर लाये, तहां ये और बातें भी अपने मनसे पूछ आये। हाथ-पांव तो मुन्शीकी नाईं भगवान् ने तुम्हें भी दिये हैं, पर दिमाग देनेमें जरा कोताही की है, इसी कारण तुम्हारी और मुन्शीकी तनख्वाहमें इतना फर्क है।"

कार्यके कम या अधिक महत्वके अनुसार पारिश्रमिक भी कम या ज्यादा दिया जाता है। उसी प्रकार जो कार्य उत्तरदायित्व-पूर्ण और नाना चिन्ताओंसे संयुक्त रहता है, उसका पारिश्रमिकभी साधारण कार्यकी अपेक्षा अधिक मिलता है। किसी विभागके मुखियाको चाहे अपने अधीन कर्मचारियोंकी अपेक्षा कमही काम क्यों न करना पड़ता हो, फिरभी उसके सिरपर सारी जिम्मेदारी और तत्सम्बन्धी अनेक चिन्ताएँ होनेके कारण उसे वेतन प्रायः अधिक ही दिया जाता है।

कभी कभी किसी कामका करना सरल होने परभी अधिक जोखिमयुक्त होनेके कारण उसके करनेवालेको साधारणसे अधिक पारिश्रमिक देना पड़ता है। बड़े बड़े पुतली-घरोंमें यंत्रोंकी देखरेख करनेवालोंको यद्यपि ऐसा कोई विशेष परिश्रमका काम नहीं करना पड़ता, फिरभी उन्हें यदि समुचित पारिश्रमिक न दिया जाय तो वे कभी उसे करनेको तय्यार न होंगे, क्योंकि थोड़ीसी असावधानी होतेही या छोटीसी भूलके कारण हाथ या पाँव तक कट जाने या जख्मी हो जानेकी नौबत आ जाती है। जिस समय किसी अच्छे पुतलीघरकी चिमनी बनायी जाती है, उस समय उसके गगन-चुम्बी शिखरपर काम करने वालोंको नीचे काम करनेवालोंकी अपेक्षा तिगुना चौगुना पारिश्रमिक देना पड़ता है, तब कहीं मुश्किलसे लोग उस "सरग-नसैनी" पर चढ़नेको तय्यार होते हैं।

जिस स्थानका जल-पवन खराब होता है एवं जहां स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता वहां काम करानेके लिये यदि कोई बाहरसे श्रमजीवियोंको ले जाना चाहे तो उसके लिये उन्हें साधारणसे ज्यादा पारिश्रमिक देना अनिवार्य है। उसी प्रकार काम करनेके स्थानकी दूरीके अनुसार या वहां आने जानेके सुभीतेके अनुसारभी पारिश्रमिक अधिक या कम देना पड़ता है। यदि शहर या गांवके मजदूरोंको कोई २०, २५ मील दूर जंगलमें ले जानेकी इच्छा करे, तो जब तक वह उन्हें अधिक मजदूरी न देगा तब तक वे वहां जानेको सम्भवतः

तय्यार न होंगे। इसी तरह अफ्रीका, फीजी, ईराक (मेसोपोटामिया) इत्यादि परदेशमें जबतक कुछ ज्यादा मजदूरी पानेकी आशा या और कोई चित्तको प्रलोभन देने वाली बात नहीं होती, तबतक साधारणतया श्रमजीवी स्वदेश छोड़कर परदेश नहीं जाना चाहते।

ऊपर कही गयी बात सर्वत्र और सर्वकालमें घटित नहीं होती। यदि स्वदेशमें काम मिलना कठिन होगया हो और आर्थिक कष्टोंके कारण जी परेशान हो रहा हो तो अनेक श्रमजीवी साधारण पारिश्रमिकपर ही परदेश जानेको या स्वास्थ्यको नुक्सान पहुंचाने-वाली जगहमें काम करनेको राजी हो जायंगे। जिस समय मनुष्य आर्थिक कठिनाइयोंमें पड़जाता है और उसे रुपयेकी बहुत जरूरत रहती है, उस समय वह साधारणसे भी कम वेतनपर काम करनेको तत्पर हो जाता है। साधारण समयमें जो ग्रेजुएट ८०) मासिकपर भी काम करना अस्वीकार कर देता है, वही जरूरतके वक्त ३०) मासिक पाकरही सन्तुष्ट हो जाता है।

उसी प्रकार कारखानोंके मालिकों या श्रमजीवियोंसे काम लेने वाले महाशयोंको भी ज़रूरतके समय असाधारण पारिश्रमिक देकर काम करनेवालोंको एकत्र करना पड़ता है। किन्तु जब श्रमजीवियोंकी संख्या मांगसे अधिक बढ़ जाती है तब फिर पारिश्रमिकका निर्ख गिर जाता है और मामूली वेतनपरभी पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धाके कारण बहुसंख्यक मनुष्य मिलजाते हैं।

प्रतिदिनके आवश्यकीय पदार्थोंका मूल्य बढ़ जानेपर—चारों ओर महँगीका प्रसार हो जानेपर—कार्य करनेवालोंका वेतनभी बढ़ाना पड़ता है। यदि ऐसा न किया गया तो उनका आर्थिक संकट बहुत बढ़ जायगा और वे विवश होकर या तो कामही छोड़ देंगे या फिर असन्तुष्ट चित्तसे काम करेंगे। फल यह होगा कि कामकी मात्रा और प्रकार, दोनोंमें ही विशेष अन्तर नज़र आने लगेगा। ऐसे अवसरपर मालिकभी बड़े असमंजसमें पड़ जाता है। उसे काम तो ज़रूर कराना है और वह अपने आश्रित श्रमजीवियोंकी विपत्तिभी समझता है एवं उनका पारिश्रमिकभी बढ़ाना चाहता है, तो भी वह अपने कारखाने या अपनी संस्था अथवा व्यापारकी आमदनीके अनुसार ही ऐसा कर सकता है। अपना अपना 'स्वार्थ' सभीको अभीष्ट है। वह घाटा सहकर या नाममात्रकी आमदनीमें अपना निर्वाह करके उन लोगोंको वृद्धि नहीं देना चाहता। किन्तु जिस प्रकार अनेक पूँजीवाले अपने आश्रित श्रमजीवियोंकी कठिनाइयां नहीं समझ सकते, उसी प्रकार अनेक श्रमजीवीभी अपने आश्रयदाताकी स्थिति नहीं समझते और उसे व्यर्थही दोष देने लगते हैं। वास्तवमें परस्परकी स्थिति समझते रहने और तदनुसार अपनी आवश्यकताओं और आकांक्षाओंको नियंत्रित करनेसे ही संसारका काम चल सकता है और दोनों ओर चिरकाल तक सद्भाव बना रह सकता है। अस्तु।

इस प्रकार ऊपर दिखलाये गये अनेक कारणोंसे पारिश्रमिककी मात्रामें न्यूनाधिक्य हुआ करता है। किन्तु ऊपरके सारे विवेचनको पढ़करभी एवं उसके अनुसार

# स्वार्थ

अन्दाज़ा लगाकरभी यह बात **सर्वदा** निश्चयपूर्वक नहीं जानी जा सकती कि अमुक मनुष्यको अमुक परिस्थितिमें एक निर्दिष्ट काम करनेके लिये क्या वेतन मिलता होगा। जो कुछ जाना जा सकता है, वह **प्रायः** सत्य या सत्यके सन्निकट ही होता है। फिरभी कभी कभी हमारा अनुमान बिलकुल गलत हो जाता है। उसका कारण यह है कि मनुष्य अपनी परिस्थितिका बिलकुल दासही नहीं है। वह स्वयं भी उसका बनानेवाला है। वह समाजके नियमोंके अनुसार चलने वाला होकर भी स्वेच्छाचारी है। वह चाहे तो किसी कारण विशेषके न होते हुए भी अपने आश्रित श्रमजीवियोंको साधारणसे दुगुना या तिगुना पारिश्रमिक दे सकता है। उसी प्रकार स्वेच्छासे मामूली वेतनका आधा या एक तिहाई स्वीकार करनेवालेको भी कौन रोक सकता है? किन्तु ये सब बातें अपवादस्वरूप समझी जानी चाहिए। मनुष्यका जैसा स्वभाव है, उसके अनुसार तो ऊपर कही गयी बातें ही सत्य और नियमानुकूल हैं। अर्थशास्त्र सम्बन्धी प्रश्नोंको सुरझाते समय हमें उन्हींका सहारा लेना पड़ता है। अतः वे सर्वदा सर्वथा मान्य न होती हुई भी महत्वपूर्ण हैं।

मुकुन्दीलाल।

# संसारके व्यवसायका इतिहास।

## ( गतांकसे आगे )

इसी बीचमें हांसासंघके प्रतिस्पर्द्धी हालैंगडवालोंने भी संगठनशक्तिके बलसे अपने भावी समुद्रीय आधिपत्यकी नीव डाली। इस देशकी सहायता प्रकृतिदेवीने सब प्रकार-से की थी। यहां तक कि प्राकृतिक दुर्घटनाओंसे भी यहांके निवासियोंको लाभ छोड़ हानि न हुई। इनके देशकी सतह नीची होनके कारण समुद्रका पानी कभी कभी चढ़ आता था। इस प्रकार वरुणदेवसे निरन्तर संग्राम करते रहनेके कारण उन लोगोंमें उद्योग, व्यवसाय और मितव्ययिताकी वृद्धि हुई। जो भूमि वे पानीको हटा कर पाते थे उसकी प्राणसे भी अधिक रक्षा करते थे। प्राकृतिक स्थितिके कारण उन्हें समुद्रयात्रा, मल्लाही तथा मांस, पनीर और मक्खनकी ही उत्पत्तिपर संतोष करना पड़ता था, इससे उन लोगोंने इन वस्तुओंको वाहर भेज कर अन्न, लकड़ी तथा वस्त्र-शस्त्रादिकी आवश्यकता दूर की। बादमें हालैंगडवाले इन्हीं कारणोंसे हांसा लोगोंको उत्तर-पूर्वीय देशोंके वाणिज्यसे भी निकाल सके। हालैंगडवालोंको हांसोंकी अपेक्षा बहुत अधिक उपज और काष्ठ मगाना पड़ता था क्योंकि हांसवालोंको ये वस्तुएं निकटवर्त्ती प्रदेशोंसे ही मिल जाया करती थीं। इसके अतिरिक्त हालैंगडवालोंको बेल्जियमके शिल्पपूर्ण प्रान्तोंके पड़ोसी होनेसे और राइन नदीके दूरतक फैले हुए द्राक्षालतासे आच्छादित उपजाऊ किनारोंके भी निकट होनेसे और इस नदी-द्वारा स्विटज़रलैंगडतक पहुँचने आदिके सुभीतोंके कारण बहुत लाभ होता था।

रेल, सड़क आदि आधुनिक आविष्कारोंकी बात जाने दीजिये, पर साधारणतया यह बात सर्वमान्य है कि समुद्रतटस्थ देशोंका ऐश्वर्य और वाणिज्य उससे नदियोंद्वारा संबंध रखनेवाले देशोंपर निर्भर रहता है। इटलीके मानचित्रपर दृष्टि डालनेसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि वाणिज्यमें वेनिसका जेनोवा वा पीसाको दबा देना पो नदीकी घाटी-के ही कारण संभव था। हालैंडके व्यवसायकी उन्नतिका मूल कारण राइन और उसकी सहायक नदियोंसे सींचे गये प्रदेश ही थे। एल्व तथा वेजर नदीसे सींचे गये हांस प्रदेशोंसे ये प्रदेश कहीं अधिक समृद्ध और उपजाऊ थे और इनका व्यवसायभी अधिक बढ़ा चढ़ा था। इनके अतिरिक्त भाग्यवश एक और लाभका कारण उत्पन्न हो गया। पीटर बाकेल्स नामक एक व्यक्तिने भींगा मछलीमें एक विशेष प्रकारसे नमक लगानेका नया और उत्तम ढंग निकाला जो बहुत समयतक केवल हालैंडवालोंको ही ज्ञात रहा। इस उपायसे वे लोग इन मछलियोंको सबसे अच्छा बनालेते थे और सर्वोत्तम होनेके कारण मूल्य भी उन्हें अच्छा मिलता था। अगडर्सनने लिखा है कि यद्यपि अंग्रेज और स्काटलैंगडवालोंको निर्गत व्यापारकी बड़ी सुगमता थी तथापि शताब्दियोंतक हालैंगडवालोंकी मछलियोंके सामने

उनकी मछलियोंको बाजारमें स्थानतक न मिलता था। यूरोपमें सोलहवीं शताब्दीके धार्मिक[४३] सुधारके पहले प्रत्येक देशमें मछलियोंकी बड़ी खपत थी अतः हम इस बातपर विश्वास कर सकते हैं कि जिस समय हांसावालोंकी अवस्था अवनत हो रही थी उस समय हालैण्डवाले प्रति वर्ष २००० नये जहाज़ बनाते थे।

जबसे बेल्जियम और बटेविया[४४] के सम्पूर्ण प्रदेश बरगण्डी राज्यवंशके आधिपत्यमें संगठित हुए तभीसे इस राष्ट्रीय एकता द्वारा उनका बड़ा उपकार होने लगा। स्मरण रखना चाहिये कि इस बातका प्रभाव उस समुद्रीय वाणिज्यपर भी पड़ा था जिसमें हालैण्डको उत्तरीय जर्मन नगरोंके साथ बराबरी करते समय सफलता प्राप्त हुई थी। सम्राट् पञ्चम चार्ल्स[४५] के राज्यमें सुसंगठित नेदरलैण्डवालोंने बहुत बड़ा अधिकार और सामर्थ्यका सम्पादन किया था। यदि सम्राट्को उक्त शक्तियोंका यथार्थ ज्ञान तथा उचित अनुसंधान और प्रयोग ज्ञात होता तो जलथलका साम्राज्य प्राप्त कर लेना उसके लिये कोई कठिन बात न होती। केवल उस सामर्थ्य और अधिकारहीका इतना अधिक प्रभाव पड़ता कि संसार भरकी सोनेकी खानों तथा पोपोंके अनुग्रहका प्रभाव उसके सामने कुछ न था।

यदि पञ्चम चार्ल्सने अपने गलेसे स्पेन राज्यकी फांसी हटा दी होती तो हालैण्ड और जर्मनीके भाग्य अवश्यही खुल जाते। पञ्चम चार्ल्स उस समय संयुक्त नेदरलैण्डका शासक, जर्मनीका सम्राट् और धार्मिक सुधारका अधिष्ठाता था। ऐसी अवस्थामें उसके पास वे सब मानसिक तथा भौतिक शक्तियां थीं जिनके समुचित प्रयोगमात्रसे वह वाणिज्य, व्यवसाय तथा जल-थलकी शक्तिसे युक्त सर्वांग सुन्दर, डनकर्कसे रीगा तक विस्तीर्ण, एक छत्र साम्राज्य सहजही स्थापित कर सकता था।

उस समय जर्मनीकी उन्नतिके लिये केवल दो बातोंकी आवश्यकता थी—केवल एक बातका विचार और केवल एक व्यक्तिकी चेष्टा। इन्हीं दो बातोंसे जर्मनी अद्वितीय समृद्ध और शक्तिशाली बन गया होता। उसकी व्यापारिक महत्ता सारे संसारमें फैल जाती जो संभवतः कई शताब्दियों तक स्थिर रहती।

परन्तु पञ्चम चार्ल्स तथा उसके शुष्कवदन पुत्रने इसके विपरीत ही कार्य्य किया। एक भ्रान्त दलके नायक बनकर नेदरलैण्डवालोंको सताना ही उन लोगोंने अपना कर्त्तव्य समझा। इस नीतिका विकट परिणाम इतिहाससे प्रकट होगा। हालैण्डके उत्तरीय प्रदेश जो प्रकृतिकी कृपासे अतीव शक्तिशाली हो रहे थे स्वतन्त्र हो गये। दक्षिणी प्रदेशोंमें इतने जोर शोरसे दण्डनीति जारी थी कि उसके कारण समस्त कला, व्यवसाय तथा कारीगरीका लोप हो रहा था। केवल वेही लोग इस परिणामसे बच सके जो भागकर अन्यत्र चले गये। फलतः एण्टवर्पके स्थानपर अमस्टर्डम नगर संसारके वाणिज्यका केन्द्र बन गया। ब्रावेण्टमें उपद्रव होनेके कारण बेल्जियमके जुलाहे हालैण्ड भागने लगे। उनकी संख्या इतनी अधिक हो गयी कि उनको अब वहां भी शरण न मिली और उन्हें इंग्लैण्ड तथा सैक्सनी चला जाना पड़ा।

इधर स्वाधीनताके लिए युद्ध करनेसे हालैंगडवालोंका तो सामुद्रिक साहस बढ़ता गया और वे निःशंक होकर कठिनसे कठिन तथा साहसिक कार्यको साधारण समझने लगे, उधर मस्तीके कारण स्पेनका राज्य जर्जर हो चला। स्पेनके द्रव्यपूर्ण जहाजोंको लूट तथा पकड़कर हालैंगड अपनी सम्पत्ति बढ़ाने लगा। हालैंगड उसी धनसे बेल्जियम और स्पेन तथा पुर्तगालके साथ बहुत बड़ा अनधिकार वाणिज्य करने लगा। पुर्तगाल और स्पेनके सम्मिलित होनेसे पुर्तगालवालोंके "इष्टइगडीज़"के अनेक उपनिवेश तथा ब्रेज़िलके कुछ भाग हालैंगडके हाथ लगे। विक्रमकी सत्रहवीं शताब्दीके अन्त तक हालैंगड वाणिज्य, अधिवासित प्रदेश तथा समुद्रयात्रामें इंग्लैंगडसे उतनाही अधिक बढ़ा चढ़ा था जितना आजकल अंग्रेज़ लोग इन विषयोंमें फ्रांसवालोंसे बढ़े चढ़े हैं। परन्तु आंग्ल देशीय[४६] राज्यक्रांतिके समयसे घोर परिवर्त्तन आरम्भ हुआ। उस समय हालैंगडवाले स्वतन्त्रताका आशय नागरिकोंके अधिकारमात्र समझते थे। व्यवसायप्रधान कुलीनतन्त्र राज्योंकी भांति कुछ समयतक तो इनका काम मज़ेमें चलता रहा। जबतक धन तथा शरीरकी रक्षा और भौतिक लाभही उनका इष्ट रहा तबतक तो उनमें पुरुषार्थ दिखायी पड़ता था, किन्तु वे गहन राजनीतिमें पैर रखनेका साहस नहीं करते थे। उनको इस बातका ध्यान भी नहीं था कि जो प्रभुत्व उन लोगोंने प्राप्त किया था वह केवल जातीयता तथा जातीय उत्साहके सहारे स्थायी रह सकता है। इधर तो ये बातें थीं उधर कुछ ऐसे राज्य भी थे जो राज्यसत्तामें रह कर बड़े उन्नत हो गये थे पर वे व्यवसाय और वाणिज्यमें हालैंगडसे अबतक पिछड़े हुए थे। हालैंगड सदृश नन्हें देशको शिल्प, व्यवसाय, मल्लाही तथा सामुद्रिक शक्तिमें अपना अधिपति बने देख उन्हें बड़ी लज्जा हुई। इंग्लैंगड-वालोंमें यह भाव विशेष रूपसे जागृत हुआ। नवोन्नत इंग्लैंगडने समुद्रयात्राके नये नये नियम बनाये। इन नियमोंद्वारा इंग्लैंगडने मानों तत्कालीन प्रभुत्वको चुनौती दी। हालैंगडके पारस्परिक संघर्षणसे विदित हुआ कि इंग्लैंगडकी जातीयता हालैंगडकी जातीयतासे कहीं उच्च कोटिकी है और अन्तिम परिणाम भी ऐसाही हुआ।

फ्रांसने भी इंग्लैंगडका अनुकरण किया। कालवर्टने[४७] अनुमान कर निकाला था कि उस समय समुद्रीय व्यवसायके लिये कुल २०,००० जहाज काममें लाये जाते थे जिनमेंसे १६००० केवल हालैंगडवालोंके ही थे। उस छोटेसे देशके लिये यह संख्या बहुत अधिक थी। स्पेनके सिंहासनपर बूरबन[४८] वंशीय राजाके अधिकारके कारण फ्रांसको स्पेन, पुर्तगाल तथा लेवाग्ट[४९] के साथ व्यवसाय करनेका सुभीता हो गया। इससे हालैंगड-को बड़ी क्षति हुई। साथही साथ फ्रांसने निज देशकी कारीगरी, समुद्रयात्रा और मल्लाहीकी रक्षाका भी प्रबन्ध किया। इससे भी हालैंगडके व्यवसाय और कारीगरीको धक्का लगा। पहिले हालैंगडवाले उत्तरीय यूरोप तथा पूर्वीय और पश्चिमीय इगडीज़[५०] के साथ वाणिज्य करते थे और साथही साथ स्पेन तथा उसके उपनिवेशोंके साथ अधर्म वाणिज्य भी करते थे। परन्तु अब इन सबका अधिक अंश इंग्लैंगडके हाथमें चला गया। संवत् १७६० (सन्

१७०३ ) में मैथ्यून[५१] की सन्धिसे हालैण्डको बहुत बड़ा आघात पहुंचा। उसके कारण पुर्तगाल तथा उसके उपनिवेश और पूर्वीय इंडीज़के साथ हालैण्डका वाणिज्य निर्मूल हो गया। जब हालैण्डके विदेशीय वाणिज्यका नाश होने लगा तब उसकी भी वही दशा हुई जो हांसासंघ और वेनिसकी हुई थी। परिणाम यह हुआ कि हालैण्डमें मूलधन तथा कारीगरीकी खपत न होनेके कारण पूंजी तो ऋण रूपमें और कारीगर देश छोड़कर नवोन्नत देशोंमें चले गये।

यदि हालैण्डने बेल्जियम, उत्तरी जर्मनी तथा राइन प्रदेशोंको सगंठित कर एक राष्ट्रका निर्माण कर लिया होता तो इंग्लैण्ड और फ्रांस अपनी व्यापारनीति और युद्ध-द्वारा हालैण्डकी जहाज़ी शक्ति तथा अन्तरंग और बहिरंग व्यापारको ध्वस्त न कर सकते। इस प्रकारका संगठित राष्ट्र अपनी वाणिज्य-व्यवस्था प्रकट कर सकता था, अन्य देशोंके साथ होड़-तोड़ होते हुए भी यदि अन्य देशोंकी वाणिज्य-वृद्धिसे उसे कुछ हानि भी पहुंचती तो स्वदेशीय वैभव और उपनिवेशोंकी स्थापनासे वह क्षति पूरी कर दी गयी होती। हालैण्डके पतनका प्रधान कारण यह था कि एक तो वह स्वयं नन्हासा प्रदेश था जिसमें थोड़ेसे जर्मन व्यापारी, मल्लाह आदि बसे थे, और दूसरे जर्मनीका अंश होकरभी वह उसे विदेशीय राज्य समझ कर उससे अलगही, अकेला स्वकीय राष्ट्र-निर्माणकी चिन्तामें लगा था।

हालैण्ड, बेल्जियम, हांसासंघ तथा इटली प्रजातन्त्रके उदाहरण इस बातकी शिक्षा देते हैं कि सर्वसाधारणकी परिस्थिति व्यापारके अनुकूल न रहने पर व्यक्तिगत वाणिज्यद्वारा राष्ट्रीय वाणिज्य, व्यवसाय तथा धनका सम्पादन नहीं हो सकता। व्यक्तिगत वाणिज्यकी उत्पादक शक्ति अधिक अंशोंमें देशकी राजनीतिक व्यवस्था तथा शक्तिपर निर्भर है। आस्ट्रियाके शासनमें आकर बेल्जियमकी कृषि फिर भी पूर्वोन्नत दशापर आगयी। फ्रांसके साथ सम्मिलित होनेपर उसकी कारीगरी भी प्राचीन गौरवको प्राप्त हुई। अब हालैण्डकी अवस्था यह न थी कि वह बड़े बड़े राष्ट्रोंके सामने स्वतन्त्र वाणिज्य-व्यवस्थाकी स्थापना कर सके।

परन्तु संवत् १८७२ ( सन् १८१५ ) वाली सामान्य शान्ति[५२]के पश्चात् बेल्जियमके साथ संगठित होनेपर उसकी जनसंख्या, देशीय वैभव और राज्यकी इतनी वृद्धि हुई कि वह अपनेको बहुत बड़े राष्ट्रकी श्रेणीमें समझने लगा और साथही साथ उसमें अनेक प्रकार-की वस्तुओंकी उत्पादक शक्तिभी आगयी।

प्रतिबन्धक वाणिज्यकी प्रथा चलजानेसे इस अधोभूमि ( नैदरलैण्ड ) की कृषि, शिल्प तथा वाणिज्यकी अपरिमित उन्नति हुई। कुछ विशेष कारणोंसे यह संगठन पुनः तोड़ दिया गया और इस प्रकार हालैण्डमें अब प्रतिबन्धक वाणिज्यका प्रधान आधार न रह गया पर बेल्जियममें उसका प्रचार अबतक वर्त्तमान है।

अब हालैण्ड केवल अपने उपनिवेशों और जर्मनीके मालके आवागमनपर ही

आश्रित है । परन्तु एक समुद्रीय युद्धसे हालैगड अपने उपनिवेशोंसे हाथ धो सकता है और जर्मन जोलवेरीन[५३] जितनाही अधिक अपने स्वार्थ तथा अधिकारका चिन्तन करेगा उतनीही अधिक हालैगडको अपनेमें मिला लेनेकी आवश्यकता उसे प्रतीत होगी ।

# चतुर्थ अध्याय

## अंग्रेज लोग ।

हांसासंघके वर्णनमें यह दिखलाया गया है कि इंग्लैगडकी कृषि और भेड़ोंके पालनेकी वृद्धि विदेशीय व्यवस्थासे किस प्रकार हुई, फिर बादको प्राणभयसे अपने देशको छोड़कर भागे हुए शिल्पकारोंके आबसनेसे तथा सरकारके व्यापार संबर्द्धक उपायोंसे ऊनके व्यवसायकी क्रमशः किस प्रकार उन्नति हुई । यह भी दिखलाया गया है कि शिल्पकी उन्नति तथा महाराणी एलिजबेथकी उत्साहपूर्ण युक्तियोंसे सम्पूर्ण वाणिज्य जो पहले विदेशियोंके हाथमें था इंग्लैगडके व्यापारियोंके हाथमें किस प्रकार आया ।

द्वितीय अध्यायमें इंगलैगडके राष्ट्रीय धन-विस्तारका जो वर्णन किया गया है, उसके आगे लिखनेके पूर्व इंग्लैगडके व्यवसायकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कुछ लिखना आवश्यक है ।

इंग्लैगडके व्यवसाय तथा वाणिज्यकी उन्नत्तिका आरम्भ, भेड़ोंके पालन और ऊन बनानेके समयसे है ।

हांसावालोंके आनेके पूर्व न तो इंग्लैगडमें कृषिकर्महो निपुणतासे होता था और न भेड़-पालनमें ही किसी प्रकारका महत्व था । जाड़ेमें पशुओंके लिए चारेकी कमी रहनेके कारण शरदऋतुमें बहुतसी भेड़ें मार डाली जाती थीं इससे उनकी संख्यातो कम हो ही जाती थीं साथही साथ खादका भी घाटा होता था । प्रायः सभी कृषिशून्य देशोंकी भांति सूअर पालकरही मांसका काम चलाया जाता था और इसके कारण भी स्पष्ट हैं । पहले ज़मानेमें जर्मनीमें और आजकल भी अमेरिकाके ऊसर प्रदेशोंमें ऐसाही होता है । सूअरोंके पालनमें अधिक प्रयास नहीं उठाना पड़ता । वे अपना भोजन स्वयं खोज लेते हैं और वह भी जंगलों तथा मरुभूमिमें बहुतायतसे मिल सकता है । यदि जाड़ेमें गिनें गिनाये सूअर रख लिये जायं तो निश्चयही बसन्त आते आते उनके झुगडके झुगड हो जायंगे ।

विदेशीय वाणिज्यकी वृद्धिके साथही साथ सूअर पालनेमें कमी होने लगी, और भेड़ोंके पालनेमें, कृषि करनेमें और सींघवाले पशुओंके पालनेमें दिन दिन वृद्धि होने लगी ।

चौदहवीं शताब्दीमें इंग्लैगडकी कृषिकी जो अवस्था थी उसका सम्यक् वर्णन ह्यूम महोदयने अपने आंग्ल देशीय इतिहासमें मनोहर शब्दोंमें लिखा है :—

"संम्वत् १३८४ (सन् १३२७) में लार्ड स्पेन्सरने अपने अधीन ६३ राज्य और उनके पशुओंकी कुल संख्या यों बतायी थी—२८००० भेड़, १००० बैल,

१२०० गाय, ५६० घोड़े और २०० सूअर। इस प्रकार प्रत्येक राज्य पीछे ४५० भेड़ ३५ गोरू, ६ घोड़े और ३२ सूअर पड़े"।

इस कथनसे स्पष्ट विदित होता है कि इतने प्राचीन समयमेंभी इंग्लैगडमें भेड़ोंकी संख्या और सब पशुओंकी कुल संख्यासे कहीं अधिक थी। भेड़ोंके पालनसे इंग्लैगडवालोंको सबसे बढ़कर यह लाभ हुआ कि ऐसे समयमें भी जब कि यूरोप महाद्वीपके प्रायः सभी प्रदेशोंके कुलीन लोग मृगोंके झुगड रखनेके अतिरिक्त अपनी भूमिका दूसरा उपयोग नहीं जानते थे और अनेक प्रकारके वैमनस्यद्वारा समीपवर्त्ती नगरोंको पीड़ा देने तथा उनके वाणिज्यमें बाधा डालनेके अतिरिक्त कोई दूसरा काम नहीं जानते थे उन्होंने व्यवसायमें उत्साह दिखलाया तथा कृषिमें अनेक प्रकारकी उन्नति की।

जैसा कि कुछ वर्ष पूर्व हंगरीमें हुआ था, उस समय भेड़ोंकी संख्या इतनी बढ़ गयी कि किसी किसी राज्यमें उनकी संख्या १०,००० से २४००० तक हो गयी थी। ऐसी दशामें महारानी एलिज़बेथके वाणिज्य संरक्षक प्रतिबन्धोंके कारण इंग्लैगडके ऊन सम्बन्धी वाणिज्यकी और भी अधिक उन्नति होना अवश्यम्भावी था, क्योंकि भूतपूर्व राजाओंके समयमें ही यह बहुत कुछ उन्नति कर चुका था*। द्वितीय अध्यायमें लिखा गया है कि हांसा लोगोंने बदला लेनेके निमित्त नियम बनानेके लिये साम्राज्य-सभाके पास आवेदनपत्र भेजा था। उस आवेदनपत्रमें दिखलाया गया है कि इंग्लैगडसे बाहर भेजेजानेवाले कपड़ोंके थानोंकी संख्या २००००० है। प्रथम जेम्स[५४] के समयमेंही जानेवाले अंग्रेज़ी कपड़ोंका मूल्य ३ किरोड़ रुपये ( २० लाख पाउगड ) बाहर पहुँच गया था, और संवत् १४११ (सन् १३५४) में बाहर जानेवाले केवल ऊनका मूल्य ४,०५०,००० रुपये ( २७०,००० पाउगड ) था। उस समय बाहर जानेवाली अन्य वस्तुओंका मूल्य २४६००० ( १६४००० पाउगड ) से अधिक न था। प्रथम जेम्सके समयतक इंग्लैगडमें बुने हुए कपड़ोंका अधिक अंश रँगने और तय्यार करनेके निमित्त बेल्जियम भेजा जाता था, परन्तु उक्त जेम्स तथा प्रथम चार्ल्स[५५] के शासनकालमें ऐसे संरक्षक तथा व्यापार-वर्द्धक नियम बनाये गये कि तय्यारी और रंगाईका काम वहांही इतनी सुन्दरता और कुशलतासे किया जाने लगा कि बाहरसे अच्छे कपड़ोंका आना तो एक दम बन्दही हो गया और बाहर भी अब तय्यारही कपड़े भेजे जाने लगे।

अंग्रेजोंकी वाणिज्य नीतिके परिणामोंकी प्रधानताका यथार्थ अनुभव करनेके लिये यह जानना आवश्यक है कि सूती कपड़े, रुई, रेशम और लोहेके वाणिज्यकी वृद्धिके पूर्व ( जो बहुत दिनकी बात नहीं है ) वस्त्रका वाणिज्य विनिमयका बहुत बड़ा माध्यम था।

---

* इसमें कोई सन्देह नहीं कि उक्त रानीकी आज्ञासे ऊनके बाहर जानेकी रुकावट और समुद्रतटके समीपस्थ बाज़ारोंमें ऊन बेचनेकी मनाई सन्तापकारी और न्याय-विरुद्ध थी। परन्तु उसका प्रभाव अंग्रेज़ी व्यवसायपर बहुत अच्छा पड़ा और उसीके कारण फ्लेमिंगस्का व्यवसाय दब गया।

इसका विशेष उपयोग यूरोपीय राष्ट्रों तथा विशेषतः लेवाण्ट और पूर्वीय और पश्चिमीय इण्डीज़के साथ वाणिज्य करनेमें होता था । यह बात कहां तक सत्य है इसका पता इतनेसे ही लग जाता है कि प्रथम जेम्सके समयमें इंगलैण्डसे बाहर जानेवाली ऊनी वस्तुएं सम्पूर्ण निर्गत मालका ६/१०वां भाग थीं ।

ऊनके व्यवसायद्वाराही अंग्रेज लोग हांसासंघवालोंको, रूस, स्वीडन, नार्वे और डेनमार्कके साथ वाणिज्य करनेमें परास्त कर लेवाण्ट और पूर्वीय तथा पश्चिमीय इण्डीज़के साथ वाले व्यापारका अत्यन्त लाभदायक अंश अपने हाथों करलिया । ऊनहीके व्यवसायके कारण खानोंसे कोयला निकालनेका काम आरम्भ हुआ और इस कामसे तटस्थ वाणिज्य तथा मछलियोंके व्यापारको प्रोत्साहित किया । इन दोनों व्यवसायोंने इंग्लैण्डकी समुद्रीय शक्तिकी नींव डाली जिससे आगे जाकर जलयात्राकी संहिताका निर्माण हुआ और उसीपर इंग्लैण्डका समुद्रीय उत्कर्ष स्थापित हुआ । इसी ऊनके व्यवसायके सहारे दूसरे व्यवसाय भी फूले फले और वास्तवमें इसी व्यवसायद्वारा इंग्लैण्डको व्यवसाय-वाणिज्य और समुद्रमें अनुपम प्रधानता मिली ।

ऊनके साथही साथ अन्य व्यवसायोंपर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था । एलिज़बेथके शासनकालहीमें धातु तथा चमड़ेकी या अन्य बनी बनायी वस्तुओंका आना रोक दिया गया था और जर्मनीके धातुका काम करनेवालों तथा खनकोंका स्वागत होने लगा था । पहले पहल हांसा लोगोंसे जहाज मोल लिये जाते थे या बाल्टिक सागरके बन्दरोंपर बनवाये जाते थे, परन्तु शनैः शनैः प्रतिबन्धक नीति तथा उत्साहद्वारा स्वदेशमें भी जहाज़ बनानेका काम उन्नति करने लगा ।

इस कामके लिये काष्ठ बाल्टिक सागर (रूसके पश्चिम और जर्मनीके उत्तरका समुद्र) के बन्दरोंसे लाया जाता था जिससे अंग्रेज़ोंको वहां माल भेजनेका भी बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिला ।

अंग्रेज़ोंने हालैण्डवालोंसे झींगा मछलीका व्यवसाय और बिस्केकी खाड़ी (फ्रान्सके पश्चिम) के तटस्थ वासियोंसे ह्वेल मारनेका उपाय सीख लिया था । इन कामोंकी वृद्धि लोगोंको इनाम आदि देकर करायी गयी । मल्लाही और जहाजीके कामकी उन्नति करानेमें प्रथम जेम्सका जी अधिक लगता था । यद्यपि यह जानकर हम लोगोंको हंसी आती है कि वह अपनी प्रजाको मछलीका अधिक प्रयोग करनेके लिये सदा उपदेश दिया करता था, तथापि न्यायके विचारसे हम लोगोंको मानना पड़ेगा कि उसने अपने देशके भविष्यके साधनको भली भांति समझ लिया था । जिन शिल्पकारोंको द्वितीय[५६] फिलिपने बेल्जियमसे तथा चौदहवें[५७] लुईने फ्रांससे रोम-मतके विरुद्ध होनेके कारण निकाल दिया था उनके इंग्लैण्डमें बस जानेसे उस देशके कौशल और मूलधनकी अपार वृद्धि हुई । इन्हींकी सहायतासे इंग्लैण्डमें ऊनके सूक्ष्म बस्त्र बनने लगे और टोपी, सूती कपड़े, शीशा, कागज, रेशम, घड़ी तथा धातुके शिल्पकी वृद्धि हुई । इन व्यवसायोंको शीघ्र बढ़ानेके लिये कर लगाकर बाहरी माल रोकनेकी भी युक्ति की गयी थी ।

इस छोटेसे द्वीपके निवासियोंने यूरोप महाद्वीपके प्रत्येक प्रदेशसे कारीगरोंको लाकर अपने देशमें बसाया और प्रतिबन्धक नीतिसे उसका सम्बर्धन किया। इंग्लैण्डके सामने वेनिस नगरको शीशेका शिल्प तथा फारसको गलीचा बीनने और रंगनेका काम छोड़ना पड़ा।

जब एक बार इंग्लैण्डमें किसी व्यवसायका सञ्चार हो जाता था तो वहांके लोग शताब्दियों तक उसको पौधेकी भांति परिश्रम और ध्यानसे सींचते थे। जिस व्यक्तिको इस बातका विश्वास नहीं है कि परिश्रम, कौशल और नीतिद्वारा प्रत्येक व्यवसाय अन्तमें लाभदायक अवश्य हो जाता है और परिमित प्रतिबन्धद्वारा कृषि, कौशल तथा सभ्यताप्राप्त राष्ट्र अपने प्रारम्भिक व्यवसायके दोषपूर्ण और मंहगे मालको भी अभ्यास, अनुभव तथा देशीय व्यापारियोंकी चढ़ा ऊपरीके प्रभावसे कुछ दिनमें अपने विदेशीय प्रतिस्पर्द्धियोंके माल-की बराबरी करा सकेगा, एवं जो व्यक्ति इस बातको नहीं जानता कि व्यवसाय विशेषकी सफलता अन्य व्यवसायोंकी सफलतापर निर्भर है तथा प्रत्येक राष्ट्रके लोग अपने परम्पराके व्यवसायको हाथमें उठालें तो वह अपनी उत्पादक शक्तिकी वृद्धि निश्चित रूपसे कर सकता है, तो उस व्यक्तिको चाहिये कि कल्पनापूर्ण पद्धितियोंकी रचना करने तथा राष्ट्रकल्याणके विधायक राजनीतिज्ञोंको उपदेश देनेका साहस करनेके पूर्व इंग्लैण्डके व्यवसायका इतिहास पढ़ देखे।

प्रथम जार्जके[५८] समयके राजनीतिज्ञोंको बहुत पहलेही उन बातोंका स्पष्ट ज्ञान था जिनपर राष्ट्रका महत्व निर्भर रहता है। संवत् १७७८ ( सन् १७२१ ) में मन्त्रियोंसे प्रेरित होकर उक्त राजाने कहा था कि बाहरसे कच्चा माल मंगाकर पक्का माल बाहर भेजनेसे बढ़कर दूसरा कोईभी लाभदायक उपाय सर्वसाधारणके लिये नहीं होसकता।

कई शताब्दियों तक इंग्लैण्डकी वाणिज्यनीति इसी सिद्धान्तका अनुसरण करती रही। किसी समयमें वेनिसका प्रजातन्त्रभी इसी मतका अनुयायी था। इंग्लैण्डमें यह सिद्धान्त एलिजबेथके समयसे आजतक [ संवत् १८९८ (सं० १८४१) ] माना जाता रहा है और इसका जो कुछ परिणाम हुआ वह संसारके सामने है। अनेक विचारकोंका कहना है कि अंग्रेजोंने धन और अधिकारकी प्राप्ति इस वाणिज्य नीतिद्वारा नहीं प्रत्युत उसके वर्त्तमान रहते हुए भी की है। परन्तु उनका इस वाणिज्यनीतिको उन्नतिकाका कारण न मानना उतनाही निरर्थक है जितना किसी वृक्षकी वृद्धि उसके आधार एवं रक्षा आदिके बिनाही सम्भव मान लेना है।

इंग्लैण्डके इतिहाससे भी इसके अखण्ड्य प्रमाण मिलते हैं कि राष्ट्रकी साधारण राजनीतिका उसके अर्थशास्त्रसे घनिष्ट सम्बन्ध है। यह स्पष्ट है कि शिल्पकी वृद्धिके साथ साथ जनसंख्याकी भी वृद्धि हुई जिससे नमकीन मछली और कोयलेकी आवश्यकता बढ़ गयी। अब इसको पूरा करनेके लिये ये लोग मछली तथा तटस्थ व्यवसाय करने लगे।

( क्रमशः )

अनुवादक-हरिहरनाथ।

# साम्राज्य-सम्मेलन ।

कई एक सप्ताहकी कार्यवाहीके बाद अगस्त महीनेमें साम्राज्य-सम्मेलन समाप्त हो गया। यद्यपि यह सम्मेलन कई वर्षोंसे होता आया है, पर इस बार इसमें कई एक विशेषताएँ थीं। दस वर्ष पहिले इंग्लैण्डकी सरकार, तथा साम्राज्यके अन्तर्गत उपनिवेश और अधीन देशोंमें परस्पर जो सम्बन्ध था, उसमें और आजकलके ऐसे सम्बन्धमें बड़ा अन्तर है। संबत् १९६८ (सन् १९११) के सम्मेलनमें तत्कालीन प्रधान सचिव एस्क्विथ महाशयने स्पष्ट शब्दोंमें यह सिद्धान्त स्थिर किया था कि निज सीमाओंके अन्तर्गत उपनिवेशोंको शासनमें पूर्ण स्वतन्त्रता है, पर साथ ही साथ पर-राष्ट्रनीति और अधीन देशोंके सम्बन्धमें इंगलैण्ड-की सरकारको पूर्ण स्वतन्त्रता है। युद्ध और शान्तिके प्रश्नोंमें उपनिवेशोंको हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार नहीं है। ब्रिटिश संयुक्तराज्य, अर्थात् इंग्लैण्डकी सरकार, केवल इंग्लैण्डकी पार्लमेण्ट और ब्रिटिश द्वीपसमूह निवासियोंके प्रति उत्तरदायी है, पर साथही साथ, यही सरकार, साम्राज्यके शासनमें सर्वोच्च शक्ति है।

इसी सिद्धान्तके अनुसार पिछले सम्मेलनोंमें साम्राज्यकी परराष्ट्रनीति या उपनि-वेशोंकी अन्तर्नीतिपर किसी प्रकारका वादविवाद न होता था। समय समयपर उपनिवेशों-के प्रधान सचिव इंग्लैण्डके उपनिवेश सचिवकी अध्यक्षतामें मिला करते थे, बस इसीका नाम साम्राज्य-सम्मेलन था। भारतवर्षकी ओरसे इसमें भारतसचिव रहते थे। सम्मेलनका समय प्रायः आमोद-प्रमोदमेंही व्यतीत होता था। नागरिक बननेके नियमोंमें समानता, अटलाण्टिक महासागरमें राज्यकी ओरसे समुद्री तारकी आवश्यकता, कभी कभी ऐसेही विषयोंपर वाद-विवाद होता था, नहीं तो एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए, उपनिवेशोंके प्रधान सचिव, इंग्लैण्डकी सैर करके, अपने अपने देशमें वापस जाते थे। ब्रिटिश-साम्राज्यकी नीतिपर इस सम्मेलनका कोई भी प्रभाव न था, इसका सम्पूर्ण सञ्चालन ब्रिटिश सरकारके हाथमें था।

परन्तु समयके साथ साथ इस भावमें भी परिवर्त्तन होने लगा। राजनीतिक उन्नतिके कारण उपनिवेश अब साम्राज्यके अन्तर्गत उदासीन रहनेमें सन्तुष्ट न थे। उन्हें भासित होने लगा कि हमारी स्वतन्त्रता नाममात्रकी है, हमारी रक्षाका भार किसी दूसरीही शक्तिके हाथमें है। अपनी रक्षाके लिये हमें ब्रिटिश नौसेनाका मुंह ताकना पड़ता है। युद्ध और शान्तिके जटिल प्रश्नोंमें, जिनके साथ हमारा घनिष्ट सम्बन्ध है, हमें कोई भी अधिकार नहीं है। हमारी स्वाधीनता केवल स्थानिक स्वराज्य है, जिससे पूर्ण स्वराज्य सर्वथा भिन्न है। ब्रिटिश साम्राज्यमें हमारा पद इंग्लैण्डके समान नहीं है, बल्कि एक प्रकारसे हम उसके अधीन हैं। वहांके स्वतन्त्रताप्रिय निवासियोंके हृदयमें यह परतन्त्रताका

भाव खटकने लगा। कनाडा और आस्ट्रेलियामें नौसेना संगठनके प्रस्ताव होने लगे। एक ओर उपनिवेशोंकी यह जागृति और दूसरी ओर जर्मनीके भयने इंग्लैगडकी भी आंखें खोल दीं। इंग्लैगडके बड़े बड़े राजनीतिविशारद इस प्रश्नको सोचही रहे थे, कि इतनेहीमें यूरोपीय युद्ध छिड़ गया। इस युद्धमें भारतवर्ष और उपनिवेशोंकी सहानुभूति तथा सहायता विना, इंग्लैगडकी स्थिति बड़ी विकट थी, इसलिये उसको किसी न किसी तरह उपनिवेशोंके साथ समझौता करनेके लिये बाधित होना पड़ा।

एक ओर तो ब्रिटिश-साम्राज्यकी एकताका ध्यान था, दूसरी ओर उपनिवेशोंकी आकांक्षाओंकी पूर्त्ति करनी थी, दोनोंको मिलानेके लिये, युद्धके समयपर 'साम्राज्य-युद्ध-परिषद' की चाल सोची गयी। इंग्लैगड इस समय भारी संकटमें था, उपनिवेश और भारतवर्षकी सहायताके बिना इस समय उसका काम चलना असम्भव था। परन्तु अब उपनिवेश नन्हें नन्हें बच्चे न थे, अपना हिताहित खूब समझते थे। उपनिवेशही नहीं, भारतवर्षसे अधीन देशमें भी जागृतिके चिन्ह दिखलायी देने लगे थे। ऐसी दशामें बिना सोचे समझे यहांके निवासी केवल इंग्लैगडके लिये अपना रक्त बहानेके लिये उद्यत न थे। यही कारण था कि इस अवसरपर अपनी इच्छाके प्रतिकूल इंग्लैगडको अपनी परराष्ट्रनीतिका द्वार उपनिवेशोंके लिये खोलना पड़ा। इसकी झलक भारतवर्षको भी दिखलायी गयी, क्योंकि सबसे अधिक धन और सैनिक उसीसे मिलनेकी आशा थी।

युद्धसंचालनके लिये 'साम्राज्य-युद्ध परिषद्'का संगठन किया गया, इसमें इंग्लैगडके प्रधान प्रधान मंत्रियोंके अतिरिक्त कई एक उपनिवेशोंके प्रधान सचिव और भारत सरकारके भी दो प्रतिनिधि थे। युद्ध समाप्त होनेपर वर्सैलकी संधिपर उपनिवेश और भारतवर्षकी ओरसे भी हस्ताक्षर किये गये, और ये देश राष्ट्रसंघके सदस्य भी माने गये। इस तरह साम्राज्यके भिन्न भिन्न अंगोंमें समानता स्थापित करनेकी चेष्टा की गयी और संसारको यह दिखलाया गया कि इंग्लैगडके हृदयमें प्रभुताका भाव नहीं है, उसके अन्तर्गत साम्राज्यमें सभी जातियां समान हैं।

इस रीतिसे ब्रिटिश सरकार और उपनिवेशोंके परस्पर सम्बन्धमें बड़ा अन्तर हो गया। दक्षिणी अफरीकाके प्रधान सचिव स्मट्स साहबने, पेरिससे लौटकर, पार्लमेगटमें व्याख्यान देते हुए बतलाया कि यह पहिलाही अवसर है, जब उपनिवेशोंके प्रतिनिधियोंने स्वतंत्ररूपसे, उपनिवेशोंकी ओरसे संधिपत्र पर हस्ताक्षर किये हैं, इसकेपूर्व यह ब्रिटिश-मंत्रियोंद्वारा होता था। इससे अब यह निर्विवाद सिद्ध है कि साम्राज्यमें ब्रिटिश द्वीपसमूह और उपनिवेशोंका स्थान समान है। यह परिवर्त्तन बड़े महत्वका है, इससे सारे साम्राज्य-का संगठन बदलना पड़ेगा। भविष्यमें ब्रिटिश सरकार और उपनिवेशोंके परस्पर सम्बन्धमें इस नयी नीतिका पूरा ध्यान रखना होगा।

परन्तु यह भाव ब्रिटिश साम्राज्यकी एकताके भावसे बहुत भिन्न है, इससे तो एक होनेकी अपेक्षा साम्राज्य छिन्न भिन्नही दिखलायी देता है। परन्तु अब इस भिन्नताका रोकना

असम्भव था, उपनिवेश ब्रिटिश सरकारके अधीन रहकर, उसका साथ देनेके लिये उद्यत न थे । इसलिये भिन्नतामें एकता बनाये रखनेके लिये संवत् १९७४ (सन् १९१७) के सम्मेलन में यह निश्चित हुआ कि युद्धके बाद साम्राज्यके एक विशेष सम्मेलनमें इस जटिल प्रश्नपर विचार किया जाय । युद्ध कबका समाप्त होगया, पर अभी इस प्रश्नका कोई उचित समाधान नहीं हुआ है । पिछले सम्मेलनमें भी यह प्रश्न टाल दिया गया । अंग्रेज जातिके स्वभावमें यह एक विशेषता है कि वह बड़े बड़े सिद्धान्तोंके चक्करमें नहीं पड़ती, जैसा समय देखती है, उसीके अनुसार अपना काम निकालती जाती है । इस तरहसे कुछ दिन बाद आपही आप कोई मार्ग निकल आता है । उपनिवेश सचिव लार्ड मिल्नर महाशयने, अपना पद त्याग करते समय जो व्याख्यान दिया था उसमें इस भावकी पूरी झलक दिखलायी दे रही है । उनका यह कहना था कि उपनिवेशोंकी स्वतंत्रतामें किसीको कुछभी सन्देह नहीं होना चाहिये, ब्रिटिशसरकारके प्रति अधीनताकी छायामात्र तकके भी वे विरोधी हैं, इसलिये इस विषयपर वाद-विवाद ही व्यर्थ है । सबसे आवश्यक प्रश्न तो यह है; कि पृथ्वीके भिन्न भिन्न भागोंपर स्थित उपनिवेश एक दूसरेकी सहायता क्योंकर कर सकते हैं, और सबके हितसाधनका क्या उपाय हो सकता है । परन्तु बराबर सबकी सम्मति किस प्रकार लेनी चाहिये, इसका अभी तक उपाय नहीं मिला है, इस लिये इस समय यही उचित है कि उपनिवेशोंके प्रधान सचिवोंको बुलाकर अत्यन्त आवश्यक विषयोंपर परामर्श करलेना चाहिये ।

इसी सिद्धान्तके अनुसार पिछले सम्मेलनकी योजना की गयी । इसका संगठन 'युद्ध परिषद्'के ढंगका था । इसमें सभी उपनिवेशोंके प्रधानसचिव आमंत्रित किये गये थे । भारतकी ओरसे नहीं, बल्कि भारत सरकारकी ओरसे दो प्रतिनिधि, अर्थात् कच्छके महाराव और माननीय श्रीनिवास शास्त्री भी बुलाये गये थे । इसकी कार्यवाही भी 'सम्मेलन'की अपेक्षा 'परिषद्'के ही ढंगकी थी । भिन्न भिन्न प्रश्नोंपर प्रतिनिधियोंने क्या सम्मति प्रकटकी, इसका पता नहीं है । सारे वाद-विवाद गुप्त रक्खे गये, प्रथम दो दिनोंमें ब्रिटिश प्रधानसचिव लायडजार्ज महाशय तथा अन्य प्रतिनिधियोंकी वक्तृताओंके सिवा केवल स्वीकृत प्रस्तावोंकी रिपोर्ट निकाली गयी है । उसीके आधारपर इस सम्मेलनकी कार्य्यवाहीपर आलोचना हो सकती है ।

सम्मेलन पिछले आषाढ़के प्रारम्भ ( जून मासके अन्त ) में शुरू हुआ । ब्रिटिश प्रधानसचिव लायडजार्जने, अध्यक्षकी हैसियतसे, बड़े उदारभावपूर्ण एक वक्तृता दी । इसमें आपने युद्धके अवसरपर सहायता देनेके लिये उपनिवेश और भारतवर्षके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए, संसारकी वर्तमान राजनीतिक स्थितिका वर्णन किया, और साम्राज्यके जटिल प्रश्नोंको सम्मेलनके सामने रक्खा । इस भाषणके कई एक अंश हमारे लिये विशेष रूपसे विचारणीय हैं, इस लिये उनका भाव यहां दिया जाता है । भारत सरकारके प्रतिनिधियोंका स्वागत करते हुए आपने कहा "भारतवर्षनेभी बहुत कुछ किया है, युद्धके सभी

क्षेत्रोंमें उसके सैनिक हमारे सैनिकोंके साथ मारे गये हैं। युद्ध छिड़नेके समयपर अपने सम्राट्की सेवाके लिये, भारतवर्ष किस वीरता और शीघ्रतासे उठ खड़ा हुआ, इसे कोई ब्रिटेननिवासी कभी भूल नहीं सकता। भारतवर्ष और साम्राज्य, जिसका कि वह एक अंग है, दोनोंही के लिये यह कम प्रशंसाकी बात नहीं है। युद्धके कारण भारतवर्षको अज्ञात थे, यूरोपमें युद्धक्षेत्र बड़ी दूर था, तबभी प्रारम्भसे ही भारतवर्ष सच्चे हृदयसे साथ देता रहा, और अबभी उसके बहुतसे सैनिक, अपने कुटुम्ब और घरोंको छोड़कर साम्राज्यके हितके लिये विदेशमें पड़े हुए हैं। ऐसे कठिन समयपर भारतवर्षकी यह राजभक्ति, मेरे लिये इस बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि पूर्व और पश्चिमकी सभ्यताओंको एक करनेमें और इतिहास, प्राचीन रीति, तथा जाति सम्बन्धी भेदोंको हटाकर, एशिया निवासियोंकी प्रखर बुद्धिको, अपने इच्छानुसार, हमलोगोंके साथ साथ काम करनेके लिये उद्यत करनेमें साम्राज्यको पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। निज शासनमें अधिकार देनेके लिये बड़ी शीघ्रताके साथ भारतशासनप्रणालीमें परिवर्तन हो रहे हैं। हमलोगोंके परामर्शमें अपने नवीनपदके लिये उसने अधिकार जमा लिया है। यह अधिकार उसे युद्धके समय प्राप्त हुआ था, और आज शान्तिके समयमें भी उसे प्राप्त है। साम्राज्यके इस वृहत् सम्मेलनमें आज मैं उसके प्रतिनिधियोंका स्वागत करता हूं।"

भाषणके अन्तमें आपने कहा—"संसारकी वर्तमान छिन्न भिन्न अवस्थामें ब्रिटिश साम्राज्यही एक रक्षक अंश है। संसारके इतिहासमें मनुष्योंके संगठनका यह सबसे आशाजनक अनुभव है। भिन्न भिन्न जातियों, भाषाओं, रीति रिवाजों और मतोंके मनुष्यों-को एक शासनप्रणालीके अन्तर्गत लाना कोई विशेष बात नहीं है। और साम्राज्योंने भी ऐसा किया है, परन्तु इन सबसे, एक आवश्यक बातमें, ब्रिटिशसाम्राज्यमें विशेषता है। इसका आधार शक्ति या बल नहीं है बल्कि परस्परकी सहानुभूति और स्वीकृति है। एकमें मिलानेके लिये स्वतन्त्रता इसका मुख्य सिद्धान्त है। जहां कहीं इस सिद्धान्तका अब तक प्रयोग नहीं हुआ है, वहां संगठनमें अब धीरे धीरे यह काममें लाया जा रहा है।"

ब्रिटिश साम्राज्यकी गोदमें आज भिन्न भिन्न जातियोंसे बसे हुए दूरवर्ती उपनिवेश ही नहीं, बल्कि भारतवर्षकी सभ्यता भी है, 'जिसके शासक अंग्रेजोंके आनेके पूर्व भी पाश्चात्य संसारमें आदरकी दृष्टिसे देखे जाते थे'। छोटेसे ब्रिटिश द्वीपसमूहने इतने विस्तृत साम्राज्यका स्वरूप कैसे धारणकर लिया, इसका फड़कता हुआ चित्र खींचते हुए आपने फिर कहा:—

"हम लोगोंने जो कुछ अद्भुत कार्य्य किये हैं, उनमेंसे मेरे हृदयपर सबसे अधिक प्रभाव, पूर्व और पश्चिमके सम्मेलन से, हुआ है—भारतवर्ष अपनी प्राचीन सभ्यताके साथ, जो हम लोगोंसे कई बातोंमें भिन्न है, आज इस सभा-मन्दिरमें हम लोगोंके साथ, संसारके प्रति साम्राज्यकी नीतिपर विचार करनेके लिये बैठा है, हमें आशा है कि दोनों सभ्यताओंको और अधिक मिलानेका प्रयत्न किया जायगा। हम लोगोंका कर्तव्य है, कि एक सम्राट्के

प्रति इस वृहत् सम्मेलनकी, अपने इच्छानुसार, राजभक्तिका आदर्श रक्खें, सबकी उन्नति तथा हितके लिये परामर्श करें और अपनी आर्थिक तथा नैतिक शक्तियोंको, न्याय, शान्ति, और स्वतंन्त्रताके लिये, एक बनाये रहें ।"

इस सहानुभूति, प्रतिष्टा, और उदारताके लिये लायड जार्ज महाशयको धन्यवाद देते हुए, भारतवर्षके प्रतिनिधि श्री श्रीनिवास शास्त्रीजीने साम्राज्यमें भारतवासियोंको नागरिकोंके अधिकार देनेके लिये जोर दिया । इसतरह सम्मेलनके प्रथम दो दिन कृतज्ञता प्रदर्शन और परस्परकी प्रशंसामें समाप्त हुए ।

परराष्ट्रनीतिमें सम्मेलनके सम्मुख सबसे जटिल प्रश्न इंग्लैगड-जापान संधिका था । आजसे कोई २० वर्ष पहले इंग्लैगड और जापानमें एक संधि हुई थी जिसमें यह तय पाया था कि यदि कोई तीसरी शक्ति दोनों पक्षोंमें से किसी एकको कोई हानि पहुंचाना चाहे, और उसे किसी शक्तिसे सहायता मिले, तो दोनों शक्तियां मिलकर उससे लड़ेंगी । इस शर्तके होनेसे इंग्लैगड बड़े चक्करमें है । आजकल प्रशांत महासागरमें चीनपर जापान और अमरीका दोनोंकी ही दृष्टि है और दोनोंके बीचमें खटपटकी आशंका है । यहांपर प्रश्न यह है कि यदि अमरीकाने जापानसे युद्ध छेड़ा तो क्या इसी संधिके अनुसार इंग्लैगड अमरीकाके विरुद्ध जापानकी सहायता करेगा ? अमरीका और जापान आजकल दोनों ही इंग्लैगडके घनिष्ट मित्र हैं, और दोनोंमें से किसीको भी अप्रसन्न रखना इंग्लैगडको अभीष्ट नहीं है । कहाजाता था कि इस संधिकी अवधि पूरी हो गयी, इसलिये अब इसको फिरसे दोहरानेकी आवश्यकता है । अमरीका इसको बडे सन्देहकी दृष्टिसे देखता है और इसको दोहरानेके विरुद्ध था । इधर चीनके संबन्धमें जापान और इंग्लैंडसे कुछ थोड़ा बहुत मतभेद अवश्य हो गया था, और वे इस संधिको तोड़नेका विचार कर रहे थे, इसीलिये उन्होंने इस विषयमें राष्ट्रसंघसे बातचीत करनी प्रारंभ की थी । पर अब अमरीकाका रंग देखकर जापानने अपनी कुछ नीति बदल दी, और फिर संधिके पक्षमें हो गया । इस कठिन प्रश्नके समाधानके लिये ब्रिटिश राजनीति धुरन्धरोंने एक युक्ति ढूंढ निकाली । उनका कहना है कि दोनों शक्तियोंमेंसे किसी एक द्वारा 'संधि अस्वीकृत है' ऐसी नोटिस देनेके वर्षभर बाद अवधि पूर्ण हो सकती है । जापानने ऐसी कोई नोटिस नहीं दी है इसलिये संधिकी अवधि अभी तक पूरी नहीं हुई है । ऐसी दशामें उसको दोहराने या बदलनेका प्रश्न ही असंगत है । जापान तो यह चाहता ही था, उसने भी कह दिया कि ऐसी कोई नोटिस नहीं दी गयी है । पर अमरीका इस टालबाजीसे तुष्ट नहीं है । अंग्रेज लोग उसे समझाते हैं कि जापान और इंग्लैगडके बीचमें एक और समझौता है, जिसके अनुसार यदि दोमेंसे किसी एककी, किसी तीसरी शक्तिसे पंचायती संधि है, तो वह उस शक्तिसे, पहिली सन्धिकी शर्तके अनुसार, लड़नेके लिये बाधित नहीं है । अमरीका और इंग्लैगडमें एक संधि है अवश्य, पर वह इसके अन्तर्गत आती है या नहीं, इसमें सन्देह है ।

सम्मेलन भले ही समझे कि यह प्रश्न यों ही टल गया, पर वास्तवमें यह हल

नहीं हुआ है। अशान्तिकी सबसे भारी आशंका आजकल प्रशान्तमहासागरमें है। स्मट महाशयने स्पष्ट शब्दोंमें बतलाया है कि राजनीतिक कार्यक्षेत्र आजकल यूरोपकी अपेक्षा दूरवर्ती पूर्वीय देशों और प्रशान्त महासागरमें है। अगले पचास वर्षों तक प्रशान्त महासागरके प्रश्न संसारके प्रश्न होंगे। तीन उपनिवेशोंकी सीमाओंका सम्बन्ध प्रशान्त महासागरसे ही है। अमरीका और जापान वहीं है, वहीं चीन भी है; जहां पृथ्वीकी सबसे अधिक जनसंख्याके भाग्यका निपटारा होता है। यूरोप, एशिया, अमरीका वहीं मिल रहे हैं। निस्सन्देह मानवजातिके इतिहासका अगला परिच्छेद वहीं घटित होगा।

लायड जार्जने भी इसपर अपने भाषणमें बहुत जोर दिया है, और बात भी सच है। प्रशान्त महासागर में ही पूर्व और पश्चिमके टकरानेकी सबसे अधिक सम्भावना है। चीनपर अमरीका और जापान दोनोंहीके दांत लगे हुए हैं। अमरीका चीनमें अबाध्य व्यापार रखनेके पक्षमें है, जिसमें उसे हस्तक्षेप करनेका अवसर मिल सके, उधर जापानने वहांजो दबदबा जमा लिया है, उसे छोड़नेको राजी नहीं है। पश्चिमी शक्तियां जब यूरोपीय युद्धमें पड़ी थी जापान धीरे धीरे अपना पंजा चीनपर बढ़ा रहा था, अब उसका वहां पूरा आतंक जमगया है, जिससे वह हटना नहीं चाहता। दोनों शक्तियोंमेंसे किसीकी वृद्धिसे ब्रिटिश साम्राज्यको भय है, क्योंकि साम्राज्यके सबसे भारी भागका सम्बन्ध प्रशान्त महासागरहीसे है। इसलिये सम्मेलनने निश्चित किया है कि अमरीकाके साथ मित्रता रहना ही चाहिये, क्योंकि दोनोंके उद्देश्योंमें बहुत कुछ समानता है और दोनों बन्धु भी हैं, साथही साथ जापानको भी रुष्ट करना उचित नहीं है, क्योंकि युद्धके समयमें उससे बड़ी सहायता मिली है। चीनकी स्वतंत्रता अपहरण करना उनका लक्ष्य नहीं है, परन्तु अबाध्य व्यापारके वे अवश्य पक्षपाती हैं, 'चीनको शान्तिके साथ उन्नति करनेका पूर्ण अवसर मिल सके' यह उनकी हार्दिक इच्छा है।

परन्तु सबको प्रसन्न रखना सहज काम नहीं है, और विशेषकर जब सबमें स्वार्थ लगा हो। ऐसी दशामें ब्रिटिशसाम्राज्यने प्रशान्तमहासागरमें अपना बल दिखलाकर शान्ति स्थापित रखनेका निश्चय किया है। इसलिये सम्मेलनमें यह पाया हैं कि साम्राज्यकी जलसेना किसी शक्तिसे कम न रहनी चाहिये। अगले नवम्बरमें अमरीकाके राष्ट्रपति हार्डिंग महाशयने सेनाओंके घटानेके प्रश्नपर विचार करनेके लिये बड़े बड़े राष्ट्रोंके एक सम्मेलनको आमंत्रित किया है। ब्रिटिश सरकारका प्रस्ताव था कि इस सम्मेलनके पूर्व, अमरीका, जापान, और ब्रिटिश सरकार परस्पर मिलकर प्रशान्त महासागरकी नीतिको तय कर लेवें, तभी सेनाओंके घटानेका प्रश्न उचित रूपसे हल हो सकता है, पर अमरीकाने इस प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया। अब देखना यह है कि नवम्बरका अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन इस प्रश्नको कैसे हल करता है। सच बात तो यह है कि जबतक बड़ी बड़ी शक्तियोंके हृदयमे लोभ ईर्षा, और द्वेषके स्थानपर सच्चे प्रेमका आविर्भाव न होगा, तब तक इन सम्मेलनोंसे कोई लाभ नहीं है। बड़ी बड़ी शक्तियोंमें समान बलकी नीतिका

अनुसरण पश्चिमने शताब्दियोंसे किया है, इसी तरह युद्धद्वारा शान्ति स्थापित करनेकी चेष्टा भी बराबर होती रही है। पर इनसे जोकुछ फल हुआ है, वह प्रत्यक्ष है। इस नीतिका आधार परस्परका अविश्वास और स्वार्थपरता है। ऐसी नीतिको लेकर शान्तिकी आशा दिलाना, उदारता और भ्रातृभावके ढोंग रचने वाले, साम्राज्यवादियोंद्वारा, भोले भाले संसारको धोखा देना मात्र है।

परराष्ट्रनीति सम्बन्धी दूसरा प्रश्न अपरसाइलीशिया का था। वर्सेलकी संधिमें तय हुआ था कि इसका निपटारा जनताके मतपर छोड़ दिया जाय, पोलैण्ड या जर्मनी चाहे जिसके साथ वह रहे। जनताने बहुमतसे जर्मनीके साथ रहना पसन्द किया, पर अब फ्रान्स इसके पक्षमें नहीं है, और तरह तरहकी अड़चनें डाल रहा है, उसका सहारा पाकर पोलैण्डभी बिगड़ा हुआ है और साइलीशियाके बटवारेमें फ्रान्स और इंग्लैण्डका मतभेद हो रहा है। इस विषयमें यह निश्चित हुआ कि राष्ट्रसंघका निर्णय सबको मान्य होगा।

परराष्ट्रनीतिके बाद साम्राज्य संगठनके प्रश्नोंपर विचार किया गया। 'युद्ध परिषद्' का प्रस्ताव, कि शान्तिके समयपर एक विशेष सम्मेलनद्वारा इसका विचार किया जाय, छोड़ दिया गया। क्योंकि यह सोचा गया कि साम्राज्यके भिन्न भिन्न भागोंमें आने जाने और परामर्श करनेकी सुविधाओंका होना बड़ा आवश्यक है, बिना इनके, संगठनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो सकता है, इसके अतिरिक्त संवत् १९७४ (सन् १९१७) से, जब यह प्रस्ताव पास हुआ था, अबतक संगठनमें एक आध आवश्यक परिवर्तन हो भी चुके हैं। ऐसी दशामें इस विषयके विचारके लिये विशेष सम्मेलनकी आवश्यकता नहीं है। जहांतक हो सके प्रतिवर्ष साम्राज्यके भिन्न भिन्न प्रधानसचिवों और प्रतिनिधियोंको परस्पर परामर्श करनेके लिये मिलते रहना चाहिये।

साम्राज्यकी रक्षाके लिये जलसेना कितनी होनी चाहिये, और उसके व्ययका साम्राज्यके भिन्न भिन्न भागोंमें बटवारा कैसे होना चाहिये, इसका निर्णय उपनिवेशोंकी पार्लमेण्टोंपर छोड़ा गया, पर साथही साथ यह तय पाया कि जब तक अगले नवम्बरका सम्मेलन वाशिंगटनमें न हो जाय, इस विषयपर ठीक ठीक विचार नहीं हो सकता है। समाचारोंके आने जानेमें सुगमता और शीघ्रताके लिये यह राय ठहरी कि हवाई जहाजोंमें खरचा बहुत है, इसलिये इसकी स्कीमका विचार उपनिवेशोंकी पार्लमेण्ट-द्वारा होना चाहिये। इसके लिये जो मौजूदा सामान है, अभी उसीको बनाये रखनेका प्रयत्न होना चाहिये। बे-तारका तार और समुद्री तारोंकी ओर साम्राज्यके भिन्न भिन्न भागोंको अधिक ध्यान देना चाहिये और आवश्यक स्थानोंपर स्टेशनोंका प्रबन्ध करना चाहिये। साम्राज्यके अन्तर्गत समाचार पत्रोंके लिये समाचार भेजनेका चार्ज जहां तक हो सके कम कर देना चाहिये। इन बातोंके लिये जर्मनीसे जो हर्जाना मिला था, उसका भी आपसमें बटवारा किया गया, उसमेंसे भारतवर्षको १·२० हिस्सा मिला।

## स्वार्थ

ब्रिटिशसाम्राज्यमें भारतवासियोंका पद क्या होना चाहिये ? सम्मेलनके सामने यह भी एक विचारणीय प्रश्न था। सम्मेलनका मत जाननेके लिये सभीको उत्सुकता थी। श्रीनिवास शास्त्रीजी जबसे इंग्लैण्ड पहुंचे थे, बराबर यही चिल्ला रहे थे कि भारतवर्षके प्रति साम्राज्यके न्यायकी यही कसौटी है। यदि ब्रिटिश प्रधान सचिव लायडजार्जका यह दावा कि साम्राज्य स्वतन्त्रता और सामानतापर स्थित है, सच है, तो साम्राज्यके भिन्न भिन्न भागोंमें भारतवासियोंके वही अधिकार होने चाहिये, जो वहांके निवासियोंके हैं। पहिले एक सभामें भारतवर्षके प्रतिनिधियोंने अपनी दलीलें पेश कीं। फिर उपनिवेश सचिवकी अध्यक्षतामें एक उपसमिति द्वारा इसपर विचार हुआ। अन्तमें सम्मेलनने नीचे लिखा हुआ प्रस्ताव पास किया :—

"संवत् १९७५ ( सन् १९१८ ) के साम्राज्य-युद्ध-सम्मेलनमें जो यह प्रस्ताव पास हुआ था कि साम्राज्यके अन्तर्गत, प्रत्येक जातिको अपनी जन-संख्याके विषयमें पूर्ण स्वतन्त्रता है, और विदेशियोंके रोकनेके लिये, वह जो चाहे नियम बना सकती है, यह सम्मेलन फिरसे उसका समर्थन करता है। पर साथही साथ यह भी मानता है कि साम्राज्यके कुछ भागोंमें, जो भारतवासी नियमानुसार बसे हैं, उन्हें नागरिकोंके अधिकार प्राप्त नहीं है, ऐसी दशामें यह कहना कि साम्राज्यमें भारतवर्षका पद समान है, असंगत है। इसलिये सम्मेलनका मत है, कि ब्रिटिशसाम्राज्यकी एकताको दृढ़ करनेके लिये, यह आवश्यक है कि ऐसे भारतवासियोंको नागरिकोंके अधिकार दिये जायं।"

"दक्षिणी अफ्रिकाके अधिकांश भागोंमें जो दशा है, उसका ध्यान रखते हुए, वहांके प्रतिनिधि, इस प्रस्तावको स्वीकार करनेमें, शोकके साथ अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं।"

"इस प्रस्तावके पास होनेपर भारतवर्षके प्रतिनिधि कृतज्ञता दिखलाते हुए यह प्रकट करना चाहते हैं, कि दक्षिणी अफ्रिकामें बसे हुए भारतवासियोंका उन्हें सबसे अधिक ध्यान है, और वे आशा करते हैं कि भारतसरकार और अफ्रीका दोनों परस्पर परामर्श करके, जहां तक शीघ्र हो सकेगा किसी ऐसे मार्गको निकाल लेंगे, जो कहीं इससे सन्तोषप्रद होगा"।

भारतवर्षके प्रतिनिधि इस प्रस्तावके लिये भलेही कृतज्ञता दिखलावें, पर भारतवर्ष इन कोरी कोरी बातोंसे संतुष्ट नहीं है। इस प्रस्तावपर सरकारका साथ देनेवाले नरम-दलने भी अपनी निराशा प्रकट की है। मान भी लिया जाय कि प्रत्येक उपनिवेशको अपनी अन्तर्नीतिके संचालनमें पूर्ण स्वतन्त्रता है, पर तब भी, किसी उपनिवेशको सरासर अन्यायके पथसे हटानेके लिये सारे साम्राज्यके हाथमें क्या कोई उपाय नहीं है ? यदि नहीं है तो ऐसे साम्राज्य या संघके सदस्य बननेमें लाभही क्या है ? सम्मेलनके प्रथम भाषणमें श्रीलायड जार्जने 'स्वतन्त्रता, समानता और न्याय' की जो डींग हांकी थी, उसका क्या यही अर्थ है कि साम्राज्यका कोई भाग किसी दूसरे भागपर जो चाहे अत्याचार करे ?

# साम्राज्य-सम्मेलन

भारतवर्षसे बराबर यह कहा जाता है कि साम्राज्य सम्बन्धी सभी बातोंमें उसको स्वतन्त्र उपनिवेशोंके समान पद प्राप्त है। सन्धि सम्मेलन, राष्ट्रसंघ, और राज्य-सम्मेलनमें उसके प्रतिनिधियोंने बराबर भाग लिया है। इसतरह ब्रिटिश राजनीतिविशारद संसारकी आंखोंमें भलेही धूल झोंक लेवें पर अपमानकी चोटपर चोट खाते हुए, भारतका संतप्त हृदय इन भुलावोंसे शान्त नहीं हो सकता है। भारतसरकारके प्रतिनिधियोंको भेजकर, भारतवर्षसे यह कहना कि ये तुम्हारे प्रतिनिधि हैं, उसका उसके मुँहपर अपमान करना है। श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्री और महाराव कच्छकी योग्यतामें उसे सन्देह नहीं है, पर अपने उचित अधिकारको खोना उसके हृदयमें बराबर खटकता है। 'भय बिन होत न प्रीति' यह उसने अच्छी तरह समझ लिया है। साम्राज्यका आधार 'न्याय और स्वतन्त्रता' नहीं है बल्कि 'भयकी प्रीति' और पक्की स्वार्थपरता है, इसमें अब भारतवर्षको सन्देह नहीं है। सम्मेलनने मिश्रके भविष्यपर भी बहुत विचार किया और वहां किस नीतिका अनुसरण किया जायगा, यह निश्चित किया। पर यह नीति क्या होगी, इसका उल्लेख रिपोर्टमें नहीं किया गया है।

सात सप्ताहकी कार्य्यवाहीके बाद सम्मेलन समाप्त हुआ। विदा होते समय प्रतिनिधियोंने श्रीमान् सम्राट्की सेवामें एक अभिनन्दनपत्र दिया, जिसके उत्तरमें श्रीमान् सम्राट्ने साम्राज्यकी एकता, दृढ़ता और परस्पर प्रेम तथा राजभक्तिके लिये हर्ष और कृतज्ञता प्रकाशित की। कौन कह सकता है कि इस अवसरपर, जब साम्राज्यके प्रतिनिधि और श्रीमान् सम्राट् एक दूसरेको सामाज्यकी एकता और दृढ़तापर बधाई दे रहे थे, उनके हृदयोंमें महात्मा गांधी, डीवेलरा और जगलुलपाशाका ध्यान न आता होगा?

**गंगा शंकर मिश्र।**
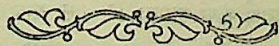
# विदेशी विनिमय।

## दो अथवा तीन देशोंका पारस्परिक लेनदेन किस प्रकार चुकाया जाता है।

गत आषाढ़के लेखमें हमने यह बतानेका प्रयत्न किया है कि किसी देशका एक मनुष्य अपना विदेशी कर्ज कई प्रकारकी हुंडियोंद्वारा किस तरहसे अदा कर सकता है। उसमें हमने भिन्न भिन्न प्रकारकी हुंडियोंको समझानेका भी प्रयत्न किया है। अब इस लेखमें हम यह बतलानेका प्रयत्न करते हैं कि दो अथवा तीन देशोंका पारस्परिक लेनदेन इन हुंडियोंद्वारा किस तरहसे चुकाया जाता है।

मान लीजिये कि किसी समय इंग्लैंड और अमेरिकाका पारस्परिक लेनदेन बराबर है। याने इंग्लैंड वासियोंने अमेरिकासे १० करोड़ पौंडका माल मंगाया और अमेरिका वासियोंने उतनाही माल इंग्लैंडसे मंगाया। ऐसी दशामें लेनदेन किस तरहसे चुकाया जायगा यह नीचेके कोष्टकमें दिया जाता है।

| अमेरिका | | इंग्लैण्ड | |
|---|---|---|---|
| अ=इंग्लैण्डसे माल मंगाने वाले | ब=इंग्लैण्डको माल भेजनेवाले | स=अमेरिकासे माल मंगानेवाले | ड=अमेरिकाको माल भेजने वाले |
| १० करोड़ पौंड | १० करोड़ पौंड | .१० करोड़ पौंड | १० करोड़ पौंड |
| (२) अ, स के नामपरकी हुंडियोंको खरीदकर ड को भेजता है | (१) ब, स के नामपर १० करोड़ पौंडकी हुंडियाँ निकालता है। | (४) स हुंडियोंकी रकम ड को दे देता है। | (३) ड इन हुंडियों-की रकम स से वसूल कर लेता है। |

उपरोक्त उदाहरणमें यदि हुंडियोंका उपयोग न किया जाता तो अ को ड के पास १० करोड़ पौंडका सोना अथवा चांदी अमेरिकासे इंग्लैण्ड भेजनी पड़ती और स को १० करोड़ पौंडका सोना या चांदी ब के पास इंग्लैण्डसे अमेरिका भेजनी पड़ती। इससे सोना चांदीको लाने लेजानेमें व्यर्थ खर्च लगता। इस खर्चसे बचनेके लिये अमेरिकासे माल भेजने वाले सौदागर (ब) अमेरिकासे माल मंगाने वाले इंग्लैण्डके व्यापारियों (स) के नाम १० करोड़ पौंडकी हुंडी निकालते हैं। उसी समय इंग्लैण्डसे माल मंगानेवाले अमेरिकावासी व्यापारियों (अ) को १० करोड़ पौंड इंग्लैण्ड भेजना रहता है, इसलिये वे ब द्वारा की हुई हुंडियोंको खरीद लेते हैं। इस प्रकार ब को अपना रुपया तुरंत मिल जाता है। फिर अमेरिकाके ये व्यापारी (अ) इंग्लैण्डके उन सौदागरोंको जिनसे कि उनने माल खरीदा है (ड को) ये सब हुंडियां भेज देते हैं। फिर वे (ड)

उन हुंडियोंकी रकम अमेरिकासे माल मंगानेवाले अंग्रेज व्यापारियों (स) से वसूल कर लेते हैं। इस प्रकार उनको भी अपना रुपया मिल जाता है। इस तरहसे दोनों देशोंका करोड़ों रुपयोंका पारस्परिक लेनदेन, बिना सोना चांदी एक देशसे दूसरे देश भेजे, हुंडियोंद्वारा चुका दिया जाता है।

उपरोक्त उदाहरणमें यदि **स** के बदले **ड** ही **अ** के नामपर १० करोड़ पौंडकी हुंडियां निकाले तो उसका परिणाम भी ठीक वैसाही होगा। ऐसी दशामें **स** उन हुंडियोंको खरीदकर **ब** के पास भेज देगा जो कि उसकी रकम **अ** से वसूल कर लेगा। इसी उदाहरणमें यदि पहले ठहरावके अनुसार **ब** केवल ७ करोड़ पौंडकी हुंडियां ही **स** के नाम निकाले—जैसा कि होना बहुत संभव है—तो फिर **ड** तीन करोड़ पौंडकी हुंडियां **स** के नाम निकालेगा। ऐसी दशामें ७ करोड़ पौंडका पारस्परिक लेनदेन इंग्लैण्डपर की हुई हुंडियोंद्वारा चुकाया जायगा और तीन करोड़ पौंडका अमेरिकापर की हुई हुंडियोंद्वारा। इंग्लैण्डके बेंकरों और सर्राफोंकी प्रसिद्धिके कारण साधारणतः इंग्लैण्डपर ही अधिक हुंडियां निकाली जाती हैं।

यदि अब यह मान लिया जावे कि किसी समय दोनों देशोंका पारस्परिक लेनदेन बराबर नहीं है तो उस विषमताको चुकानेके लिये या तो व्यावसायिक हुंडियों (Finance bills) का उपयोग करना पड़ेगा या अधिक कर्जदार देशको कुछ सोना चांदी भेजनी पड़ेगी। नीचेके कोष्टकमें यह बतलाया जाता है कि ऐसी दशामें दो देशोंका पारस्परिक लेनदेन किस प्रकारसे चुकाया जाता है।

| अमेरिका | | इंग्लैण्ड | |
|---|---|---|---|
| **अ**=इंग्लैंडसे माल मंगानेवाले | **ब**=इंग्लैण्डको माल भेजनेवाले | **स**=अमेरिकासे माल मंगानेवाले | **ड**= अमेरिकाको माल भेजनेवाले |
| १० करोड़ पौंड | ९ करोड़ पौंड | ९ करोड़ पौंड | १० करोड़ पौंड |
| (२) **अ**, **ब** द्वारा **स** पर की हुई ९ करोड़ पौंडकी हुंडियां खरीदकर **ड** को भेज देता है। (५) **अ** एक करोड़ पौंडकी व्यावसायिक हुंडियां अथवा सोना चांदी **ड** को भेजता है। | (१) **ब**, **स** के नामपर ९ करोड़ पौंडकी हुंडियां निकालता है। | (४) **स** अपनेपर **ब** द्वारा की हुई हुंडियोंकी रकम **ड** को चुका देता है। | (३) **ड** ९ करोड़की हुंडियोंकी रकम **स** से वसूल करता है (६) **ड** को १ करोड़ पौंडकी व्यावसायिक हुंडियाँ अथवा सोना **अ** से मिलता है। |

अब हमको तीन देशोंके पारस्परिक लेन देनकी तरफ़ ध्यान देना चाहिये। मान लीजिये कि अमेरिका वासियोंने इंग्लैण्डसे २० करोड़ पौंडका माल और भारतसे ३० करोड़-का माल मँगाया और भारतको २० करोड़ पौंडका माल और इंग्लैण्डको ३० करोड़का माल भेजा। इंग्लैण्डने अमेरिका और भारतसे तीस तीस करोड़ पौंडका माल मंगाया और बीस बीस करोड़ पौंडका माल भेजा और भारतने इंग्लैण्ड और अमेरिकासे बीस बीस करोड़ पौंड-का माल मंगाया और तीस तीस करोड़ पौंडका माल भेजा। यदि यह भी मान लिया जाय कि भारत और अमेरिकाका सब लेन-देन इंग्लैण्डके जरियेसे ही होता है तो इन देशोंका लेन-देन नीचे दिये कोष्टकके अनुसार चुकाया जावेगा।

[ अगला पृष्ठ देखिये ]

| अमेरिका | | | | इंग्लैण्ड | | | | भारत | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| **अ**=इंग्लैण्ड और भारत-के कर्जदार ५० करोड़ पौंड | | **ब**=इंग्लैण्ड और भारत-से लेनदार ५० करोड़ पौंड | | **स**=अमेरिका और भारतके कर्जदार ६० करोड़ पौंड | | ड=अमेरिका और भारतके लेनदार ४० करोड़ पौंड | | क=अमेरिका और इंग्लैण्डके कर्जदार ४० करोड़ पौंड | | **ख**=अमेरिका और इंग्लैण्डके लेनदार ६० करोड़ पौंड | |
| इंग्लैण्डके २० करोड़ पौंड | भारतके ३० करोड़ पौंड | इंग्लण्डसे ३० करोड़ पौंड | भारतसे २० करोड़ पौंड | अमेरिकाके ३० करोड़ पौंड | भारतके ३० करोड़ पौंड | अमेरिकासे २० करोड़ पौंड | भारतसे २० करोड़ पौंड | अमेरिकाके २० करोड़ पौंड | इंग्लैण्डके २० करोड़ पौंड | अमेरिकासे ३० करोड़ पौंड | इंग्लैण्डसे ३० करोड़ पौंड |
| (२) **अ**, **स** के नामपर की हुई पचास करोड़की हुंडियां **ब** से खरीद लेता है और (३) उनमेंसे बीस करोड़की हुंडी वह **ड** को भेज देता है। (६) **अ** शेष तीस करोड़की हुंडी **ख** को भेज देता है। | | (१) **ब**, **स** के नाम पर पचास करोड़ पौंड-की हुंडी निकालता है। | | (५) **स**, **ब** द्वारा की हुई बीस करोड़की हुंडी-की रकम **ड** को चुका देता है। (१०) **स**, **ब** द्वारा की हुई तीस करोड़की शेष हुंडीकी रकम **ड** को चुका देता है। (१४) **स**, **ख** द्वारा की हुई दस करोड़की हुंडीकी रकम **ड** को चुका देता है। (५)* | | (४) **ड** को **अ** से बीस करोड़की हुंडियां **स** के नाम मिलती हैं जिसकी रकम वह **स**से वसूल कर लेता है। (९) **ड** को **क** से तीस करोड़की हुंडियां **स** के नाम मिलती हैं जिसकी रकम वह **स**से वसूल कर लेता है। | | (८) क, स के नाम-पर **ब** द्वारा तीस करोड़-की हुंडियोंको **ख** से खरीद लेता है और **ड**को भेज देता है। (१२) क, **स** के नाम **ख** द्वारा दस करोड़की हुंडियोंको खरीद लेता है और **ड** को भेज देता है। | | (७) **ख**को **अ**से तीस करोड़की हुंडियां **स**के नाम की मिलती हैं जो वह **क**को बेच देता है। (११) **ख**, **स** के नाम दस करोड़की हुंडी निकालता है। (१६) **ख** को बीस करोड़ पौंडका सोना, या व्यावसायिक हुंडियां अथवा कौंसिल बिल **स** से मिलते हैं। | |
| | | * (१५) **स**, **ख** को या तो बीस करोड़ पौंड-का सोना भेज देता है या अपने भारतीय अ·ढ़तियोंके नाम की हुई व्यावसायिक हुंडियां अथवा कौंसिल बिल भेज देता है। | | | | (१३) **ड** को **क** से दस करोड़की हुडियां **ख** के नाम मिलती हैं जिसकी रकम वह **स** से वसूल कर लेता है। | | | | | |

उपर्युक्त कोष्टकमें एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि यद्यपि इंग्लैण्ड वासियोंने केवल ६० करोड़ पौंडका माल ही बाहरसे मंगाया और ४० करोड़ पौंडका माल बाहर भेजा परंतु वहांके बैंकरोंके, भारतीय उन व्यापारियोंकी तरफसे जो कि व्यापारियोंसे माल मंगाते हैं, हुंडीयां स्वीकार करनेके कारण इंग्लैण्डके ६० करोड़ पौंडके जिम्मेदार हो जाते हैं और वह ६० करोड़ पौंडका लेनदार भी हो जाता है।

इस कोष्टकसे निम्न लिखित बातें भी मालूम हो जाती हैं। अमेरिकाके लेनदार (ब) पहिले ५० करोड़ पौंडकी हुंडियां इंग्लैण्डपर सके नामपर निकालेंगे और वे अमेरिकाके कर्जदार (अ) द्वारा खरीद ली जावेंगी। उनमेंसे बीस करोड़की हुंडियां वे (अ) इंग्लैण्ड के लेनदार [ड] को भेज देवेंगे और ड, स से उनकी रकम वसूल कर लेवेगा। अ अपने पास तीस करोड़की शेष बची हुई हुंडियोंको अपने भारतीय लेनदार (ख) को भेज देवेगा। ये तीस करोड़की हुंडियां भारतमें क द्वारा खरीद ली जाकर ड के पास भेज दी जावेंगी। ड उसकी रकम स से वसूलकर लेवेगा। इतना सब हो चुकनेपर अमेरिकाका लेनदेन तो अदा हो जायगा परन्तु भारतके व्यापारी ३० करोड पौंडके लिये इंग्लैण्डके लेनदार और १० करोड पौंडके कर्जदार रह जावेंगे। ऐसी दशामें भारतीय व्यापारी (ख) अपने कर्जदार स के नाम १० करोड पौंडकी हुंडियां निकालेंगे। असलमें ख, स से लेनदार तो ३० करोड़ पौंडका है तौभी वह केवल दस करोड पौंडकी हुंडियां इसलिये निकालेगा कि दस करोड़ पौंडकी हुंडियोंसे अधिककी मांग भारतमें न होनेके कारण सम्भवतः उससे अधिक की हुंडियाँ भारतमें न बिक सकेंगी। इसलिये वह (ख) अपने कर्जदार स को शेष रकम (२० करोड पौंड) सोना चांदी, व्यावसायिक हुंडी या कौंसिल बिलके द्वारा उसे भेजनेके लिये सूचित कर देगा। इंग्लैडके भारतीय कर्जदार (क), ख द्वारा स के नामपर निकाली हुई १० करोड पौंडकी हुंडियोंको खरीदकर अपने लेनदार ड को भेज देवेगा और वह (ड) उसकी रकम स से वसूल कर लेवेगा। स बीस करोडकी रकम सोना चांदी, व्यावसायिक हुंडियां अथवा कौंसिल बिलद्वारा ख को भेज देवेगा और इस हिसाबसे केवल ३०० करोड़ पौंडका इन तीन देशोंका लेनदेन अधिकसे अधिक २० करोड़ पौंडका सोना चांदी एक जगहसे दूसरी जगह भेजनेपर ही बहुत आसानीसे हुंडियोंद्वारा चुका दिया जावेगा।

यदि किसी देशका व्यापार अथवा लेनदेन दो से अधिक देशोंसे हुआ तो लेनदेनके चुकानेके तरीकोंमें कुछ भी फरक नहीं पड़ता। हुंडियोंका प्रयोग ऊपर लिखे अनुसार किया जाता है और जहांतक हो सके वहांतक प्रत्येक व्यापारी सोना चांदीके भेजनेके खर्च और जोखिमसे बचनेका भरसक प्रयत्न करता है।

इस लेखको यहांपर समाप्त कर अन्य लेखोंमें हम यह बतलावेंगे कि टकसालिकदर ( Mint par ) क्या है, विनिमयकी दर किन किन बातोंपर निर्भर रहती है, लेनदेनकी विषमताका उसपर क्या प्रभाव पड़ता है और विनिमयकी दर किस प्रकारसे स्थिर की जा सकती है।

दयाशंकर दुबे।

# समुद्रोंकी स्वतंत्रताका प्रश्न।

गत यूरोपीय युद्धमें लाखों-करोड़ों मनुष्य हताहत हुए, अरबोंकी सम्पत्ति स्वाहा हो गयी, गांवके गांव तथा बड़े बड़े शहर चौपट हो गये एवं आर्थिक संकट इतना बढ़ गया कि आजतक उससे मुक्ति नहीं मिली। यह दशा केवल उन्हीं देशोंकी नहीं हुई जिनके बीच युद्ध छिड़ा था। सारे संसारमें ही उसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता था। उस महाभारतके विकराल परिणामोंके कारण भूमण्डलके प्रत्येक देशमें, किसी न किसी अंश तक, उथल-पुथल मच गयी थी। आज भी उसके चिह्न प्रायः सर्वत्र देखनेमें आते हैं। अभीतक पदार्थोंकी कीमत साधारण स्थितिपर नहीं पहुंची। इंग्लैण्ड इत्यादि देशोंमें बेकारी फैल रही है। व्यापार अब भी कुछ शिथिल है। रूसका भयंकर दुर्भिक्ष भी युद्धके कारण उत्पन्न परिस्थितिका ही परिणाम है। लड़ाईके समय खेतीकी ओर लोग ध्यानही कितना दे सकते हैं? इन सब आपत्तियोंसे उत्पीड़ित होकर एवं स्वाभाविक प्रेरणाके कारण सारा संसार एक बार फिर स्थायी शान्तिके निमित्त समुत्सुक हो उठा है। बड़े बड़े देशोंके धुरन्धर राजनीतिज्ञ इसी चिन्तामें निमग्न हैं। अमेरिकाके भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री वुडरो विलसनने इस सम्बन्धमें कदाचित् सबसे अधिक परिश्रम किया था। प्रधानतया उन्हींके प्रयत्नसे सार्वभौमिक शांति स्थापनाके निमित्त राष्ट्र-संघ [ लीग आफ नेशन्स ] नामक संस्थाका आविर्भाव हुआ। संयुक्त-राज्य अमेरिकाके वर्तमान राष्ट्रपति श्री हार्डिंग महोदय भी इस ओर कुछ चेष्टा कर रहे हैं। आपने हालहीमें निःशस्त्रीकरण-समस्याको हल करनेके निमित्त भिन्न भिन्न देशोंके प्रतिनिधियों एवं विचक्षण राजनीतिज्ञोंका आवाहन किया है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन संयुक्तराज्यके वाशिंगटन नगरमें होने वाला है। इसके सामने जो जो प्रश्न उपस्थित होने वाले हैं, उनमें सम्भवतः समुद्रोंकी स्वतन्त्रतका प्रश्न भी शामिल रहेगा।

अमेरिकाके सम्बन्धमें एक बात बड़ी आश्चर्यजनक है। यद्यपि राष्ट्र-संघकी स्थापनामें विशेषकर अमेरिकाने ही, अपने तत्कालीन राष्ट्रपति द्वारा, सबसे अधिक भाग लिया था, तो भी बादमें नूतन राष्ट्रपति श्री हार्डिंग महाशयके कार्यकालके आरम्भमें वही अमेरिका राष्ट्रसंघकी कारवाईसे अपनेको दूर रखनेकी चेष्टा सी करते हुए नजर आने लगा। अमेरिकाकी इस विचित्र चित्त-प्रवृत्तिके भी कारण थे। यहां उन सब-का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अमेरिका समुद्रोंकी स्वतंत्रताका पक्षपाती था और वह चाहता था कि सब समुद्र स्वतंत्र माने जायँ एवं उनपर किसी एक देशका ही प्रधान आधिपत्य न होकर सबका बराबर बराबर स्वत्व रहे और उनकी व्यवस्था राष्ट्रसंघके अधीन रखी जाय। किन्तु जब राष्ट्रसंघके

अधिकारोंकी सूचीमें समुद्रोंकी स्वतंत्रताका कहीं उल्लेख तक न किया गया तो उसे बड़ी निराशा हुई और वह संघकी ओर निरपेक्ष सा हो गया।

संसारकी शान्ति-रक्षाके निमित्त राष्ट्रपति श्री वुडरो विलसनने जिन चौदह बातोंकी आवश्यकता बतलायी थी, उनमें एक बात यह भी शामिल थी कि "भिन्न भिन्न देशोंके समीपवर्त्ती समुद्रको छोड़कर शेष सब जल-विभागमें, शान्तिके समय हो या युद्धके समय, प्रत्येक देशको गमनागमनकी पूर्ण स्वतंत्रता रहे। हाँ, यदि अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञाओंको पूरा करनेके निमित्त, देशोंके पारस्परिक निर्णयद्वारा, किसी समुद्र विशेषका उसके कुछ अंशमें आवागमन थोड़े समयके लिये बन्द कर दिया जाय, तो बात ही दूसरी है।" इस शब्दावलीको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि संसारके सारे समुद्रोंपर अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार हो। किसी देश-विशेषकी प्रधानता उनपर न हो। समुद्रयात्रा सम्बन्धी नियम सब राष्ट्रोंकी संयुक्त स्वीकृतिसे ही बनाये जायँ। वे किसी राष्ट्र-विशेषकी मन-गढ़न्त न हों। समुद्रोंके नियंत्रणमें यदि किसी बातका ख्याल रखा जाय तो सिर्फ उनका उपयोगकरने वाले देशोंके हितका, जिसका निर्णय भी अन्तर्राष्ट्रीय समिति ही करेगी। किसी खास देशके स्वार्थका ही विचार सामुद्रिक व्यवस्थामें न होना चाहिये। दूसरी बात जो विलसन महोदयके शब्दोंसे स्पष्ट प्रकट होती है, यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय नियमोंद्वारा समुद्रोंसे आने जानेवाले सर्वसाधारणके मालकी रक्षा होनी चाहिये। उसे जब्त करनेका अधिकार किसीको न मिलना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय नियमोंद्वारा निर्धारित युद्ध-व्यवस्थाके प्रतिकूल जो माल पाया जाय, वह भलेही रोक लिया जायँ, किन्तु अन्य सब पदार्थोंके लिये समुद्री मार्ग सबके लिये खुला और सुरक्षित रहे। बस, येही दो बातें अमेरिकावाले चाहते थे और अब भी चाहते हैं। इसी कारण हम कहते हैं कि संभवतः आगामी निःशस्त्रीकरण सम्मेलनमें कमसे कम अमेरिकाकी ओरसे यह विषय अवश्य छेड़ा जायगा। अमेरिका वालोंका यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक समुद्रकी स्वतंत्रताका प्रश्न हल न होगा तब तक निःशस्त्रीकरण-समस्याका भी समीकरण न हो सकेगा।

गत सौ, दो सौ वर्षोंसे सामुद्रिक शक्तिमें इंग्लैण्ड जितना चढ़ा-बढ़ा रहा है उतना शायद कोई देश नहीं रहा। संसारके किसी भी समुद्रका कोई ऐसा भाग नहीं है जहां इंग्लैण्डके जहाजोंकी पहुंच न हो। इंग्लैंडके जहाज अपने ही देशका नहीं, प्रत्युत दूसरे दूसरे देशोंका भी माल अधिकतासे ढोया करते हैं। उसकी यह जहाजी-शक्ति तथा सामुद्रिक प्रभुत्व अमेरिका इत्यादि देशोंको खटकने ही वाला है। राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टिसे एवं न्यायानुरोधसे भी एक ही देशकी नौ-शक्तिका इतना प्रबल होना अवश्य ही आपत्ति-जनक है। यदि इंग्लैण्डका जल-प्रभुत्व इसी प्रकार उत्तरोत्तर उन्नति करता जाय और अमेरिका इत्यादि देश उसकी समता करनेकी फिक्र न करें तो संभव है इंगलैंडकी यह शक्ति भविष्यमें कमजोर देशोंके लिए हानिकर सिद्ध हो। यदि किसी दिन इंगलैंडके मनमें इनसे छेड़छाड़

करनेकी बात समा गयी तो ये उसका क्या कर लेंगे ? वह इन्हें जिस प्रकार नाचनेको कहेगा या तो इन्हें वैसे ही नाचना पड़ेगा, या फिर युद्धकी तैयारी करनी पड़ेगी। यदि युद्ध हुआ तो सबल होनेके कारण उसीकी जीतकी सम्भावना है। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टिसे समुद्रोंपर किसी खास देशकी अधिक प्रभुता होना आपत्ति-जनक बात है।

आर्थिक दृष्टिसे भी समुद्रोंपर देश-विदेशका आधिपत्य अवाञ्छनीय है। वह जब चाहे तब निर्बल देशोंके मालको रोक सकता है या उसके मार्गमें बाधाएँ उपस्थित कर सकता है। उसकी शक्तिके सामने दूसरोंकी तूती बोल ही नहीं सकती। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्यका अधिकांश उसके हाथमें आजाता है। कमसे कम, व्यापारकी वस्तुओं तथा दूसरी चीजों और यात्रियों इत्यादिके गमनागमनसे जो आमदनी होती है, उसका प्रधान भाग उस एकही देशको मिल जाता है जिसकी जलशक्ति प्रबल होती है। दूसरे देश बिचारे हाथ मलते रह जाते हैं। न्यायके लिहाजसे हमें यह मानना ही पड़ेगा कि इस प्रकारका एकाधिपत्य सर्वथा अनुचित है। समुद्र ईश्वरकी रची हुई सृष्टिका वह अंश है जिसपर सबका समान अधिकार है। जिस प्रकार पृथिवीपर बहनेवाली हवा स्वतंत्र है, उसी प्रकार समुद्रभी स्वतंत्र है। उसे न कभी किसीने जीता है और न थलकी नाई उसका कोई वितरण ही हुआ है। जलके स्वाभाविक पृथक्करण या अपने स्वार्थके विचारसे यदि कोई देश समझे कि सारा समुद्र-समुदाय मेरी ही सम्पत्ति है, मैं इसपर दूसरोंको न चलने दूँगा तो उसका यह मिथ्याभिमान जितना अनुचित है, उतना ही व्यर्थ भी है। यदि सिंहलद्वीप ( लंका ) वाले कहें कि हमारी भूमिके किनारेसे दस मील तकका समुद्र हमारा है, इस सीमाके भीतर हम उनलोगोंको न आने देंगे जिनसे हमें विपत्तिकी आशंका है, तो उनका यह कहना न्याययुक्त माना जा सकता है। किन्तु यदि वे कहें कि हमारे द्वीपके दक्षिणमें छःसौ मीलकी दूरीपर हिन्दमहासागरका जो भाग है वह भी हमारा है और उसपर हम किसी देशके जहाज न चलने देंगे तो यह उनकी ढीठता होगी। कोई उनका कहना न मानेगा और यदि वे अपनी शक्तिसे दूसरोंको ऐसा करनेके लिये बाध्य भी करें तो उनका यह कार्य सर्वथा अनुचित और न्यायविरुद्ध होगा। अस्तु।

यही कारण है कि कुछ स्वार्थ-वश और कुछ उदार विचारोंके कारण भी अमेरिका समुद्रोंकी स्वतन्त्रताका पक्षपाती है। युद्ध समाप्त होनेके बाद तथा राष्ट्र संघकी स्थापना हो चुकनेपर ही अमेरिका-वासियोंका ध्यान इस ओर गया हो, सो बात नहीं है। इसके बहुत पहिले ही अमेरिकाके कई राजनीतिज्ञ किसी न किसी रूपमें ऐसे विचार प्रगट करने लगे थे। संवत् १९७३ के अन्तमें [मार्च १९१७] अमेरिकाकी लोक-सभाका द्वितीय अधिवेशन प्रारम्भ करते समय राष्ट्रपति विलसन महोदयने कहा था, "परस्परकी सम्मति और स्वीकृतिसे समुद्र सभी देशोंके लिये समानरूपसे स्वतन्त्र और सुरक्षित होने चाहिये और जहां तक हो सके उनपर गमनागमनकी सबको एकसी सुविधा होनी चाहिये।" इसके कुछ दिन पूर्वभी उन्होंने एक भाषणमें कहा था, "संसारमें शान्ति तभी स्थापित

हो सकती है जब समस्त देशोंकी व्यवस्थामें न्याय, स्वतन्त्रता और स्वत्वोंका ख्याल रखा जाय। ...साथही साथ, जहां तक हो सके उन सब बडे देशोंको समुद्री मार्गोंका [ वे रोक टोक ] उपयोग कर सकनेका विश्वास दिलाना चाहिये, जो अपनी आर्थिक उन्नति करने तथा अपनी शक्ति बढ़ानेकी चेष्टा कर रहे हैं। ...ठीक प्रबन्ध हो जानेपर किसी भी देशको संसारके वाणिज्यके इन खुले हुए मार्गोंमें प्रवेशन पा सकनेका कोई कारण न रह जायगा।" इन शब्दोंसे स्पष्ट है कि युद्ध समाप्त होनेके पूर्व भी, प्रत्युत युद्धमें भाग लेनेके पहिले ही, अमेरिका समुद्रोंकी स्वतन्त्रताका पक्षपाती था।

संसारकी शांतिके लिये भिन्न भिन्न देशोंके पारस्परिक सहयोग और सहानुभूतिके लिये समुद्रोंकी स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है। जब तक आवागमनके ये प्रधान मार्ग सब देशोंके लिये समान रूपसे खुले हुए और सुरक्षित न होंगे तबतक उनमें आपसका हेल-मेल बढ़ ही नहीं सकता। पारस्परिक सहानुभूति और प्रेमभावके बदले आंतरिक द्वेष, जलन और भीति ही बढ़ेगी। जब समुद्री मार्गोंकी बागडोर संसारके केवल एक या दो देशोंके हाथमें हो और जब एक देश दूसरे देशको हौआ समझकर या तो जलमार्गमें अवतीर्ण ही न हो, या अवतीर्ण होनेके पूर्व अपनी रक्षाका पूरा प्रबन्ध करना आवश्यक समझे, तब ऐसी हालतमें जगद्-व्यापी शांतिकी आशा कैसे की जा सकती है?

ऊपरकी विवेचनासे यह स्पष्ट है कि संसारकी स्थायी शांतिके निमित्त संसारके समुद्र-मार्गोंका सम्पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र होना सर्वथा आवश्यक है। किंतु प्रश्न यह है कि समुद्रोंकी स्वतन्त्रताका साधन किस उपायसे हो सकेगा? जिन देशोंने समुद्रोंपर अपना अधिकार जमा रखा है, उसे छोड़ना वे क्यों स्वीकार करेंगे? ऐसा करनेसे उनके स्वार्थपर आघात पहुँचेगा। फिर, कोई एक ही राष्ट्र इतना प्रबल नहीं कि जिसका अनुशासन माननेके लिये सारे देश बाध्य हों। यदि हों भी तो क्या संसारके सभी देश चुपचाप उसकी आज्ञा मान लेंगे? यदि अस्त्र-शस्त्रोंकी सहायतासे यह काम किया जाय तो संभव है कुछ समयके लिये वे बाध्य होकर उसकी बात मानलें। किंतु जिस शांतिकी अभिलाषासे हम समुद्रोंकी स्वतन्त्रता-की कामना करते हैं, यदि उसीके लिये हमें फिर युद्धमें भाग लेना पड़े तो हमारा परिश्रम व्यर्थ है। विश्वव्यापी शांतिको अपना लक्ष्य बनाना और फिर उसे ही भंग करनेके लिये तत्पर होना परस्पर-विरोधी आचरण है। यदि हम यह मान भी लें कि शांति-स्थापनके लिये पहिले अशांतिकी—युद्ध करनेकी—आवश्यकता है तो भी हमारा सन्तोष नहीं होता। पहिले तो इस उन्नत बीसवीं शताब्दीमें, जब व्यक्तिगत तथा देश-गत स्वतन्त्रताके सिद्धांत इतने व्यापक और सर्वमान्य समझे जाते हैं, यह कभी उचित न होगा कि शारीरिक बल-प्रयोग-द्वारा कोई देश किसी सिद्धान्तविशेषको माननेके लिये बाध्य किया जाय। यह बात जितनी ही नीति-शास्त्रके विरुद्ध है, उतनी ही वर्तमान स्वतन्त्रता-विषयक विचारोंके विरुद्ध है। फिर, इस प्रकारसे प्राप्त की गयी शांति अधिक समय तक ठहर भी तो नहीं सकती। जो बात स्वेच्छापूर्वक न मानी जाय, केवल दबावके कारण स्वीकृत कर ली जाय, उसका

अनुपालन सदा नहीं किया जा सकता। दबाव हटतेही या अन्य सुअवसर मिलतेही उसका भंग होना अनिवार्य है। अतः समुद्रोंकी स्वतंत्रताका प्रश्न यदि किसी प्रकार हल हो सकता है तो केवल सब देशोंकी स्वीकृतिसे और इसी उद्देश्यको लेकर वाशिंगटनका सम्मेलन किया जा रहा है।

यदि संसारके सभी मुख्य मुख्य देश मिलकर एक मुखसे समुद्रोंकी स्वतंत्रता स्वीकार करलें तो रण-सामग्री घटानेका प्रश्नभी हल हो जाय और जगत्में स्थायी शान्तिकी आशा भी की जा सके। जब तक बड़ी बड़ी सेनाएं और बड़े बड़े जहाज प्रस्तुत करनेमें चढ़ा-ऊपरी चलती रहेगी एवं इस प्रकार रण-सामग्रीकी मात्रामें उत्तरोत्तर वृद्धि होती जायगी, तब तक संसारमें चिर-शान्तिकी आशा दुराशामात्र है। उसी प्रकार जबतक सब देशों-को समुद्रोंकी स्वतन्त्रता और सुरक्षितताका दृढ़ विश्वास न हो जायगा तबतक रण-सामग्रीकी मात्रामें घटी नहीं हो सकती।

हम देखते हैं कि जिस प्रकार संसारकी शान्ति रण-सामग्रीकी मात्रापर निर्भर है, उसी प्रकार रण-सामग्री समुद्रोंकी स्वतन्त्रतापर निर्भर है; अतः यह कहना भी असंगत नहीं है कि जगद्-व्यापी अमनके लिये समुद्रोंकी स्वतन्त्रता परमावश्यक है। फिर, ये तीनों प्रश्न परस्परावलम्बी होते हुए अन्तमें भिन्न भिन्न राष्ट्रोंकी स्वीकृतिपर निर्भर हैं। यदि स्वार्थवश कुछ देश समुद्रोंकी स्वतंत्रता माननेको तैयार न हों और अपनी जहाजी शक्ति कम न करें तो संसारकी शान्तिका प्रश्न हल न हो सकेगा। संयुक्त राज्य ( अमेरिका ) के राष्ट्रपति श्री हार्डिंग महोदयने भिन्न भिन्न देशोंके प्रतिनिधियोंका आवाहन कर इस समस्याका निपटेरा करनेके लिये अच्छा मौका दिया है।

समुद्रोंकी स्वतंत्रता तथा निःशस्त्रीकरणका प्रश्न सन्तोषजनक रीतिसे सुरझ जायगा, ऐसी आशा कदाचित् अभी नहीं की जा सकती। फिर भी सम्मेलनका कुछ न कुछ अच्छा परिणाम ही होगा और यथासमय इस उद्देश्यकी प्राप्ति भी हो सकेगी, ऐसा विश्वास न करनेका कोई प्रबल कारण नहीं दिखता।

पृथिवीके सारे देशोंमेंसे अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा जापान, इन तीन देशोंकी ही नौ-शक्ति विशेष प्रबल है। अतः यदि ये तीनों देश समुद्रोंकी स्वतंत्रता स्वीकार करलें और उनकी सुरक्षाका उचित प्रबन्ध करनेके पश्चात् अपने जहाजों इत्यादिकी संख्या कम कर दें तो फिर ऐसा कोई देश नहीं जो उनके कार्यमें बाधा डाले और इस सार्वभौमिक प्रश्नको हल न होने दे। इनमेंसे अमेरिकाकी प्रवृत्ति तो प्रत्यक्ष ही निःशस्त्रीकरणके पक्षम देख पड़ती है। वह तो यह चाहता ही है कि सारे समुद्र-मार्ग स्वतंत्र समझे जायँ। रहे इंग्लैण्ड और जापान, सो जापानका भी मान जाना उतना कठिन नहीं है। यह सच है कि कमसे कम प्रशान्त महासागरमें जापान अपना ही प्रभुत्व चाहता है तो भी यदि इंग्लैण्ड और अमेरिका समुद्रोंकी स्वतंत्रताके पक्षमें हो जायँ तो जापान भी संभवतः राजी हो जायगा। किन्तु इंग्लैण्ड समुद्रोंकी स्वतंत्रता माननेको तैयार होगा या नहीं, इसमें सन्देह है।

## स्वार्थ

इस छोटेसे द्वीपका वाणिज्य आज सारे संसारमें फैला हुआ है। अतः सभी प्रधान प्रधान मार्गोंकी देख-रेख उसने अपने हाथमें ले रखी है। व्यापारिक प्रभुत्वके अतिरिक्त उसका राजनीतिक उत्कर्षभी खूब चढ़ा-बढ़ा है। इस कारण भी समुद्र मार्गोंकी रक्षाका प्रबन्ध उसने अपनेही जिम्मे रखा है। यदि जरूरतके समय कोई समुद्रमार्ग बन्द हो जाय या कण्टक-पूर्ण हो जाय तो उसे व्यापारिक हानि ही न उठानी पड़े, प्रत्युत संभव है राजनीतिक विपत्तिका भी सामना करना पड़े। यों तो इंग्लैण्डकी जलशक्ति बहुत पहिले ही उन्नत होने लगी थी, पर जबसे भारतवर्षका व्यापार तथा शासन उसके हाथमें आया है तबसे वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी है। इंग्लैण्डको अपने इस गौरवका बड़ा अभिमान है और उसने इसे अपने सुप्रसिद्ध जातीय गानमें भी स्थान दे रखा है—"

**जलधि-तरंगोंपर भी शासन करता है ब्रिटेनिया देश।**

कौन कह सकता है कि इंग्लैण्ड अपना यह चिरप्राप्त गौरव सहजमें ही छोड़ देगा? क्या वह दूसरोंके कहनेसे अपने स्वार्थको, अपने व्यापारको, अपने विस्तृत साम्राज्य-को इस प्रकार जोखिममें डालनेको तैयार हो जायगा? ऊपरसे कोई कितना ही परमार्थी क्यों न बने किन्तु वर्त्तमान राजनीतिको देखकर हम कह सकते हैं कि वह वास्तवमें अपने स्वार्थके अतिरिक्त दूसरी बात विचार नहीं सकता। यही हमारे संदेहका कारण है। हम यह नहीं कहते कि इंग्लैण्ड ही इतना स्वार्थी है। यदि आज अमेरिका या जापान ठीक उसी स्थिति-में होते जिसमें इंग्लैण्ड है तो बहुत संभव है कि वे भी समुद्रोंकी स्वतन्त्रता स्वीकार करने-में आगा पीछा करते।

हम इस लेखके प्रारंभमें दिखला चुके हैं कि अमेरिका युरोपीय युद्धमें सम्मिलित होनेके पूर्वसे ही समुद्रोंकी स्वतन्त्रताका पक्ष लेता रहा है। रणसामग्री घटानेपर भी उसने काफी जोर दिया है। फिर भी जहाजों इत्यादिका बनवाना कम करनेके बजाय वह उनकी संख्या तथा शक्तिमें अधिकाधिक वृद्धि करता जा रहा है। इसका कारण यही है कि अमेरिका हृदयसे चाहे कितने ही उदार विचारों वाला क्यों न हो, पर वास्तवमें वह भी वर्त्तमान राजनीतिक चालोंमें फँसा हुआ है। उसे यह भय लगा हुआ है कि यदि मैं अपनी जहाजी शक्ति कम किये देता हूं तो एक ओरसे इंग्लैण्ड और दूसरी ओरसे जापान कहीं मेरे स्वत्वोंको दबानेकी फिक्र न करने लगें। उधर अमेरिकाकी तैयारियां देख कर जापान भी चिन्तित है कि कहीं मेरे पड़ोसमें अमेरिका हाथ न बढ़ा बैठे। यही दशा इंग्लैण्डकी है। इस पारस्परिक अविश्वास और वर्त्तमान राजनीतिक चालोंको देख कर कभी कभी सार्वभौमिक शान्तिकी आशा एक सुखमय स्वप्नसा प्रतीत होने लगती है। किन्तु फिर यह सोच कर धैर्य होता है कि युद्धके परिणामोंको देखकर एवं वर्त्तमान रण-सामग्रीके कारण उत्पन्न आर्थिक सकटोंका ख्याल कर मनुष्यको थोड़ा बहुत चेत अवश्य होगा और वह सार्वभौमिक शान्तिमें ही अपनी भलाई समझ कर उसीके लिये प्रयत्न करेगा।

## समुद्रोंकी स्वतंत्रताका प्रश्न ।

हम यह मानते हैं कि समुद्रोंका आधिपत्य त्यागनेमें तथा अपनी नौ-शक्ति कम करनेमें इंग्लगडकी यह शंका स्वाभाविक ही है कि ऐसा करनेसे व्यापारिक तथा राजनीतिक आपत्तिकी संभावना है। किन्तु स्वाभाविक होनेके ही कारण वह सत्य नहीं मानी जा सकती। उसकी शक्ति इतनी प्रबल है कि यदि वह कुछ कम कर दी जाय तो भी बलवती बनी रहेगी। फिर समुद्रोंका आधिपत्य त्याग देनेका यह आशय तो है ही नहीं कि उनपर दूसरोंका कब्जा हो जाय। वे किसी देश-विशेषके अधीन न रह कर सबके लिये खुले रहेंगे और उनकी रक्षाका भार समस्त राष्ट्रोंके संघपर रहेगा। जिस प्रकार आज इंग्लैगडके जहाज स्वच्छन्दरूपसे विचर सकते हैं वैसेही समुद्रोंकी स्वतन्त्रता स्वीकार करनेके बाद भी विचर सकेंगे। अतः इसमें इंग्लैगडको कोई हानि न उठानी पड़ेगी, साथ ही अन्य देश भी उन्नति-मार्गमें अग्रसर हो सकेंगे। यदि क्षणभरके लिये यह मान भी लिया जाय कि समुद्रोंका वर्त्तमान आधिपत्य त्याग देनेसे इंग्लैगडका अहित होगा तो भी संसारकी शान्तिके निमित्त, मानव जातिके कल्याणके लिये और अन्तमें अपनी भी परम भलाईके विचारसे उसे यह थोड़ीसी एवं अल्प कालीन हानि सहनेके लिये तैयार रहना चाहिये। जो इंग्लैगड सैकड़ो वर्षोंसे अपने जल-प्रभुत्वके कारण बराबर लाभ उठाता चला आ रहा है, उसे आज यदि किञ्चित हानि भी उठानी पड़े तो कोई बड़ी बात नहीं है। यदि संसारकी शान्तिका रक्षक बननेका दावा करने वाला एवं समुद्रोंके नियंत्रणको अपनी बपौती समझने वाला इंग्लैगड स्वार्थान्ध न हो कर इस विकट समस्याके हल करनेमें सहायक हुआ तो अवश्य वाशिंगटनके सम्मेलनका कुछ अच्छा ही परिणाम होगा। अन्यथा उससे किसी विशेष लाभकारी बातकी आशा करना इस समय दुःसाहसकी बात होगी। रणसामग्रीके असहनीय खर्चके भारसे दबता जाने वाला सारा संसार आज टकटकी लगाकर इस सम्मेलनकी ओर देख रहा है। ईश्वर करे सम्मेलन अपने उद्देशोंमें कृतकार्य हो!

**भारतीय ।**

# पुस्तकावलोकन ।

## मुहम्मद ।

१—यह पुस्तक जबलपुर ( मध्यप्रान्त ) से प्रकाशित होने वाली शारदा-पुस्तक-मालाका तीसरा ग्रन्थ है। इसके लेखक हैं श्रीयुत शिवनारायणजी द्विवेदी । पृष्ठ-संख्या १६० और मूल्य, लागतके अनुसार सादी जिल्दका ॥।=) तथा कपड़ेकी जिल्दका १=) है।

इस पुस्तकमें इसलाम धर्मके प्रवर्त्तक, मुसलमानोंके पैगम्बर मुहम्मद साहबका जीवन-चरित्र दिया गया है। सम्पादकीय वक्तव्यमें कहा गया है कि "हिन्दू और मुसलमानोंकी इस एकताके युगमें उदाराशय हिन्दूओंका यह कर्त्तव्य है कि वे अपने मुसलमान देश-भाइयों-के धर्म-सिद्धान्त जानें और उनके प्रति अपनी सहानुभूतिपूर्ण सम्मिति प्रकट करें।" हम हृदयसे इन पंक्तियोंका अनुमोदन करते हैं। हमतो यहां तक कहेंगे कि यदि आज देश-के सौभाग्यसे हिन्दुओं और मुसलमानोंमें ऐक्य स्थापित न भी हुआ होता तो भी संसारकी इतनी बड़ी आत्माका जीवन-चरित्र किसी प्रकार कम मूल्यवान न समझा जाता। वर्त्तमान युगमें तो वह और भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके विचार सहानुभूतिपूर्ण मस्तिष्कसे प्रसूत हुए हैं और वें सुन्दर, रोचक भाषामें प्रकट किये गये हैं। कई स्थलोंपर इसकी सुरम्य शब्दावली और अविछिन्न धाराप्रवाह देखकर सहसा ऐसी धारणा होती है, मानों हम बँगला साहित्यके किसी सुन्दर उपवनमें भ्रमण कर रहे हैं।

संसारमें जितने महापुरुष और जितने सुधारक हुए हैं, प्राय: सभी अपने समयमें प्रचलित सामाजिक दोषों तथा अन्य कुप्रथाओंके कारण दु:खित हुए हैं। मुहम्मद-का भी यही हाल था। उनके हृदयमें भी घोर विप्लव प्रारम्भ हुआ। वे उन्मत्त मनुष्यकी नाईं परमात्माको खोजने लगे। पतिप्राणा, सती साध्वी सहगामिनी खादिजाके स्नेहसे भी उन्हें शान्ति न मिली। निदान अत्यन्त निराश और विह्वल होकर वे पर्वत-शिखरसे कूद कर अपने दु:खी प्राणोंका अन्त करनेके लिये उद्यत हुए, "पर इसी समय पीछेसे खादिजाने उन्हें पकड़ लिया। तीखी तलवारकी धारसे सिर कट जाने पर धड़ जैसे तड़पता है, वैसे ही मुहम्मद खादिजाकी गोदमें तड़पने लगे।" निदान एक दिन सहसा उनका हृदय प्रकाशित हो उठा। मुहम्मद जिसे खोजते थे उसे पाकर बड़े प्रसन्न हुए। अब भगवान् बुद्धकी नाईं वे भी इस नूतन आलोकको मानव-जातिमें फैलानेके लिये समुत्सुक हो उठे। उन्होंने भी सर्वप्रथम अपने परिवारसे ही यह कार्य प्रारम्भ किया। इस कार्यमें उन्हें जिन जिन आपत्तियोंका सामना करना पड़ा है, उन सबका बड़ा ही विशद वर्णन

## पुस्तकावलोकन ।

इस पुस्तकमें ( विशेष कर पृष्ठ ४७ से ७७ तक ) दिया गया है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुहम्मद साहबकी यह जीवनी पढ़ने और संग्रहके योग्य है । छपाई इत्यादि सन्तोष-जनक है "व्यवस्थापक" श्री शारदापुस्तकमाला, गोपाल-निवास, जबलपुरको पत्र लिखनेसे मिल सकेगी ।

### *अमरीकन संयुक्त-राज्यकी शासन-प्रणाली ।*

२—यह पुस्तकभी उक्त ग्रन्थमालामें ही प्रकाशित हुई है । इसके लेखक बाबू देवीप्रसाद गुप्त ( कुसुमाकर ) बी० ए०, एल० एल० बी० हैं । पृष्ठसंख्या २०८ तथा मूल्य १।), कपड़ेकी जिल्द १॥=) ।

जिसप्रकार ऊपरकी पुस्तक विशेषकर ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्वपूर्ण है, इसी प्रकार यह पुस्तक राजनीतिक दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी है । इसमें अमरीकाकी उन्नत शासन-प्रणाली और वहांकी राजनीतिक व्यवस्थापर अच्छा प्रकाश डाला गया है । जब इंग्लैण्ड, फ्रांस इत्यादि स्वतन्त्र और सुसभ्यदेश तकके लोग अमरीकाकी शासन-व्यवस्थाका ज्ञान प्राप्त करना और उससे कुछ शिक्षा ग्रहण करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं तो भारतके समान परतंत्र और पिछड़े हुए देशके लिये तो उसकी जानकारी हासिल करना और भी आवश्यक है । आशा है देशकी वर्तमान राजनीतिक आकांक्षाओंकी बढ़तीके समय लोग इस पुस्तकसे विशेष लाभ उठा सकेंगे । इस पुस्तकका प्राप्ति-स्थान भी वही है जो पहिली पुस्तकका है ।

### *महाराणा प्रतापसिंह ।*

३—इसके लेखक हैं पंडित चन्द्रशेखर पाठक और प्रकाशक श्री निहालचन्द्रवर्मा नं० १, नारायण प्रसाद लेन, कलकत्ता । पृष्ठसंख्या १७४, मूल्य १।), रेशमी जिल्दका १॥।) ।

हम सहर्ष इस पुस्तकका स्वागत करते हैं । मेवाड़-केशरी राणा प्रतापसिंहके सम्बन्धमें हिन्दी साहित्यमें कई पुस्तकें निकल चुकी हैं । इनमेंसे कुछ उच्च कोटिकी भी हैं । प्रस्तुत पुस्तककी गणना भी उसी श्रेणीमे की जासकती है । कल्याणमयी पवित्र मेवाड़-भूमिकी गौरवगाथा पढ़कर किसकी छाती न फूल उठेगी ? इस स्वतंत्रता-प्रेमी दुर्दान्त वीरके चरित्रसे हिन्दी पुस्तकोंके जितने अधिक पृष्ठ रंगे जायँ उतनाही अच्छा है । परतंत्रता-की बेड़ियां पहिन कर सुखकी नींद सोनेवालोंको कर्त्तव्य-पथ दिखलानेके निमित्त घर घर ऐसी पुस्तकोंके प्रचारकी आवश्यकता है । इस पुस्तककी वर्णन-शैली मनोरंजक है और भाषाभी अच्छी है । छापेकी छोटी मोटी भूलें होते हुए भी पुस्तक सब प्रकारसे उपादेय है ।

### *गांधी-सिद्धान्त ।*

इसके सम्बन्धमें आश्विन १९७७ के अंकमें जो सम्मति दी जा चुकी है, उसीका समर्थन

हम फिर करते हैं । पुस्तककी उपयोगिता तो इसीसे प्रकट होती है कि हिन्दीमें इसी पुस्तकके तीन तीन अनुवाद प्रचलित होने पर भी इस थोड़े समयके बाद ही इसके दूसरे संस्करणकी आवश्यकता पड़ी । इस बार एक परिशिष्ट भी जोड़ दिया गया है । भाषा, छपाई, जिल्द इत्यादि सब बातें सन्तोषपूर्ण हैं । मूल्य सादीका ॥) और सजिल्दका १) । मिलनेका पता " निहालचन्द्र वर्मा, नं० १ नारायण प्रसाद लेन, कलकत्ता । "

## हिन्द–स्वराज्य ।

गांधी सिद्धान्तकी नाईं यह पुस्तक भी महात्मा गांधीके 'हिन्द स्वराज्य' का हिन्दी अनुवाद है । इसमें भी उन्हीं विषयोंका प्रतिपादन किया गया है जिनका ऊपरकी पुस्तकमें किया गया है । अतः जो सम्मति गांधी-सिद्धान्तके विषयमें दी गयी है, वही प्रस्तुत पुस्तकके लिये दी जासकती है । इसकी भी छपाई तथा भाषा सन्तोष पूर्ण है । पृष्ठ संख्या ९१ और मूल्य ।=) है ।

ये पुस्तकें भी मिल गयीं । भेजने वालोंको धन्यवाद ।

१. असहयोग या तर्के तअल्लुक, मूल्य =)
२. अदालतोंका इन्द्रजाल, मूल्य )॥
३. सूतके धागेमें स्वराज्य, मूल्य )॥
४. असहयोग अर्थात् आत्मशुद्धि, मूल्य )।

प्रकाशक, हिन्दी-पुस्तक एजन्सी,
१२६, हरिसनरोड-कलकत्ता

# सम्पादकीय ।

## चीन और जापान ।

संवत् १९५९ में पहिले-पहिल अंग्रेज-जापानी सन्धिकी आयोजना की गयी थी, क्योंकि उस समय कोरियापर रूसके आक्रमणकी आशंका थी। संधिकी प्रधान शर्तें थीं--(१) पूर्वमें शान्ति बनाये रखना (२) चीन तथा कोरियाकी रक्षा करना एवं उनकी आजादी कायम रखना (३) इन देशोंमें स्वच्छन्द प्रवेश पानेका प्रबन्ध करना (४) युद्ध छिड़नेपर कोई किसीकी सहायता न करे और दूसरोंको उसमें शामिल होनेसे रोके। संवत् १९६८ में यह संधि फिर दोहरायी गयी और अब फिर उसपर विचार हो रहा है। इस बार उसे स्वीकार करनेमें जो बाधाएँ हैं, उसका संक्षिप्त वर्णन हम श्रावणके अंकमें कर चुके हैं। यह प्रश्न अभी तक हल नहीं हुआ है। सम्भव है वाशिंगटन-सम्मेलनके बाद इसका फैसला हो।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उक्त संधिसे इंग्लैण्डने बहुत लाभ उठाया है, पर उसके कारण जापानकी तो और भी अधिक बन आयी है। आज कोरिया, मञ्चूरिया, फारमोसा, साखलिन और शानतुंग उसके कब्जेमें हैं और चीनकी राजनीतिक, आर्थिक तथा सैनिक व्यवस्थामें भी उसका हाथ है। जापान इतनेहीसे सन्तुष्ट नहीं है। वह मंगोलियाको भी सतृष्ण नेत्रोंसे देख रहा है। चीनकी उपजाऊ भूमि और खनिज पदार्थोंकी अधिकता देखकर जापानकी नीयत बिगड़ गयी है। यदि अंग्रेज-जापानी संधि फिर दोहरायी गयी तो जापानको अपने पांव फैलानेका मौका फिर हाथ लगेगा। किन्तु अब चीन भी जाग उठा है और उधर अमेरिका भी जापानकी काररवाइयोंपर अपनी निगाह जमाये हुए है। अतः यदि अंग्रेज-जापानी संधिकी पुनरावृत्ति की गयी तो चीन और अमेरिका दोनोंका ही असन्तुष्ट होना अनिवार्य है। हम देखते हैं कि आज कल प्रशान्त महासागरका प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण, साथही साथ बहुत जटिल हो गया है। इस कारण यह संभव नहीं कि यहां किसी भयंकर दुर्घटनाका विभ्राट होनेपर इंगलैण्ड अपनेको उदासीन रख सके। किसी न किसी देशका साथ उसे देनाही होगा। यदि जापान और अमेरिकामें युद्ध छिड़ जाय तो अंग्रेज किसका साथ देंगे? उसी प्रकार यदि चीन और जापानमें खटापटी हो जाय तो इंग्लैण्ड किसका पक्ष ग्रहण करेगा? एक ओर कुआं है तो दूसरी ओर खाई। इंग्लैण्डके लिये दोनोंही पक्षोंको सन्तुष्ट रखना आवश्यक है। वह आजकल इसी दुविधामें पड़ा हुआ है।

जापानने अंग्रेजोंकी जो कुछ सहायता की है, वह महत्वपूर्ण होते हुए भी स्वार्थ-से कभी खाली नहीं रही। जापान आजकल खूब उन्नत दशामें है। उसकी आबादी बढ़ रही है। वह संसारके अन्य देशोंमें अपने छोटे छोटेसे उपनिवेश बनाना चाहता है।

किन्तु अमेरिका एवं आस्ट्रेलियामें एशिया वासियोंके सम्बन्धमें जो कानून बने हैं, उनके कारण जापानकी इस महत्वाकांक्षामें बाधा पड़ती है। अतः वह इन देशोंके ऐसे कानून बनानेके अधिकारको नहीं मानता। पर मजा तो यह है कि जो जापान अमेरिका इत्यादिमें अप्रतिबद्ध प्रवेश पानेके लिये झगड़ रहा है वही जापान चीन बासियोंको अपने राज्यमें घुसने नहीं देता! जो सुविधाएं वह चीनको नहीं दे रहा है, वही वह अमेरिकासे मांगता है। चीनके प्रति उसका यह व्यवहार कभी न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता। निःशस्त्रीकरण सम्मेलनमें जापानके प्रतिनिधि भी उपस्थित रहेंगे और चीनके भी। इंग्लैण्ड, अमेरिका, आस्ट्रेलिया इत्यादि भी उसमें शामिल होंगे। देखें ये लोग किस प्रकार इस विकट प्रश्नका निपटारा करते हैं।

## गेहूँकी महँगी

इधर गत कई मासोंसे गेहूंका भाव बहुत चढ़ गया है। सरकारका कहना है कि लोगोंका यह ख़याल ग़लत है कि यूरोप आदि बाहरी स्थानोंको अधिक गेहूं भेजनेके कारण ही यह परिस्थिति उत्पन्न हुई है। इस सम्बन्धमें केन्द्रस्थ सरकारने ३० भाद्र ( १६ सितम्बर ) को शिमलेसे एक विज्ञप्ति प्रकाशित की थी। उसमें कहा गया था कि भारतके बाहर जो कुछ थोड़ा बहुत गेहूं भेजा गया था वह प्रधानतया हिन्द महासागरके कुछ स्थानोंके लिये ही था। सिंहलद्वीप, मुहानेकी बस्तियां, मारिशस, ब्रिटिश पूर्व अफ्रिका, अदन, स्यामदेश, पोर्तगीज पूर्व अफ्रिका इत्यादि देशोंको ही गेहूंकी रफ्तनी की गयी थी। इनमें स्याम देशको छोड़कर अन्य सब स्थानोंके अधिकांश निवासी भारतवासी ही हैं। महीनेमें कुल ६४६ (?) टन अर्थात अनुमान १८ हजार मन गेहूं एवं ४६६० टन अर्थात् अनुमान १ लाख ३८ हजार मन आटा बाहर भेजा जा सकता है। सरकार तो यहां तक कहती है कि गत तीन वर्षोंसे यूरोपको बाजरा, जुवार, चना, मका, गेहूं इत्यादि सभी अनाजोंका भेजना सख्तीके साथ रोक दिया गया है। सरकारका कहना कहां तक सच है, यह तो वही जाने, पर हम इतना जरूर कह सकते हैं कि केवल इस उत्तरसे हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते। इस प्रकार हमारे भ्रम-निवारणकी चेष्टामात्रमें ही सरकारके कर्त्तव्यकी इतिश्री नहीं हो जाती। यदि हमारा उक्त अनुमान गलत है तो सरकारको इस महंगीका वास्तविक कारण बतलाना चाहिये और उसे दूर करनेका सच्चा प्रयत्न कर अपनी प्रजाहितैषिता प्रकट करनी चाहिये। कोरी विज्ञप्तियोंसे कुछ न होगा।

केन्द्रस्थ सरकारकी इस विज्ञप्तिके बाद, मिती १२ आश्विन ( २८ सितम्बर ) को संयुक्त प्रान्तके श्री मिलनर महाशयने भी इस सम्बन्धमें अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की है। आपने गेहूंकी महंगीका कारण वर्तमान वर्षकी फसलको ही ठहराया है। इस वर्ष देशभरमें सदाकी अपेक्षा ६½ करोड़ मन फसल कम पैदा हुई अर्थात् कुल ३४ फी सैकड़ेकी घटी रही। पर इस उत्तरसे भी हमारी शंकाका समुचित समाधान नहीं होता। यदि फसलकी

## सम्पादकीय ।

कमी ही वर्त्तमान महंगीका कारण है तो गेहूंका मूल्य क्रमश: या स्थिर-गतिसे बढ़ना चाहिये। वह सहसा क्यों बढ़ गया ?

मिलनर महोदय कहते हैं कि इस वर्ष पंजाबमें खासकर फसल कम हुई। उसके बाद संयुक्त प्रान्तका नम्बर है। पंजाबमें चार करोड़ और संयुक्त प्रान्तमें पौने दो करोड़ मन फसल कम पैदा हुई। फल यह हुआ कि पंजाबने संयुक्तप्रान्तको गेहूं भेजनेके बजाय और उलटे यहांसे मंगाना शुरू किया। गत वर्ष वैशाख-जेठ-असाढ़में पंजाबने ७½ लाख मन गेहूं संयुक्तप्रान्तको भेजे थे और बदलेमें सिर्फ ८५ हजार मन गेहूं ही पंजाब गया। किन्तु इस वर्ष उन्हीं महीनोंमें पंजाबसे ७६ हजार मन गेहूं यहां आया और यहांसे ४ लाख ११ हजार मन पंजाबको गया। श्रावण तथा भाद्रमें तो और भी अधिक गेहूं युक्तप्रान्तसे भेजा गया। यद्यपि मिलनर महोदय कहते हैं कि यह सब गेहूं वहांके निवासियोंके लिये ही भेजा गया, करांची तक बहुतही कम अंश पहुंचा—तात्पर्य यह कि यूरोप इत्यादिको गेहूं नहीं भेजा गया—तो भी हमारे ख्यालसे इस प्रकारकी बेहिसाब रफ्तनी भी तो नहीं ठीक समझी जा सकती। एक तो इस प्रान्तमें योंही पैदावार कम हुई, दूसरे इस प्रकारकी ढोआ-ढाईके कारण और भी गजब हो गया। ऐसी हालतमें उचित यही था कि उन प्रान्तोंसे गेहूं मंगानेका प्रबन्ध किया जाता जहां साधारणसे कुछ अधिक गेहूं पैदा हुआ हो। इस रिपोर्टसे यह पता नहीं चलता कि पंजाबके सिवाय अन्य प्रान्तोंसे कितना गेहूं यहां आया एवं यहांसे अन्य प्रान्तोंको कितना गेहूं भेजा गया। हम बहुधा देखते हैं कि देशके लाखों करोड़ों मनुष्य एक पेट भोजनके लिये भी तरसते हैं, मगर बाहर गेहूं धड़ाधड़ जाता ही रहता है। अन्तमें परिणाम वही होता है जो होना चाहिये। जिस वर्ष फसल कम पैदा हुई, उसी वर्ष अकालकी विपत्ति उपस्थित हो जाती है और आस्ट्रेलिया इत्यादिसे गेहूं मंगानेके लिये बाध्य होना पड़ता है। यदि सुकालके समय पैदा हुआ अनाज कमसे कम तब तक बाहर न भेजा जाय जब तक नया अनाज कटकर घरमें न जाय तो कभी ऐसी हालत नहीं हो सकती। पर भारतकी तो दशा ही विचित्र है। यहांके लोगोंका अनाज बेचे बगैर भी तो नहीं चलता। ईश्वर ही देशकी रक्षा करे।

### यूरोपका आर्थिक संकट।

विगत महायुद्धके कारण आज सारे यूरोपमें जो विकट आर्थिक कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयी हैं उनका अनुमान कमसे कम समाचारपत्र पढ़नेवाले पाठक तो अवश्य ही आसानीसे लगा सकते हैं। अरबोंकी सम्पत्ति लड़ाईमें फूँक देनेका जो परिणाम हो सकता था, वही हुआ। ऋणका भार इतना अधिक बढ़ गया है कि जिसका कोई ठिकाना नहीं है। न मालूम यह ऋण बीस वर्षमें चुकता है या चालीस वर्षमें, अथवा कभी चुकेगा या यों ही बना रहेगा। अमेरिकाका जो कर्ज इस समय फ्रांस, इटली इत्यादि देशोंके मत्थे पड़ा है, उसकी तादाद दस अरब डालर अर्थात् अनुमान तेंतीस अरब रुपये हैं। [इसका

विस्तृत विवरण "ज्ञातव्य विषय तथा अंक" शीर्षकके नीचे देखिये।] इसी कर्जको चुकानेके लिये नाना उपायोंका अवलम्बन किया जा रहा है, किन्तु उनके कारण परिस्थिति और भी बिगड़ गयी है। ऋण चुकनेके लक्षण दृष्टि-गोचर होते ही नहीं हैं, और उलटे व्यर्थ ही प्रजा उत्पीड़ित हो रही है। सब प्रकारके करोंकी वृद्धि होती जाती है। जीवनकी अत्यन्त आवश्यक वस्तुओंतककी कीमत अभीतक साधारण अवस्थाको प्राप्त नहीं हुई। ऋणकी मात्रा अधिक हो जानेके कारण वहाँके देशोंकी साख भी कम हो गयी है। अतः व्यापारकी गतिमें बहुत शिथिलता आगयी है। व्यापारकी उन्नति रुक जाने और उसका विस्तार कम हो जानेके कारण देशकी आमदनी भी नहीं बढ़ सकती। हजारों लाखों आमदनी बेकार हो गये हैं। अकेले इंग्लैंडमें ही बेकार मनुष्योंकी संख्या कई लाखपर है। यदि समस्त यूरोपकी बेकारीका हिसाब लगाया जाय तो न जाने उसका क्या परिमाण हो। खाने-पीनेके पदार्थोंके मूल्यके साथ साथ मजूरी भी बढ़ गयी है। किन्तु आफत तो यह है कि अधिक मजूरी पाकर भी रोजके काम आनेवाली सभी वस्तुएँ खरीदना कठिन हो रहा है।

यों तो गत महासमरके दुष्परिणामोंका असर सारे संसारमें ही व्याप रहा है, फिर भी उनके कारण यूरोपमें जो स्थिति उत्पन्न हो गयी है, वह उसी भयंकररूपमें संसारके अन्य भागोंमें नहीं देख पड़ती। किन्तु ऐसे घोर आर्थिक संकटके समय भी जब हम यह देखते हैं कि प्रजाके असीम दुःखोंकी परवाह न करके वहाँके राजपुरुष अभी तक सैनिकोंके पीछे बे-हिसाब रुपया खर्च करते चले जाते हैं, जब हम सैनिक-व्ययको घटते न पाकर कहीं कहीं उसे बढ़ते हुए तक देखते हैं, तब हमें बड़ा आश्चर्य होता है। उनके विचित्र मस्तिष्ककी थाह पाना हमारे लिए कठिन हो जाता है। हम बड़े परिश्रमके साथ उनकी चालें समझनेकी कोशिश करते हैं, मगर अन्तमें विफल-मनोरथ होकर ही रह जाते हैं।

फ्रांस इस समय अनुमान एक अरब रुपयेका कर्जदार है, किन्तु आज उसका सैनिक व्यय कितना है, यह जानकर आश्चर्य होगा। युद्धके समय जो सैनिक व्यय होता था आज उसमें कोई भी कमी नहीं हुई। आप सुनकर हैरान होंगे, पर सच बात तो यह है कि फ्रांसका सैनिक-व्यय घटनेके बदले बढ़ गया है। पहिलेकी अपेक्षा अब वह करीब करीब पाँच छः गुना अधिक है। यद्यपि हम यह मानते हैं कि कई वस्तुओंका मूल्य अब युद्ध-कालकी अपेक्षा बढ़ गया है, अतः सैनिक-व्ययमें कुछ न कुछ वृद्धि अनिवार्य थी, तो भी शान्तिके दिनोंमें एवं इस कठिन आर्थिक संकटके समय उसमें इतनी बे-हिसाब बढ़ती देखकर जितना आश्चर्य होता है, उतना ही इन "सुसभ्य" देशोंकी बुद्धिमत्तापर रहम भी आता है। ईश्वर ही ऐसे राजपुरुषोंकी सत्ता और उनके जटिल राजनीतिक विचारोंसे गरीब प्रजाजनोंकी रक्षा करे।

### दमनविधानोंकी जांच।

भारतमें प्रचलित दमन-विधानोंकी जाँच करनेके लिए जो समिति बनायी गयी

थी, उसका विवरण प्रकाशित हो गया है । समितिने नीचे लिखे हुए कुल तेरह विधानोंके सम्बन्धमें विचार किया था—

१. सन् १८०४ का बंगाल स्टेट आफेन्सेज़् रेगुलेशन (बंगालके राजनीतिक अपराधोंका क़ानून) ।
२. सन् १८०८ वाला मद्रासका तृतीय विधान।
३. सन् १८१८ वाला बंगाल स्टेट प्रिज़नर्स रेगुलेशन् (बंगालके राजनीतिक क़ैदियोंका क़ानून) ।
४. सन् १८१६ वाला मद्रासका दूसरा रेगुलेशन ।
५. सन् १८२७ वाला बम्बईका पचीसवां रेगुलेशन ।
६. सन् १८५८ का स्टेट प्रिजनर्स एक्ट (राजनीतिक अपराधियोंका क़ानून)
७. सन् १८५७ का स्टेट आफेन्सेज़् एक्ट ।
८. सन् १८५७ फारफीचर एक्ट (ज़ब्तीका कानून) ।
९. सन् १८५८ का स्टेट प्रिज़नर्स एक्ट ।
१०. सन् १९०८ का इण्डियन क्रिमिनल ला एमण्डमेण्ट एक्ट (भारतके फौज़दारी क़ानूनका संशोधन विधान) ।
११. सन् १९११ का प्रिवेन्शन आफ् सिडीशस मीटिंग्ज़ एक्ट (राजविद्रोही सभाओंको रोकनेका क़ानून) ।
१२. १९१५ डिफेन्स आफ इण्डिया एक्ट (भारत-रक्षा-विधान) ।
१३. सन् १९१९ का अनार्किकल एण्ड रिवाल्यूशनरी क्राइम्स एक्ट (अराजकता तथा विप्लवकारी अपराधोंके सम्बन्धका क़ानून या रोलट एक्ट) ।

इस कमिटीने जो मत प्रगट किया है उसका सारांश यह है कि प्रथम आठ क़ानूनोंमेंसे तीसरे, चौथे और पांचवेंको छोड़कर शेष पांच क़ानून रद्द कर दिये जायँ । बचे हुए चार क़ानूनोंमें भारत-रक्षा-विधान तथा रोलट एक्ट (ऊपरके बारहवें तथा तेरहवें नम्बरके क़ानून) भी रद्द किये जानेके पक्षमें कमिटीने राय दी है । किन्तु उसने अन्य दो क़ानून—राज विद्रोही सभाओंके सम्बन्धवाला तथा १९०८ के क़ानूनका उत्तरार्द्ध—अभी क़ायम बनाये रखना ही उचित समझा है ।

अब प्रश्न यह है कि दमन-विधानोंका विचारकरनेवाली कमिटीने जनताकी मांगोंको पुरा करनेमें कृतकार्यता प्राप्त की है या नहीं । कमिटीकी सिफारिशोंको जरा सावधानी से पढ़नेपर तथा जिन कानूनोंको दूर करनेकी सलाह उसने दी है उसके महत्त्वका खयाल करनेपर शीघ्र ही इसका उत्तर मिल जाता है ।

हम देखते हैं कि ऊपरके सारे क़ानून दो भागोंमें बाटे जा सकते हैं—एक तो वे क़ानून जो सन् १८५८ के पहिले बनाये गये थे और दूसरे वे जो सन् १९०५ के वंग-भंगके पश्चात् बने थे । पहिली श्रेणीके क़ानून जिस समय बनाये गये थे उस समय

देशमें न तो इतनी जागृति ही हुई थी और न लोगोंमें उतना संगठन ही था। उस समय जनता अपने शासकोंके प्रति मंत्र-मुग्ध सी हो रही थी। उसे अपने स्वत्वोंका ख़याल न था। यही कारण है कि उन क़ानूनोंके पास होते समय उनका विरोध करनेके निमित्त देशमें कोई ज़ोरदार आवाज़ न उठी। किन्तु आज भारतवर्षकी वही हालत नहीं है जो उस समय थी। आज देशमें जो जागृति और स्वत्वोंकी जानकारी देख पड़ रही है, उसके कारण पहिली श्रेणीके प्रायः सभी क़ानून निरुपयोगी और बेकाम हो गये हैं। जिस सीमाके भीतर उनका प्रयोग हो सकता था, देश उसको पार करके आगे बढ़ गया है। एक बात और है। ये सब क़ानून ऐसे समय बने थे जब कि भारतीय दण्ड-विधान-संग्रहका निर्म्माण नहीं हुआ था। जब सन् १८६० में इसकी रचना की गयी तो उसमें ऐसे क़ानून भी शामिल किये गये जिनकी आवश्यकता उस समय तक प्रतीत हो चुकी थी। अतः १८५८ के पहिले जितने क़ानून बने थे, उनका काम निकालने योग्य क़ानूनोंका समावेश भी किसी न किसी रूपमें भारतीय-दण्डविधान-संग्रहमें कर दिया गया। अतः यह स्पष्ट है कि अब उन क़ानूनोंकी कोई आवश्यकता न रही। उनका काम भारतीय-दण्ड-विधान-संग्रहके क़ानूनोंसे बखूबी निकल सकता था। ऐसी हालतमें उन्हें रद्द करनेकी सलाह देकर कमिटीने कोई ऐसा काम नहीं किया जिसके कारण हम उसके सदस्योंकी पीठ ठोक सकें। फिर भी उसे यह साधारण बात सूझ गयी, यह जानकर हमें हर्ष हुआ।

कमिटीके कार्यके महत्त्व की कसौटी, सच पूछो तो, सन् १९०५ के बादवाले चार क़ानून ही थे। इन्हींके सम्बन्धमें उसका मत जानकर हम उसकी सफलता या असफलताका अन्दाजा लगा सकते हैं।

जब हम इन बचे हुए चार क़ानूनोंनी तरफ़ नज़र करते हैं तो हम उन्हेंही विशेषकर जनताके असन्तोषका कारण पाते हैं। यदि कमिटीने इनके रद्द किये जानेकी सलाह दी होती तो हम उसकी संयोजनाको सार्थक समझते यह सत्य है कि इनमेंसे भारत-रक्षा-विधान तथा रोलट एक्टके सम्बन्धमें कमिटीने ऐसाही किया है, किन्तु साथही साथ यह भी तो सत्य है कि युद्ध समाप्त हो जानेके कारण तथा युद्धकालके समयकी विशेष परिस्थितिभी न रहनेके कारण भारत रक्षा-विधानकी अब कोई आवश्यकता न रह गयी उसका रद्द किया जाना और न किया जाना प्रायः बराबरही है। यही हाल रोलट एक्टका है। सारे देशके संयुक्त रूपसे विरोध करनेपर भी वह पास किया गया था। अतः जनता इसके कारण असन्तुष्ट अवश्य थी, किन्तु हम देखते हैं कि विधान-संग्रहमें उसका कोई मूल्य न रह गया था। यद्यपि सर्व शक्तिमान होनेके कारण यहांके अधिकारी-वर्गने अपनी हठ न छोड़ी और उसे पास कर दिया, तो भी उसका प्रयोग करनेका साहस उसे न हुआ। अतः यह विधान भी निरुपयोगी ही था। उसके इतिहासको देखकर हम कह सकते हैं कि जिस दिन उसका जन्म हुआ था उसी दिन उसकी मृत्यु भी हो गयी थी, यद्यपि नामके लिये अब भी उसकी सत्ता मानी जाती है।

## सम्पादकीय ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कमिटीने केवल उन्हीं कानूनोंके रद्द किये जानेके की सलाह दी है जो कानूनकी पुस्तकमें पड़े पड़े सड़ा करते थे और जिनका नाम मात्र अवशिष्ट रह गया था। यद्यपि हम कमिटीके कार्यके महत्वकी अवहेलना नहीं करना चाहते तो भी उसके विवरणको पढ़कर हमें यह कहनेकी इच्छा नहीं होती कि कमिटीने समुचित रूपसे अपने कर्त्तव्यका पालन किया है। हमें इस बातका हर्ष अवश्य है कि कमिटीकी अक्लमें यह बात आ गयी कि अमुक अमुक कानून अनावश्यक और निरुपयोगी हो गये हैं, अत: उन्हें रद्द करना उपयुक्त होगा। किन्तु हम फिर कहते हैं कि कमिटीकी इस काररवाईसे उसकी सामान्य बुद्धिका ही परिचय मिलता है, उसकी उदारताका नहीं। उसकी सिफारिशोंसे किसी प्रकारके उच्च राजनीतिक एवं स्वतंत्रता-समर्थ विचार प्रकट नहीं होते और न इस बातका ही विश्वास होता है कि उसके सदस्योंने जनताकी माँगों तथा देश की वर्त्तमान राजनीतिक जागृतिको यथोचित रूपसे हृदयंगम कर लिया है। यदि ऐसी बात न होती तो कमिटी सभावन्दीके कानून तथा सन् १९०८ के कानूनके उत्तरार्द्धको कायम बनाये रखनेकी सलाह कभी न देती। दुख तो यह जानकर होता है कि कमिटी ने आवश्यकतानुसार और भी दमनात्मक कानून बना लेनेकी राय दी है। जिसे भारतीय परिस्थितिका थोड़ा बहुत भी ज्ञान है, वह समझ सकता है कि कठिनसे कठिन अवसर पर मामूली कानूनोंसे काम लिया जा सकता है और आज कल लिया ही जा रहा है भारतमें प्रचलित कानूनोंकी शब्दावली ही ऐसी है जिसका मनमाना अर्थ लगाया जा सके, कमसे कम अधिकारिवर्ग अपनी वर्तमान नीति से तो यही प्रकट कर रहा है। ऐसी हालतमें नये दमन-विधान बनानेका उत्साह दिलाना हृदयकी संकीर्णता और सलाहकारोंकी अविचार शीलताको ही प्रकट करता है।

कमिटीमें केवल दो सरकारी सदस्य थे और शेष सात सदस्य गैरसरकारी थे। इन सात सदस्योंमें से कमसे कम छः ऐसे थे जो पहिले भारतीय कांग्रेसकेभी सदस्य रह चुके हैं। इस प्रकारके सदस्योंकी अधिकता जिस कमिटीमें हो, उसका निर्णय देशके लिये कल्याणकारी एवं देशकी मांगोंके अनुकूल होगा, ऐसी आशा सभीके हृदयमें उत्पन्न हुई थी, किन्तु आज वह आशाभी हमारी अनेक आशाओंकी नाई मृग-मरीचिका का अन्य रूप ही सिद्ध हुई। जिन सज्जनोंका नाम पहिले देशके अग्र-गण्य नेताओंमें लिया जाता था, वे ही अब भिन्न कार्यक्षेत्रमें पहुंच कर इस प्रकार अपना स्वरूप बदलते हुए देख पड़ते हैं। इन महानुभावोंका कहांतक काया-पलट हो गया है, इसका चित्रभी लाला लाजपतरायने अपने लेखमें बड़ी खूबीके साथ खींचा है। यहां इस सम्बन्धमें कुछ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। इतनाही लिखना काफी होगा कि अपनेको जनताके प्रतिनिधि समझनेका दावा करनेवालोंके लिये इस प्रकार जनताकी बढ़ती हुई मांगोंकी अवहेलना करना देशके लिये सौभाग्य या गौरवकी बात नहीं कही जा सकती। भगवान् इन महानुभावोंको अपना उत्तरदायित्व तथा देशकी ओर अपना कर्त्तव्य पूरा करनेकी सुबुद्धि दे ताकि वे अपना "प्रतिनिधित्व" सार्थक कर सकें।

# ज्ञातव्य विषय तथा अंक ।

## अमेरिकाके प्रति यूरोपीय देशोंका ऋण ।

| देशोंके नाम | ऋणकी तायदाद रुपयोंमें |
|---|---|
| ब्रिटन ... ... | ४,१६,६३,१८३५८ |
| फ्रांस ... ... | ३,३५,०७,६२,९३० |
| इटली ... ... | १,६४,८०,३४,०५० |
| बेलजियम ... ... | ३७,५२,८०,१४७ |
| रूस ... ... | १९,२६,०१,२९७ |
| पोलैंड ... ... | १३,५६,६१,६५९ |
| जेको स्लोवाकिया } ... | ९,११,७९,५२७ |
| सर्विया ... ... | ५,११,५३,१५९ |
| रूमानिया ... ... | ३,६१,२८,४९४ |
| आष्ट्रिया ... ... | २,४०,५५,७०८ |
| ग्रीस ( यूनान ) ... | १,५०,००,००० |
| एस्थोनिया ... ... | १,३९,९९,१४४ |
| क्यूबा ... ... | ९०,२५,५०० |
| आरमिनिया ... ... | १,१९,५९,९१७ |
| फिनलैण्ड ... ... | ८२,८१,९२६ |
| लाटविया ... ... | ५१,३२,२८६ |
| लिथुएनिया ... ... | ४९;८१,६२७ |
| हंगरी ... ... | १६,८५,८३५ |
| लाइबीरिया ... ... | २६,००० |

# स्वार्थ

## दारुण बज्रपात

अत्यन्त शोक-विह्वल और दुःखपूर्ण हृदयसे आज हमें यह कहना पड़ता है कि "स्वार्थ"के सुयोग्य सम्पादक श्री नरसिंहदास जी एम. ए., एल एल. बी. अब इस संसारमें नहीं हैं। गत बुधवार, मार्ग शीर्ष ७ को अपने परिवार, आत्मीय-वर्ग तथा अन्य लोगोंको विलखता छोड़कर आप सहसा इस नश्वर जगतसे प्रस्थान कर गये। किसीको रत्ती भर यह शका न थी कि केवल तीन चार दिनके साधारण ज्वरके बादही आप इस प्रकार अपनी जीवन लीला-समाप्त कर देंगे। इस भीषण घटनाका जो प्रभाव हमारे ऊपर पड़ा है, उसीसे हम उनके परिवारके लोगों तथा उनके अनन्य स्नेहीजनोंकी मार्मिक वेदनाका अन्दाज़ा लगा सकते हैं।

बाबू नरसिंहदास देशकी होनहार सन्तान थे। वे शुरूसे ही बड़े परिश्रमी थे। उन्होंने स्कूलमें तीसरे वर्गसे पढ़ना आरंभ किया था। कक्षामें वे सदा प्रथम या द्वितीय ही रहा करते थे। उन्होंने सोलह वर्षकी अवस्थामें एण्ट्रेंसकी परीक्षा पास की। उत्तीर्ण छात्रोंमें उन्हें अच्छा दर्जा प्राप्त हुआ। चार वर्षमें बी. एस. सी और फिर दो वर्षमें एम ए. और एल एलबीकी परीक्षाएं उन्होंने साथ साथ दीं। गोरखपुरमें वकालत आरम्भ करनेके बाद चार पांच बर्षोंमें ही वे एक सुप्रसिद्ध वकील गिने जाने लगे। उनको इस ख्यातिका प्रधान कारण अनवरत परिश्रम और अपने विषयका कठिन अभ्यास एवं गंभीर मनन ही कहा सकता है। इसके अतिरिक्त वे सार्वजनिक कार्योंमें भी यथाअवसर खूब भाग लिया करते थे। वे कई संस्थाओंके उत्साही सदस्य थे। कुछ दिन पहिले गोरखपुरके हाईस्कूलकी अवस्था बहुत खराब हो गयी थी। उसकी अवस्थाके परिवर्त्तन और वर्त्तमान उन्नतिका पर्याप्त श्रेय उन्हें ही प्राप्त है। वहां की थिओसाफिकल कन्या पाठशालाके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है। इसके निमित्त भी उन्होंने खूब उद्योग किया था। इन्हीं सब बातोंके कारण समझदार लोगोंमें उनकी बड़ी प्रसिद्ध हो गयी थी।

बाबू नरसिंहदासजी बड़े मिलनसार और प्रसन्नमुख मनुष्य थे। हमने उन्हें कभी उदास नहीं देखा। दस दस बारह बारह घण्टोंके लगातार परिश्रमके बाद भी उनके मुखपर नैराश्य या उत्साद-विहीनताकी रेखा नहीं देख पडी। वे बड़े नियमबद्ध, एवं सुव्यवस्था और सफाई चाहनेवाले मनुष्य थे। उनकी सी फुर्त्ती और भिन्न भिन्न प्रकारके कार्योंको कर

सकनेकी क्षमता विरले मनुष्योंमें ही देखी जाती है। अनेक कार्योंमें संलग्न रहनेपर भी उनका स्वास्थ्य सदा स्पर्द्धनीय ही रहा करता था।

जिस समय देशमें असहयोग आन्दोलनका प्रारंभ हुआ, उस समय वे भी उसमें भाग लेने लगे। कांग्रेसकी आज्ञा मानकर उन्होंने अपनी जमीहुई वकालतका परित्याग कर दिया। तदनन्तर वे फिर काशी लौट आये। यहां दैनिक "आज" के सहायक सम्पादक एवं जिला कांग्रेस कमिटीके सहायक मंत्रीकी हैसियतसे उन्होंने जो कार्य किया है वह सर्वथा स्तुत्य और स्मरणीय है।

उनकी मृत्युसे उनके परिवार और आत्मीयवर्गकी ही हानि नहीं हुई है, प्रत्युत काशीमात्रकी हानि हुई है। उनकी मृत्युके समाचार पाकर दर्जनों संस्थाओंने और काशीके अतिरिक्त बाहरके लोगोंने जो शोक-सूचक प्रस्ताव पास किये हैं और जो सहानुभूतिमय पत्र उनके परिवार तथा "आज" के सम्पादकके पास भेजे हैं, उनसे श्री नरसिंहदासजीकी योग्यता और तदुत्पन्न ख्यातिका पता लगता है।

इस बज्रघातके कारण उनके कुटुम्बियों, स्नेही सम्बन्धियों तथा घनिष्ट मित्रोंके पवित्र हृदयोंमें जो दारुण ज्वाला धधक रही है, उसे शान्त करनेमें हमारी क्षीणभाषा सर्वथा असमर्थ है। अतः हम गंभीर चित्तसे, विनम्र भाव धारण कर, परमात्मासे यही प्रार्थना करते हैं कि वही इन शोक-सन्तप्त आत्माओंको धैर्य दे और उनके दुःख-दाहकी कठोरताको कम करे एवं श्री नरसिंहदास जीको स्वर्गमें सद्गति दे। ओम् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

ओ३म् बन्देमातरम्

# स्वार्थ

वर्ष २ खण्ड २ } मार्गशीर्ष १९७८ { अङ्क २ पूर्णाङ्क २०

## भारतमें शोरेका व्यवसाय।

रतमें शोरेका व्यवसाय आधुनिक नहीं है किन्तु ठीक ठीक निर्णय करना कि यह व्यवसाय कबसे आरम्भ हुआ कुछ कठिन है। इस व्यवसायके आधुनिक न होनेका एक मोटा प्रमाण यह है कि विहार और युक्त प्रान्तके पूर्वी भागमें एक विशेष जातिके हाथ इस व्यवसायकी डोरी है और इससे वह जाति नोनियां अर्थात् नोन (लवण) से सम्बन्ध रखनेवाली जाति कहलाती है। भारतवर्षके विहार और युक्तप्रान्तके पूर्वीय भाग ही ऐसे हैं जहां बहुत दिनोंसे यह व्यवसाय होता चला आता है। जहां जहां इसका व्यवसाय हालमें आरम्भ हुआ है, जैसे पञ्जाब, युक्त प्रान्तका पश्चिमी भाग और मद्रासमें, वहां इस व्यवसायके सञ्चालक किसी विशेष जातिके व्यक्ति नहीं हैं वरन् कुम्हार और अन्यान्य जातिके हिन्दू और मुसलमान हैं। सौ दो सौ वर्षके बीच नोनियां जातिका संगठन होना लेखककी रायमें सम्भव नहीं; इसके लिये कमसे कम ५०० वर्ष व्यतीत होना चाहिये। हिन्दुस्तानकी आधुनिक भिन्न भिन्न जातियोंकी कबसे सृष्टि हुई इसका पूरा प्रमाण लेखकको मालूम नहीं, किन्तु १००० वर्ष पहले इनमेंसे कुछ जातियां मौजूद थीं, यह संस्कृत ग्रन्थोंसे स्पष्ट विदित होता है। इन सब बातोंके विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि यह व्यवसाय कमसे कम ५०० वर्षका पुराना अवश्य है। साथही संस्कृत ग्रन्थोंके अवलोकनसे मालूम होता है कि यह व्यवसाय बहुत प्राचीन भी नहीं है।

शुक्र नीतिमें शोरेके लिये 'सुवर्चिल' शब्द लिखा है जैसा कि नीचेके श्लोकसे विदित होता है।

सुवर्चिल वणात् पञ्चपलानि गन्धकात् पलम्।<br>
अन्तर्धूमविपक्वार्क स्नुह्याद्यंगारतःपलम्॥

'रसार्णव' में भी इसी शब्दका प्रयोग हुआ है। किन्तु इसके बाद फिर कहीं इस शब्दका प्रयोग नहीं पाया जाता। पिछले ग्रन्थोंमें शोरेके लिये यवक्षारका प्रयोग हुआ है किन्तु चर्क और सुश्रुतके समय यह शब्द शाब्दिक अर्थ—यवका क्षार अर्थात् अशुद्ध पोटाश कार्बनेत * के अर्थमें प्रयुक्त होता था। विल्सन और विलियम, पाश्चात्य संस्कृत विद्वानोंने अंग्रेजी-संस्कृत कोषमें पिछले लेखोंके मतानुसार यवक्षार शब्दका अनुवाद शोरा किया है, कोलब्रुकने भी अपने अमरकोषमें ऐसाही किया है। कहीं कहीं सुवर्चिल शब्द सोडाकार्बनेतके लिये भी व्यवहृत हुआ है। इससे यह आश्चर्य्यजनक प्रतीत होता है कि जो वस्तु विहार और युक्त प्रान्तमें इतनी अधिक मात्रामें पायी जाती है उसका बहुत दिन तक कोई निश्चित नाम न हो।

श्रीरमेशचन्द्रदत्त हिन्दुओंकी मेटेरिया मेडिका नामक पुस्तकमें लिखते हैं "प्राचीन हिन्दुओंको शोरेका ज्ञान नहीं था। संस्कृतमें इसका कोई निश्चित नाम नहीं है। ... । कुछ अर्वाचीन संस्कृत ग्रन्थोंमें शोरेका तेजाब बनानेके नुस्खोंमें शोरेके लिये 'शोराक' शब्दका उपयोग हुआ है किन्तु यह शब्द किसी संस्कृत कोषमें नहीं मिलता। इससे यह निस्सन्देह मालूम होता है कि यह शब्द विदेशी 'शोरा' शब्दसे संस्कृतमें आया है। अतएव यह बहुत अधिक सम्भव है कि बारूद लड़ाईमें प्रयोग होनेके बाद अधिक मात्रामें शोरेका बनना प्रारम्भ हुआ।" डाक्टररायके मतानुसार दत्तका यह कहना कि प्राचीन हिदुओंको शोरेका ज्ञान नहीं था युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता। प्रो: मैकडोनल (Macdonell) लिखते हैं—"यह सिन्धु और झेलम नदियोंके बीचकी लवण श्रेणियोंमें इतनी तायदादमें पाया जाता है कि सिकन्दरके यूनानी साथियोंके कथनानुसार केवल वहां ही सारे भारतकी आवश्यकताओंकी पूर्त्तिके लिये काफी शोरा पैदा होता था।"

दत्तका यह कथन सत्य हो सकता है कि बारूदका एक आवश्यक अंश होनेसे ही इसको अधिक मात्रामें तैयार करनेकी उत्तेजना मिली, किन्तु यह बात जानी हुई है कि अनिश्चित कालसे आतिशबाज़ीके लिये चीन और हिन्दुस्तानमें इसका व्यवहार होता आया है। दण्डीकृत दशकुमारचरित्तमें 'योगवर्तिका' अर्थात 'जादूकी बत्ती' और 'योगचूर्ण' का उल्लेख है। यह सम्भव है कि इस योगवर्तिका और योगचूर्णमें शोरेका व्यवहार हुआ हो। अधिकमात्रामें शोरा तैयार करनेका सबसे पहला वर्णन लण्डनकी १६६८ ईसवी की छपी जौन अलवर्टकी "फारससे हिन्दुस्तानकी यात्रा" नामक पुस्तकमें मिलता है। इसमें इसके तैयार करनेकी विधि भी जो उस समय भारतवर्षमें प्रचलित थी दी हुई है।

संवत् १९१६ विक्रमके पूर्व भारतवर्षका ही शोरा समस्त भूमण्डलमें विख्यात था और संसारकी सारी आवश्यकताओंको पूरा करता था, यद्यपि न्यूनाधिक मात्रामें यह दक्खिन अमेरिका, स्पेन, फारस और हंगरी देशोंमें भी पैदा हो जाया करता था। फ्रांसके राज्यविप्लवके समय जब भारतका शोरा वहां जाना बन्द कर दिया गया तब इसे कृत्रिम रीतिसे तैयार करनेकी

वहां चेष्टा होने लगी और इसमें उस समय सफलता भी प्राप्त हुई । उक्त विप्लवके पश्चात् कुछ समय पर्य्यन्त यह कृत्रिम पद्धति कार्य्य करती रही, किन्तु फ्रांसकी जलवायु इसके अनुकूल न होने के कारण आर्थिक दृष्टिसे यह पद्धति फलीभूत न हो सकी और अन्तमें उसका त्याग करना पड़ा । आजकल भारतके शोरेके स्थानमें चिलीका शोरा अनेक स्थानोंमें व्यवहार होता है । वहां यह शोरा सञ्चितरूपमें खानोंमें पाया जाता है । उसे खानोंसे बाहर निकाल, आवश्यकतानुसार शुद्ध कर बाहर भेजते हैं । रासायनिक दृष्टिसे भारत और चिलीका शोरा एक नहीं है । यहांका शोरा पोटाशनेत्रेत है और चिली-का सोडानेत्रेत । अनेक कामोंके लिये पोटाशनेत्रेतके स्थानमें सोडानेत्रेत विना किसी हानिके व्यवहार हो सकता है किन्तु कुछ ऐसे स्थान है जहां सोडानेत्रेतका व्यवहार उपयुक्त नहीं, वहां पोटाशनेत्रेत अवश्यही व्यवहार करना पड़ेगा । इस पोटाशनेत्रेतको सस्ती रीतिसे तैयार करनेकी वैज्ञानिक संसारमें अनेक चेष्टाएं हुई हैं और उनमें कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है किन्तु यह सफलता ऐसी नहीं कि हिन्दुस्तानके व्यवसायको नष्ट कर डाले । लेखककी रायमें जिस सस्ती रीतिसे यह यहां तैयार हो रहा है उसके साथ साथ यदि वैज्ञानिक ढंगसे शोरेको शुद्ध करनेकी चेष्टा कीजाय तब इस व्यवसायके नष्ट होनेका कोई भय नहीं है । इस देशमें ही और इस देशके आस पासके टापुओं और चीन जापानादि देशोंमें ही इसकी काफी मांग है ।

शोरेके प्रयोग अनेक हैं । बारूदका यह एक मुख्य अंश है, यथार्थमें बारूदमें आवाज़ उत्पन्न करने वाली वस्तु शोरा ही है । इसमें ओषजनके रहनेसे यह गुण उत्पन्न होता है । चीलीके शोरेमें भी ओषजन विद्यमान है जिससे यह बारूदमें प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु इस शोरेमें एक बड़ा दोष है जिससे यह कभी भी निरापद प्रयोग नहीं किया जा सकता । इसमें हवासे जलभाफ खींचनेका गुण है जिससे यह अथवा और पदार्थ जिससे यह मिश्रित होता है, आर्द्र हो जाते हैं । बारूदका आर्द्र होना कितना हानिकारक है यह बतानेकी आवश्यकता नहीं । शोरेका तेज़ाब बनानेमें भी शोरा व्यवहार होता है । चीलीका शोरा इसके लिये अधिक उपयुक्त है क्योंकि हिन्दुस्तानी और चीली शोरेके समभागमें चीलीके शोरेसे अधिक तेज़ाब निकलता है । शोरेका सबसे अधिक महत्व-पूर्ण प्रयोग कृत्रिम खाद उत्पन्न करनेमें होता है । तम्बाकू, गेहूं और धानकी खेतीके लिये यह विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है । जिन पौधोंमें नत्रजनके विचारसे इसका प्रयोग होता है वहां हिन्दुस्तानी शोरेके स्थानमें चीलीका शोरा अवश्यही काममें लाया जा सकता है किन्तु जहां पोटाशके विचारसे इसका व्यवहार होता है वहां चीलीके शोरेसे कुछ लाभ नहीं होगा । अनेक पौधे ऐसे हैं जिन्हे पोटाशकी आवश्यकता पड़ती है । वहां हिन्दुस्तानी शोरेका प्रयोग अनिवार्य्य है । आतशबाज़ीके लिये भी हिन्दुस्तानी शोरा—केवल हिदुस्तानीही शोरा—बहुत अधिक मात्रामें प्रयुक्त होता है । औषधियोंमें शोरेका प्रयोग होता है । लाह और—Cochiwal कें रंगोंके साथ मिलानेसे बहुत सुन्दर रंग उत्पन्न होता है ।

मांस और मछलियोंको इससे ढांप रखनेसे वे सड़ती गलती नहीं। इस प्रकार एक समय खाद्य पदार्थोंकी रक्षामें यह अधिक प्रयुक्त होता था किन्तु अन्य सस्ती विधियोंके आविष्कारसे इसका प्रयोग धीरे धीरे कम हो रहा है, यद्यपि बिलकुल बन्द नहीं हो गया है। इसके सिवा कांचके व्यवसायमें भी शोरेका बहुत उपयोग होता है। इस कार्यके लिये अच्छी तायदादमें यह चीन और जापान जाता है। इस देशमें भी भविष्यमें कांचके व्यवसाय-की वृद्धि होनेकी संभावना है। अतएव इसकी वृद्धिके साथ साथ हिन्दुस्तानी शोरेकी मांग-की भी वृद्धि अनिवार्य है। इस कार्यके लिये केवल हिन्दुस्तानी शोरेकाही व्यवहार हो सकता है।

भारतमें शोरा कैसे तैयार होता है इसपर अब कुछ विचार करनेकी आवश्यकता है। जैसे पहले कहा जा चुका है इस देशके कुछ भागमें एक विशेष जाति जिसे नोनियां कहते हैं यह व्यवसाय करती है। नोनियां देख, छू और स्वाद लेकर जमीनपर शोरेकी उपस्थितको जान लेता है, थोड़ी सी विभिन्नता होनेसे ही वह जान जाता है कि मिट्टी नोनी है अथवा खरी ( खरी मिट्टीमें सोडाकागन्धेत नामक पदार्थ रहता है )। शोरा जमीनकी तह पर ही एकत्र पाया जाता है नोनियां इसे खुरपीसे इंचका चौथाई भाग तह छीलकर इकट्ठा करता है, ऐसी मिट्टी छिलुआ मट्टी कही जाती है और शोरा निकालनेके पहले भिंजुआ मट्टीसे मिलाली जाती है।

शोरा निकालनेके लिये छोटी छोटी कुरिया अथवा कोठी बनाते हैं जिसके चारों ओर सूखी मिट्टीकी दिवाल रहती है। यह कोठी कहीं कहीं तो गोलाकार होती है जिसकी परिधि ५ से ६ फुट तक हुआ करती है और कहीं कहीं आयताकार। दीवाल प्रायः डेढ़ फुट ऊंची होती है। इसका गच ढालुआ होता है और उसकी एक ओर एक छिद्र होता है जिसके द्वारा शोरेका घोल बहकर मिट्टीकी नाद अथवा घड़ेमें इकट्ठा होता है। कोठीके पेंदे-में पहले प्रायः ४ इंच ऊंचा बांस और पुआलकी तह दे देते हैं। पुआलके स्थानमें कहीं कहीं चटाई अथवा सूखे पत्तेका व्यवहार होता है। इसीपर नोनी मिट्टी रखी जाती है। इस नोनी मिट्टीके रखनेमें चतुरता, सावधानी और अनुभवकी आवश्यकता पड़ती है। यदि ठीक तरहसे यह न रखी जाय तो पानी डालनेपर उसमें छेद हो जाता है और मिट्टी घुल घुल कर बह जाती है। इसलिए मिट्टी इतनी दबायी जाती है कि वह इतनी ढीली न हो कि पानीसे घुलकर बह जाय और न इतनी कड़ी हो कि उसके अन्दर होकर पानी जाही न सके। इस प्रकार रखकर उसपर पानी भर दिया जाता है और वह धीरे धीरे छनकर शोरे और अन्यान्य घुलनशील पदार्थोंका घोल बनकर नाद या घड़ेमें एकत्र होता है। घोलका पहला हिस्सा जो इकट्ठा होता है 'मुरहन' कहलाता है। शोरेका अधिक अंश इसीमें मौजूद रहता है। इसके बाद दूसरा पानी देनेपर जो घोल इकट्ठा होता है उसे 'ढ्रेजी' कहते हैं। इसमें शोरेका अंश इतना कम रहता है कि उससे सीधे शोरा निकालनेमें आर्थिक दृष्टिसे लाभ नहीं होता। इससे यह भिंजुआ मिट्टी तैयार करनेमें व्यवहृत होता है।

मुहरन तब लोहे अथवा ताम्बेके बड़े बड़े खुले कड़ाहोंमें, कहीं कहीं सूर्यकी गरमी-से गाढ़ा किया जाता है और कहीं कहीं आगकी गरमीसे उबाला जाता है। आगकी गरमीके लिये अधिक जगहोंमें केवल वृक्षों या बांसके पत्तेही काममें लाये जाते हैं और उनकी राख भिंजुआ मिट्टी तैयार करनेके काममें लायी जाती है।

मुरहन उस समयतक उबाला जाता है जब तक उसका नमूना ठंढा होनेपर शीघ्र ही जम न जाय अथवा उसकी एक बूंद अंगूठेके नखपर रखनेसे शीघ्रही रवा न बन जाय। इस प्रकार जब वह घोल काफी गाढ़ा हो जता है तब वह मिट्टीके वर्तनोंमें ढाल दिया जाता है जहां वह धीरे धीरे ठंढा होना शुरू होता है। ठंढा होनेके साथ साथ शोरेके रवे भी उत्पन्न होने लगते हैं। इन रवोंके साथ साथ लवणके अणु बनते हैं। इस प्रकारसे प्राप्त शोरा कच्चा शोरा कहलाता है। शुद्ध करनेवाले कारखानेमें जाकर कुछ शोधित हो जानेपर वह कलमी शोरेके नामसे पुकारा जाता है। इन कारखानोंमें शोरा लवणके अधिक भागसे अलग किया जाता है और उनका रंग भी कुछ स्वच्छ होजाता है। लवणका शोरेसे प्रथक्क-रण नोनियां द्वारा भी हो सकता है किन्तु लवण विभागकी ओरसे ऐसा करनेकी उन्हें आज्ञा नहीं है। वरन् इसके प्रतिकूल यदि किसी प्रकार शुद्ध शोरा बन गया तो नोनियां जान बूझकर उसमें गाद ( कड़ाहसे निकली हुई मिट्टी और रंगीन उद्भिज पदार्थ ) मिला देते हैं जिससे लवण विभागके कर्मचारियोंको यह सन्देह करनेका अवसर ही न मिले कि किसीने लवण निकालनेकी चेष्टा की है।

शोरेके घोलको गाढ़ा करनेपर जो तरल पदार्थ बनजाता है उसे 'माल' कहते हैं। इस मालको मिट्टीके बर्त्तनमें धीरे धीरे ठंढा करनेसे शोरेका रवा बनना शुरू होता है किन्तु इस रवेके साथ साथ अन्य रासायनिक पदार्थ भी सम्मिलित हो जाते हैं जिनमें लवण-का अंश सबसे अधिक रहता है। किसी किसी नमूनेमें तो यह प्रति शत ७० तक पहुंच जाता है।

इस प्रकार शोरा निकाल लेनेपर नोनियांके पास तीन चीजें बच जाती हैं। पहली, द्वेजी जिसके बारेमें ऊपर कुछ लिखा जा चुका है। दूसरी, काही। यह वह तरल पदार्थ है जो मालसे शोरेका रवा निकाल लेनेपर शेष बच जाता है। इसमें भी शोरेका अंश विद्यमान रहता है। तीसरा, सीठा। यह वह मिट्टी है जो मुरहन और द्वेजी निकाल लेनेपर शेष बच जाती है। शोरेका बहुत थोड़ा अंश इसमें भी रह जाता है। इन सबोंको मिलाकर कुछ दिनों तक कभी कभी वर्षों तक छोड़ रखनेसे भिंजुआ तैयार होता है। जिसे छिलुआके साथ मिलाकर शोरा निकालनेमें व्यवहार करते हैं। विस्तारके भयसे इस विषयपर यहां अधिक नहीं लिखा जायगा।

ग्राम ग्रामसे इकट्ठा होकर कच्चा शोरा साफ करनेवाले कारखानोंमें आता है। इन कारखानोंके सञ्चालक कहीं कहीं नोनियोंको दादन पेशगी देकर बहुतही कम मूल्यमें कच्चा शोरा खरीदते हैं। साधारणतः कच्चे शोरेका मूल्य इन कारखानोंके सञ्चालकों ही पर निर्भर

करता है। इससे नोनियोंको जितना मूल्य मिलना चाहिये उतना नहीं मिलता। इन कारखानोंमें आगकी गरमीसे कच्चा शोरा घुलाया जाता है। कुछ मैल गादके रूपमें ऊपर उठकर इकट्ठा होता है जो समय समयपर निकालकर बाहर किया जाता है। और कुछ बरतनोंके पेंदेमें बैठ जाता है। इन कारखानोंमें जो शोधन-क्रिया होती है उसमें कोई विशेषता नहीं। उसका ढंग बिलकुल ही भद्दा है। उससे केवल लवणका कुछ अंश कम हो जाता है और रंगमें कुछ स्वच्छता आजाती है। साधारणतः लवणका ५ से २० भाग फी सैकड़ा अवश्यही वर्त्तमान रहता है। इस रूपमें यह कलकत्ता अथवा बम्बई भेजा जाता है जहांसे विदेशोंको चालान होता है। निम्नलिखित तालिकासे मालूम होता है कि कितना शोरा किन किन देशोंको संवत् १९७० से १९७४ (सन् १९१३ से १९१८) तक गया है।

## तालिका।

| देश | १९७० मनमें | १९७१ मनमें | १९७२ मनमें | १९७३ मनमें | १९७४ मनमें |
|---|---|---|---|---|---|
| ग्रेट ब्रिटेन | ६४८७२ | २४७८४६ | ४५३६९६ | ६२६९३३ | ५५७७६३ |
| अमेरिकाके संयुक्त राज्य | ६४७६३ | २१७०६ | १३५७३ | १७६८० | २०२१० |
| चीन | ११४९२० | ५४०१० | २४०१८ | ... | ... |
| लंका | ५३५८४ | ६५५२५ | ४४११८ | १४४२ | ... |
| मौरिशस | ५०५९७ | ३६९९२ | ६१२० | ८७०४ | ६३९२ |
| और और देश | ३१८२४ | १९०४७ | २१५७० | ६२५०६ | ३५३०६ |
| योग | | | | | |

गत यूरोपीय युद्धके पहले जिस रूपमें यह शोरा साफ करनेवाले कारखानोंसे आता था उसी रूपमें बाहर भेज दिया जाता था। वहां विशेषकर इंग्लैण्ड और फ्रांसमें अन्तिम रूपसे शुद्ध होता था और तब भड़कनेवाले पदार्थोंके निर्माणमें प्रयुक्त होता था किन्तु युद्धके समय जहाजोंकी कमीके कारण प्रतिशत एकसे ज्यादा लवणका अंश लिये हुए शोरेका जाना सरकारने बन्द कर दिया था। इससे इन शोरोंको कलकत्तेमें फिरसे शोधित करनेकी आवश्यकता पड़ी। तबसे यह शोरा कलकत्ते जाकर फिरसे शोधित होकर

# भारतमें शोरेका व्यवसाय।

विदेशोंको भेजा जाता है। ऐसा होना इस व्यवसायके भविष्यके लिए बहुतही हानिकारकहै। हरदेशमें आजकल यह चेष्टा हो रही है कि जहां तक सम्भव हो वह देश स्वयं परिपूर्ण हो। ऐसी हालतमें यह अत्यावश्यक है कि इस देशके प्रेमी भी यह चेष्टा करें कि इस देशको यथा-सम्भव किसी दूसरे देशपर किसी पदार्थके लिये निर्भर रहना न पड़े। इस राष्ट्रहितकी दृष्टिसे यह बहुत जरूरी है कि सस्ता शोरा उत्पन्न करने और समस्त भूमण्डलके बाजार-को हस्तगत करनेकी चेष्टा की जाय। यह तभी हो सकता है जब उत्पन्न करनेवाले स्थानोंमें ही पूर्ण रूपसे शुद्धकर शोरा बाहर भेजा जाय। इसमें अनेक लाभ हैं।

पहला, अशुद्ध शोरेके साथ साथ लवण जो एक स्थानसे दूसरे स्थानमें लेजाया जाता है उसके ले जानेका खर्च बच जायगा। ऐसे लेगये हुए लवणका कोई मूल्य नहीं क्योंकि जिन वस्तुओंमें शोरा व्यवहृत होता है उनके लिये लवणका अंश अवश्यही निकाल देना पड़ता है अथवा जहां शोरा उसी रूपमें व्यवहृत होता है, जैसे खादके लिये, वहां खादके रूपमें लवणका कोई मूल्य नहीं हैं। लवणको पूर्ण रूपसे निकाल देनेपर अवश्यही शोरा कम कीमतमें बाहर भेजा जा सकता है। दूसरा, जिस स्थानपर शोरा उत्पन्न होता है उसी स्थानपर पूर्ण रूपसे शुद्ध करनेसे वह शोधित शोरा सीधे प्रयोग करनेवालोंके हाथ बेचा जा सकता है। यह सबपर विदित है कि जितने अधिक मध्यम पुरुषके द्वारा होकर कोई वस्तु जाती है उतनी ही उसकी कीमत अधिक बढ़ जाती है। तीसरा, पूर्ण रूपसे शुद्ध करके बेचनेसे मूल्य अवश्यही बहुत अधिक मिलेगा। जिस शोरेमें लवणका अंश प्रतिशत ५ तक है वह निम्नलिखित दरसे संवत् १९७० से १९७३ तक बिकता था।

| संवत् | माघमें | श्रावणमें | संवत् | माघमें | श्रावणमें |
|---|---|---|---|---|---|
| १९७० | ११।।।) | ११।।) | १९७२ | ११।।।) | ११।) |
| १९७१ | १२≋) | ११।) | १९७३ | १३।) | १५।।) |

यदि लवणका अंश प्रतिशत एकसे कम कर दिया जाय तो कीमत ड्योढ़ी नहीं तो सवाई तो अवश्य ही बढ़ जाती है। यदि पूर्णरूपसे लवणका भाग निकाल दिया जाय तो कीमत अवश्यही दूनी हो जाती है।

इस प्रकार शुद्ध करने वाले कारखानोंको अधिक लाभ होनेसे वे अवश्यही अधिक मूल्य नोनियोंको दे सकेंगे। इससे इसको अधिक मात्रामें उत्पन्न करनेमें अवश्यही उत्ते-जना मिलेगी।

शोधन विधिको सुधारनेके लिए कृषिविभागकी ओरसे कुछ समय तक चेष्टा हुई थी जिसका फल यह हुआ कि कृषि-अन्वेषण-विभागके डा० लेदर और मुकर्जीने एक यन्त्र बनाया जो मुजफ्फरपुरकी मेसर्स आर्थर बटलर ऐण्ड को. नामक कम्पनीसे गत महासमरके

पहले तीन हजारमें मिलता था। आज कल यह प्राय: ५ से ६ हजारमें मिल सकता है। यद्यपि यह कहा गया है कि इस यन्त्रकी सहायतासे शोधन विधियोंमें बहुत कुछ सुधार हुआ है किन्तु लेखककी रायमें उक्त पुरुषोंके दिये हुए अंकोंसे ही यह प्रमाणित होता है कि उस यन्त्रसे उतना लाभ नहीं होता जितना इस व्यवसायको दृढ़ नींवपर रखनेके लिये आवश्यक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रचलित भट्ठी विधिसे उक्त पुरुषोंकी विधि कहीं श्रेष्ठ है किन्तु यह श्रेष्ठता केवल इसी बातमें है कि कुछ कम व्यय और कम परिश्रममें साधारण कलमी शोरेसे अधिक स्वच्छ और शुद्ध शोरा तैयार हो सकता है किन्तु जिस प्रकारका शुद्ध शोरा अनेक कार्योंके लिये व्यवहृत होता है वैसा शुद्ध इस विधिसे भी तैयार नहीं होता। साथही, यन्त्र खरीदनेके लिये आरम्भमें द्रव्य लगाना पड़ता है। इन कारणोंसे जहां तक इस लेखकको मालूम है यह विधि कहीं काममें नहीं लायी जाती। इस लेखकको कई मास तक इस विषयपर एक अति ही सुसज्जित प्रयोगशालामें अनुसन्धान करनेका सुअवसर मिला था। फल स्वरूप उसने एक ऐसी विधि *निकाली है जिसके प्रयोगसे कम व्ययमें बहुतही शुद्ध शोरा तैयार किया जा सकता है।

उत्तरी हिन्दुस्तानके सौल्ट रेविन्यू मोहकमेके कमिश्नर मि: फरगुशनका कथन है कि इस व्यवसायका भविष्य कुछ अंधकारमय है और वह शोरेकी मांगपर निर्भर है। लेखककी रायमें ऊपरजो कुछ लिखा गया है उससे मि: फरगुशनका यह कथन युक्ति-संगत नहीं मालूम पड़ता। यदि ऊपर बताये हुए मार्गसे इस व्यवसायकी उन्नति की जाय तब इसका भविष्य अवश्यही उज्ज्वल होगा। ऐसा न करनेपर भी केवल पोटाशके विचारसे इसकी मांग अवश्यही कायम रहेगी क्योंकि संसारमें पोटाशके साधन परिमित हैं।

**फूलदेव सहाय।**

*इसका सविस्तर वर्णन शीघ्रही "विज्ञान" में प्रकाशित होगा।

# संसारके व्यवसायका इतिहास।

## ( गतांकसे आगे )

मछलियोंका और समुद्रका व्यवसाय पहले हालैण्डवालोंके हाथमें था परन्तु पारितोषिक पाकर तथा आगत मालपर भारी भारी करोंकी सहायतासे अंग्रेजोंने सब बल मत्स्य-व्यापारकी ओर लगा दिया। जलयात्रा सम्बन्धी नियमोंके सहारे उन लोगोंके हाथमें केवल कोयलेका व्यवसायही नहीं प्रत्युत सब सामुद्रिक व्यवसाय आ गया। समुद्रीय वाणिज्यकी वृद्धिके साथ साथ समुद्रीय शक्तिभी बढ़ती गयी। अब इंग्लैण्ड हालैण्डके बेड़ोंको भी अपने सामने तुच्छ समझने लगा। समुद्रयात्रा विषयक नियम बननेके थोड़ेही दिन बाद हालैण्ड और इंग्लैण्डमें जलयुद्ध आरम्भ हो गया जिसका परिणाम यह हुआ कि इंग्लिश खाड़ीके आगेके प्रदेशोंके साथ हालैण्डका वाणिज्य रुक गया और उत्तरीय समुद्र तथा बाल्टिक सागरमें रहनेवाले डच जहाजोंका अंग्रेजी लुटेरोंने नाश कर दिया। ह्यूमका अनुमान है कि लूटद्वारा अंग्रेजोंके हाथ १६०० जहाज लगे। डेवनण्ट[१९]ने लिखा है कि इन नियमोंके बननेके बाद २८ वर्षमें अंग्रेजोंका नाविक व्यवसाय दूना हो गया था।

समुद्रयात्राकी नियमावलीसे जो विशेष लाभ हुये उनमें निम्नलिखित उल्लेख-योग्य हैं—

१—उत्तरीय राज्य-जर्मनी और बेल्जियमके साथ अंग्रेजोंके व्यवसायकी वृद्धि हुई। अण्डर्सनका मत है कि संवत् १६६० (सन १६०३) तक सम्पूर्ण उपर्युक्त व्यवसाय डचवालोंके हाथमें था और अंग्रेज लोग इससे एक दम वञ्चित थे।

२—स्पेन, पुर्तगाल और उनके पश्चिमीय इण्डीजके उपनिवेशोंके साथ अंग्रेजोंके अधर्म व्यवसायकी उन्नति हुई।

३—अंग्रेजोंके ह्वेल और झींगे मछलीके व्यवसायका विस्तार हुआ। यह पहले डचवालोंके हाथमें था।

४—संवत् १७१२ में पश्चिमीय इण्डीज़के जमैका नामक सबसे प्रधान उप-निवेशपर विजय प्राप्त हुई, जिससे पश्चिमीय इण्डीज़का चीनीका वाणिज्य अंग्रेजोंके हाथमें आगया।

५—संवत् १७६० (सन् १७०३) में पुर्तगालके साथ मेथुएनमें संधि हुई (इसका सविस्तर वर्णन स्पेन और पुर्तगालके वर्णनके साथ किया गया है)। इस सन्धिके अनुसार हालैण्ड और जर्मनीके लोग पुर्तगाल तथा उसके उपनिवेशोंके साथ व्यवसायका लाभ उठानेसे वञ्चित किये गये। पुर्तगाल राजनीतिक विषयोंमें इंग्लैण्डका आश्रित हो गया। इधर अंग्रेजोंने पुर्तगालसे व्यापार कर सोना और चांदी कमायी और उसके द्वारा

चीन तथा पूर्वीय इण्डीज़में अपना व्यवसाय फैलाना तथा उसे सुदृढ़ करना आरम्भ किया। इसीके द्वारा आगे जाकर उन्होंने भारत साम्राज्यकी नींव डाली और हालैण्डवालोंको उनके व्यवसायके केन्द्रोंसे निकाल दिया।

अन्तके दोनों फलोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस चालाकीसे इंग्लैण्डने पुर्तगाल और भारतको अपने महत्वका साधन बनाया वह विशेष प्रशंसनीय है। स्पेन और पुर्तगालमें उनको केवल बहुमूल्य धातु मिलते थे और पूरबमें कपड़ोंको छोड़ उनकी खपत भी अधिक थी। यहांतक तो ठीक था, परन्तु बदलेमें उन्हें पूरबसे केवल सूती और रेशमी कपड़े मिलते थे। पर यह उनकी नीतिके विरुद्ध था क्योंकि उनका मन्तव्य कच्चे पदार्थ लेकर उनको बनाकर देनेका था। उस समय अंग्रेजोंके सामने विकट समस्या उपस्थित हुई। मन्त्री-गणने उसे हलकर अपना रास्ता ठीक कर डाला।

यदि वे लोग भारतके सूती और रेशमी कपड़ोंको इंग्लैण्डमें स्वतन्त्र रूपसे जाने देते तो वहांके इन वस्तुओंके बनानेवालोंको कारखाने बन्द करदेने पड़ते। क्योंकि भारतमें कच्चा माल और श्रम जितना सस्ता और अधिकतासे मिल सकता था उसी भांति सैकड़ों वर्षके अनुभवसे वहांके लोग सिद्धहस्त तथा चतुर भी थे, और ऐसी दशामें स्वच्छन्द* संघर्षसे अंग्रेजोंकी हानि निश्चित थी।

भला, इंग्लैण्ड यह कब चाहता कि एशियामें उपनिवेश स्थापित कर वह पक्के मालके लिये उसका मुंह देखे। व्यवसायमें प्राधान्य प्राप्त करनाही उसका लक्ष्य था। वह भली भांति समझता था कि अप्रतिबन्ध व्यवसाय करनेवाले दो देशोंमें वही अधीन हो जायगा जो कच्चा माल देकर पक्का माल लेगा। इंग्लैण्डवाले इस नीतिका उत्तरीय अमेरिकामें प्रयोग भी कर चुके थे। उन्होंने अमेरिकामें घोड़ेकी नाल तकका बनाना रोक दिया था और वहांकी बनी हुई नालकी कील भी इंग्लैण्डमें जाने नहीं पाती थी। फिर यह कब सम्भव था कि अपनी उन्नतिका एक मात्र साधन-व्यवसाय तथा शिल्प-वे लोग असंख्य, मितव्ययी, अनुभवी तथा प्राचीन शिल्पक्रियामें सिद्धहस्त हिन्दू जातिके हाथमें दे देते।

तदनुसार इंग्लैण्डने भारतीय सूत और रेशमके कपड़ोंका अपने देशमें जाना, चाहे वे अंग्रेज़ी शिल्पशालाके ही क्यों न हों, रोक दिया। यह आज्ञा इतनी कड़ी थी कि भारत वर्षका एक सूत भी इंग्लैण्डमें नहीं वर्त्ता जाता था। इन सस्ते और सुन्दर वस्त्रोंके बदले अपने मोटे और महंगे कपड़ोंका बर्त्तना ही वे लोग श्रेयस्कर समझते थे। यहांतक कि वे लोग दूसरे देशोंको उस सस्तीसे लाभ उठाने देते थे और उनके हाथ उसको बेंचते भी थे परन्तु स्वयं उसे छूनातक नहीं चाहते थे। ऐडमस्मिथ और जे० बी० से महोदयोंके मूल्य-सिद्धान्त[६०] (The Theory of Values) के अनुसार तो ऐसा करना भूल था। क्योंकि

* न्याय पूर्वक मुकाबला करना, कुटिल नीतिको छोड़ चढ़ा उपरी करना।

उनके अनुसार तो इंग्लैगडको चाहिए था कि जहां सस्ता माल मिलता वहींसे वह खरीदता। उनकी यह मूर्खता थी कि सस्ती वस्तु महाद्वीपवालोंको देकर अपने लिये मँहगी वस्तु बनाते थे।

परन्तु हमारा सिद्धान्त इनके मतके विरुद्ध है। इसका नाम उत्पादन शक्तिका सिद्धान्त[61] रक्खा गया है। यद्यपि अंग्रेज़ी मन्त्रिमगडलने इसके मूलकी परीक्षा नहीं की थी तथापि वस्तुतः इसको स्वीकार कर लिया था क्योंकि बहुत पहलेहीसे वे लोग "कच्चे पदार्थोंको मंगाकर पक्की वस्तु बाहर भेजना" निश्चित कर चुके थे। वे लोग सस्ती और शीघ्र क्षीण होनेवाली वस्तुओंकी अपेक्षा मंहगी और शिल्प-शक्तिको बढ़ानेवाली वस्तुओंका अधिक ध्यान रखते थे।

उनकी सफलता भी साधारण नहीं थी। आज दिन इंग्लैगड ७ करोड़ पाउगड-का सूती और रेशमी कपड़ा बनाता है और समग्र यूरोप क्या, भारतवर्ष सहित सम्पूर्ण संसारभरको देता है।

यदि इंग्लैगड एक शताब्दीतक अन्य देशोंकी भांति भारतकी सस्ती वस्तुएं खरीदता होता तो आज उसकी दशा भी उन्हींके समान हो गयी होती। उसने ऐसा नहीं किया और आज अपरिमित शक्ति प्राप्तकर वह संसारके सामने खड़ा है और समस्त देश उसका मुंह ताक रहे हैं।

ऐसी ऐसी इतिहासप्रमाणित निष्पत्तियोंके रहते हुए भी ऐडमस्मिथने समुद्रयात्राकी संहिताके विषयमें दूषित विचार क्यों प्रगट किये ? दूसरे अध्यायमें वाणिज्य प्रतिबन्धके विषयमें स्मिथकी भ्रममूलक निष्पत्तियोंका जिस सिद्धान्तद्वारा संशोधन किया जायगा इसीसे इनके दूषित विचारोंका कारण भी मालूम हो जायगा। कारण यह था कि स्मिथ महोदयने इन प्रमाणोंको अपने स्वतन्त्र व्यवसायवादके विरुद्ध पाया, और उन्हें यह भी डर था कि समुद्रयात्राकी संहिताका अच्छा फल देख उनके सिद्धान्तपर लोग आक्षेप करेंगे क्योंकि दोनोंमें विरोध था। इसके निवारणार्थ उन्होंने वाग्जालका आश्रय लेकर राजनीतिक और आर्थिक उद्देशोंकी विभिन्नता दिखलानेकी चेष्टा की। उनका कथन है कि यद्यपि राजनीतिक विचारसे उक्त संहिता आवश्यक और उपयोगी सिद्ध हुई परन्तु आर्थिक विचार-से यह हानिकारक ही है। आगे चलकर मालूम होगा कि अनुभव तथा वस्तुज्ञानसे विदित होता है कि यथार्थतः इनमें बहुत थोड़ा भेद है।

उत्तरीय अमेरिकाकी अवस्थाके अनुभवसे जे० बी० से महोदयको विशेष ज्ञान होना चाहिये था। परन्तु जहां कहीं स्वतन्त्र और प्रतिबन्धक वाणिज्यका विरोध होता है वहां वे अपने पूर्वगामी स्मिथसे भी बढ़ गये हैं। फ्रांसमें मल्लाहीके लिये उपहार दिया जाता है। अतएव ये महोदय प्रति मल्लाहपर परता लगाकर लिखते हैं कि उपहार देनेकी प्रथा फ्रांस राष्ट्रके लिये व्यर्थ और लाभशून्य है।

समुद्रयात्रापर प्रतिबन्ध लगानेका विषय स्वतन्त्र-वाणिज्य-वादियोंके लिए एक

जटिल समस्या है। वे लोग उसकी चर्चा न करना ही उचित समझते हैं विशेषतः यदि वे किसी समुद्रतटस्थ नगरके वणिक् समाजके सदस्य हैं।

असल बात तो यह है कि समुद्रयात्रा अथवा अन्य किसी प्रकारके वाणिज्यके प्रतिबन्धोंके विधानका एक ही नियम है। अप्रतिबद्ध समुद्रयात्रा तथा विदेशी जहाज़ों द्वारा व्यवसाय किसी भी जातिको तभीतक अच्छा लगता है और उपकारी प्रतीत होता है जबतक वह सभ्यताकी प्रारम्भिक अवस्थामें रहती है तथा उसकी कृषि और शिल्प उन्नत नहीं होते। जबतक इनमें पूंजी तथा अनुभवी नाविकोंका अभाव है तबतक वे लोग अपने व्यवसाय दूसरोंके हाथ प्रसन्नतासे सौंप देते हैं। पर जब उनमें उत्पादन-शक्ति कुछ बढ़ जाती है और जहाज़ बनाने तथा समुद्रयात्रामें कुशलता आ जाती है तब वे लोग अपना विदेशीय व्यवसाय बढ़ाना चाहते हैं और अपनेही जहाज़ोंका प्रयोग कर स्वयं सामुद्रिकशक्तिसम्पन्न हो जाते हैं। धीरे धीरे उनका सामुद्रिक व्यवसाय इतना बढ़ जाता है कि विदेशियोंको निकालकर वे लोग दूरसे दूर देशतक अपनेही जहाज़ोंद्वारा व्यवसाय करनेमें अपनेको समर्थ समझने लगते हैं। तब वह समय भी आ जाता है जब समुद्रयात्रापर प्रतिबन्ध लगाकर राष्ट्र अपनेसे अधिक धनवान, अनुभवी और शक्तिशाली विदेशीको अपने देशीय व्यवसायके लाभसे वञ्चित कर देता है। परन्तु जब वह राष्ट्र समुद्रीय यात्रा और शक्तिकी पराकाष्ठापर पहुंच जाता है तब एक नये युगका प्रादुर्भाव होता है। इसी उन्नत अवस्थाको ध्यानमें रखकर डाक्टर प्रीस्टलेने[१२] लिखा है कि ऐसा समय भी आवेगा जब (उक्त) समुद्रयात्राकी संहिताको उठा देना उतना ही उचित प्रतीत होगा जितना उसका निर्माण प्रतीत होता था।

उस समय समुद्रयात्रामें समान स्वत्व स्वीकार कर वह राष्ट्र दो प्रकारसे लाभ उठा सकता है, एक तो उससे कम उन्नत देश अपनी रक्षाके लिये समुद्रयात्रापर किसी प्रकारका प्रतिबन्ध न लगा सकेगा, इसमें वह उनके देशसे माल भेजकर लाभ उठावेगा और दूसरे, वह अपने जहाजियोंको उद्यमी बनावेगा और राष्ट्रोंकी समानताके लिए अपनी समुद्रीशक्तिको पुष्ट करता रहेगा। व्यवसायमें प्राधान्य पानेके लिए वेनिस नगरको समुद्रीय प्रतिबन्धोंसे बहुत सहायता मिली, परन्तु वाणिज्य, समुद्रयात्रा और शिल्पमें कुशल हो जानेपर उन प्रतिबन्धोंको क़ायम रखकर उसने बड़ी भूल की, क्योंकि उनके कारण वह उन समुद्री तथा व्यवसायी उन्नतिशील राष्ट्रोंकी अपेक्षा जो उसीका अनुसरण करते थे जहाजनिर्माण, समुद्रयात्रा और मल्लाहीमें पीछे पड़ गया। इस प्रकार इंग्लैण्डने अपनी नीतिकी सहायतासे अपनी समुद्रीय शक्ति बढ़ायी जिसमें उसके शिल्प और व्यवसायका विस्तार हुआ और उसके द्वारा समुद्रीय शक्तिकी वृद्धिके साथ उपनिवेशोंकी भी प्राप्ति हुई। ऐडमस्मिथ महोदय समुद्रीय संहितासे इंग्लैण्डका व्यावसायिक लाभ न मानते हुए भी स्वीकार करते हैं कि उससे इंग्लैण्डकी शक्ति बढ़ गयी। इसमें तो सन्देह नहीं कि शक्ति धनसे अधिक प्रधान है। बात यह है कि राष्ट्रीय शक्ति उत्पादक

साधनोंको बढ़ाती है जिनसे धन प्राप्त होता है और उत्पादक वस्तु उत्पन्न वस्तुसे कहीं अधिक उपयोगी है, इतनाही नहीं, शक्तिद्वारा राष्ट्र अपनी प्राचीन और नयी सम्पत्तिको सुरक्षित भी रख सकता है। शक्तिहीनतासे उपस्थित सम्पत्तिका नाश तो होता ही है, सभ्यताके साधनों तथा स्वाधीनताकी भी इतिश्री होकर सम्पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता बलवती जातियोंके हाथमें चली जाती है। इटलीका प्रजातन्त्र, हांसासंघ, बेल्जियम, हालैगड, स्पेन और पुर्तगालवालोंका इतिहास इसका प्रमाण है।

परन्तु आश्चर्य तो इस बातका है कि यह देखते हुए भी कि राजनीतिक-शक्ति एवं उत्पादक शक्ति तथा धनशक्तिमें इन कारणोंसे बराबर परस्पर घातप्रतिघात है, ऐडमस्मिथने मेथ्यूनकी सन्धि और समुद्रयात्राकी संहिताको इंग्लैगडके लिए व्यावसायिक दृष्टिसे लाभदायक नहीं ठहराया है। यह सिद्ध किया गया है कि इंग्लैंडने अपना बल इन्हीं नीतियोंकि द्वारा कैसे पाया। इसी बलसे उत्पादक-शक्ति और उत्पादक-शक्तिसे धन कैसे प्राप्त किया। अब आगे यह दिखाया जायगा कि इन्हीं नीतियोंसे बल और उत्पादक-शक्तिकी उरोत्तर वृद्धि कैसे हुई।

इंग्लैंडके पास प्रत्येक समुद्रकी चाभी है और उसका एक एक सन्तरी प्रत्येक राष्ट्रपर रहता है। *हेलींगोलैगड जर्मनीके लिए और गर्नसी और जारसी फ्रांसके लिए, बरमुडा और नोआस्कोसिया उत्तरी अमेरिकावालोंके लिए, जमैका मध्य अमेरिकाके लिए और माल्टा, जिबराल्टर और आइओनियन द्वीप मेडिटेरेनियन सागरके तटस्थदेशोंके लिए सन्तरीका काम देते हैं। भारतवर्षके दोनों मार्गोंमें मार्केके स्थान इंग्लैगडके अधिकारमें हैं। केवल सुएज डमरूमध्य उसके हाथमें नहीं आया है, पर उसके लिये भी वह कठिन प्रयत्न कर रहा है। *इंग्लैगडने भूमध्यसागरपर जिब्राल्टरद्वारा, लालसागरपर अदन द्वारा, फारसकी खाड़ीपर बुशायर और काराकद्वारा अधिकार प्राप्त कर लिया है। सम्पूर्ण संसारके समुद्रों और मार्गोंको यथेच्छ खोलने और बन्द करनेका पूर्ण अधिकार प्राप्त करनेके लिए केवल डार्डनलीज, साउन्ड और सुएजको अधिकृत करना शेष रह गया है। उसकी जल-शक्ति संसार भरकी सम्मिलत जल-शक्तिसे बढ़ी हुई है, यदि जहाजोंकी संख्या कम भी हो तो भी उनकी शक्ति कदापि कम नहीं हो सकती।

इंग्लैगडकी प्रसिद्धि वस्तु-निर्माण-शक्तिकी हैसियतसे और राष्ट्रोंसे बढ़ी हुई है। प्रथम जेम्सके समयसे उसके कपड़ेके कारखाने दस गुने हो गये हैं। फिर भी इसी व्यवसायकी दूसरी शाखा अर्थात् सूती कपड़ेके कारखानेसे कहीं अधिक आय हो रही है।

इससे सन्तुष्ट न होकर इंग्लैगड अब अन्य सूती कपड़ोंको भी जिसमें वह पिछड़ा हुआ है उन्नत दशापर लाकर दूसरोंकी बराबरी करने और सम्भवतः इस व्यवसायको उक्त दोनों व्यवसायोंसे बढ़ानेका प्रयत्न कर रहा है। चौदहवीं शताब्दीमें इंग्लैगडमें लोहेकी

*ये सब स्थान अब अंगरेजोंके अधिकारमें हैं।

इतनी कमी थी कि उसको बाहर भेजना बिलकुल रोक दिया गया था। परन्तु आज १९वीं शताब्दीमें वही संसार भरके राष्ट्रोंसे अधिक (५६५० लाख) लोहेकी वस्तु बनाता है और कोयला तथा दूसरे खनिज पदार्थ उत्पन्न करता है। इन दोनोंका योग संसार भरके सोने और चांदीके मूल्यसे सातगुना अधिक है।

आज दिन इंग्लैण्डमें इतना (१८० लाखका) रेशम उत्पन्न होता है जितना मध्य-युगमें समस्त प्रजातन्त्र इटली भरमें होता था, जो व्यवसाय अष्टम हेनरी और एलीजबेथके समयमें किसी गिनतीके नहीं थे उनमें अब बहुत बड़ा लाभ होने लगा है, जैसे शीशा, चीनकी मिट्टी और पत्थरकी वस्तुसे ११० लाख, पीतल और ताबाँसे ६७५ लाख, कागज पुस्तक, रंग और टेबुल कुर्सी आदि सामानसे २१०० लाख रु० की आय होती है। इन सबके अतिरिक्त वहांपर २४०० लाख रुपयेका चमड़ा और १ करोड़की अन्य अगणित वस्तुएं बनती हैं। प्रथम जेम्सके समयमें जो राष्ट्रीय आय सम्पूर्ण व्यवसायसे थी उससे कहीं अधिक अब केवल मद्यसे होती है। अनुमान किया जाता है कि संयुक्त राज्यको सम्पूर्ण व्यवसायसे ३११४० लाख रु० की आय है। इसी कारण कृषिकी आय भी ६४६८० लाख रु० होती है जो व्यावसायिक आयके दुगनेसे भी अधिक है।

यदि वास्तवमें देखा जाय तो यह उत्पादन शक्ति तथा बल केवल व्यावसायिक प्रतिबन्ध, समुद्रयात्राकी संहिता अथवा व्यावसायिक संधिके कारणही नहीं है, परन्तु विज्ञान और कलाकी उन्नतिके कारण भी है।

इसका क्या कारण है कि केवल १० लाख अंग्रेज अरबों मनुष्योंके लिये वस्तु निर्माण करते हैं। यह बात सर्वथा असम्भव सी प्रतीत होती है। पर इसका कारण यह है कि उसने अपनी उत्साहसम्पन्न नीतिद्वारा विदेशोंमें और विशेषतः उपनिवेशोंमें, अपनी वस्तुओंकी मांग उत्पन्न कर दी है और अपने व्यवसायको प्रतिबन्धक कर लगाकर बचाया है। नये आविष्कारकोंको उनके आविष्कारोंके लिए विशेष नियम विधानसे पुरस्कार देता है और सड़क, नहर तथा रेलोंद्वारा माल आने जानेका बड़ा सुभीता कर दिया है।

इंग्लैण्डने संसारको दिखा दिया है कि माल रवानगीकी सुविधाका उत्पादक-शक्ति और उससे उत्पन्न होनेवाले धन, जनसंख्या और बलकी वृद्धिपर कितना अधिक प्रभाव है। उसने यह भी दिखला दिया है कि विदेशीय युद्धोंमें लगे रहनेपर भी स्वतन्त्र व्यवसायी और सुव्यवस्थित जनसमाज अल्पकालमेंही क्या क्या कर सकते हैं। इटलीके प्रजातन्त्रोंने इस सम्बन्धमें जो कुछ किया था इसके सामने वह केवल बाललीला कही जा सकती है। अनुमान किया जाता है कि इंग्लैण्डने राष्ट्रकी उत्पादकशक्तिके उपकरणोंमें १७७०० लाख रु० ( ११८० लाख पौ० ) व्यय किया है।

परन्तु इंग्लैण्डने इस कामको तभी आरम्भ किया जब उसका शिल्प सुदृढ़ होने

लगा था । तबसे यह भी स्पष्ट हो गया है कि केवल वही राष्ट्र ऐसे कामोंको कर सकता है जिसका शिल्प विस्तारपूर्वक उन्नति कर रहा है, और केवल वही जाति इसके कला-कौशलसे लाभ उठा सकती है जिसका शिल्प और कृषि दोनों एक साथ ही उन्नत हो रहे हों, और वही जाति उद्योगधंधोंसे भी सम्पत्ति लाभ कर सकती है ।

निःसन्देह यह भी मानना पड़ेगा कि इंग्लैण्डकी महती उत्पादक-शक्ति और समृद्धि एक मात्र राष्ट्रीय बल और व्यक्तिगत धनप्राप्तिकी इच्छाहीका फल नहीं है। इसमें प्रजाकी स्वाभाविक स्वातन्त्र्यप्रियता और न्यायपरायणता, उत्साह, धार्मिक भाव तथा सदाचारने भी कुछ न कुछ भाग अवश्य लिया है। शासनव्यवस्था, उसकी संस्थाएं, शासकों तथा धनाढ्योंकी शक्ति और बुद्धिमत्ताका भी इसमें बड़ा हाथ है । इसके अतिरिक्त देशकी भौगोलिक स्थिति और सौभाग्य तथा सुअवसर भी खूब अनुकूल फले हैं ।

यह कहना कठिन है कि भौतिक-बल और चरित्रबलमें तथा सामाजिक और व्यक्तिगत बलमें कौन अधिक प्रभावजनक है । हां इतना तो अवश्य है कि दोनोंमें एक प्रकारका कार्यकारण सम्बन्ध है अर्थात् एककी वृद्धिसे दूसरेकी भी वृद्धि और एक की हानिसे दूसरेकी भी हानि होती है । जो लोग ऐंग्लो-सैक्सनों[६३]के नार्मन[६४] जातिसे हुए रक्त-सम्बन्धको ही इंग्लैण्डकी उन्नतिका एकमात्र कारण मानते हैं उन्हें तृतीय[६५]एडवर्डके शासनकालके पहलेकी देशदशापर एक दृष्टि डालनी चाहिए । उस समय वहांके लोगोंमें उद्यम और मितव्ययिता कहां थी ? जो लोग इसका कारण शासनपद्धतिमें स्वतन्त्रताको ही मानते हैं उन्हें एलीजवेथ और अष्टम हेनरीका व्यवस्थापक-सभाके साथ जिस प्रकारका वर्ताव रहा है, उसीपर ध्यान देना उचित है । टूडर शासकोंके कालमें अंग्रेज़ोंकी शासन सम्बन्धी स्वतन्त्रता कहां थी, उस समय तो इटली और जर्मनीके नगरोंमें नागरिकोंको इंग्लैण्डसे कहीं अधिक वैयक्तिक स्वतन्त्रता थी ।

नार्मन वंशीय अन्य जातियोंके पूर्वहीसे ऐंग्लोसैक्सन लोगोंने स्वतन्त्रताके खजानेके केवल एक हीरेकी रक्षा की थी उसीसे अंग्रेज़ोंके स्वतन्त्रता और न्यायके सब भावोंका विकास हुआ है, जूरीद्वारा विचार किये जानेका वह हीरा ही स्वत्व है ।

इधर तो इटलीमें प्राचीन कानूनी ग्रन्थ खोद निकाले गये और पुराने अवशेषोंसे महाद्वीपके राष्ट्रोंमें कानूनी संहिताओंका उपद्रव सा मच रहा था पर उस समय भी इंग्लैण्डके अमीर (बैरन) लोग[६६] भूमि सम्बन्धी कानूनोंमें परिवर्त्तन नहीं चाहते थे । इस प्रकार उन लोगोंने भविष्य सन्तानके लिये कितना बड़ा बुद्धिका भण्डार संग्रह किया था और आगे चलकर इस शक्तिका भौतिक उन्नतिपर भी कितना अधिक प्रभाव पड़ा ।

आरम्भकालमें लाटिन भाषाको सामाजिक तथा साहित्य-क्षेत्र, शासन-विभाग और न्यायालयोंसे निकाल देनेसे राष्ट्र तथा न्याय विधान क्षेत्रकी विचित्र उन्नति हुई । उधर जर्मनीने लाटिन भाषा तथा विदेशी संहिताकोही बहुत दिन तक अपना रक्खा था । उसका भी परिणाम विपरीत ही हुआ, उसीके कारण हंगरीपर आजतक भी कैसी बुरी

बीत रही है। बारूद, छापेखाने, धार्मिक सुधार, भारत, और अमेरिकाके लिये नये नये मार्गोंके आविष्कारोंका इंग्लैण्डकी सभ्यता, साहित्य, तथा व्यवसायपर कैसा प्रभाव पड़ा उसकी तुलना जर्मनी और फ्रांससे कीजिये।

जर्मनीके साम्राज्यभरमें प्रान्तोंमें, और नगरों तकमें घोर फूट पड़ गयी। घोर झगड़े फूट पड़े, साहित्य, शासन-व्यवस्था और कानूनमें असभ्यता होने लगी। आपसमें युद्ध छिड़ गये, कितनोंको प्राण बध और कितनोंको देशनिकाला हो गया। विदेशियोंके आक्रमण होने लगे। जनसंख्याका नाश हो गया और सब सत्यानाश ही सत्यानाश हुआ। इधर फ्रांसमें एकाधिकारी राजाने नगरों और अमीर जागीरदारोंको खूब दबाया, विचार स्वतंत्रताके विपरीत ईसाई पुरोहितोंसे दोस्ती गांठी गयी, इसके साथ साथ देशमें राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय शक्तिकी भी वृद्धि हुई। फ्रांसको विजयसे लाभ और हानि दोनों प्राप्त हुए। इसके विपरीत उसकी स्वतंत्रता और उद्योग धन्धा सर्वथा डूब गये।

इंग्लैण्डमें नगरोंकी उन्नति हुई। कृषि, व्यापार और शिल्पमें भी बहुत वृद्धि हुई। देशके कानूनके आगे अमीर उमरा लोगोंको भी सिर नीचा करना पड़ा। इसी कारण न्याय-वितरण, देशव्यवस्था और कानून-निर्माण और उद्योग शिल्पमें भी उन्होंने हाथ बँटाया। देशकी आन्तरिक समृद्धि और विदेशोंके समक्ष राजनीतिक शक्ति भी बढ़ गयी। देशमें शान्ति हो गयी, न्यून उन्नत जनसमाजोंपर बड़ा प्रभाव पड़ा, बादशाहके अधिकारोंपर सीमा बंध गयी, साथही साथ बादशाहको शाही कर, मान वैभव और स्थिरताका बड़ा लाभ होगया। फलतः देशमें सुख, शान्ति, सभ्यता और स्वतंत्रताकी वृद्धि हुई और अन्य देशोंकी दृष्टिमें भी आदर होने लगा।

परन्तु यह निर्धारण करना कठिन है कि इन परिणामोंका कितना कितना अंश अंग्रेजोंके जातीय भाव, शासनव्यवस्था, भौगोलिक स्थिति कालिक परिस्थिति और भाग्य देव तथा प्रारब्धका फल था।

यदि पञ्चम चार्लसके स्थानमें अष्टम हेनरीको राजा बना होता तो तिलाकके अभियोगसे जर्मनी और हालैण्डमें भी वैसाही हो गया होता जो इस समय इंग्लैण्ड तथा स्पेनमें है। यदि एलिजबेथके स्थानपर कोई विचारशून्य तथा निर्बल स्त्री राज्यपर बैठी होती जिसकी द्वितीय फिलिपसे मैत्री हो गयी होती तो इंग्लैण्डके बल, सभ्यता और स्वतन्त्रताकी कुछ और ही दशा हुई होती।

यदि यह कहा जाय कि राष्ट्रीय बलके ही कारण यह सब परिवर्त्तन हुए तो इसका विशेष लाभ जर्मनीको मिलना चाहिये था क्योंकि उसका उद्भव ही जर्मनीमें हुआ था किन्तु आश्चर्य है कि जर्मनीको इस उन्नतिके मार्गमें गति करते हुए सिवाय दुःख और निर्बलताके कुछ और प्राप्त नहीं हुआ।

क्रमशः

अनुवादक-हरिहरनाथ।

# सब्सिडियरी पद्धति ।

( Subsidiary System )

ह पद्धति भारतके इतिहासमें असाधारण महत्व रखती है। इसको ब्रिटिश नीतिका एक अपूर्व आविष्कार कहना अनुचित न होगा। परन्तु इसपर विशेष विचार करनेके पहिले इसका अर्थ समझा देना परमावश्यक है।

'सब्सिडी' ( Subsidy ) का अर्थ है नियत कर या भत्ता। एक राज दूसरे राजको किसी विशेष उद्देश्यसे नियत समयोंपर जो धन दिया करता है उसे 'सब्सिडी' कहते हैं, परन्तु यह शब्द 'ट्रिब्यूट' ( tribute ) या खिराज अर्थात् उस द्रव्यके लिये, जो अधीन राज अपने अधिपतियोंको देते हैं, नहीं प्रयुक्त होता। अन्तिम अफगान युद्धके पहिले ब्रिटिश सर्कार अफ़गान सर्कारको सीमापर शान्ति-स्थापनके लिये प्रति वर्ष कुछ रुपया दिया करती थी। अब नैपाल सर्कारको दस लाख दिया जाने लगा है। इन रुपयोंको 'सब्सिडी' कहते हैं। अतः सब्सिडियरी सिस्टमका अर्थ हुआ 'भत्तामूलक पद्धति'। यह नाम ऐसा नहीं है कि इसका अर्थ स्वतः स्पष्ट हो। व्याख्याकी आवश्यकता है।

जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी और देशी रियासतोंसे पहिले पहिल मुठभेड़ हुई उस समय कम्पनी बहुत बलवती न थी। इसलिये उसने वलयनीति ( The Ring-Fence Policy ) से काम लिया। इसनीतिका तात्पर्य्य यह था कि हम आपके कामोंमें विघ्न न डालेंगे, आप हमारे कामोंमें विघ्न मत डालिये। अपने राज्यमें आप स्वतन्त्र हैं, आप जो चाहिये कीजिये परन्तु कृपाकरके हमारे राज्यको बख्श दीजिये। यह नीति किसी न किसी प्रकार संवत् १८६२, ( सन् १८०५ ) तक निभी। संवत् १८६२, प्रत्युत उसके कुछ पहिलेही, एक दूसरी नीतिका समुदय हुआ जो संवत् १९१४ [सन् १८५७] तक बरती गयी। इस द्वितीय नीतिका नाम था 'आश्रित पार्थक्य नीति' ( The Policy of Subordinate Isolation )। इसका तात्पर्य्य यह था कि देशी राज अपने अन्तः-शासनमें स्वतन्त्र हैं। कम्पनी उनके भीतरी प्रबन्धमें हस्तक्षेप नहीं कर सकती। परन्तु इन रियासतोंके समस्त परराष्ट्रीय सम्बन्ध कम्पनीके हाथमें रहेंगे। इनको न किसीसे युद्ध करनेका अधिकार होगा न सन्धि करनेका। जो कम्पनीका मित्र होगा वह इनका मित्र होगा, जो कम्पनीका शत्रु होगा वह इनका शत्रु होगा। इस व्याख्यासे स्पष्ट है कि इस नीतिने रियासतोंकी परिस्थितिको कितना गिरा दिया। वलयनीतिके समय तक उनका कम्पनीके साथ बराबरीका नाता था, आश्रित पार्थक्यनीतिने उनको कम्पनीका

आश्रित बना दिया । अब उनकी गणना आश्रित या रक्षित रियासतोंमें हो गयी । उनका अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व अब भी बच रहा था क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय-विधान रक्षित रियासतों ( Protected states ) की सत्ताको मानता है । संवत १९१५ ( सन् १८५८ ) में जिस आश्रित सहयोगिता नीति ( The Policy of Subordinate Co-operation ) का जन्म हुआ उसने इन बेचारोंको अन्तर्राष्ट्रीय जगत्के बाहर फेंक दिया । जैसा कि २१ अगस्त १८९१ के सर्कारी गज़ेट ( नं० १००० ई० ) में घोषित किया गया था—

"सम्राज्ञीकी प्रतिनिधि भारत सर्कार और श्रीमतीके आधिपत्यमें स्थित देशी रियासतोंमें जो सम्बन्ध हैं उनके साथ अन्तर्राष्ट्रीय विधानके सिद्धान्तोंका कोई सम्पर्क नहीं है ।"

यह अधःपतन एक साथ नहीं हुआ । पतनकी भी कई सीढ़ियां थीं । 'भत्ता मूलक पद्धति' वलयनीति और आश्रित पार्थक्यके बीचकी सीढ़ी थी । पहिले पहिल निज़ाम इसके शिकार हुए, फिर धीरे धीरे इसने अन्य प्रधान रियासतोंको अपने चंगुलमें कर लिया । कुछ बच भी गयीं पर यह एक आकस्मिक बात थी । इस पद्धतिका कार्य्यक्रम यह था कि कम्पनी रियासतोंसे कहती थी कि तुम अपने राज्यका शासन करो परन्तु बहुत बड़ी सेना रख कर क्या करोगे ? इसमें व्यर्थ तुम्हारा रुपया लगता है और तुम्हारे पड़ोसियोंकी चिन्ता बढ़ती है । तुम्हारे सिर भी व्यर्थकी ज़िम्मेदारी रहती है । तुमको इस बातका शोच न करना चाहिये कि तुम्हारी रक्षा कैसे होगी । इसका दायित्व हमपर है । हम तुम्हारी रक्षा करेंगे । संवत् १९०१ ( सन् १८४४ ) में ग्वालियरकी सेना कम करनेके लिये जो पत्रव्यवहार किया गया उसमें लिखा गया था—

'क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट सन्धिसे इस बातके लिए बद्ध है कि श्रीमन्त महाराजा साहब और उनके उत्तराधिकारियोंकी रक्षा करे, श्रीमन्तोंके राज्यको विदेशी आक्रमणसे संरक्षित रक्खे और उसमें बड़े विद्रोहोंको दमन करे और श्रीमन्तोंकी वर्त्तमान सेना आवश्यकतासे अधिक तथा श्रीमन्तोंकी सर्कारके लिये विक्षेपकारी और पड़ोसी रियासतोंके लिये चिन्ताजनक है, इसलिये ... ... ।" रियासतकी सेना तो कम हो गयी, अब कम्पनीने रक्षाका क्या प्रबन्ध किया ? अपनी सेनाका एक टुकड़ा उस रियासतमें या उसकी सीमाके पास कहीं डाल दिया । यह टुकड़ा सर्वथा कम्पनीके अधीन था । यह टुकड़ा होता था रितासतके भलेके लिए पर रियासतको यह अधिकार नहीं था कि इससे जब जो काम चाहे ले । सन्धिपत्रोंमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा हुआ है "It shall be employed when required to execute services of importance but it is not to be employed on trifling occassions" ( महत्त्वपूर्ण अवसरोंपर उससे काम लिया जायगा पर छोटी छोटी बातोंके लिये उससे काम न लिया जायगा ) । महत्त्वामहत्त्वका निश्चय कम्पनीके हाथमें था, रियासतको उसके

यहां सहायतार्थ लिखनेभरका अधिकार था। अब रहा प्रश्न व्ययका। इन टुकड़ोंमें अंग्रेज़ और भारतीय सभी प्रकारके सिपाही होते थे और व्यय बहुत पड़ता था। यह सारा व्यय रियासतके ज़िम्मे था। उसको सेनाके व्ययके लिये कम्पनीके कोषमें प्रतिवर्ष एक नियत रक़म देनी पड़ती थी। इसी रक़मको 'सब्सिडी' कहते थे। इसीके कारण इस पद्धतिको 'सब्सिडियरी सिस्टम' कहते थे। रुपया लगता था राजका, सेना होती थी कम्पनीकी। पीछेसे इस प्रणालीमें और बहुतसे परिवर्त्तन हुए। कई रियासतें वार्षिक सब्सिडी देनेमें असमर्थ हुई। उनपर सर्कारका ऋण बढ़ता गया। अन्तमें उनको अपने राज्यका एक अंश ऋणमोचनके लिये देना पड़ा। निज़ाम सर्कारने बरारका प्रान्त इसी प्रकार खोया। इतनेसे भी काम न चला। यह प्रयोग असफल रहा। आगे चलकर Auxiliary contingents (सहायक सेनांश) आदि पद्धतियोंकी परीक्षा की गयी पर यहांपर उस विषयको नहीं छूना चाहते। आगे चलकर यह देखना है कि इस पद्धतिका क्या फल हुआ और यह फल कहाँ तक कम्पनीको अभिप्रेत था।

पहिला फल, जो सहजमें ही समझमें आ सकता है, यह हुआ कि सेना कम हो जानेसे राज दुर्बल हो गये। अब यदि कम्पनी उनके अन्तः शासनमें एकाएक हस्तक्षेप करना चाहती तो उनके पास उसे रोकनेका कोई साधन नहीं रह गया। दूसरा फल यह हुआ कि कम्पनी सबल हो गयी और उसने रियासतोंको लोहेके चगुलसे जकड़ लिया। उसका एक पैसा लगता नहीं था। रुपया रियासतें देती थीं। इस रुपयेसे कम्पनी सुसज्जित सेनाएँ रखती थी। ये सेनाएँ रक्षाके बहानेसे रियासतोंके सिरपर सवार रहती थीं। क्या सामर्थ्य जो कोई रियासत हाथ पैर हिला सके। पहिली बड़ी छावनी पूनामें थी। यह पेशवा तथा अन्य दाक्षिणात्य राज्योंकी रक्षा कर रही थी। पूनाके बाद मऊकी छावनी थी। यह इन्दौर, धार, देवास आदिकी रक्षा करती थी। झांसीकी छावनी गवालियर और झांसीको संभाले हुए थी। नसीराबादकी छावनीने राजपुतानेकी नकेल अपने हाथमें करली थी। इस प्रकार सभी ऐसी रियासतें, जो कुछ तंग कर सकती थीं, बेकाम कर दी गयीं। देशी नरेशोंमें भी कुछ ऐसे थे जो समझते थे कि यह परिणाम होगा। संवत् १८६० (सन् '८०३) में दौलतराव शिन्दे (सिन्धिया) से जो संधि हुई उसके अनुसार कम्पनीने चाहा कि उनकी सीमापर उनके सहायतार्थ एक सेना रखदे। उन्होंने यह बात स्वीकार न की। लीवार्नरने लिखा है :—"शिन्देने उस सेनासे कभी काम नहीं लिया। उनको यह स्वीकार था कि जो ज़िले अंग्रेजोंने उनसे जीत लिये थे वे अंग्रेजोंके पास रहें पर यह स्वीकार न था कि उनकी (शिन्देकी) सीमापर अंग्रेजोंकी सेना रहे।"

यह तो भौतिक प्रभाव था। इस पद्धतिका अधि-मानसिक प्रभाव रियासतोंके लिये बड़ाही बुरा हुआ। बिना अन्तर्राष्ट्रीय जीवनके राजका अस्तित्व अनस्तित्वके बराबर है। एक मनुष्यको अच्छासे अच्छा भोजनाच्छादन आदि दे दिया जाय पर उसे अन्य मनुष्योंसे मिलने बोलनेकी आज्ञा न दी जाय तो थोड़े दिनोंमें उसका शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य

नष्ट हो जायगा। ठीक यही दशा रियासतोंकी है। जो रियासत अन्य रियासतोंसे पूर्णतया पृथक् हो जायगी उसका स्वास्थ्य नष्ट हो जायगा। इसके अतिरिक्त, आत्मारक्षा प्रत्येक प्राणी-का नैसर्गिक स्वत्व और कर्त्तव्य है। जो जानता है कि अवसरपर मुझे प्रतिस्पर्धियोंसे अपनी रक्षा करनी होगी उसके बल, वीर्य्य, धैर्य्य आदिकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, बाहु और हृदय-की पुष्टि बढ़ती है। इसी प्रकार जिन राष्ट्रोंको अपनी रक्षा करनी होती है उनका उत्साह और सैनिक साहस बना रहता है। उनमें राष्ट्रीयताकी झलक देख पड़ती है। इस आत्म-रक्षाभावने ही मेवाड़का नाम भारतके इतिहासमें अमर कर दिया है। इसी भावसे प्रेरित होकर छोटे बेलजियमने जर्मनीका, दुर्बल सर्बियाने आष्ट्रियाका सामना किया था, परन्तु कम्पनीकी नीतिने देशी राज्योंसे आत्मरक्षाका भाव मिटा दिया। उनका बोझ अपने ऊपर लेकर उसने उनको हतोत्साह और निकम्मा कर दिया। आज देशी राज्योंकी अपेक्षा ब्रिटिश भारतमें राष्ट्रीयताका भाव अधिक प्रबल है। जितना हम लोग मेवाड़की गाथा गाते हैं उतना उदयपुरवाले नहीं गाते। कोल्हापुरकी अपेक्षा ब्रिटिश भारतमें शिवाजीकी अधिक प्रतिष्ठा है।

देशी नरेशोंपर इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। जब तक उनको यह आशंका रहती थी कि शत्रुओंसे लड़ना होगा तबतक प्रजाको प्रसन्न रखना उनका एक अपरिहेय कर्त्तव्य होता था क्योंकि यदि प्रजा विद्रोह करदे या शत्रुकी सहायता कर दे तो राज्य ही हाथसे निकल जाय। अब कम्पनीने रक्षा और विद्रोहदमनका दायित्व अपने ऊपर ले लिया, वह चिन्ता ही जाती रही। अतः नरेशोंमें विलासप्रियता बढ़ चली। विलासप्रियताकी सामग्री संग्रह करनेके लिये प्रजाके साथ भांति भांतिके अत्याचार होने लगे। राजकर्म्मचारी भी परले दरजेके चाटुवादी, स्वार्थी और उत्कोचग्राही हो गये। राजाप्रजाका स्नेह नष्ट हो गया। बढ़ते बढ़ते अन्धेर इतना बढ़ा कि कम्पनीको हस्तक्षेप करना पड़ा। बल था ही नहीं, प्रजामें न राष्ट्रीयता थी न राजभक्ति, अच्छे अच्छे समृद्ध राज्य कम्पनीके हाथमें चले गये। अवध और कुर्ग इसके उज्वल उदाहरण हैं।

जो चित्र ऊपर खींचा गया है वह कल्पित नहीं है। संवत् १८८६ (सन् १८३२) में पार्लिमेण्टने एक कमीशन बैठाया था। यह कमीशन भारतीय शासनके सभी अंगोंकी जांच करनेके लिये नियुक्त किया गया था। इसके सामने साक्ष्य देते हुए हैदराबादके रेजिडेण्ट श्री रसलने कहा था—

"जो राज हमसे एक बार सन्धि कर लेता है उसकी अवस्था स्थायी नहीं रह सकती। क्रमशः हमारा सम्बन्ध और प्रगाढ़ होता जाता है, विदेशी आश्रयपर भरोसा करनेका अभ्यास उसकी निजी शक्तियोंको निकम्मी कर देता है और अन्तमें वह स्वाधीनता ही नहीं वरन् स्वाधीनताका बाहरी स्वरूप भी खो बैठता है। यदि अपने बन्धनोंसे व्यथित होकर वह पेशवाकी भांति मुक्त होनेका प्रयत्न करता है तो अपने सर्वनाशको और निकट बुलाता है, यदि चुपचाप पड़ा रहता है तो क्रमशः दुर्बल होता होता निज़ाम या मैसूरके

राजाकी भांति बेदम होकर ही मर मिटता है। उस रियासतके हाथमें केवल इतनाही रहता है कि वह चाहेतो एक साथही उग्र रूपसे नष्ट हो या धीरे धीरे सिसक सिसक मरे।"

यहांपर यह प्रश्न उठता है कि कम्पनीके विधायक इस बातको चाहते थे कि नहीं कि उनकी नीतिका परिणाम इन राज्योंके लिये वैसाही बुरा हो जैसा कि वह अन्तमें हुआ। ऊपर हम संवत् १८८६ वाले पार्लिमेण्टरी कमीशनका ज़िक्र कर चुके हैं। उसके सामने प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मिल भी साक्ष्य देनेके लिये बुलाये गये थे। उनसे यह पूछा गया कि यदि यह 'intermediate stage' [बीच की अवस्था, जिसमें रक्षा कम्पनीके हाथमें थी और अन्तःशासन रियासतोंके हाथमें था] कुछ दिन और जारी रखी जाय तो इन राज्योंको ब्रिटिश शासनमें मिला लेनेमें कोई कठिनाई तो न होगी। प्रश्न ही बतलाए देता है कि पूछनेवालोंकी हार्दिक इच्छा क्या थी। मिलका उत्तर भी इतना ही स्पष्ट है—

"नहीं, मेरी समझमें हम क्रमशः उसी ओर बढ़ रहे हैं। तबतक ये दुःखदायी लोग, अर्थात् पुराने सिपाहीपेशा खानदान, जिनके हाथमें पहिले अधिकार था और जो अब भी उसकी आशा नहीं छोड़ सकते, धीरे धीरे बेकाम होते जाते हैं परन्तु हमको अपयश नहीं होता। यदि हम सारा शासन अपने हाथमें ले लें तो वह हमको अपनी अवनतिका कारण ठहराएं, परन्तु जब केवल सैनिक अधिकार अपने हाथमें लेकर हमने नाम मात्रका प्रभुत्व पुराने नरेशोंके हाथमें छोड़ रक्खा है तो यह अर्थात् [सिपाही पेशा ख़ानदान] लोग वैसेही बेकार रहते हैं और धीरे धीरे नाश होते जाते हैं परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उनकी अधोगति हमारे कारण हो रही है। इस वाक्यकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है।"

मिल तो एक विद्वान् मात्र थे। प्रसिद्ध नीतिज्ञ शासकोंके भी ऐसे ही विचार थे। संवत् १८५५ से संवत् १८६२ (सन् १७९८ से सन् १८०५] तकमें लार्ड वेलज़लीने भारतका एक बहुत बड़ा भाग कम्पनीके राज्यमें मिला लिया। उनके स्वामियों, अर्थात् कम्पनीके डाइरेक्टरोंने इसपर कुछ अप्रसन्नता भी प्रकट की। पर उन्होंने एक न माना। उलटे डाइरेक्टरोंको 'A pack of narrow-minded old women' (संकीर्ण बुद्धिवाली बुढ़ियोंका समूह) कहा करते थे। उन्होंने राज्यवृद्धिके लिये छल और बल दोनोंका प्रयोग किया। इस नीतिके समर्थनमें लायल कहते हैं:—
"By swift means or slow, by fair means or forcible, the British dominion was certain to expand. (शीघ्र या शनैः शनैः, न्यायतः या ज़बर्दस्ती भारतमें अंग्रेज़ी राज्यका विस्तार पाना निश्चित था)।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह भलीप्रकार विदित हो जाता है कि सब्सिडियरी पद्धतिमें कितना गूढ़ तत्व अन्तर्निहित था। यह एक ऐसी युक्ति थी जिससे देशी रियासतें अपने ही रुपयेसे दुर्बल बनायी जा रही थीं, ताकि उनका शासन इतना कुव्यवस्थित और निर्जीव हो जाय कि अन्तमें वह ब्रिटिश राज्यमें सुगमतासे मिलायी जा

सकें। चाल इतनी अच्छी थी कि किसी प्रकारकी अपकीर्ति होनेके स्थानमें अंग्रेज़ोंको साधुवाद मिलता था। बहुतसे लोग आज भी ऐसे मिलेंगे जो कम्पनीको इस बातके लिये धन्यवाद देते हैं कि उसने अवध और कुर्गकी प्रजाका उद्धार किया।

इस लेखको समाप्त करनेके पहिले केवल इतना कह देना है कि सिपाहियोंके विद्रोहके पीछे आश्रित पार्थक्य नीति और तदंगभूत सब्सिडियरी पद्धति तोड़ दी गयी। छावनियां अब भी हैं, कई राज्य अब भी वार्षिक सब्सिडी देते हैं, सर्कार अब भी रियासतोंकी रक्षा करती है, पर अब शासन बिगड़ जानेपर रियासतोंका लोप नहीं होता, केवल राजा गद्दीसे उतार दिया जाता है। इसका कारण यह है सर्कारने देख लिया कि भारतीय जनता देशी नरेशोंका बहुत आदर करती है अतः राज्य छीननेकी अपेक्षा नरेशोंको प्रसन्न रखना सर्कारके लिये अधिक श्रेयस्कर है। तत्कालीन वाइसराय लार्ड कैनिंगने कहा था- "Those patches of native government served as a break-water to the storm which would otherwise have swept over us in one great wave."

[ यदि बीचमें यह देशी शासनके टुकड़े न होते तो ( विद्रोह की ) प्रचण्ड लहर हमको डुबा देती परन्तु इन्होंने उसके बलको थाम लिया ] देशी राज्योंका आजतक बचा रहना इसी अनुभव-जनित नीतिज्ञताका सत्परिणाम है।

सम्पूर्णानन्द

# इंग्लैण्ड और फ्रांस ।

गत सौर आश्विन मासके "स्वार्थमें" "संसारकी राजनीति" शीर्षकमें मैंने लिखा था, "इंग्लैण्ड और फ्रांसमें न कभी सौहार्द था, न होगा।" उक्त लेखमालाके लिए गत मास जो सिलसिला बांधा गया था उसे तोड़कर इस मासमें ही मुझे इस वाक्यकी सार्थकता प्रमाणित करनी पड़ी। वस्तुतः संसारकी राजनीतिकी गति भी ऐसी ही अनिश्चित और विचित्रसी हो रही है। उसमें न कोई सिलसिला ही देखा जाता है, न पूर्वापर संबंध। अनेक शतकोंसे जो भाव राष्ट्रोंमें बद्धमूल हो गये हैं उन्हें प्रलयान्तक महासमर भी नष्ट करनेमें असमर्थ है। जर्मनीके वर्द्धमान् प्रतापके भयसे रूस, फ्रांस और इंग्लैण्ड जैसे अत्यन्त विरोधी देशोंको भी परस्पर कृत्रिम बंधुत्व स्थापित करना पड़ा था। पर महासमरकी आगमें इसके बन्धन जल गये। जर्मनीका जीवन-रक्त शोषण कर अपनी मुमूर्षु-जीवनिशक्तिको पुनः सजीव करनेकी आशासे मित्रराष्ट्रोंने मित्रताका यह नाटक अबतक समाप्त नहीं किया है। पर इसका अन्तिम पटक्षेप होनेमें अब अधिक विलम्ब भी नहीं है। हालमें ही ऐसी कई घटनाएं हो गयी हैं जिनसे मालूम होता है कि अब ये दोनों मित्र परस्पर अभिवादनपूर्वक भिन्न भिन्न मार्ग अवलम्बन करेंगे। सच तो यह है कि वर्सेल संधिके बादसे ही इनकी नीति भिन्न हो गयी थी। विरोध बीच बीचमें प्रगट हो जाता था सही पर फिर भी उसे छिपाकर वे संसारको बताते थे कि हमारा उद्देश्य एक ही है। इसकी आवश्यकता भी थी। दोनों समझते थे कि एकता बनाये रखे बिना वर्सेल संधिका मनमाना अर्थ कर जर्मनीको लूटना संभव नहीं है। पर अर्थशास्त्रने सहसा धर्मशास्त्रका साथ देकर इन धनसर्वस्व व्यापारी राष्ट्रोंको भी दिखा दिया है कि पड़ोसीको सर्वथा निर्धन बनाकर स्वयं धनी और सुखी होनेकी आशा करना बालूसे तेल निकालनेके समान ही व्यर्थ है।

दूसरे, अर्थशास्त्रविषयक अदूरदर्शितासे भी मित्रराष्ट्रोंने दो प्रकारसे यूरोपको दुःख-दारिद्र्यका निवासस्थान बना दिया है। पहले तो उन्होंने यूरोपका नवीन विभाग इस प्रकारसे किया है कि भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें ईर्षा द्वेष सदा बना रहे। इसमें मित्रोंका आन्तरिक उद्देश्य यह था कि परस्पर विरोध रहनेसे ये राष्ट्र कभी इतने प्रबल न होंगे कि इनके कारण मित्रोंको चिन्तित होना पड़े। अपने पड़ोसीसे आत्मरक्षा करने तथा उसका धन हरण करनेके लिए उन्हें प्रबल मित्रशक्तियोंसे सदा मिलकर ही रहना पड़ेगा। इसी विचारसे आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य तोड़कर उसके कई भाग किये गये। आस्ट्रियाके जर्मन बिलकुल निःसत्त्व बनाये गये और मूल जर्मनीके साथ मिलनेसे रोके गये। हंगरी स्वाधीन बनाया गया पर उसका कुछ भाग रुमानिया और युगो-स्लावियाको दिया गया जिसमें इन तीनों-में सदा कलह होता रहे। इसके सिवाय हंगरी और आस्ट्रियामें भी कभी सौहार्द न होनेका

बन्दोबस्त भी किया गया। पोलैण्ड, लिथुएनिया और हंगरीमें भी शत्रुताके बीज बोये गये। फिनलैण्ड और पोलैण्डमें कभी मित्रता न होने देनेका भी बन्दोबस्त किया गया। उधर यूनान और तुर्कीका झगड़ा कभी ख़तम हो ही नहीं सकता। बुलगेरिया बिलकुल निःसत्त्व बनाया गया है और वह बदला लेनेका मौका ढूंढ़ रहा है। यूनान और इटलीकी शत्रुता राजनीतिज्ञोंसे छिपी नहीं है। पोलैण्ड और जर्मनीका झगड़ा ख़तम नहीं हुआ। साइलिशियाके व्यापारिक त्रिकोणका विभाग राष्ट्रसंघने ऐसी युक्तिसे कर दिया है कि उससे न जर्मनी संन्तुष्ट है, न पौलैण्ड ही खुश है। दोनों राष्ट्रसंघकी निन्दा करने लगे हैं। जर्मनी और रूसके बीचमें पोलैण्डकी संघटना इस प्रकार की गयी है कि उक्त दोनों राज्य कभी परस्पर मिल न सकें। सारांश, कूटनीतिपटु विजयी मित्रराष्ट्रोंने, उच्चप्राण पर सरलचित्त भूतपूर्व अमेरिकन राष्ट्रपति विलसनकी सहायता और सहानुभूतिसे यूरोपका विभाग ऐसे कौशलसे किया है कि फ्रांस अथवा इंग्लैण्डका आश्रय त्याग कर कोई राष्ट्र अपने पड़ोसियोंसे आत्मरक्षा न कर सके। यूरोपकी भयंकर राजनीतिक अशान्तिका यही मुख्य कारण है। वर्सैलका संधिपत्र जबतक भूमध्यसागरके अथाह जलमें न डुबा दिया जायगा तबतक यूरोपमें राजनीतिक शान्ति कभी न होगी।

महासमरकृत धननाशसे तथा इस राजनीतिक अशान्तिसे यूरोपकी आर्थिक अवस्था बहुत ही शोचनीय हो गयी है। इसके ऊपर क्षतिपूर्त्तिके लिए मित्रराष्ट्र जर्मनीका जो धनापहरण कर रहे हैं, उससे कई देशोंमें बेकारोंकी संख्या इतनी बढ़ गयी है कि सामाजिक विप्लव ही होना चाहता है। इसका उल्टा परिणाम मित्रराष्ट्रोंपर हो रहा है। इसका कारण विदेशी हुंडीकी दर है। यह विषय इतना कठिन और जटिल पर साथ ही इतना मनोरम और महत्वपूर्ण है कि इसपर अन्य विषयके अन्तर्गत विचार करना सम्भव ही नहीं है। इसलिये इसे विद्वान् अर्थशास्त्रीके लिये छोड़कर यहांपर इतना ही कह देना अलम् होगा कि इसका सम्बन्ध वाणिज्यसे है। वाणिज्य तभीतक उन्नत अवस्थामें रहता है जबतक ग्राहकमें माल खरीदनेकी इच्छा और शक्ति होती है। यूरोपकी आजकल जो अवस्था हो रही है, जिसका किंचित् परिचय ऊपर दिया गया है, उससे मालकी आवश्यकता तो सब देशोंमें होनेपर भी खरीदनेकी शक्ति किसीमें नहीं रह गयी है। फलतः इंग्लैण्ड और फ्रांस जैसे उद्योग-प्रधान देशोंमें कल कारखाने बन्द होने लगे हैं और बेकारोंकी संख्या बेतरह बढ़ गयी है। इस तरह अपनी कूटनीतिका दुष्परिणाम मित्रोंको भी भोगना पड़ता है। जर्मनीकी अवस्था इससे उलटी है। उसको हरजानेकी बड़ी भारी रक़म देनी पड़ती है। इसके लिए काफ़ी सोना शायद संसारमें भी नहीं है। अतः नगद न देकर वह माल देता है। यह माल जर्मनीमें बनता और मित्र देशों तथा अन्यान्य देशोंमें भी जाता है। इससे जर्मनीके कल-कारखाने खूब चलते हैं पर दरिद्रता बढ़ती ही जाती है क्योंकि मालका मूल्य मित्रोंके हरजानेमें दिया जाता है। इसका एक परिणाम और भी हुआ है। जर्मनीसे धन बराबर बाहर निकला चला जा रहा है पर बाहरसे वहां कुछ भी नहीं जाता, इससे

# इंग्लैण्ड और फ्रांस

जर्मन हुंडीकी दर बेतरह गिर गयी है। इंग्लैण्डके सोनेके एक पाउण्डका मूल्य पहले स्वाभाविक दशामें जर्मनीके चांदीके बीस मार्कके बराबर था। पर आज वही १,२२० मार्क हो गया है! इसका मतलब यह होता है कि स्वाभाविक अवस्थामें जो माल जर्मनीके व्यवसायी इंग्लैण्डमें ६० पौंडसे कममें बेच नहीं सकते थे वही आज वे १ पौण्डमें भी बेच सकते हैं! ऐसी भयंकर स्थितिमें जर्मन मालपर दुगुना तिगुना कर बैठाकर भी उससे अपने ही देशमें प्रतियोगिता करना मित्र देशोंके व्यापारियोंके लिए असंभव हो रहा है और वहांके कारखानदार हाय हाय करने लगे हैं। अवश्य ही जर्मनी भी ऐसी प्रतियोगिता केवल उसी मालसे कर सकता है जिसके लिए आवश्यक सब पदार्थ जर्मनीमें ही पैदा होते हैं। हुंडीकी इसी दरके कारण बाहरसे कच्चा माल लेकर तैयार माल बाहर भेजना जर्मनीके लिए भी असम्भव हो गया है। अर्थशास्त्रकी इस अनपेक्षित गतिसे मित्रराष्ट्र घबरा गये हैं। अब बड़े बड़े राजनीतिज्ञ तथा अर्थशास्त्रज्ञ कहने लगे हैं कि, संसारव्यापी युद्धमें पराजितसे हरजाना लेना संभव नहीं है। यही बात युद्धकालीन परस्पर ऋणके बारेमें भी कही जा सकती है। अत: अब दबी जबानमें अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि देशोंके राजनीतिज्ञ कहने लगे हैं कि आपसका देना-पावना ख़तम कर डालना चाहिये। अर्थात् ऋणके काग़ज़ समुद्रमें डुबाकर सबको निश्चित चित्तसे व्यवसाय-वाणिज्यमें लगना चाहिये। इसीमें अपना और संसारका कल्याण है। ऋणके सम्बन्धमें जो बात सत्य है वही बात हरजानेके बारेमें भी अधिकतर सत्य है। अतः अब मन ही मन मित्रराष्ट्र भी समझ गये हैं कि जर्मनीसे धन लेकर अपनी हानिपूर्त्ति करना संभव नहीं है।

इस अकल्पित आर्थिक घटनाके कारण फ्रांस और इंग्लैण्डका कृत्रिम स्नेह बनाये रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है। इसीसे इस लेखके प्रारम्भमें कहा गया था कि कपट नाटकका अन्तिम दृश्य भी शीघ्र ही समाप्त होना चाहता है। फ्रांसका विश्वास है कि, महासमरसे लाभ अंग्रेजोंने उठाया है और हानि फरांसीसियोंको उठानी पड़ी है। अंग्रेज हमारी सहायता हृदयसे नहीं करते, यह विश्वास भी फरांसीसियोंमें बद्धमूलसा हो गया है। ये सब बातें फ्रांसके साधारण समाचारपत्र सर्वदा कहा करते थे और प्रभावशाली पत्र कभी कभी उत्तेजनाके समय कह दिया करते थे। पर शासक इन्हें रोकते तथा ऊपरसे मित्रता प्रकट किया करते थे। इसका कारण वही जर्मनीसे हरजाना वसूल करनेकी तथा यूरोपमें अपना एकतंत्र प्रभुत्व स्थापन करनेमें अंग्रेजोंसे सहायता पानेकी आशा थी। द्वितीय प्रकारकी फ्रांसकी आशा तो बहुत दिन पहले ही नष्ट हो गयी थी। व्यवसाय वाणिज्यसे लाभ उठानेकी आशासे जब अंग्रेज भीतर ही भीतर जर्मनीसे सहानुभूति दिखाने लगे, साइलीशियाके झगड़ेमें जब उन्होंने खुल्लमखुल्ला फ्रांसके आश्रित पोलैण्डका विरोध किया, इराककी गद्दीपर फ्रांसके शत्रु फिजुलको बैठाकर फ्रांसके सीरिया प्रान्तमें सदा अशांति बनाये रखनेकी व्यवस्था कर दी तथा और भी ऐसी ही और कई बातोंसे फ्रांसकी एकतन्त्र

यूरोपीय प्रभुताकी कल्पना व्यर्थ कर डाली, तभी फरांसीसी राजनीतिज्ञोंने दूसरी आशा त्याग दी थी पर पहली आशा अबतक बनी हुई थी। आर्थिक विप्लवसे वह भी प्रायः लुप्त हो गयी है। अतः यह कपट नाटक बनाये रखनेकी अब कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है। महासमरके अन्तसे अबतक फ्रांस जिस नीतिसे काम कर रहा था उसका आधार जर्मनीसे हरजानेकी रकम लेकर अपनी आर्थिक अवस्था सुधारना और इंग्लैण्डकी सहानुभूतिसे यूरोपमें एकतंत्र प्रभुत्व स्थापित करना ही था। उसकी यह आशा कब बिफल हुई यह कहना संभव नहीं है। इसका कारण कोई एक घटना नहीं है। हरजानेकी रकम निश्चित करनेके समय ही फ्रांसको मित्रों-का संदेह हो गया था। एक बार उसने स्वयं ही जर्मनीसे बातचीत कर इसे निपटा डालना चाहा था, पर इसमें उसे सफलता नहीं हुई। अनन्तर वह पहले आपसमें सलाह कर यह रकम ठहराना चाहता था और सुप्रीम कौन्सिलकी बैठकका दिन कौशलसे टालने लगा था। इससे भी उसके संदेहका पता लगता है। गत मार्च महीनेमें ही उसने कमाल पाशाके अनुयायी राष्ट्रीय तुर्कोंसे संधि करनेका विचार पक्का कर लिया था, यह बात हालमें ही मालूम हुई है। इससे अन्ततः इतना प्रमाणित होता है कि गत मार्चमें फ्रान्स नयी नीति ढूंढ़ रहा था। साइलीशियाके झगड़ेका निपटारा जब सुप्रीम कौन्सिलके किये न हुआ और उसने इसे राष्ट्रीय संघके सिर पटक कर किसी तरह जान बचा ली, उसी समय बुद्धिमान राजनीतिज्ञ समझ गये थे कि मित्रोंकी मित्रताका अन्त हो गया। सुविधाके लिए कहा जा सकता है कि इसी दिनसे फ्रांस और इंग्लैण्डने संसारको संकेतसे बता दिया कि, हम दोनोंके मार्ग अलग हैं। सुप्रीम कौंसिलकी यह असमर्थता देखकर अमेरिकाके राजदूत मि० हारवेने साफ़ कह दिया था कि अब इस घटनाके साथ अमेरिकाका कुछ भी संबंध न होगा क्योंकि यह राष्ट्रसंघके हाथमें गयी है जिसे अमेरिका स्वीकार नहीं करता। इसका महत्त्व बहुत अधिक है, इसलिए यहां अमेरिकाके संबंधका भी कुछ परिचय देना आव-श्यक प्रतीत होता है।

यूरोपीय राजनीतिमें अमेरिकाने पहले जो भाग लिया था और अब वह जिस प्रकार उससे मुंह मोड़ रहा है, इसका भी इंग्लैण्ड और फ्रांसके संबंधपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। महासमरको सचमुच ही स्वतंत्रताका झगड़ा समझकर अमेरिका इस लड़ाईमें पड़ा था। युद्ध प्रारंभ होनेके बाद इंग्लैण्डकी जलसेनाके अधिक प्राबल्यके कारण जर्मनी और अमे-रिकाका संबंध एक प्रकारसे बन्द हो गया था। यदि ऐसा न होता तथा अंग्रेजोंके समानही जर्मन भी अमेरिकन लोकमतको अपनी ओर मिलाये रखनेका निर्बाध प्रयत्न कर सकते तो संभवतः इस युद्धमें अमेरिका कोई पक्ष ग्रहण न करता। पर जर्मनीके दुर्भाग्यसे होना कुछ और ही था। प्रारंभमें मित्रोंके हाथ शस्त्रास्त्र बेचकर अमेरिकन व्यापारियोंने अच्छा लाभ उठाया और बाद उनको सैनिक सहायता देकर युद्धमें विजय भी प्राप्त करा दी। अमेरिका समझता था कि हम संसारको, अथवा यह कहना चाहिये कि समस्त श्वेत-संसारको, सैनिक शासनसे छुड़ानेमें सहायता दे रहे हैं। तत्कालीन राष्ट्रपति विलसन

भावप्रधानताके कारण युद्धका प्रकृत रूप देख न सके। उन्होंने संसारको बन्धनमुक्त करनेके लिये १४ तत्वोंका आविष्कार किया धूर्त मित्रराष्ट्रोंने विना विलंब उनका स्वीकार कर लिया। अनन्तर रा. विलसनने कहा कि, इस युद्धमें संपूर्ण पराजय किसीको स्वीकार न करनी होगी। पर मित्रोंके हाथमें पड़ते ही उनके सब उच्च विचार हवा हो गये। बाद उन्होंने ही कहा कि जर्मनी जबतक संपूर्ण पराजय स्वीकार न करेगा तबतक शान्ति न होगी! लाचार जर्मनीको हार माननी पड़ी। विलसन अमेरिका छोड़कर यूरोपमें आये—पर अपने साथ चौदह तत्त्व लानेको साफ़ भूल गये। वर्सेलमें संधिपत्र बनाया गया और अनन्योपाय जर्मनीसे उसपर हस्ताक्षर कराया गया। हिंसा, द्वेष और क्रूरताके लिये यह संधिपत्र संसारके इतिहासमें संस्मरणीय होगा। यदि मित्रमंडल शान्तिको संसारसे बहिष्कृत करने, जाति जातियोंमें द्वेष उत्पन्न करने तथा पराजित पर, वीर शत्रुकी मृत देहपर तांडव करनेके उद्देश्यसे ही संधिपत्र बनानेके लिए बैठता तो इससे अधिक सफलता लाभ कर सकता या नहीं, इसमें संदेह ही है। इसी अशांतिपत्रके साथ ही राष्ट्रसंघका भी अविच्छेद्य संबंध स्थापित किया गया। इसीका विषफल आज भी संसार चख रहा है।

यह तो यूरोपकी दशा हुई। इधर रा. विलसनका इस प्रकार अधःपात हुआ पर उधर धीरे धीरे अमेरिकाकी आंखें खुल गयीं। यूरोपका स्मशाननृत्य, जिसमें अमेरिकन राष्ट्रपति विलसनने भी साथ दिया था, देखकर अमेरिकाका मोह दूर हो गया। उसने देखा कि इस अन्यायपूर्ण पत्रपर हस्ताक्षर करनेसे अमेरिका भी सदाके लिए यूरोपीय जालमें फंस जायगा। रा. विलसन विजयमाला धारणकर स्वदेश लौट गये पर देशने अपने इस विजयी वीरका स्वागत नहीं किया। लज्जा, घृणा और खेदके कारण विलसनने फिर जनतामें मुंह दिखानेका भी साहस नहीं किया। अमेरिकन राष्ट्रसभाने इस संधिपत्रपर हस्ताक्षर करनेसे इनकार किया; राष्ट्रसंघसे तो उसने स्पष्ट घृणा प्रकट की। सौभाग्यवश संवत् १९७७ (१९२० ईसवी) में ही नवीन राष्ट्रपतिका निर्वाचन हुआ; लोकमतको विलसनकी नीतिसे आन्तरिक विराग प्रगट करनेका अवसर मिल गया। रा. विलसनके दलकी ऐसी हार हुई जैसी पहले किसी दलकी नहीं हुई थी। जो रा. विलसन एक समय कीर्त्तिके उज्ज्वल शिखरपर चढ़ गये थे वे ही अपकीर्त्तिके अन्धकारमय गर्तमें सदाके लिए गिर गये। जिनकी एक एक बातका आदर बड़े बड़े सम्राट् करते थे उनकी बात आज कोई नहीं सुनता। अल्प समयमें मनुष्यकी ऐसी उन्नति और अवनतिका उदाहरण और कहां मिलेगा? अमेरिकाने इस प्रकार राष्ट्रसंघ और वर्सेलके षड्यंत्रका तिरस्कार ही नहीं किया परन्तु जर्मनीके साथ स्वतन्त्र संधि भी कर ली। यह सन्धिपत्र बहुत ही छोटा पर बड़े ही महत्त्वका है। इससे अमेरिकाके वर्त्तमान् शासकोंकी राजनीतिक दूरदर्शिताका अच्छा परिचय मिलता है। राष्ट्रसंघका अस्तित्व तथा यूरोपीय देशोंकी वर्त्तमान् सीमाकी संरक्षा करनेका वचनप्रदान, इन दो बातोंको छोड़ कर अमेरिकाने वर्सेल संधिकी और सब बातोंका समर्थन किया है। अर्थात् मित्रमण्डल, विशेषकर फ्रांस और इंग्लैण्ड, जिन दो शस्त्रोंसे यूरोपको अपने अधीन

बनाये रखनेका विचार कर रहे थे उनपर सान चढ़ानेका काम छोड़कर संधिपत्रसे अन्यान्य लाभ उठानेके लिये अमेरिका आज भी तैयारहै ।

यूरोपीय राजनीतिके संबंधमें अमेरिकाका यह भाव देखकर अंग्रेजोंने भी धीरे धीरे फ्रांसका साथ वस्तुतः छोड़ दिया। फ्रांसका सर्वस्व स्थल-सेना है, इसलिये वह अमेरिकाके विरागकी उपेक्षा कर भी सकता है। पर इंग्लेण्डकी अवस्था बिलकुल भिन्न प्रकारकी है। उसका साम्राज्य अंग्रेजी जलसेनाके बलपर ही निर्भर है। उधर अमेरिकाकी जलसेना बड़ी शीघ्रतासे बढ़ने लगी। यह देखकर अंग्रेज विचलित हुए। कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफरीका आदि साम्राज्यान्तर्गत स्वतंत्र अंग्रेजी उपनिवेश और भी घबरा गये। उन्होंने देखा धन-जन-बहुल प्रबलप्रताप-अमेरिकाको असंतुष्ट कर अपनी स्वाधीनताकी रक्षा करना संभव नहीं है। उत्कट साम्राज्यवादी "मार्निंग पोस्ट" जैसे लंडनके समाचार-पत्रको भी स्वीकार करना ही पड़ा कि आज अमेरिकासे जलसेनाके संबन्धमें प्रतियोगिता करना अंग्रेजोंके लिये संभव नहीं है। अंग्रेज धनाभावसे पीड़त हो रहे हैं और अमेरिकाको अपने अतुल धनकी व्यवस्था करनेका उपाय सूझ नहीं रहा है, अंग्रेज भी उस देशके ऋणपाशमें फंसे हुए हैं। इस ऋणका वार्षिक व्याज ही ७५ करोड़ रुपयेसे अधिक होता है और पिछले तीन सालमें अंग्रेज सूद भी नहीं दे सकते हैं। इस दशामें उस देशसे जलसेनावृद्धिमें बराबरी करना भी पागलपन ही है। यह सब सोच समझकर ही यूरोपीय नीतिमें फ्रांसका साथ न देकर अमेरिकाको अपना साथी बनानेकी ओर अंग्रेजोंने अधिक ध्यान दिया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अंग्रेजी समाचारपत्रों और मासिकपत्रोंके लेख तथा अंग्रेज नेताओंकी वक्तृताएं अमेरिकाकी प्रसंशासे अत्यन्त परिपूर्ण देखकर, आश्चर्य संवरण करना कठिन हो जाता है। वक्तपर चापलूसी कैसी करनी चाहिये तथा असमर्थोंको अपने सैनिक बलका भय कैसे दिखाना चाहिये और दोनों अवसरोंपर अपनी शान्तिप्रियता तथा संसारकी स्वतन्त्रताके प्रति हार्दिक भक्ति भी कैसे दिखानी चाहिये—यह अनुभवी अंग्रेज राजनीतिज्ञोंसे ही सीखना चाहिये। भारत तथा अन्य असमर्थ देशोंके प्रति अंग्रेजोंकी हुंकार-ध्वनि और समर्थ अमेरिकाके प्रति नम्रता देखकर एक देहाती कहावतकी याद आ ही जाती है—"अब्बरके हम बाप बाटी, जब्बरके हम दास!" पर यह विषयान्तर हो गया। कहनेका मतलब यह है कि अमेरिकन प्रतियोगितासे अपनी रक्षा करने, जापान और अमेरिकासे अपने उपनिवेशोंको बचाने, तथा एशियाखंडमें अपना प्रभुत्व बढ़ानेके लिये यूरोपीय राजनीतिक क्षेत्रमें अंग्रेज़ोंको फ्रान्सका साथ छोड़ना पड़ा। अपना व्यापार बढ़ाकर आर्थिक दशा सुधारनेकी इच्छासे भी उन्हें, बोलशेवी रूसके राज्यका अस्तित्व स्वीकार न करके भी, बोलशेविकोंके साथ व्यापारी संधि करनी पड़ी। इसका एक कारण, संभवतः यही मुख्य कारण था, यह भी था कि इस संधिसे आबद्ध बोलशेवी एशियामें अंग्रेजोंके विरुद्ध "षड्यंत्र" न करेंगे—संधिमें यह शर्त्त भी करनी पड़ी है। बोलशेवियोंके विरोधसे ही ईरान अंग्रेजोंके हाथसे निकल गया और राष्ट्रीय तुर्क अन्ततक सेवरकी संधिका विरोध करते ही रहे। अतः कहा जा

सकता है कि, वाणिज्य, बोलशेवी, उपनिवेशोंकी रक्षा, चीनमें अपने स्वार्थकी रक्षा तथा भारतमें "सर्वतंत्रस्वतंत्र" सेवक तंत्रशासन (नौकरशाही) बनाये रखनेकी आवश्यकता, इन कई भिन्न भिन्न तथा संयुक्त कारणोंसे अंग्रेजोंके लिए प्रधानतः समस्या यह उत्पन्न हो गयी है कि जापान तथा अमेरिकाका मनोमालिन्य और स्वार्थविरोध दूर कर—अन्ततः अपनी अवस्था सुधरनेतक दबाकर—इन दोनोंको अपना मित्र बना लें। जापान, इंग्लैण्ड और अमेरिकाको एक संधिसूत्रमें बांधकर यदि एक गुट बनाया जा सके तो इस समय अंग्रेजोंको मर्त्यलोकमें ही स्वर्गराज्य मिल जाय। इसके लिए अंग्रेज राजनीतिज्ञ अनेक प्रकारोंसे प्रयत्न कर रहे हैं पर, अवशिष्ट संसारके सौभाग्यसे, इसकी संभावना बहुत ही कम है।

इन कई कारणोंसे अंग्रेजोंने समरसुहृत् फरांसीसियोंका साथ छोड़ दिया। ऊपर दिखानेके लिये तो मित्रोंकी घनिष्ठता अभी बनी हुई है, पर भीतरकी बात यही है। अतः फ्रांसको भी अंग्रेजी सहानुभूतिके भरोसे यूरोपमें चिरप्राधान्य स्थापित करनेकी आशा छोड़कर नयी नीतिका अवलंबन करना पड़ा है। जर्मनी और रूसके बीच पोलैण्डका प्रबल राज्य स्थापित करने और उसे अपना आश्रित बनाकर जर्मनीको असहाय असंरक्षित बनाये रखनेकी नीतिका त्याग कर पहले पहल अब उसने जर्मनीसे सहयोग करनेकी ओर ध्यान दिया। इसका अर्थ यह नहीं है कि फ्रांसने पोलैण्डका पक्ष त्याग दिया है और जर्मनीको अपना मित्र बना लिया है। यह अभी संभव नहीं है। पर उसने उस नीतिका सूत्रपात कर दिया है जिसके क्रमविकाससे जर्मनी और फ्रांसमें व्यापारी सहयोग होने लगेगा तथा अन्तमें मित्रता भी हो जायगी। इसका प्रथम परिचय 'लूशेर-राथेनो समझौता' (Loucheur-Rathenau Accord) है। जर्मनी-प्रुशियाके विसबाडेन नगरमें यह समझौता हुआ था। इसके अनुसार फ्रान्स और जर्मनीमें उद्ध्वस्त फरांसीसी प्रान्तोंके पुनरुद्धारके लिये जो सहयोग होने लगा है उसका फल भी दोनोंके लिये लाभजनक होने लगा है। तारोंसे मालूम होता है कि गत अक्तूबर महीनेमें इससे जर्मनी और फ्रान्सका आगत-निर्गत वाणिज्य बहुत बढ़ गया तथा और भी बढ़नेकी आशा की जाती है। मित्रताका यह शुभ परिणाम देखकर फरांसीसियोंका युद्धजात-क्रोध शान्त होने तथा व्यापारी सहयोगका क्षेत्र अधिकतर व्यापक होनेकी आशा भी की जाती है। अन्तमें यह व्यापारी सहकारिता राजनीतिक मित्रतामें परिणत हो जाय तो आश्चर्य ही क्या है? पर यह बहुत दूरकी बात है। आजकल राजनीतिक क्षेत्रमें परिवर्त्तन भी बहुत शीघ्र हुआ करते हैं। कौन कह सकता है कि वाशिंगटनकी बातचीतके बाद जर्मन अथवा फरांसीसी दृष्टिकोण फिर भी बदल न जायगा? आजकल निश्चयपूर्वक कुछ भी कहा नहीं जा सकता पर संभावना देखकर ही अंग्रेज कुछ घबरासे गये हैं। वे इस समझौतेका विरोध यह कहकर करने लगे हैं कि, इससे जर्मनीपर और भी आर्थिक बोझ लादा गया है। सर जे. ब्रैडबेरीने व्यंग्यके साथ यह भी कह मारा है कि "जो जर्मन सरकार हरजानेकी रकम देनेमें असमर्थता प्रकट करती है वही यह जिम्मेवारी खुशीसे उठाती है, यह बड़े आश्च-

र्यकी बात है।" इससे भी बड़े आश्चर्यका विषय तो यह है कि आजतक फ्रांसकी अदूरदर्शितासे जो इंग्लैण्ड संसारकी दृष्टिमें अपनेको साधु और फ्रांसको शान्तिभंगकारी सिद्ध कर स्वार्थसाधन कर रहा था, फ्रांसके करवट बदलते ही उसे भेड़का चमड़ा फेंककर भेड़ियेका भीतरी रूप दिखाना पड़ा।

फ्रांसकी नयी नीतिका दूसरा रूप अंगोराके राष्ट्रीय तुर्कोंके साथ उसका संधि कर लेना है। इस संधिका संपूर्ण परिचय अभी नहीं मिला है। निश्चितरूपसे जो बातें मालूम हुई हैं वे ये हैं—(१) फरांसीसी और राष्ट्रीय तुर्कोंका युद्ध समाप्त हो गया, (२) कुस्तुनतुनियाके नाममात्र सुलतानका पक्ष त्याग कर फ्रांसने अंगोराकी राष्ट्रीय सरकारको ही तुर्कीका एकमात्र शासक मान लिया, (३) शासनादेश प्राप्त सिलिसिया प्रान्तका कुछ भाग फ्रांसने तुर्कोंको लौटा दिया, तथा (४) बगदाद रेलवेके एक अंशके संचालनका अधिकार फ्रांसको मिला। इसके सिवाय और भी कई बातें हैं जिनका प्रभाव अंग्रेजोंके इराक शासनपर पड़ता है, यूनानके अधिकारमें धक्का लगता है और इराकके बनावटी सुलतान फिजुलके संबंधमें संदेह उत्पन्न होता है। ये सब बातें अभी इतनी अनिश्चित हैं कि इनपर राय देना संभव नहीं है। अंगरेजी परराष्ट्र-विभाग इसका जिस तीव्रताके साथ प्रतिवाद कर रहा है उसे देखकर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसमें गाजी कमाल पाशाकी राष्ट्रीय सरकार और फ्रांसका लाभ तथा अंग्रेजोंकी हानि है। पहली दो बातें सबसे अधिक महत्त्वकी हैं। आजतक यूरोपीय महाशक्तियोंकी दृष्टिमें अंगोराकी सरकारका अस्तित्व ही नहीं था। कुस्तुन्तुनियाके सुलतानको अपना बन्दी बनाकर उसके द्वारा वे राष्ट्रीयताका दमन कर रहीं थीं। अब वह बात नहीं रही। यूरोपकी अन्ततः एक महाशक्तिने तुर्कीके सच्चे शासकोंको शासक मान लिया तथा कुस्तुन्तुनियाका नाटक समाप्त कर डाला। ऐसा करनेमें फ्रांसने उस समझौतेके विरुद्ध आचरण किया है या नहीं जो मित्रोंने युद्ध प्रारंभ होते ही आपसमें करके प्रतिज्ञा की थी कि किसी शत्रुके साथ हम अलग संधि न करेंगे, इसपर राय देनेमें हम असमर्थ हैं। संसारके उपकारकी दृष्टिसे यदि देखा जाय तो वह समझौता भंग करनेमें ही बुद्धिमत्ता है। दूसरी बात यह कि, यह दोषारोप फ्रांसपर करनेके पहले अमेरिकापर करना चाहिये था जिसने वर्सेल संधिको समुद्रार्पण कर जर्मनीके साथ स्वतंत्र संधि कर ली है। जब यूरोपीय मित्रोंने अमेरिकाके कार्यका विरोध करनेका साहस नहीं किया, बल्कि आज उसकी चापलूसी करनेमें ही वे अपनेको धन्य समझने लगे हैं, तब यह भी मान लेना होगा कि उस समझौतेकी निरर्थकता उन्होंने पहले ही स्वीकार कर ली थी। अतः फ्रांसने अंगोरा सरकारके साथ जिस समय सन्धि की उस समय वह समझौता अस्तित्वमें ही नहीं था। अस्तु। नयी नीतिका तीसरा परिचय रूसके साथ फ्रांसका व्यापारी समझौता है। फ्रांसके विरोध करते रहनेपर भी अंग्रेजोंने रूसके साथ व्यापारी संधि करके अपना आर्थिक स्वार्थ सिद्ध कर लिया था और संसारकी दृष्टिमें अपनेको उदार भी प्रमाणित किया था। यह देखकर फ्रांसने भी

रूससे व्यापारी संधि कर ली। केवल यही नहीं, उसकी राजनीतिपटुता इसके भी आगे बढ़ गयी। सम्वत् १९७१ (सन् १९१४ ई०) तकका जारशाही रूसका ऋण चुका देनेकी प्रतिज्ञा बोलशेवी रूसके राष्ट्रपति लेनिनसे कराकर उसने राजनीतिक संधिका मार्ग भी निष्कंटकप्राय कर लिया है। यह चाल अंग्रेजोंपर है। श्री लेनिन युद्धारंभके बादका ऋण देना नहीं चाहते। पहलेके देनेमें भी सरकारी ऋणके सिवाय म्युनिसिपलिटी आदिके ऋणकी बात तथा व्यापारियोंकी संधिकी बात भी उन्होंने नहीं कही है। प्रकृत अवस्था यह है कि युद्धके पहले जारशाही रूसको अधिक ऋण फ्रांसने ही दिया था। युद्ध प्रारम्भ होनेके बाद ज्यादा रकम अंग्रजोंने दी है। रूसकी म्युनिसिपलिटियोंको अंग्रेज़ोंने बहुत बड़ी रकम दी है पर फ्रान्सने थोड़ी दी है। अंग्रेज व्यापारियोंकी जितनी सम्पत्ति रूसमें फंस गयी है उतनी फरांसीसी व्यापारियोंकी नहीं फंसी है। इसीसे अंग्रेजी परराष्ट्र-सचिव लार्ड कर्जनने बड़े खेदके साथ श्री लेनिनको लिखा है कि आपकी घोषणासे फ्रांसका ही लाभ है, अंग्रेजोंका कुछ भी नहीं है! इसके बाद भी यदि लेनिनने म्युनिसिपलिटियोंका ऋण तथा व्यापारियोंकी संपत्ति लौटानेका वचन न दिया तो परिणाम क्या होगा? फ्रांस और रूसमें राजनीतिक संधि हो जायगी और यूरोपमें अंग्रेज वस्तुतः अकेले रह जायंगे। फ्रांसकी नयी नीतिकी खूबी यही है।

अबतक जो कुछ लिखा जा चुका है उसका सारांश यह है। वर्सैलकी संधिके बादसे फ्रांस जिस नीतिसे काम कर रहा था वह भ्रममूलक थी। समस्त यूरोपव्यापी मित्रताका जाल फैलाकर वह अपने वर्तमान और भावी प्रतियोगियोंको—रूस और जर्मनी-को—सदाके लिये निर्बल बनाकर यूरोपपर अप्रतिहत प्रभाव स्थापित करना चाहता था। अंग्रेज ऊपर ऊपर तो इस नीतिका समर्थन करते थे और सब समय फ्रान्ससे सहानुभूति प्रकट करते थे पर भीतर भीतर फ्रान्सके विरोधी देशोंसे मेलमिलाप कर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे। वस्तुतः जर्मनीसे हरजाना न लेनेका वचन अंग्रेजोंने भी नहीं दिया है और फ्रान्सने भी नहीं दिया है, बोलशेवी रूसका अस्तित्व अंग्रेजोंने भी स्वीकार नहीं किया है और फ्रान्सने भी नहीं किया है। पर अंग्रेजोंकी बातें मीठी हुआ करती थीं और फ्रान्सकी तीखी। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप तथा अमेरिकामें अंग्रेज तो अपनेको न्यायप्रिय दिखा सके और उनकी तुलनामें फ्रान्स अन्यायी मालूम होने लगा। लोकमतकी सहानुभूति अंग्रेजोंके साथ हो ली और फ्रान्स अकेला पड़ गया। इसपर फरांसीसी लेखक और वक्ता रह रहकर क्रोध प्रकट कर दिया करते थे पर यह उनका लड़कपन समझा जाता था। अंग्रेज उनके क्रोधका उत्तर सौम्य भाषामें देते और फ्रान्सके अन्तरंग मित्र होनेकी शपथ खा लेते थे। फलतः लोकमतकी दृष्टिमें फ्रान्स और भी गिर जाता था, अंग्रेज और भी बढ़ जाते थे। यह देखकर फ्रान्सके विचारशील पुरुषोंकी आंखें खुलने लगीं। युद्ध-कालीन उत्तेजनाका स्थान उनकी स्वाभाविक तीक्ष्णदर्शिता ग्रहण करने लगी। अनन्तर साइलीशियाके झगड़ेमें जब इंग्लैडने प्रकाश्यरूपसे जर्मनीका पक्ष ग्रहण कर आश्रित पर

सबल पोलैण्डकी सहायतासे रूस तथा जर्मनीको सदा दबाये रखनेकी फरांसीसी नीतिका विरोध किया, डेन्यूब नदीके किनारे स्वतन्त्र छोटे छोटे राज्योंका समूह बनाकर बालकन प्रायद्वीपपर प्रभाव जमानेकी फ्रांसकी इच्छा जब मध्ययूरोपकी स्लाव जातियोंके प्रति इंग्लैण्डकी सहानुभूतिसे विफल हुई, फ्रान्सके शत्रु फिजुलको जब इंग्लैण्डने इराकके सिंहासन-पर बैठाकर फ्रान्सकी पूर्वी नीतिमें भी विघ्न उपस्थित किया तथा युगो-स्लाविया, जेको-स्लोवाकिया और रूमानियाने जब परस्पर संधि कर (इस गुटका नाम Petite Entente अथवा "लघुमित्रमंडल" है ; फ्रान्स, इंग्लैण्ड और इटालीका गुट 'वृहत् मित्रमंडल' अथवा केवल "मित्रमंडल" ही कहाता है।) फ्रांसको एक ओरसे घर दबाया तब फरांसीसी राजनीतिज्ञ पूर्णतया सावधान हो गये। उन्होंने देखा कि चाल बदले बिना काम नहीं चलेगा। "ताँ" (*Le Temps*) नामक फ्रान्सके प्रभावशाली पत्रने इस अवस्थाका प्रकृत वर्णन इन अल्प पर हृदयग्राही शब्दोंमें किया है—"प्रारम्भ तो हमने विश्वव्यापी बंधुत्वसे किया पर हमारा अन्त—हमें साहसके साथ स्वीकार करना चाहिये कि हमारा अन्त—प्रायः मित्रहीन अवस्थामें होना चाहता है। इस महत्परिवर्त्तनके लिये दायी सर्वथा हम ही नहीं हैं। हमारे देशके बाहरकी घटनाओंसे तथा (विदेशी) मनुष्योंसे भी हमें वह सहायता नहीं मिली जिसकी हम न्यायतः आशा कर सकते थे। साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना ही पड़ता है कि आज हमारा परराष्ट्रीय संबंध अधिकतर सुखदायी होता यदि फ्रान्सके नाम बोलनेवालोंकी बातोंसे जगतको मालूम हो जाता कि हम सुविचार, तारतम्य तथा मितव्यय और परिश्रम-मूलक शांतिके भक्त हैं, जो वस्तुतः हमारी जातिके स्वाभाविक गुण हैं।" इन अल्पवाक्यों-में अपनी भूल और मित्रोंकी अविश्वसनीयता मार्मिकताके साथ दिखायी गयी है। इसके साथ साथ फ्रांसने अपनी सेना घटानेका निश्चय किया, जर्मनीके साथ औद्योगिक संधि की, बोलशेवी रूससे वाणिज्य करनेका मार्ग निष्कण्टक कर राजनीतिक संधि भी संभव की और राष्ट्रीय तुर्कोंके साथ संधि कर अपने अस्तित्वके लिये इतने दिनतक लगातार झगड़नेवाली उस बीर जातिके सहायतार्थ भी हाथ बढ़ाया। अल्प समयमें इतना परिवर्त्तन। जेनेवामें राष्ट्रसंघ-का साधारण अधिवेशन हालमें ही हो रहा था। उसमें फ्रान्सके प्रतिनिधि मुसियें नोव्ले-माइरने १ली अक्तूबरको फ्रांसकी परिवर्त्तित नीतिकी घोषणा प्रभावशाली वाक्योंमें की थी। आपने पूछा—"क्या यह सच नहीं है कि फरांसीसी और जर्मन सेनाओंके अनेक तरुण वीरोंने मरते समय भी ये आशाजनक उद्गार निकाले थे—'फ्रांसकी जय' 'जर्मनीकी जय'। इन सब वीरोंकी आशा क्यों न सफल हो? महान्, सम्पत्तिशाली और शांतिप्रिय बनकर इन देशोंके अधिवासी पड़ोसमें क्यों न रहें? क्या हम इस आशाको सफल करनेके लिये ही यहां एकत्र नहीं हुए हैं? फरांसीसी प्रतिनिधिमंडलकी यही इच्छा है और यही इच्छा शांतिप्रिय परिश्रमी समस्त फरांसीसी जातिकी है।" सभापर इसका प्रभाव मंत्रवत् पड़ा। श्रोताओंके मुखकमलोंपर आनन्द और उत्साहके

चिन्ह दिखायी देने लगे। काव्यके साथ उदार भावोंका सम्मिलन होनेसे ऐसा ही हुआ करता है। इन वाक्योंमें काव्य है, इसमें सन्देह नहीं, पर इनमें सत्य भी है। समकालीन घटनाओंसे इन वाक्योंकी तुलना कर देखनेसे मालूम होगा कि अंग्रेजी सहायतासे वंचित फ्रांस अब अपना और जर्मनीका स्वार्थ एक बनानेका प्रयत्न यथासंभव करेगा। यह कहांतक संभव है तथा इसमें सफलता कहांतक प्राप्त होगी इसका विचार गहन और जटिल है। इस लेखका विषय भी वह नहीं है। संसारकी राजनीतिमें जो परिवर्त्तन हो रहे हैं उन्हें दिखाना ही इस अल्पबुद्धि लेखकका उद्देश्य है। आशा है कि उसने यह स्पष्ट कर दिखानेमें कुछ सफलता भी पायी है कि युद्धकालीन मित्रता त्याग कर ये दो बलवान राष्ट्र अब अपने अपने स्वार्थकी खोजमें भिन्न भिन्न मार्गोंसे चलना चाहते हैं। लेखकके मतसे इसीमें संसारका कल्याण है। सभी बलवान् राष्ट्र एक होकर निर्बलोंको दबानेका प्रयत्न करें तो संसारकी उन्नति कैसे होगी? समर्थोंकी प्रतियोगितामें ही निर्बलोंकी शक्ति और उन्नतिके बीज होते हैं।

सदाशिव।

# शेरशाह सूरकी राज्य-व्यवस्था।

सम्राट् अकबरकी प्रतिभाके चकाचौंधमें भारतीय इतिहासके विद्यार्थी प्रायः उनके पूर्ववर्त्ती महापुरुषोंके प्रशंसनीय कार्य्यको भूल जाते हैं। इसका कारण भी है। अकबरके प्रायः एक शताब्दी पूर्वसे उत्तरी भारतवर्षको कभी भी एक साथ दस वर्षतक अखण्डित शान्ति प्राप्त नहीं हुई थी। धन और जन प्रायः सब ही जोखिममें रहते थे। इस शतवर्षीय अशान्तिके पश्चात् अकबरने ही भारतवर्षको पहले पहल लगातार कई दशाब्दियोंतक शान्ति दी। अकबरको भी प्रायः अपने मृत्युसमयतक युद्ध करने पड़े परन्तु इन युद्धोंसे उत्तरीय भारतकी सर्वसाधारण जनता पर विशेष हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ा, उन्हें यह समय मिला कि शान्ति और सुखसे जीवन व्यतीत कर सकें। अतः भारतीयोंका अकबरके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना स्वाभाविक ही है।

परन्तु इस प्रकारकी वृत्ति कतिपयांशोंमें अनुचित भी है। किसी भी महापुरुषके प्रशंसनीय कार्य्यको इसलिए भूल जाना कि उसका उत्तरवर्ती उससे भी अधिक महान् है, न्याय्य नहीं। अकबरकी महत्ताके कारण शेरशाहको उसके कार्य्यके लिए श्रेय न देना भारी भूल है। परन्तु अधिकतर इस प्रकारकी ही रुचि दृष्टिगोचर होती है। अकबरका जो कुछ स्थायी कार्य्य भारतवर्षके लिए कल्याणकारी हुआ वह विशेषकर राज्यव्यवस्था सम्बन्धी है। इस राज्यव्यवस्थासे भारतवर्षके वर्त्तमान शासकोंने भी बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण की है, और किसी किसी अंशमें तो वर्त्तमान व्यवस्थाका आधार अकबरकी प्रणाली ही हुई है। अकबरकी व्यवस्था शेरशाहके नियमोंका प्रवर्धित रूप थी।

यह बात इतिहाससे प्रत्यक्ष है कि शेरशाह अफ़गान जातिके सूरवंशका था, वह फ़ारसीका विद्वान् था, गुलिस्तां और बोस्तां उसे बालकपनसे ही कण्ठ थीं और उसी समयसे उसे अपने पूर्ववर्त्ती शासकोंके इतिहास पढ़नेमें विशेष रुचि थी। उसकी योग्यता और उसके भाग्यने जब उसे अपने पिताका उत्तराधिकारी और उसकी जागीरका शासक बनाया तो उसने अपनी विद्वत्तासे पूर्ण लाभ उठाना चाहा। परीक्षार्थ उसने अपने पूर्ववर्त्ती पठान शासकोंके शासन-नियमोंको अपनी जागीरके सुप्रबन्धके लिये प्रयुक्त किया और उसको इस कार्य्यमें बड़ी सफलता और तदनुगामी समृद्धि प्राप्त हुई।

उसका भाग्य और अधिक चमका। मुग़ल-शासन-प्रणालीकी निर्बलताओंको *

---

* संवत् १५८५ विक्रम (सन् १५२८) में जौनपुरके मुग़ल शासकके साथ शेरख़ांको बाबरके दर्बार जानेका अवसर मिला। वहां कुछ ही दिन ठहरनेपर उसे मुग़लोंके दोष प्रतीत होने लगे और एक दिन अपने मित्रोंसे वार्तालाप करते हुए उसने मुग़लोंके शासनका सबसे बड़ा दोष बता दिया। उसने कहा कि बाबर तीव्र बुद्धि और अन्य गुणोंसे

पूर्णतया समझकर उसने मुग़लोंसे युद्ध प्रारम्भ किया । हुमायूँ ऐसे निर्बलस्वभाव व्यक्तिके मुग़लशासक होनेसे उसे विशेष सहारा मिला । अपने पवित्र उद्देश्यको ध्यानमें रखते हुए, साधनोंकी पवित्रतापर अधिक ध्यान न देते हुए और कहीं कहींपर निन्दनीय कूटनीतिसे काम लेते हुए उसने अपनी जीवनाभिलाषा पूर्ण की और हुमायूँको इस देशसे निकालकर उत्तरी भारतका शासनभार ग्रहण किया । परन्तु बादशाह होना ही उसका ध्येय न था । देशमें शान्ति और समृद्धि हो, विदेशी फिर आकर इस देशपर अधिकार न जमा सकें यह विचार सदा उसके ध्यानमें रहे और इन्हें पूर्ण करनेका उसने भरसक प्रयत्न किया । वैरियोंकी शक्तियोंका दमन करने और उनके देशोंको अफ़ग़ान साम्राज्यमें सम्मिलित करनेमें लगातार लगे रहनेपर भी उसने पांच वर्षमें ही भारतकी शान्तिके लिए अदम्य उत्साहसे परिश्रम करके एक सुदृढ़ पद्धति ( जिसकी सफलताकी परीक्षा छोटे रूपमें उसने अपनी जागीरमें की थी ) बनायी । भाग्यने शेरशाहको समय थोड़ा दिया और वह इस-पद्धतिकी पूर्ति या फल कुछ भी न देख सका । यह नैराश्यके भाव उसने अपनी मृत्युशय्यापर प्रकट किये थे । उसके मरणान्तर उसकी ये भावनाएं बिल्कुल सच्ची निकलीं । उसके उत्तराधिकारी सूरशासक उसकी महत्ताको न पहुंच सके । परन्तु उसकी मृत्युके १५ वर्ष पश्चात् ही निराशामें भी आशा उत्पन्न हुई । उसके वैरी हुमायूँके पुत्र अकबरने उसकी मृतप्राय प्रणालीको पुनर्जीवित कर परिवर्धित किया और भारतके लिए कल्याणकारी बनाया । शेरशाहकी इसी प्रणालीका विवेचन इस लेखमें करना है ।

## राज्य—रक्षा

प्रजाकी शांति और सुखके लिए और अपनी स्थिति अक्षत रखनेके लिए प्रत्येक शासकका यह सबसे मुख्य कर्त्तव्य है कि वह विदेशी आक्रमणों और अन्तर्देशीय उपाधियोंसे राज्यकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध करे । शेरशाहने इस विषयकी महत्ताको बादशाह होनेके पूर्व ही समझ रक्खा था । जिस समय वह पंजाबमें हुमायूँका पीछा ही कर रहा था उसी समय उसने सबसे पहले गक्खर ऐसी निर्दमनीय जातिसे अपनी प्रजाको सुरक्षित करनेके लिए पहाड़ी प्रदेशोंमें एक दुर्ग बनानेकी ठानी । पहाड़ी स्थानोंमें दुर्ग बनाना कितना कठिन है यह जानते हुए भी, खुरासान, काश्मीर और गक्खर देशके रास्तेको रोकनेके लिए एक सुदृढ़ दुर्गकी अत्यन्त आवश्यकता समझकर उसने अपने विश्वस्त

---

सम्पन्न होते हुए भी, शासनका कार्य्य अधिकतर मंत्रियोंके हाथमें छोड़ देते हैं । मंत्री अधिकतर स्वार्थपरायण और दुश्चरित्र होनेके कारण, राज्यके कल्याणके लिये बहुत कम ध्यान देते हैं । यह बड़ा भारी दोष है । मेरे भाई अफ़ग़ानोंमें यदि एकता हो तो स्वयं मैं इनके इस दोषसे लाभ उठाकर मुग़लोंको इस देशसे निकाल सकता हूँ ।

इस सम्बन्धमें "तारीख़ शेरशाही" देखिये । ( Elliot & Dowson Vol. iv. pp. 330-1. )

राज्य-सेवक हैबतखां नियाज़ीको जिस प्रकार हो सके दुर्ग बनानेकी आज्ञा दी। इस दुर्गके गक्खर देशमें बनाये जानेसे अपनी स्वतंत्रतामें बाधा पड़नेकी संभावना देखकर गक्खर जातिके राजों और मज़दूरोंने उस दुर्गको बनानेसे इन्कार कर दिया। हैबतखां बड़े संकटमें पड़ा। बादशाहके आदेशका भंग होना संभव नहीं था और न किसी प्रकार गक्खर जातिको अपनी ओर ले आनाही संभव था। हैबतखांके साथके लोगोंमें टोडर-मल नामी एक मनुष्य था, उसने दुर्गके बनानेके लिये गक्खरोंको आकर्षित करनेकी एक विधि निकाली। उसने यह प्रस्ताव किया कि गक्खरोंके देशमें ढिंढोरा पिटवा कर यह कह दिया जाय कि जो मनुष्य एक पत्थर लाकर दुर्गकी नींव पर लगावेगा उसे एक अशर्फी दी जायगी, इस प्रकार जब गक्खर जाति आकर्षित होगी तो धीरे धीरे पत्थरका मूल्य घटा दिया जायगा और दुर्ग कुछ दिनोंमें तैयार हो जावेगा। इस विधिमें व्यय अधिक था, बादशाहको लिखा गया और शेरशाहने इस प्रकारका व्यय करनेकी स्वीकृति देदी। निदान ऐसा ही किया गया और हैबतखां नियाज़ी और टोडरमलकी देखरेखमें रोहतास का दुर्ग बन गया। गक्खरोंने लोभमें आकर अपनी स्वतंत्रता बेच दी और शेरशाहने निःसंकोच धनव्यय करते हुए और गक्खर ऐसी दुर्दमनीय जातिका दमन तथा विदेशियोंके आक्रमणोंसे देशकी रक्षा यह दोनों उद्देश्य ध्यानमें रखते हुए रोहतासका दुर्ग बना ही लिया। इसी प्रकार और भी दो दुर्गोंके बनानेका ज़िक्र "तारीख़ शेरशाही" में किया गया है—एक बोहनकुण्डालका दुर्ग, और दूसरा शेरगड़का दुर्ग।

मुख्य मुख्य दुर्गों और युद्धावश्यक स्थानों तक उसने बड़ी अच्छी सड़कें बनायीं जिनसे कि उसकी सेनाएं सहजमें आ जा सकें। शेरशाहकी सड़कोंका मुख्य प्रयोजन सेना-वाहनमें सरलता ही था। गौण उद्देश्य और भी थे जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा। शेरशाहकी बनायी हुई मुख्य सड़कें यह थीं :—

**प्रथम**—रोहतास (गक्खर देशस्थित नवीन दुर्ग) से सुनारगांव (बंगालकी खाड़ी) तक। यह सड़क राज्यका राजपथ थी। इसका आधुनिक नाम ग्राण्डट्रंक रोड है। इस सड़कका उल्लेख शेरशाहसे पूर्व भी पाया जाता है। यह सड़क राज्यके एक कोनेको दूसरे कोनेसे मिलाती थी। कदाचित् शेरशाहके बनाये हुए कुछ ही अंश हैं। इस सड़कके एक अंशके विषयमें नूरुलहक्क नामी इतिहासकारने अपनी पुस्तक "जुब्दतुत्तवारीख़" में इस प्रकार लिखा है—"जंगलोंको काटकर और रुकावटोंको दूरकर शेरशाहने वह सड़क बनायी जो अब दिल्लीसे आगरा तक जाती है, उसपर उसने सरायें भी बनवायीं (अर्थात् जो जमुनाके पश्चिममें मथुरा होकर जाती है) इसके पहिले जन-साधारणको दोआब होकर (अर्थात् जमुनाके पूर्व होकर) जाना पड़ता था........।" *

---

* देखिये Elliot & Dowson Vol. vi p. 188.

**द्वितीय**—आगरासे बुर्हानपुर तक, दक्षिणविजयके संकल्पसे और दक्षिणी सीमाओंके विद्रोहोंको रोकने के लिए। *

**तृतीय**—आगरासे चित्तौड़ और जोधपुरतक, राजपूतानाके मध्यमें होकर राजपूत जातिके विद्रोहदमनके लिए, और

**चतुर्थ**—लाहौरसे मुल्तानतक, सिंधी, बिल्लोची अथवा अफ़ग़ानी आक्रमणों-की प्रतिरोधक सेनाओंके शीघ्रवाहनके लिए।

"तारीख़-शेरशाही" के लेखक अब्बासख़ांका कथन है कि शेरशाहने इन सड़कोंको नये सिरेसे बनाया। यह अत्युक्ति सी जान पड़ती है क्योंकि पञ्जाबसे बंगाल तकका राजपथ हिन्दूकालमें भी वर्त्तमान था और पठानोंके समयमें भी उसका उल्लेख है। एक बात इन सड़कोंके सम्बन्धमें यह विचारणीय है कि द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ सड़कें मुख्य राजपथसे ही निकलती थीं। अतः उत्तरीय भारतकी उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम चारों दिशाओंको राजपथ और उसकी शाखाओंने सम्बद्ध कर दिया था।

शेरशाहने पहाड़ी प्रदेशोंमें और ऐसे प्रदेशोंमें जहांसे विद्रोहका अधिक भय रहता था प्रबल सेना रखनेका विशेष प्रबन्ध किया था। खेद है कि इस विषयका अधिक विस्तृत वर्णन इतिहासमें प्राप्य नहीं है।

शेरशाहकी सेना तीन प्रकारकी थी:—

(१) वह सेना जो सर्वदा उसके साथ रहती थी, अर्थात् राजधानीमें स्थित रहती थी। इसकी संख्या एक लाख पचास सहस्र घुड़सवार और पचीस सहस्र पदाति थी।

(२) वह सेना जो पहाड़ी प्रदेशोंमें अथवा विशेष विशेष विद्रोह-स्थानोंमें रहती थी। इस सेनाके लिए यह नियम था कि कुछ कालके अनन्तर इसकी बदली हुआ करती थी। पहलेकी सेना बुला ली जाती थी, उसे बादशाह अपने साथवाली सेनाके साथ रख लेते थे, और जो सेना उनके साथ रहकर युद्धस्थलमें कार्य्य कर चुकी होती थी वह ऐसे प्रदेशोंमें रहकर आराम करनेको, अथवा अपनी अपनी जागीरोंपर छुट्टी देकर भेज दी जाती थी। विशेष सेनाएँ इस प्रकार विभक्त थीं। "शेरशाहकी एक सेना उत्तरी प्रदेशमें, एक बंगालमें, एक रोहतासमें, एक मालवामें, एक चित्तौड़के दुर्गमें और एक खजुराहामें रहती थी।" †

---

* शेरशाहका संकल्प दक्षिणविजयका अवश्य था, उसने कालञ्जर अवरोधके पूर्व ही शुजातख़ांको गुजरात भेजते हुए आज्ञा दी थी कि "जिस क्षण कालञ्जर-विजयकी सूचना तुम्हें मिले, उसी क्षण बिना चूके तुम दक्षिणकी ओर बढ़ना, किसी प्रकारका विलम्ब न करना" देखिये "तारीख़ शेरशाही" (E. & D.)

† देखिये रिज़कुल्ला लिखित "वाक़यात-मुश्ताक़ी"।

(३) मंसबदारोंकी सेना। इस सेनाके विषयमें इतिहास लेखकोंने कुछभी सूचना नहीं दी है। जान पड़ता है कि इस सेनाका महत्व शेरशाहके समयमें उतना न था जितना कि उसके उत्तरवर्त्तियोंके समयमें हुआ। शेरशाहकी सेना-सामग्रीमें तोपें और हाथी भी सम्मिलित थे। उसकी सेनाके विषयमें विचार करनेसे यह पता चलेगा कि अधिकतर स्वयं बादशाहकी स्थायी सेना (standing army) ही थी। इसके दो कारण हो सकते हैं- एक तो यह कि शेरशाहकी सेनाका आरम्भ ऐसे समयमें हुआ जब कि वह स्वयं एक छोटा सा जागीरदार था, और वह सेना बढ़ते बढ़ते बादशाही सेना हुई अत: उसका मुख्यांश सदा ही स्थायी सेना (standing army) का रहा। दूसरा कारण यह है कि राष्ट्र-विप्लवके समयमें मंसबदारों अथवा जागीरदारोंकी सेनापर शेरशाह पूर्णतया विश्वास न कर सकता था, इसलिये उसको इतनी अधिक सेना स्वयं शाही व्ययसे रखनी पड़ी। अस्तु।

सेनाके लिए शेरशाहने कुछ विशेष नियम बना रक्खे थे, जिनका प्रयोग बड़ी सख़्तीसे किया जाता था। सर्वमुख्य नियम "दाग़" प्रथाका था। सेनाके प्रत्येक घोड़ेके माथेपर बादशाही पुष्पाकार छाप रहती थी, जिससे मंसबदारों अथवा सेनाके अफ़सरोंसे किसी प्रकारका धोखा होनेकी संभावना न रहे*। इस प्रथाके विषयमें अब्बासख़ांका कथन है कि यह प्रथा संसारमें शेरशाहके पहले ज्ञात न थी। यह विचार भ्रमपूर्ण है। यह प्रथा अलाउद्दीन ख़िलजीके समयमें विद्यमान थी, क्योंकि "तारीख़-फ़ीरोज़शाही" में इसका वर्णन है। यह अवश्य है कि शेरशाहके डेढ़ सौ वर्ष पूर्वसे यह प्रथा नष्ट हो गयी थी और शेरशाहने इसका पुनरुज्जीवन किया। अब्बासख़ांको इस बातका ठीक पता न होनेसे भ्रमवशात् उसने ऐसा लिख दिया।

सेनाके विशिष्ट योद्धाओंको पारितोषिकके रूपमें जागीरें प्रदान की जाती थीं। सेनाओंकी उद्दण्डताको रोकनेके लिये भी नियम थे जिनका पालन न करना एक भारी अपराध गिना जाता था। अफ़सरोंको यह विशेषरूपसे आदेश था कि वे बाज़ारके लोगोंसे बाज़ार-भाव हीपर वस्तुएँ ख़रीदें, रसद इत्यादिके रूपमें किसी वस्तुका लेना वर्जित था। विजयी सेनाओंके लिए यह अनुल्लंघनीय नियम बना दिया गया था कि वे मार्गमें कृषकोंकी खेतीको न बिगाड़ें "क्योंकि कृषक ही राज्यकी समृद्धिके आधार हैं"।

आक्रमणों और उपद्रवोंसे राज्यकी रक्षाके लिए शेरशाहने उपर्युक्त प्रबन्ध किया था, खेद है कि इतिहासकारोंने इसका पूर्ण वृत्तान्त नहीं दिया है। उसने और क्या नियम बनाये थे यह अबतक पूर्णतया विदित नहीं है।

## राज्यप्रबन्ध।

राज्यरक्षाके अनन्तर शासनका द्वितीय अंग राज्यप्रबन्ध है। अधिकतर यह देखा गयाहै कि जो शासक अच्छे योद्धा अथवा विजेता होते हैं वह अच्छे प्रबन्धक नहीं

* आजकल भी फ़ौजी घोड़ोंके पुट्ठोंपर सरकारी छाप रहती है।

होते । शेरशाहके वीर और विजेता होनेमें कोई सन्देह नहीं कर सकता, परन्तु यह बात भी सर्वमान्य है कि शेरशाह शासननीतिका भी आचार्य्य था । शेरशाहकी शासन-व्यवस्थाको हम केन्द्रिक शासन और प्रान्तिक शासन इन दो भागोंमें विभक्त करेंगे ।

**केन्द्रिक-शासन**—केन्द्रिक-शासनका आधार स्वयं शेरशाह था । कोई भी विषय ऐसा तुच्छ नहीं समझा जाता था जो बादशाहकी दृष्टिमें आने योग्य न हो । अतः शेरशाहने बादशाहके कार्य्यको बड़ा ही दुष्कर और कष्टकर बना रक्खा था । बादशाहका कर्त्तव्य कौटिलीय अर्थशास्त्रमें वर्णित अथवा हर्षचरितमें वर्णित राजाका सा कर रक्खा था । स्वयं शेरशाह प्रायः कहा करता था कि "महापुरुषोंको सर्वदा कार्य्यमें व्यग्र रहना चाहिये" । अब्बासखांने अपने इतिहासमें शेरशाहकी दिनचर्य्याका इस प्रकार वर्णन किया है । बादशाह रात्रिके दो तिहाई बीत जानेपर उठते थे, चौथे प्रहरतक स्नान और प्रार्थना करनेके पश्चात्, विविध अधिकारियोंके व्यौरे और मंत्रियोंकी रिपोर्टें सुनते थे, और उनपर अपनी आज्ञा देते थे । प्रातः काल हो जानेपर वह फिर हाथ मुंह धोते थे, तत्पश्चात् नमाज़ पढ़ते थे और "मुश्ताबेअश्र"का पाठ करते थे । इसके बाद सरदारों और सिपाहियोंकी अभिनन्दनाएं ग्रहण करते थे । सूर्य्योदयके एक घंटे बाद वे "नमाज़-इशरक़" पढ़कर, दुःखितोंकी प्रार्थनाओंपर ध्यान देते थे और उनके कष्टोंको दूर करनेका प्रबन्ध करते थे । इसके बादकी दिनचर्य्या अब्बासखांने नहीं दी है । शायद शेरशाहका पूर्ण दिवस अधिकतर युद्धस्थल में बीतता था, क्योंकि शेरशाहको अपनी साढ़े चार वर्षकी बादशाहतमें प्रायः सर्वदा ही युद्धोंमें प्रवृत्त रहना पड़ा । शेरशाह सर्वदा उलमाओं ( विद्वानों ) के साथ बैठ कर भोजन किया करता था । शायद इसका कारण यह रहा हो कि उलमाओंके साथ भोजन करनेमें विष-मिश्रणका भय न रहेगा और उनसे वार्त्तालापमें साम्राज्यके शासन संबन्धी दोष और उनके दूर करनेके उपाय ज्ञात होते रहेंगे ।

शेरशाहने अपने राज्यको ( बंगाल छोड़कर ) ४७ भागोंमें विभक्त किया था, जिनको प्रान्त कहना उचित होगा । प्रत्येक प्रान्तमें बहुतसे पर्गने होते थे । इस विभागके सिद्धान्तोंपर विचार करना आवश्यक है । शेरशाहके राज्यमें उसकी मृत्युतक केवल वर्त्तमान पञ्जाब, संयुक्त प्रान्त, बिहार और उड़ीसा, बंगाल, मध्यभारतका कुछ उत्तरी अंश और राजपूतानाका कुछ अंश, केवल यही सम्मिलित हो पाये थे । इतिहासलेखकोंका कहना है कि बंगाल छोड़कर शेष राज्यके उसने ४७ भाग किये थे, अर्थात् शेरशाहका एक प्रान्त वर्त्तमान प्रान्तोंका नवम अथवा दशमांश होता था । इतने छोटे प्रान्त शेरशाहके पश्चात् अकबरने भी नहीं बनाये, इसका कारण यह जान पड़ता है कि शेरशाहने प्रान्तीय शासकोंकी अनुचित प्रबलताको रोकनेके लिए छोटे प्रान्त बनानेके सिद्धान्तका अनुसरण किया था । दूसरी बात विचारणीय यह है कि राजनीतिके विचारसे प्रान्तीय शासककी **स्थिति** (Position) क्या थी । आगे चलकर यह ज्ञात होगा कि शेरशाहके समयमें प्रान्तीय शासकोंपर बड़ा भारी उत्तरदायित्व रहता था, उनका शासनकाल भी अल्प ही होता था । शेरशाहके

शासनके पूर्व दूसरी दशा थी। प्रान्त अधिकतर अमीरोंकी नवाबियोंके से होते थे, जिनमें वे प्रायः अनियंत्रित अधिकारियोंकी भांति शासन करते थे। शेरशाहका सिद्धान्त भिन्न था। उसने प्रान्त-शासकोंको बादशाहका प्रतिनिधि अथवा सेवक बना रक्खा था। प्रान्तशासकोंकी नवाबियां न होकर बादशाहकी सम्पत्ति थे, और प्रान्त-शासक बादशाहका केवल उत्तरदायी सेवक ( Responsible Governor ) था। ऊपरसे यह ज्ञात हो गया होगा कि शेरशाहकी शासनप्रणाली एक कठिन केन्द्रितशासनप्रणाली ( Centralised Government ) थी, जिसके प्रधानका कार्य्य बड़ाही कठिन और परिश्रमपूर्ण था। शायद एक यही शेरशाहके उत्तराधिकारियोंके समयमें अफ़गान राज्यके ह्रासका प्रधान कारण था।

ऊपर कहा जा चुका है कि बादशाह राज्यके प्रत्येक विषयको देख सकता था और देखता था, परन्तु विशेषकर राजधानीके प्रबन्धमें यह विषय थे--सड़कोंका बनाना तथा उनके दुरुस्त रखनेका प्रबन्ध, सड़कोंपर यात्रियोंके आरामकी सामग्रीका प्रबन्ध, डाकका प्रबन्ध, प्रान्तोंसे आये हुए विवादोंका निर्धारण, इमामोंकी जागीरोंकी देखभाल, और गुप्तचर विभाग। इस कथनका तात्पर्य्य यह नहीं कि उस समयमें आजकलके शासनके समान प्रबंध-विषय अनुल्लंघनीय और कठिन रीतिसे प्रान्त और केन्द्रके बीचमें बटे हुए थे, कोई लिखित विधान भी इस विषयमें न थे। अर्थ यह है कि **प्रायः** उपर्युक्त शासनांशोंका प्रबन्ध सीधे राजधानीसे होता था।

( अपूर्ण )

# चीनकी जागृति ।*

स वर्ष पूर्व चीनने जो विकट आन्दोलन आरंभ किया था एवं जिस प्रकारसे अपने प्रचलित शासनको नष्ट कर उसने प्रजातंत्र राज्यकी स्थापना की थी, उसका हाल हमारे अनेक पाठकोंने पढ़ा या सुना होगा। उस समय चीनने अपनी अपूर्व जागृतिके कारण सारे संसारको आश्चर्य-सागरमें डाल दिया था। जिस प्रकार रूस-जापान-युद्धके समय जापानने अपने अदम्य उत्साह और प्रशंसनीय पराक्रमके कारण समस्त भूमण्डलका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था, उसी प्रकार चीनके राज्य-विप्लवके दिनोंमें सारे संसारकी आंखें उसकी ओर जा लगी थीं। जहां देखो वहां इन "अफीमचियों" की ही अश्रुत-पूर्व गाथाकी चर्चा होने लगी थी। सारा शिक्षित समाज उसीके सम्बन्धमें बातें करता था। किन्तु आज दस वर्षोंके बाद संवत् १९७८ में वह बात नहीं रही। अब संसारका ध्यान चीन-निवासियोंकी ओर उतना अधिक नहीं जाता, जितना उस समय जाता था। सबब यह है कि गत यूरोपीय युद्धके कारण जो परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है और जो समस्याएँ उपस्थित हो गयी हैं उनका समाधान अभीतक नहीं हो पाया है। संसारके बड़े बड़े देश और निपुण राजनीतिज्ञ उन्हें ही सुरझानेमें उरझे हुए हैं। इन कार्य्योंसे छुट्टी मिलनेपर संभवतः एक बार फिर लोगोंका ध्यान इस विशाल देशकी आश्चर्यमय उन्नतिकी ओर आकृष्ट हो। अस्तु।

आजकल चीनदेशकी तरफ लोगोंकी दृष्टि विशेष रूपसे न जानेका एक और कारण है। वहांकी राज्य-क्रान्तिके बाद महायुद्ध, रूसकी राज्यक्रान्ति एवं मिश्रदेश, आयर्लैण्ड तथा भारतकी अपूर्व राजनीतिक जागृति, जर्मनी, आस्ट्रिया हंगरी इत्यादिकी उथल-पुथल इत्यादि ऐसी कई महत्वपूर्ण बातें पृथिवीपर घटित होती गयी हैं जिनके कारण लोगोंका ध्यान कई टुकड़ोंमें बँटता सा रहा है। इधर चीनने न तो युद्धमें ही कोई विशेष भाग लिया और न वहां कोई खास घटना ही हुई जिसके कारण लोगोंकी नज़र उस ओर फिरती। यही कारण है कि आजकल हम चीनदेशकी ओर कुछ कुछ उदासीन से हो गये हैं। किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि दस वर्ष पूर्व चीनकी जिस अपूर्व जागृतिने हमें चौंका दिया था, वह अब शिथिल पड़ गयी है और इसी कारण हमारा ध्यान उस ओर नहीं जाता। वास्तवमें चीनमें अब भी जागृतिके चिन्ह वर्तमान हैं एवं आज भी

---

* सितम्बर १९२१ के "कंटेम्पोररी रिव्यू" में प्रकाशित एक लेखके आधार-पर।—लेखक।

वहां उन्नतिका प्रवाह अनवरतरूपसे बह रहा है। अवकाश मिलते ही संसारके देशोंकी आंखें उस तरफ फिरेंगी और उसकी यह अल्पकालीन, बाह्य उदासीनता भग्न हो जायगी।

इन दस-ग्यारह वर्षोंमें चीनने शिक्षा, व्यवसाय, देश-भक्ति, राजनीति तथा सामाजिक बातें इत्यादि सभी विषयोंमें खूब उन्नति कर ली है। संवत् १९६७ में चीन-साम्राज्यके प्रति चारसौ निवासियोंमेंसे केवल एक मनुष्य पाठशालाओंमें शिक्षा पाता था, किन्तु १९७६ में यह संख्या बढ़कर पँचगुनी हो गयी अर्थात् प्रति चारसौ निवासियोंमें पांच व्यक्तियोंको शिक्षा मिलने लगी। जहां पहिले बयालीस हजार स्कूल थे, वहां अब एक लाख चौंतीस हजार स्कूल हो गये। इसी प्रकार विद्यार्थियोंकी संख्या दस लाखसे बढ़कर पैंतालीस लाख हो गयी। यह सब सरकारी स्कूलोंका विवरण है। इनके अतिरिक्त जनताकी ओरसे भी अनेक स्कूल खोले गये। जो लोग स्कूल जानेमें असमर्थ थे उनके निमित्त शिक्षा पानेकी अन्य सुविधाएँ कर दी गयीं। वर्त्तमान वर्षमें वहां इस प्रकारकी जितनी संस्थाएं हैं उनका संक्षिप्त विवरण यह है :—

| | |
|---|---|
| पुस्तकालय ... ... ... | १७५ |
| साधारण पुस्तकालय ... ... | २८७ |
| भ्रमणशील पुस्तकालय ... ... ... | २५७ |
| साधारण व्याख्यान-भवन ... ... | २१२९ |
| वाचनालय ... ... ... | १७२७ |
| कौतुकालय [ म्यूजियम ] ... ... | १० |
| पिछड़े हुए विद्यार्थियोंके लिये स्कूल ... ... | ८१ |
| ग़रीबोंके लिये आधे दिन लगनेवाले स्कूल ... | १२४२ |
| खुली हवाके स्कूल ... ... | ३७ |
| साधारण स्कूल ... ... ... | ४५९३ |

इसके अतिरिक्त वहांकी शिक्षा-प्रणालीमें भी बहुत कुछ सुधार हुआ है। भाषा एवं वर्णमालामें भी दो बड़े महत्वके परिवर्त्तन किये गये हैं। एक तो यह कि थोड़े पढ़े-लिखे मनुष्योंके लिये जैसा बोलते हैं वैसाही लिखनेवाली ( फोनटिक ) वर्णमाला अलग बना दी गयी है, दूसरे, साहित्यकी भाषामें भी बोलचालके शब्दोंका प्रयोग होने लगा है। चीनदेशकी लिखित भाषाके सीखनेमें जो कठिनाइयां थीं वे इन दो सुधारोंके कारण प्रायः दूर हो जायँगी एवं बोलचालकी भाषा और लिखित भाषामें जो महदन्तर था, वह भी कम हो जायगा।

चालीस पचास वर्ष पहिले चीनदेशके विदेशी व्यापारका मूल्य लगभग ६२ लाख रुपये था, किन्तु संवत् १९७६ में वह बढ़कर ८ अरब रुपये* हो गया। कुछ वर्ष

* यहां हमने एक डालर तीन रुपये दो आनेके बराबर तथा एक बिलियनको, अमेरिकन प्रणालीके अनुरूप, एक अरबके बराबर लिया है।—लेखक

पहिले वहां बाहरसे जितना माल आता था, उसकी अपेक्षा बहुत कम माल देशके बाहर जाता था अर्थात् प्रतिवर्ष देशको जितना द्रव्य बाहरसे प्राप्त होता था, उससे बहुत ज्यादा बाहर चला जाता था। किन्तु अब वह परिस्थिति नहीं रह गयी। यद्यपि अब भी वहांके निर्गत मालका मूल्य आगत-मालकी अपेक्षा अधिक नहीं हुआ है तो भी वह करीब करीब उसके बराबर पहुँच गया है। संवत् १९६७ में वहांके विदेशी व्यापारका जो मूल्य था वह १९७० में लगभग ५० प्रति सैकड़ा एवं १९७६ में २१९ फी सदी बढ़ गया अर्थात् इन नौ वर्षोंमें यह व्यापार क़रीब क़रीब तिगुना हो गया।

उद्योग-धन्धोंकी तरक्कीका भी यही हाल है। वहां अब साबुन, मोम, दियासलाई, बरफ, चूना, ईंट इत्यादि बनानेके अनेक कारख़ाने खुल गये हैं। साथही दवाइयां, चीनी, मिश्री एवं कांचका सामान तथा जहाज़ इत्यादि भी बहुतायतसे बनाये जाने लगे हैं। चमड़ेके कारखाने, छपाई सम्बंधी सामानके कारखाने, बिजलीके कारखाने, रेलके कारखाने, शक्कर, तमाकूके कारख़ाने, ऊन तथा रणसामग्री इत्यादि अनेक वस्तुओंके कारखाने स्थापित हो गये हैं। बीस वर्ष पहले चीनदेशमें आधुनिक ढँगका एक भी पुतलीघर न था। आज वहांपर रूईका कपड़ा बनानेवाले कमसे कम ३५ पुतलीघर हैं जिनके मालिक भी चीन देशके ही रहनेवाले हैं। इनमें लगभग ७½ लाख तकुवे तथा तीन हजार करघे चलते हैं। नये पुतली घरोंकी संख्या बढ़ती ही जा रही है। रूईके कपड़ोंके अतिरिक्त रेशम इत्यादिके कपड़ोंके लिये भी पुतलीघर खुल गये हैं। इसके सिवाय तेल निकालने, कागज बनाने, चावल साफ करने इत्यादि अन्य कई बातोंके लिये भी पुतली-घर स्थापित हो गये हैं। इन्हीं सब बातोंके कारण यहांकी औद्योगिक उन्नतिके सम्बन्धमें, संवत् १९७६ की "कस्टम्स ट्रेड" रिपोर्टमें लिखा गया है कि "आजकल विदेशी ढँगकी, रोजके काममें आनेवाली, शायद ही ऐसी कोई चीज़ हो जो चीन देशमें आधुनिक ढंगके कारख़ानों द्वारा तैयार न की जाती हो, इनमेंसे अधिकांश कारख़ानोंमें तो विदेशियोंकी सहायतातक नहीं ली जाती। ..."

औद्योगिक उन्नतिके साथ साथ वहाँके मज़दूरोंमें भी जागृति उत्पन्न हो गयी है। अभीतक चीनदेशके मज़दूर बड़े सीधे और सहनशील रहते आये हैं। अनेक कष्ट सहकर भी प्रायः शिकायत करना वे न जानते थे। किन्तु अब वे अपने दुःखोंको सर्वसाधारणमें प्रकट करनेमें और उनको दूर करनेके निमित्त यथाशक्ति प्रयत्न करनेमें भी नहीं हिचकते। वहाँके श्रमजीवि-दलमें क्रमशः अधिकाधिक संगठन-शक्तिका प्रसार हो रहा है। एक ओर मज़दूरोंकी हड़तालोंका होना शुरू हो गया है तो दूसरी ओर उनके हितकी रक्षा करने और उन्हें मार्ग बतलानेके निमित्त श्रमजीवियोंकी संस्थाएँ (लेबर यूनियन्स) स्थापित होने लगी हैं। मज़दूरोंमें आजकल जो जागृति देख पड़ रही है, वह "जागृति" ही कही जा सकती है। हम उसे "अशान्ति" नहीं कहना चाहते। हम यह मानते हैं कि यद्यपि इस समय बहुत थोड़े स्थानोंमें ही हड़तालें होती हैं तो भी आगे कुछ समयके बाद उनकी संख्या और परिमाण

बढ़ जायगा। फिर भी हमें चीन देशमें यूरोपीय देशोंकी नाईं श्रमजीवियोंके कारण अशान्तिके किसी भयंकर विभ्राट्‌की आशंका न करनी चाहिये, क्योंकि वहाँके पूँजीवाले इतने अधिक स्वार्थी और धन-लोलुप नहीं हैं जितने पश्चिमी देशोंमें हैं। अभीतक जहाँ जहाँ हड़तालें हुई हैं अथवा अन्य किसी प्रकारसे काम करनेवालोंने अपनी शिकायतें जाहिर की हैं, वहाँ वहाँ प्रायः नब्बे फी सदी मामलोंमें मालिकोंने श्रमजीवियोंका कहना मान लिया है। चीनदेश प्रायः छोटे छोटे किसानोंकी ही निवासभूमि है। वहाँका समाज-संगठन भी ऐसे दृढ़ सिद्धान्तों-पर आश्रित है कि वहाँ बोलशेविज़्मके प्रसारकी अधिक सम्भावना ही नहीं है। वहाँके निवासियोंकी परम्परा, उनकी सामान्यबुद्धि एवं परस्पर समझौता कर लेनेके स्वभावके कारण श्रमजीवियों और पूँजीपतियोंके बीच किसी भीषण विरोधकी आशंका नहीं है। अस्तु।

आजकल चीनकी स्त्रियोंमें भी जागृति फैल रही है। दस वर्ष पहिले चीनमें "स्त्रियोंके अधिकार" के सम्बन्धमें आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था। बीचमें यह विलुप्तसा हो गया था। अब फिर वह दूसरे रूपमें प्रगट हो रहा है। सारे देशके स्त्री-समाजका ध्यान इस समय उन बातोंकी ओर जा लगा है जो बुद्धिसंगत हैं एवं जिनका पाना अधिक कठिन नहीं है। वर्त्तमान विद्यालयोंमें शिक्षापानेवाली युवतियों और बालिकाओंमें विशेष उत्साह देख पड़ता है। वे अपने देशहितकी वेदीपर सब कुछ त्याग करनेके लिए तैयार हैं।

सामाजिक रहन-सहन इत्यादिमें भी परिवर्तन हो रहा है। पहिले चीन-निवासी विदेशियोंसे प्रायः दूर ही रहा करते थे और उनके रीति रिवाज़ोंसे घृणा करते थे। अब यह बात नहीं रही। अब लोग उनसे मिल-जुलकर रहनेके लिए तत्पर रहते हैं। विदेशी वस्तुओं एवं विदेशी लोगोंकी आदतों और उनकी रीतियोंकी ओर चीन-वासियोंकी रुचि बढ़ रही है। प्राचीनकालसे प्रचलित लम्बी चौड़ी विवाह-पद्धतिका परित्याग कर लोग अब पश्चिमी ढंग-का विवाह तथा उसके सम्बन्धकी अन्य रीतियोंको भी अपना रहे हैं।

संवत् १९१५ (सन् १८५८) में भिन्न भिन्न देशोंके साथ जो सन्धियां हुई थीं, उनके अनुसार पेकिंगमें विदेशी प्रतिनिधियोंको रहनेका अधिकार तो अवश्य दिया गया था, पर संवत् १९३० के पहिले उनसे सम्राट् कभी भेंट न करते थे। किन्तु आज वे सब बातें बदल गयीं। अब तो वह शासन-पद्धति ही न रही। चीनी प्रजातंत्रके राष्ट्रपतिसे विदेशोंके राजनीतिज्ञ तथा अन्य व्यक्ति भी इच्छा होनेपर खुशी खुशी भेंट कर सकते हैं। कोई रोक टोक नहीं है। अब तो विदेशियोंको उनके सत्कार्योंके निमित्त पद और सम्मान, एवं पदक इत्यादि भी दिये जाते हैं।

बड़े बड़े राजनीतिक परिवर्तनोंमें उलझे रहनेपर भी चीनने अपनी आन्तरिक अवस्थामें जो उन्नति कर ली है, वह आश्चर्यजनक है। वहां इस समय सात हजार मील रेल बन गयी है और चालीस हजार मीलकी दूरीमें तारभी लग गया है। इसके अतिरिक्त जल और थलके अन्य सुरक्षित मार्ग तो हैं ही। बेतारके तारका प्रबन्ध भी हो गया है। अतः केण्टन नामक प्रसिद्ध बन्दरसे १३०० मील दूर होनेपर भी चीनकी राजधानी अब

बिलकुल समीपसी हो गयी है। दो व्यक्ति इन दो स्थानोंमें अलग अलग बैठकर आपसमें उसी प्रकार बातचीत कर सकते हैं जिस प्रकार वे एक कमरेमें पास पास बैठकर बात कर सकते हैं। कहा जाता है कि चीनके "स्वर्ग-मन्दिर" (टेम्पल आफ हैविन) में बैठकर बेतारके तारका प्रयोग करने वाले, जिस समय पेरिसमें शान्ति-परिषद्‌की बैठक हो रही थी उस समय, अमरीकाके राष्ट्रपति श्री वुडरो विलसन तथा इंग्लैण्डके प्रधानसचिव श्री लायड जार्जकी बातचीत सुन सकते थे।

चीनदेशकी आबादी ४२ करोड़के लगभग है। इतने बड़े देशकी उन्नतिके चिह्न यदि शीघ्र सबको न देख पड़ें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। शंघाई नगरके पास हालमें जो नगर बसाया गया है, वह बड़ा सुन्दर है और हम उसे वर्तमान सभ्यताके अनुसार एक आदर्श नगर कह सकते हैं। इसके बसानेवाले श्री चंग-चीन हैं, जो पहिले चीनदेशके व्यापारसचिव तथा कृषि-सचिव थे। इस नगरकी जन-संख्या डेढ़ लाख है। यहां ३३४ पाठशालाएँ और विद्यालय हैं, जिनमें २० हजार विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। इसके सिवाय सूतके कपड़े बनानेवाले दो बड़े बड़े पुतलीघर तथा दूसरी चीजें तैयार करने वाले दर्जनों कारखाने वहां खुले हैं। इस "आदर्श" नगरके सिवाय चीनमें एक "आदर्श-प्रान्त"की भी स्थापना हुई है। इसका श्रेय जनरल येन सि शानको प्राप्त है। संवत् १९६८ में जो राज्य-क्रान्ति हुई थी, उसीके बाद आप यहांके फौजी गवर्नर नियुक्त हुए। इस प्रान्तका नाम "शांसी" है। वहांका क्षेत्रफल ८१,८३० वर्गमील एवं जनसंख्या १ करोड़ २२ लाख है। वहांकी सुख-समृद्धि और शान्ति देखकर बहुतलोग उसे "आदर्श-प्रान्त" कहने लगे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आजसे दस ग्यारह वर्ष पहिले चीनमें जिस विलक्षण जागृति और अदम्य उत्साहका आविर्भाव हुआ था, वह आज भी किसी न किसी रूपमें वर्तमान है। उसके अस्तित्वके कारण ही आज चीनका यह काया-पलट देखनेमें आता है। स्वार्थान्ध जापान तथा इतर जातियोंकी विविध चालें समझनेकी बुद्धि अब चीन-निवासियोंमें उत्पन्न हो गयी है। वे अपना हानि-लाभ समझने लगे हैं। यही कारण है कि चीन, जापान और इंग्लैण्डकी संधिका विरोधी है। जिस समय वाशिंगटन सम्मेलनमें यह विषय छिड़ेगा, उस समय चीन अवश्य अपना मत दृढ़तापूर्वक सबके सामने प्रकट करेगा। हमारी धारणा है कि चीनने संसारकी राजनीतिमें अब काफ़ी महत्व प्राप्त कर लिया है और भविष्यमें किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नका निपटारा करते समय उसके हिताहितकी उपेक्षा न की जा सकेगी।

भारतीय।

# पुस्तकावलोकन ।

## गांधीगौरव

इसके लेखक हैं पण्डित नरोत्तम व्यास और प्रकाशक "आर० एल० बर्म्मन कम्पनी" ३७१, अपर चीतपुररोड कलकत्ता, मूल्य ३)

यह उस भव्य आत्माका जीवन चरित्र है जिसकी यशः किरणावली समस्त भारतवर्षमें ही नहीं, प्रत्युत अमेरिका इत्यादि सुदूरवर्ती देशोंमें भी फैल रही है । बाल्यकाल-से आरंभकर अभी वर्त्तमान समय तक महात्मा गांधीके जीवन कालमें जो विशेष विशेष घटनाएं हुई हैं, प्रायः उन सबोंका वर्णन इस पुस्तकमें किया गया है । दक्षिण अफ्रिकामें अपने भाइयोंके दुःख दूर करने और भारत माताके सम्मानकी रक्षा करनेके निमित्त गांधीजीने जिस अटूट परिश्रम और अदम्य उत्साहके साथ प्रयत्न किया था, उसका हाल पढ़कर, उनके प्रति अपूर्व श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न हो जाती है । भारतके चम्पारन इत्यादि स्थानोंके अत्याचारोंको दूर करानेका श्रेय भी उन्हें ही प्राप्त है । सारे देशमें अपूर्व राजनी-तिक जागृति उत्पन्न करा देना एवं देशव्यापी सत्याग्रहकी तैयारी कराना गांधीजीके समान अद्वितीय मनुष्यका ही काम है । इन सब बातोंका वर्णन इस पुस्तकमें आ गया है । यद्यपि बम्बईके गांधी-पुस्तक-भण्डारसे प्रकाशित गांधीजीका जीवन चरित्र हमें इस पुस्तकसे ज्यादा पसन्द है, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि यह पुस्तक भी संग्रहणीय हुई है। इसमें दो रंगीन तथा कई सादे चित्र भी दिये गये हैं । साथ ही परिशिष्टमें अमेरिका, इंग्लैण्ड इत्यादि देशोंके विद्वानोंकी सम्मतियां भी दी गयी हैं इसके कारण पुस्तककी उपयोगिता बढ़ गयी है । नीचे लिखी हुई पुस्तकें भी मिल गयीं । भेजनेवालोंको धन्यवाद ।

१. सदाचार-दर्पण, मूल्य १॥)—पण्डित नर्मदा प्रसाद मिश्र बी. ए., मिश्रबन्धु कार्यालय, दीक्षितपुरा जबलपुर ।

२. कविता-कुसुम, मूल्य ≈)॥—अवन्त पुस्तकालय, हिन्दी साहित्य हितैषी भवन, चौक बाजार, ग्वालियर सिटी ।

३. स्वाभाविक जीवन मूल्य १॥≈)—श्रीहनुमत्प्रसाद जोशी वैद्य, आरोग्याश्रम, १६२—२०० कालबा देवी रोड, बम्बई ।

४. कंस-वध मूल्य ।=)—सरस्वती सदन, भाल्दारपुरा, जबलपुर ।

| पुस्तक | प्रकाशक |
|---|---|
| ५. विवेक वचनावली, मूल्य ।) | हिन्दी पुस्तक एजन्सी, १२६ हरिसन रोड, कलकत्ता । |
| ६. रामकी उपासना मूल्य ।) | |
| ७. पहिली पोथी मूल्य ≈) | |
| ८. दूसरी पोथी, मूल्य ।) | |
| ९. तीसरी पोथी, मूल्य ।≈)॥ | |
| १०. चौथी पोथी, मूल्य ॥≈) | |
| ११. पांचवीं पोथी, मूल्य १) | |
| १२. छठीं पोथी, मूल्य १।) | |
| १३. भजनमाला, मूल्य ।) | |

सूचना—जिन पुस्तकोंका विषय "स्वार्थ"के उद्देशोंके अनुकूल न हो, उनपर प्रायः सम्मति नहीं दी जाती ।

# सामयिक संग्रह ।

## मिश्रदेशमें ब्रिटिश सेना ।

आत्म-निश्चय द्वारा जिन देशोंपर विजय प्राप्त की जाती है, वे किस समयतक और किस चतुरतासे अधिकारमें रखे जा सकते हैं ? आयर्लैंडके सम्बन्धमें यह प्रश्न दुःख पूर्ण, मिश्रके सम्बन्धमें जटिल और भारतके सम्बन्धमें अशान्तिजनक है ।

फिर भी मिश्रका प्रश्न औरोंसे सरल है । वहां कोई "अल्सटर" ( के समान विघ्नकारी प्रान्त ) नहीं है । यहां एक ही धर्मको माननेवाले, एक ही भाषा बोलनेवाले, एक ही जातिके लोग रहते हैं । फिर संवत् १६७१ ( सन् १६१४ ) तक वह ब्रिटिश साम्राज्यका भाग न होकर तुर्क साम्राज्यका ही प्रान्त गिना जाता था ।

हमने मिश्रपर इसलिये अधिकार प्राप्त किया था कि वहां व्यापारद्वारा रुपया कमानेका अच्छा अवसर है या इसलिये कि वह भारत आनेके मार्गमें आधी दूर पड़ता है—यह कहना कठिन है । फिर भी मिश्रकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर उसे मित्र बना रखनेसे भी ये दोनों उद्देश पूरे हो सकेंगे ।

हम अपने हितोंकी रक्षाके लिये मिश्रदेशमें स्थायीरूपसे अपनी सेना रखना चाहते हैं । मिश्र-देशनिवासी कदाचित् इतनी बात स्वीकार करलें कि स्वेज नहरके इर्द-गिर्द, पोर्ट सैयद या अन्य किसी बन्दरमें हमारी रक्षक-सेना ठहरा दी जाय ।

किन्तु प्रश्न यह है कि स्वेज नहरपर आक्रमणकी ही आशंका किससे है ? हमारे शत्रु तो कमज़ोर हो गये हैं । फिर क्या हमारे कलके किसी मित्रसे ही यह भय है ?...... हमारी आर्थिक हानिकी भी सम्भावना नहीं हैं । किसी न किसी रूपमें यह मान ही लिया गया है कि वहां विदेशियोंका खास दर्जा भविष्यमें भी क़ायम रहेगा । आमदनीकी रकम वैसे ही बहती रहेगी जैसे नील नदीका पानी ।...यह कैसी बात है कि जो मजदूर सप्ताहके सातों दिन, सवेरेसे शामतक, अनवरत परिश्रम करता है, उस उपजाऊ भूमिमें काम करनेपर भी कुछ संग्रह नहीं कर सकता और न उसके पास सोनेके लिये चटाई, पहिननेके लिए रूईका लबादा और अनाज रखनेके लिये मिट्टीके बर्तनके सिवाय और कोई खास चीज़ ही बच जाती है ! मिश्रकी स्वतन्त्रता मान लेनेपर भी इस चित्रमें विशेष परिवर्त्तन न होगा । वहांके जमींदारोंकी थोड़ीसी मददसे विदेशी महाजन जो वहां रूईकी खेती करते हैं, फिर भी अपना मुनाफा उठाते रहेंगे । तो फिर मिश्रदेशसे समझौता करनेमें कठिनाई ही कौन है ?

बात यह है कि सैनिक अधिकारी केवल स्वेज नहरकी रक्षासे ही सन्तुष्ट नहीं हैं । वे काहरा और सिकन्द्रिया ( अलेक्जन्ड्रिया ) में भी अपनी फौज रखना चाहते हैं । श्री-चर्चिल महोदयने खुले आम यह बात कही है । संभवतः यही बात अदलीपाशाके सीधे-साधे प्रतिनिधि-मण्डलको भी चिन्तित कर रही है जो इस समय इंग्लैण्डके परराष्ट्र-सचिवके साथ परामर्श कर रहा है ।

अदलीपाशा सारे देशके प्रतिनिधि नहीं समझे जा सकते। वे ब्रिटिश सरकारकी सहायताके कारण ही टिके हुए हैं। फौजी कानूनके कारण ही वे जगलुलपाशा एवं मिश्रके प्रबल दलके विरुद्ध अभी तक स्थिर हैं। फिर भी अदलीपाशा जितनी रियायत करनेको तैयार होंगे, उसकी भी कोई सीमा है।

मिश्रके गरमदलका अदनेसे अदना आदमी यही प्रश्न करता है "क्या नूतन परिस्थितिमें देशमें ब्रिटिश सेना न रखी जायगी?" इतना तो स्पष्ट है कि यदि काहिरामें ब्रिटिश सेना अब भी रखी गयी तो मिश्रकी स्वतन्त्रताका कोई अर्थ न होगा। मिश्रवाले खूब जानते हैं कि ग्लैडस्टन, सेलिसबरी तथा अन्य ब्रिटिश राजनीतिज्ञोंने लम्बी लम्बी प्रतिज्ञाएँ की थीं कि मिश्रमें ब्रिटिश सेनाका रखना थोड़े ही समयके लिए है। अतः यदि इस समय भी गत ४० वर्षोंकी भांति साम्राज्यने अपनी प्रतिज्ञाकी अवहेलना की तो मिलनर कमीशन बैठाकर एवं संरक्षणका नाममात्र त्याग करनेसे ही मिश्रवासियोंको सन्तुष्ट करना दुष्कर है।

('डेली हेराल्ड'में प्रकाशित श्री ब्रेलस्फोर्डके लेखसे संक्षिप्त)

## निःशस्त्री करणका प्रश्न।

हंगरीमें जो घटनाएँ हुई हैं उनसे बहुतोंका यह ख्याल हो गया है कि बड़े बड़े राजनीतिज्ञोंका यह कहना कि हम रण-सामग्री घटाना चाहते हैं बनावटी ही है। युद्धका ही अन्त करनेके लिये यूरोपमें जो महासमर हुआ था, उसे बीते तीन वर्ष हो चुके। हम पूछते हैं इतने समयमें वास्तविक शान्ति प्राप्त करनेके निमित्त क्या क्या उपाय किये गये हैं? एक वर्ष पहिले ब्रूसेल्समें जो सम्मेलन हुआ था, उसमें पैंतीस देशोंके प्रतिनिधि उपस्थित थे। उनमेंसे पराजित देशोंके अतिरिक्त अन्य कोई भी देश अपनी रण-सामग्री नहीं घटा सका। प्रत्येक विजयी राष्ट्र तथा अनेक निरपेक्ष राष्ट्रोंने भी अपनी रण-सामग्री बढ़ानेका ही प्रयत्न किया है। गत वर्ष पांच प्रमुख देशोंने ६० करोड़ पौण्ड या लगभग ६ अरब रुपये इस सम्बन्धमें खर्च किये थे और इस वर्ष दरिद्रता और बेकारीका प्रसार होते हुए भी, उसमें कोई कमी नहीं हुई।

आर्थिक कठिनाइयोंके कारण लोग निःशस्त्री करणकी इच्छा तो अवश्य कर रहे हैं, पर क्या कोई भी प्रमुख देश यह "कठिन स्वार्थ-त्याग" करनेके लिए और "घोर जोखिम" उठानेके लिए तैयार हैं? जबतक शान्ति बनाये रखनेकी नीति परस्पर स्वीकृत न हो जाय तबतक वाशिंगटनमें या कहीं भी यह प्रश्न हल नहीं हो सकता।

संसारके प्रमुख राष्ट्र जापानको अपने गुटमें शामिल नहीं करना चाहते। जहां जहां उनका राजनीतिक आधिपत्य है वहां वहां वे जापानको प्रविष्ट होनेसे रोकते हैं। जापानने बड़ी शीघ्रतासे अपनी उन्नति की है। उसकी बढ़ती हुई जन संख्या प्रवासमें रहकर व्यापारिक अभ्युदयके निमित्त उत्सुक है। उसे अपनी इच्छाओंकी पूर्त्तिके लिये

चीनदेश उपयुक्त स्थान मालूम पड़ता है। यदि तुम जापानको अपने अधिगत प्रदेशोंमें न घुसने दो और चीनमें भी उसे प्रवेश करनेसे रोको तो यह कैसे हो सकता है? यदि "श्वेत समाज" में जापान प्रवेश न पा सका तो चीनमें वह अवश्य मनमानी करेगा। क्या यह उचित है? यदि चीनने जोरोंसे जापानका विरोध करना आरम्भ किया तो ऐसी हालतमें इस विशाल युद्धसे कोई देश उदासीन न रह सकेगा। यदि चीन विरोध न कर सका तो इस विस्तृत भूमिपर प्रभुत्व प्राप्तकर जापान अत्यधिक शक्तिशाली हो जायगा। फिर वह श्वेत राष्ट्रोंकी निर्धारित सीमाको क्यों मानने लगा?

क्या फ्रांस और पोलैण्ड जर्मनीकी तुलनामें अपनी रण-शक्तिकी प्रबलता कुछ कम करनेको तैयार हैं? क्या विजयी होनेके कारण ही कोई देश अपने पड़ोसके पराजित देशकी सेनाकी अपेक्षा दुगुनी या तिगुनी सेना रखनेका अधिकारी है? निःशस्त्रीकरण और स्वतन्त्र वाणिज्य तभी संभव है जब हम अपने दिलोंसे स्वार्थ-परायणता एवं एका-धिकार और साम्राज्य-वृद्धिके भ्रमात्मक विचार निकाल बाहर करें। ('नेशन' से संक्षिप्त)

# सम्पादकीय ।

## *जर्मन सिक्केके मूल्यका पतन ।*

३१ दिसम्बर १९२१ ( १६ पौष १९७७ ) को जर्मनीके मार्क सिक्केका मूल्य १ पौण्डमें २५८ मार्क था। धीरे धीरे वह गिरने लगा। गत मई महीनेमें १ पौण्डका मूल्य ५०० मार्कतक हो गया। नवंबरमें एक दिन पौण्डसें १२७५ मार्ककी बिक्री होने लगी। इसका कारण जर्मनीसे जबर्दस्ती हरजाना वसूल करनेकी नीति है। जर्मनी ही नहीं, मित्र देशोंके भी पक्षपातहीन अर्थशास्त्रज्ञ प्रारंभसे ही कह रहे थे कि हरजानेकी इतनी बड़ी रकम वसूल करना संभव नहीं है। पर क्रोध और द्वेषके वश होकर मित्र राष्ट्रोंने, जर्मन सरकारके अस्वीकार करनेपर, जबर्दस्ती हरजाना लेनेका निश्चय किया। जर्मन सीमापर चुंगी वसूल करनेके लिये चौकियां बैठायी गयीं, अपने देशमें आनेवाले जर्मन मालका आधा मूल्य जब्त किया जाने लगा तथा कई जगह फौजी पहरे बैठाये गये। लाचार जर्मन सरकारको हरजाना देना स्वीकार करना पड़ा। यह गत मईकी घटना है। तभीसे मार्क गिरने लगा। सितंबरमें जर्मनीने एक करोड़ मार्कका सोना दिया। उधर मार्कका मूल्य और भी गिर गया! अब जनवरी फरवरीमें दूसरी किश्त चुकानी है। मार्क धीरे धीरे और भी नीचे चला जा रहा है। इसका कारण स्पष्ट है। जर्मनीसे जो हरजाना मांगा जा रहा है और जिसमें आजतक बहुत बड़ी रकम वसूल भी की गयी है वह जर्मनीकी राष्ट्रीय आयसे बहुत अधिक है। जो रकम आयसे नहीं दी जा सकती उसके लिये सम्पत्ति बेचनी पड़ती है और देनदारकी साख मारी जाती है। ऐसे देनदारसे कर्जा वसूल करना भी असंभव हो जाता है। राष्ट्रीय देने पावनेमें इसका परिणाम बहुत ही व्यापक तथा अनेक देशोंके लिये हानिकारक होता है। यही हो रहा है। आयसे हरजाना देना असंभव देखकर जर्मन सरकारने विदेशोंसे ऋण लेकर हरजाना देनेकी चेष्टा की थी पर वह भी, विशेषकर मित्रोंके विरोधसे, असफल हुई। अन्तमें जर्मन सरकारको स्वदेशमें ही जबर्दस्ती ऋण लेनेका—प्रजाकी संपत्ति जब्त कर मित्रोंको रकम देनेका—प्रयत्न भी करना पड़ा था। उससे तो राष्ट्रकी साख और भी हिल गयी तथा भयंकर राज्यक्रान्ति होनेके लक्षण दिखायी देने लगे। अब एक ही मार्ग खुला रह गया था। जर्मनीसे जो माल विदेश जाता था उसका मूल्य वहीं जमा रखकर समयपर हरजानेमें चुका देना और घरके व्यापारियोंको बदलेमें कागजके नोट देना ही यह उपाय था। यही उपाय किया गया। फल जो होना था वही हुआ। इन कागजोंके नोटोंकी दर गिरने लगी। ज्यों ज्यों दर गिरने लगी त्यों त्यों जर्मनीकी दरिद्रता बढ़ने लगी, कल कारखाने ज्यादा चलने लगे, विदेशोंमें जर्मन माल और भी सस्तेमें बिकने लगा जिससे मित्र देशके मालकी बिक्री घटने लगी, और जर्मनीमें संपत्तिनाश तथा महंगीके कारण गरीबोंका

कष्ट बढ़ने लगा । सारांश विप्लवके सब लक्षण दिखायी देने लगे । ऐसे समय कलकारखानों तथा खनिज सम्पत्तिसे परिपूर्ण साइलीशियाका आधा भाग राष्ट्रसंघने पोलैण्डको देनेका निश्चय किया । इससे जर्मन सरकारकी साख और भी घट गयी, मार्क और भी गिर गया । यही हरजाना वसूल करनेका फल है । इससे देनदार और पावनेदार दोनोंकी हानि ही है । मित्रराष्ट्र भी यह समझते हैं । पर द्वेषबुद्धिके कारण वे जर्मनीको हानि पहुंचाकर खुद भी हानि उठा रहे हैं । हमारी हानि हो तो हो पर जर्मनीका सत्यानाश किये विना हम शान्त न होंगे, यही इस नीतिका अर्थ है !

## अमेरिका द्वारा यूरोपका उद्धार ।

अमेरिकाके व्यवहारसे मित्रोंके इस व्यवहारकी तुलना कर देखिये । अमेरिकाने जर्मनीसे हरजाना लेनेसे इनकार कर दिया । यही नहीं युद्धके समय उसने मित्रोंको इतना अधिक ऋण दिया है कि उसका सूद भी अब तक न अंग्रेज दे सके हैं न फरांसीसी । यदि अमेरिका इस समय मित्रोंके साथ उससे आधी भी कड़ाई करे जितनी मित्र जर्मनीके साथ कर रहे हैं तो इनकी भी बुरी हालत हो जाय । तो भी ऋण देनेकी योग्यता जर्मनीमें मित्रोंसे कहीं अधिक है । वे केवल बड़ी बड़ी सेनाएं ही नहीं रखते हैं पर खास अमेरिकासे भी सैनिक प्रतियोगिता करना चाहते हैं । जो इंग्लैण्ड अभीतक अमेरिकाके ऋणका व्याज नहीं दे सका है वही ४० करोड़से अधिक रुपये खर्च कर चार बड़े बड़े लड़ाऊ जहाज बना रहा है--अमेरिकन जलसेनाका सामना करनेके लिये !--और अन्यान्य देशोंको ऋण भी दे रहा है । इसपर भी अमेरिका अपने पावनेके लिये तकाजा नहीं करता । कहां यह व्यवहार और कहां जर्मनीके साथ मित्रोंका ईर्षाद्वेषपूर्ण क्षुद्र व्यवहार ! इसपर भी मित्र कहते हैं कि अमेरिकाको मित्र देशोंका ऋण माफ कर देना चाहिये और यूरोपको अपने पैरपर खड़े रहनेके लिये मदद देनी चाहिये । न्याय और धर्मकी तथा संभव-असंभवकी बात भी छोड़ दें तो भी केवल अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे भी कहना पड़ता है कि उचित यही है । इतनी बड़ी रकम यदि अमेरिकाने वसूल की तो वहां सोनेचांदीका मूल्य गिर जायगा, जीवननिर्वाहके आवश्यक पदार्थोंकी दर बढ़ जायगी, कारखानोंमें तैयार होनेवाले पदार्थोंका मूल्य तो बढ़ जायगा पर विदेशी ग्राहकोंमें खरीदनेकी शक्ति न रह जायगी । इन सब घटनाओंके परिणामसे कलकारखाने बन्द होंगे, बेकारोंकी संख्या बढ़ जायगी और सामाजिक विप्लव उपस्थित होगा । यह सब सच है और इसीसे दूरदर्शी अमेरिकन सरकार अपना ऋण वसूल करनेमें उत्सुकता नहीं दिखा रही है । पर मित्र राष्ट्र अथवा वहांके प्रभावशाली पुरुष ही अमेरिकासे किस मुंहसे यह प्रार्थना कर रहे हैं ? उन्हें पहले जर्मनीसे व्यवहार करनेमें इसी उत्सुकता तथा दूरदर्शिताका परिचय देना चाहिये । असहाय यूरोपकी सहायताका प्रश्न भी ऐसा ही है । मित्रराष्ट्रोंकी नीति ही मध्य यूरोपको अपने पैरोंपर खड़ा होने नहीं देती । उन्हींके वहिष्कारका फल रूसी अकालकी भयंकरता है । ऐसी दशामें अमेरिका मदद दे तो कैसे ? तो भी यह तो मित्रों-

को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उदार अमेरिकन नागरिकोंने यूरोपके करीब एक करोड़ बालबच्चोंकी जान बचायी है। सारांश जर्मनीका हरजाना और मित्रोंका ऋण, इन दोनोंका अन्योन्य संबंध है। दोनों ही देनदार और लेनदार दोनोंका नाश करने वाले हैं। अतः वर्सेल संधिपत्रके साथ साथ देने पावनेके इन कागजातोंको समुद्रजलमें बहाकर तथा यूरोपके देशोंकी न्यायोचित सीमा पुनः निर्द्धारित कर नये सिरेसे पुनः संघटनका कार्य प्रारंभ करनेमें केवल यूरोपका ही नहीं प्रत्युत श्वेतसंसारमात्रका हित है। पर ईर्षाद्वेषाहत श्वेत जगत् इस मार्गका अवलंबन नहीं करेगा। समय समय, अनिवार्य होनेपर, इधर उधर दो चार अच्छे काम किये जायंगे पर साधारण नीति घात-प्रतिघात, ईर्षाद्वेष, मारकाट और तू तू मैं मैंकी ही होगी।

* *
*

## बेगारकी प्रथा

कुछ समय हुआ हमारे देशमें "बेगार" की कुत्सित और अन्यायपूर्ण प्रथाके विरुद्ध आन्दोलन उठाया गया था। समाचारपत्रोंमें समय समय पर लेख प्रकाशित किये गये। व्यवस्थापक सभाओं द्वाराभी सरकारका ध्यान इस ओर खींचा गया। आखिर बहुत दिनोंके बाद सरकारकी निद्रा टूटी और उसने इस सम्बन्धमें थोड़ा बहुत प्रयत्न भी किया।

२२ फाल्गुन संवत् १९७७ [५ मार्च १९२१] को संयुक्त प्रान्तकी व्यवस्थापक सभामें ठाकुर जोधसिंहने कुमाऊँ जिलेमें प्रचलित बेगार-प्रथाको अन्ततः एक वर्षमें उठा देनेका जो प्रस्ताव किया था, वह सरकारने स्वीकृत कर लिया था। शीघ्रही प्रचार-विभागकी ओरसे एक विज्ञप्ति प्रकाशितकी गयी [ १५ अप्रैलका 'आज' देखिये ]। उसमें कहा गया था कि "माननीय अर्थ-सदस्यके वायदेको पूरा करनेके लिये सरकार इस पर विचार कर रही है। यह तय किया गया है कि नैनीतालके ज़िलेमें और अलमोड़ा तथा गढ़वालके बहुत घने बसे हिस्सोंमें......करीब करीब शीघ्रही उतार [ बेगार ] की प्रथा बन्द हो जानी चाहिये।" इतना होने परभी हम देखते हैं कि यह दुष्ट प्रथा आज भी देशके अनेक स्थानोंमें उसी प्रकार प्रचलित है, जैसी पहिले थी। उक्त नैनीताल, अलमोड़ा तथा गढ़वालके जिलोंमें अब क्या हालत है, यह हम नहीं कह सकते। हमारी धारणा है कि वहांकी परिस्थिति भी अभीतक समुचितरूपसे सन्तोषजनक नहीं हुई है। दूसरे स्थानोंकी तो बातही जाने दीजिये। वहां तो अब भी बेगारकी कलुषित रीति अपने पूर्व भीषणरूपमें ही पायी जाती है।

शिमला ज़िलेमें कुछ देशी राज्य हैं। वहां "सभ्यताके शिखरपर पहुंची हुई" इस बीसवीं शताब्दीमें भी जो अन्धाधुन्धी हो रही है, उसका संक्षिप्त विवरण श्री एस० ई० स्टोक्स महोदयने २४ और २५ नोम्बरके "इण्डिपेण्डेण्ट" में प्रकाशित किया है। ये पहाड़ी राज्य शिमलेके डिप्टी कमिश्नरकी देख-रेख और एक प्रकारसे उसकी अधीनतामें

हैं। यदि इन राज्योंका कोई मनुष्य अन्याय और अत्याचारके विरुद्ध शिकायत करता भी है तो उसका विचार करनेके लिये उन्हीं लोगोंको आदेश दिया जाता है जिनके विरुद्ध उसने शिकायत की हो ! जो अभियुक्त है वही यदि न्यायाधीश बना दिया जाय तो वह किस प्रकारका न्याय करेगा, यह समझना बहुत कठिन नहीं है ।

मुफ्तमें काम कराना जितना न्यायके विरुद्ध है, उतना ही आर्थिक सिद्धान्तोंके भी विरुद्ध है । यदि किसी मनुष्यके परिश्रमका बदला न दिया जाय तो उसकी आर्थिक स्थिति बहुत दिनों तक अच्छी नहीं रह सकती । सुखसे रहना तो दूरकी बात है, वह बहुधा खाने-पीने और कपड़ों तकके लिये मुहताज हो जाता है । इस प्रकारके आर्थिक संकटमें पिसकर मनुष्यका हृदय भयंकर असन्तोषकी ज्वालासे जलने लगता है । "बुभुक्षितो नरः किं न करोति पापं" के अनुसार वह चोरी करने और डाका डालनेके लिये भी तैयार हो जाता है । उसके हृदयके भीतर छिपी हुई अशान्ति कभी कभी किसी भीषण विस्फोटककी नाईं फट पड़ती है और उससे राज्यकी तथा उसके निवासियोंकी बड़ी हानि होनेकी संभावना रहती है । इस कारण न्यायके लिहाजसे ही नहीं, प्रत्युत अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे और राज्यकी शान्ति एवं सुखके विचारसे भी बेगारकी प्रथा अत्यन्त गर्हणीय है ।

श्री स्टोक्स महोदयने "घुण्ड" नामक राज्यके अत्याचारोंका जो हाल लिखा है उससे इस निन्दनीय प्रथाकी बर्बरता और भयंकरता प्रकट होती है । एक बार कुछ मनुष्योंने "घुण्ड" के अधीश्वरसे एक अन्यायपूर्ण आज्ञाके सम्बंधमें कुछ नम्र निवेदन किया । जब कुछ 'सुनवाई' न हुई तो वे शिमलेके डिप्टी कमिश्नर श्री विलियमसनके सामने गये । इधर उनके ठाकुर [ अधीश्वर ] महाशयने अपने गाय-बैल और भैंसे उनके खेतोंमें स्वच्छन्द छोड़ दिये और उनकी सारी फसल नष्ट करा दी ! इस प्रकारकी अन्धाधुन्धी इस ब्रिटिश राज्यकी छत्रछायामें वाइसरायके उत्तुंग-शिखरासनके बिलकुल पासही हो रही है ! हम इस परिस्थितिका विचित्र रहस्य समझनेमें असमर्थ हैं । यह तो हम जानते हैं कि इन छोटे छोटे देशी राज्योंके अधीश्वरोंकी रक्षा करना सरकारका कर्त्तव्य है । पर जिस प्रकार उद्दण्ड प्रजासे उसके अधीश्वरकी रक्षा करना वह अपना धर्म समझती है, क्या उसी प्रकार उद्दण्ड और अन्यायी शासकसे प्रजाकी रक्षा करना भी वह अपना धर्म नहीं समझती ? हम नहीं कह सकते कि देशमें "आदर्श न्याय" और "अखण्ड शान्ति" का प्रसार करनेका दावा करनेवाली भारतसरकार कब तक इसप्रकारका अन्धेर कायम रहने देगी ।

* *

*

### *वाशिंगटन सम्मेलन ( अमेरिका और जापान ) ।*

संसारका सैनिक भार घटानेके लिये जो सम्मेलन अमेरिकाकी राजधानी वाशिंग-

टनमें होनेवाला था उसका कार्यारम्भ गत १ मार्गशीर्षको ( १७वीं नवम्बरको ) हो गया। सेना घटाना तभी सम्भव होता है जब राष्ट्रोंका परस्पर मतभेद दूर होकर युद्धकी सम्भावना न रह जाय। इस समय विशेष सैनिक प्रतियोगिता अमेरिका और जापानमें है। इसके मूलमें प्रशान्त महासागरका प्रभुत्व तथा चीनप्रधान पूर्वी देशोंमें व्यवसाय-वाणिज्य विषयक समान सुविधा है। प्रशान्त महासागरके प्रभुत्वके संबंधमें समुद्री तारों तथा कई टापुओंका—याप आदि—अधिकार इन दो महाशक्तियोंमें मनोमालिन्यका विषय हो गया है। चीनके संबन्धमें जापान और अमेरिकाकी नीति परस्पर विरोधी है। जापान चीनको अपने व्यापारके लिये सुरक्षित रखना चाहता है तथा उसने वहां कई स्थानोंपर सैनिक अधिकार भी जमा लिया है। जर्मनीकी वहांकी सम्पत्ति भी उसने स्वयम् दबा ली है। ब्रिटिश फ्रान्स आदि अन्यान्य विदेशी राष्ट्रोंने भी चीनके कुछ बन्दरोंपर अधिकार जमा रखा है। वहांकी कुछ आय विदेशियोंके हाथ बन्धक है। विदेशियोंने रेल आदि कई प्रकारकी सम्पत्तियां भी वहां स्थापित की हैं, खान आदिके अधिकार प्राप्त कर लिये हैं तथा गुप्त संधियोंद्वारा तरह तरहके स्वार्थ प्राप्त किये हैं। चीनका यह विषय इतना न्यायविरुद्ध तथा जटिल है कि वस्तुतः इसका पूर्ण ज्ञान चीन सरकारको भी है वा नहीं, इसमें सन्देह ही है। इसका एक कारण यह भी है कि समुद्रतटके भिन्न भिन्न प्रान्तोंके अधिकारियोंको कभी धमकाकर, कभी घूस देकर और कभी पट्टी पढ़ाकर धूर्त विदेशियोंने तरह तरहके अधिकार ले लिये हैं, जिनका पता भी चीन सरकारको नहीं है। इधर महासमरके कारण यूरोप तथा अन्य सम्बद्ध देशोंकी आर्थिक तथा राजनीतिक दशा बहुत ही बिगड़ जानेके कारण संसारमें चीन ही इतना बड़ा और समर्थ देश रह गया है जहां माल बेचकर अपने देशके मजूरोंको काम और महाजनोंको लाभ दिखानेकी आशा यूरोप, अमेरिका तथा जापानके व्यापारी राष्ट्र कर सकते हैं। इसीसे चीनमें समान व्यापारिक सुविधाओं, और मुक्तद्वार वाणिज्यका प्रश्न अमेरिका आदि देशोंके लिये इतने महत्वका हो गया है। इधर जापानका तो सारा भरोसा चीन ही है। निकट होने कारण सैनिक बलसे उसने वहां कई प्रकारकी विशेष सुविधाएं भी कर ली हैं। स्वभावतः वह इन्हें छोड़ना नहीं चाहता। यही अमेरिका और जापानके मनोमालिन्यका मुख्य कारण है। ऐसी दशामें कभी न कभी युद्ध हो जाना संभव जानकर दोनों ही अपनी जलसेना, बड़े बड़े लड़ाऊ जहाज़, क्रूजर, विनाशक, गोताखोर आदिकी संख्या बढ़ाने लगे। जापानकी आर्थिक शक्ति इतनी नहीं है कि वह अमेरिकाके मुकाबिलेमें अपना लड़ाऊ बेड़ा बढ़ा सके। पर उसे भरोसा इस बातका है कि यदि कभी युद्ध हुआ तो चीन और जापानके निकट ही होगा। अमेरिकाको बहुत दूर जाकर जापानपर आक्रमण करना पड़ेगा। युद्धनीति जाननेवालोंका कहना है कि अपने केन्द्रसे, जिसे अंग्रेज़ीमें बेस कहते हैं, जो सेना जितनी दूर जाकर लड़ेगी उसकी हारकी संभावना उतनी ही अधिक होती है। सैनिक केन्द्र उसे कहते हैं जहांसे युद्धक्षेत्रमें गयी हुई सेनाको कुमक, रसद, शस्त्रास्त्र, गोली बारूद, तथा लड़ाऊ जहाज़ोंको कोयला आदि

पहुंचाया जाता है और जहाज़ोंकी मरम्मत की जाती है। यह केन्द्र युद्धक्षेत्रसे जितनी दूर होगा उतनी ही कठिनाई बढ़ेगी, यह स्पष्ट ही है। अतः अमेरिका अपने फिलिपाईन द्वीपमें, जो जापानके निकट है, नौसेनाका केन्द्र ( Base ) बनाने लगा तथा ऐसे ही मध्यवर्त्ती केन्द्रोंके लिये प्रशान्त महासागरमें उपयुक्त टापू ढूंढ़ने लगा। अमेरिकाका यह मनोरथ विफल करने के लिये जापानको पहले ही आगे बढ़कर कई टापूओंपर अधिकार जमा लेना पड़ा है। इन टापुओंके सिवाय उक्त सागरमें अंग्रेजोंके कई उपनिवेश हैं तथा ब्रिटेन और जापान परस्पर सन्धिसूत्रमें आबद्ध हैं। इससे जापानकी शक्ति बढ़ती है और अमेरिकाका ब्रिटेनपर क्रोध भी बढ़ता है। साथ ही प्रशान्त महासागरमें इन दो महाशक्तियोंका बढ़ता हुआ बल देखकर भी अंग्रेजोंको अपने उपनिवेशों और व्यापारके लिये चिन्तित होना पड़ा है। उनपर अमेरिकाका ऋण बहुत अधिक है और श्वेतांग होनेके कारण वे अमेरिकाको असन्तुष्ट भी नहीं कर सकते तथा अपने साम्राज्यका पूर्वी भाग सुरक्षित रखनेके लिये जापानसे संधि बनाये रखनेमें भी बाध्य हैं। इस प्रकार अंग्रेज भी इस झगड़ेमें घसीटे गये हैं। अतः आपसमें समझौता होकर जलसेनाकी वृद्धि जिसमें रुक जाय इस बातकी चेष्टा करना उनके लिये भी परमावश्यक है। आजतक जगत्में सबसे बड़ी जलसेना अंग्रेजोंकी ही थी और अपने विशाल तथा विस्तृत साम्राज्यकी रक्षाके लिये इसे वे परमावश्यक समझते थे। पर अब लाचार होकर उन्होंने अमेरिकाके बराबर ही जलसेना रखना भी स्वीकार कर लिया है। वाशिंगटन सम्मेलनमें अमेरिकन प्रस्ताव यह है कि ब्रिटेन और अमेरिकाकी जलसेना बराबर हो तथा जापान, फ्रान्स और इटलीकी बराबर हो तथा अमेरिकन जलसेना और जापानी जलसेनाका अन्योन्य सम्बन्ध १०० : ७० हो। अभी इन विषयोंपर विचार हो रहा है। अतः इसका पूर्ण परिचय यथा समय देनेकी चेष्टा की जायगी।

### "स्वार्थ"का सम्पादन-कार्य।

इस मासमें "स्वार्थ" के ऊपर जो दैवी संकट आ पड़ा है, उसके समाचार पाठक अन्यत्र पढ़ेंगे। इस विपत्तिके कारण "स्वार्थ" पर जो आघात हुआ है, उसका ज़िक्र करना अनावश्यक है। इस अंकके प्रकाशनमें अनुमान १५ दिनोंका विलम्ब देखकर ही यह बात समझमें आ जायगी।

"स्वार्थ"के भूतपूर्व सम्पादकमें इसके उद्देशानुगत विषयोंकी जितनी जानकारी और जितनी योग्यता थी, उसकी आधी भी इन पंक्तियोंके विनम्र लेखकमें नहीं है। फिर भी इस पत्रके साथ घनिष्ट सम्बन्ध होनेके कारण एवं अन्य उपाय न देखकर "स्वार्थ" के सञ्चालक, मित्र वर्ग, तथा शुभचिन्तकोंने इसका सम्पादन मुझेही सौंपा है। अन्य कार्योंमें संलग्न रहने पर भी अपनी सामर्थ्य और योग्यताके अनुसार यह उत्तर-दायित्व भी पूरा करनेका प्रयत्न मैं अवश्य करूँगा। 'स्वार्थ' के स्नेही लेखकों और शुभचिन्तकोंकी उदार सहायता तथा सत्परामर्शसे ही यह कार्य हो सकेगा, अतः मैं विनीत भावसे उनके पवित्र प्रेम और मंगलमय अनुग्रहकी भिक्षा माँगता हूँ।

मुकुन्दीलाल।

# ज्ञातव्य विषय तथा अंक।

*भारतके निर्गत व्यापारका लेखा*

| वर्ष | मूल्य रुपयोंमें | | |
|---|---|---|---|
| संवत् | अरब | करोड़ | लाख |
| १९७० | १ | ८३ | ३५ |
| १९७१ | १ | ३७ | ६३ |
| १९७२ | १ | ३१ | ६६ |
| १९७३ | १ | ४६ | ६३ |
| १९७४ | १ | ५० | ५२ |
| १९७५ | १ | ६६ | ३ |
| १९७६ | २ | ७ | ६७ |
| १९७७ | ३ | ३५ | ६० |

*भारतके आगत व्यापारका लेखा।*

| वर्ष | मूल्य रुपयोंमें | | |
|---|---|---|---|
| संवत् | अरब | करोड़ | लाख |
| १९६६ से १९७० तक औसत | १ | ४५ | ८५ |
| १९७१ से १९७५ तक औसत | १ | ४७ | ८० |
| १९७६ | २ | ८ | |
| १९७७ | ४ | १४ | ६० |

ओ३म् वन्देमातरम्

# स्वार्थ

| वर्ष २<br>खण्ड २ | पौष १९७८ | अङ्क ३<br>पूर्णाङ्क २१ |
|---|---|---|

## रूईकी कृषि और व्यापार ।

पास और रूईकी पैदावार तथा वस्त्र प्रस्तुत करनेमें हमारे देशकी क्या स्थिति है, इन वस्तुओंके अन्तर्जातीय व्यापारमें हमारा क्या स्थान है, हमारे देशमें स्वावलम्बकी कितनी शक्ति है और अन्यदेश हमपर कहां तक आश्रित हैं, इन बातोंका विचार इस लेखमें होगा। इन प्रश्नोंके प्रगाढ़ अध्ययनकी इस समय कितनी आवश्यकता है, इसका कितना महत्व है इनके बतलानेकी यहां आवरकता नहीं है।

युद्धके पूर्व संसार भरमें कपासकी पैदावारकी यह स्थिति थी ( रूईकी गांठोंके अंक सहस्रांकोंमें दिये गये हैं अर्थात् अन्तके तीन शून्य छोड़ दिये गये हैं )--

| | संसार भरमें ६$\frac{1}{4}$ मनकी गांठें | भारतवर्षमें ५ मनकी गांठें |
|---|---|---|
| संवत् १९६९ | २६०४४ | ४४८३ |
| ,, १९७० | २७७०३ | ५९१३ |

### युद्धके पश्चात्की पैदावार

| | | |
|---|---|---|
| संवत् १९७५ | | ३९७८ |
| ,, १९७६ | | ५८४५ |

अर्थात् संसार भरमें रूईकी पैदावार (outurn) का लगभग $\frac{1}{4}$ भाग भारतवर्षमें उत्पन्न होता है। संसारमें रूईके उत्पादक तीन प्रमुखदेश हैं—संयुक्तराज्य अमेरिका, इजिप्ट अथवा मिश्रदेश और भारतवर्ष।

अमेरिकामें लगभग ( ३६० लाख एकड़पर ) ५$\frac{1}{2}$ करोड़ बीघेपर
भारतवर्षमें ,, ( २$\frac{1}{2}$ करोड़ एकड़पर ) ३$\frac{3}{4}$ करोड़ बीघेपर

और मिश्रमें लगभग ( २० लाख एकड़पर ) ३० लाख बीघेपर कपास बोयी जाती है।

अब इन देशोंमें रूईकी पैदावारका कूता देखिये। मिश्रमें यद्यपि कपासकी कृषिका रक़बा अधिक नहीं है तथापि वहां पैदावार अधिक और उत्तम रूई होनेके कारण मिश्र रूईका प्रमुख उत्पादक अवश्य है। उपरोक्त तीनों देशोंमें फी बीघा रूईकी पैदावार यह है—

अमेरिकामें ६५ सेर
भारतवर्षमें ३२ सेर
मिश्रमें १४७ सेर

भारतवर्षमें, हम जानते हैं कि भिन्न भिन्न प्रांतोंमें बीघा पीछे पैदावार भिन्न भिन्न है परन्तु सारे देशमें फी बीघा पैदावारका औसत ३२ सेर है। अन्य देशोंकी अपेक्षा हमारी पैदावारका औसत कितना कम है! यही कारण है कि हमारे देशमें जितनी भूमिपर कपासकी कृषि होती है वह संसार भरकी कपासकी खेतीका लगभग ¼ है परन्तु पैदावार केवल ⅙ है। इसी प्रकार संवत् १९७० (सन् १९१३-१४) का लेखा लगाते हुए हमारी रूईका मूल्य संसार भरकी फसलके मूल्यका* १५ फी सदी ही निकलता है अर्थात् मूल्य ⅙ से भी कम है। इसका कारण यह है कि हमारे देशमें जो रूई अभी उत्पन्न होती है वह बहुधा ऐसे अच्छे रेशे वाली नहीं होती जैसी कि अमेरिका या मिश्रकी रूई। हमारे देशकी कपासकी कृषिमें उपरोक्त दो प्रकारकी उन्नतिकी, अर्थात् कपासकी पैदावार बढ़ाना और अच्छे नस्लकी कपास पैदा करना, अत्यन्त आवश्यकता है।

इन दो दिशाओंमें उन्नति कर लेनेपर संसारके रूईके बाज़ारपर भारतवर्षका कितना आधिपत्य हो जायगा यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। फिर इस रूईका सूत और वस्त्र भी हमारे देशहीमें बनने लगे, हम केवल कच्चे मालको बेंच कर उसीका वस्त्र दशगुना मूल्य देकर ख़रीदनेमें संतुष्ट न हो जायं तो वस्त्रके व्यापारमें न केवल हम स्वावलम्बी हो जायंगे किन्तु अन्य देशोंके वस्त्रदाता भी हो सकते हैं।

दो बातोंको समझ लेनेसे इस विषयपर अपूर्व प्रकाश पड़ता है और वे बातें समझमें आने लगती हैं जो साधारण दृष्टिसे नहीं सूझ पड़तीं।

१ प्रथम तो इस समय संसारमें रूईकी जितनी पैदावार है, मांग उससे अधिक है। प्रोफेसर टाडने, जो इस विषयके एक बड़े विद्वान् हैं, सिद्ध किया है कि संसारमें रूईकी जितनी पैदावार है खपत उससे अधिक है, और अनेक विद्वान् इस बातसे सहमत हैं कि आगामी वर्षोंमें यह कमी अधिकाधिक प्रतीत होगी।

२ अतएव जिन देशोंमें रूईके वस्त्र बननेका उद्योग है उन्हें रूईका प्रबन्ध करनेकी चिंता है। और जहां रूईका उद्योग तो है परन्तु पैदावार नहीं उन्हें तो विशेष चिंता

* औद्योगिक कमीशनकी रिपोर्टके appendix से उद्धृत

है। ऐसा देश इंग्लैण्ड है। अमेरिकामें भी रूईका वहुत बड़ा उद्योग है परन्तु वह इस विषयमें स्वावलम्बी है। अमेरिकाकी मिलोंकी आवश्यकता पूरी होकर वहांसे शेष रूई बाहर भेजी जाती है। इंग्लिस्तानमें युद्धके पूर्व ४३०० हज़ार गांठोंकी मांग थी जिसमेंसे ३७०० हज़ार गांठें अमेरिकासे आती थीं, ४०० हज़ार मिश्रसे और ५० हज़ार गांठें हिन्दुस्तानसे जाती थीं और १५० हजार गांठें अन्यत्रसे आती थीं। अमेरिकाकी रूईका अधिकाधिक भाग वहींकी मिलोंमें खपने लगा है। औद्योगिक कमीशनके शब्दोंमें "यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रूईकी उपजका वह भाग जो उसी देशकी मिलोंमें खपता है दिन प्रति दिन वढ़ता जायगा और खपतकी यह वृद्धि इंग्लैंडके कारखानोंके नुक़सानपर होगी। ........इंग्लैण्डके अफ्रिका देशके उपनिवेशोंकी अपेक्षा हिन्दुस्तानमें व्यापारकी सुगमता है, यहांके कृषक अधिक चतुर हैं और यहां कपासका रक़बा अधिक विस्तृत है। इन कारणोंसे यह निश्चय है कि कपासकी उपजमें जितनी वृद्धिकी दरकार है वह और किसी देशमें इतनी शीघ्रतासे नहीं प्राप्त हो सकती"

हम स्वयं ऊपर लिख चुके हैं कि अमेरिका और मिश्रसे तुलना करते हुए हमारे देशकी कपासकी खेतीमें बहुत उन्नतिका अवकाश है, पैदावार और नस्ल दोनोंमें उन्नति होनी चाहिये। परन्तु हम यह नहीं चाहते कि यह उन्नतिका प्रयत्न इसलिये किया जाय कि हम मैंचेस्टरकी मिलोंके लिये कच्चा माल भेजने वाले बन जायं और वहांका बना हुआ माल खरीदने वाले बने रहें। हम नहीं चाहते कि* इम्पीरियल प्रिफरेंसकी नीति चलायी जाय और इंग्लैंड हमारा कच्चा माल खरीदनेमें जापान आदि देशोंकी अपेक्षा कम कर ( duties ) देकर हमारा कच्चा माल सस्ता खरीद ले और अपना माल बेचनेकी यहां सुविधा कर ले। इसमें भारतवर्षको अत्यन्त आर्थिक हानि है। हम चाहते हैं कि अमेरिकाकी भांति हम भी अधिकाधिक रूई उत्पन्न करें परन्तु उससे अपनी आवश्यकताका वस्त्र भी स्वयं बनालें और शेष रूईको स्वतंत्र रीतिसे एक सा कर लगाकर जो देश हमें अधिक मूल्य दे उसके हाथ वेच दें।

† युद्धके पूर्व संसारकी रूईकी पैदावार प्रो० टाडके अनुसार लगभग २५५ लाख गांठें प्रति वर्ष थी जिसमेंसे अमेरिका १५० लाख गांठें अर्थात् कुल पैदावारका लगभग $\frac{3}{5}$ भाग उत्पन्न करता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि अमेरिकामें कपासकी कृषि हमारे देशकी अपेक्षा लगभग $1\frac{1}{2}$ डेढ़गुनी होती है परन्तु पैदावार लगभग तिगुनी है।

*संक्षेपमें इम्पीरियल प्रिफरेंसकी नीति यह है कि ब्रिटिश साम्राज्यके अन्तर्गत देश आपसके व्यापारमें सामुद्रिक कर कम लगावें और साम्राज्यके बाहर वाले देशोंके साथ व्यापारमें अधिक सामुद्रिक कर रक्खा जावे। इसके अनुसार इंग्लैण्ड हिन्दुस्तानका कच्चा माल जापान जर्मनीकी अपेक्षा कमकर देकर खरीद सकता है और अपना बना हुआ माल भी इसी प्रकार कम कर देकर यहां भेज सकता है।

† Cotton Commission की रिपोर्टसे उद्धृत।

अमेरिका और भारतवर्षके नीचे लिखे अंकोंकी तुलना करनेसे हम अमेरिका-की भी स्थितिकी ओर लालायित नेत्रोंसे देखने लगेंगे।

| | अमेरिका | | भारतवर्ष |
|---|---|---|---|
| | सहस्र गांठोंके अंक | | |
| | पैदावार | मिलोंमें खपत | |
| संवत् १९४७ से ५२ (सन् १८९० से ९५) तकका औसत | ८३४६ | २८५० (३३ फी सदी) | संवत् १९६८ (सन् १९११-१४) में मिलोंकी खपत १८१६ गांठें कूती जाती हैं |
| संवत् १९६७ से ७२ (सन् १९१० से १५) तकका औसत | १४५५८ | ५७६९ (४० फी सदी) | संवत् १९७५ (सन् १९१८-१९) में २०,०३ संवत् १९७६ (सन् १९१९-२०) में २०,०३ |
| संवत् १९७२ से ७५ (सन् १९१५ से १८) तकका औसत | १२८७१ | ७६०० (५९ फी सदी) | हमारे देशकी रूईकी पैदावारसे सूत और वस्त्रके उद्योगकी तुलना करनेपर वह बहुत पिछड़ा मालूम होता है। युद्धकालमें भी इसमें विशेष उन्नति नहीं हुई। |

ऊपरके अंकोंसे स्पष्ट है कि अमेरिकाकी मिलोंने थोड़े ही समयमें कितनी उन्नति की थी। युद्धकालके पश्चात् अमेरिकाने अपने प्रत्येक उद्योगमें अपूर्व उन्नति की है। अमेरिका और जापानके उद्योग हिरणकी सी छलांगे मार रहे हैं और भारतवर्षके उद्योगकी गति कछुएकी सी धीमी है। हम रूईकी पैदावार बढ़ाना चाहते हैं परन्तु साथही साथ उससे सूत कातने और वस्त्र बनानेके उद्योगकी वृद्धि आवश्यक है।

## हिन्दुस्तानकी रूई कहां जाती है?

यह नीचेके लेखेसे ज्ञात होगा। ऊपर जिन वर्षोंकी पैदावार और देशी मिलोंकी खपतके अंक दिये गये हैं उन्हीं वर्षोंके निर्यातके अंक दिये जाते हैं।

५ मनकी गांठें सहस्रांकोंमें

| | संवत् १९७० (१९१३-१४) | संवत् १९७५ (१९१८-१९) | संवत् १९७६ (१९१९-२०) |
|---|---|---|---|
| इंग्लिस्तान ... ... | १०८ | ७७ | १४९ |
| ब्रिटिश साम्राज्यके अन्य भाग ... | ३५ | १२ | १८ |
| जापान ... ... | १३४९ | ७८३ | १६५५ |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| जर्मनी | ... | ... | ४७३ | ... | ४६ |
| अन्य सारे विदेश | ... | ... | १०११ | १५७ | ५२६ |
| कुल निर्यात | ... | ... | २९७५ | १०३० | २३९६ |

पैदावारके अंकोंसे निर्यातके अंकोंकी तुलना करनेसे ज्ञात होता है कि उपजका बहुत बड़ा भाग जो बहुधा आधेके लगभग होता है विदेशोंको जाता है। उपजकी दशा और विदेशोंकी मांगके अनुसार यह अंश घटता बढ़ता रहता है। हिन्दुस्तानसे निर्यातके कच्चे मालमें सबसे अधिक मूल्यकी वस्तु रूई है जिस प्रकार आयातकी वस्तुओंमें सबसे अधिक मूल्यके रूईके वस्त्रादि आते हैं। इस लिये इनके व्यापारकी ओर हमें सबसे अधिक ध्यान देना चाहिये। हिन्दुस्तानसे कितने मूल्यकी कच्ची रूई जाती है और वह कुल निर्यातका कितना बड़ा अंश है यह निम्न लिखित अंकोंसे प्रकट हो जायगा।

| | | मूल्य लाख रुपयोंमें | कुल निर्यातका अंश |
|---|---|---|---|
| लड़ाईके पूर्वके पांच वर्षोंका औसत | | ... ३३०० | १५ फी सदी |
| संवत् १९७५ (१९१८-१९) | ... | ... ३०९८ | १३ फी सदी |
| संवत् १९७६ (१९१९-२०) | ... | ... ५८६५ | १९ फी सदी |

हमारे देशसे जितनी चीज़ें विदेशोंको निर्यात होती हैं कीमतमें रूईका मुकाबिला दूसरी कोई चीज़ नहीं करती। परन्तु इस समय अपने देशकी व्यापार-नीति हमारे हाथमें न होनेसे हम अपनी इस बहुमूल्य वस्तुकी रक्षा और उसका पूरा उपयोग करनेमें असमर्थ हैं। मैंचेस्टर और लंकाशायरके मिलवाले हमारे देशकी रूईको सतृष्ण नेत्रोंसे देख रहे हैं। अमेरिका जैसे स्वतन्त्र देशके बाज़ारसे रूई मिलनेमें कठिनता होनेसे वे अपने अधीन देशके बाज़ारपर कब्ज़ा करना चाहते हैं। अमेरिकाके बाद रूईका सबसे बड़ा उत्पादक देश भारत-वर्ष ही है। अतएव यहां इम्पीरियल प्रिफरेंसकी नीति यदि चला दी जाय तो जापान इत्यादि देशोंको यहांकी रूई खरीदनेमें इंग्लैण्डके मुकाबले पड़ता न पड़े और इंग्लैंडको सस्ते दामोंमें यहांकी रूई खरीदनेमें सुभीता हो जाय। यह स्पष्ट है कि ऐसी नीति हमारे देशके लिये अभीष्ट नहीं है।

हमारे देशमें उत्पन्न वस्तुओंका जो उपयोग हमारे लिये सबसे अधिक लाभदायक हो वैसा करनेकी हमें स्वतंत्रता होनी चाहिये। अपनी व्यापारनीतिपर पूर्ण अधिकार होनेका साधन स्वराज्य है। और हमारी रूईका सबसे अच्छा उपयोग यह है कि हम स्वयं उसका सूत कात लें और वस्त्र बनालें। इसलिये हमारा दूसरा अभीष्ट स्वदेशी है।

**रामस्वरूप गुप्त।**
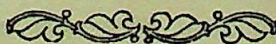
# शेरशाह सूरकी राज्य-व्यवस्था ।

[ गताङ्कसे आगे ]

सड़कोंके विषयमें ऊपर कहाजा चुका है कि उनके निर्म्माणका मुख्य उद्देश्य सेनाको पहुंचानेकी सरलता ही था। परन्तु उनका गौण उद्देश्य सर्वसाधारणकी यात्रामें और व्यापारिक वस्तुएं ले जाने में सरलता पहुंचाना भी था। शेरशाहकी बनायी हुई सड़कोंके नाम ऊपर दिये जा चुके हैं। इन सड़कोंपर फलदार वृक्ष लगानेके लिए प्रबन्ध किया गया था, और दो दो कोसकी दूरीपर सरायें बनवादी गयी थीं। राज्यभरमें कुल १७०० सरायें थीं। प्रत्येक सराय में हिन्दू और मुसल्मानोंके ठहरनेके लिए अलग अलग कोठरियां बनायी गयी थीं। सरायोंके फाटकोंपर पीनेके पानीका प्रबन्ध रहता था। हिन्दू यात्रियोंके रहने और उनके भोजन-पान-शयन इत्यादिका और उनके घोड़ोंके लिए घास इत्यादिका प्रबन्ध करनेके लिए ब्राह्मण नियत थे। जो मनुष्य सरायोंमें टिकते थे उन्हें खाना और उनके घोड़ोंके लिए घास दाना इत्यादि सरकारकी ओरसे मिलते थे। सरायके बीचमें एक कुंआ और एक पक्की ईंटकी मसजिद होती थी। सरायके कर्मचारी इमाम, मुअज्ज़म, शहना और चौकीदार होते थे। इन सब प्रबन्धोंका व्यय केन्द्रिक निधिसे नहीं आता था, किन्तु सरायसे लगी हुई भूमिकी आयसे चलता था। सरायोंके ही संबन्धमें सरकारी डाक ले जानेका भी प्रबन्ध था। दो घोड़े सरकारकी ओरसे रहते थे जो समाचार ले जाते थे। अब्बासखांके कथनानुसार इतना अच्छा प्रबन्ध शेरशाहने अपनी प्रजाके लिए कर रक्खा था। सड़कोंको चोरी और डकैतीसे सुरक्षित रखनेके लिए यह नियम था कि यदि चोर पकड़े न जा सकते थे तो आमिलको यह अधिकार था कि आसपासके गावोंके मुक़द्दमों ( ग्रामके अधिकारियों ) को पकड़ें और उनसे क्षतिपूर्त्ति करावें। यदि सड़कपर कोई मारा जावे और मुक़द्दम मारने वालेका पता न चला सकें तो स्वयं उन्हें प्राणदण्ड होता था।

प्रान्तोंसे आये हुए विवादोंका निर्धारण राजधानीमें होता था। इस विषयमें शेर-शाहके सुधारोंका हमको अब तक कुछ भी ज्ञान नहीं है। किसी किसी लेखकके शब्दोंसे यह भास होता है कि शेरशाहने कुछ न्याय सम्बन्धी विधान और धाराएं बनायी थीं परन्तु इस संबन्धमें निश्चित रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। शेरशाहकी न्यायप्रियताके विषयमें बहुतसी कथाएं प्रचलित हैं, विशेष कर वह जिसमें उसने स्वयं अपने पुत्रको दण्ड देना निश्चित किया था।

इमामों ( धार्मिक आचार्य्यों ) की जागीरोंके विषयमें शेरशाहने बहुत कुछ सुधार किये थे। उसे यह ज्ञात हो गया था कि सुल्तान इब्राहीमके समयसे कुछ इमामोंने आमिलोंको घूंस देकर उचितसे अधिक भूमिपर अपना अधिकार जमा लिया था।

शेरशाहने उस विषयमें स्वयं पूर्ण अनुसन्धान किया और जितनी भूमि प्रत्येक इमामके लिए उचित थी रहने दी, शेष भूमिको अपने अधीन कर लिया, परन्तु किसीको भी उसकी सर्वसम्पत्तिसे वञ्चित नहीं किया। इमामोंके राजधानी तक आनेमें जो कुछ मार्गव्यय पड़ा था वह उनको देकर उन्हें लौट जानेकी आज्ञा दी।

शेरशाहके गुप्तचर-विभागके विषयमें "तारीख़-शेरशाही" में इस प्रकार लिखा है "उन विषयोंके पूर्णतया पालित होनेके लिए जो कि शेरशाहने अपनी प्रजाके लिए प्रकाशित किये थे,* शेरशाह अपने अमीरोंके साथ साथ विश्वस्तचर भेजा करता था, जिससे कि वे चर अमीरों, सिपाहियों और सर्वसाधारणकी सब बातें गुप्त रीतिसे अनुसन्धान कर और पूर्णतया जानकर बादशाहको आकर बतावें।" गुप्तचर रखनेकी आवश्यकता प्रत्येक शासकको होती है। शेरशाहके पूर्ववर्ती सुल्तानोंके समयमें भी इस विभागपर विशेष ध्यान दिया जाता था। अलाउद्दीन खिलजीके गुप्तचरोंकी कार्य्यदक्षताके विषयमें कुछ कहानियां प्रचलित हैं।

स्वयं बादशाहके भोजनालयका यह नियम था कि वहांपर भूखे सिपाही, धार्मिक व्यक्ति और किसान भोजन कर सकते थे।

ऊपर लिखे सब विभागोंका शासन राजधानीसे स्वयं बादशाहकी देख रेखमें होता था।

**प्रान्तीय शासन**—शेरशाहकी ख्यातिके अमर होनेका मूल कारण उसकी प्रान्तीय शासनप्रणाली थी। ऊपर प्रान्तविभाजनके सिद्धान्तोंका विवेचन किया जा चुका है। प्रत्येक प्रान्त अर्थात् सरकारमें दो अधिकारी हुआ करते थे। एक मुख्य शिक्क़दार (राजप्रतिनिधि) और द्वितीय मुख्य मुन्सिफ़ (न्यायकर्त्ता)। प्रत्येक प्रान्तमें कई पर्गने हुआ करते थे†। प्रत्येक पर्गनेमें निम्नलिखित अधिकारी और कर्मचारी होते थे।

एक आमिल—अर्थात् शासक। यह प्रायः हर वर्ष अथवा दो वर्षमें बदले जाते थे।

एक शिक्क़दार—अर्थात् राजप्रतिनिधि (शायद इनके सिपुर्द न्यायकार्य्य रहा हो)

एक खज़ानची—

एक कार्कुन—अर्थात् लेखक, हिन्दीका।

एक कार्कुन— ,, ,, फ़ारसीका।

---

* इन शब्दोंसे यह भास होता है कि शायद शेरशाहने कुछ क़ानून या नियम बनाये थे जिन्हें प्रजा और अधिकारी दोनोंको मानना पड़ता था।

† शेरशाहके कुल पर्गनोंकी संख्या ११३·०० या ११६००० कही जाती है। इस संख्यापर विश्वास करना कठिन है, यदि ऐसा था तो उस समयका पर्गना भी इस समयके पर्गनेसे बहुत छोटा था।

पर्गना ही राजकार्य्यका सबसे छोटा केन्द्र था। मालगुज़ारी वसूल करना, विक्रेय वस्तुओंपर कर वसूल करना, पर्गने भरके जन और धनकी रक्षा, और न्याय, यह सब कार्य्य पर्गनोंके अधिकारियोंके सिपुर्द थे। मालगुज़ारी वसूल करनेके लिए शेरशाहने विस्तृत नियम बनाये थे। अधिकारि-वर्ग प्रति फ़सलपर भूमि नापते थे, और उपजके प्रमाणके अनुसार किसानोंसे लगान लिया जाता था। एक भाग किसानको, आधा मुक़द्दमको मिलता था। भिन्न भिन्न प्रकारके अन्नोंपर भिन्न भिन्न दरसे लगान लिया जाता था, जिससे मुक़द्दम चौधरी (लगानका किसानसे लेनेवाला) और आमिल किसानोंको दुःख न दे सकें क्योंकि किसान राज्यकी समृद्धिके आधार हैं। शेरशाहके शासनके पूर्व भूमि नापनेका नियम नहीं था, परन्तु प्रत्येक पर्गनेमें एक क़ानूनगो रहा करता था जिससे पर्गनेकी भूत और वर्त्तमान दशा, और संभावित भविष्यद्दशाका ज्ञान हो सकता था।" *

विक्रेय वस्तुओंपर राज्यभरमें दो स्थानोंपर कर लिया जाता था। प्रथम कर राज्यकी सीमापर (अर्थात् Import duties के रूपमें) लगता था, अर्थात् गढ़ीपर यदि वस्तु बंगालसे आती थी; या उत्तर पश्चिमी सीमापर, यदि वस्तु खुरासानसे आती थी। द्वितीयकर विकनेके स्थानपर लगता था। ग्रामीणोंके जन और धनकी रक्षाके लिए मुक़द्दम उत्तरदायी समझे जाते थे। मुक़द्दमका कर्त्तव्य वर्त्तमान पुलिसका कर्त्तव्य था। हर पर्गनेमें एक न्यायालय था जहांपर प्रतिदिन न्याय होता था। न्यायकारी अधिकारीकी उपाधि, न्यायविधि इत्यादिका विस्तृत विवरण किसी इतिहासकारने नहीं दिया है।

ऊपर प्रान्तीय (सरकारके) अधिकारियोंके नाम दिये जा चुके हैं। इनके कर्त्तव्योंका वर्णन अब्बासख़ांने इस प्रकार किया है। "मुख्य शिक्क़दार और मुख्य न्यायाध्यक्षके कार्य्य यह थे कि वह आमिल और सर्वसाधारणके कार्य्यकी देख रेख करें जिससे कि आमिल सर्वसाधारणको सता न सकें या बादशाहके रुपयेको खा न जावें। उनका कर्त्तव्य यह भी था कि यदि बादशाहके आमिलोंमें पर्गनोंके सीमाविभागके विषयमें कोई विवाद हो तो उसका न्याय करें, जिससे कि राज कार्य्यमें किसी प्रकारकी बाधा या गड़बड़ी न हो। यदि जनता राज-नियमोंको भंग करने या उद्दण्डताके उद्देश्यसे राज-कर वसूल करनेमें कुछ विपत्ति करे तो (प्रान्तीय शिक्क़दारका यह कर्त्तव्य था कि) वे उनको दण्ड देकर ऐसा नाश करदें कि जिससे उनकी बदमाशी और उद्दण्डता दूसरों तक न फैले।" इसका सारांश यह है कि प्रान्तीय अधिकारियोंका कर्त्तव्य अधिकतर देखरेख (supervision) करना था।

राज्य-प्रणालीका उपर्य्युक्त वर्णन बड़ा ही अपूर्ण जान पड़ता है। इसका कारण ऐतिहासिक सामग्रीकी कमी है। अब्बास ख़ाँ शरवानीकी लिखी हुई "तारीख़-शेरशाही ही केवल एक ऐसी पुस्तक है जिसमें शेरशाहके विषयमें कुछ इतिहास मिलता है। शेष जिन पुस्तकोंमें इसके राज्यका इतिहास है वह केवल नाममात्र है। यही नहीं कि

* अब्बासख़ांके यह शब्द स्पष्टतया समझमें नहीं आते।

## शेरशाहसूरकी राज्य-व्यवस्था

हमें जो वर्णन प्राप्त है वह केवल अपूर्ण ही हो, बहुतसे स्थानोंपर विषयका भ्रमपूर्ण ज्ञान रखनेके कारण इतिहासकारोंने कुछ ऐसा लिख दिया है कि जिसका कुछ अर्थ निकलना ही संभव नहीं। एक बात और भी है—इसका प्रमाण भी मिलता है कि स्वयं शेरशाहका कार्य्य भी अपूर्ण ही रह गया था।

शेरशाहकी मृत्यु अचानक कालिंजरके दुर्गावरोधमें हुई थी। "तारीख़-खानजहां लोदी" में उसकी मृत्युके दृश्यका वर्णन है। मरनेके कुछ समय पहले शेरशाहने स्वयं यह बात कही थी कि मेरा कार्य्य अपूर्ण रह गया। अधिक कह सकनेकी शक्ति न रखते हुए भी उसने यह भाव मृत्युशय्यापरसे व्यक्त किये थे :—

"मेरे हृदयमें तीन चार आकांक्षाएं थीं जो कि अब तक अपूर्ण हैं, और जो अब मेरी मृत्युके साथ साथ चली जावेंगी। प्रथम यह थी कि मैं रोह देशको निर्जन कर देता, और वहांके निवासियोंको नीलाब और लाहौरके मध्यकी भूमि, और निन्दूनाके दक्षिणकी सिवालिक इत्यादिके पर्वतीय प्रदेशोंमें बसाता, जिससे कि यह लोग सर्वदा मुग़लोंके आक्रमणकी चौकसी रखते, काबुलसे हिन्दमें किसी को न आने देते, और पहाड़ियोंके ज़मींदारोंको वशमें रखते।

"दूसरी यह थी कि मैं लाहौरको उन्मूल कर देता, जिससे किसी भी विदेशी आक्रमणकारीके सीधे मार्गमें ही इतना बड़ा नगर न रहता, जिसपर अधिकार कर लेनेसे उसे युद्धकी सब सामग्री प्राप्त हो जाती, और अपनी शक्तिके पुनः संगठित करनेका अवसर मिलता।

"तीसरी यह कि मैं मक्का जानेवाले यात्रियोंके लिये पचास पचास जहाज़ोंके दो बेड़े, सरायोंके बराबर बड़े और ऐसे सुदृढ़ बनवाता कि वायु या तूफ़ानके वेगसे वे टूट न सकते और यात्री पवित्रधामको सुख व शान्तिसे आ जा सकते।

"अन्तिम अभिलाषा यह थी कि पानीपतके युद्धस्थलपर इब्राहीम लोदीका स्मारक बनवाता, और उसके सामने ही स्वयं अपने आप परास्त किये हुए या मारे हुए चग़ताई सुल्तानोंके भी स्मारक होते। इनको बनवानेमें मैं भवन-निर्माणकलाकी सब सुन्दरताओंका ध्यान रखता, जिसकी कि शत्रु और मित्र दोनों ही सराहना करते और मेरा नाम प्रलयकाल तक संसारमें स्थित रहता।

"ईश्वरने मुझे इनमेंसे एक भी इच्छा पूर्ण करनेका अवसर नहीं दिया, और मेरा यह हार्दिक दुःख मेरे साथ क़ब्रमें जा रहा है।"

किसी किसीको यह केवल एक बनावटी कहानी जान पड़ेगी, परन्तु इस कहानीपर विश्वास न करनेका हमें कोई कारण नहीं जान पड़ता। आगेके इतिहाससे यह प्रकट है कि इन आकांक्षाओंको जिनको शेरशाह पूर्ण नहीं कर पाया था उसके उत्तराधिकारियोंने पूर्ण करनेका विचार किया। दूसरे यह कि इस कहानीमें कोई असंभव बात नहीं जान पड़ती। उसकी प्रत्येक आकांक्षा उसकी महत्ता और उसकी राजनीतिज्ञताकी द्योतक है।

केवल साढ़े चार वर्षतक ही राज्य कर पानेपर, और इसी समयमें प्रायः लगातार युद्धस्थलमें ही रहनेपर भी, शेरशाहने इतना कार्य्य कर लिया, यह शेरशाहकी कार्य्यपटुता और आदर्श शासक बननेकी प्रबल इच्छाका फल था। श्रीयुत ई० बी० हैवलने अपनी पुस्तक "The History of Aryan Rule in India" में शेरशाहके सम्बन्धमें लिखते हुए यह विचार प्रकट किये हैं :—

"शेरशाह एक कट्टर सुन्नी था, जिसका व्यवहार अपनी हिन्दू प्रजाके प्रति उसी प्रकारका था, जैसा कि एक चतुर किसान अपने घोड़ों और जानवरोंके साथ करता है—उन्हें हानि और दुर्व्यवहारसे इस लिए सुरक्षित करना आवश्यक था कि जिससे वे अपने स्वामीकी शक्ति और धनवृद्धिमें सहायक हों। शेरशाह सर्वांशमें इसी सिद्धान्तपर चलता था " L'Etat, C'est moi" अर्थात् 'मैं ही राष्ट्र हूं।"

श्रीयुत हैवलका यह कथन किसी प्रकार सुन्दर नहीं है। जिस उपमाका उन्होंने प्रयोग किया है वह हमारे ऊपर लिखे वर्णनमें कभी नहीं घटती। हां यह कहना अधिकांशमें मान्य है कि वह स्वयं अपने आपको ही राष्ट्र समझता था। परन्तु शेरशाहका यह सिद्धान्त किसी प्रकार भी घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखा जा सकता। पहले तो वह समय ही अनियंत्रित शासनका था, दूसरे शेरशाहके प्रायः एक शताब्दी पहलेसे भारतको लगातार दश वर्षतक अखण्डित शान्ति नहीं मिली थी। शान्ति स्थापन करनेके लिए और प्रजाको ऐसे समयके पश्चात् कष्टसे बचा कर सुख देनेके लिए यह आवश्यक था कि वह इस सिद्धान्तपर काम करता।

जैसा कि ऊपरके कथनोंसे सिद्ध है, शेरशाहकी राज्यव्यवस्था कोई नितान्त नवीन व्यवस्था नहीं कही जा सकती *। परन्तु शेरशाहको दो बातोंका श्रेय अवश्य मिलना चाहिये। एक यह कि जिस प्रणालीके भिन्न अंशोंका प्रयोग भिन्न भिन्न शासकोंने भिन्न भिन्न कालमें किया था उसकी अच्छी अच्छी बातोंको उसने संग्रह कर अपने समयमें प्रयुक्त किया। दूसरे, प्रणालीको उसने बहुत परिश्रम और कष्ट उठाकर अदम्य उत्साहसे उपयोगी ( *Efficient* ) बनाया। शेरशाह की ख्याति उसके कार्य्यकी नवीनता पर नहीं, किन्तु उसके कार्य्यकी कुशलता ( *Efficiency* ) पर निर्भर है।

शेरशाहकी व्यवस्थामें दण्डदानकी कठोरता भी प्रतीत होती है। किसी प्रकारकी उद्दण्डताको बड़ी निर्दयताके साथ दबानेके लिए उसने अपनी अनुमति दे रक्खी थी। यदि

---

* शेरशाहके सुधारोंकी नवीनताके विषयमें देखिये मेरा लेख "Sher Shah's Reforms; Were they Original" जो प्रयागके "M. U. Hindu Boarding House Magazine" November 1919 में प्रकाशित हुआ था। शायद इस लेखका हिन्दी अनुवादभी गोरखपुरसे निकलनेवाली किसी हिन्दी मासिकपत्रिकामें प्रकाशित हो चुका है।—लेखक।

मुक़द्दम अपराधीको नहीं पकड़ पाते थे तो स्वयं दण्ड पाते थे। वर्तमान विचारोंके यह प्रतिकूल है। परन्तु शेरशाह के युगमें प्राय: संसारभरमें दण्डप्रणाली बड़ी कठोर थी। इसका कारण यह जान पड़ता है कि शेरशाह इस प्रकारकी निठुराई आवश्यक समझता था। प्रजा और अधिकारि-वर्ग दोनों हीके स्वभाव शासकोंकी निर्बलताके कारण बहुत कालसे अनियंत्रितसे हो रहे थे। शान्ति और सुखकी स्थापना यदि हो सकती थी तो वह केवल दुष्टात्माओंके साथ कड़ा व्यवहार करनेसे।

जान पड़ता है कि बंगालके शासनके लिए शेरशाहने कोई विशेष नियम बनाये थे। दिल्लीके शासकोंको बंगाल दिल्लीसे दूर होनेके कारण सर्वदा कष्टप्रद रहा है। बादशाह होनेके पूर्वसे ही शेरशाह बंगालसे पूर्णतया परिचित हो गया था। ऊपर कहा जा चुका है कि बंगालको छोड़कर शेष राज्यके ४७ भाग किये गये थे, और बंगालसे आने वाली विक्रेय वस्तुओंपर राज्य-प्रवेशकर ( import duties ) लगता था अर्थात् शेरशाहके राज्यमें होते हुए भी बंगाल कर लगानेके उद्देश्यसे राज्यके बाहर समझा जाता था। बंगालके शासनके लिए विशेष नियम क्या थे यह हमें ज्ञात नहीं। संभव है कि बंगालभी उन दिनों वर्तमान विशेष-नियम-शासित-प्रदेशों ( Unregulated Provinces ) की भांति रहा हो।

'शेरशाहकी इस राज्यव्यवस्थासे भारतवर्षको क्या लाभ हुआ ?' इस प्रश्नका अन्तमें उठना स्वाभाविकही है। किसीभी वृक्षमें तत्काल फल नहीं लगने लगते। शेरशाहका शासनकाल बहुत अल्प था, इस लिए लाभके विषयमें अधिक विवेचन करना उचित नहीं। तथापि अब्बासखांने अपना इतिहास समाप्त करते हुए यों लिखा है :—

"जिस दिनसे शेरशाह राज्यसिंहासन पर बैठे, उस दिनसे उनके प्रतिकूल कोई सांस भी नहीं ले सकता था, न किसीने उद्दण्डता या विद्रोहका झगडा उनके प्रतिकूल उठाया न उनके राज्यरूपी उपवनमें कोई हृदय विदारक कंटक उत्पन्न हुआ, न कोई चोर या डाकू या शेरशाहके अमीरों या सिपाहियोंमेंसे कोई व्यक्ति ऐसा था जो दूसरेके धनको अनुचित लोभकी दृष्टिसे देख सके, और न उनके राज्यमें कभी कोई चोरी या डकैती ही हुई। शेरशाहके शासनकालमें यात्रियोंको अपने मालकी रक्षा करनेका कष्ट न उठाना पडता था, और न उन्हें जंगलमें ठहरनेसे ही भय होता था। निडर होकर रातको जंगल या बस्ती जहां चाहते थे ठहरते थे, अपने धनको खुलेमें छोड़ देते थे, जानवरोंको चरने छोड़ देते थे, और स्वयं निश्चिन्त होकर ऐसे सुखसे सोते थे मानों अपने घरमें सो रहे हों। जमींदार लोग इस भयसे कि कहीं यात्रियोंको किसी प्रकारकी हानि न हो जावे और उनके पीछे स्वयं उन्हें दण्ड मिले या कष्ट उठाना पड़े, आप ही उनकी रखवाली किया करते थे। शेरशाहके राज्यमें कोई भी जीर्ण वृद्धा सुवर्ण-भूषणोंकी टोकरी सिरपर रखकर यात्राको जा सकती थी, और उसके समीप कोई भी न फटक सकता था, क्योंकि शेरशाहके कड़े दण्डका भय था। 'संसारमें ऐसा प्रभाव फैला हुआ था कि एक निःशक्त मनुष्यको भी रुस्तमसे भय न था।"

अब्बासख़ांका यह कथन कहां तक सत्य है यह निश्चय करना कठिन है। हमारी दृष्टिमें इसपर पूर्ण विश्वास कर लेना भूल होगी। अब्बासख़ां स्वयं शेरशाहके संबंधी थे इसलिये उनकी लेखनीसे शेरशाहके लिए उचितसे अधिक प्रशंसा निकलना अस्वाभाविक नहीं। परन्तु यह भी संभव नहीं कि ( अकबरके आदेशानुसार इस पुस्तकको लिखनेपर ) वह नितान्त असत्य लिखते, शेरशाहकी इतनी प्रशंसा करते, और अकबर इसपर कुछ न कहते। *

ओ० ना० स०।

---

* इस लेखके मूल-आधार फ़ारसी इतिहास हैं जो Elliot and Dowson में अनुवाद रूपमें प्रकाशित हो चुके हैं। कहीं कहींपर "अकबरनामा" एवं J. A. S. B. से सहायता ली गयी है।

यह लेख प्रायशः दो मास पूर्व लिखा गया था परन्तु प्रकाशित न हो सका—पड़ा रहा। सूचना मिली है कि इस बीचमें प्रोफ़ेसर क़ानूनगोका लिखा एक ग्रंथ शेरशाहके सम्बन्धमें कलकत्तेसे प्रकाशित हुआ है, परन्तु मुझे वह देखनेको नहीं मिला है। ऊपरके विषयपर प्रयाग विश्वविद्यालयके Journal of Indian History, Number 1921 में श्रीयुत पं० रामप्रसाद त्रिपाठीका एक विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है, खेद है कि यह लेख अपने लेख लिखनेसे पहले देखनेको नहीं मिला।

# राष्ट्रसंघकी प्रतिनिधिसभा

त वैशाखके अंकमें इस सभाके प्रथम अधिवेशनकी कार्य्यवाहीका दिग्दर्शन 'स्वार्थ' के पाठकोंको कराया जा चुका है। इस अंकमें द्वितीय अधिवेशनका, जो गत आश्विन मासमें समाप्त हुआ है, संक्षिप्त विवरण पाठकोंकी सेवामें उपस्थित किया जाता है।

इस अधिवेशनका सबसे मुख्य कार्य्य 'अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय' की स्थापना है। पिछले अधिवेशनमें यह प्रश्न टाल दिया गया था। इसबार सभाने इसपर पूर्ण विचार करके इसका संगठन निश्चित कर दिया है। राष्ट्रसंघकी चौदहवीं धारामें इसका उल्लेख किया गया था। तबसे तीन बरस तक अमरीका और यूरोपके बड़े बड़े न्यायाधीश इसपर विचार करते रहे, तब कहीं जाकर अब इसका संगठन निश्चित हो पाया है। इसके न्यायाधीशोंका निर्वाचन हुआ करेगा, निर्वाचनकी प्रणाली बड़ी ही विचित्र और जटिल है। संघके जितने सदस्य हैं, उन्हींमें बड़े बड़े राष्ट्रोंसे, न्यायाधीशोंका निर्वाचन हुआ है। प्रतिवर्ष इसकी एक बैठक हेगमें हुआ करेगी। वर्तमान संधियोंके सम्बन्धमें इसका निर्णय संघके सभी सदस्योंको मान्य होगा। इसके अतिरिक्त कोई सदस्य अपनी इच्छानुसार किसी विषयपर न्यायालयसे निर्णयकी प्रार्थनाकर सकता है। कुछ उदार नेताओंने इसके अधिकारोंको अधिक विस्तृत बनानेके लिये बहुत कुछ प्रयत्न किया, पर सारा प्रयत्न निष्फल रहा। बड़े राष्ट्रोंने इसका विरोध किया, अन्तमें यह तय पाया कि संधि सम्बन्धी विषयोंमें, तथा अन्तर्राष्ट्रीय नियम और उनके उल्लंघनमें दण्ड निश्चित करनेमें, सदस्योंकी इच्छानुसार न्यायालयका निर्णय बाध्य होगा। इस विस्तृत अधिकारको हालैण्ड, डेनमार्क, स्विटजलैंण्ड और नार्वे इत्यादि केवल तेरह राष्ट्रोंने माना है। परन्तु ग्रेटब्रिटेन तथा अन्य बड़े बड़े राष्ट्रोंने इसे नहीं माना है। पिछले वर्षकी तरह स्विट्ज़लैंण्डके प्रतिनिधियोंने इस बार बड़ी उदारता दिखलायी। सभा समाप्त होनेके पूर्व वहांके एक प्रतिनिधिने इसपर बहुत जोर दिया, और बड़े बड़े राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंको समझाया कि ऐसा करनेसे वे अपने साहस और सत्यताका परिचय संसारको देंगे, इतनाही नहीं, अपने नैतिक साहस और सत्यताके बलसे ही वे छोटे छोटे राष्ट्रोंके नेता बन सकेंगे। पर स्वार्थसे अंधी बड़ी बड़ी शक्तियोंको छोटे छोटे राष्ट्रोंका ध्यान ही क्या! जो राष्ट्रसंघके स्तम्भ गिने जाते हैं, जब उन्हींकी यह नीति है, तब न्यायालयका दबाव ही क्या हो सकता है? स्वयं राष्ट्रसंघकी तरह यह भी एक दिखावा मात्र है।

गत महायुद्धमें जर्मनीसे जो उपनिवेश छीने गये थे, तथा तुर्कोंसे जो भूमि ली गयी थीं, उनके विषयमें वर्सेलकी संधिमें यह तय हुआ था, कि इसके शासनका पट्टा भिन्न भिन्न विजयी राष्ट्रोंको दे दिया जाय, और इन पट्टोंकी शर्तें संघद्वारा निश्चित की जायं। ये

पट्टे 'मैन्डेट' के नामसे प्रसिद्ध हैं। पिछली बार संघने बड़े बड़े राष्ट्रोंसे इन पट्टोंके मसविदे भेजनेके लिये बहुत कुछ अनुरोध किया, तार पर तार दिये गये, पर सब व्यर्थ हुआ। इस वर्ष भी यह प्रश्न टाल दिया गया। तुर्कोंसे छीने हुये देशोंका पट्टा ब्रिटिश सरकारको दिया गया था, इनके विषयमें कहा जाता है कि जब तक तुर्कोंके साथ संधि पक्की न हो जाय कोई बात निश्चित नहीं हो सकती है। टोमोलैण्ड, कैमरून, और पूर्वीय अफ्रीकाके पट्टे राजनीति विशारदोंके दांव पेचमें पड़े हैं। अमरीका कहता है कि वह विजयी राष्ट्र है, इसलिये इन पट्टोंकी शर्तोंमें राय देनेका उसे अधिकार है, पर साथही साथ वह राष्ट्रसंघको नहीं मानता, और न उसका सदस्य ही है। पट्टे किसको दिये जायं, यह निश्चित करनेका अधिकार, संधिके समय जो बड़े बड़े राष्ट्रोंकी एक समिति स्थापित हुई थी, उसके हाथ है। यह समिति 'सुप्रीम कौंसिल' के नामसे प्रसिद्ध है। इस तरह इन पट्टोंके विषयमें सुप्रीम कौंसिल, राष्ट्रसंघ समिति, और अमरीकामें बराबर परामर्श हो रहा है। इन पट्टोंके मसविदे प्रकाशित कर दिये गये हैं, जिनसे ज्ञात होता है, कि इन शर्तोंने संघके वास्तविक उद्देश्योंपर कुठाराघात किया है। पश्चिमी अफ्रीकामें शराबके व्यापार सम्बन्धी नियम बड़े ही अनुचित हैं। इसके अतिरिक्त फ्रांसको जिसे इसका पट्टा मिला है, अधिकार दिया गया है कि वह वहांके निवासियोंको सैनिक सेवाके लिये बाध्य कर सकता है। यह अधिकार संघके उद्देश्योंके सर्वथा प्रतिकूल है। जबतक अमरीकासे ये सब बातें तय न हो जायं, तबतकके लिये यह निश्चित हुआ है, कि जो मसविदे प्रकाशित हुए हैं, उन्हींके अनुसार शासन किया जाय। राष्ट्रसंघके जन्मदाता, अमरीकाके भूत पूर्व राष्ट्रपति, विल्सन महाशयका, इन पट्टोंसे अभिप्राय यह था, कि इन देशोंका निरीक्षण मात्र बड़ी बड़ी शक्तियोंके हाथमें रहे, पर शासनप्रणाली उन्हींके निवासियोंकी इच्छापर छोड़ दी जाय। परन्तु वे शक्तियां, जिन्हें ये पट्टे मिले हैं, इन देशोंको अपनी निजकी सम्पत्ति सी ही समझ रहे हैं, जैसा कि इराक सन्बन्धी ब्रिटिश नीति से स्पष्ट है। आत्म निर्णयके सिद्धान्तको, इन शक्तियोंने किस धूर्ततासे अपने स्वार्थ साधनका द्वार बनाया है, इसका ध्यान जब विल्सन महाशयको आता होगा, तो उन्हें अपने सरल स्वभाव और इन शक्तियोंपर अन्ध विश्वासका पता लगता होगा।

संघकी आठवीं धाराके अनुसार यह निश्चित हुआ था कि सेनाओंके कम करनेका प्रयत्न किया जाय, और इसके लिये कार्य्यक्रम बनानेका भार संघकी समितिको सौंपा गया था। गतवर्ष भिन्न भिन्न राष्ट्रोंकी सेनाओंकी संख्या निश्चित करने, तथा इस विषयमें नियम बनानेके लिये, सभाने योग्य अर्थशास्त्रवेत्ताओं तथा राजनीति-विशारदोंका एक कमीशन नियुक्त किया। इतने भारी प्रश्नको हल करनेके लिये वर्षभरमें कमीशनकी कुल चार बैठकें हुईं। इतने परिश्रमके बाद इसने जो प्रस्ताव पेश किये, इनमें कुछभी सार नहीं है। इसके अतिरिक्त सभाने बड़ी बड़ी शक्तियोंसे प्रार्थना की थी कमसे कम दोवर्षतक बजटमें सेनाओंके लिये खरच बढ़ाया न जाय। परन्तु किसी शक्तिने सभाकी इस प्रार्थनापर ध्यान तक भी नहीं दिया। इस बार इस सम्बन्धमें सभाको अपनी असमर्थताका ज्ञान हो

रहा था, इसलिये उसका विचार इस विषयको वाशिंगटन सम्मेलनके हाथमें ही छोड़ देनेका था । परन्तु दक्षिणी अफ्रीकाके प्रतिनिधि लार्ड राबर्ट सेसिलने इस विषयको संघके ही हाथमें रखनेके लिये बड़ा जोर दिया । बहुत वाद विवादके बाद तय पाया कि अगले वर्ष तक इस विषयकी जांच फिर की जाय । संख्या निश्चित करनेमें अधिक ध्यान दिया जाय, और सैनिक व्यय न बढ़ानेके लिये फिरसे प्रार्थना की जाय । निजी तौरसे अस्त्र शस्त्र बनाने और उनके व्यापारके विषयमें मत स्थिर करनेके लिये अगले वर्ष एक विश्व-सम्मेलन आमंत्रित किया जाय । इन उद्देश्योंके लिये प्रत्येक देशमें भरपूर आन्दोलनका भी प्रबन्ध किया जाय ।

इस प्रश्नको हल करनेमें संघ सर्वथा असमर्थ है । जब तक इसका संगठन विश्व-व्यापी न हो, और प्रत्येक राष्ट्रकी समयपर रक्षा करनेकी शक्ति न हो, तब तक इसके कोरे कोरे प्रस्तावोंका कोई प्रभाव नहीं हो सकता । इसके सदस्योंका, विशेष करके फ्रान्सका, केवल पराजित राष्ट्रोंको निःशस्त्र बनानेका प्रयत्न रहता है । जर्मनीसे बदलेकी आशंका की ओटमें फ्रान्स अपनी सेनानीतिका बराबर समर्थन करता रहता है । इसके सिवा अमरीकाके निकल जानेसे संघका दवाव भी कम पड़ गया है । ऐसी दशामें तो यही अच्छा था कि अपनी अयोग्यता स्पष्ट शब्दोंमें मानकर यह प्रश्न वाशिंगटन सम्मेलनके ही हाथमें छोड़ दिया जाता ।

राष्ट्रसंघकी अठारहवीं धाराके अनुसार यह निश्चित हुआ था कि प्रत्येक सदस्यको अपनी अन्तर्राष्ट्रीय संधियोंको संघके दफ्तरमें रजिस्ट्री कराना होगा । रजिस्ट्री हो जानेके बाद ये संधियां प्रकाशित कर दी जाया करेंगी । जब तक इन संधियोंकी रजिस्ट्री न होगी, यह मान्य न समझी जायंगी । इस तरह गुप्त संधियोंसे जो हानि होती है, उसको रोकने-की चेष्टा की गयी थी । परन्तु फ्रान्स और बेलजियमने अपनी सैनिक संधियोंको प्रकाशित करनेसे साफ इनकार कर दिया । अपने सदस्योंकी इस धृष्टतासे संघ बड़े चक्करमें प॰ा । पिछली बार सभाने इस विषयपर विचार करनेके लिये एक उपसमिति नियुक्त की, जिसने यह तय किया कि संघकी अठारहवीं धाराका काममें लाना बड़ा कठिन है । इस लिये इसकी रायमें, जिन संधियोंका अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रश्नोंसे सम्बन्ध नहीं है, उनकी रजिस्ट्री आवश्यक नहीं है । इसी तरह गुप्त संधियोंकी जबतक रजिस्ट्री न हो वे बाध्य न समझी जायं, यह भी ठीक नहीं है । इसके स्थानपर उपसमितिने यह राय दी कि ऐसी संधियोंका विचार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयमें न हो सकेगा । ये दोनों सिफारिशें संघकी अठारहवीं धाराके उद्देश्यको एक दम नष्ट कर देती हैं । इसी लिये इन सिफारिशोंपर सभामें बड़ा वाद वि-वाद हुआ और एक दूसरी उपसमितिसे इस विषयपर फिरसे विचार करनेकी प्रार्थना की गयी । इसने दूसरी सिफारिशको रद्द कर दिया पर पहिली सिफारिश मान ली, जिसके अनुसार जिन संधियोंका राजनीतिक प्रश्नोंसे सम्बन्ध नहीं है, और जो केवल सैनिक या शासन प्रबन्धके लिये हैं, उनकी रजिस्ट्री करानेकी आवश्यकता नहीं है । इसपर कई उदार और

दूरदर्शी सदस्योंने यह आपत्ति की कि इस तरहकी संधियोंमें भी कई एक ऐसी बातें हो सकती हैं, जिनका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिपर पड़ता है, और जिनसे संसारकी शान्ति भंग होनेकी आशंका रहती है। इतिहासमें ऐसे कई उदाहरण मिल सकते हैं। पिछला अनुभव यही बतलाता है कि गुप्त संधियां अन्तमें सदा संसारके लिये हानिकारक होती हैं। ऐसी दशामें इस सिफारिशको मानकर राष्ट्रसंघ स्वयं अपने सिद्धान्तोंपर कुठाराघात कर रहा है। परन्तु इस मतको बड़े राष्ट्र कब माननेवाले थे। बिना गुप्त संधियोंके उनका काम चलना कठिन है। इस लिये उनकी ओरसे तरह तरहकी दलीलों द्वारा इसका घोर विरोध हुआ। इस दशाको देखकर लार्ड राबर्ट सेसिलने, जिन्हें संघके नैतिक सम्मान बनाये रखनेका बराबर ध्यान रहता है, यह प्रस्ताव पेश किया कि अगले वर्ष तक इस प्रश्नका विचार मुलतवी रहे। इस तरहसे एक बड़ी जटिल समस्यासे सभाका ज्यों त्यों करके पिण्ड छूटा।

बड़े बड़े अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नोंका निपटारा तो इस तरह हुआ। इसके बाद एक आध प्रस्ताव ऐसे अवश्य हुए, जिनके लिये संघकी थोड़ी बहुत प्रशंसा की जा सकती है। इनमें सबसे मुख्य स्त्रियों और बच्चोंके व्यापारका बन्द होना है। वैसे तो गुलामीका व्यवसाय बन्द समझा जाता है, पर तब भी इस प्रकारका व्यापार चलता था। युद्धके समयपर आने जानेमें असुविधा होनेके कारण यह आप ही आप बन्द हो चला था, पर संधि हो जानेके बादहीसे फिर धीरे धीरे उठ रहा था। इसपर विचार करनेके लिये गतवर्ष एक उपसमिति बिठलायी गयी थी। इसबार इसकी रिपोर्ट पेश हुई। फ्रान्सने न जाने क्यों इसका विरोध किया, यह वही फ्रान्स है जिसने एक शताब्दी पूर्व सारे यूरोपको 'स्वतन्त्रता, समानता और सबन्धुता' की ध्वनिसे गुंजायमान कर दिया था। फ्रान्सके विरोध करते रहनेपर भी सभाने रिपोर्ट स्वीकार कर ली, और तेरह राष्ट्रोंने इस असभ्य व्यापारको बन्द करनेके लिये प्रतिज्ञापत्रपर हस्ताक्षर कर दिये।

डाक्टर नान्सेन महाशयने सभाको सूचित किया कि उन्होंने साठ लाख रुपया खर्च करके रूससे तीन लाख पचासी हजार कैदी छुड़ाये हैं। साथ ही साथ अकाल पीड़ित रूसकी पूर्णरूपसे आर्थिक सहायता करनेके लिये बड़ा अनुरोध किया। पर यह प्रस्ताव पास न हो सका। सभाके सदस्य भिन्न भिन्न राष्ट्रोंकी गवर्नमेण्टके प्रतिनिधि हैं। इन सबोंको रूसका हित अभीष्ट नहीं है, इसी लिये इस प्रस्तावकी यह गति हुई। किसी राष्ट्र या देशसे राजनीतिक मतभेदकी बात तो छोड़ दीजिये, यदि शत्रुता भी हो, तब भी मनुष्य मनुष्यके नाते से, ऐसी दैवी आपत्तिके समयपर, सहायता करना प्रत्येक सभ्य राष्ट्रका कर्तव्य है। ऐसे मानवहितके प्रस्तावको भी पास न करके, राष्ट्रसंघने अपने वास्तविक स्वरूपका दिग्दर्शन संसारको करा दिया है।

इस बारकी सभाके यही मुख्य मुख्य प्रस्ताव हैं। यदि इस कार्य्यवाहीसे राष्ट्रसंघ संतुष्ट है, और अपनी सफलतापर स्वयं अपने आपको बधाई देना चाहता है, तो वह ऐसा

भले ही कर सकता है उसमें किसीको आपत्ति नहीं है । पर संसार इसको सफलता मानने-के लिये उद्यत नहीं है । राष्ट्रसंघका जन्म, संसारमें शान्ति स्थापित करने, परस्पर प्रेम-भाव बढ़ाने, तथा निष्पक्ष न्याय करनेके लिये हुआ था । ये उद्देश्य कहांतक सफल हुए, इसका अनुमान इसकी कार्य्यवाहीसे ही हो सकता है । राष्ट्रसंघके होते हुए भी तुर्कोंके साथ यूनानियोंका अत्याचारी युद्ध चल रहा है, साइलीशियाके विषयमें जर्मनीके साथ अन्याय हो रहा है, और बेचारे रूसको भूखों मारनेकी चेष्टा की जा रही है ।

प्रथम सम्मेलनका वर्णन करते हुए, पिछले लेखमें, संघके संगठनमें तीन मुख्य दोष बतलाये गये थे । पहिला तो यह कि संघ सर्वव्यापी नहीं है, दूसरे इसके सदस्य प्रजाके प्रतिनिधि नहीं हैं, तीसरे इसमें नैतिक, आर्थिक, या सैनिक दवाव डालनेकी शक्ति नहीं है । आज इतने दिन बाद भी ये तीनों दोष बराबर बने हैं । यह सच है कि चार पांच छोटे छोटे राष्ट्र और शामिल हो गये हैं, परन्तु पराजित राष्ट्र अब भी उसके सदस्य नहीं हैं, विजयी राष्ट्रोंमें अमरीका भी निकल गया है । सदस्य सभी सरकारी प्रतिनिधि हैं, उनका निर्वाचन प्रजा द्वारा नहीं होता है । दवाव डालने वाली किसी प्रकारकी शक्तिका अब भी अभाव है ।

भारत सरकारकी ओरसे इस बार श्री श्रीनिवास शास्त्रीजी प्रतिनिधि होकर गये थे । आपकी वाक्पटुता देखकर, कहा जाता है कि, सारी सभा मुग्ध रह गयी । सभाको कभी ध्यान भी न था कि भारतवर्षका एक सीधा सादा ब्राह्मण भी इतनी अच्छी अंग्रेजी बोल सकता है । आपने अपने भाषणमें पहिले यह दिखलानेकी चेष्टा की कि संघने बहुत कुछ उन्नति की है, और इसका दवाव बराबर बढ़ रहा है, फिर आपने भारत सम्बन्धी दो शिकायतें पेश कीं । आपकी पहिली शिकायत तो यह थी कि संघके मंत्रिविभागमें केवल एक भारतवासी है । सारे विभागमें ३५१ कर्मचारी हैं, इनमेंसे १३८ अंग्रेज, ७३ फ्रान्सीसी, १६ स्विटजर्लैण्ड निवासी, अमरीकन १३, जिनका देश संघका सदस्यतक भी नहीं हैं, और एक भारतवासी है । आपने इस शिकायतको एक छोटेसे वाक्यमें सचमुच ही बड़ी अच्छी तरह प्रकट किया, आपने कहा कि खर्चके बटवारेमें तो भारतवर्षकी गणना उच्च-श्रेणीके सदस्योंमें की जाती है, पर प्रतिनिधियोंके विषयमें इसका ध्यान नहीं रखा जाता है । पिछली बार भारतवर्षके जिम्मे ४.८ सैकड़ा खर्चेका भार था, इसबार वह बढ़ाकर ६ सैकड़ा कर दिया गया है ।

आपकी दूसरी शिकायत पट्टोंके विषयमें थी । ये तीसरी श्रेणीके पट्टे हैं, और उन शक्तियोंको दिये गये हैं जिनके देशसे लगी हुई, या उन्हींके अन्तर्गत, शत्रुओंसे छिनी हुई भूमि है । इनके अनुसार जर्मनीके, अफ्रीकाके उपनिवेश दक्षिणी अफ्रीकाको मिले हैं । इन पट्टोंमें यह शर्त रक्खी गयी है, कि इन जीते हुए नये देशोंमें वही नियम होंगे जो कि उस देश या उपनिवेशमें हैं, जिन्हें पट्टा दिया गया है । इस तरह जर्मनीसे छीने हुए अफ्रीकाके उपनिवेशोंमें दक्षिणी अफ्रीकाके ही नियमोंका पालन होगा । दक्षिणी

अफ्रीकामें भारतवासियोंपर कैसा अत्याचार होता है, इसको बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। दक्षिणी अफ्रीका अब इन्हीं जाति-भेदके नियमोंका प्रयोग जर्मनीसे जीते हुए उपनिवेशोंमें भी करेगा, इसलिये वहां भी भारतवासियोंके साथ घोर अन्याय होनेकी आशंका है। जिस समय ये उपनिवेश जर्मनीके अधीन थे, तब कोई ऐसे जाति-भेदके नियम न थे। अब इनके भाग्यका निपटारा राष्ट्रसंघके हाथमें है। राष्ट्रसंघने स्पष्टतः बतलाया है कि जिन शक्तियोंको जीते हुए देशोंका शासन-भार सौंपा गया है, उन्हें सदा उनकी स्वतन्त्रताका ध्यान रखना चाहिये। अन्तमें सभासे अनुरोध करते हुए आपने कहा कि यदि राष्ट्रसंघके अधीन होते हुए भी भारतवासियोंके साथ इन उपनिवेशोंमें न्यायोचित व्यवहार न हो सका, तो ऐसी दशामें संघकी अपेक्षा भारतवासियोंके लिये जर्मनीकी अधीनता ही भली थी।

श्री शास्त्रीजीकी सुन्दर मधुर भाषासे मुग्ध, सभाने इन शिकायतोंको दूर करनेके लिये क्या किया, इसका अभी पता नहीं है।

इन सभा-सम्मेलनोंमें भारतसरकार अपने प्रतिनिधि भेजती है। भारतवर्षसे कहा जाता है कि यह उसके लिये बड़े गौरवकी बात है, अब उसकी गणना अधीन देशोंमें नहीं है, साम्राज्यमें उसका स्थान उपनिवेशोंके समान है। दूसरी ओर संसारको दिखलाया जाता है कि ब्रिटिश सामाज्यका आधार स्वाधीनता और समानता है। इस तरहके भुलावेमें आना अब भारतवर्षके लिये ठीक नहीं है। उसे अपने आत्मसम्मानका पूरा ध्यान होना चाहिये। इस विषयमें उसको दक्षिणी अफ्रीकासे शिक्षा लेनी चाहिये। वाशिंगटन सम्मेलनके लिये उसे स्वतन्त्र निमंत्रण नहीं दिया गया था, ब्रिटिश सरकारद्वारा उसके प्रतिनिधि बुलाये गये थे। इसी बातपर उसने सम्मेलनमें शरीक होनेसे इन्कार कर दिया। एक ओर तो आत्माभिमानी अफ्रीका और दूसरी ओर हमारा देश है, जहांके कुछ नेता विदेशी सरकारकी ओरसे प्रतिनिधि बनकर जानेमें ही स्वदेशका बड़ा भारी सम्मान समझते हैं। इस तरह संसारके भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें भारतवर्षका मस्तक कितना ऊंचा हो रहा है, इसे हमारे नरमदलके नेता ही जानें।

परन्तु इन सभा-सम्मेलनोंकी कार्य्यवाहीपर प्रत्येक भारतवासीको पूर्ण ध्यान देना चाहिये, इससे उसको पाश्चात्य राष्ट्रोंकी राजनीतिका पूरा परिचय मिलता जायगा। इसके अतिरिक्त अब भारतको संसारमें अपनी नीति स्थिर करना है, ऐसी दशामें अन्तर्राष्ट्रीय जटिल प्रश्नोंसे अलग रहनेसे काम न चलेगा। इसी लिये समय समयपर ऐसे सम्मेलनोंकी कार्य्यवाही 'स्वार्थ' में दिखलायी जाती है। आजकल अमरीकाकी राजधानी वाशिंगटनमें एक दूसरा ही बड़े महत्वका सम्मेलन हो रहा है, समाप्त होनेपर इसका विवरण भी पाठकोंकी सेवामें उपस्थित किया जायगा।

गङ्गाशङ्कर मिश्र
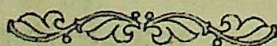
# स्वतंत्रता क्या वस्तु है।

तन्त्र्य इस युगका उपास्य देवता है। व्यक्ति, समाज तथा देश इसे आदर्श मान इसे प्राप्त करने तथा सुरक्षित रखनेकी चेष्टा करते नज़र आते हैं। सभीके दिमाग़पर इसका भूत सवार है। यदि कोई देश स्वाधीन है तो वहांके लोग कुछ विशेष प्रकारकी स्वतंत्रता चाहते हैं। यदि कोई अभागी देश पराधीन है तो वहांकी प्रजा 'स्वराज्य' ले लेनेके लिये कटिबद्ध हो रही है। कहीं एक दल दूसरे प्रबल प्रभावशाली दलसे लड़ रहा है। कहीं धनाढयवर्गपर श्रमजीविदल दाँत पीस रहा है। कोई धार्मिक बन्धनोंको तोड़ने-फोड़नेमें लगा है तो दूसरा सामाजिक कुरीतियों और पुराने रीति रस्मोंपर कुठाराघात करना चाहता है। ये सब घोर आन्दोलन स्वतन्त्रताके नामसे चल रहे हैं। कवि, लेखक और वक्ताओंके झुण्डके झुण्ड इस देवीकी आराधनामें प्रेमपुष्पाञ्जलि देकर अपनेको कृतकृत्य समझते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो स्वतन्त्रताकी दुहाई देकर अपना स्वार्थ सीधा करते हैं। दुष्ट मनुष्य धर्मसे भी स्वार्थ-साधन करनेमें बड़े पटु होते हैं।

ऊपरके कथनका यही निष्कर्ष है कि स्वतन्त्रता इस समयका युगधर्म है और इसकी प्रबल प्रेरणासे सारा जगत् दोलायमान प्रतीत होता है। यद्यपि मानव-इतिहासमें स्वाधीनताके लिये अनेक युद्ध हुए, अनेक राजवंश डूबे, अनेक स्थलोंपर रक्तकी नदियां बहीं और अनेक पुरुषोंने इसके लिये आत्मवलिदान किया, तथापि इस युगमें मनुष्यके मस्तिष्कमें स्वाधीनताका भाव ऐसा समाया है कि उसे और कुछ सूझ ही नहीं पड़ता। क्या यह स्वाधीनता मनुष्य-जीवनका परम-पुरुषार्थ है अथवा उसके सुखका साधनमात्र है? यदि यह केवल साधनमात्र ही है तो इसका हमारे अन्तिम लक्ष्यसे क्या सम्बन्ध है? यदि स्वतंत्रता ही हमारा परम लक्ष्य है तो क्या इसकी उपलब्धिसे हमें अपनी परम अभीष्ट वस्तु मिल सकती है या नहीं—इत्यादि प्रश्नोंपर विचार करनेके पूर्व 'स्वाधीनता क्या वस्तु है' इसका निर्णय करना अतीव आवश्यक है। यह हमारे जीवनकी जटिल समस्या है अतएव इस विषयका तत्वचिन्तन करना निरर्थक नहीं। निःसन्देह इस युगकी समस्त शक्ति, आशा और अभ्यर्थनायें स्वाधीनतामें ही पर्यवसित हो रही हैं। यह मनुष्य-जीवनका सुन्दर स्वप्न है। अभी तो यह सच्चा प्रतीत होता है कदाचित् किसी परिवर्तित दशामें यह मिथ्या हो जाय।

मनुष्य जीवनके साथ स्वतन्त्रताका इतना घनिष्ट संवन्ध रहा है कि इस शब्दके अब अनेक अर्थ हो गये हैं। इसका अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होना ही इसकी उपयोगिताका साक्षी है। जैसे आर्य-जातिका प्यारा 'धर्म' शब्द जितने व्यापक अर्थमें प्रयुक्त किया जाता है वैसे ही 'स्वतन्त्रता' शब्दका अर्थ इतना ही विस्तृत हो गया है। मानव-इतिहासकी अनेक

स्मृतियां इस शब्दमें आकर सन्निविष्ट हो गयी हैं। स्वतन्त्रताके सम्बन्धमें कभी किसी घटनाका स्मरण आता है तो फिर किसी दूसरीका। इसलिये इतिहासका कुछ आश्रय लेकर ही इस शब्दका अर्थ एवं तद्गत भावनाका विकास हमारी समझमें आ सकता है।

स्वतन्त्रताके घोर पक्षपाती और उस भावनाका डंकेकी चोट प्रचार करने वाले, फ्रांसके तत्त्व-वेत्ता रूसोका नाम किसने नहीं सुना? फ्रांसके राष्ट्र-विप्लवके पूर्व इस विद्वान्ने जगत्में यह घोषणा कर दी कि मनुष्य जन्मसे ही स्वतन्त्र है किन्तु अपनी ही कर्मगतिसे हर जगह बन्धनमें जकड़ा हुआ है—"Man is born free, yet he is everywhere in chains" यह वाक्य फ्रांसके राजवंशके लिये मारणमन्त्र बन गया। उस समय स्वतन्त्रताकी शंखध्वनिसे सारे यूरोपका गगन गूंज उठा। बड़े बड़े राजाओंके सिंहासन हिल गये। धर्म, समाज और राजनीतिकी, अनन्त परिश्रमसे संस्थापित मर्यादा मानो इस स्वाधीनताके भूकम्पसे डगमगाने लगी। इस स्वाधीनताके आदर्शपर तत्कालीन फ्रांस देशवासी ऐसे रीझे हुए थे कि जिस अभीष्टके लिये वे लड़ रहे थे उसका वे यथोचित अर्थ न समझ सके। अपने मानसिक संवेगमें, स्वतन्त्रता क्या वस्तु है-इस तत्वका वे निर्णय न कर सके। इतिहास बतलाता है कि मानव-समाजमें स्वाधीनताका धीरे धीरे विकास हुआ। ज्यों ज्यों मनुष्य सभ्यतामें अग्रसर होने लगे त्यों त्यों इस भावका उदय होना आरम्भ हुआ। मानव-समाजके दीर्घ विकास-क्रमके पश्चात् मनुष्यके मनमें स्वाधीन होनेका अंकुर पैदा हुआ। यह अंकुर धीरे धीरे फूलने फलने लगा। किन्तु इसके उत्तरोत्तर विकासमें अनेक बाधाएँ उत्पन्न हुईं। उन बाधाओंके दूर करनेमें मनुष्यको युद्धके लिये तैयार होना पड़ा। अब स्वतन्त्रताका युद्ध छिड़ा। अनियन्त्रित सत्ता और अनुचित कानूनका विरोध आरम्भ हुआ। ब्राइस महोदयका कथन है कि स्वाधीनताके सबसे पहले युद्ध राजकीय सत्ताके स्वेच्छाचार और अन्याययुक्त नियमोंके विरोधमें शुरू हुए—"The first struggles for Liberty were against arbitrary power and unjust laws." सबसे पहले राजा वा अन्य सत्ताधारियोंके विरुद्ध प्रजाने अपने जानमालकी रक्षाके लिये लड़ना आरम्भ किया। अपने नागरिक अधिकारोंकी रक्षा करना या सत्ताधीशसे रक्षा कराना स्वतन्त्रताका प्रथम उद्देश्य था। जानमालकी रक्षा सबके लिये एकसे क़ानूनके हुए बिना नहीं हो सकती थी। अतएव स्वाधीनताका युद्ध सत्ताधीशोंसे निष्पक्ष न्याय और नागरिक अधिकारोंकी (Civil Rights) रक्षा प्राप्त करनेके लिये प्रवृत्त हुआ। यदि राजाने मनमाना कर प्रजासे लेना आरम्भ किया तो प्रजाने स्वतन्त्रताकी दुहाई दे उसके स्वेच्छाचारका घोर विरोध करना शुरू कर दिया। इंग्लैण्डके इतिहासमें राजाके स्वेच्छाचारका विरोध कई बार हुआ। सन् १२१५ में वहांके जागीरदारोंने मिलकर अपने स्वेच्छाचारी राजासे एक महत्त्वपूर्ण प्रतिज्ञा-पत्र (Magna Carta) पर हस्ताक्षर करा लिये जिससे वह देशके न्यायकी मर्यादाका फिर कदापि उल्लंघन न कर सकता था और न राजकीय परिषद्के अनुमोदन बिना प्रजापर कोई कर लगा सकता था।

इस अधिकारको इंग्लैण्डके लोगोंने ऐसा सुरक्षित रखा कि अन्तमें उनके राजविधानका (Constitution) यह मूलसूत्र बन गया कि प्रजाके प्रतिनिधियों द्वारा ही राजाको कर मिल सकता है अन्यथा नहीं—No Taxation without Representation. **कोषपूर्वास्सर्वारम्भाः**—सारे राजकाज प्रजाके कर द्वारा चलते हैं। इसलिये धीरे धीरे शासनकी बागडोर कर लगानेकी अनुमति देनेवाले प्रतिनिधियोंके हाथमें आगयी। नागरिक अधिकारोंकी रक्षाके आधारपर राजनीतिक स्वाधीनताकी जड़ जमने लगी। प्रजाके प्रतिनिधि शासनसम्बन्धी प्रत्येक कार्य्यकी तीखी समालोचना करने लगे। वे कर देनेके प्रयोजन और उसके उपयोगकी विधिके विषयमें वादविवाद करने लगे जिसका परिणाम यह हुआ कि राजा और उसके मन्त्रियोंने अपने आपको बचाते हुए सारी सत्ता प्रजाके प्रतिनिधियोंके सुपुर्द करदी। प्रतिनिधियोंसे भी, प्रजाने उन्हें सत्ता देकर उत्तरदायी होनेकी प्रतिज्ञा लेली। इस प्रकार अधिकारिवर्गके उत्तरदायित्वका सिद्धान्त अटलरूपसे इंग्लैण्डकी शासन-शैलीमें स्थिर हो गया—(Responsibility of Ministers for the People)। यह तो अब स्पष्ट होगा कि इस सिद्धान्तके निर्विवाद रूपसे स्थिर होनेमें बहुत समय लगा होगा। स्वतन्त्रताकी इस उच्च भूमिकातक पहुंचनेमें प्रजाको दृढ़ संकल्पसे घोर प्रयत्न करना पड़ा था। किन्तु पहली भूमिकामें प्रजा राजासे केवल योगक्षेम (Security of life and prosperity) पाकर ही अपनेको स्वाधीन मानती थी। किन्तु उच्छृंखल राजा या सत्ताधीश प्रजाके इन मौलिक अधिकारोंकी क्या परवाह करते थे! **'प्रभुता पाय काहि मद नाहीं'**—प्रभुताके मदमें वे प्रजाके जन्मसिद्ध अधिकारोंकी अवहेलना करने लगे। बस राजा प्रजामें फिर कलह बढ़ा। स्वतन्त्रताके आवेशमें प्रजाने राजासे असहयोगकी घोषणा कर दी, कर देना बन्द कर दिया. शासनकार्य-में अनेक बाधाएँ डालीं। अन्तमें राजाको हार कर प्रजाके अभीष्ट अधिकार स्वीकार करने पड़े। धीरे धीरे उचित मर्यादाके अतिक्रमण करनेका साहस उसके हृदयसे बिल्कुल विलुप्त होगया। काटी हुई लतामें कहीं फूल लग सकता है—**लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्यागमः कुतः**—प्रजाने सत्ताधीशके स्वेच्छचारके समूल नाशसे स्वतन्त्रताका हृदयाह्लादक जयघोष मुक्तकण्ठसे किया। स्वाधीनताके युद्धसे प्रजाने राजाको मर्यादाबद्ध कर दिया। पश्चिममें प्रजा न केवल जानमालकी रक्षाके निमित्त राजासे लड़ी बल्कि अपने धार्मिक स्वातन्त्र्यके लिये भी उसे राजाका विरोध करना पड़ा। राजाका हमारे धर्मपर क्या अधिकार हो सकता है? हमारे धर्म संबन्धी आचार-विचारोंमें उसका हस्तक्षेप करना नितान्त अनुचित है। जब राजाने धर्मके संबन्धमें स्वेच्छाचार शुरू किया तब प्रजाने फिर "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" इस उद्घोषसे राजाके विरुद्ध रण-दुन्दभि बजा दी। परिणाम यह हुआ कि प्रजाकी धार्मिक स्वाधीनतामें राजाको श्वेतकृष्ण करनेका अधिकार न रहा। इंग्लैण्डमें ह्विग दलके आधिपत्यमें धार्मिक स्वाधीनताका सिद्धान्त निर्विवादरूपसे निश्चित हो गया।

**एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें, एक भूमिकासे दूसरी भूमिकामें, स्वतन्त्रताका युद्ध कभी**

मन्द, कभी तीव्र गतिसे चलता रहा। उस युद्धकी गतिमें, स्वाधीनताके लिये लड़नेवालोंने देखा कि वे धार्मिक और नागरिक स्वाधीनताको तब तक सुरक्षित नहीं रख सकते जब तक राज्य-सत्ता किसी राजा और प्रजाके एक वर्गके हाथमें रहेगी। तब तक प्रजाके अधिकार संरक्षित नहीं रह सकते जब तक प्रजा अपने हाथमें शासनका कार्य्य न ले ले। इस स्थितिमें राजनीतिक स्वाधीनता अथवा स्वराज्य प्राप्त करनेके लिये फिरसे कलह आरम्भ हुआ। प्रजा अब ऐसी राजकीय व्यवस्था चाहने लगी जिससे अनियन्त्रित सत्ता मर्यादाका उल्लंघन न करने पाये, और राजाका अधिकार प्रजाको मिल जाय। तदुपरान्त स्वतन्त्रता-के अर्थमें न केवल व्यक्तिगत अधिकार किन्तु राजकीय अधिकारोंका भी समावेश होने लगा। स्वराज्य प्राप्तिके घोर आन्दोलनके सामने, हमारा जानमाल सुरक्षित रहे तथा अन्तरात्माकी प्रेरणाके अनुसार बिना बाधाके अपने धर्मका पालन करें इत्यादि वैयक्तिक अधिकारोंकी चर्चाका समय बीत गया। अब तो राष्ट्र स्वाधीनताकी दूसरी भूमिकामें पदार्पण करता हुआ सत्ताधीशसे बलात् सत्ता छीन लेनेके लिये सज्जित होता है। इस दशामें स्वराज्य राष्ट्रका एक मात्र लक्ष्य बन जाता है और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य भी इसपर ही अवलम्बित माना जाने लगता है। स्वराज्य ही स्वतन्त्रताका अर्थ हो जाता है। स्वाधीन राष्ट्र वह है जिसमें प्रजातन्त्र शासन स्थापित हो चुका हो, जहांकी प्रजा अपने भाग्य-का निर्णय स्वयं कर सके।

ऊपरके विवेचनसे यह सिद्ध है कि स्वराज्यका स्वतन्त्रतासे कितना घना संबन्ध है, लेकिन इस संबन्धका आविर्भाव इतिहासमें दीर्घकालके पश्चात् हुआ। यह स्वतन्त्रताका नया रूप आजकी राजनीतिमें दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रजातन्त्र शासनका विकास जिस देश-में जिस समय हुआ वह तभीसे स्वाधीन कहा जाने लगता है। एतद्रूप शासन स्वातन्त्र्यकी उच्चकोटि है। किन्तु इस कोटि तक पहुँचकर भी प्रजामें स्वतन्त्रताकी इच्छा और भी उत्कट हो जाती है। यद्यपि उसे 'योगक्षेम'का अधिकार प्राप्त है, उसके धर्मपर कोई भी अनुचित हस्तक्षेप हो नहीं सकता तथा शासनके कार्य्यका संचालन उसके परामर्श और इच्छाके अनुकूल होता है, तथापि स्वाधीनताकी वासना प्रजाके हृदयसे उपशान्त नहीं होती--**न कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति, हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते**।। पहले ऐसा समझा जाता था कि स्वराज्यकी छत्रच्छायामें प्रजाके अधिकार सुरक्षित हो जायँगे और उसके मनुष्यत्वके विकासमें किसीभी प्रकारकी बाधा न रहेगी। यह विचार बिल्कुल भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हुआ, क्योंकि स्वराज्यमें बहुमतकी प्रधानता होनेसे **सारी प्रजाके मतानुसार** राज-काजका संचालन हो सका। स्वराज्याधिरूढ़ प्रजामें दो पक्ष होगये। एक पक्ष अपने बहुमतसे प्रबल होकर शासनकी बागडोर अपने हाथमें ले सका किन्तु दूसरा पक्ष अल्पसंख्यक होनेसे अपनी अधिकार-रक्षाके लिये धूम मचाने लगा। बहुमतवाले मनमाना कानून बनाकर प्रजाके अल्पसंख्यक भागपर अत्याचार कर सकते थे। बहुमतमूलक शासनमें विभिन्नमतके लोग और और अधिकार पानेके लिये

लड़ने लगे। प्रजाका अल्पसंख्यक वर्ग वैयक्तिक स्वाधीनता Individual Liberty. के लिये आन्दोलन करने लगा। अब स्वातंत्र्यवादने फिर नवीन रूप धारण किया। स्वतन्त्रताके युद्धसे स्वराज्यतो पहले मिल ही चुका था किन्तु इस स्वराज्यसे सभी समान-रूपसे लाभ न उठा सके थे। एक सबल पक्षने दूसरे निर्बल पक्षपर अपना आधिपत्य जमा लिया। अतएव निर्बल पक्षने सबल पक्षकी सत्ताका विरोध आरम्भ किया जिसका परिणाम यह हुआ कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता कितने ही अंशोंमें बहुमतकी अधीनतासे बच गयी।

स्वाधीनताकी लड़ाईमें हम कितने ही नये नये युद्ध-क्षेत्रोंकी सैर कर आये। कहीं एक राजाका समग्र प्रजासे प्राण और धनकी रक्षाके लिये युद्ध होता हुआ देखा, कहीं मानव धर्म और विवेकको अनुचित बन्धनोंको तोड़ स्वतन्त्र होते हुए देखा, कहीं प्रजाको शासनाधिकार स्वायत्त करते हुए देखा और फिर कहीं प्रजातन्त्र शासनमें भी कतिपय वर्ग और व्यक्तियोंको सत्ताधीशसे मुँठभेड़ करते हुए पाया। हमने सभी जगह मनुष्यको किसी न किसी रूपके बन्धनसे मुक्त होनेकी चेष्टा करते हुए देखा। स्वाधीनताके इतिहासपर दृष्टिपात करते हुए हमें चार प्रकारकी स्वाधीनताका परिचय मिला। वे भेद इस प्रकारके हैं :—( १ ) प्रत्येक व्यक्तिका अपने धन और प्राणके विषयमें किसीका पराधीन न होना—अपने जानमालपर दूसरेका आधिपत्य न होने देना—इस प्रकारकी स्वाधीनताको हम "मौलिक स्वाधीनता"—Civil Liberty" कहते हैं। ( २ ) धार्मिक स्वतन्त्रता ( Religious Liberty ) दूसरा भेद है। हमारे धार्मिक आचार-विचारोंमें कोई हस्तक्षेप न कर सके और न किसीको उनके निषेध करनेकी शक्ति प्राप्त हो। ( ३ ) उसका तीसरा भेद राजनीतिक स्वाधीनता है ( Political Liberty ) जिसे हम स्वराज्य कहते हैं। (४) उसका चौथा भेद व्यक्तिगत स्वाधीनता (Individual Liberty) है। इसके प्राप्त होनेकी दशामें, सार्वजनिक हितसे संबन्ध न रखने वाले बहुतसे विषय प्रत्येक व्यक्तिकी इच्छापर छोड़ दिये जाने चाहिये। उनपर किसीका विशेष रूपका अधिकार न रहना चाहिये। खास खास मामलोंमें एक व्यक्ति जो चाहे सो कर सके, उसे किसी मर्यादा या व्यवस्थाके बन्धनमें डाल देनेसे उसके सर्वांगसुन्दर चरित्र-विकासमें निःसन्देह क्षति होना संभव है। किन किन बातोंमें व्यक्तिके अधिकार बन्धनरहित होने चाहिये यह अति कठिन प्रश्न है। उदाहरणार्थ मादक द्रव्य ही लीजिये। क्या इनका इस्तेमाल कानून द्वारा बन्द किया जाना चाहिये ? यदि ऐसा किया जाय तो कुछ लोगोंके स्वेच्छाचारमें राष्ट्र नाहक प्रतिबन्धक होता है। किसी किसी देशमें ऐसे क़ानून हैं जो काली और गोरी जातियोंके विवाह-संबन्धका प्रतिषेध करते हैं। क्या ऐसे क़ानून व्यक्तिकी स्वतन्त्रतामें बाधक नहीं होते ? क्या व्यक्तिको ऐसे बन्धनोंको स्वीकार करना चाहिये। इसपर जुदे जुदे मनुष्य जुदा जुदा उत्तर देंगे, किन्तु यद्यपि व्यक्तिके विशेष अधिकारोंका प्रश्न व्यवहारमें बहुत ही विवादास्पद हो जाता है तथापि यह सिद्धान्त तो सर्वमान्य बन गया है कि प्रत्येक व्यक्तिको उसके आत्मिक विकासके लिये पूरा पूरा अवकाश मिलना चाहिये, और चाहे वह अपनी मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करे या न करे,

उसे अपने व्यक्तिके विकासके लिये समुचित अवकाश एवं निष्कटक मार्ग होना ही चाहिये। कौन जाने कि एक स्वेच्छाचारी किसी दिन अपनी प्रतिभासे अपनी जातिको जगादे! अपनी शैशवावस्थामें यदि छत्रपति शिवाजी उद्दण्ड और स्वेच्छाचारी न होते तो क्या वे महाराष्ट्र साम्राज्यकी नींव डाल सकते? यदि भगवान गौतम अपनी कुल-मर्यादामें बंधे रहते, तो क्या वे इस जगत्में धर्म-चक्र चला सकते? यद्यपि व्यक्तिगत स्वाधीनता-की मर्यादाका निश्चितरूपसे निर्णय नहीं किया जा सकता तथापि यह निर्विवाद सिद्धान्त तो माना जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्तिको उसकी आत्मोन्नतिके लिये पूर्ण अवकाश देनेसे उसकी जातिका भला होता है*

हम स्वतन्त्रताके चार भेदोंका दिग्दर्शन ऊपर कर चुके। अब प्रश्न यह है कि इन चारोंका आपसमें किस रीतिका सम्बन्ध है। राजा या राजकीय वर्ग हमारे जानमाल-की रक्षा कर हमारे मूल अधिकारको आदरणीय दृष्टिसे देख सकते हैं किन्तु यह अधिकार हमें राजनीतिक झगड़ों द्वारा ही प्राप्त हुआ है। सच तो यह है कि जहां स्वराज्य नहीं वहां प्रजाका अपने जान-मालपर भी कुछ अधिकार नहीं। किन्तु राजनीतिक स्वाधीनताके होते हुए जान मालका अधिकार सुरक्षित हो जाता है क्योंकि स्वराज्यमें बहुमताधिकार होनेसे राजा-प्रजाके बड़े हिस्सेका अहित होना असंभव हो जाता है। सारांश यह है कि बिना स्वराज्यके हम यह नहीं कह सकते कि यह धन हमारा है या प्राण हमारे हैं क्योंकि ये किसी समय एक अनियन्त्रित शक्तिके शिकार बन सकते हैं। स्वेच्छाचारी सत्ताधीशके अधीन हमारे धर्मविशेषपर भी आपत्तिके बादल टूट पड़ते हैं। स्वराज्यमें भी ऐसा संभव है कि सबल पक्ष कोई विशेष धार्मिक सम्प्रदायका अनुयायी होकर भिन्न धर्म्मावलम्बियोंपर अत्याचार करने लगे।

इस स्थितिमें व्यक्तिगत स्वाधीनतासे ही धार्मिक स्वातन्त्र्यकी रक्षा हो सकती है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका स्वराज्यसे कोई विशेष संबन्ध नहीं क्योंकि एक दूसरेके बिना मिल सकती है। दृष्टान्त यह कि नीतिनिपुण स्वेच्छाचारी राजा प्रजामें अशान्तिकी आशंकासे प्रजाके प्रतिकूल न चले और उसे यथेष्ट सुखोपभोग करनेका अवसर दे किन्तु स्वराज्यमें यह संभव है कि सभी बातें राष्ट्रके क़ायदे क़ानूनोंसे ऐसी जकड़ जायँ कि व्यक्तिगत स्वाधीनता केवल नाममात्रकी रह जाय। तथापि नियमबद्ध शासनमें भिन्न प्रकारके शासनसे व्यक्तिको आत्मोन्नतिके विशेष मौके मिलते हैं क्योंकि प्रजातन्त्र शासनका रहस्य यही है कि मनुष्य अपने आपको, आत्म-गौरवको-समझने लगता है। साधारणतया प्रजातन्त्र शासन व्यक्तिकी उन्नति और स्वेच्छाचारमें बाधक नहीं होता।

---

* "Difficult as it is to find any line fixing the bounds of Individual Liberty, it is plain that the presumption is in favour of Freedom, not only for the sake of securing to each man the maximum of harmless pleasures, but also in the interest of the community, for Individuality is precious, and the nation profits by the free play of its best minds and the unfettered development of its strongest characters." James Bryce, Modern Democracies, Vol. I, Ch. VI.

# स्वतन्त्रता क्या वस्तु है ।

मौलिक स्वाधीनता ( Civil Liberty ) और वैयक्तिक स्वाधीनतामें यह भेद है कि पूर्वरूपकी स्वाधीनता स्वेच्छाचारी राजाओंके अत्याचारके कारण प्रजाने आत्मरक्षाके लिये उनसे प्राप्त की थी, पर वैयक्तिक स्वाधीनताकी रक्षा, स्वराज्य-प्राप्त जातिके उग्र शासनके विरोधसे होती है, अर्थात् व्यक्ति प्रजाधीन शासनका दायरा इतना परिमित और मर्यादाबद्ध बनानेकी चेष्टा करता है कि जिससे वह अपने कुछ कार्य्य अपने इच्छानुसार, विना किसी बाहरी बाधाके, कर सके। प्रजातन्त्र शासनको मर्यादाबद्धकर व्यक्ति अपने स्वत्वोंकी रक्षा करता है। उसकी स्वत्वरक्षाके लिये स्वराज्यसे अधिक अच्छी परिस्थिति या मौका नहीं हो सकता है। अतएव स्वराज्य और वैयक्तिक स्वाधीनतामें कोई तात्विक विरोध नहीं, इन दोनों प्रकारकी स्वाधीनताका लक्ष्य तो एक ही है। इन दोनों-में जो इस समय पारस्परिक संघर्ष देखनेमें आता है उससे मानव-सभ्यताकी उन्नति ही होगी, अवनति नहीं। व्यक्तिको उसके आचार-विचारमें स्वतन्त्रता मिलनेसे, स्वराज्य-प्राप्त जातिकी लेशमात्र भी हानि नहीं हो सकती। यदि ऐसा राष्ट्र व्यक्तिके स्वाभाविक अधिकारोंकी अवहेलना करेगा तो उसकी उत्तरोत्तर उन्नति होनेकी कोई संभावना नहीं। तितिक्षा बहुत बड़ा गुण है। यह गुण व्यक्ति और राष्ट्र दोनोंमें ही होना चाहिये। राष्ट्रको व्यक्तिके विशेष गुणोंका आदर करना और उन गुणोंके अभिव्यक्त करनेका उसे अव-सर देना उचित है। व्यक्तिके प्रति इतनी सहिष्णुता तो समाज एवं राष्ट्रको रखनी चाहिये * ।

साम्य-वाद और व्यक्ति-वादका यह पुराना झगड़ा है। व्यक्ति यह मानता है कि पक्षियोंकी भांति स्वच्छन्द विहार करना ही स्वतन्त्रताका लक्ष्य है, किन्तु समाजका यह आदेश है कि हम सब मधुमक्खियोंकी भांति अपने एक ही छत्तेके लिये शहद इकट्ठा करनेमें लगे रहें, इसीसे हमें परमसुख मिल सकता है। मानव प्रकृति कभी एक आदर्शका आश्रय लेती है, कभी दूसरेका कभी एक ओर झुकाव है तो कभी दूसरी ओर। पिछले शतकमें व्यक्तिवादकी बड़ी धूम थी किन्तु यूरोपके महायुद्धके बाद जर्मनीके राष्ट्रवादने व्यक्ति-वादको शिथिल कर डाला है। स्वतन्त्रताके भविष्यकी ओर दृष्टि-पात करते हुए राजनीतिविशारद जेम्स ब्राइस कहते हैं कि स्वाधीनताके क्षेत्रमें मधुमक्खियोंका दृष्टान्त चरितार्थ किया जाने वाला है :—The policies which the Prussian doctrine of the state has suggested, have been slowly, almost insensibly, supplanting the individualism of last century. The ideal of happiness may change from that of birds wantoning in the air to that of bees busy in carrying honey to the common hive.

**गंगाप्रसाद मेहता**

---

* Nothing is more vital to national progress than the spontaneous development of individual character, and that free play of intellect which is independent of current prejudice, examines everything by the light of reason and history, and fearlessly defends unpopular opinions. Bryce, Modern Demo. Vol. I.

# संसारके व्यवसायका इतिहास ।

## ( गतांकसे आगे )

अमीर लोगोंकी व्यवस्था यूरोपके अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा इंग्लैण्डमें सबसे अच्छी और विवेकपूर्वक की गयी है । इस व्यवस्थाके कारण उनको सामान्य प्रजा और राजाकी ओरसे मान, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, आदर और दृढ़ता मिलती है। इससे ही उनको व्यवस्थापक सभाके कार्योंकी शिक्षा मिलती है । उनकी शक्ति देश और राष्ट्रीय उद्देश्योंकी पूर्तिमें लगती है, इसीसे उनको अपनी ओर जनताका ध्यान आकर्षित करनेकी उत्तेजना प्राप्त होती है । और यदि कामन्स सभाका कोई सदस्य मानसिक उत्कर्षमें अथवा किसी अन्य उत्कर्षके कारण भी सम्मान पाता है तो उसे भी वे अपनेमें मिला सकते हैं और बड़े घरानोंके बहुतसे अयोग्य वंशजोंको सर्वसाधारणमें मिला देते हैं, जिससे भविष्यमें अमीरों और गरीबोंमें समानता और सहयोग हो जाता है ।

इस विधिसे अमीर लोगोंको साधारण प्रजासे नित्य नयी सामाजिक सेवा और देश सेवाके भाव, विज्ञान, विद्या, मानसिक और प्राकृतिक साधनोंका लाभ होता है, और प्रजाको भी उनसे उच्च सभ्य जीवनकी शिक्षा, और ( उनमें ही विशेषतः पायी जाने वाली ) आत्मपरायणताके भावोंकी प्राप्ति होती है । वे लोग अपने वंशजोंको स्वावलम्बनपर छोड़ देते हैं और सर्वसाधारणमें नवीन उत्साहका संचार कर देते हैं। अंग्रेज लार्डका केवल एक पुत्र ही बापकी गद्दी पाता है । शेष पुत्रोंको साधारण जनकी भांति रह कर सिविल सर्विस, व्यवसाय, उद्योगधन्धे या कृषिसे ही अपनी आजीविका कमानी पड़ती है । एक कथा प्रचलित है, कि एक बार एक ड्यूकने अपने सब वंशधरोंको निमन्त्रित करना चाहा । यद्यपि उस वंशको चले कुछ शताब्दियां ही बीती थीं, तथापि उसका वंश इतना फैल चुका था कि उसे अपना यह संकल्प त्यागना ही पड़ा । इस संस्थाका जो प्रभाव राष्ट्रीय उत्साह, उपनिवेश-निर्माण, बल तथा स्वतन्त्रताओंपर या विशेषतः राष्ट्र-उत्पादन शक्तियोंपर पड़ा, उसका वर्णन करनेके लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी आवश्यकता होगी ।

इंग्लैण्डकी स्वतन्त्र राष्ट्रीय उन्नतिमें उसकी विशेष भौगोलिक स्थितिका भी बड़ा भारी हाथ है । यूरोप महाद्वीपकी दृष्टिसे इंग्लैण्ड एक स्वतः अलग संसार ही है । उसपर महाद्वीपके राज्योंके झगड़े, स्पर्धा, पक्षपात, स्वार्थ, मोह तथा अड़ोस पड़ोसके प्रान्तोंपर होनेवाले कष्टोंका स्पर्श भी नहीं होता । इसी एकान्त स्थितिके कारण उसकी स्वतन्त्रता और राजनीतिक शक्तिकी अनन्त उन्नति एवं धार्मिक सुधार समुचित रीतिसे हो सका और धर्म-संस्था सम्बन्धी सम्पत्ति भी इह-लोकोपयोगी समझी जाने लगी । इससे उद्योग व्यवसायमें बड़ी

उन्नति हुई, इसी कारणसे वह ऐसी निरन्तर शान्तिका अनुभव करता रहा जो थोड़ेसे घरेलू युद्धकालके सिवाय देशभरमें कई शताब्दियों तक व्याप्त रही। और इसीसे उसे अवसर मिला कि वह अनावश्यक सेनाको घटाकर देशमें आगत-निर्गत-मालपर समुचित करकी प्रथा चला सके। द्वीप होनेके कारण इंग्लैण्ड केवल राज्य संबंधी झगड़ोंसे ही नहीं बचा रहा बल्कि यूरोपकी लड़ाइयोंसे लाभ उठाकर उसने अपनी कारीगरीको चरम सीमातक चढ़ा दिया। स्थल युद्धोंसे देशों और प्रान्तोंके तहस नहस हो जानेसे शिल्प और उद्योग रसातलमें चला जाता है। सबसे पहले कृषक लोगोंके खेतीके काममें बड़ा विघ्न पड़ा करता है, इससे उनकी हरी भरी उपज मिट्टीमें मिल जाती है। अब न तो देशवासियोंके पास माल तैयार करनेके साधन ही रह जाते हैं और न तैयार माल खरीदनेके लिये द्रव्य रह जाता है। इससे वे न तो कच्चा माल पैदा कर सकते और न माल तैयार करनेवालेको भोजन-अन्न ही दे सकते हैं। दूसरे युद्धोंसे कारीगरीका नाश होकर कारखानोंका सर्वस्व-नाश हो जाता है। क्योंकि शत्रुसेनाएं कच्चे माल और पक्के मालके आयात और निर्यातमें बड़ा विघ्न डालती हैं और साथही कर और चुंगीका खर्च ही इतना अधिक बढ़ जाता है कि उस अवसरपर पर्याप्त पूंजी तथा श्रमका मिलना और भी कठिन हो जाता है। युद्ध समाप्त हो जानेके बाद भी उनका हानिकारक प्रभाव पर्याप्त काल तक देशमें व्याप्त रहता है, क्योंकि देशके किसानों और उनकी फसलोंकी जिस कदर युद्धोंसे हानि हुई होती है, उतना देशका धन और श्रम पक्का माल तैयार करनेवालोंसे हटकर खेतीबारीकी ओर खिंच जाता है, क्योंकि उस समय उद्योग धन्धेकी अपेक्षा इसी क्षेत्रमें धन और श्रमका लगना अधिक उत्पादक और लाभजनक होता है।

जर्मनीमें ऐसे विघ्न हर सौ सालमें कमसे कम दो बार पड़ा करते थे, जिससे वहां-के कारीगरोंको बार बार अपनी पुरानी दशापर आ जाना पड़ता था और इधर इंग्लैण्ड बेरोकटोक शिल्पकी वृद्धि करता ही जाता था। जब कभी भी अवसर पड़नेपर इंग्लैण्ड अपने बेड़े और सेनाएं तैयार करके और अपने मित्र राजाओं सहित विदेशीय युद्धमें भी बराबर गहरा हाथ बंटाता रहा है उस समय भी महाद्वीपके समस्पर्द्धी शिल्पकारोंकी अपेक्षा वहांके कारीगरोंको दुगुने तिगुने लाभ हुए हैं।

कुछ विद्वान् युद्ध करने और बड़ी बड़ी सेनाएं रखनेवाले अनुत्पादक व्ययका समर्थन करते हैं और कतिपय विद्वान् इस निमित्त सर्व साधारण प्रजासे ऋण लेना बड़ा उपयोगी बताते हैं। हम दोनों पक्षोंके साथ सहमत नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त न हमारा यही विश्वास है कि प्रत्यक्ष रूपसे अनुत्पादक व्ययमें सब हानियां ही हानियां हैं और गुण एक भी नहीं। हां सेना रखना, लड़ाई करना एवं इनके लिये ऋण लेना किसी अवस्थामें राष्ट्रकी उत्पादन शक्तिको बहुत अधिक बढ़ा सकता है*। इंग्लैण्ड ही

* इंग्लैण्डका ऋण इतना दोषजनक न होता यदि वहांके वे अमीर लोग इस बोझको उठा लेते जिनको लड़ाइयोंसे लाभ हुआ। अनुमान किया गया है कि इंग्लैण्ड, आयरलैण्ड,

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह बहुत सम्भव है कि भौतिक धनका क्षय उत्पादक न हो सके, पर तो भी संभव है इस व्ययसे कारीगरोंको असाधारण उत्तेजना मिले और नये नये आविष्कार और आयोजनाएँ हो सकें जिनसे उत्पादन शक्तिमें विशेष बढ़ती होजाय। युद्धमें तो एक ही बार व्यय होता है, पर यह उत्पादक शक्ति स्थायी हो जाती है और इसकी दिन दिन वृद्धि होती है।

अनुकूल सुयोगसे (जैसा इंग्लैण्डमें हुआ है) वही व्यय जो व्यर्थ कहा जाता है राष्ट्रके लिए कहीं बढ़कर लाभका साधक हो जाता है। अंकमें दिखलानेसे विदित हो जायगा कि इंलैण्डको वास्तवमें इसी तरहका लाभ हुआ है। लड़ाईमें उपनिवेश तथा धनकी प्राप्ति एवं अन्य व्यावसायिक उन्नतिके अतिरिक्त केवल सूतके व्यवसायसे इंग्लैण्डको इतना लाभ हुआ कि उसके सामने युद्ध ऋणका सूद कुछ भी नहीं है।

यूरोपीय युद्धके दिनोंमें अंग्रेजोंके शिल्प व्यवसायको बड़ा ही विस्मयजनक मुनाफ़ा मिला था। जब इंग्लैण्डकी अपनी सेनाएं और सहायक सेनाएं रणांगणमें थीं तो उनका खर्च युद्धस्थलतक इंग्लैण्डसे तैयार हुए मालके रूपमें जाता था। इससे वहांका अधमरा शिल्प-व्यवसाय सदाके लिये कुचल गया और वहांकी हाटें इंग्लैण्डके हाथ आ गयीं। यह तो ऐसा उपहार था जो अंग्रेजोंके शिल्पकी उन्नतिके लिए एवं विदेशी शिल्पकी हानिके लिए ही नियत था।

इस प्रकार महाद्वीपवालोंकी कारीगरीकी विशेष हानि इंग्लैण्डकी शत्रुतासे नहीं हुई, बल्कि उनकी मित्रताके कारणसे ही हुई, इस कथनकी पुष्टिके लिये मैं पाठकोंको केवल सप्तवर्षीय युद्ध[६७] तथा फ्रांस[६८] प्रजातन्त्रके युद्धोंका ही स्मरण दिलाता हूं।

इन बातोंसे तो लाभ ही हुआ, पर इंग्लैण्डकी धार्मिक, भौगोलिक तथा राजनीतिक स्थितिके कारण जो लोग इसमें आ बसे उनसे इसे उससे अधिक लाभ हुआ।

१२ वीं शताब्दीमें ही राजनीतिक घटनाओंके कारण फ्लाण्डरके जुलाहे इंग्लैण्डके वेल्स प्रान्तमें आ बसे। थोड़े दिन पीछे इटलीके कुछ लोग निर्वासित होकर इंग्लैण्डमें आये और उन्होंने अपना लेन देन और विनिमयका पेशा खोला। द्वितीय अध्यायमें दिखा आये हैं कि फ्लाण्डर और ब्राबेण्टके जुलाहोंकी इंग्लैण्डमें भरमार हो गयी थी। स्पेन और पुर्तगालसे पीड़ित यहूदी लोग और हांसा तथा वेनिस नगरोंके व्यवसायी अपने जहाज़ों, मूलधन एवं व्यवसायके अनुभव और उद्योग धन्धों सहित यहां आ बसे। धार्मिक सुधारों-के झगड़ों और धार्मिक अत्याचारोंके कारण स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, बेलजियम, जर्मनी और इटलीके व्यवसायियोंका अपने मूलधनके साथ आना इससे भी अधिक लाभकारी हुआ।

---

और स्काटलैण्डके लोगोंकी कुल सम्पत्ति ४८०००० लाख की है और उनका मूलधन जो उप-निवेशोंमें लगा है ३१२००० लाख है। अतः इंग्लैण्डका कुल ऋण चुकानेके लिये उसकी प्रजाकी सम्पत्ति पर्याप्त होगी। कमसे कम इस ऋणका सूद तो प्रजाकी आयपरके टिकससे देना चाहिये। परन्तु यह खानेकी वस्तुपरके टिकससे दिया जाता है जिससे धनहीनोंकी तो दुर्दशा हो जाती है।

मेथुअन सन्धि तथा जलयात्राकी नियमावलीके कारण हालैण्डका व्यवसाय बैठ गया, अतः वहांके वणिकोंका इंग्लैण्डमें आकर बसना भी बहुत लाभप्रद हुआ। जबतक इंग्लैण्डमें स्वतन्त्रता, रक्षा, सुख और शान्ति आदि बनी थी महाद्वीपके प्रत्येक राजनीतिक आन्दोलन और युद्धसे इंग्लैण्डको नये मूलधन और नवीन अनुभवी लोगोंका बराबर लाभ होता रहा। इसी प्रकार फ्रान्सके[६९] विप्लव, सामाजिक युद्ध तथा मेक्सिको, दक्षिणी अमेरिका, और स्पेनके युद्धोंकी हलचल, विरोध, और विप्लवोंसे भी वही परिणाम हुए। इसके अतिरिक्त पेटेन्ट नियमों द्वारा इंग्लैण्ड प्रत्येक राष्ट्रके अविष्कारोंको भी अपनाता गया। अब न्याय यही है कि इंग्लैण्ड जिस उत्पादक शक्तिको महाद्वीपसे प्राप्त कर इतना उन्नत और धनवान हो गया उसे उन लोगोंको ही लौटा दे।

# पञ्चम अध्याय

## स्पेन और पुर्तगालवाले।

एक तरफ तो इंग्लैण्डवाले शताब्दियोंसे अपने राष्ट्रीय ऋद्धिभवनको खड़ा करनेके प्रयत्नमें लगे थे, दूसरी ओर स्पेन और पुर्तगाल वाले अपने आविष्कारोंसे बड़ा सौभाग्य प्राप्त कर रहे थे और थोड़े ही समयमें बहुत समृद्ध हो गये। परन्तु इनकी सम्पत्ति फजूलखर्चेकी सम्पत्तिके समान क्षणिक थी, और अंग्रेजोंका धन मितव्ययी और परिश्रमीकी जोड़ी हुई पूंजीके समान था। विलासिता तथा धनके अतिव्ययको देखकर चाहे स्पेन तथा पुर्तगाल वालोंकी सम्पत्ति प्रलोभन पैदा करे, पर उनका धन और अपव्यय क्षणिक सुखका साधक था परन्तु अंग्रेजोंकी सम्पत्ति भविष्य सन्तानके मानसिक और ऐहिक कल्याणकी नींव डालती है।

स्पेन वालोंके पास भेड़ोंके रेवड़ोंके रेवड़ इतनी अधिक मात्रामें इतने पहलेसे थे कि सं० १२२९ (सन् ११७२) में इंग्लैण्डके राजा प्रथम हेनरीको[७०] स्पेनसे ऊनका आना रोकना पड़ा था। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दीमें इटलीके कारीगर अधिकतर ऊन स्पेनसे ही मँगाते थे। उस समयके दो सौ वर्ष पहले ही विस्के खाड़ीके तटनिवासी लोहेके व्यवसाय, जलयात्रा एवं मछुआहीमें सिद्ध हस्त हो चुके थे। पहले पहल इन्होंने ही ह्वेलका* शिकार करना आरम्भ किया था। और सं० १६७६ (सन् १६१९) में भी ये लोग इस काममें अंग्रेजोंसे इतने चढ़े बढ़े थे कि अंग्रेजोंको इस कलाकी शिक्षा देनेके लिये स्पेनसे मछुए बुलाये गये थे।

१०वीं शताब्दीमें ही तृतीय अबदुल रहमान[७१] सं० ९६९–१००७ (सन् ९१२–५०) के समयमें मूर† लोग वलेन्शियाके[७२] चारों ओर रूई, ऊख, और धानकी

* एक तरहकी मछली जो ६० से ८० फीट तक लम्बी होती है। कहीं कहीं उसे जलहस्ती भी कहते हैं।

† अफ्रीकाके बार्बरी प्रदेशीय और अरब जातिकी संकर जाति जिसने स्पेनकी कुछ भूमिपर अधिकार कर लिया परन्तु बादको वहांसे निकाली गयी।

खेती विस्तारपूर्वक करते थे और रेशम भी उत्पन्न करते थे। मूरोंके समयमें करडोवा, सेविल और ग्रेनाडामें सूत और रेशमके बड़े बड़े कारखाने थे। वलेन्शिया, सिगोविया, टोलीडो तथा केल्टाइलके अन्य नगर ऊनके लिये प्रसिद्ध थे। बहुत प्राचीन कालमें ही केवल सेविलमें ही १६००० करघे चलते थे।

संवत् १६०६ ( सन् १५५२ ) में ही सेगोवियाके ऊनके कारखानोंमें १३००० मज़दूर काम करते थे। अन्य व्यवसाय भी, विशेषतः काग़ज़ और अस्त्रनिर्माण, उन्नत दशामें थे। कोलवर्टके समयमें फ्रांसवाले स्पेनहीसे कपड़ा मंगाते थे। स्पेनके समुद्र तटके प्रधान नगर वाणिज्य और मत्स्यग्राहीके केन्द्र थे और द्वितीय फिलिपके समय तक स्पेनकी जलशक्ति सबसे प्रबल थी। सारांश यह है कि स्पेनमें विभव और उन्नतिके सभी साधन उपस्थित थे परन्तु पक्षपात और निष्ठुर शासनने मिलकर राष्ट्रके उच्च भावोंका लोप करना आरम्भ किया। इस घोर क्रूरताका आरम्भ यहूदियोंके निर्वासनसे आरम्भ हुआ और मूर लोगोंका निर्वासन ही इसकी चरम सीमा थी। इस क्रूरतासे २० लाख अत्यन्त परिश्रमी और सम्पन्न श्रमी सम्पत्ति सहित स्पेनसे निकाल दिये गये।

*धर्म-विचारालय इस भांति एक तरफ तो व्यवसायियोंको देशसे निकाल रहा था और दूसरी तरफ विदेशीय कारीगरोंको देशमें बसनेसे भी रोकता था। अमरीका महाद्वीप तथा गुडहोप अन्तरीप वाले मार्गके ज्ञानसे इन दोनों देशोंकी सम्पत्ति कुछ कालके लिये बढ़ ही गयी थी परन्तु उक्त दोनों घटनाओंसे इनके उद्योग व्यवसाय और बलपर कठिन आघात पहुंचा। अंग्रेजों और हालैण्डवालोंकी भांति वे लोग अपने देशकी बनी वस्तुके बदले पूर्वीय और पश्चिमीय इण्डीज़की पैदावारको न लेकर उपनिवेशों-से कमाये सोने और चांदीसे वहांका बना पक्का माल खरीदते थे। अब वहांके परिश्रमी और उद्योगी नागरिक व्यापारी अथवा उपनिवेशोंके दुराग्रही शासकोंके रूपमें बदल गये। उन्होंने इस प्रकार इंग्लैण्ड और हालैण्डवालोंके व्यवसाय और जलशक्तिको ही पुष्ट होनेका अच्छा अवसर दिया। वे भी इनके प्रतिद्वन्द्वी होकर थोड़े ही दिनोंमें उनकी जलशक्तिका उन्मूलन करने और उनकी सम्पत्तिके साधनोंको छीन लेनेमें समर्थ हुए। स्पेनके राजाओंने विदेशी वस्तुका आना और सोने चांदीके सिक्कोंका बाहर जाना रोकनेके लिये नियम बनाये, पर सब निष्फल हुए। उत्साह, उद्योग और व्यवसायके भाव वहीं जड़ पकड़ते हैं जहां धार्मिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता रहती है और सुवर्ण और चान्दीकी लक्ष्मी वहीं जाती है जहां औद्योगिक व्यवसाय उसको लुभाने और अपनेमें व्यय करना जानता है।

---

*ये विचारालय धर्माध्यक्षोंसे निर्णीत किये गये थे। इनमें नास्तिकोंका विचार किया जाता था।

अत्यन्त सुयोग्य और प्रभावशाली मन्त्रीके उद्योगसे पुर्तगालने शिल्पकी उन्नतिका उद्योग किया और उसको आरम्भहीमें विस्मयजनक सफलता हुई। स्पेनकी भांति उसमें भी बहुत प्राचीनकालसे ही बहुत उत्तम उत्तम भेड़ोंके रेवड़े थे। स्ट्राबोंने[१४] लिखा है कि पुर्तगालमें उत्तम भेड़ोंकी नसल एशियासे लायी गयी थी, और प्रति भेड़का मूल्य एक टेलैण्ट था। संवत् १७३८ (सन् १६८१) में ईरीसीरो[१५] का काउएट मन्त्रीके पद-पर नियुक्त हुआ। उसने कपड़ेकी कलें खोलकर तथा उनमें कपड़ा बनवाकर स्वदेश और उपनिवेशोंकी आवश्यकताकी पूर्त्ति करनेकी उत्तेजना दी। इंग्लैण्डसे जुलाहे बुलाये गये। सुरक्षित होनेसे इन कपड़ेके कारखानोंकी इतनी वृद्धि हुई कि केवल तीन ही वर्षमें विदेशी कपड़ोंका आना बन्द कर देना सम्भव हो गया। उस समयसे पुर्तगाल वाले अपने देश और उपनिवेशोंको अपने यहांके कच्चे मालसे तय्यार किये कपड़े दिया करते थे। अंग्रेजी लेखकोंके कथनानुसार वे ऐसा करते हुए १६ वर्षों तक बहुत अधिक सम्पन्न हो गये।

उस समय भी अंग्रेज़ोंने उस योग्यताका परिचय बराबर दिया था जिसको उन्होंने पीछे जाकर सम्यक्तया परिपूर्ण किया। पुर्तगालकी चुंगी और करोंसे बचनेके लिये उन्होंने ऊनी कपड़ा बनाकर भेजना आरम्भ किया। यह कपड़ा औरोंसे बहुत भिन्न नहीं था और ये लोग ऊनी सर्ज कहकर बेचा करते थे। यह चाल अन्तमें खुल गयी और इनका आना भी बन्द कर दिया गया। इस नीतिका फल बड़ा विस्मयकर हुआ क्योंकि उस समय देशकी दशा अच्छी भी नहीं थी। थोड़े ही दिन पहले यहूदियोंके निर्वासनके कारण मूलधनकी क्षति हो गयी थी और अनुदारता, दूषित शासन तथा अमीरों और जमीदारोंके नीचे प्रजाकी स्वतन्त्रता और कृषिका सर्वनाश हो गया था।

संवत् १७६० (सन् १७०३) में काउण्ट ईरीसिरोकी मृत्युके उपरान्त पाल मेथुएन नामक अंग्रेजी राजदूतने पुर्तगालसे व्यावसायिक संधि करली। उसने प्रेरणा की कि यदि अंग्रेज लोग पुर्तगालके मद्यपर और देशोंके मद्यसे तिहाई कर कम करदेंगे तो पुर्तगालवालों-को बड़ा लाभ होगा, पर यह तभी सम्भव है जब पुर्तगालवाले भी अंग्रजोंसे उसी दरसे (२३ प्रति सैकड़ा) कर लेकर कपड़ा बेचनेकी आज्ञा दे दें। जान पड़ता है कि राजाने चुंगीसे आयकी बढ़तीकी आशासे यह शर्त स्वीकार कर ली थी। इस सन्धिपत्रमें इंग्लैण्डकी रानी ऐन[१६]ने पुर्तगालके राजाको अपना "घनिष्ट मित्र" लिखा है। यह उपाधि तो वैसी ही जान पड़ती है जैसी कि रोमकी शासनसभा उन राजाओंको प्रदान करती थी जो दुर्भाग्यवश उसके बहुत सम्पर्कमें आ जाते थे।

इस संधिके होते ही पुर्तगाल अंग्रेजी मालसे भर गया। उसका सबसे पहला परिणाम पुर्तगालके कारखानोंका सर्वनाश था। यह परिणाम उसी तरहका था जैसा फ्रांसके साथ अदनकी[१७] संधि तथा जर्मनीमें महाद्वीपीय[१८] व्यवस्थाके टूटनेसे हुआ था।

एण्डर्सनके लेखसे सिद्ध होता है कि उस समय भी अंग्रेज लोग चुंगीवालोंके

सामने अपनी वस्तुओंका मूल्य इतना घटाकर बताते थे कि उनको नियत करसे आधा ही देना पड़ता था।

ब्रिटिश मर्चेंट नामी पत्र लिखता है कि "प्रतिबन्धोंके हटानेपर हम लोगोंने पुर्तगालवालोंके चाँदीके सिक्कों इतना हड़पा कि उनकी अपनी आवश्यकताके योग्य भी वहां न बचा। इसके उपरांत हम लोगोंने सोनेपर हाथ मारा। यह व्यवसाय अंग्रेज लोग अभी हाल तक भी करते रहे। जो कुछ धन पुर्तगालवालोंने उपनिवेशोंसे प्राप्त किया था सब उनके देशमेंसे अंग्रेजोंके हाथ लगा।"

उसमेंसे अधिकांश तो उन्होंने उत्तरीय इण्डीज़ और चीनमें भेजकर और उसके बदले वहांसे तय्यार माल लेकर महाद्वीप वालोंको दिया और उनसे कच्चा माल प्राप्त* किया। इंग्लैण्डमें जितनी वस्तु पुर्तगालसे आती थी उससे १०५००० लाख रुपयेसे भी अधिकका माल इंग्लैण्डसे पुर्तगालको जाता था। इस प्रकारके लाभके कारण विनिमय-की दरमें पुर्तगाल वालोंको १५ प्रति सैकड़ा बट्टा लगने लगा। इससे पुर्तगालवालोंको बड़ी हानि होने लगी। ग्रन्थकर्त्ताने लिखा है कि 'अन्य देशकी अपेक्षा पुर्तगालके साथ व्यवसाय करनेमें हम लोगोंको अधिक लाभ है। पहले हमारे देशमें वहांसे केवल ४५०००००रुपयेका चांदी सोना आता था' परन्तु अब २७००००००० रुपयेका आने लगा है।

इंग्लैण्डके सभी व्यवसायी अर्थशास्त्री तथा राजनीतिज्ञोंने इस संधिको इंग्लैण्ड-की व्यवसायिक नीतिका उत्कृष्ट नमूना माना है। स्वयं एण्डर्सन ने जो अंग्रेजी व्यावसायिक नीतिको भली भाँति समझता था और इन बातोंपर बड़ा परामर्श किया करता था उस संधिको अत्यन्त लाभदायक ठहराया है और अपनी स्वाभाविक धृष्टताके कारण उसने उसकी उत्तरोत्तर बढ़तीकी भी प्रार्थना की है।

केवल एक ऐडमस्मिथने इस बहुमतके विरुद्ध अपनी सम्मति प्रकाशित की है। वह कहता है कि 'मैथुअनकी संधिसे इंग्लैण्डके व्यवसायको कोई लाभ नहीं हुआ है। यह मत अंशतः भ्रमात्मक है। फिर जनताने इस विद्वान्के मतका इतना सम्मान क्यों किया? इसका एक मात्र कारण यही प्रतीत होता है कि आजतक इसके विरुद्ध लेखनी उठानेका किसीने साहस न किया।

अनुवादक-हरिहरनाथ।

---

* इसका पूरा विवरण चतुर्थ अध्यायमें दिया गया है।

# भारतीय कर-विधान

जिस देशकी प्रजा सुखमें है वही राज्य उत्तम है। राजाका परम कर्तव्य है कि वह प्रजाके प्राण-धनकी रक्षा करे। अतः उसे प्रजाके प्राणधन-रक्षणके निमित्त तथा सुख पूर्वक रखनेके लिये सेना, पुलिस, नौका, आबपाशी, इत्यादि विभागोंके कर्मचारी नियुक्त करने पड़ते हैं। इन सब विभागोंके खर्चका भार प्रजाके ऊपर पड़ता है। अतएव प्रजापर 'कर' लगाया जाता है। प्राचीनकालमें भी प्रजा पर 'कर' लगाया जाता था। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें आर्य चाणक्यने 'अर्थशास्त्र' नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें अर्थनीतिज्ञ चाणक्यने 'कर' 'शुल्क', राजदण्ड इत्यादि शब्दोंसे उस समयके 'करविधान'का अच्छा वर्णन किया है। समस्त देशके सर्वभागका अध्यक्ष 'समाहर्ता' कहलाता था। यह देश भरके शुल्कका हिसाब रखता था। आजकल, यह सब काम फाइनेन्स मिनिस्टर (अर्थ-सचिव) करता है।

प्रत्येक देशकी अर्थनीति समयानुसार परिवर्तित हुआ करती है। किन किन वस्तुओंपर कर लगाया जावे अथवा कितना कर लगाया जावे इन सब बातोंकी विवेचना "समाहर्ता" एवं 'फ़ाइनेन्स मिनिस्टर' (अर्थ-सचिव) करता है। प्रजाको यह जाननेका अधिकार है कि उसका जो धन कररूपमें सरकारी खजानेमें जमा होता है, वह किस बातमें व्यय किया जाता है। इस सम्बन्धमें वह समाहर्तासे प्रश्न कर सकती है। समाहर्ताका भी उत्तरदायित्व महत्वपूर्ण है। "यह धन प्रजाके सुख-चैनके निमित्त है इसलिये प्रजाके सुखार्थ यह खर्च हुआ या नहीं" इन बातोंका उत्तर देनेके निमित्त "समाहर्ता" (अर्थसचिव) को सदा तैयार रहना पड़ता है।

आधुनिक अर्थनीतिका सबसे प्रथम सिद्धान्त यह है कि 'प्रजासे 'कररूप'में रुपया तो ले लिया जावे, पर उसे उसका भार न मालूम पड़े"। वास्तवमें इस नियमके अनुकूल आजकल जो कार्यवाही की जाती है वह समाहर्ताको जिह्वाग्र रहती है। ऊपरके नियमानुसार, प्रजापर दो प्रकारके कर लगाये जाते हैं। एक वह, जिसे देते समय प्रजाको यह प्रत्यक्ष मालूम हो जाता है कि हमने इतना इतना रुपया इस इस रूपमें सरकारके कोषमें दिया। ऐसा रुपया देकर प्रजा अपनी आंखें खोलकर सरकारी कोषको सहायता पहुंचाती है। यह रुपया प्रजाके पाससे सीधे सरकारी खजानेमें पहुंचता है। उदाहरणार्थ, जमीनका लगान, हैसियत टैक्स इत्यादि। ऐसे टैक्स या 'कर' प्रजा जान बूझकर देती है। उसे ज्ञात रहता है कि प्रतिशतक हम इतना रुपया अपनी आयमेंसे सरकारको दे रहे हैं। इस प्रकारके करको 'प्रत्यक्षकर' ( Direct Tax ) कहते हैं।

'कर' लगानेकी दूसरी विधि इतनी प्रत्यक्ष और इतनी सरल नहीं होती।

इस तरीकेपर जो रुपया प्रजासे 'कर' रूपमें लिया जाता है वह प्रजाको मालूम नहीं होता। आजकल प्रायः प्रत्येक व्यक्तिके घरका यह हाल है कि जितना कमाता है उतना खर्च हो जाता है। लोग अक्सर कहा करते हैं कि 'पिताजी ५०) मासिक ही पाते थे। फिर भी वे जिस शान-शौकतके साथ रहते थे वह हमें नसीब नहीं, जितनी संपत्ति वे एकत्र कर सके थे उतनी हम तीन जन्ममें भी नहीं जोड़ सकते। हम आज साधारण भावसे रहते हैं और ३००) के डिप्टी कलेक्टर होते हुए भी फांके मस्त हैं। इस परिस्थिति का प्रधान कारण 'कर' लगानेकी वर्तमान प्रणाली है। प्रजाके पासका रुपया अज्ञात मार्गसे निकल जाता है और सरकारी कोषमें पहुंच जाता है। इस प्रकारके कर को परोक्षकर ( Indirect Tax ) कहते हैं, उदाहरणके लिये 'देशी कपड़ेपर कर। जो कपड़ा बनकर तैयार होता है और ५) रुपयेमें बिक सकता है वह 'कर' लगजानेसे मोल लेने वाले व्यक्तिको ६॥ रुपयेमें पड़ता है। खरीदने वालेके ६॥) खर्च हुए। परन्तु यदि मान लिया जावे कि डेढ़ रुपया कारखाने वालेसे उतने कपड़ेपर करके रूपमें लिया गया है, तो सचमुचमें ५) तो बजाजको दिये गये हैं और १॥) सरकारी खजानमें पहुँचे हैं। किन्तु उस व्यक्ति-विशेषने ये डेढ़ रुपये सरकारी कोषमें आँखे बन्द कर दिये हैं। इस प्रकारके अनेक 'परोक्षकर' अनेकों रूपमें प्रत्येक व्यक्ति सरकारी कोषको देता है, जिससे सरकारी खर्च चलता है।

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें भी 'कर' अनेक रूपसे लगाये जाते थे और देश समृद्धिवान् भी था। किन्तु उस समयमें खासकर जमीनपर ही 'कर' लगानेसे काम निकल जाता था। शेष 'कर' अत्यन्त साधारण थे।

भारत सरकार अपनी आमदनी और खर्चका अनुमानपत्र (बजट) पहिले हीसे बना लेती है बजटका वर्ष पहली अप्रैलसे इकतीस मार्च तक चालू रहता है। अब १९२२-१९२३ का नया बजट बनेगा। इसके बनानेकी चिन्ता अभीसे पड़ गयी है। इसके लिये एक आर्थिक कमीशनकी योजना की गयी है। यह प्रत्येक प्रदेशमें जाकर आर्थिक प्रश्नोंकी पूछ ताँछ करेगा और यथा समय अपनी जाँचकी रिपोर्ट प्रकाशित करेगा। प्रायः प्रत्येक पढ़े लिखे मनुष्य को यह विदित होगा कि भारत सरकारकी (Finance) अर्थ-नीति बहुत डाँवा डोल होरही है। विशेष डाँवा डोल होनेका कारण सरकारी सेनाका अत्यधिक खर्च है। वह आवश्यकतासे अधिक प्रतीत होता है। भारत वर्षकी रक्षाके लिये इतना सैनिक-खर्च बहुत ही अधिक है। प्रजा भी 'परोक्षकर' ( Indirect tax ) देते देते तंग हो गयी है। महात्मा गांधीके असहयोगसे भी भारतीय अर्थनीति (Finance) पर बहुत कुछ धक्का पहुंचा है।

अब हम भारतकी 'अर्थनीति'की अनस्थिरताके अन्य कारणोंपर विचार करेंगे। ये प्रायः वही हैं जो आमदनीकी अनस्थिरताके कारण हैं। जब आमदनीके द्वार रुद्ध हो गये तब सरकारी अर्थनीति' का डांवाडोल होना अवश्यम्भावी ही है।

# भारतीय कर-विधान।

भारत सरकारकी आमदनीके मुख्य मुख्य द्वार ये हैं:—ज़मीनपर लगान, मुद्रानीति, ( currency system ) आयात-निर्यात वस्तुओंपर 'कर', (Customs), इसी देशकी बनी हुई वस्तुओंपर 'कर' (आबकारी इत्यादि), नमक स्टाम्प और रजिस्ट्रीका कर। जब किसी देशकी अर्थनीति अनस्थिर रहती है तब उसका ध्यान विशेषतया आयात-निर्यात-करपर जाता है। इसीमें विशेष परिवर्तन करके संतोलन बराबर करना पड़ता है। किन्तु भारतवर्षमें जब तक मुद्रानीति नहीं ठीक होगी तब तक भारतीय अर्थनीति स्थिर नहीं हो सकती। सम्पत्ति शास्त्रज्ञोंका मत है भारतकी मुद्रानीति, आयात-निर्यात ( Imports and exports ) पर अवलम्बित है। अतः आयात-निर्यातमें गड़बड़ी होनेसे ही व्यापारिक संतोलन बिगड़ता है और इसका परिणाम यह हो सकता है कि सरकारी अर्थनीतिमें दिवाला निकलनेकी चिन्ता पड़जावे।

**ज़मीनपर लगान** एक दम नहीं बढ़ा सकते हैं क्योंकि बन्दोबस्तकी साल तक लगानमें परिवर्तन नहीं हो सकता। इस लिये नये बजटके लिये जमीनके लगानसे कोई विशेष आशा नहीं।

**आबकारी तथा एतद्देशीय वस्तुओंपर कर**—महात्मा गांधीके असहयोगने इस आमदनी पर पानी सा फेर दिया है। अफीमका व्यापार अभी जारी रहेगा। अफ़ीमके व्यापारकी म्याद साल भरके लिये बढ़ गयी है। अनाम, स्याम, सिंगापुर इत्यादि द्वीपान्तरोंमें अब तक जीवन नष्ट करनेवाली अफ़ीमकी आदत बढ़ रही है। चीनने बहुत दिनोंके बाद इससे अपना पीछा छुड़ाया है। नयी संधिके अनुसार साल भर इसका व्यापार अनाम, स्याम इत्यादि देशोंके साथ चलेगा। सरकारका यह व्यापार निष्कंटक रूपसे चलता है अतः इसपर अधिक निर्यात कर ( export duty ) लगानेसे आमदनी बढ़ सकती है।

**नमकपर भी कर** लगाया जाता है। बहुतसा नमक जरमनी, लिवरपुल, अदन इत्यादिसे आता है—हमारे देशमें इतना नमक होता है कि यदि उसपर आबकारी कर ( excise ) न लगाया जावे तो बाहरके नमकका मूल्य एतद्देशीय नमकसे कभी कम नहीं हो सकता और न बाहरके नमककी आवश्यकता ही पड़ सकती है। संवत् १९७६ ( सन् १९१९-२० ) में नमकसे लगभग ६ करोड़ रुपयेकी आमदनी हुई थी। यदि नमकपर सवा रुपये मनके बदलेमें डेढ़ रुपये मन कर लगा देवें तो प्रजाको विशेष हानि नहीं होगी।

**स्टाम्प और रजिस्ट्रेशन** की आमदनीमें भी इस वर्ष बहुत टोटा पड़ा है। असहयोगके प्रचारसे बहुत कम मुकद्दमे बाजी होती है और गांव गांवमें पंचायतें खुलनेके कारण लोग यदा कदा ही कचहरीका मुंह देखते हैं। अतः सरकारको इस विभागसे बहुत कम आमदनी होनेकी आशा है। देखें इस विषयमें आगामी वर्षके आय-व्यय-अनुमान-पत्रमें क्या काररवाई होती है।

अब **आयात-निर्यातकरपर** विचार करना चाहिये कि किस वस्तुपर कैसा कर लगानेसे भारतवर्षके व्यवसायको लाभ वा हानि किस अंश तक होगी। जिन मुख्य मुख्य

वस्तुओंका विचार करना उचित है वे ये हैं अनाज ( गेहूं ), कपास ( रूईका कपड़ा वगैरह ), जूट ( सन ) शक्कर, चमड़ा और चांदी ( बहुमूल्य वस्तुएं इत्यादि )।

**अनाजः**—अनाज अर्थात् गेहूं चावल इत्यादि खानेकी वस्तुएं। भारतवर्षमें यहांकी जरूरतके अनुसार काफी गेहूं उत्पन्न होता है। तो भी कहीं न कहीं अकाल पड़ा ही करता है। इसका विशेष कारण यह है कि ज्योंही अच्छी फसल आयी त्योंहीं माल विदेशको जाने लगता है। परिणाम यह होता है कि जिस वर्ष फ़सल अच्छी नहीं होती उसी वर्ष कृषक-जनतापर आफत आ जाती है।

कृषक लोग केवल चार माह खेतीका काम करते हैं, शेषसमय खेती संबंधी मामूली काम करते हैं। उन्हें और दूसरा उद्योग तथा व्यवसाय बहुत थोड़ा रहता है। अतः इन दिनोंमें घरका प्रत्येक आदमी चरखेसे सूत कातनेके उद्योगमें लग जावे तो वह सालभरके कपड़ोंके लिये सूत कात सकता है। कई विद्वानोंका कथन है कि 'स्वतन्त्र व्यापार' ( free-trade ) होना ठीक है अर्थात निर्यातकर तथा आयात-कर इतना थोड़ा लगाया जावे जिससे नाममात्रकी आमदनी हो। उनका कहना है अकालके समयमें आस्ट्रेलियासे आये हुए ( गेहूं ) पर यदि अधिक कर लगाया जावेगा तो उस 'कर' का भार गरीब जनतापर पड़ेगा। आयात 'कर' लगनेसे गेहूंकी कीमत बढ़ जायगी जो मोल लेनेवालोंके मत्थे पड़ेगी। किन्तु यह एक कारण ही बतला देना है। इसके हानि-लाभ पर विचार करें तो विदित होगा कि इससे भारतवर्षको हानि ही अधिक है। यह पहिले ही कह दिया है कि देशमें अनाज आवश्यकतासे अधिक होता है। इतना अधिक होता है कि यदि देशका माल देश-में रहे तो अनाजकी कमी होनेकी संभावना ही नहीं। अकाल तो रुपये पैसेका पड़ता है। वास्तवमें यदि देशकी भलाईके लिये कर लगाया जावे तो जो अनाज बाहर जाता है उसपर निर्यातकर इतना अधिक लगाया जावे कि अनाज देशके भीतर ही रहे। देशके भीतर अनाज रहनेसे अकालकी आशंका नहीं रहती क्योंकि अनाज काफी और सस्ता रहता है। और इसके अतिरिक्त जितना अनाज बाहर जायगा उतनेपर 'निर्यातकर' अधिक लगनेसे सरकारको अधिक आमदनी भी होगी। यह आमदनी नहरें खोदनेके काममें लगायी जावे तो सिंचाईका भी प्रबंध हो सकेगा और उससे भी बड़ा लाभ होगा। परतन्त्र भारतको अभी अपनी अर्थनीतिके निर्णयका वास्तविक अधिकार ही प्राप्त नहीं है।

**कपास** ( तथा रूईके कपड़े ) :—आजकल कपासका व्यवसाय भारतवर्षमें बढ़ती हुई अवस्थामें है। अतः बढ़ती हुई अवस्थाके व्यवसायमें रक्षणात्मक कर ( Protection duty ) लगाना चाहिये। रक्षणात्मक करका अर्थ यह है कि आयात वस्तुओं पर इस विवेकके साथ 'कर' लगायाजावे जिससे देशके बढ़ते हुए व्यवसायों-की रक्षा होवे। देशमें आने वाले कपड़े पर इतना भारी 'आयात कर' लगाया जावे कि लेन्केशायर और मैंचेस्टरका कपड़ा देशी कपड़ेसे सस्ता न बिके और यदि बिके भी तो उससे देशी व्यवसायको हानि न पहुंचे। लगभग ८० वर्षसे ऊपर हुए कि यहांके कपड़े

पर कर लगानेकी कुन्जी लैंकेशायरके पूंजीपतियोंके हाथमें रही है। जब संवत् १९३४ (सन् १८७७) में सूती कपड़े पर 'आयात कर' लगाया गया तो लैंकेशायरमें बहुत शोर मचा। बेचारी भारत सरकारको 'आयातकर' उठालेना पड़ा। जब संवत् १९५१ [सन् १८९४] में भारत सरकारकी आर्थिक स्थिति डावांडोल हुई तो उस समय जो कर लगाया गया वह इस प्रकारका था। आयातकर विदेशसे आये सूती कपड़े पर ५) फी सौ रुपये की कीमत पर लगाया जावे और भारतीय सूती कपड़े पर यदि बीस इन्ची (?) सूतके कपड़े पर आबकारी ( Excise ) कर लगाया जावे'। उस समयके अर्थ-सचिव सर जेम्स वेस्टलेगडने चतुराईसे यह उत्तर दिया कि यह सब काम भारत मंत्रीका है। इस सम्बन्धमें अधिक कहना व्यर्थ है। इतना ही कहना काफी है कि संवत् १९५३ (सन् १८९६) में एक नया एक्ट बनाया गया जिसका नाम "इन्डियन काटन ड्यूटीज़ एक्ट नं० २ आफ १८९६" हुआ। इसके अनुसार सौ रुपयेके कपड़ेपर ३॥) रुपया कर लगाया गया अर्थात् विदेशसे आये हुए सूती कपड़े पर फी सैकड़ा ३॥) कर और यहांके कपड़े पर ३॥) फीसैकड़ा मूल्यके अनुसार, कर लगाया गया। उसका विशेष कारण यह था कि लैंकेशायरके पूंजीपतियोंने भारतमंत्रीसे खूब वाग्युद्ध किया और अपनी इच्छाके अनुसार भारतके सूती कपड़ेपर भी कर लगाया। हालमें ही संवत् १९७४ (सन् १९१७) में जब विश्वव्यापी युद्ध हो रहा था तब भारतवर्षके अनुकूल कुछ हवा बही। इस समय प्रति सौ रुपयेके कपड़ेपर ७॥ 'आयात कर' लगाया गया और यहांके सूती कपड़े पर ३॥) प्रति सैकड़ा कर ही रहने दिया गया। इस समय भारतवर्ष दिल खोलकर युद्धमें जानमालसे सरकारकी सहायता कर रहा था, इसलिये सर आस्टेन चेम्बरलेन, तत्कालीन भारतमंत्री, एक इञ्च भी लैंकेशायर वालोंकी धमकीसे नहीं दबे। उन्होंने कहा कि इन सब बातोंका न्याय युद्धके पश्चात् किया जावेगा। देखिये इस समय सरकारकी अर्थनीति फिर डावांडोल हो रही है। अब क्या पैगाम रचा जायगा और कितना 'कर' सूती कपड़ों पर लगाया जायगा, यह अनिश्चित है*।

---

* हमारी समझमें तो आता है कि अभी कमसे कम विदेशसे आनेवाले सूती कपड़ोंपर कर न बढ़ाया जायगा।

इस वर्षका आय-व्यय-अनुमानपत्र बड़ी व्यवस्थापक सभामें पेश करते समय भारत सरकारके अर्थ-सचिव श्री डबलू० एम० हेली महोदयने कहा था कि "... संवत् १९७८ (सन् १९२१-२२) में १२९ करोड़का खर्चा है और आमदनी वर्त्तमान करके अनुसार ११०½ करोड़ है।" इस प्रकार १८½ करोड़की जो घटी होती थी, उसकी पूर्त्तिके लिये कई प्रकारके करोंमें वृद्धि की गयी थी। विदेशी कपड़ोंपरभी ७॥ के स्थानमें ११ प्रति सैकड़ा कर लगाया था। यह देखकर लैंकेशायरवालोंने जो हुल्लड़ मचाया था, उसका हाल समाचारपत्र पढ़ने वालोंको विदित ही होगा। ऐसी हालतमें सूती कपड़ोंपर आयात करके शीघ्र बढ़ाये जानेकी संभावना बहुत कम है।—सम्पादक।

**जूट**—( सन ) भारतके व्यापारियोंके लिये 'जूट' का व्यापार बड़ा निष्कण्टक होता है। संसारमें कोई प्रतिस्पर्धी ही नहीं है। अतः यदि जूट ( सन ) का 'निर्यातकर' बढ़ाया जावे तो आमदनीका मार्ग भी अच्छा है और इस व्यवसायको किसी प्रकारकी हानि भी नहीं पहुंचेगी क्योंकि यह व्यवसाय पुराना है और वृद्धि-प्राप्त भी है।

**शक्कर**:—शक्करका व्यापार पहले बहुत भारी था। भारतवर्ष अपने देश भरकी आवश्यकताके लिये शक्कर खूब पैदा करता था पर कुछ दिनोंसे जर्मनीकी शक्कर आने लगी। यह शक्कर इस कारणसे बहुत कम कीमती थी कि जर्मनीकी सरकार शक्कर के व्यापारियोंको खूब रुपया देती थी, इस अर्थसे कि जर्मनीकी शक्कर विदेशमें बहुत सस्ती बिके जिससे वहां वालोंका व्यापार गिरजावे, फिर धीरे धीरे अपनी शक्करकी कीमत हम बढ़ा देंगे। इस प्रकारकी दानभुक्त (bounty fed) शक्करसे भारतीय शक्करके व्यापार को बड़ा धक्का पहुंचा। इस समय शक्करका व्यवसाय बढ़ती पर है, देखें इसके ऊपर कितना कर लगाया जाता है। भारतवर्षके हितके लिये यदि इस पर आयतकर लगाया जावे तो देशी शक्करके व्यवसायमें वृद्धि भी होगी और सरकारी आमदनी भी बढ़ेगी। देशके हितके लिये वास्तवमें यदि इस प्रकारके 'रक्षणात्मक' कर लगाये जावें तो संभवतः अर्थनीतिमें किसी प्रकारकी अस्थिरता न हो।

यदि खर्च सोच समझकर किया जावे तो अर्थनीति सदाके लिये 'स्थिर' रह सकती है। यदि खर्च वृथा न किया जावे तो प्रजा भी अत्यधिक 'कर' के भारसे बच सकती है। सिसरोसे लेकर बर्क, ग्लेड्स्टन और माननीय गोखलेका यही कहना रहा है कि कम खर्ची ही स्वयं बड़ी आमदनी है (Parsimony itself is a great income) आशा है कि भारत सरकार भी अपनी आर्थिक नीतिमें इस सिद्धान्तका अनुसरण करेगी।

**दामोदर प्रसादमिश्र।**

# सामयिक संग्रह ।

## *एशियाका भावी युद्ध ।*

जापानको इस तेजीके साथ संसारके राजनीतिक तथा व्यापारिक क्षेत्रमें आगे बढ़ते देखकर तथा उसे अपनी रणसामग्री बढ़ानेमें इस प्रकार व्यग्र पाकर बड़े बड़े राजनीतिज्ञोंको उससे अशान्तिकी आशंका होने लगी है। अमेरिकाके अनेक लोगोंका ख्याल है कि निकट भविष्यमें अमेरिका और जापानका युद्ध अवश्यम्भावी है। इस विषयपर ६ नवम्बरके "नेशन" नामक पत्रमें "शैल वी बी मैड" (क्या हम लोग 'पागल' हो जायँगे ?) शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है। प्रारंभिक चर्चाके बाद लेखक महाशय कहते हैं—

**"क्या हमने गत युद्धसे ...कुछ भी शिक्षा ग्रहण नहीं की ? एक आँख वाला मनुष्य भी यह देख सकता है कि आज समस्त एशिया उद्दीपक सामग्रीसे परिपूर्ण है। सफेद और पीले रंगकी जातियोंके संघर्षसे एक भी चिनगारी उत्पन्न होने दो, फिर देखो हम उससे उत्पन्न अग्निकाण्डके विस्तारको अथवा उसके परिणामोंको कहां तक रोक सकते हैं। ...क्या एशियाखण्डका कोई भी भाग इतना उत्तप्त नहीं है कि वहाँ आग भभक उठे ? यदि चीनका भरोसा हो तो आगामी दशाब्दकी परिस्थितिका विचार करते ही पश्चिमी राष्ट्रोंको मालूम हो जायगा कि हम श्वेतवर्णकी जातियोंके साथ चीनकी मैत्रीमें अत्यधिक विश्वास नहीं कर सकते। जापानके बुद्धिमान् नेताओंको अब यह बात सूझने लगी है कि जिस चीनकी सहायतासे हम एशियामें अदमनीय बन सकते हैं, उसेही आसन्नकर हमने बड़ी भूल की है। ...जरासी समझदारीका यह परिणाम हो सकता है कि जापानका रुख बदल जाय और उसका हित चीनके हितका विरोधी न होकर परस्परावलम्बी हो जाय। कुछ भी हो...यदि युद्ध हुआ तो उसका धड़ाका वज्रपातकी नाईं होगा, जिसकी तुलनामें गत यूरोपीय युद्धकी आवाज भी सुपारीके टपकनेकी तरह मालूम होगी।"**

इस परिस्थितिके लिये पश्चिमी देशोंको भी उत्तरदायी समझते हुए लेखक महाशय कहते हैं।

**"किन्तु जहाँ एक ओर थोड़ेसे उन्मत्त जापानी इस प्रकारकी (साम्राज्य-विस्तारकी)** बातें ही करते रहे हैं, **वहाँ श्वेतवर्णके लोग (स्पष्ट-**

रूपसे ) ऐसे कार्य करते रहे हैं, यहाँ तक कि आज संसारकी नव-दशमांश जनतापर उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभुत्व है, यद्यपि स्वयं उनकी संख्या एक तिहाईसे भी कम है। संवत् १९३७से १९४७ ( सन् १८८० से १८९० ) तक, दश वर्षोंके भीतर ही, यूरोपीय देशोंने अफ्रिकाकी ५० लाख वर्ग मील भूमि दबा ली। अब तो अबासीनिया और लाइवेरियाको छोड़कर, सारे महाद्वीपपर उन्हींकी सत्ता है। एशियामें भी केवल जापान ही एक ऐसा देश है जिसे गोरे चमड़ेके प्रभुत्वका अनुभव नहीं हुआ है। भारतवर्ष' ब्रह्मदेश, तिब्बत, मलय राज्य, सुमात्रेकी बस्तियाँ, फिलिपाइन द्वीपपुञ्ज, एवं अब राष्ट्र-संघके आदेश पत्रोंके अनुसार ईराक ( मैसोपोटामिया ) इत्यादि विस्तृत क्षेत्रोंपर भी यूरोपियनोंका कब्जा है। रहा चीन, सो ब्रिटेनने संवत् १८९६ में अफीमके व्यापारका बोझ जबरदस्ती उसके सिर लादनेके लिये युद्ध किया ही था। उसने हांग-कांग नगरपर अधिकार जमालिया, पाँच "ट्रीटीपोर्ट" ( संधिद्वारा प्राप्तबन्दर )* भी देनेके लिये चीनको बाध्य किया और उसने अपना विशेष प्रभावक्षेत्र भी कायम किया। संवत् १९४० ( सन् १८८३ ) में फ्रांसने उसपर आक्रमण किया और टांगकिंग तथा अनाम छीन लिये। संवत् १९५४ में रूसने क्रियोतुंग, जर्मनीने शानतुंग और ब्रिटेनने वई-हाई-वई पर आधिपत्य जमा लिया। ... प्रशान्त महासागरके प्रश्नका भेद सिर्फ इतना ही है कि श्वेतकाय मनुष्योंको सारा संसार हड़पते देखकर नव-वृद्धि-प्राप्त जापान क्रुद्ध हो गया है। वह अपने अस्तित्वके लिये पूर्वीय एशियाका प्रभुत्व अनिवार्य रूपसे आवश्यक समझता है।......आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करनेकी एवं पूर्वीय एशियाके व्यापारसे तथा आमदनीके अन्य उपायोंसे लाभ उठानेकी इच्छा ही प्रशान्त महासागरके विवादोंका मूलकारण है।"

इसके बाद लेखकने जापानकी सैनिक नीतिपर भी प्रकाश डाला है। उसका कहना है कि

"जापान आज सारी पृथ्वीपर सबसे अधिक स्वेच्छाचारी

* "ट्रीटी पोर्ट" चीन देशके वे प्रसिद्ध प्रसिद्ध बन्दरस्थान हैं जो आजकल विदेशियोंके हाथमें हैं। यहांपर उन लोगोंने अपनी सेना भी ला रखी है और अपनी निजकी रेल भी बना ली है। व्यापारिक चालोंसे खूब सम्पत्ति इकट्ठीकर वे निर्भीक होकर वहां आनन्द कर रहे हैं। इन केन्द्र-स्थलोंसे विदेशी शक्तियोंके गुप्त-स्रोत चारों ओर फैल रहे हैं।—सम्पादक।

सैनिक राज्य है। प्रबल राष्ट्रोंमें सैनिक संगठन और सैनिक शासन-का जो स्वरूप अब भी शेष रह गया है, जापान [illegible] आदर्श है।... जल-सेना-नायक और थल-सेना-नायकके बिना वहाँ कोई मन्त्रि-मण्डल नहीं बनाया जा सकता। जापानकी लोकसभा (पार्लमेण्ट) कमसे कम अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंमें, (स्कूल और कालेजोंकी) विवाद सभाकी नाईं ही है। वह साम्राज्यकी विदेशी नीतिका समुचित नियंत्रण नहीं कर सकती।...आज यदि कोई देश जापानमें प्रवेश करनेसे डरता है तो इसका कारण यह है कि उसने पश्चिमी देशोंके सैनिक-वादका अनुकरण करनेमें बड़ी फुर्ती की है। थल सेनाकी नकल उसने जर्मनीसे की और जल सेनाका आदर्श ब्रिटेनसे लिया।"

* *

*

## दूरस्थ केन्द्रोंसे युद्ध।

जापानकी नीतिसे अमेरिका इस समय सशंक हो रहा है। बहुतोंका तो ख्याल है कि यदि वाशिंगटन सम्मेलनमें प्रशान्तमहासागरका प्रश्न भली भांति हल न किया गया * तो अमेरिका और जापानमें शीघ्रही युद्ध होनेकी संभावना है। किन्तु इस प्रकार दूरस्थ देशोंके युद्ध छिड़नेमें जो कठिनाइयां होती हैं उनपर विचार करनेसे यही विश्वास होता है कि अमेरिका अपनेको यथा संभव इस ओर प्रवृत्त होनेसे रोकता रहेगा। कठिन मनो-मालिन्य रहते हुए भी एवं स्वार्थपर आघात होते देखकर भी ऐसी परिस्थितिमें बहुत समझ-बूझकर काम करना पड़ता है।

जापान पूर्वमें अपना प्रभुत्व बढ़ाना चाहता है। उसे अमेरिकासे युद्ध ठाननेका कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। अतः वह युद्धकी घोषणा हो जानेपर भी अपने घरमें ही बैठा रह सकता है। आस पासके दोचार टापुओंपर अधिकार करने तथा युद्धके लिये सम्यक् रूपसे तैयार रहनेके अतिरिक्त वह कुछ न करेगा। ऐसी हालतमें क्या होगा? इसका विचार श्री मार्क केरने सितम्बर मासके "नाइन्टीन्थ सेन्चुरी एण्ड आफ्टर" में किया है। वे कहते हैं :

* जिस समय ये शब्द लिखे जा रहे थे, उसी समय समाचार मिले कि वाशिंगटन सम्मेलनमें यह निश्चय हुआ है कि अंग्रेज-जापानी संधि तोड़ दी जाय और, उसके स्थान में इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका और जापान, इन चार देशोंकी संधि स्वीकृत की जाय। इस चौकड़ीके कारण कुछ समयके लिये तो अवश्य ही युद्धकी संभावना दूर हो गयी है, किन्तु जब तक मनमुटाव बिलकुल दूर न हो जाय एवं जब तक रणसामग्री घटानेका वास्तविक प्रयत्न न हो तब तक चिर-शान्तिकी आशा दुराशा मात्र है।—सम्पादक।

क्या युद्ध चाहने वाला देश अपना जहाजी बेड़ा ढाई तीन हजार मील समुद्रके उसपार शत्रुदेशके समीप इस आशापर भेज देगा कि शत्रु का बेड़ा मिले तो नष्ट कर दिया जाय। क्षणभरके लिये मान लो कि वह ऐसा ही करेगा। शत्रुके किनारेके पास पहुंचते ही वह क्या देखेगा? शत्रु जल-युद्धमें भाग लेना नहीं चाहता, क्योंकि ऐसा करनेसे उसे कोई विशेष लाभ नहीं। इसलिये उसका जहाजी बेड़ा युद्ध करनेके निमित्त बाहर ही न निकलेगा। किन्तु उसकी जलाभ्यान्तर-वाही [ सब मैरीन ] नौकाओं तथा युद्धपोतोंका बेड़ा अवश्य दिन रात चक्कर लगाया करेगा। ये नौकाएं घूम घूमकर दूरसे आये हुए अपने शत्रुके बेड़ेका पता लेती रहेंगी और बेतारके तार द्वारा अपने केन्द्र स्थानमें उसके आने जाने तथा स्थितिकी खबर भी भेजती रहेंगी। दिनमें शत्रुकी जलान्तरवाही नौकाएँ बाहरसे आये हुए एवं युद्धके लिये समुत्सुक बेड़ेपर आक्रमण करती रहेंगी और उसके इञ्जनों को निरन्तर काममें लगाये रखेंगी। इस प्रकार लगातार कई दिनोंतक भाफ तैयार होती रहेगी। फल यह होगा कि लकड़ी और कोयलेकी कमी होने लगेगी। बेड़ेके साथ इतना लकड़ी-कोयला सदा मौजूद रहना चाहिये कि यदि धोकेसे शत्रुका बेड़ा बाहर निकलकर युद्ध करना आरंभ करदे तो उसके साथ पूरी लड़ाई लड़ सके और तीन हजार मील अपने केन्द्रको सकुशल वापस लौट भी सके। रात्रि होतेही विनाशक नौकाओं का आक्रमण होने लगेगा। रातभर यही हालत रहेगी। इतनेमें अचानक बिगुलकी आवाज सबको चौंकायेगी, क्योंकि इसके पूर्व कई घण्टोंसे कुछ नजर ही नहीं आरहा था और दिन भी निर्मल और प्रकाशमान था। क्षण भरकेबाद बेड़ेके ऊपर करीब दस हजार फुटकी दूरीपर हवाई जहाजोंका दल नजर आता है। वह आकाशसे गोले बरसाकर नीचेके जहाजी बेड़ेके चारों ओर धुएँका आवरण फैला देता है। इसके बाद कुछ ही सेकण्डमें २१ इंच चौड़े मुंहवाले विनाशक यंत्रोंको लेकर दूसरे हवाई जहाज बेड़ेके दोनोंओरसे पहुंचते हैं। इन्हें बेड़ेके मस्तूल-शिखर धूम्र-पटलके ऊपरसे दिखजाते हैं, पर ये स्वयं अपने शत्रुओंको नहीं देख पड़ते। धुएँके आवरणके पास पहुंचते ही वे नीचे करीब ३०० फुटकी उँचाईपर उतर आवेंगे और फिर बेड़ेको लक्ष्यकर गोलोंकी वर्षा आरंभ कर देंगे। इस प्रकार अपनेको सकुशल रखते हुए यह काम किया जाता है और इसमें सफलता भी निश्चित रहती है।

इस प्रकारके आक्रमणसे अपनी रक्षा करनेके निमित्त उक्त जहाजी बेड़ेके लिये केवल एकही उपाय है। उसे भी अपनी रक्षा आकाशगामी वायुयानों द्वारा करनी होगी।

तात्पर्य यह है कि उसे अपने साथ साथ हवाई जहाजोंका झुण्ड भी रखना होगा जो सदा उसके चारों ओर मंडराते रहें। न जाने कब शत्रुके हवाई जहाज आक्रमण कर बैठें। इस प्रकार अपने केन्द्रोंको छोड़कर दो तीन हजार मील समुद्र पारकर, शत्रुपर आक्रमण करनेमें अनेक कठिनाइयां हैं। यदि गोला लगने से या अन्य किसी कारणसे कोई लड़ाऊ जहाज क्षत-विक्षत हो जाय तो उसे साथमें रखना भी जोखिमका काम है। यदि उसे वापस भेजना चाहें तो भी रक्षाके लिये उसके साथ कुछ विनाशक नौकाएँ भेजनी चाहिये, ऐसा करनेसे प्रधान जहाजी बेड़ेकी रक्षाका प्रबन्ध घटाना पड़ेगा। फिर वापस जाते समय भी उक्त जहाज निर्विघ्न तो जा न सकेगा। कमसे कम एक दो दिन तक शत्रु उसका पीछा कर सकता है। न जाने किस समय और किस स्थानपर समुद्रके भीतरसे शत्रु की कोई जलान्तरवाही नौका निकल पड़े या आकाशसे ही कोई जहाज वार कर बैठे। इन सब बातोंका विचारकर लेखकने यह प्रतिपादन किया है कि युद्ध केन्द्रोंमें अधिक दूरी होनेपर लड़ाऊ जहाज प्रायः किसी कामके नहीं रह जाते। अतः लड़ाऊ जहाजों का इतनी अधिक संख्यामें बनाया जाना सरासर मूर्खता है। लड़ाऊ जहाज सिर्फ उस समय उपयोगी हो सकते हैं जिस समय युद्ध किसी पासवाले देशके साथ हो। लेखककी धारणा है कि इस समय यूरोपकी किसी भी घटनाका सामना करनेके लिये ब्रिटेनके पास काफी लड़ाऊ जहाज हैं दूरके युद्धोंके लिये तो अन्तर्वाही नौकाएँ, युद्ध पोत तथा विनाशक नौकाओंका बेड़ाही अधिक उपयोगी है और सौभाग्यसे इसके बनानेमें भी लड़ाऊ जहाजोंकी अपेक्षा कम खर्च पड़ता है।
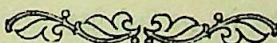
# पुस्तकावलोकन।

## देशबन्धु चित्तरञ्जनदास।

यह पुस्तक इन्दौरके हिन्दी-साहित्य-मन्दिरसे प्रकाशित हिन्दी नवयुगग्रन्थमालाका १४वां ग्रन्थ है। इसके लेखक हैं बाबू सम्पूर्णानन्दजी बी. एससी. एल. टी.।

यह उस महापुरुषका जीवनचरित्र है जो इस समय सत्य और न्यायके अनुरोधसे एवं देशकी राष्ट्रीय महासभाका अनुशासन मानकर अनाचारका विरोध करनेके कारण बंगालकी सरकार द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया है। इस महावीरमें देश-भक्ति और स्वातन्त्र्य-प्रेम आरम्भसे ही दृष्टि-गोचर होने लगा था। जिस समय श्रीयुत चित्तरंजन जी सिविल सर्विस-की परीक्षा पास करनेके लिये विलायत गये हुए थे उस समय एक अंग्रेजने अपने भाषण-में हिन्दू-मुसलमानोंको गुलामोंकी सन्तान कहा था। यह बात सत्य होते हुए भी देशाभिमान-पर आघात करनेवाली होनेके कारण आपको सहन न हुई। एग्ज़ेटर हालकी सभामें आपने उक्त सज्जनके वाक्योंकी बड़ी तीव्र आलोचना की। फल यह हुआ कि उन महाशयको अपने भाषणके निमित्त माफी ही न मांगनी पड़ी, प्रत्युत पार्लमेण्टका सदस्य-पद भी छोड़ देना पड़ा। इनके जातीय अभिमानका एक और अच्छा उदाहरण पृष्ठ ३८-३९ में दिया हुआ है। दानशीलता तो मानो इनकी पैतृक सम्पत्ति थी। इनके दादा श्री जगद्बन्धुदास तथा इनके पिता श्री भुवनमोहनदास और इनके काका श्री दुर्गामोहनदास, सभी बड़े अतिथि-परायण एवं परोपकारी थे। ऐसे कुलमें उत्पन्न होकर श्री चित्तरञ्जनका दानशील एवं मानव-दुःख-कातर होना स्वाभाविक ही है। पुरुलियाके अनाथालयको दो हज़ार रुपये मासिक सहायता इनकी ओरसे मिलती थी। नवद्वीपके नित्यानन्द आश्रमको इन्होंने दो लाख रुपयोंका गुप्तदान दिया था। पूर्व बंगालके दुष्कालमें इन्होंने दस हजार रुपये पीड़ितोंके सहायतार्थ दिये थे और दूसरोंके पास जाकर रुपया एकत्र करनेके निमित्त शारीरिक परिश्रम भी उठाया था। इन्हीं सब बातोंके कारण ये बड़े लोक-प्रिय हो गये। "अलीपुर बमके अभियोग" में श्री अरविन्दघोष इत्यादिकी पैरवी करनेके बाद तो इनकी ख्याति और भी बढ़ गयी, अब इनकी आर्थिक दशा भी अच्छी हो गयी और ये राजनीतिक बातोंमें भी विशेष भाग लेने लगे। जिस समय देशमें वर्तमान आन्दोलन आरम्भ हुआ उस समय इन्होंने भी उसमें सहर्ष योग दिया। उनके अनुकरणीय आत्म-त्याग, सच्ची देशभक्ति, एवं अनवरत परिश्रमके कारण ही सारे देशने एक स्वरसे उन्हें इस वर्ष अपनी राष्ट्रीय सभाका सभापति चुना था। ऐसे देश-प्रिय नेताको भी "शान्ति और व्यवस्था" की रक्षाके लिये गिरफ्तार करनेमें सरकारने अपना गौरव समझा! भारतमें इतना पतित मनुष्य कौन होगा, जिसे इनका जीवन चरित्र पढ़कर आनन्द न हो? पुस्तककी भाषा भी

समझने योग्य और लेखन-शैली मनोरंजक है। हमारे ख्यालसे पृष्ठ ४६ का उत्तरार्द्ध तथा पृष्ठ ४७ का पूर्वार्द्ध, उसी प्रकार पृष्ठ ५० से ५३ तकका अंश इतना आवश्यक न होनेके कारण बहुत संक्षेपमें देना चाहिये था। आठवें परिच्छेदके अधिकांशके विषयमें भी हमारी यही सम्मति है। अन्य सब बातोंके लिहाजसे पुस्तक बहुत अच्छी है। सस्ती भी है। परिशिष्टमें दासजीके दो चार व्याख्यानोंका सारांश भी दे दिया है। परिशिष्ट कुछ और बड़ा होता तो अच्छा था, फिर भी वह काफी उपयोगी है। पुस्तक आठ आनेमें मिलती है।

## रुपया पैसा, धन।

इसे हम पुस्तक न कहकर एक छोटा सा निबन्ध कह सकते हैं। इसके लेखक हैं अध्यापक बालकृष्ण पति वाजपेयी एम० ए०। यद्यपि हम लेखक महोदयके इस कथनसे सहमत है कि "गरीब भारतवासी रुपया आठ आनेकी पुस्तकें बहुत कम खरीद सकते हैं" तो भी हमारी तुच्छ मतिमें इसप्रकारके महत्त्व पूर्ण विषयोंको दस बारह पृष्ठोंकी छोटी सी पुस्तिकाके रूपमें केवल कम मूल्यके ख्यालसे, प्रकाशित करना ठीक मालूम नहीं होता है। इतनी थोड़ी जगहमें तो विषयका दिग्दर्शन मात्र कराना भी कठिन हो जाता है। प्रस्तुत पुस्तिकामें सारा विषय इतने संक्षेपमें समझाया गया है कि कई स्थानोंमें लेखकका तात्पर्य ही ठीक ठीक रूपसे समझमें नही आता। हाँ यदि एक विषयको अनेक भागोंमें विभक्तकर, प्रत्येक भागका वर्णन स्वतंत्र निबन्धमें किया जाय तोभी ठीक है, किन्तु इस बातका सदा ध्यान रक्खा जाय कि जो कुछ हम लिख रहे हैं, उसका मतलब काफ़ी सरल और स्पष्ट है या नहीं। यह पुस्तक श्री बालकृष्ण पतिं वाजपेयी एम० ए०, जनक गंज लश्कर ग्वालियरके पतेसे पत्र लिखनेपर मिल सकेगी।

नीचे लिखी पुस्तकें भी मिल गयीं। भेजने वालोंको धन्यवाद।

१—बच्चोंकी रक्षा, हिन्दी पुस्तक एजन्सी, १२६ हरिसनरोड, कलकत्ता।

२—जीवनोद्देश<br>
३—हिन्दी विद्यार्थी<br>
४—स्तोत्र त्रिवर्ग } प्रेषक श्री बालकृष्ण पति वाजपेयी, एम० ए०

[ जिन पुस्तकोंका विषय "स्वार्थ" के उद्देशोंके अनुकूल न हो, उनपर प्रायः सम्मति नहीं दी जाती। ]

# सम्पादकीय ।

## अंग्रेज-अफ़गान-संधि ।

गत ६ मार्गशीर्ष ( २२ नवम्बर ) को ब्रिटिश सरकार और अफ़गान सरकारमें सन्धि हो गयी। सन्धिकी शर्तें दोनोंके लिये सम्मानास्पद हैं। यद्यपि संवत् १६७८ के पहिले भी अफ़गानिस्तान स्वाधीन देश था, तो भी ब्रिटिश सरकारने उसकी यह स्वाधीनता अभीतक स्पष्ट रूपसे स्वीकृत न की थी। यों तो गत चालीस वर्षोंसे भारत सरकार और अफ़गानके शासकोंमें बाह्य मैत्री-भाव रहता आया है, पर वर्तमान सन्धिके पूर्व वह मैत्री समान शक्तियोंकी मैत्री नहीं कही जा सकती थी। अब नूतन सन्धिमें इंग्लिस्तानने अफ़गानिस्तानकी स्वाधीनता स्पष्ट शब्दोंमें मान ली है। ब्रिटिश सरकारके पहिले रूस, ईरान तथा रूमकी राष्ट्रीय सरकारसे अलग अलग सन्धियों द्वारा अफ़गानिस्तान अपनी स्वतंत्रता क़बूल करा चुका था। संभव है, किसी अंशमें इस बातने भी ब्रिटिश सरकारको अफ़गानोंकी स्वाधीनता मान लेनेके लिये विवश किया हो। अस्तु।

अभी तक जो समझौता या किसी प्रकारकी बात चीत हुआ करती थी, वह भारत सरकार और अफ़गानिस्तानके तत्कालीन शासकके बीच हुआ करती थी। किन्तु वर्त्तमान सन्धिमें यह बात नहीं है। वह परावलम्बी भारत सरकारके स्थानमें स्वाधीन ब्रिटिश सरकार और स्वेच्छाचारी, निरंकुश अफ़गान शासकके बदले अफ़गान सरकारके मध्यमें हुई है। इससे स्पष्ट है कि अब सचमुचमें अफ़गानिस्तानके साथ पूर्ण स्वाधीन देशोंकी नाईं वर्त्ताव किया जायगा। अफ़गान सरकारका राज दूत अब भारतमें न रहकर ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी लण्डन नगरमें रहा करेगा। उसी प्रकार अफ़गान सरकारके दरबारमें भारतका ही नहीं, ब्रिटिश सरकारका राजदूत रहा करेगा अर्थात् अब ग्रेट ब्रिटेनके साथ अफ़गान सरकारका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहेगा।

इस सन्धिके अनुसार ब्रिटिश सरकार कन्दहार और जलालाबादमें तथा अफ़गान सरकार दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई और करांचीमें अपने व्यापार-दूत रख सकेगी। इसके अतिरिक्त अफ़गानिस्तानके लिये कई व्यापारिक सुविधाएं भी कर दी गयी हैं। अफ़गान सरकारकी भलाईके लिये जो चीजें बाहरसे मँगायी जायँगी, ब्रिटिश बन्दरोंमें उनके सम्बन्धमें रोक टोक न की जायगी। उसी प्रकार ब्रिटिश सरकारको जिस मालकी आवश्यकता हो, वह सब अफ़गान सरकारकी अनुमतिसे खरीदा जाकर भारतको भेजा जा सकेगा। शस्त्रास्त्रोंके सम्बन्धमें भी तबतक रोक टोक न की जायगी, जबतक अफ़गान सरकारका उद्देश्य मित्रतापूर्ण प्रतीत होगा। इसके अतिरिक्त अफ़गान सरकारके लिये जो

## सम्पादकीय

माल ब्रिटिश भारतके बन्दरोंमें आवेगा और जो शीघ्र अफगानिस्तान जानेवाला होगा, उसपर, दो तीन मामूली शर्त्तोंके अनुसार काम करनेपर, किसी भी प्रकारका आगत-कर न लिया जायगा। अफगानिस्तानसे भारतमें आनेवाले मालपर भी अभी किसी प्रकारका कर लगानेका इरादा नहीं है। यदि भविष्यमें ब्रिटिश सरकार आसपासके देशोंसे भारतमें आनेवाले मालपर कर बैठाना उचित समझे तो उस समय अफगानिस्तानसे आनेवाले मालपर भी कर लगाया जायगा, पर वह अन्य पड़ोसी देशोंकी अपेक्षा अधिक न होगा। इसके अतिरिक्त पेशावर, क्वेटा, और पराचिनारमें अफगान सरकार अपनी व्यापारिक एजन्सियां भी खोल सकेगी इतना जरूर है कि इन्हें ब्रिटिश सरकारके कानून मानने पड़ेंगे।

ऊपर हमने जिन मुख्य मुख्य शर्तोंका संक्षिप्त उल्लेख किया है उनसे प्रकट है कि वर्त्तमान सन्धिसे अफगानिस्तानका लाभ ही होगा। संसारके राजनीतिक क्षेत्रमें उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। व्यापारिक वस्तुओंके गमनागमनकी विशेष सुविधाओंके कारण उसकी आर्थिक दशामें भी विशेष उन्नति होनेकी सम्भावना है। अफगानिस्तानको अपनी भौगोलिक स्थितिके कारण, व्यापारिक मार्गोंके निमित्त अपने पड़ोसियोंका मुंह ताकना पड़ता है। चारों ओर पहाड़ोंसे घिरे रहनेके कारण उसके लिये समुद्रका सम्पर्क प्राप्त करना बहुत कठिन है। ऐसी स्थितिमें उसके विदेशी व्यापारकी उन्नति हो तो कैसे हो। इन सब बातोंका विचार करनेसे मालूम होता है कि वर्त्तमान सन्धिकी शर्त्तों से अफगानिस्तान अवश्य खूब लाभ उठा सकेगा। अभी इसकी अवधि तीन वर्षकी ही रक्खी गयी है, किन्तु सम्भव है तीन वर्षके बाद यदि पारस्परिक स्वार्थमें बाधा न हुई तो वह फिर बढ़ा दी जाय।

उक्त संधिसे ब्रिटिश सरकारको भी लाभ छोड़ हानि न होगी। रूसके षड्यन्त्रोंका जो भय उसे निरन्तर लगा रहता था वह अब प्रायः दूर हो जायगा, क्योंकि अब जलालाबाद, गजनी तथा कन्दहार प्रान्तोंमें रूसके व्यापार-दूत न रह सकेंगे। ब्रिटिश सरकारको इस शर्तके स्वीकृत हो जानेसे यह तसल्ली तो हो गयी कि काबुलमें अब रूसकी बोलशेविक सरकारका प्रभाव काफी ज़ोरदार नहीं रह गया है। इतनी बातसे ही उसे जितनी शांति प्राप्त होगी, वही क्या कुछ कम मूल्यवती है?

* *
*

### दमनका शासन।

भारतके राजनीतिक मञ्चपर अब जो नया नाटक खेला जा रहा है उसके सूत्रधार "न्याय-मूर्त्ति" लार्ड रेडिंगको इस प्रकार अपना रूप बदलते देखकर आश्चर्य होता है। स्टेजपर पदार्पण करनेके पूर्व नेपथ्यमें, एवं दर्शकमण्डलीके सामने उपस्थित होते समय भी उन्होंने अपना जो सौम्य स्वरूप दिखलाया था, वह देखते देखते ही इतना उग्र हो जायगा, ऐसा उस समयकी उनकी भाव-भंगीसे प्रतीत नहीं होता था।

सात समुद्रोंके उस पारसे वर्त्तमान वाइसराय महोदयने जिस "न्याय-शासन"की घोषणा की थी, एवं भारतमें प्रवेश करते ही जिसका समर्थन उन्होंने कई वार किया था, उसी न्याय-शासनकी घोषणाको दमन-शासनके कार्यमें एकाएक परिणत होते देखकर "बुद्धिमानोंकी" भी बुद्धि चकरा गयी है। संभव है इसपर यह कहा जाय कि इसमें लार्ड रेडिंगका कोई दोष नहीं, प्रत्युत देखनेवालोंका है। वे अब भी "न्याय-शासन" ही कर रहे हैं, दमन-शासन नहीं। यदि सचमुचमें बात ऐसी है तो हमें उस अजीब "न्याय-शासन"को देखकर आश्चर्य होता है जो, नटके खेलकी नाईं, कर्त्ता तथा उसके साथियोंको जैसा देख पड़ता है वैसा साधारण दर्शकोंको नहीं देख पड़ता।

वाइसराय तथा अन्य अधिकारी अपनी वर्त्तमान नीतिको 'दमन-नीति' नहीं कहते। वे उसे "कानून और अमन" (ला एण्ड आर्डर) की रक्षा कहते हैं। हम यह मानते हैं कि १७ नवम्बरको बम्बईमें कुछ झगड़ा अवश्य हो गया था। किन्तु वर्त्तमान आन्दोलनका प्रसार सिर्फ बम्बई शहरमें तो है ही नहीं, प्रत्युत सारे देशमें है। फिर स्थान-विशेषकी किसी असाधारण घटनाके कारण सारे देशमें व्यवस्था और शान्तिकी रक्षाके पीछे मतवाला हो जाना कहां तक न्याय्य हो सकता है? किन्तु जहां तक हम समझते हैं अधिकारियोंकी भाषामें तो इस समय न्याय और अन्यायका कोई अर्थ ही नहीं रह गया है। वे तो समयोचित (एक्सपीडिएण्ट) और असमयोचित (इन-एक्स पीडिएण्ट) की ओर ही ध्यान दे रहे हैं। पर जिसे वे समयोचित समझ रहे हैं, वह भी समयोचित है या नहीं इसमें सन्देह है।

बंगालकी व्यवस्थापक सभामें भाषण करते समय सैनिकों और पुलिसवालोंकी ज्यादतियोंका जिक्र करते हुए गवर्नर श्री लार्ड रोनाल्डशेने कहा था कि ऐसे दलोंमें कुछ न कुछ बदमाश आ ही जाते हैं। उनके कारण सरकार या उसके सभी कर्मचारी उन ज्यादतियोंके लिये उत्तरदायी नहीं समझे जासकते। क्या हम लार्ड महोदयसे पूछ सकते हैं कि वे असहयोगियोंके सम्बन्धमें भी यह तर्क क्यों नहीं लगाते? उनके बीचमें भी कई हुल्लड़बाज और बदमाश घुस आते हैं। फिर आप इनके कारण समस्त आन्दोलनको ही क्यों दूषित ठहराते हैं? जो स्वयंसेवक या अन्य मनुष्य वास्तवमें उपद्रव करते हुए या लोगोंको धमकाते हुए या उनपर जबरदस्ती करते हुए पाये जायँ, उन्हें ही आप सजा क्यों नहीं देते? कांग्रेस या खिलाफतके सारे स्वयंसेवक दलको ही अवैध क्यों ठहराते हैं?

इस सम्बन्धमें हम विशेष कुछ नहीं लिखना चाहते। आज जो परिस्थिति देशमें उपस्थित हो गयी है. उसकी ओर बड़े बड़े प्रभावशाली सज्जनों तथा अनेक समाचार पत्रोंके सुयोग्य सम्पादकोंने सरकारका ध्यान आकर्षित किया है। पर सरकार-को तो अपनी ही धुन सवार है. वह देश-वासियोंकी पुकार कैसे सुन सकती है।

वर्त्तमान नीतिसे असहयोग आन्दोलनका प्रभाव कम न होकर, दूना बढ़ेगा। उसके लक्षण हम अपनी आँखोंसे रोज़ ही देख रहे हैं। दमनकी भी कोई सीमा होती है।

दमनसे किसी भी देश में स्थायी सफलता नहीं हुई । जिस समय शांति रक्षाके नामसे लोगों-के प्रारम्भिक अधिकारोंपर कुठाराघात होने लगता है, उस समय अधिकसे अधिक धैर्यवान मनुष्यका हृदय डोल उठता है और उसकी न्याय-प्रवृत्ति प्रबलरूपसे उत्तेजित हो उठती है। यही कारण है कि कानून और अमनकी रक्षाके नामपर सरकारको इस प्रकारकी अन्धाधुन्धी करते देखकर उसके दृढ़ समर्थक और नरम विचारोंके प्रतिपादक सज्जनों तकमें खलबली पैदा हो गयी है। लाला लाजपतरायजीकी गिरफ्तारीका ज़िक्र करते हुए "लीडर"को विवश होकर यह लिखना पड़ा था "क्या कांग्रेस कमेटियोंकी असार्वजनिक बैठकें भी इसी प्रकार बन्द करायी जायंगी ? क्या सरकारने कांग्रेसके संपूर्ण संघटनको ही नष्ट कर डालने-का निश्चय कर लिया है ? अगर सचमुच ऐसा ही है तो सरकार इस बातको खोलकर कह दे । तभी सार्वजनिक घटनापर मत प्रकाशित करनेवालोंको अपनी यथार्थ स्थिति मालूम होगी । क्या यह दमननीति अंधाधुंध बर्ती जायगी और क्या सरकार तब तक सख्तीके ऊपर सख्ती और जब्रके ऊपर जब्र करती जायगी जब तक उसके विरोधी हारकर हथियार न डाल दें अथवा उसका अंधाधुंध प्रयोग करते करते उसकी दमन शक्तिका दिवाला न निकल जाय और 'अपने अनाचारोंके कारण वह इतनी अधःपतित हो जाय कि उसके विवेकशील सहायकोंका उसके साथ रहना असम्भव हो जाय ।"

* *

*

## *आयर्लैंण्डका समझौता*

जो आयर्लैंड गत सौ डेढ़ सौ वर्षोंसे अनेक प्रकारके अत्याचारों और ज्यादतियों के भारे पिसा जा रहा था, वही पद-दलित, चिर-पीड़ित आयर्लैण्ड अब अपने अनवरत प्रयत्न और कठिन संग्रामके कारण स्वतन्त्रताकी उपासना में सफल हुआ चाहता है। इंग्लैण्डके प्रधान सचिव और आयर्लैण्डके प्रतिनिधियोंमें जो समझौता हुआ है, उससे आशा हो रही है कि अब इस देशको अपनी शासन-व्यवस्थाके सपूर्ण नहीं, तो भी भी बहुत कुछ अधिकार प्राप्त हो जायंगे। अब यह देश "आयरिश फ्री स्टेट" ( अर्थात् आयर्लैण्ड का स्वतन्त्र राष्ट्र ) कहलायगा । किंतु यहांपर "स्वतन्त्र" शब्द अपने पूर्ण अर्थमें व्यवहृत नहीं किया गया है। वह संभवतः स्वाधीनता चाहनेवाली आयरिश जनताकी भावुकताको शान्त करनेके लिये ही रख दिया गया है । वास्तवमें आयर्लैंड अब भी इंग्लैण्डके राजाके अधीन समझा जायगा । हाँ, उसे अपनी आन्तरिक व्यवस्थामें अब अनेक अधिकार प्राप्त हो जायँगे। इस संकुचित अर्थमें हम उसे 'स्वतंत्र राष्ट्र' कह सकते हैं ।

आयर्लैंडके "स्वतंत्र राष्ट्र"की लोक सभाके सदस्योंको जो राजभक्तिकी शपथ खानी पड़ेगी वह इस प्रकार है--मैं कानून द्वारा स्थापित आयर्लैंडके स्वतंत्र राष्ट्रकी शासन-व्यवस्थापके प्रति पवित्र भावसे सच्ची श्रद्धा और भक्तिकी शपथ खाता हूँ। मैं

आयर्लैंड और इंग्लैंडकी एक ही नागरिकताके विचारसे और आयर्लैण्डको ब्रिटिश स्वायत्त राष्ट्रों के मण्डल ( कामनवेल्थ ) का अनुगामी और सदस्य जानकर महामान्य सम्राट जार्जका तथा उनके न्याय्य उत्तराधिकारियोंका भक्त बना रहूँगा।" इस शपथकी शब्दावली देखनेसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि आयर्लैण्डको अब भी इंगलैंण्डके राजाके प्रति राज-भक्तिकी प्रतिज्ञा करनी होगी। पर इससे यह भी न समझना चाहिये कि वह अब भी पहिले जैसा पराधीन बना रहेगा। शपथकी भाषामें प्रथम स्थान "आयर्लैण्डके स्वतंत्र राष्ट्रकी शासनव्यवस्था" को ही दिया गया है। फिर इंगलैण्डके राजाके प्रति राजभक्तिकी शपथ खाते समय उन्हें प्रत्यक्ष रूपसे अपना अधिपति स्वीकार न कर, परोक्षरूपसे यह बात कही गयी है। उसमें आयर्लैण्डके नागरिकोंको वही पद दिया गया है जो इंग्लैण्डके नागरिकोंको प्राप्त है। आयरिश लोक-सभाका सदस्य अपनेको पराधीन देशका नागरिक समझकर उक्त शपथ न खायगा, प्रत्युत अपने देशको 'ब्रिटिश स्वायत्त राष्ट्रोंके मण्डलका *अनुगामी* और *सदस्य* जानकर ही ऐसा करेगा। अतः यद्यपि वर्त्तमान समझौतेसे आयरिश जनताका वह भाग पूर्णरूपसे सन्तुष्ट न हो सकेगा जो अपने देशको बिलकुल स्वतंत्र बनाना चाहता है, तो भी जो शर्तें निश्चित हुई हैं उन्हें संभवतः अधिकांश जनता मान लेगी। लार्ड बर्कनहेडके कथनानुसार आयर्लैण्डके प्रतिनिधियोंने स्वेच्छासे ही ब्रिटिश साम्राज्यमें रहना स्वीकार किया है, किसीकी जबरदस्ती से नहीं। ऐसी हालतमें उक्त समझौता आयर्लैण्डकी निर्बलताका द्योतक नहीं समझा जाना चाहिये और न वह आयर्लैण्डके आत्म--सम्मानके विरुद्ध ही है।

समझौतेकी सातवीं शर्तके अनुसार आयर्लैण्डको शान्तिके समय अब अपनी निजकी सेना रखनेका अधिकार भी होगा। छठवीं शर्त्तमें यह भी कहा गया है कि आयर्लैण्डका स्वतंत्र राज्य अपने समुद्री किनारेकी रक्षा जबतक अपने हाथमें न ले ले तब तक उसकी रक्षाका भार ब्रिटेनके जिम्मे रहेगा। पांच वर्षोंके बाद इस प्रश्नपर फिर विचार होगा। इस कारण आशा है बहुत शीघ्र ही आयर्लैण्डको यह अधिकार भी प्राप्त हो जायगा। दशवीं शर्तके अनुसार आयर्लैण्डको उन सिविल, कर्मचारियोंकी क्षति-पूर्ति करनी होगी जिन्हें नूतन शासन प्रणालीके कारण किसी प्रकारकी हानि हो। किन्तु इस शर्त्तमें भी एक बात विशेष उल्लेखनीय है। उन कान्स्टेबिलोंकी क्षति-पूर्त्तिका उत्तरदायित्व ब्रिटेन पर ही रहेगा जो अभी दो वर्ष पहिले ही भरती किये गये थे। तात्पर्य यह है कि आयर्लैण्डके राष्ट्रीय नेताओं तथा देश-प्रेमियोंको दबानेके लिये इंग्लैण्डने जिन सैनिकोंको भरती किया था उनके निमित्त आयर्लैण्डके कोषसे कुछ भी न मिलेगा। वह सारा खर्च इंग्लैण्डके ही जिम्मे रहेगा। अतः यह शर्त भी आयर्लैण्डके आत्म-सम्मानके अनुकूल है।

उक्त समझौतेकी पूर्ण सफलतामें केवल दो विघ्न दृष्टि-गोचर होते हैं—एक तो अल्सटर प्रान्तका समस्त आयर्लैण्डकी शासन-व्यवस्थासे अलग रहनेका आग्रह, और दूसरा आयरिश प्रजातन्त्रके अधिपति श्री डी वेलेराका विरोध। अल्सटर प्रान्तमें प्रोटेस्टेण्ट

सम्प्रदायके लोग रहते हैं, किन्तु शेष आयर्लैंगडमें रोमन कैथालिक सम्प्रदायके लोगोंकी ही प्रधानता है। इस धार्मिक मत-भेद तथा दो एक अन्य बातोंके कारण भी अल्सटर निवासियोंके राजनीतिक विचार, शेष आयरिश जनताके विचारोंसे सदा टकराते ही रहते हैं। उन्हें यह भय है कि यदि हम समस्त आयर्लैंगडकी लोक-सभाकी अधीनता स्वीकार कर लेंगे तो उसके अधिकांश प्रतिनिधियोंका एवं आयर्लैंगडके अधिकांश शासक-मण्डलका हमसे धार्मिक विरोध होनेके कारण, हमारे अधिकारों और हमारी मांगोंकी अवहेलनाही न की जायगी, प्रत्युत हमपर अत्याचार किये जानेकी भी संभावना है। ये लोग अपनेको आयर्लैंगडकी लोक-सभाके नहीं, प्रत्युत अपने सहधर्मी इंग्लैगडकी ही लोक-सभाके अधीन रखना चाहते हैं। यही कारण है कि समझौतेमें अल्सटरको यह अधिकार दिया गया है कि वह अखिल आयर्लैंगडकी पार्लमेण्टमें भाग लेना, इच्छा हो स्वीकार करे, न इच्छा हो न स्वीकार करे। इसका अन्तिम निर्णय करनेके लिये अल्सटर प्रान्तको एक मासकी अवधि दी गयी है। आयर्लैंगडका हित तो इसीमें है कि उसके सब प्रान्तोंमें ऐक्य रहे। समझौतेकी शर्तोंमें धार्मिक स्वतन्त्रताका स्पष्ट उल्लेख है। अतः धार्मिक मतभेदके कारण तो अल्सटरवालोंके साथ कोई अनीति होनेकी आशंका नहीं है। फिर भी यदि ये लोग अपनी हठ न छोड़ें तो नन्हेंसे आयर्लैंगडकी शासन-व्यवस्थामें दो टुकड़े हो जायंगे। यह बात देशके लिये कभी शुभावह नहीं कही जा सकती।

श्री डी वेलेराके विरोधका मुख्य कारण यह है कि वे आयर्लैंगडकी सम्पूर्ण स्वाधीनताके पक्षपाती हैं, समझौतेकी शर्तोंमें आयर्लैंगडको सिर्फ "औपनिवेशिक स्वराज्य" के ही अधिकार दिये जानेका उल्लेख है। यद्यपि यह बात सर्वमान्य है कि प्रत्येक देश को अपना शासन आपही करनेका नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है, एवं यदि कोई देश बिलकुल स्वतन्त्र रहना चाहे तो उसकी स्वतन्त्रतामें बाधा डालना कभी न्यायोचित नहीं समझा जा सकता, तो भी अल्सटर प्रान्तकी नादानीका ख्यालकर एवं हालकी खून-खराबीका स्मरणकर, हमारी सम्मतिमें उक्त शर्तोंको स्वीकार कर लेनेमें ही भलाई है। जब तक अल्सटर भी पूर्ण स्वाधीनताकी इच्छा न करने लगेगा, जब तक सारे देशमें ऐक्य स्थापित न हो जायगा, तब तक सफलताकी आशा बहुत कम है। उधर इंग्लैंडके प्रधान सचिव भी अपना आग्रह नहीं छोड़ते। ऐसी स्थितिमें यदि डी वेलेरा महोदयभी अपनी बातपर डटे रहें और देशकी राष्ट्रीय सभा "डेल आयरियन"को भी अपने अनुकूल बनानेमें समर्थ हो जायं तो स्थिति फिर बहुत नाजुक हो जायगी। जहां तक हम समझते हैं ब्रिटिश शासकोंका मन जितना झुक सकता था, उतना झुकाया जा चुका है। इस सीमासे अधिक झुकानेका प्रयत्न करने पर वह टूट जायगा और परिस्थिति फिर शोचनीय हो जायगी। यद्यपि न्याय यही कहता है कि परतन्त्र रहनेकी अपेक्षा देशको स्वतन्त्र बनाने के प्रयत्नमें मर मिटना अच्छा है, तो भी राजनीतिक दृष्टिसे यही उचित मालूम होता है कि सारी वस्तुके डूब जानेकी संभावना देखकर आधेकी ही रक्षा करनेमें प्रवृत्त होना चाहिये। हां, यदि उक्त समझौतेके द्वारा

जो अधिकार आयर्लैंगडको मिल रहे हैं वे भारतमें किये गये "नूतन सुधारों" की नाईं ही खोखले होते तो बातही दूसरी थी। वास्तवमें समझौतेकी शर्तें ऐसी निःसार नहीं हैं। उनके अनुसार जितने अधिकार मिलेंगे, उन्हींके द्वारा यदि आयर्लैंगडवाले चाहें तो बहुत शीघ्र पूर्ण स्वाधीनता भी प्राप्त कर सकेंगे। आयर्लैंगडमें जो रुधिरपात अभी तक हुआ है एवं वहां जिस प्रकारकी भीषण अशान्ति और अव्यवस्था दृष्टिगोचर होती थी, उसके कारण आयरिश जनता बड़ी व्याकुल हो गयी है। जहां तक हम अनुमान कर सकते हैं वहां तक हमारा यही विश्वास है कि आयर्लैंगडकी जनताका एक बड़ा भाग इस सन्धिकी शर्त्तोंको स्वीकृत करानेकी प्रबल चेष्टा करेगा। सारा संसार इस समय समुत्सुक भावसे आयर्लैंगडकी राष्ट्रीय सभा "डेल आयरियन"के अन्तिम निश्चयकी प्रतीक्षा कर रहा है।

* *
*

## आर्थिक कमीशनकी योजना।

"नूतन सुधारों"के अनुसार भारतको अपनी आर्थिक नीतिके निर्धारित करनेमें जो थोड़े-बहुत अधिकार प्राप्त हुए हैं, उनका उपयोग देशकी भलाईके लिये किस प्रकार किया जाय, भारतके निमित्त मुक्त-वाणिज्य-नीति ही हितकर है या संरक्षण नीति, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्यमें साम्राज्यांतर्गत संरक्षक नीति (the policy of imperial preference) से भारतको लाभ पहुँचेगा या हानि, इत्यादि इन्हीं समस्याओंको सुरझानेके निमित्त इस कमीशनकी योजना की गयी है। कमीशनकी जो प्रश्नावली प्रकाशित हुई है, दुःख है, उसका संक्षिप्त विवरणभी हम स्थानाभावके कारण यहां नहीं दे सकते। कमीशनका कार्य गत १० मार्गशीर्ष (२६ नोम्बर) से प्रारंभ हो गया है। अभीतक उसकी बैठकें करांची, लाहौर, दिल्ली, तथा कानपुरमें हुई हैं। इसके पश्चात् वह कलकत्ता, रंगून, मद्रास, बम्बई इत्यादि स्थानोंमें घूमता हुआ २४ फाल्गुन (८ मार्च) तक दिल्ली वापस पहुंचेगा।

साम्राज्यांतर्गत संरक्षणनीतिके सम्बन्धमें तो हम अपनी राय गत श्रावणके अंकमें प्रकाशित ही कर चुके हैं। जहां तक हम सोच-समझकर देख सकते हैं, वहां तक हमें इस प्रकारकी संरक्षणनीतिसे भारतको कोई लाभ नहीं देख पड़ता। उक्त नीतिके कारण हम अपनी आवश्यक वस्तुएँ उन देशोंसे न खरीद सकेंगे जहांसे वे कम मूल्यमें प्राप्त हैं। अमेरिका, जर्मनी इत्यादि देशोंमें उद्योगोंका संरक्षण किया जाता है, अतः उनके यहांकी बनी चीज़ें संभवतः बहुत शीघ्र कम मूल्यमें मिलने लगेंगी। ऐसी हालतमें उनके यहांसे माल मँगानेमें हमें विशेष लाभ होगा, किन्तु साम्राज्यान्तर्गत-संरक्षण नीतिके कारण उक्त देशोंसे आनेवाले मालपर अधिक कर लगाया जायगा, इस कारण उसका मूल्य साम्राज्यके भीतर किसी देशमें उत्पन्न होने वाले उसी मालकी अपेक्षा कम न रह जायगा। ऐसी

परिस्थितिमें हमें विवश होकर अधिक मूल्य देकर माल खरीदना होगा। उसी प्रकार हमारे निर्गत मालको भी उक्त नीतिसे हानि पहुँचनेकी संभावना है।

संसारमें माल बनानेवालों या बेचनेवालोंकी अपेक्षा माल खरीदनेवालों या उसका उपयोग करनेवालोंकी संख्या अधिक है। अतः वाणिज्य-नीतिमें प्रधानतया ग्राहकोंके हितका ही विचार विशेषरूपसे करना पड़ता है। इस दृष्टिसे मुक्त-वाणिज्य नीति ही विशेष लाभदायिनी प्रतीत होती है। किन्तु जिस देशमें उद्योग धन्धोंकी काफी उन्नति न हुई हो और जो देश जीवनकी अनेक आवश्यक वस्तुओंके लिये परावलम्बी हो रहा हो, उस देशको कुछ समयके लिये संरक्षण नीतिका आश्रय लेना पड़ता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसके सारे कारखाने और कला-कौशलकी उन्नतिके प्रयत्न संसारकी प्रतियोगिताका सामना करनेमें असमर्थ हो जायँगे और उसकी औद्योगिक उन्नति अत्यन्त दुष्कर और असंभव-प्राय हो जायगी। इस कारण राष्ट्रके भावी हितका विचार कर एवं उसे यथा संभव स्वावलम्बी बनानेकी दृष्टिसे अल्पकालके लिये संरक्षण नीतिका अनुसरण करना ही उचित है। अमेरिका, जापानके समान उन्नत देशोंको भी इसी विचारसे उक्त नीतिका अवलम्बन करना पड़ा और अब भी करना पड़ रहा है। स्वयं इंग्लैण्डमें भी अब दो चार विषयोंमें संरक्षण किया जा रहा है। अतः हम अपने देशकी औद्योगिक स्थितिके लिहाज़से इस देशमें मुक्तद्वार वाणिज्य नीतिका समर्थन नहीं कर सकते। हम जानते हैं कि आगत मालपर अधिक कर लगानेसे हमें बाहरसे आनेवाली वस्तुएँ कुछ महँगी अवश्य पड़ने लगेंगी, एवं विदेशी प्रतियोगिताका जोर कम होनेसे यहां वाले भी मनमाने मूल्य पर अपना माल बेचने लगेंगे तो भी अन्तमें इससे हमारा लाभ ही होगा, हानि नहीं। देशमें बननेवाली वस्तुएँ अधिक दामोंमें भी खरीदकर हम विशेष टोटेमें न रहेंगे, क्योंकि इन वस्तुओंके मूल्यका पैसा अन्ततः हमारे ही देशमें रहेगा और आवश्यकताके समय किसी न किसी रूपमें हमारेही काम आवेगा। अन्य किसी अवसरपर फिर इस विषयपर कुछ लिखनेका हमारा विचार है।

# ज्ञातव्य विषय तथा अंक ।

## मादक द्रव्योंकी विक्री ।

गत दश वर्षोंके भीतर संयुक्त प्रान्तमें मादक वस्तुओंकी विक्री कहांतक घट गयी है, यह नीचे दी गयी सूचीसे प्रकट हो जायगा । ( एक गेलन=लगभग तीनसेर )

| मादक वस्तु | | संवत् १९६८ में | संवत् १९७७ में |
|---|---|---|---|
| देशी शराब | ... | १५,३८,५०४ | ११,३८,७०,३० गेलन |
| अफीम | ... | ६१,८१० | ३९,२६४ सेर |
| भांग | ... | २३८,१८५ | २१६,४३३ ,, |
| चरस | ... | ५३,१२५ | ४४,५११ ,, |
| गांजा | ... | १३,८६८ | २२,३०८ ,, |

इस सूचीसे स्पष्ट है कि गांजाके अतिरिक्त अन्य सब मादक द्रव्योंके प्रयोगमें कमी हुई है । किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि इन वस्तुओंसे जो आमदनी सरकारको होती है, वह भी कम हो गयी है । अधिक कर लग जानेसे इन पदार्थोंकी क़ीमत बढ़ गयी है, अतः विक्री घट जानेपर भी सरकारकी आमदनीमें किसी प्रकारका घटी नहीं हुई ।

गत दो वर्षोंमें शराबखोरीसे जो आमदनी हुई है, उसका त्रैमासिक विवरण नीचे दिया जाता है । ( एक गेलन तीन सेरसे कुछ अधिक होता है ) ।

| वर्ष चतुर्थांश | | संवत् १९७६ में | संवत् १९७७ में |
|---|---|---|---|
| प्रथम | ... | २४६ हजार गेलन | ३६१ हजार गेलन |
| द्वितीय | ... | २४० ,, | २४२ ,, |
| तृतीय | ... | २६६ ,, | २८० ,, |
| चतुर्थ | ... | ३६४ ,, | २५५ ,, |

गत वर्षके अन्तिम तीन महीनोंमें शराबकी विक्री घटने लगी । इस वर्ष तो वह और भी अधिक घट रही है । इस घटतीका प्रधान कारण देशका पवित्र शुचिकारक असहयोग-आन्दोलन ही है । यह बात "रेविन्यू बोर्ड" के संयुक्त मंत्री श्री सी. एफ. डुडने भी स्वीकार की है ।

# ज्ञातव्य विषय तथा अंक।

## भारतमें मोटर गाड़ियोंकी खपत

गत सात आठ वर्षोंके भीतर हमारे देशमें मोटर गाड़ियोंकी खपत पँचगुनीसे भी ज्यादा हो गयी है। नीचे लिखे अंक देखिये।

| संवत् | आगत मोटरोंकी संख्या | | | |
|---|---|---|---|---|
| | संयुक्त राज्य अमेरिकासे | इंग्लैण्डसे | अन्यत्रसे | कुल संख्या |
| १९७० | ८६८ | १६६९ | ३४३ | २८८० |
| १९७६ | ६३५३ | ४४८ | १२४ | ६९२५ |
| १९७७ | १०१२१ | २५४१ | ७७१ | १५४३३ |

संयुक्त राज्य अमेरिकाने युद्ध-कालसे लाभ उठाकर भारतमें अपनी मोटरोंकी खपत बढ़ानेकी चेष्टा की है, वह इसीसे स्पष्ट है कि जहां युद्धके पूर्व संवत् १९७० में वहांसे कुल ८६८ मोटरें ही भारतमें आयी थीं, तहां युद्धके बाद संवत् १९७७ में १०१२१ अर्थात् लगभग बारह गुनी मोटरें यहां आयीं! उपयुक्त अवसरसे लाभ उठाना इसे ही कहते हैं।

* *
*

## जर्मनीके साथ भारतका व्यापार

गत महायुद्धके दिनोंमें जर्मनीके साथ भारतका व्यापार प्रायः नष्ट हो गया था। किन्तु युद्ध समाप्त होनेके बाद ही जर्मनीने इस व्यापारके पुनरुद्धारका जो प्रयत्न किया है, वह नीचे लिखी सूचीसे स्पष्ट है।

| संवत् | जर्मनीसे आये मालका मूल्य | जर्मनीको भेजे गये मालका मूल्य |
|---|---|---|
| १९७६ | ४ लाख रुपये | १३९ लाख रुपये |
| १९७७ | ४७५ ,, ,, | ८८२ ,, ,, |
| १९७८ (प्रथमार्द्ध) | २८१ ,, ,, | ६६८ ,, ,, |

गत वर्ष जर्मनीसे जो माल भारतमें आया था, उसमें प्रधानतया लोहेका सामान, रंग, यंत्र, तथा कांचका सामान ही शामिल था। हमारे देशसे अधिकतर जूट (पाट) और रूई इत्यादि कच्चा माल ही जर्मनीको गया था। युद्धके कारण जर्मनीकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गयी है। इसपर भी मित्रराष्ट उससे जबरदस्ती थोड़े ही समयमें हरजाना वसूल करना चाहते हैं। यही कारण है कि जर्मनी अभी तक अपने व्यापारको पुनः पूर्ण रूपसे स्थापित नहीं कर सका है। फिर भी उसकी चेष्टा शीघ्र सफल होगी ऐसे लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

* *

*

## संयुक्तप्रान्तमें सिंचाई।

इस प्रान्तके सिंचाई-विभागके मंत्रीने संवत् १९७७ का संक्षिप्त विवरण देते हुए जो सूचना प्रकाशित की है उससे प्रकट होता है कि संवत् १९७७ में कुल ३३ लाख ९६ हजार ५२४ एकड़ भूमिकी सिंचाई की गयी। यद्यपि संवत् १९७६ में जितनी ज़मीनकी आबपाशी हुई थी, उसकी अपेक्षा इस वर्ष (१९७७) लगभग ७७ हजार एकड़ कम भूमिकी हुई, तो भी मंत्री महाशय कहते हैं कि "प्राप्य जलके समुचित वितरणका यह स्पष्ट प्रमाण है।" इसका कारण आपकी रायमें कृषिकार्योंके निमित्त मौसिमकी प्रतिकूलता ही थी। पानीकी मांग तो ज्यादा थीं, पर नदियों द्वारा जो पानी मिल सकता था, इस वर्ष उसका परिमाण अन्य वर्षोंकी अपेक्षा बहुत कम था। गत वर्ष २१,०१९ एकड़ ज़मीनकी फसल प्रायः अपरिपक्व ही रह गयी थी। ईस वर्ष उसका क्षेत्र बढ़कर २९,००४ एकड़ हो गया।

इस वर्ष सिंचाईके कामोंमें कुल २३, ४१, ८४६ रुपये खर्च हुए। इस रकममेंसे ३, १३, ४८४ रुपये "संरक्षक कार्यों"के निमित्त और १९, ०३, ६४३ रुपये आय देनेवाले कार्योंमें खर्च हुए। शेष रुपया अन्य छोटे मोटे तथा कृषि सम्बन्धी कार्योंमें लगाया गया। इस विभागके सञ्चालनमें ५३, ८४, ३८४ रुपये लगे और कुल १, ५३, २५, ७३९ रुपयोंकी आमदनी हुई। "संरक्षक कार्यों"के कारण जो व्यय होता है यदि वह रुपया तथा व्याजकी रकम भी खर्चमें जोड़ दी जाय तो भी कुल ५७, ९९, ५३४ रुपयोंका लाभ शेष रह जाता है। सींची गयी फसलके मूल्यका जो अनुमान लगाया गया है, वह समस्त प्रान्तमें सिंचाईके कामोंके निमित्त खर्च की गयी पूंजीकी अपेक्षा करीब करीब दुगुना होगा।

इस वर्ष सिंचाईके लिये जिन जिन नहरोंका प्रयोग होता रहा है, उनकी कुल लम्बाई १६, १३६ मील है। रिपोर्ट पढ़नेसे ज्ञात होता है कि गेहूं और कपासकी अपेक्षा गन्नेकी फसल अधिक मूल्यवान् होती है।

ओ३म् बन्देमातरम्

# स्वार्थ

वर्ष २ खण्ड २ } माघ १९७८ { अङ्क ४ पूर्णाङ्क २२

## भारतवर्षमें दुर्भिक्ष ।

आज दिन भारतवर्षमें दुर्भिक्षका नाम जितना भयंकर है उतना स्यात् पुराणोंके किसी भयंकर दानव या राक्षसका भी न होगा ! पुराणोंके नरकोंका इतिहास तो मृत्यु तथा उसके बादकी अवस्थाका मनन करनेपर ही त्रासदायक होता है किन्तु दुर्भिक्ष रूपी महाकाल तो भारतवासियोंके सामने रात दिन उठते बैठते, सोते जागते सभी अवस्थामें उपस्थित रहता है । पुराणके सबसे कराल व्यक्ति यमराजके साथ तो केवल भैंसा ही रहता है जो केवल अपने सींगोंसे ही मनुष्यको पीड़ा दे सकता है किन्तु दुर्भिक्ष रूपी महा-राक्षसके अनुचर तो बुभुक्षा आदि साधारण पीड़ाओंको छोड़ अनेकानेक महारोग, दुर्बलता एवं मृत्यु तक देख पड़ते हैं । अभिप्राय यह कि दुर्भिक्षका दर्जा किसी भी भयंकर रूपकसे अधिक ऊँचा कहा जा सकता है । लोग कहते हैं कि मुसलमानी राज्यमें किसीका जान-माल सुरक्षित नहीं था और न जनताके लिये रेल, तार सरीखे सुविधाके साधन थे किन्तु इतिहास इस बातका साक्षी है कि वैसे समयमें भी ५०० वर्षके भीतर केवल चार ही बार दुर्भिक्षका दर्शन हुआ था । वही इतिहास बतलाता है कि वर्तमान ब्रिटिश राज्यमें केवल १३० वर्षके ही भीतर ( सन् १७७०—१९०० ) २२ बार* दुर्भिक्षने अपने दावानलसे इस हरी भरी भारतभूमिको जलाकर राखमें मिला दिया । संवत् १९५६ ( सन् १९०० ) के

* "भारतमें दुर्भिक्ष" नामक पुस्तक ( लेखक पण्डित गणेशदत्त शर्मा ) के २१८ वें पृष्ठमें इनकी संख्या और भी अधिक दी है । लेखकके अनुसार संवत् १८५७ से १९५७ ( सन् १८०० से १९०० ) तक सौ वर्षोंमें ही भारतमें इकतीस दुर्भिक्ष पड़े—सम्पादक ।

बादसे तो दुर्भिक्षने मानो अपना डेरा डाल दिया है। तबसे गल्लेका जो भाव महान् अकालके समय हुआ करता था उससे भी कहीं अधिक चढ़कर रहता है, और पहले जो मृत्यु-संख्या दुर्भिक्षके समय हुआ करती थी वह अब प्रायः बराबर ही प्लेग, इन्फ्लुएन्ज़ा, यक्ष्मा आदिके प्रभावसे रहा करती है।

संवत् १८२७ ( सन् १७७० ) में १ करोड़ व्यक्ति दुर्भिक्षके कवल हुए थे, संवत् १९३३ ( सन् १८७६ ) के दुर्भिक्षमें सवा पांच करोड़ और संवत् १९१७ से १९५७ ( सन् १८६० से १९०० ) तक २ करोड़ व्यक्तियोंकी मृत्यु होनेका प्रमाण मिलता है। इन दुर्भिक्षोंके प्रतिकारके लिये पहले सरकारने गेहूंका बाहर जाना बन्द कर दिया था और बाहरसे गेहूं मंगाने तथा गल्लेका दाम निश्चित करनेका यत्न किया था किन्तु संवत् १८६९ ( सन् १८१२ ) से सरकारने यह सब करना उचित न समझ कर रोक दिया। सबसे पहले संवत् १८४८ ( सन् १७९१ ) में सरकारने 'क़हतसालीके काम' आरम्भ किये थे किन्तु संवत् १९९८ ( सन् १८३८ ) तक वह इतना काफी नहीं था कि सभी दुर्भिक्ष पीड़ितोंकी उससे जीविका हो सके। क़हतसालीके कामके अन्तर्गत सड़क-नहर सरीखे काम बनवाना, यतीमखाने खोलकर वहां रहने वालोंसे साधारण काम लेना और चन्दा करके लोगोंको अन्न आदि देना था। इसको मानना ही पड़ेगा कि इन कामोंसे बहुत अधिक तो नहीं किन्तु थोड़ेसे लोग मृत्युसे बचाये जा सके थे।

इन दुर्भिक्षोंके कारण एवं उनके निवारणके उपायोंका अनुसंधान करनेके लिये सरकारने समय समयपर कमिशनोंकी नियुक्ति की थी। पहले पहल कर्नल बेयर्ड स्मिथको यह काम सौंपा गया था। उनकी सम्मति थी कि ज़मीनका बन्दोबस्त बंगालकी तरह 'पर्मनेन्ट सेटलमेन्ट' के रूपमें होना चाहिये। संवत् १९३५ ( सन् १८७८ ) में सर रिचार्ड स्ट्रैची प्रमुख कई व्यक्तियोंका कमिशन बैठाला गया था। इस कमिशनने सम्मति प्रगट की कि जो लोग हाथ पैरसे अच्छे हैं उनको दान न देकर उनके लिये काफ़ी काम रहनेका प्रबन्ध होना चाहिये कि जिससे वे अपनी जीविकाके लिये मजूरी पा सकें। दान केवल अपाहिजोंके लिये ही होना चाहिये। इसी कमिशनने पहले पहल ज़मींदारोंको कर्ज़ देनेकी अनुमति दी थी। इसके बाद संवत् १९५५ (सन् १८९८) में सर जेम्स लायलकी अध्यक्षतामें एक और कमिशन नियुक्त किया गया था किन्तु उसने प्रायः पहली ही बातोंको दुहराया था। अन्ततः संवत् १९५८ ( सन् १९०१ ) में सर ऐन्टोनी मैकडानल्डकी अध्यक्षतामें फिर एक कमिशन नियुक्त किया गया। इसने सरकारको यह सलाह दी कि दुर्भिक्ष निवारणके लिये सरकारको अपव्यय न करना चाहिये। क़हतके कामसे लोगोंको केवल इतनी ही मज़दूरी मिलनी चाहिये जो उनकी जीविकाके लिये पर्याप्त हो।

भारतवर्षके दुर्भिक्षके कारणोंके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। परन्तु एक बात

जिसको सरकार माननेको तैयार नहीं है किन्तु जिससे अन्य अधिकतर लोग सहमत हैं यह है कि सरकारने सेना आदिका खर्च बहुत अधिक बढ़ा दिया है जिसके कारण वह मालगुजारी बढ़ानेको बाध्य हुई है । यही दुर्भिक्षका प्रधान कारण है । दुर्भिक्षके कारणोंके सम्बन्धमें श्री आर० सी० दत्तने यही सम्मति प्रगट की है । सरकारकी ओरसे कहा जाता है कि मालगुजारीका बढ़ना दुर्भिक्षका कारण नहीं हो सकता क्योंकि ऐसे समयमें देखा गया है कि वेही लोग जिनका मालगुजारीसे सम्बन्ध नहीं है अथवा जिनकी मालगुजारी घट गयी है दुर्भिक्षसे अधिक पीड़ित हुए हैं । सरकारकी रायमें मालगुजारी घटानेसे भी दुर्भिक्षका नाश नहीं हो सकता क्योंकि मध्यप्रदेशमें दुर्भिक्ष-निवारणके लिये मालगुजारीका ६० गुना द्रव्य भी खर्च कर देनेपर अभी उससे पिण्ड नहीं छूटा । ये दलीलें ऐसी उचित नहीं जान पड़तीं कि उनका खण्डन करनेमें कुछ अधिक लिखा जाय । इनका पर्य्याप्त उत्तर निम्नलिखित महानुभावोंकी सम्मतिसे ही निकल आता है । अन्ततः सरकारने यह स्वीकार किया है कि दुर्भिक्षका कारण ज़मींदारोंमें बटवारा, सूदखोरोंकी लालच और मुकद्दमेबाज़ी है । यह मानते हुए क्या सरकार इस बातको बतला सकती है कि बटवारा तथा कर्ज़ लेनेका ही कारण ( मालगुजारी अधिक होनेसे ) ज़मींदारोंका अर्थहीन हो जाना नहीं है ? प्रोफ़ेसर एस० सी० रायकी सम्मति है कि दुर्भिक्षका कारण अन्नकी कमी नहीं बल्कि रुपयेकी कमी है । सर रिचार्ड स्ट्रैचीने संवत् १९३४ (सन् १८७७) में मत प्रगट किया था कि इस देशमें अन्नकी कमी नहीं होती, दुर्भिक्षका कारण केवल इतना ही है कि किसान इतने बेहक़ हो गये हैं कि अपना गल्ला जमा रखनेके बजाय बेच दिया करते हैं । कुछ लोगोंकी सम्मति है कि यह धनाभाव तब तक न दूर हो सकेगा जब तक भारतवासियोंको कृषिके अतिरिक्त और उपायों जैसे कला, वाणिज्य आदिसे, धनकी प्राप्ति न होने लगेगी ।

दुर्भिक्ष रोकनेके उपायोंमें रेल तथा आबपाशीके साधनोंकी वृद्धि, जंगलोंका न कटने देना, जनसंख्या घटानेके निमित्त लोगोंको अन्य देशोंमें भेजना, कृषि सम्बन्धी उद्योग धन्धों ( जैसे चीनी, रूई आदिके कारबार ) की उन्नति करना इत्यादि हैं । कुछ लोगोंकी सम्मति है कि सरकार जो रुपया दुर्भिक्षके समयमें व्यय करनेके लिये रखती है उससे किसानोंको ऋणसे मुक्त कर देना चाहिये जिसका फल यह होगा कि वे सुचित्त होकर अधिक अच्छे प्रकारोंसे कृषि कर सकेंगे और अपने पास सर्वदा कुछ न कुछ गल्ला तथा धन रख सकेंगे जो दुर्भिक्षके समय उनके काम आवेगा । प्रोफ़ेसर एस० सी० रायका मत है कि प्रत्येक ज़िलेमें छोटे मोटे उद्योग-धन्धोंकी शिक्षाके लिये स्कूल खुलने चाहियें और कोआ-परेटिव क्रेडिट सोसाइटियोंकी वृद्धिके साथ साथ काश्तकारोंको अपनी ज़मीन बेचनेसे रोकना चाहिये । उनकी सम्मतिमें 'पर्मनेन्ट सेटलमेन्ट—'का देश भरमें होना नितान्त आवश्यक है । श्री आर० सी० दत्तका मत भी इसी प्रकार है । फलतः यही सर्वमान्य है कि सरकारको मालगुजारी कम कर देनी चाहिये और उद्योग-धन्धोंकी शिक्षा एवं आबपाशी आदिका पूरा प्रबन्ध करना चाहिये ।

# स्वार्थ

भारतवर्षमें चीज़ोंकी महँगीके अन्य बहुतसे कारण हैं जैसेः—(१) जनसंख्या बढ़ जाने तथा शिल्प सम्बन्धी कामोंमें अनाजके लगनेसे पहलेकी अपेक्षा अधिक अन्नकी आवश्यकता, खेतोंके कमज़ोर हो जानेके कारण अधिक अन्न न हो सकना तथा खाद्य पदार्थके अतिरिक्त रूई आदिका अधिक बोया जाना। यहां यह बात उल्लेख करने योग्य है कि परता लगानेसे मालूम होता है कि यदि संवत् १९४७ ५१ ( सन् १८९०–९५ ) में भारतकी जनसंख्या, भारतके कुल जोते बोये जानेवाले खेतों तथा उनमें खाद्य पदार्थोंके बोनेके खेतोंकी संख्या प्रत्येककी एक सौ मान ली जाय तो संवत् १९६९ ( सनू १९१२ ) में उक्त तीनों-की संख्या क्रमशः १०८.४, १०६ और १०३ होती है। इससे जान पड़ता है कि जन-संख्याकी वृद्धिके हिसाबसे खेतकी वृद्धि नहीं हुई है। इतनेपर भी भारतवर्षके गल्लेका बाहर जाना संवत् १९४७-५२ (सनू १८९०-९५) की अपेक्षा संवत् १९६८-६९ (सनू १९११-१२)में ही दुगुनेसे अधिक हो गया था। (२) लोगोंके रहनेका ढंग बदल गया है, अब वह पुरानी सादगी नहीं रही अतएव उनका अधिक धन और कामोंमें व्यय हो जाता है जो पहले केवल खाने तथा मोटा पहननेमें लगता था। इसके अतिरिक्त लोगोंका बहुतसा धन अब उन चीज़ोंके लिये व्यय होता है जो "नयी रोशनी"के प्रभावसे आगयी हैं जैसे, रेल, तार, जहाज, इत्यादि।

चीज़ोंकी मँहगीका और विशेष कारण है। वह है रुपयेकी अधिकता। जब एक चीज़के बदले कोई दूसरी चीज़ मिलती है तो एकका दूसरेसे अधिक या बराबर होना लेने देने वालेकी गरज़पर निर्भर होता है और गरज़ चीजकी कमी वा अधिकतापर निर्भर होती है। जैसे हमारे पास सेर भर चावल है और आपके पास सेर भर रूई। अब यदि हम सेर भर चावल देकर रूई लेना चाहेंगे तो रूईका कम वा अधिक मिलना हमारी और रूईवालेकी गरज़पर निर्भर है जो चावल तथा रूईकी कमी या अधिकतापर निर्भर होगी। यदि उस समय बाज़ारमें चावल अधिक रहा और रूई कम तो रूई वालेको चावल लेनेकी अधिक गरज़ होगी और वह पावभर चावलके बदले भी सेरभर रूई देनेको तैयार हो जायगा। इसी प्रकार यदि रूईकी कमी रही तो अधिक चावल देनेपर कम रूई मिलेगी। अर्थात् पहली अवस्थामें रूई और दूसरीमें चावल मँहगा कहा जायगा। ठीक यही सिद्धान्त आजकल रुपये और अन्य चीज़ोंमें लगता है। आजकल भारतवर्षमें रुपयों की संख्या बढ़ गयी है अतएव अधिक रुपया देनेपर कम चीज़ें मिल रही हैं। रुपया बढ़नेका कारण इस लेखकी सीमाके बाहर है किन्तु यह प्रमाणित किया जा सकता है कि रुपयेकी संख्या भारतवर्षमें बहुत बढ़ गयी है। अनेक कारणोंसे संवत् १९६१ ( सन् १९०४ ) से सरकारने बहुत अधिक रुपया बनाना आरम्भ किया और तभीसे रुपयेका बाहुल्य तथा चीज़ोंकी मँहगी बिना अकाल हुए ही होगयी है। कहा जाता है कि ९ वर्षोंमें भारतवर्षकी जनसंख्यामें केवल ७ प्रतिशत तथा व्यवसायमें इससे कुछ ही अधिक वृद्धि हुई है किन्तु रुपयोंकी संख्यामें ६० प्रतिशत वृद्धि हो गयी है। संवत् १९५७ से १९६७ ( सन

१९०० से १९१० ) के अन्दर नोटोंकी संख्यामें भी .७५ प्रतिशत वृद्धि हो गयी है। इस वृद्धिका अनुमान इससे किया जा सकता है कि केवल पांच वर्षोंमें सरकारने ७५ करोड़ रुपये ढाले । संवत् १९६२ और ६४ ( सन् १९०५ और ७ के ) भीतर सरकारने ४ करोड़ २० लाख रुपये बनाये जो संख्या संसार भरके किसी भी देशके दो वर्षमें बने हुए रुपयोंकी संख्यासे बहुत अधिक है । श्रीमान् गोखलेका अनुमान था कि संवत् १९६५ ( सन् १९०८ ) तक भारतवर्षमें २ अरब ४ करोड़ रुपये मौजूद थे ।

इस प्रकारकी मँहगीका प्रभाव कृषकों तथा मजूरोंपर अच्छा पड़ा है ।* कृषकोंको अन्नके लिये अधिक रुपये मिलते हैं और मजूरोंने अपनी मजूरी खूब बढ़ा ली है । वे ज़मींदार घाटेमें हैं जिनको मालगुजारी बढ़ानेका अधिकार नहीं है । नौकरी पेशा, छोटे रोजगारी तथा मध्यम श्रेणीके लोग ही इस मँहगीसे अधिकतर पिसे जा रहे हैं । अर्थ-शास्त्रकी दृष्टिसे कहा जा सकता है कि यदि इस मँहगीने भारतवर्षमें अपना घर न बना लिया तो भी वह बहुत दिनोंमें दूर होगी ।

हरिहर नाथ ।

* इस कथनमें सत्यका अंश होते हुए भी वह सर्वथा मान्य नहीं हो सकता । कृषकों तथा अन्य श्रमजीवियोंकी वर्त्तमान दशा "अच्छी" नहीं कही जा सकती—सम्पादक ।

# लोकमत ।

इस युगमें लोकमतकी बड़ी महिमा है। प्रजाके मतानुकूल राज-काज होता है। प्रत्येक राजनीतिक सवालके विषयमें प्रजाकी क्या सम्मति है यह निश्चित करनेकी कुछ परिपाटी हो गयी है। पहले तो कोई प्रजाकी बात न पूछता था, किन्तु इस स्वतन्त्रताके नये युगमें प्रजाका मत बहुत आदरणीय दृष्टिसे देखा जाने लगा है। कारण यह कि प्रजाने राजनीतिक क्षेत्रमें अपना अखण्ड आधिपत्य इस समय जमा लिया है। जहां देखते हैं वहीं प्रजाकी विश्वतोमुखी प्रभुता देख पड़ती है। प्रजाकी शक्तिकी कोई इयत्ता नहीं। शासनकी बागडोर इसके हाथमें है। व्यवस्थाका निर्माण करना इसीके अधीन है। प्रजा या लोकका संकल्प एक दुर्धर्ष शक्ति है, इसका विरोध करना किसी विरले साहसीका काम है। लोक-मतकी अवहेलना कर कितने ही बड़े बड़े राजा अपना राज्य खो बैठे। वस्तुतः प्रजा ही सर्व शक्तियोंका केन्द्र है। यही मानवी संस्थाओंको बना-बिगाड़ सकती है।

लोक-मतका महत्त्व तो हमारी समझमें आया, किन्तु प्रश्न यह है कि लोक किस प्रकार उस शक्तिको कार्य्यमें परिणत करता है और वह अपने विचार और मनोरथ किस भांति प्रकट कर सकता है? इसका उत्तर यह है कि प्राचीन कालसे सम्मति देनेकी एक ही शैली चली आती है, वह यह है कि जब कोई प्रस्ताव लोकके समक्ष रखा जाता था, तब पक्ष और विपक्षके लोग हाथ उठाकर उसका अनुमोदन और विरोध बारी बारीसे किया करते थे। इस शैलीको वोटिंग (Voting) कहते हैं। बस, वोटिंग द्वाराही अमुक प्रस्तावके संबन्धमें लोकमत क्या है, यह निर्णय हो सकता है। वोट देनेकी प्रथाका आविष्कार यूनान और रूमके प्रजातन्त्र राष्ट्रोंमें हुआ था जिसका सभी सभ्य देशोंने अनुकरण किया है। पर यूनान और रूमके स्वराज्य-सम्पन्न नगरोंकी जनसंख्या बहुत इनी गिनी थी, वहां सब एकत्र होकर शासन सम्बन्धी प्रश्नोंपर वादानुवाद और विचार कर निर्णय कर सकते थे, किन्तु आजकलके राष्ट्र बड़े विशाल हैं और उनकी जन-संख्या इतनी अधिक है कि लोकमतके प्रकट करनेके लिये सभी लोग एकत्र नहीं होसकते। इस कारण राजनीतिक संसारमें एक दूसरा महत्वपूर्ण आविष्कार हुआ। इस आविष्कारका नाम रिप्रेज़ेन्टेशन (Representation) है, अर्थात् लोगोंने अपने निर्वाचित प्रतिनिधियोंद्वारा अपने मतके प्रकट करनेकी प्रथा चलायी। इस प्रथाके अनुसार अधिकारप्राप्त जनता वोटद्वारा अपने प्रतिनिधिका निर्वाचन करती है। इस क्रियाको चुनाव (Election) कहते हैं। ये चुने हुये प्रतिनिधि लोकके प्राय: विश्वास-पात्र होते हैं, इनके विवेक, दक्षता और न्यायपरतापर वोट देने ।लोंको पूरा भरोसा होता है, क्योंकि वे प्रजाद्वारा अधिकार प्राप्त करते हैं, इसलिये वे अपने हरएक कामके लिये लोकके समक्ष उत्तरदायी होनेके भावसे प्रेरित

होते हैं। परन्तु वे लोक-प्रतिनिधि यथार्थ रूपसे लोक-मतानुसार अपनी सम्मति देने और कार्य्य करनेके लिये बाध्य नहीं होते। अतएव प्रतिनिधियोंद्वारा लोकमत यथार्थ रूपसे प्रकट नहीं हो सकता। वे अधिकार पाकर प्रजाके आदेशकी अवहेलना कर सकते हैं। चुनावके समय प्रतिनिधि-पदके चाहनेवाले अपना स्वार्थ साधनेके लिये वोट देनेवालोंके समक्ष अनेक प्रतिज्ञाएँ करते हैं और ओजस्विनी वक्तृताएं देकर लोगोंको धोखेमें डालते हैं। जिन आदर्श और सिद्धान्तोंकी दुहाई देकर वे लोकके नेता बन जाते हैं प्रायः कार्य्यमें वे उनकी उपेक्षा करते हैं। कालिदासने सचमुच ठीक कहा है:—

"परातिसंधानमधीयते यैर्विद्येति, ते सन्तु किलाप्तवाचः ?" अर्थात् जो दूसरोंको धोखा देना विद्याकी भांति सीखते हैं वे क्या कभी सत्यवादी एवं विश्वसनीय हो सकते हैं। अतएव प्रतिनिधि-प्रथाद्वारा लोकमतका यथार्थ परिचय नहीं मिल सकता।

प्रतिनिधिके अलावा, चुननेवालोंमें भी कई अवगुण होते हैं। उनमें कुछ मूर्ख, कुछ अदूरदर्शी होते हैं। अपने हित-अहितका उन्हें कुछ विवेक नहीं। जैसा किसीने बहका दिया वैसा मान लिया। कुछ वोट देनेवाले किसीकी ताड़नाके कारण या घूँस लेकर किसी अयोग्य व्यक्तिके लिये वोट देनेको तैयार हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य स्वार्थ-व्युत्पन्न धूर्तोंके फन्देमें पड़कर अपने अधिकारको खो बैठते हैं। मन्दबुद्धि नागरिक यह नहीं समझते कि वोट देना एक महान् अधिकार है (A vote is a great privilege.) हरेक व्यक्तिके वोटमें आत्मरक्षा और देशोन्नतिकी शक्ति अन्तर्लीन है। ये शक्ति-कण ही समुचित रूपसे इकट्ठे होनेपर बड़े बड़े अन्यायी सत्ताधीशोंको भस्म कर आत्मरक्षा और देशोन्नतिका मार्ग निष्कण्टक बना देते हैं।

एक मनुष्यका एक वोट ( राय देनेका अधिकार ) होता है। चाहे एक राय-दिहन्दा चतुर, बुद्धिमान और अनुभवी हो, और दूसरा नितान्त गुणशून्य हो, तथापि अपने प्रतिनिधिके चुननेमें अथवा किसी महान् प्रसंगपर परामर्श देनेमें दोनोंका एकसा अधिकार होता है। बुद्धिमान और मूर्खकी एकही कक्षामें गणना होती है, क्योंकि राय गिनी जाया करती है, न कि वे कसौटीमें कसी जाती है। सारांश यह कि लोक-मतका ठीक ठीक परिचय मिलना अति कठिन है। वोट-शैली तथा प्रतिनिधि-प्रथासे लोककी इच्छा, रुचि या संकल्पका ठीक पता नहीं चलता।

लोक-मत ही प्रजातन्त्र शासनका आधार है यह हम पहले कह चुके हैं। लेकिन हम यह देख चुके हैं कि लोकमत वास्तविक लोकमत नहीं, न तो प्रजा, और न उसके प्रतिनिधि ही लोकमत प्रकट करते हैं। प्रजातन्त्र शासनके इन पूर्वोक्त दोषोंका कुछ प्रतीकार अवश्य है। पहले प्रतिनिधि सम्बन्धी दोषपर विचार कीजिये। यदि प्रतिनिधि अपने चुनने वालोंकी इच्छानुसार न चले, यदि वह लोक-मतकी अवहेलना करे तो प्रजाको अधिकार होना चाहिए कि वह उसे पदच्युत कर दे। दूसरा उपाय यह है कि चुनावके समय जो लोक-का निश्चित आदेश हो वह स्पष्ट, असन्दिग्ध और अवश्य शिरोधार्य्य होना चाहिए। इस

आदेशको मैन्डेट ( Mandate ) कहते हैं। उस आदेशानुसार प्रतिनिधियोंको अपना कर्तव्य करना चाहिए। इसके सिवाय दो और ऐसे उपाय हैं जिनसे प्रतिनिधि लोकमतके विपरीत नहीं चल सकते हैं। इन उपायोंके लिये दो पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त होते हैं— रेफरेण्डम और इनीशियेटिव* ( Referendum and Initiative ) **व्यवस्थापक सभा द्वारा निश्चित किये हुए प्रस्तावका, स्वीकृति या निषेधके लिये, लोकमतके सामने पेश करना** रेफरेण्डम कहा जाता है—( The Referendum is the submission to popular Vote, for approval or rejection, of a measure passed by the legislature ). लोकमत द्वारा किसी कानूनके पास करनेके प्रस्ताव करनेका, जनताकी निर्धारित संख्याका अधिकार इनीशियेटिव कहा जाता है ( The right of a prescribed number of the citizens to propose the passing of an enactment by popular Vote ). इन दो प्रक्रियाओंसे सार्वजनिक मत शासनपर अपना पूर्ण आधिपत्य जमा लेता है। इनके होते हुए प्रतिनिधि लोकमतकी अवहेलना नहीं कर सकते। प्रजा इन दो उपायोंसे उनकी उच्छृंखलताका भली भांति संयम न करनेमें समर्थ होती है। राष्ट्रके महत्वपूर्ण प्रश्नोंपर सार्वजनिक मतका ही अन्तिम प्रामाण्य होता है। छोटे छोटे नियम या कानून प्रतिनिधि सभाएँ बनालें, पर उन प्रश्नोंपर जिनपर सार्वजनिक हित अवलम्बित है, लोकमत इन संस्थाओंद्वारा अपना गंभीर निर्णय प्रकट करता है। यूनान और रूसके प्रजातन्त्र राष्ट्रोंमें प्रतिनिधियोंका आश्रय न लेकर प्रजा शासन-कार्य्य स्वतः किया करती थी। **रेफरेण्डम तथा इनीशियेटिव** ये लोकमत संबन्धी संस्थाएँ प्राचीन शैलीका अनुकरणमात्र हैं।

पूर्वनिर्दिष्ट संस्थाओंकी आलोचनासे यह स्पष्ट है कि जिन देशोंका लोकमत अधिक बलवान और प्रभावशाली है वहां प्रजाके प्रतिनिधि कोई अनधिकार चेष्टा नहीं कर सकते और वहांकी प्रातिनिधिक प्रणाली लोकमतके प्राबल्यके कारण मर्यादाबद्ध होजाया करती है। अब लोकमतकी त्रुटियोंपर ध्यान दीजिये। उन त्रुटियोंके दूर करनेके उपाय किये गये हैं। यदि वोटरोंको घूंस देकर या उनपर अनुचित प्रभाव डालकर कोई व्यक्ति उनसे अपने पक्षमें राय लेनेकी चेष्टा करता है, क़ानून उसे अपराधी ठहराता है। पर यदि वोटर निर्बुद्धि हो, अपने अधिकारके महत्त्वको न समझता हो तो निःसन्देह वह किसीके हाथकी कठपुतली बन जा सकता है। इस दोषका प्रतीकार सिवाय सार्वजनिक शिक्षणके और किसी प्रकार नहीं हो सकता। सार्वजनिक शिक्षण ही प्रजातन्त्र राष्ट्रका सचमुच

* These two institutions, Referendum and Initiative, represent an effort to return from the modern method of legislation by representative assemblies to the ancient method of legislation by the citizens themselves.

James Bryce, Modern Demo : p. 418,

जीवन है। स्वराज्य एक कला है जिसमें दक्ष होनेके लिये बुद्धिकी आवश्यकता है। "बुद्धिर्यस्य बलं तस्य" की नीति लोक-शासनमें अतीव उपयोगी है।

लोकमतपर एक और प्रबल आक्षेप किया जाता है। वह यह है कि भले, बुरे, गुणी, निर्गुणी लोगोंका मताधिकार बराबर है। जो अधिकार विद्वान्का वही मूर्खका है, जो दरिद्रका वही धनाढ्यका। चाहे जो हो, और चाहे जैसा हो एक व्यक्तिका एक ही वोट (मताधिकार) होगा (One man, one vote)। यह आक्षेप सर्वथा उचित है, पर हमारे पास कोई भी ऐसी कसौटी नहीं जिससे हम एक एक वोटरके गुण-दोषकी परीक्षा कर सकें और उसकी योग्यताके अनुसार उसे वोट देनेका अधिकार दे सकें। इस दोषका कोई प्रतीकार नहीं। **समान और सार्वभौम मताधिकारका सिद्धान्त तो कुछ भी हो मानना ही पड़ेगा।***

## लोकमत क्या वस्तु है ?

अपने सामाजिक हितकी बातोंके सम्बन्धमें लोग जो भांति भांतिके विचार रखते हैं, उन विचारोंका समष्टिरूप लोकमत कहलाता है। अनेक तरहके विचार, विश्वास, कल्पना, पक्षपात और इच्छाएँ लोकमतमें सम्मिलित होती हैं। किसी प्रश्नके उपस्थित होनेपर लोकके ये भिन्न भिन्न विचार और इच्छाएँ उस प्रश्नपर आकर स्थिर होती हैं। उसपर वादानुवाद शुरू होता है। जनताका मत कुछ पक्षमें और कुछ विपक्षमें बँट जाता है। इस प्रकार लोगोंके विचारमें स्पष्टता और स्थिरता आ जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि लोगोंके भिन्न भिन्न व्यक्तिगत विचार आपसमें मिलकर एक प्रस्तावके विषयमें अपनी पक्ष-स्थापना कर लेते हैं। लोग जिस पक्षका अधिक संख्यामें आश्रय लेते हैं, वह बहुमतसे स्वीकृत कहा जाता है। राजनीतिकी परिभाषामें इस बहुमतको लोकमत कहते हैं। किसी विषयपर सभी लोगोंका एक मत नहीं हो सकता, कुछ न कुछ लोगोंका अवश्य मत-भेद हुआ करता है। "भिन्न रुचि र्हि लोकः"। लोकमतमें अनेक छोटी बड़ी विचार-धाराएँ मिली रहती हैं। जब एक धारा दूसरी धाराओंसे मिल जाती है तब नदीका प्रवाह प्रबल हो जाता है। इसी प्रकार लोककी विचार-धारा व्यक्तिगत विचारोंके एकत्र होनेसे बड़े वेगसे वह निकलती है। यह विचार-धारा उत्कट इच्छामें परिणत हो लोकके प्रबल संकल्पका कारण होती है। वह लोक संकल्प राष्ट्रकी दुर्धर्ष शक्ति है। उस शक्तिका विरोध करना मानो कालके गालमें जाना है। उस शक्तिके वशमें रहकर बड़े बड़े पदाधिकारी अपना कर्तव्य पालन करते हुए रेखामात्र भी मर्यादाका अतिक्रमण करनेका साहस नहीं कर सकते।†

* "Equal suffrage as well as universal suffrage has apparently to be accepted for better or worse." James Bryce.

† "None can resist the force of Public Opinion, and such governing authorities as ministers and legislatures are obliged to take account of it and shape their course accordingly. In this sense, therefore, the People are always ruling because their will is recognised as supreme." Bryce.

# स्वार्थ

लोकमतका झुकाव किस ओर है, अमुक नीति या नियम इसके अनुकूल या प्रतिकूल होंगे, जनताको अमुक प्रसंगमें क्या अभीष्ट है इत्यादि बातोंका निर्णय करनेमें बड़े बड़े नीतिविशारदोंको भी कठिनाई होती है। यह तो हम देख चुके हैं कि प्रतिनिधि-सभाके सदस्यगण लोकमतका यथार्थरूपसे प्रतिपादन नहीं करते और न कर सकते हैं। ऐसी स्थितिमें किसी प्रस्तावके विषयमें लोकमतका पता लगाना अतीव कठिन है, प्रायः देखा जाता है कि राजनीतिज्ञ लोग समाचारपत्रोंसे लोकमतका परिचय प्राप्त करते हैं, पर समाचारपत्रोंके आधारपर लोकमतकी प्रवृत्तिका अनुमान हमेशा ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि ये पत्र अक्सर पक्षपातपूर्ण हुआ करते हैं और अपने अपने पक्षके समर्थनमें अतिशयोक्तियां करते हैं, और न सार्वजनिक सभाओंद्वारा जनताके मतका यथार्थ परिचय मिलता है। किसी न किसी पक्षका समर्थन करनेके लिये या सुननेके लिये हरएक जगह काफी संख्यामें लोग मिल सकते हैं। फिर आजकल विज्ञापन-कलामें भी बहुत उन्नति हुई है, अपने अपने मतके प्रचार करनेकी धुन लोगोंपर खूब सवार है। विज्ञापन-कलामें निष्णात इन प्रचारकोंद्वारा न तो सच्चे वृत्तान्त ही मालूम हो सकते हैं और न लोकका अभीष्ट ही जाना जा सकता है।

लोकमतके जाननेका सबसे अच्छा तरीका यह है कि सब तरहके लोगोंमें हिल-मिल कर यह देखना चाहिए कि उनपर प्रति दिनके समाचार और अमुक विषय संबन्धी दलीलोंका क्या असर पड़ता है। वार्त्तालापसे सच सच बातें मालूम हो जाया करती हैं। जो सब भांतिके लोगोंसे मिलकर खूब वार्त्तालाप करता है, वही लोकमतका सच्चा संवाद-दाता बन सकता है।

यद्यपि लोकमत बलवान और इसका शासन सर्वमान्य होता है तथापि राष्ट्रमें कुछ ऐसे महानुभाव व्यक्ति होते हैं जिनके आदेश तथा अनुशासनपर लोकमत चलता है। ऐसे राजनीतिधुरन्धर हरएक देशमें एक दो ही होते हैं। इनके मतपर बहुत लोग चल पड़ते हैं। जब कोई राजनीतिकी कठिन समस्या आयी, तभी इनके तद्विषयक विचार जाननेके लिये लोक उत्कण्ठित होजाता है। वे हरएक प्रश्नकी निष्पक्ष और उदार दृष्टिसे सांगोपांग आलोचना कर देशके परम हितकी बात बतलाते हैं। लोकमतपर इनका बड़ा प्रभाव पड़ता है। देशके नेता लोग भी इनकी बातोंका बड़ा आदर करते हैं। वे राजनीतिके अखाड़ेमें उतर कर लड़ा नहीं करते बल्कि राजकाजसे दूर रह कर, अपने प्रगल्भ विचारोंद्वारा लोकमतके शिक्षण और देशके हितचिन्तनमें लगे रहते हैं।

ऐसे दार्शनिक पण्डितोंके सिवाय, राष्ट्रीय नेताओं और बड़े बड़े कर्मचारियोंका प्रभाव लोकमतपर पड़ता है। वे लोकमतके समक्ष प्रत्येक प्रश्नकी खूब विवेचना करते हैं और अपनी दलीलोंसे लोकमतको अपने पक्षके अनुकूल कर लेते हैं। अधिकार-सम्पन्न होनेके कारण उनपर राष्ट्रके सभी रहस्य विदित होते हैं अतएव उनके विचारोंसे

लोकमत बनता है। लोकमतके सुसंगठनमें पूर्वोक्त दो वर्गके नेतागण बड़े ही प्रभावशाली हुआ करते हैं। इनसे भिन्न तीसरे वर्गमें समस्त जन-समुदाय हुआ करता है जिसके मतको स्ववश करनेकी चेष्टा नेता लोग किया करते हैं। इस वर्गके लोग स्वयं किसी विषयपर विचार नहीं कर सकते। साधारणतया इनका मत उसी संकीर्ण देश, समाज और व्यवसाय-के अनुरूप हुआ करता है जिसमें वे अपना जीवन व्यतीत करते हैं। किन्तु इस वर्गके मनुष्य किसी राजनीतिक नेताके गुणोंसे आकृष्ट हो उसका अनुसरण करनेके लिये तैयार हो जाते हैं। इन सबका मिलकर एक दल बन जाता है, उसका नेता अपने दल-बल सहित लोक-मतका संचालन करता है। जो बहुमताधीश बन गया, उसे ही राष्ट्रीय नेताकी पदवी मिल गयी। यद्यपि तीसरे वर्गके लोग लोकमतका संगठन नहीं करते तथापि किसी नीत्यग्रणी नेताके अनुयायी होकर वे लोकमतको निश्चत रूप देदेते हैं। उनके सहयोगसे लोकमतका प्रवाह एक निश्चत दिशामें बहने लगता है।

पूर्वोक्त विवेचनसे यह सिद्ध है कि अमुक राष्ट्रमें लोकमत बिलकुल अस्तव्यस्त दशामें नहीं होता, बल्कि उसमें भिन्न भिन्न प्रकारकी व्यवस्थाएँ होती हैं। जनताकी शक्तियां विकीर्ण दशामें नहीं होतीं, किन्तु वे मिलकर घनीभूत हो, दो चार संभूय समुत्थानात्मक संस्थाओंके रूपमें परिणत हो जाया करती हैं। तदनन्तर प्रजामें दल देख पड़ते हैं। नरम, तथा गरम, सहयोगी, एवं असहयोगी इत्यादि दलोंमें लोकमत विभक्त हो जाता है। इन दलोंमें झगड़े अवश्य रहते हैं किन्तु वे झगड़े भीषणरूप धारण नहीं करने पाते, क्योंकि एक दल दूसरे दलकी शक्तिको संयमित रखता है।

लोकमतमें दलबन्दी या पक्षविपक्षभावका होना अनिवार्य्य है। इसलिये यदि लोकमतमें समष्टिरूपसे कुछ विशेष गुणोंका आदर न हुआ तो राष्ट्रमें अनर्थपात होनेकी संभावना है। न्यायपरता, सहिष्णुता, बुद्धिमत्ता, सार्वजनिकभाव, देशभक्ति, धैर्य इत्यादि गुणोंके होनेसे एक देश स्वराज्यकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। जहां आपसके मतभेद वैमनस्यके रूपमें परिणत नहीं होते, जहां विरुद्ध पक्षके लोगोंका अनादर नहीं होता, जहां सभी अपने देशका हितचिन्तन करते हैं, जहां एक दल दूसरे दलके समान अधिकारोंपर आक्रमण नहीं करता, वहांका लोकमत वस्तुतः स्वराज्यकी योग्यता रखता है। ऐसे लोकमतके अधीन समाजशासनका रहना राष्ट्रके लिये बहुत क्षेमकर है। ऐसा लोकमत जहां हो उस देशका सौभाग्य है, और उसका अभ्युदय अवश्यम्भावी है।*

भारतवर्षमें भी जब लोकमत इतना सबल और शिक्षित बन जायगा, तब स्वराज्य मिलनेमें क्षणभरकी देरी न होगी। संसारमें कोई शक्ति नहीं जो लोकमतका

* "The excellence of public opinion—its good sense, its tolerance, its pervasive activity—is the real test of a nation's fitness for self-government; the power it exerts is the best guarantee for the smooth and successful working of popular government." James Bryce.

विरोध कर सके। कोई ऐसा अन्याय नहीं, जिसका इसने समूल नाश न किया हो। पर खेद है, अनन्त दुःखका विषय है कि घोर अन्यायके देखते हुए हमारा लोकमत क्रोधाग्निसे प्रज्वलित नहीं होता। क्या लोकमत अन्यायका संहार नहीं कर सकता? इसका उत्तर इतिहाससे पूँछो।

गंगाप्रसाद मेहता।

# संसारके व्यवसायका इतिहास ।

## ( गतांकसे आगे )

अपनी पुस्तकके चौथे खगडके छठें अध्यायमें ऐडमस्मिथने लिखा है कि उक्त सन्धि द्वारा पुर्तगालवालों हीको लाभ हुआ, अंग्रेजोंको नहीं। क्योंकि पुर्तगालवालोंका मद्य इंग्लैगडमें अन्य राष्ट्रोंके मद्यकी अपेक्षा तिहाई चुंगी देनेपर आ सकता था, परन्तु अंग्रेज़ोंको पुर्तगालमें अपने मालपर और राष्ट्रोंके समान ही कर देना पड़ता था। पर क्या इसके पूर्व पुर्तगालवाले बहुत अधिक माल, फ्रांस, बेल्जियम, हालैगड और जर्मनीसे नहीं मँगाते थे और फिर क्या पुर्तगालका बाजार अंग्रेजोंने अपने हाथमें नहीं कर लिया था, उसीमें अंग्रेज अपना माल जिसको निष्पादन करनेके लिए कच्चा माल उनके अपने देशमें यथेष्ट था, स्वतन्त्रतासे बेचते थे। अंग्रेज लोगोंने क्या चुंगी भी आधी देनेकी चालाकी नहीं चली? विनिमयके भावके कारण पुर्तगालकी बनी मद्यका प्रयोग करने वालोंको क्या १५ प्रति सैकड़े लाभ नहीं होता था? इससे क्या फ्रांस और जर्मनीके मद्यका इंग्लैगडमें आना बिलकुल बन्द नहीं हो गया था? क्या पुर्तगालके सोने और चांदीकी सहायतासे अंग्रेज लोगोंने भारतवर्षसे माल लाकर यूरोप महाद्वीपको भी उनसे भर नहीं दिया? क्या पुर्तगालके कपड़ेके कारखाने नष्ट नहीं हो गये और उससे अंग्रेजोंको क्या अपरिमित लाभ नहीं पहुंचा? क्या इस प्रकार पुर्तगालके प्रायः सभी सम्पन्न उपनिवेश विशेषतः ब्रेज़िल अंग्रेजोंके हाथ नहीं लग गया? निःसन्देह इस सन्धिसे पुर्तगाल वालोंको तो नाम मात्र लाभ हुआ, पर अंग्रेजोंको इससे सचमुच पूरा पूरा लाभ हुआ। भविष्यमें भी अंग्रेज़ोंने जो जो सन्धि की उनमें प्रायः ऐसा ही भाव रहा है। पेशोंमें तो वे लोग सर्वदा सर्व शुभचिन्तक और परोपकारी रहे परन्तु उद्देश्य और प्रयत्नमें वे सर्वदा एकाधिकारके पक्षपाती रहे हैं।

ऐडमस्मिथकी दूसरी निष्पत्तिके अनुसार भी अंग्रेजोंको इस सन्धिसे कुछ भी विशेष लाभ नहीं हुआ। उनका कहना है कि अंग्रेज़ोंको पुर्तगालमें कपड़ा बेचनेसे जो रुपया मिलता था वही द्रव्य अंग्रेजोंको अन्य देशोंमें कच्चा माल खरीदनेकेलिए भेजना पड़ता था, पर यदि यह न कर वे लोग कपड़ोंके बदले सीधे अन्य देशोंसे अपनी आवश्यकताकी वस्तु लेते तो उन्हें पुर्तगालवालोंसे व्यापार करके दोबारा विनिमयका कष्ट न उठाना पड़ता। ठीक है, परन्तु यदि इस सुप्रसिद्ध लेखकके विषयमें हमलोगोंके विचार इतने अच्छे न होते तो उसके इस लेखसे यही निर्धारित किया गया होता कि या तो वह इसे लिखते समय निष्पक्षपात नहीं हैं या वे अपने भावोंका स्पष्टतया प्रकाश नहीं कर सके। इन दोनों बातोंको छोड़ हमें केवल मनुष्यके स्वाभाविक निर्बलताका ही ध्यान कर सन्तोष करना पड़ता है, जिसका पूरा परिचय स्मिथ महोदयने अन्य स्थानोंपर भी

पेचीदा हास्यास्पद युक्तियें देकर दिया है। स्मिथ महोदय सचमुच स्वतन्त्र वाणिज्यकी पक्षरक्षाका महत्वयुक्त कार्य करते हुए स्वत: घबरा गये हैं।

विचार करनेसे विदित होता है कि उक्त निष्पत्तियोंमें कोई भी भावपूर्ण विचार और प्रबल युक्ति नहीं है। उनका कथन ऐसा ही नि:सार है जैसा कि यह कहना कि जो रोटी वाला ग्राहकोंके हाथ नगद रुपयेपर रोटी बेंचता है और फिर उस रुपयेसे आटा खरीदता है, उसका यह प्रयास व्यर्थ ही है। उसे चाहिए कि सीधे आटा बेचनेवालेको ही सब रोटियां देकर उसके बदले आटा ले लेवे और दोबारा विनिमयके झगड़ेसे अपनेको बचा ले। ऐसी युक्तिका उत्तर सहजमें दिया जा सकता है। पहले तो सम्भवत: आटावालेको इतनी रोटीकी आवश्यकता न होगी और दूसरे, पकानेका काम वह स्वयं भी कर सकता है। ऐसी दशामें बिना दोबारा विनिमयके रोटी वालेका व्यवसाय ही बन्द हो जायगा। मैथुअनकी सन्धिके समय इंग्लैण्ड और पुर्तगाल दोनोंकी व्यावसायिक दशा यही थी। पुर्तगालवाले दक्षिणी अमेरिकासे तैयार वस्तुओंके बदलेमें सोना और चांदी लाते थे। परन्तु उन लोगोंमें आलस्यकी मात्रा इतनी बढ़ गयी थी कि वे लोग स्वयं माल न बनाकर इसी द्रव्यसे अंग्रेजोंसे पक्का माल लेकर वहां भेजा करते थे। घरके खर्चसे जो कुछ रुपया बचता था उसे अंग्रेज लोग भारत तथा चीनमें भेजा करते थे और वहांसे माल खरीदकर उसे यूरोप महाद्वीपमें बेच देते थे और वहांसे सोना चांदी अथवा शिल्पोपयोगी कच्चा माल फिर अपने देशमें ले आते थे।

अब हम साधारण बुद्धिसे ही प्रश्न करते हैं कि यदि पुर्तगालवाले उन वस्तुओंको स्वयं बना लेते अथवा अन्य किसी देशसे मंगा लेते तो पुर्तगालमें गयी अंग्रेज़ोंकी वस्तुओंको कौन खरीदता? ऐसी दशामें उतनी वस्तुओंकी खपत कहां होती? क्योंकि पुर्तगालके अतिरिक्त अन्य देशोंको तो वह उनकी आवश्यकतानुसार माल बेच ही रहा था। परिणाम यह होता कि अंग्रेज़ोंको उतनी वस्तु कम बनानी पड़ती जितनी पुर्तगालमें भेजी जाती थी, फलत: भारतमें भी उतना ही सोना, चांदी भी कम भेजा जाता जितना पुर्तगालसे मिलता था। इसका फल यह होता कि अंग्रेज़ोंको यूरोप महाद्वीपमें बेचनेके लिए भारतीय वस्तुकी मात्रा भी उतनी ही कम मिलती और महाद्वीपसे जो कच्चा माल उनके घर आता उसमें भी उतनी ही कमी हो जाती।

स्मिथ महोदयकी तीसरी निष्पत्ति भी पिछली दोनोंके समान नि:सार है। आपका कथन है कि यदि पुर्तगालवालोंकी लक्ष्मीका प्रवाह अंग्रेज़ोंके हाथमें न बहा होता तो वे लोग पुर्तगालवालोंकी इस आवश्यकताको किसी और प्रकारसे पूरा कर देते। स्मिथ महोदयकी धारणा है कि पुर्तगालवाले अपनी आवश्यकतासे अधिक फालतू धनको निकालते ही। और वह किसी न किसी रीतिसे अंग्रेज़ोंके हाथ अवश्य लगता। हमने यह मान लिया है कि पुर्तगालवाले अपने लिए कपड़ा अपने आप बना लेते और अपने फालतू धनको भारतवर्ष तथा चीनमें भेजकर वहांसे माल मंगाकर दूसरे देशोंमें बेच देते। क्या हम पूछ सकते हैं कि ऐसी

दशामें पुर्तगालवालोंके द्रव्यका शतांश भी अंग्रेज़ोंके दृष्टिगोचर होता ? यदि पुर्तगाल वही मैथुयन्की सन्धि हालैण्ड या फ्रांसके साथ कर लेता तोभी तो यही फल होता, पर दोनों अवस्थाओंमें निःसन्देह इंग्लैण्डको पुर्तगालके द्रव्यका कुछ अंश तो अवश्य मिलता, पर उतना ही जितना उसका कच्चा ऊन इंग्लैण्ड खरीद लेता। संक्षेपतः यदि पुर्तगालवालोंके साथ मैथुयन सन्धि न हुई होती तो इंग्लैण्ड भी शिल्प, वाणिज्य तथा जल-यात्रामें इतनी अधिक उन्नति कदापि न कर सका होता।

मैथुयन सन्धिका परिणाम इंग्लैण्डके लिए चाहे कितना ही लाभकारी क्यों न हुआ हो, इतना तो स्पष्ट है कि इस सन्धिसे पुर्तगालको कोई ऐसा लाभ नहीं हुआ जिसके लोभसे अन्य राष्ट्र भी अपने कच्चे मालको बाहर भेजनेमें लाभ देखकर अपने यहां अंग्रेज़ी बना माल आने देते। इंग्लैण्डके सम्बन्धसे पुर्तगालकी कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय और जल यात्राकी दिनोदिन हानि ही होती गयी। अंग्रेज़ोंकी प्रतिस्पर्धाने उन्हें इतना ध्वस्त कर दिया था कि उनको सम्भालनेके लिए पोम्बल[७९]का प्रयत्न निष्फल हो गया। साथ ही साथ यह भी न भूलना चाहिये कि पुर्तगाल ऐसे देशमें जहां कि सामाजिक दशा कृषि तथा व्यवसाय की उन्नतिके प्रतिकूल है व्यावसायिक नीतिसे वहां तक लाभ हो सकता है। तथापि पोम्बलने जो कुछ थोड़ा सा प्रयत्न किया उससे सिद्ध होता है कि यदि सामाजिक दशाओंसे उत्पन्न हुए आन्तरिक विघ्न दूर कर दिये जायँ तो व्यावसायिक उन्नतिके लिए उत्सुक सरकार बहुत कुछ कर सकती है।

स्पेनमें पञ्चम[८०] फिलिप और उनके दो उत्तराधिकारियोंके शासन कालमें भी यही अनुभव प्राप्त हुआ था। यद्यपि बोरबोनोंके शासनकालमें देशीय कारीगरीकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध नहीं था और चुंगी आदि नियमोंके पालनपर भी कुछ अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था तथापि कोलबर्टकी फ्रांस-स्पेन सम्बन्धी व्यावसायिक नीतिका अवलम्बन करनेसे प्रत्येक प्रयत्नमें और प्रत्येक व्यवसायमें निःसन्देह उत्साहके चिन्ह दिखायी देते थे* उस्टारीज और उलोआने, उस समयकी अवस्थाओंमें जो परिणाम हुए उनका बड़ा आश्चर्यजनक ब्योरा दिया है। "उस समय केवल खच्चरोंके आने जानेके लिए बहुत ऊबड़ खाबड़ पगडण्डी मात्र थी। मार्गमें विश्राम लेनेके लिए सरायोंका नाम निशान भी नहीं था। जल द्वारा माल ले आनेका कोई प्रबन्ध ही नहीं था। चुंगी की इतनी भरमार थी कि एक प्रान्तसे दूसरेमें कुछ भी ले जाना कठिन ही था। प्रत्येक नगरके द्वारपर सरकारी कर लगता था। भिखमंगापन और डकैती भी रोजगार बने हुए थे। नाजायज़ व्यवसाय भी खूब जोरोंपर थे, और कर लेनेमें तो लोगोंको खूब दबाकर चूस लिया जाता था"। उक्त लेखक गण इन्हीं बातोंको वहांकी कृषि और व्यवसायकी दुर्दशाका प्रधान कारण मानते हैं।

---

* विदेशी वस्तुओंको अन्दर आनेसे रोक देनेसे स्पेनके औद्योगिक व्यवसायकी बहुत उन्नति हुई। उस समयसे पहले वह कुल मालका ⅙वां भाग इंग्लैण्डसे लेता था (ब्रोधाम यूरोपीयन शक्तियोंकी औपनिवेशिक नीति गवेषणा"का १ भाग, पृ. ४२१।)

परन्तु इन बुराइयोंके प्रधान कारण उस समयका धर्मोन्माद, पादरियोंकी विलासिता तथा लालच, अमीर रईसोंके विशेष अधिकार, सरकारी शासनकी निष्ठुरता तथा जनताका पराधीन और अशिक्षित होना ही है। परन्तु इन कारणोंपर तीव्र आलोचना करनेका साहस उस्टारीज़ और उलोआने भी नहीं किया।

मैथुअन सन्धि जैसी ही स्पेनके साथ सं० १७७० (सन् १७१३) में असिएन्टोंकी सन्धि है। इससे अँग्रेजोंको स्पेनके अधीन अमेरिका प्रदेशमें प्रतिवर्ष अफ्रीकाके कुछ हबशी तथा वर्षमें एक बार पोर्टोवेलो बन्दरगाहमें अपना जहाज ले जानेका अधिकार मिला। इस अवसरसे लाभ उठाकर अंग्रेज़ लोग स्पेनवालोंकी आंखोंमें धूल झोंक कर प्रति वर्ष बेईमानीसे बहुतसा माल ले जाते थे। *

इस प्रकार मालूम होता है कि कृषिकी उपज और कच्ची वस्तुओंको बाहर भेजनेका दिखावटी लाभ समझाकर अंग्रेजोंने सभी संधियों द्वारा अपने कारखानोंकी बनी वस्तुओंके व्यवसायको बढ़ानेकी चेष्टा की है। जहां देखिये वहीं सस्ती वस्तुओंका प्रचार कर तथा अधिक समयके बाद उधार देकर, तद्देशीय शिल्प शक्तिको नाश करनेका ही उन्होंने प्रयत्न किया। जहां कहीं उन्हें सस्ती चुँगीका सुभीता नहीं मिला वहां वे चुँगीघरको धोखा देने और चोरी चोरी व्यवसाय करनेकी चेष्टा करते थे। पुर्तगालमें धोखेकी और स्पेनमें चोरीकी सफलताका यथोचित उल्लेख किया गया है। वस्तुके मूल्यपर कर देना उन्हें इतना सुविधा-जनक था कि अभी हालमें तौलपर कर देनेकी प्रथाका जो कि प्रशियामें जारी है वे लोग विरोध करते आये हैं।

# षष्ठ अध्याय।

## फ्रांसीसी।

फ्रांस भी रोमकी सभ्यताका बहुत कुछ उत्तराधिकारी बना किन्तु जर्मन फ्रेंकके उत्पातसे पुनः सर्वनाश हो गया और कितने खेत जो पहले जोते बोये जाते थे ऊसर हो गये जिसमें वे लोग आखेट किया करते थे। यद्यपि आगे चल कर मठ ही सभ्यताके बाधक हुए तथापि मध्य युगमें फ्रांसकी कृषिकी उन्नति उन्हींके कारण हुई थी। उन मठोंमें रहनेवालोंमें अमीरोंकी भांति न तो वैमनस्य ही था और न अपने अधीनोंको लड़ाईमें भेजनेके लिए वे कष्ट ही

* इस संधिके बाद अंग्रेज लोगोंने स्पेनिश अमेरिकासे इसप्रकार व्यवसाय करना आरम्भ किया। वे कई जहाजोंमें माल भरकर अमेरिकाको रवाना होते थे। कहीं समुद्रमें सब जहाज छिपाकर एक जहाज़ लेकर बन्दरगाहपर पहुंचते थे। दिनको तो उस जहाज़का माल उतरता था रातको चुपचाप उसी जहाज़को फिर समुद्र स्थित जहाजोंके मालसे भरकर बन्दरगाहमें लगा देते थे। इसी प्रकार स्पेनवालोंकी आंखोंमें धूल झोंककर उन लोगोंने अपने मालका प्रचार स्पेनिश अमेरिकामें खूब अधिक किया।

देते थे । इसके अतिरिक्त उनके पशु भी सुरक्षित रहते थे । पादरी लोग लड़ाई झगड़ेसे भागते और शान्तिसे जीवन व्यतीत करना चाहते थे । दुखियोंकी सहायता कर कीर्त्ति और सत्कार प्राप्त करनेकी भी उनमें लालसा थी । कहावत भी प्रसिद्ध है कि मठ-की छाया बड़ी सुखद होती है । फ्रांसकी व्यावसायिक उन्नतिपर बहुत पहले ही क्रुसेडकी यात्रा, नवम लुई द्वारा स्थापित नागरिक समाज और वणिक संघ तथा इटली और फ्लाण्डर-की निकटताका भी बड़ा प्रभाव पड़ा था । चौदहवीं शताब्दीमें ही नारमण्डी और ब्रिटनीमें स्वदेशकी खपतके अतिरिक्त इंग्लैण्ड भेजनेके लिए भी पर्याप्त ऊनी कपड़े और क्षौमपट बनते थे । मद्य और नमकका हान्सवाले दलालों द्वारा बाहर भेजा जाना भी एक महत्त्वपूर्ण काम हो गया था ।

प्रथम फ्रान्सिस[८६]के प्रभावसे दक्षिणीय फ्रांसमें रेशमका काम आरम्भ हो गया था । चतुर्थ[८७]हेनरी भी इस व्यवसायका पक्षपाती था और शीशा, क्षौमपट एवं ऊनके शिल्प की भी उसने बड़ी सहायता की । रिचलिउ[८८] और मज़ारिन[८९] भी रेशमके शिल्प रुएन[९०] तथा सेडन[९१] की मखमल और ऊनी वस्तु एवं जलयात्रा तथा मछुआहीकी उन्नतिका बड़ा ध्यान रखते थे ।

अमेरिकाके आविष्कारसे संसारमें सबसे अधिक लाभ फ्रांसहीको हुआ । पश्चिमीय फ्रांससे स्पेनमें बहुत अन्न भेजा जाता था और प्रतिवर्ष बहुतसे किसान जीविका-की खोजमें पिरेनीज़[९२] की तराईसे स्पेनके उत्तर पश्चिमीय प्रदेशोंमें जा बसते थे । मद्य और नमक स्पेनके नेदरलैण्डमें बहुतायतसे भेजा जाता था और रेशम, मखमल तथा सुखकी अन्य सामग्री इंग्लैण्ड, स्पेन, नेदरलैण्ड और पुर्तगालमें बहुत अधिक बिकती थी । फलतः स्पेनके सोने और चांदीके सिक्के बहुत पहले हीसे फ्रांसमें फैल गये थे । परन्तु फ्रांसके व्यवसायकी अति समृद्ध दशा कोल्बर्ट[९३]के समयसे ही आरम्भ होती है ।

मजारीनकी मृत्युके समय देशकी आर्थिक अवस्था अति शोचनीय हो रही थी और मछुआही, शिल्प, व्यवसाय एवं जलयात्रा भी उन्नत अवस्थामें नहीं थे ।

जिस कार्यका सम्पादन इंग्लैण्डने लगातार तीन शताब्दियोंके परिश्रमसे किया था उसको करनेका साहस कोल्बर्टने अकेले ही किया । सभी देशोंसे उसने कारीगर बुलाये । धन देकर वाणिज्यके मर्मकी प्राप्ति की और उत्तम उत्तम कल तथा औजारोंको तैयार कराया । उसने इस प्रकारकी चुंगी लगायी कि विदेशी मालका आना बन्द हो गया और वहां देशी मालका प्रचार होने लगा । उसने नहर तथा सड़कोंको बनवा कर एवं आवश्यकतानुसार प्रान्तीय करोंको घटाकर अथवा बन्दकर देशीय व्यवसाय बढ़ाया । इन युक्तियोंसे शिल्पकी अपेक्षा कृषिको अधिक लाभ हुआ क्योंकि इससे खरीदारोंकी संख्या दूनी तिगुनी बढ़ गयी और उत्पन्न करनेवालों तथा खरीददारोंमें सीधा लेनदेन सुविधासे होने लगा । कोल्बर्टने खेतोंकी मालगुजारी घटाकर तथा उनके वसूल करने वालोंकी क्रूरताको मिटाकर, कर व्यवस्थाको सबके लिए समान कर तथा सूदकी दर घटा कर कृषिकी और

भी उन्नति की। केवल मंहगीके समय अनाजको बाहर भेजनेकी मनाही थी। मत्स्यग्राही और विदेशी वाणिज्यकी उन्नतिकी ओर उसने विशेष ध्यान दिया था। उसके समयमें लेवाण्टवालोंके साथ वाणिज्य फिरसे आरम्भ किया गया। उपनिवेशोंमें व्यवसाय और बढ़ाया गया तथा उत्तरीय देशोंके साथ वाणिज्य आरम्भ किया गया। कोल्बर्टने प्रत्येक शासनविभागमें सुप्रबन्ध और मितव्ययिता फैला दी। उसकी मृत्युके समय फ्रांसमें ५०००० ऊन बिननेके करघे चलते थे जिनमें ३ करोड़ १० लाखसे ऊपरके कपड़े बनते थे। राज्यकी मालगुजारी भी १ करोड़ ७५ लाख बढ़ गयी थी और देशकी जलशक्ति, व्यावसायिक जलयात्रा और मत्स्यग्राही अत्युत्कृष्ट हो गयी थी।

एक शताब्दी बाद अर्थशास्त्रियोंने कोल्वर्टकी निन्दा करनी आरम्भ की। उनका कथन था कि कोल्बर्ट कृषिकी क्षति कर केवल शिल्प हीके पीछे पड़ा रहा। परन्तु इस समालोचनासे केवल यही सिद्ध होता है कि इन लोगोंको शिल्प-व्यवसायका ज्ञान ही न था।

कच्ची वस्तुओंको बाहर भेजनेमें समय समयकी रुकावटोंका विरोध न करनेमें चाहे कोलवर्टकी कुछ भूल रही हो, परन्तु उसने देशी व्यवसायकी ऐसी उन्नति की कि कच्ची वस्तुकी मांग बहुत बढ़ गयी और उन रुकावटोंसे जो हानि हुई उसका दसगुना लाभ होता रहा। चिरकाल व्यापी एकराजतंत्र शासनके कारण वहांकी प्रजामें तनिक भी उत्साह न रह गया था। और वे लोग प्रत्येक व्यवस्थाका विरोध करते थे इससे कोल्वर्टने दण्डका भय देकर शिल्पका कार्य कराना आरम्भ किया। यद्यपि आजकलके सुविज्ञ नीतिविशारदोंका मत इससे भिन्न है तथापि उस समय यही विधि उचित समझी जाती थी और यही अधिकतर हितकर भी सिद्ध होती थी।

कुछ लोग कोल्बर्टपर यह अपराध लगाते हैं कि उसकी प्रतिबन्धक नीतिके कारण फ्रांसका व्यवसाय नष्ट हो गया। परन्तु यह उन्हीं लोगोंका कथन है जो नेन्टीज़[६४] की आज्ञाके रद्द करनेको छिपाना चाहते हैं।* इन्हीं शोकप्रद काररवाइयों द्वारा कोल्वर्टकी

---

*उपरोक्त वाक्यके लिखनेका यह अभिप्राय है कि चतुर्थ हेनरीने फ्रांसकी गद्दी प्रोटेस्टेण्टोंकी सहायतासे पायी थी। उस समय इनपर बड़ा अत्याचार किया जाता था। राजाने सं० १६५५ (सन् १५९८) में नेन्टीज़का आज्ञापत्र निकाला। इसके द्वारा प्रोटेस्टेण्टों-पर अत्याचार कम होने लगा। जिस समय कोल्वर्ट प्रधान कोषाध्यक्ष था उस समय चारों तरफ शान्ति फैल रही थी। उसे व्यवसायकी उन्नतिका भी खूब अवसर मिला। चौदहवें लूई को मन्त्रियोंने बहकाकर नेन्टीज़की आज्ञापत्रको सं० १७४२ (सन् १६८५) में रद्द करवा दिया। अब क्या था। प्रोटेस्टेन्टोंपर पुनः प्राचीन अत्याचार आरम्भ हुआ और लाखों समृद्ध प्रोटेस्टेण्ट कारीगर प्राणरक्षाके लिए देश छोड़कर भागे। फ्रांसके व्यवसायके नष्ट होनेका मूल कारण यही है। पर जो लोग इसे छिपाना चाहते हैं वे सारा दोष कोल्वर्टकी व्यवस्थापर ही रखते हैं।

मृत्युके तीन ही वर्ष बाद पांच लाख बड़े उद्यमी, दक्ष और उन्नतिशील लोग फ्रांससे निर्वासित किये गये थे। पूर्वमें जिन लोगों द्वारा फ्रांसकी उन्नति हुई थी उन्हींने अब फ्रांसको द्विविधा क्षति पहुंचायी* और अपने व्यवसाय और मूलधनको स्विटज़रलैण्ड, जर्मनी (विशेषतः प्रशा) इंग्लैण्ड एवं हालैण्ड तथा अन्य प्रोटेस्टेन्ट मतावलम्बी देशोंमें लगा दिया। इस प्रकार एक अदूरदर्शी मन्त्रीके षड्यन्त्रसे पचासों वर्षका किया हुआ काम केवल तीन वर्षमें चौपट हो गया, और फ्रांस पुनः पूर्ववत् शोचनीय दशाको प्राप्त हुआ। किन्तु इंग्लैण्ड इस समय अपनी उत्तम शासन प्रणालीकी छायामें उद्यमोद्बोधिनी राज्यक्रांतिकी सहायतासे एलिज़बेथ तथा उसके पूर्वजोंके कार्यको उसी परिश्रम एवं अदम्य उत्साहसे सफलता पूर्वक करता जाता था।

इधर इतने दिनोंके कुशासनसे फ्रांसकी आर्थिक तथा व्यावसायिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो रही थी, उधर इंग्लैण्डका ऐश्वर्य उन्नतिके शिखरपर चढ़ रहा था। इन बातोंपर फ्रांसकी राज्यक्रान्तिके थोड़े ही दिन पूर्वसे वहांके नीतिज्ञोंका ध्यान जा रहा था। अर्थ शास्त्रियोंके तत्व-शून्य मन्तव्योंसे उन्मत्त हो वे लोग कोल्वर्टकी प्रति-बन्धक नीतिको तोड़ कर स्वतन्त्र वाणिज्यकी स्थापना ही देशकी दशा सुधारनेका एक मात्र उपाय समझने लगे। उन लोगोंने सोचा कि फ्रांसका मद्य इंग्लैण्डमें अधिकतर जाने लगे तो केवल आमदनीसे फ्रांस बातकी बातमें मालामाल हो जायगा। इससे उन लोगोंने अंग्रेजी वस्तुओंको केवल १२ प्रति सैकड़े चुंगीपर आने दिया। इंग्लैण्डको तो इससे अति प्रसन्नता हुई। उसने तुरन्त ही ऐडनकी सन्धि[६५] सं० १८४३ (सन् १७८६) के रूपमें मेथुएन सन्धि पत्रकी प्रतिलिपि स्वीकार कर ली। इसके लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि इस सन्धिसे फ्रांसकी भी वही दुर्दशा हुई जो पुर्तगालकी हुई थी।

अंग्रेजोंके मुंह तो स्पेन तथा पुर्तगालकी मदिरा लगी ही थी, भला फ्रांसका मद्य इन्हें कब रुचिकर होता। इससे वहांकी खपत बहुत अधिक न बढ़ सकी। उधर फ्रांस वालोंको यह देख कर और भय हुआ कि वे लोग केवल विलासिताकी वस्तु अंग्रेजोंको देते थे जिनका कुल मूल्य बहुत थोड़ा होता था और अंग्रेज़ी वस्तु प्रति दिनके प्रयोगकी होती थी और फ्रांसके मालकी अपेक्षा सस्ती एवं अधिक अच्छी भी होती थी। उसका कुल मूल्य बहुत अधिक होता था। इसके अतिरिक्त अंग्रेज लोग व्यापारियोंको उधार माल भी देते थे। थोड़े दिनोंके संघर्षणके उपरान्त फ्रांसके शिल्पकी इतिश्रीका समय आगया और उसके मद्यके व्यवसायियोंको लाभ भी बहुत थोड़ा हुआ। इसपर फ्रांसने चाहा कि सन्धिको तोड़ कर अपने शिल्पकी रक्षा करें परन्तु उनको केवल यही शिक्षा मिली कि किसी उन्नत शिल्पका सत्यानाश तो

* एक तो उन लोगोंके चले जानेसे फ्रांसकी व्यवसाय लक्ष्मी निकल गयी और व्यवसाय बन्द हो गया। दूसरे अन्य देशोंमें बसकर उन्होंने वहांका व्यवसाय बढ़ाकर उसे फ्रांसका प्रतिद्वन्दी बना दिया। यही द्विविधा क्षति है।

शीघ्र ही हो सकता है परन्तु बिगड़को सुधारनेमें पचासों बरस लग जाते हैं। अंग्रेजी वस्तुएँ फ्रांस वालोंके इतनी मुंह लग गयी थीं कि आना रोकनेपर भी चोरी चोरी उनका व्यवसाय होता ही रहा और रोकना कठिन हो गया। अंग्रेज लोगोंने सन्धि टूटते ही फिर भी पूर्ववत् स्पेन तथा पुर्तगालके मद्यका व्यवहार करना आरम्भ कर दिया।

यद्यपि राज्यक्रान्ति और नेपोलियनके युद्धोंसे फ्रांसकी अवश्य हानि हुई और फ्रांस उसी समय अपने उपनिवेशों तथा समुद्रीय व्यवसायसे हाथ धो वैठा तथापि केवल जागीरदारीकी प्रथाके सुधारसे और अपनी आवश्यकताकी समग्र वस्तु अपने ही यहां बनानेसे फ्रांसने पहलेसे कहीं अधिक विभवका सम्पादन कर लिया। जहां कहीं महाद्वीपकी वस्तुओंका जाना रुका वहां ऐसा ही परिणाम दृष्टि गोचर हुआ। जर्मनी एवं अन्यान्य प्रदेश इसके उदाहरण हैं।

नेपोलियनने अपनी स्वाभाविक कटु भाषामें कहा था कि संसारकी आधुनिक अवस्था ऐसी हो रही है कि इस समय जो राष्ट्र स्वतन्त्र वाणिज्यका अनुसरण करेगा उसका पतन अवश्य ही होगा। उसके इन शब्दोंकी चरितार्थता जितनी फ्रांसके व्यवसायके सम्बन्धमें प्रतीत होती है उतनी तत्कालीन अर्थ शास्त्रियोंके संपूर्ण किसीभी मन्तव्यको ढूंढ़नेसे भी नहीं देख पड़ती। नेपोलियनने अपनी अद्भुत सूक्ष्म बुद्धिके प्रभावसे अर्थशास्त्रके अनुशीलन विनाही शिल्पशक्तिके गुण और विशेषताका परिज्ञान प्राप्त कर लिया था। अर्थशास्त्रके पोथोंपर सिर न मारना उसके तथा फ्रांसके लिए अच्छा ही था। उसने एक वार कहा था कि पहले केवल एक ही प्रकारकी सम्पत्ति थी अर्थात् भूमि ( जमीदारी ), परन्तु अब एक और नयी प्रादुर्भूत हुई है जिसका नाम व्यवसाय है। इस कथनसे सिद्ध होता है कि उसने शिल्पका प्राधान्य भलीभांति समझ लिया था और वह जानता था कि कृषि प्रधान देशोंकी अपेक्षा शिल्प और कृषि दोनोंकी सहायता लेनेवाला राष्ट्र अधिक धनाढ्य और शक्तिशाली होगा। खेद है कि तत्कालीन अर्थशास्त्रियोंकी बुद्धिमें यह बात न समायी थी। नेपोलियनने फ्रांसमें व्यावसायिक शिक्षाका जो प्रबन्ध किया तथा सड़क आदिकी जिस प्रकारसे व्यवस्थाकी उसके बतानेकी आवश्यकता नहीं हैं। किन्तु इस सम्बन्धमें उस बलवान और प्राज्ञ शासक पर पक्षपातान्ध अर्थशास्त्रियोंने जो कटाक्ष किये हैं, उनकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है।

अनुवादक-हरिहरनाथ।

# नागरिकता

साधारणतः 'नागरिक' शब्दसे 'नगरमें रहने वाले' का बोध होता है। प्रतिदिनकी बोलचालमें 'काशीके नागरिक' का केवल इतना ही अर्थ है कि वे 'काशी निवासी' हैं। परन्तु राजनीतिक परिभाषामें 'नागरिक' शब्दका अर्थ इससे कहीं विस्तृत है। इस अर्थमें यह शब्द 'विदेशियों'के प्रतिकूल है। प्रत्येक देशके निवासियोंकी दो श्रेणियां हुआ करती हैं, एक तो जो वहींके रहने वाले हैं, अर्थात् 'नागरिक' और दूसरे जो किसी अन्य देशके निवासी हैं, पर कुछ कालके लिये उस देशमें ठहरे हुए हैं, अर्थात् 'विदेशी'। नागरिक पूर्णरूपसे राष्ट्रके अधीन हैं, पर विदेशी' जो अपनी सम्पत्ति और जीवनकी रक्षाके बदलेमें केवल साधारण नियमोंको मानते हैं, नागरिककी तरह सर्वथा राष्ट्रके अधीन नहीं समझे जा सकते। ये लोग प्रायः नागरिकोंके राजनीतिक अधिकारोंसे वंचित रहते हैं।

'नागरिक' का वास्तविक अर्थ समझानेके लिये, ऊपर कहे हुए भेदके साथ ही साथ, 'नागरिक' और 'प्रजा' में क्या भेद है, यह भी बतला देना अत्यन्त आवश्यक है। किसी देश या राष्ट्रकी सारी जनसंख्याको हम नागरिक नहीं कह सकते हैं। जिनलोगोंको राजनीतिक निर्वाचनोंमें वोट देने, प्रतिनिधि बनने तथा शासनमें पद प्राप्त करनेका अधिकार है उन्हीं लोगोंके लिये आजकल प्रायः 'नागरिक' शब्दका प्रयोग होता है। जिन लोगोंको ये राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते उनकी गणना साधारण प्रजामें की जाती है। वर्तमान प्रजातंत्र राष्ट्रोंमें भी यह बात अवश्य है कि नागरिक और प्रजा दोनों ही, नियमकी दृष्टिमें, समान हैं, दोनों के ही जीवन और सम्पत्तिकी रक्षाका भार, राष्ट्रके मत्थे है, पर साथ ही साथ दोनोंके राजनीतिक अधिकार समान नहीं हैं। प्रजातंत्रके सिद्धान्तोंका इतना प्रचार होते हुए भी, प्रत्येक राष्ट्रकी जनसंख्याका एक भारी भाग इन अधिकारोंसे वंचित है। बहुतसे देशोंमें स्त्रियोंको यह अधिकार प्राप्त नहीं है। कहीं कहीं जैसे अमरीकाकी कुछ रियासतोंमें, इन अधिकारोंकी प्राप्तिमें शिक्षित अशिक्षितके भेद-पर ध्यान रक्खा जाता है। कहीं कहीं निश्चित आर्थिक सम्पत्ति होनेसे, या कोई मुख्य कर देनेसे ये अधिकार मिलते हैं। परन्तु प्रायः देशोंमें पागल, सज़ा पाये हुए बदमाश और बच्चोंको यह अधिकार नहीं मिलता है।

इस अर्थमें भी नागरिकोंकी दो श्रेणियां हैं, एक तो वे जो अपने जन्मसे ही नागरिक हैं, और दूसरे वे जिन्होंने कुछ विशेष नियमोंका पालन करके यह अधिकार प्राप्त कर लिया है। ये दूसरी श्रेणीवाले प्रायः विदेशी होते हैं, जो स्वदेशके नागरिका-धिकारको छोड़ कर जहां बसते हैं वहींके नागरिक बनजाते हैं। बहुतसे राष्ट्रोंमें ये लोग कुछ विशेष अधिकारोंको प्राप्त करनेमें अयोग्य समझे जाते हैं। जैसे अमरीकामें

राष्ट्रपतिके पदके लिये ऐसे कृत्रिम नागरिकका निर्वाचन नहीं हो सकता। ऐसा होना कई अंशोंमें ठीक भी है, क्योंकि **'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'** का भाव उसीमें आ सकता है जिसका उस देशमें जन्म हुआ है। देशके रीतिरिवाज तथा परंपरागत सभ्यताका ज्ञान और प्रेम, किसी विदेशीको, वह कितने ही दिनसे वहां क्यों न रहता हो, कभी नहीं हो सकता। ऐसी दशामें ऐसे उच्च पदको उसी व्यक्तिको देना उचित है जिसने स्वदेशप्रेमको अपनी माताके स्तन्यके साथ ही पान किया है, और जिसकी रग रगमें अपने पूर्वजोंका रक्त वाहित हो रहा है।

नागरिकाधिकार भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें कई प्रकारसे प्राप्त होता है। इन सबमें मुख्य वह है, जो जन्मसे ही प्राप्त है। स्वतंत्र राष्ट्रोंको अपने नागरिकोंकी संख्या बढ़ानेकी सदा आवश्यकता रहती है। नागरिकोंकी वृद्धिम ही उसकी वास्तविक शक्ति है। इसी लिये इन स्वतंत्र राष्ट्रोंने 'जन्म' के अर्थको भी बहुत विस्तृत बना रखा है। जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और स्विटजलैंडका नियम है कि वहांके नागरिकका पुत्र, वह किसी देशमें क्यों न हुआ हो, उसी देशका समझा जायगा, जहांका उसका पिता है। इसके प्रतिकूल अर्जेंटायन ऐसे देशोंमें यह नियम है कि देशकी भूमिमें ही जन्म लेनेसे वह नागरिक माना जायगा, उसका पिता चाहे जिस देशका हो, इसी तरह किसी नागरिकका पुत्र, विदेशमें जन्म लेनेसे, अर्जेंटायनका नागरिक नहीं हो सकता है। ब्रिटेन, अमरीका और फ्रांसने वंश तथा भूमि दोनोंके सिद्धांतोंको एकमें मिला दिया है। यहांके नियमानुसार इन राष्ट्रोंके नागरिकोंके पुत्र, किसी देश या राष्ट्रमें उत्पन्न होनेपर भी इन्हीं राष्ट्रोंके नागरिक समझे जायंगे, साथ ही साथ विदेशियोंके पुत्र भी, जो इन राष्ट्रोंकी भूमिपर उत्पन्न हुए हैं, इन्हीं राष्ट्रोंके नागरिक माने जायंगे। उदाहरणार्थ अमरीकाके नागरिकका पुत्र, भारतवर्षमें उत्पन्न होनेपर भी अमरीकाका ही नागरिक रहेगा, साथ ही साथ, किसी भारतवासीका पुत्र भी, अमरीकामें पैदा होने से, अमरीकाका नागरिक बन जायगा। इंग्लैंडके नियम तो और भी बढ़े हुए हैं, अंग्रेजी जहाज या किसी अंग्रेजी दूतके अहातेमें पैदा होनेसे ही उसके अधिकार इंग्लैंडमें उत्पन्न होनेके समान समझे जाते हैं।

नागरिकाधिकार देनेके लिये जन्मभूमिका आधार सबसे सरल अवश्य है, पर साथ ही साथ बहुत सकुंचित है। आजकल आने जानेका इतना अधिक सुभीता है कि जन्मस्थान अनिश्चित घटना है। किसीका जन्म कहीं हो जाय, ऐसी दशामें उसको वहींका नागरिक बना देना, ठीक नहीं जान पड़ता। इसीलिये वंशका ध्यान अवश्य रखना चाहिये। मानस-शास्त्रानुसार भी माता पिताके स्वभाव और ज्ञानका संततिपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। ऐसी दशामें उनकी सन्तानका भी उन्हींके देश या राष्ट्रके नागरिक बनना स्वाभाविक जान पड़ता है।

जन्मके अतिरिक्त और भी कई प्रकारसे कोई मनुष्य किसी देशका नागरिक बन सकता है। कोई स्त्री यदि किसी विदेशीके साथ विवाह करती है, तो वह अपने

पतिके देश या राष्ट्रके नागरिकाधिकारको प्राप्त कर सकती है। किसी विदेशीके पुत्र, जहां वह पैदा हुए हैं, वहांके नागरिक अपनी इच्छानुसार बन सकते हैं। उच्च सरकारी-पद पर नियुक्त होनेसे कहीं कहीं यह अधिकार मिल जाता है। परन्तु प्रायः सभी राष्ट्रोंमें, प्रार्थना करनेसे, कुछ नियमोंको पालन कर चुकनेपर, विदेशियोंको वहांकी सरकार द्वारा नागरिकाधिकार मिल जाता है।

यह नियम भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें भिन्न भिन्न हैं, पर प्रायः सभी जगह निवासकालपर अधिक ध्यान दिया जाता है। किसी विदेशीको किसी राष्ट्रके नागरिक बननेके लिये यह आवश्यक है कि वह एक निश्चित समयसे वहां बसा हो। ऐसा होनेसे प्रार्थना करनेपर अधिकार मिल जाता है। परन्तु कहीं कहीं यह अधिकार भी दो प्रकारका होता है, एक तो पूर्ण और दूसरा अधूरा। पूर्ण अधिकार पानेके नियम भी जटिल होते हैं, पर अधूरे अधिकार साधारण रीतिसे मिल जाते हैं। अधूरे अधिकार प्राप्त नागरिक शासनमें उच्च पदोंपर नियुक्त नहीं हो सकता। ग्रेट ब्रिटेनमें पूर्णाधिकार प्राप्तिके लिये पार्लमेण्टकी अनुमति लेनी पड़ती है, पर अधूरा अधिकार जो नाममात्रका है, सरकारसे मिल सकता है।

जब कोई राष्ट्र किसी देशको जीतकर, या उसकी इच्छासे, अपनेमें मिला लेता है तो कभी कभी उस देशके निवासियोंको भी उस राष्ट्रके नागरिक बननेका अधिकार आप ही आप मिल जाता है। इतिहासमें ऐसा कई बार हुआ है। अमरीकाके संयुक्त राष्ट्रोंने फ्लोरिडा, लुइशियाना, कैलीफोर्निया और अलास्काको अपनेमें मिला लेनेपर, वहांके निवासियोंको अपना नागरिक मान लिया। इसी तरह जब कोई राष्ट्र अपने कुछ भागको किसी दूसरे राष्ट्रको किसी कारणसे दे देता है तो संधिमें नियम रखनेसे वह भाग, उसी राष्ट्रका जिससे वह पृथक् किया गया है नागरिक बननेका अधिकारी हो सकता है। यदि परस्परमें ऐसा कोई नियम निश्चित नहीं होता है, तो उच्च राष्ट्रके नियमोंका ही प्रयोग होता है।

किसी देशके नागरिक होने या बननेसे कई एक विशेष राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। वह उस देशमें सदा रह सकता है, विदेशमें रहनेपर भी उसकी रक्षाका भार, उसी राष्ट्रको लेना पड़ता है। राजनीतिक निर्वाचनोंमें वह वोट दे सकता है, और शासनमें पद प्राप्त कर सकता है। साधारण रीतिसे विदेशी भी राष्ट्रकी रक्षाके अधिकारी हैं, पर वे उसके लिये बाध्य नहीं है। पूर्ण नागरिक होनेका यही अर्थ है कि वह राष्ट्रका एक सदस्य है, और उसके शासनमें भाग लेनेका अधिकारी है। व्यक्ति और राष्ट्रमें क्या सम्बन्ध है, इसका पता नागरिकाधिकारसे ही लगता है।

यह अधिकार जैसे मिल सकता है, वैसे ही छीना भी जा सकता है। विदेशियोंके साथ विवाहकर लेनेपर स्त्रियोंका यह अधिकार जाता रहता है। कहीं कहीं किसी अन्य राष्ट्रमें नौकरी करनेसे ही स्वराष्ट्रमें इस अधिकारसे हाथ धोना पड़ता है। सैनिक सेवासे हटने, या किसी घोर अपराधमें दण्ड पानेपर भी यह अधिकार छिन जाता है।

इसी तरह इसके लिये राष्ट्रोंमें भिन्न भिन्न नियम हैं। पर एक नियम प्रायः सभी जगह है। इसके अनुसार यदि कोई नागरिक अपने राष्ट्रसे बहुत कालतक बाहर रहता है और वहांके नागरिक बने रहनेकी इच्छा प्रकट नहीं करता है, तो यह अधिकार आपही आप जाता रहता है। कहीं कहीं अपनी इच्छानुसार व्यक्ति अपने नागरिकाधिकारको छोड़ भी सकता है। इस विषयमें राष्ट्रोंके नियमोंमें बहुत भेद है। कई जगह यह नियम है कि जबतक सेनामें भरती न हो लेवे, वह अपने इस अधिकारको अपनी इच्छानुसार छोड़ नहीं सकता है।

यदि नागरिकोंके लिये यह विशेष अधिकार हैं, तो साथ ही साथ, उनके कर्त्तव्य भी हैं, जिनका उन्हें सदा ध्यान रखना चाहिये जैसे बिना अधिकारके कोरे कर्त्तव्यका प्रभाव नहीं जमता, वैसे ही बिना कर्त्तव्यके अधिकार पाजानेसे मनुष्य निरंकुश हो जाता है। इसलिये कर्त्तव्योंका बंधन परमावश्यक है। राष्ट्र और शासनका निर्म्माण समाजके हितके लिये अवश्य हुआ है, पर साथ ही साथ राष्ट्र या शासन और समाजमें कोई भेद भी नहीं है। शासन, समाजके कुछ प्रतिनिधि नागरिकोंका एक संगठन मात्र है। ऐसी दशामें शासन यदि कोई भूल करता है, तो उसका अर्थ यह है कि नागरिक कर्त्तव्यपरायण नहीं हैं।

जहां राष्ट्रको यह सच्चा उच्चादर्श प्राप्त हो गया है, वहां नागरिकका सबसे पहिला कर्तव्य नियम-पालन है। यह नियम उसीके बनाये हुए हैं, यदि स्वयं वही उनको नहीं मानता है, तो उनका कोई मूल्य नहीं है। जबतक नागरिकोंमें यह भाव न हो, राष्ट्रका संगठन ही नहीं हो सकता। जहां शासनका आधार बल है, और जहांकी जनसंख्या प्रजा समझी जाती है, वहां कोई शक्ति कुछ काल अपना काम भले ही चला लेवे, पर, प्रजातंत्र राष्ट्रोंमें शासन, उसके नागरिकोंमें इस नियम-पालनके भावपर ही निर्भर है। किसी नियमके भंग करनेसे जो दण्ड मिलता है, वह व्यक्तिको अवश्य असह्य जान पड़ता है, पर समाजके हितके लिये ऐसा होना आवश्यक है। राष्ट्रके जीवनमें कितने ही ऐसे अवसर आते हैं, जब समाजहितके लिये व्यक्तिगत हितका बलिदान करना पड़ता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण स्वतंत्र यूनानके प्रसिद्ध नागरिक महात्मा सुकरातकी जीवनीमें मिलता है। एथेन्सके नियमानुसार उसको प्राणदण्डकी आज्ञा हुई, उसके मित्रोंने इस दण्डसे बचनेका उसे अवसर दिया, उसने उत्तर दिया कि एथेन्सके नियमोंके बनानेमें नागरिककी हैसियतसे उसने भाग लिया है, वे नियम चाहे अच्छे हों या बुरे, उनका पालन उसका मुख्य कर्तव्य है। इस विषयपर उसने जो सारगर्भित भाव प्रकट किये हैं, उनका अध्ययन प्रत्येक सच्चे नागरिकके लिये आवश्यक है।

दूसरा कर्तव्य राष्ट्रके प्रति अधीनता है। इसका सबसे स्पष्ट स्वरूप बाहरी आक्रमणके समय राष्ट्रकी रक्षाके लिये हथियार उठाना है। इसी लिये बहुतसे देशोंमें सैनिक शिक्षा, तथा समयपर सैनिक-सेवा अनिवार्य है। ऐसी सेवाके अन्तर्गत भाव यह है कि नागरिक राष्ट्रको अपना समझ कर उसकी रक्षा करें।

# नागरिकता

शासनमें भाग लेना प्रत्येक नागरिकका अधिकार ही नहीं, बल्कि कर्तव्य भी है। शासनमें सबको पद मिलना सम्भव नहीं है, पर उसके संगठनमें अपना मत सभी दे सकते हैं। यदि वह इस ओर उदासीन है, तो वह अपने कर्तव्य पदसे भ्रष्ट हो रहा है। यदि किसी को कोई पद पानेकी आकांक्षा न हो, तब भी उसे अपना वोट अवश्य देना चाहिये। इसी तरह वह उस जनताका, जिसका कि वह स्वयं एक सदस्य है, हित कर सकता है। शासनका आधार जनताकी इच्छा है, यदि जनता अपना मत न देकर, अपनी इच्छा प्रगट नहीं करती, तो उसे यह कहनेका भी अधिकार नहीं है कि शासन उसकी इच्छानुसार नहीं होता है। अपना मत देना कोई साधारण बात नहीं है। वोट देते समय प्रत्येक नागरिकको अपनी जिम्मेदारीका पूरा ध्यान होना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि उसे राजनीतिक प्रश्नोंका ज्ञान हो और देशकी सामयिक दशाका पूरा अनुभव हो। इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए, उसे निष्पक्ष होकर ऐसे प्रतिनिधिके लिये वोट देना चाहिये, जो अपने पदके लिये सर्वथा योग्य हो। मत देते समय नागरिकका वही भाव होना चाहिये जो न्यायालयमें बैठे हुये न्यायाधीशका होता है। प्रायः सभी प्रजातंत्र देशोंमें देखा गया गया है कि नागरिकोंकी एक बड़ी संख्या निर्वाचनोंमें भाग नहीं लेती है, और जो नागरिक भाग लेते भी हैं, वे भी बिना सोचे विचारे, या प्रायः अपने अधिकारका दुरुपयोग करके। पिछले दोषको दूर करनेके लिये भिन्न २ राष्ट्रोंमें तरह २ के नियम बने हैं। ऐसे नियमोंका होना ही स्पष्ट बतला रहा है कि इस प्रजातंत्र युगमें भी अधिकांश नागरिकोंको अपने कर्तव्यका ध्यान ही नहीं है। यह बात अवश्य है कि इस उदासीनता तथा दुरुपयोगमें बहुतसा भाग शिक्षाके अभावका है, पर तब भी यह मानना पड़ेगा कि इसमें अधिक दोष नागरिकोंका ही है। ऐसी उदसीनतासे वे दिखला रहे हैं, कि वे इस अधिकारके योग्य नहीं हैं।

शासन बिना द्रव्यके नहीं चल सकता है। जो लोग अपना सारा समय जनताके हितमें लगाते हैं, उन्हें भी जीवन-निर्वाहके लिये धनकी आवश्यकता रहती ही है। इसके अतिरिक्त और भी बहुतसे सार्वजनिक हितके कार्य्य बिना धनके नहीं चल सकते। यह धन राष्ट्रको कर या टैक्ससे मिलता है। ऐसी दशामें प्रत्येक नागरिकको टैक्स बराबर देते रहना भी अपना कर्तव्य समझना चाहिये। साथही साथ राष्ट्रको भी यह ध्यान रखना चाहिये कि अनुचित राज्यकरके भारसे जनता दबने न पावे। पर इस विषयमें यह बात अवश्य कहनी पड़ेगी कि यहांपर भी अन्ततः दोष नागरिकका ही है। जिस शासनने अनुचित कर लगाया है, वह उसीके निर्वाचनका फल है। यदि निर्वाचनके समय उसने अपने कर्तव्यका ध्यान रखकर, योग्य विचारशील प्रतिनिधियोंको भेजकर शासनका संगठन किया होता, तो ऐसा अवसर ही क्यों आता? इस लिये यदि उसे बेजा करके भारसे मुक्त होना है, तो उसे प्रतिनिधियोंके निर्वाचनमें सावधान रहना चाहिये, पर साथ ही साथ जो कर लगाया गया है, उसको देनेसे मुंह न मोड़ना चाहिये। बिना इसके शासनका कार्य चलना सर्वथा असम्भव है।

नागरिकोंके प्रति राष्ट्रके क्या कर्तव्य हैं, यह प्रश्न बहुत जटिल है, और इसपर बहुत मतभेद है। एक पक्षका कहना है कि व्यक्ति और व्यक्तिगत सम्पत्तिकी रक्षाके अतिरिक्त, नागरिकके जीवनमें, राष्ट्रको कोई हस्तक्षेप न करना चाहिये। दूसरे पक्षका मत है कि समाज सम्बन्धी सभी कार्योंका भार और संचालन राष्ट्रको अपने मत्थे लेना चाहिये। इस विषयमें निश्चित सीमाओंका निर्धारित करना असम्भव है, बहुत कुछ समयकी गतिपर निर्भर रहता है। युद्धके समय राष्ट्र अपने अधिकारोंकी सीमा बहुत विस्तृत कर देता है, ऐसी अवस्थामें व्यक्तिको भी अधिक आपत्ति नहीं होती। साधारण दशामें दोनों मतोंका ध्यान रखना आवश्यक है। जो सार्वजनिक हितके कार्य हैं, उनका संचालन राष्ट्र ही ठीक तरहसे कर सकता है। साथ ही साथ सबको समान अवकाश तथा अवसर देना भी राष्ट्रका कर्तव्य है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी व्यक्तिगत बुद्धि या निपुणता दिखला सके। राष्ट्र और नागरिक दोनों मिलकर ही समाज हितका साधन कर सकते हैं। नागरिकको सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि राष्ट्र निर्म्माणमें उसने भी भाग लिया है, उसकी रक्षा और उसकी उन्नति उसका परम कर्तव्य है। दूसरी ओर राष्ट्रको यह समझना चाहिये कि उसका जन्म समाज सेवाके लिये हुआ है, न कि उसके स्वामी बननेके लिये। यदि दोनों ओरसे ऐसे भाव हों, तो मिलजुलकर काम चल सकता है, और सहजहीमें समाजहितका साधन हो सकता है।

ऊपर जो कुछ नागरिकोंके कर्तव्यके विषयमें कहा गया है, वह वहींके लिये हुआ है, जहां राजा और प्रजा, राज्य और राष्ट्र, तथा शासन और समाजमें भेद नहीं रहा है। यह आदर्श अभी बड़े बड़े प्रजातंत्र राष्ट्रोंमें भी प्राप्त नहीं हुआ है। यही कारण है कि आजकल भी दोनोंमें वैमनस्य चल रहा है, और सर्वत्र अशान्ति है। अब भी दोनोंके उद्देश्य और नीतिमें आकाश पातालका अंतर है। जबतक यह भेद दूर न होगा, तबतक स्थायी शांति और परस्पर सहयोगकी आशा करना स्वप्नमात्र है।

जब बड़े बड़े प्रजातंत्र राष्ट्रोंकी यह दशा है, तो हमारे भारतवर्षका कहना ही क्या है, जिसकी गणना एक अधीन देशमें है और जिसकी सारी जनसंख्या प्रजा समझी जाती है। यह बात अवश्य है कि नवीन सुधारोंसे एक अल्प जनसंख्याको प्रतिनिधि निर्वाचनका अधिकार दिया गया है, पर पहिले तो भारतकी जनसंख्या देखते हुए, मत देने वालोंकी संख्या नाममात्र है, दूसरे जिनलोगोंको यह अधिकार मिला भी है, उनकी गणना स्वतंत्र देशोंके नागरिकोंमें नहीं की जासकती, क्योंकि उनका प्रभाव वास्तविक शासनपर बहुत कम पड़ता है। जिन संस्थाओंके सदस्योंको चुननेका अधिकार इन दिखाऊ नागरिकोंको मिला है, उनसंस्थाओं की शक्ति ही क्या है। यदि बड़ी बड़ी व्यवस्थापक सभाओंमें कुछ भी तत्व होता, तो आज देशकी यह दशाही क्यों हुई होती? अब भी सारी शासन-शक्ति नौकरशाहीके हाथमें है। इस पर भी अपनेको नागरिक कहना केवल अपनेको भुलावा देनाही नहीं है, बल्कि संसारके सामने प्रजातंत्र शासनके लिये अपनी अयोग्यता प्रकट करना है। जब हमें कोई अधिकार

नहीं है, तब फिर हमारा कर्तव्य ही क्या ! पर तब भी हमारे यहांके बड़े बड़े सरकारी कर्मचारी सदा हमारा ध्यान कर्तव्योंकी ओर दिलाया करते हैं। कर्तव्योंके लिये तो हमारी गणना नागरिकोंमें की जाती है, पर अधिकारोंके विषयमें हम अयोग्य प्रजा समझे जाते हैं, यह हमारे शासकोंका विचित्र न्याय है।

कोई सरकार, चाहे वह किसी देशकी क्यों न हो, यदि जनताको शासनमें बिना भाग दिये हुए, अपनी अधीनता स्वीकार कराती है, तो ऐसी अधीनता स्थायी नहीं हो सकती। इसका आधार जनताकी इच्छा नहीं बल्कि प्रबल सैनिक शक्ति है। इसी तरह यदि कोई सरकार बिना जनताकी सम्मतिके, उसीसे प्राप्त किया हुआ धन व्यय करती है, तो वह लुटेरी है। अधिकार पहिले और कर्तव्य पीछे, राजनीतिक इतिहासकी यही शिक्षा है, पर हमें तो सदा उलटा ही पाठ पढ़ाया जाता है।

गंगाशंकर मिश्र

# पूर्वीय और पश्चिमीय अर्थशास्त्रका मतभेद।

अर्थशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है। वह उन सिद्धांतोंका प्रतिपादन करता है जिनके द्वारा एक समाज समष्टि रूपमें सुख सम्पदा एवं आनन्दके साथ अपना निर्वाह कर सकता है। इस समय पूर्वीय अर्थशास्त्रका टूटा हुआ ढांचा भारतमें दृष्टिगोचर हो सकता है और पश्चिमीय अर्थ-शास्त्रके अनुयायी तो यूरोप महाद्वीपके सारे देश तथा अमरीका, जापान प्रभृति देश भी हैं जिनकी गिनती आज कल संसारके अग्रगराय राष्ट्रोंमें की जाती है। पश्चिमीय अर्थशास्त्र पूर्वकी अपेक्षा कहीं अधिक नवीन है।

पश्चिमीय अर्थशास्त्रका एक मौलिक सिद्धान्त यह है कि मनुष्य अपनी इच्छाओंको बढ़ाता जावे और उनको दिन प्रति दिन अधिकाधिक उत्तम ढंगसे एवं नये प्रकारसे पूर्ण करनेका उद्योग करता रहे—यही उन्होंने मानवी जीवनका सार समझा है, इसलिये उनका कहना है कि समाजको ऐसे साधनोंका अवलम्बन करना चाहिये जिससे कुल सामाजिक आय की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे। हर एक समाज या राष्ट्रको चाहिये कि वह उस शिल्प, कला कौशल, वाणिज्य, व्यापारकी ओर अधिक ध्यान दे जिसके लिये उस देशमें सापेक्षिक अधिक सुविधाएं हों। उदाहरणार्थ जिस देशमें कोयले या लोहेकी अधिक खानें हों उसको चाहिये कि वह अपना ध्यान कलाकौशलमें लगा दे, और जिस देशमें उपजाऊ भूमि अधिक हो उसको कृषि अपना प्रधान व्यवसाय बना लेना चाहिये। गत शताब्दियोंमें भाप या विद्युत शक्तिद्वारा कलें या मशीने चलानेके आविष्कार हो गये हैं, उन्होंने इस पश्चिमीय सिद्धान्त को और भी दृढ़ और कार्यान्वित कर दिया है। इन मशीनोंकी सहायतासे, जिनकी गिनती अर्थशास्त्रमें पूँजी शब्दके अन्तर्गत होती है, मनुष्य पहिलेकी अपेक्षा कई गुना अधिक काम कर सकते हैं, जिससे आज संसारमें पहिलेकी अपेक्षा कुल पैदावार कहीं अधिक हो रही है। अब देखना यह है कि कलों या मशीनोंके आविष्कारसे कृषि और शिल्प व कलामें पृथक पृथक कितनी उन्नति हुई है। इन मशीनों अथवा पूँजीके बढ़ जानेसे शिल्प की पैदावारमें कई गुनी वृद्धि हो गयी है। प्रत्यक्ष रूपसे देखनेके लिये किसी कपड़ेकी मिलमें चले जाइये तो आप अवश्य एक बार इन मशीनोंके अद्भुत कार्यको देखकर आश्चर्यान्वित हो जायँगे। बातकी बातमें कपाससे रूई, रूईसे सूत और सूतसे कपड़ोंके थानके थान निकलते चले जा रहे हैं। अब देखिये ये मशीनें न होतीं तो जो श्रमजीवी वहां पर काम कर रहे हैं वे हाथसे चलनेवाले चरखे या करघेसे क्या बना लेते, इनका काम बहुत ही अल्प होता। यदि इन श्रमजीवियोंकी संख्यामें उन आदमियोंकी संख्या भी जोड़ दी जाय जो इन सब बड़ी भारी मशीनोंके बनानेमें लगे हुए हैं तो भी ये सब पृथक् पृथक् काम करके यंत्रों

की बराबरी नहीं कर सकते। इसी प्रकार आप शिल्पके चाहे जिस विभागको देखिये, ऐसी ही विशाल उन्नति आपके दृष्टिगोचर होगी। विशेषता यह है कि काम करनेवालोंको काम भी मिलता जाता है यानी जितने आदमी पहिले किसी व्यवसायमें लगे थे उतने ही आदमी उतने ही समयमें इस पूंजीके द्वारा कई गुना अधिक माल तैयार कर लेते हैं। उदाहरण रूपसे देखिये, छापाखानोंके आविष्कारसे पहिले जितने पुस्तक-लेखक इस व्यवसायमें लगे हुए थे, उतने ही आदमी या उससे भी अधिक आज कल कुछ तो छापाखानोंमें नौकर हैं और कुछ छापाखानोंकी मशीनों तथा टाइप इत्यादिके ढालनेमें लगे हुए हैं। इस प्रकार आदमियोंको काम भी मिलता है, माल भी अधिक तैयार होता है, और पहिलेकी अपेक्षा कहीं अधिक सस्ता मिलता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि इन मशीनों द्वारा शिल्प तथा कला-कौशलमें चामत्कारिक उन्नति हुई है और विशेषता यह है कि जितने ही अधिक परिमाणमें अपने व्यवसायमें आप पूंजी लगायेंगे, उतना ही अधिक और उससे कहीं कम लागतमें आप माल तैयार कर सकेंगे। इसीसे आप देखेंगे कि पाश्चात्य देशोंमें बड़े बड़े कल कारखाने स्थापित हो गये हैं—इनका प्रकट होना इस सिद्धान्त द्वारा अनिवार्य हो जाता है। देखिये इंग्लैण्डमें ही जो इस सिद्धान्तका एक उत्कट अनुयायी है ७० से ८० फी सदी आदमी कल कारखानोंमें काम करते हैं, और भारतमें जहां कि इस प्रकारकी पूंजीका अभाव है, ७० से ८० फी सदी आदमी कृषिमें लगे हुए हैं। इंग्लैण्ड शिल्पप्रधान देश है, किन्तु भारत कृषिप्रधान देश है। इस पूंजीकी उन्नतिको अर्थशास्त्रमें पूंजीवाद कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिल्प विभागमें पूंजीने बड़ा भारी लाभ पहुँचाया है। किन्तु जैसे संसारमें एक नियम यह है कि जिस वस्तुसे जितना सुख होता है उतना दुःख भी होता है, हर एक गुलाबके पुष्पके साथ कांटे भी होते हैं, इसी प्रकार इस पूँजीवादने भलाईके साथ साथ समाजमें कई अनर्थ भी उत्पन्न कर दिये हैं, जिनकी चर्चा हम पीछे करेंगे।

अब प्रश्न यह है कि इस पूँजीने कृषि विभागमें क्या क्या सुविधाएँ उत्पन्न की हैं। पहिली बात तो यह है कि अभी तक ऐसी मशीनें बहुत कम निकली हैं जो कृषिमें अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी प्रमाणित हुई हों, यही नहीं वरन् भविष्यमें भी इनके प्रकट होनेकी सम्भावना नहीं। हां यह सही है कि पूँजी बढ़ानेसे यानी खेतोंमें अच्छी तरह खादपानी देने से या उनपर अधिक परिश्रम करनेसे खेतोंकी पैदावार कहीं अधिक बढ़ जाती है। पूंजीकी दूनी लागत करनेसे पैदावार दुगनीसे अधिक, तिगुनी या चौगुनी तक हो जाती है या पूँजी चौगुनी करनेसे पैदावार छै गुनी या अठगुनी तक बढ़ जाती है, किन्तु वह समय भी शीघ्र आजाता है जहां जितनी पूँजी लगाइये उतनी ही पैदावार बढ़ती है, इसलिये पूँजी लगाना व्यर्थ हो जाता है। आप देखेंगे कि शिल्पमें वह सीमा जहां पर पूँजी लगाना व्यर्थ हो जाता है प्रथम तो आती ही नहीं, यदि कारखाना अधिक बढ़ जानेके कारण आ भी जाय तो बहुत कालके बाद। इसके विपरीत कृषिमें वह सीमा

शीघ्र ही आजाती है। इसीसे अधिकतर पाश्चात्य देशोंने कृषिको छोड़ दिया है और अपना सारा ध्यान शिल्पकी ओर लगा दिया है।

भारतीय अर्थशास्त्रका आदर्श इससे विपरीत है। इच्छाओंकी बराबर वृद्धि करनेके स्थानमें उनको आवश्यकतानुसार घटा बढ़ाकर अभीष्ट आनन्द प्राप्त करना ही उसका आदर्श है। इसी लिये उन्होंने अपने समाजकी इकाई गांवको ही माना जो कि स्वयं अपनी सारी आवश्यकता पूरी कर सकता है। किसान गल्ला पैदा कर लेते हैं, जुलाहे कपड़ा बुन लेते हैं, कुम्हार वर्तन बना लेता है यानी गांवकी आवश्यकता गांवमें ही पूरी हो जाती है। इस प्रकार समाजके हरेक गांव सुगठित, सच्चरित्र और प्रायः स्वावलम्बी होते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि एक गांवको दूसरे गांवकी कुछ भी आवश्यकता नहीं, वरन् जैसे शरीरके एक अवयवके स्वस्थ और सुगठित होनेसे दूसरेको सुख और आनन्द मिलता है, उसी प्रकार इन स्वस्थ गांवोंके द्वारा समाजका विकास सर्वोत्तम ढंगसे हो सकता है।

जब गत शताब्दीमें इन दोनों अर्थशास्त्रोंमें संघर्ष हुआ तो पश्चिमीय देशोंने अपने कारखानोंमें बने हुए शिल्प कलाके सामानोंको भारतवर्षमें सस्ते मूल्य पर भेजना प्रारम्भ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि क्रमशः इस देशका कला-कौशल नष्ट भ्रष्ट होने लगा। भारतमें मशीनोंका काफी प्रचार न हो सका इसलिये इसको कृषिकाही अधिकाधिक सहारा लेना पड़ा जिससे यह दिन प्रति दिन कंगाल होता गया और पश्चिमीय देश मालोमाल होते गये। भारत अब इस दशाको पहुँच गया है कि जो लोग अपना पसीना निकालकर गेंहूँ पैदा करते हैं यदि उनको गेंहूँकी रोटी खानेको मिल जाती है तो वे अपना धन्य भाग्य मानते हैं, क्योंकि पश्चिमीय धनी देश अपने रुपयेके जोरसे अधिकांश गेंहूँ बाहर खींच लेजाते हैं। यह तो हुआ पूंजीवादका भारत पर प्रभाव।

अब जरा फिर यूरोपकी ओर ध्यान दीजिये। इस पूंजीवादरूपी वृक्षमें एक और फल लगा है जिसके खानेसे यूरोपके सारे देश नाक भौं सिकोड़ते हैं। प्रथम तो इसने घर ही में फूट डाल दी है। जो श्रमजीवी विलायती मिलोंमें काम करते हैं वे कहते हैं कि रात दिन काम हम करते हैं और उसका अधिकांश लाभ पूंजीवाले, जो मिलोंके स्वामी हैं, दबा लेते हैं। इसी कारण श्रमजीवी रात दिन चिल्लाया करते हैं, हड़ताल करते हैं और अपने अधिकारोंके लिये लड़ते झगड़ते हैं। इसकी चरम सीमा बोल्शविक सिद्धान्तमें प्रत्यक्ष देख पड़ती है। इसके पक्षपातियोंने इस बातपर कमर बांधी है कि पूंजीपतियोंका नाम एक दम संसारसे मिटा दिया जाय। इसका प्रभाव न केवल पीडित रूसपर ही पड़ा है किन्तु इसने एकवार संसार भरके विचार-मंडलको हिला दिया है और इसकी चर्चा पूंजीपतियोंको भयंकर स्वप्नके सदृश प्रतीत होती है। दूसरी बातजो इससे भी अधिक शोचनीय है यह है कि इन शिल्पप्रधान देशोंको इस बातकी बड़ी भारी आवश्यकता रहती है कि हमें ऐसे बाजार मिलें जहां आसानीसे हमारे मालकी

खपत हो जाय । कृषि प्रधान देशके बाजार ही इनके शिकार बनजाते हैं । इसी लिये हमारे बाजारोंके लिये यूरोपमें लड़ाई हुआ करती है । गत यूरोपीय महासमर भी इसीका परिणाम कहा जा सकता है और सम्प्रति वाशिंगटन कान्फरेन्स इसी लिये बैठी हुई है कि किसी तरह इसका सुलझाव हो जाय । सारे शिल्पप्रधान देश भारतके बाजारोंके लिये आपसमें लड़ा करते हैं ।

तीसरा अनर्थ जो इस पूंजीवादका सबसे निकृष्ट फल है यह है कि इसके झमेलेमें सदाचारका ह्रास हो जाता है । इसलिये एक बार नहीं अनेक बार इन पाश्चात्य देशोंको अपनी फैक्ट्री या कारखानोंमें काम करनेवालोंके लिये उनकी नैतिक उन्नतिके निमित्त कानून बनाना पड़ा है, जिससे किसी प्रकार इस भीषण ह्राससे लोग बच सकें, किन्तु कानून द्वारा इसमें क्या उन्नति हो सकती थी ? भारत इस महान् आदर्शसे गिरना कभी नहीं देख सकता, वह सदाचारकी उन्नतिको राष्ट्रका प्राण समझता है, इसी लिये वह कभी भी इस पूंजीवादका पक्षपाती नहीं रहा । किन्तु जैसे कुछ काल बाद रोगीको कुपथ्य ही औषधि प्रतीत होने लगता है, इसी प्रकार अब यूरोपको अपनी असभ्यता ही सभ्यता ज्ञात होने लगी है ।

अब यह देखना है कि इस संघर्षसे हमारे भारतकी अवस्था कितनी शोचनीय हो गयी है, इसके सामने कैसी विकट समस्या उपस्थित है ? अर्थशास्त्रका नियम है कि धनवान देशोंकी अपेक्षा कंगाल देशोंमें जनसंख्याकी वृद्धि अधिक शीघ्र हुआ करती है । उत्पत्ति भी अधिक होती है और साथ ही साथ मृत्यु भी बड़े उत्साहके साथ काम करती है । कंगाल देशमें अधिक बच्चे पैदा होते हैं ! उनका ठीक ठीक पालन पोषण न होनेके कारण अधिकांश मरजाते हैं और धनवान देशमें पैदा तो कम ही होते हैं किन्तु हर प्रकारकी सुविधा होनेके कारण कुछ ही बच्चे मरते हैं । धनवान और कंगाल देशोंकी जनसंख्यामें ऐसा ही आनुपातिक सम्बंध रहता है । संवत् १९६८ ( १९११ ) में भारतकी मनुष्यगणना हुई थी उससे इस नियमानुसार भारतकी गिनती कँगाल देशोंमें की जा सकती थी किन्तु इस वर्ष जो पुनः गणना हुई है उससे भारतकी दशा और भी अधिक शोचनीय दिखायी पड़ती है, क्योंकि इन दस सालोंमें जनसंख्याकी वृद्धि नाममात्रको हुई है । माना कि इन वर्षोंमें बहुतसे आदमी यूरोपीय महासमर और बहुत कुछ इन्फ्लुएन्जाके प्रकोपकी भेंट हो गये, फिर भी सम्वत् १९७४ ( सन् १९१७ ) से यह हाल हो गया है कि उत्पत्ति हीमें कमी होने लगी है, मृत्युका कोई विशेष प्रश्न नहीं । उत्पत्तिकी कमी इस बातकी सूचक तो कदापि नहीं हो सकती कि उसकी गिनती अब धनधान्य पूर्ण देशोंमें की जाय क्योंकि जनसाधारणका स्वास्थ्य इसके सर्वथा प्रतिकूल है, न और कोई लक्षण ही दिखायी पड़ते हैं । अतः यही परिणाम दृढ़ होता है कि अब पहिलेकी अपेक्षा हमारे अधिकांश भाई भूखों मरनेलगे या अधपेट रहने लगे । इससे अधिक और क्या पतन हो सकता है ? अबतो भारतके सर्वथा लोप होनेमें एकही सीढ़ी बाकी है । चेतनेके लिये अब भी समय है । यदि इस पतित अवस्थाका

कारण ढूँढ़िएगा तो आपको स्पष्ट हो जायगा कि एक बड़ा भारी कारण यह है कि शिल्पप्रधान देश अपने स्वार्थके लिए इसे अपने चुँगलमें फँसाकर कंगाल कररहे हैं।

भारत सरीखे देशके लिये यह बहुत कठिन बात है कि वह अपने कला-कौशलकी उन्नति करसके। रातदिन यह चिल्लाहट मची रहती है कि किसी प्रकार शिल्प सम्बन्धी कल कारखाने खोले जांय जिससे हमारे नवयुवकोंका कहीं ठिकाना लगसके। किन्तु सुने कौन? हमारी सरकार ऐसे परोपकारसे बाज आयी जिसमें अपना पेट काटकर दूसरोंको खिलाना पड़े। यदि आज यहांपर कल कारखाने खोल दिये जांय तो कल लंकाशायर वाले भूखों मरने लगें। फिर कल-कारखाने खोलनेके लिये पूँजी भी तो चाहिये? जैसे तैसे कहीं कुछ खोले भी गये तो वे पाश्चात्य कारखानोंकी प्रतियोगितामें न ठहर सकेंगे। इस आपत्तिसे बचनेका उपाय जो महात्मा गांधीजीने बताया है वही अधिक श्रेयस्कर एवं उचित प्रतीत होता है। जब भारत कृषिप्रधान देश है और उद्योग धन्धोंका मार्ग उसके लिये बन्द है, तब ऐसी हालतमें उसे अपने कृषि-कार्यमें ही उन्नत्ति करनी चाहिये। किन्तु सबसे बड़ा दोष जो इस समय कृषिमें आ गया है वह यह है कि किसानोंके पास यथेष्ठ पूंजी न होनेके कारण एक ओर तो वे अपनी खेतीकी यथेष्ट उन्नत्ति न कर अपनी पुरानी पद्धतिसे ही काम चलाते हैं, दूसरी ओर अवकाशके समय जब खेतीका काम नहीं हो सकता, या अकालमें, हाथपर हाथ धरे बैठे रहते हैं। कोई दूसरा ऐसा सहायक धन्धा नहीं मिलता जिसे खेतीके साथ साथ करसकें। चर्खे और करघेके प्रचारसे अब यह बेकारी एक प्रकारसे दूर हो रही है।

हम एक बात और कहना चाहते हैं। भारतवासी इसको केवल एक अल्पकालीन राजनीतिक युक्ति ही न समझें प्रत्युत यह समझें कि चर्खे और करघेके रूपमें हमें फिर अपने पुरातन अर्थशास्त्रकी वह पैत्रिक सम्पत्ति अचानक मिल गयी है, जिसे खोकर हम इस दशाको प्राप्त हुए हैं। भारतके पूर्ण रूपसे स्वदेशी व्रतपर आरूढ़ होनेसे पाश्चात्य देशोंको आटा दालका भाव मालूम हो जायगा। या तो पश्चिमीय अर्थशास्त्र अपने आदर्शकी भयंकर भूलको समझकर ठीक आदर्श पर आजायगा, या फिर आगकी तरह पहले औरोंको जलाकर बादमें स्वयं बुझ जायगा।

दीनदयालु श्रीवास्तव
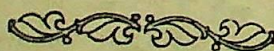
# महंगी और मजदूर

आज कल चारों ओर यही सुनाई देता है कि मजदूर नहीं मिलते। एक ओरसे ये शब्द उठते हैं कि मजदूरोंको पेट भर भोजन नहीं मिलता, दूसरी ओरसे सुन पड़ता है कि मकान बनाने, कारखानोंमें काम करने, एवं घरोंमें टहल करनेको मजदूर नहीं मिलते। पर ये दोनों बातें एक साथ हो नहीं सकतीं। या तो मजदूरीकी कमी है या काम करानेवालोंकी। दोनोंकी कमी नहीं हो सकती। फिर क्या कारण है कि दोनों बातें हमें एक साथ सुनायी देती हैं?

हमें यह याद रखना आवश्यक है कि भारत कृषिप्रधान देश है। कृषि ही यहांकी एकमात्र जीविका है। गांवोंके अधिकांश स्त्री-पुरुष कृषि हीमें लगे रहते हैं। प्राचीन समयमें हमारे देशमें दूधकी नदी बहती थी। प्रत्येक मनुष्यके घरमें गाय और भैंसोंका झुण्ड रहता था। जन-संख्या कम होनेके कारण इनके लिये चारा, घास इत्यादिकी कमी न थी। यही कारण था कि प्रत्येक पुरुष स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करता था। गायोंसे उन्हें दूध, घी भरपेट मिलता था और बैलोंसे कृषिमें सहायता मिलती थी। जिससे न तो उन्हें अन्नकी कमी थी, न घी-दूधकी। देशमें जंगल अधिक होनेके कारण लकड़ी आदिकी कमी न थी और जल-वृष्टि भी अधिक होती थी। पर समयके परिवर्तन और जन-संख्याके बढ़नेसे यहां धीरे धीरे इन सब बातोंमें कठिनाई पड़ने लगी। पृथ्वी उर्वरा होनेके कारण पहिले थोड़े परिश्रमसे ही वे भरपूर अन्न वस्त्रादि पा सकते थे पर धीरे धीरे पृथ्वीकी उर्वरा शक्ति कम होती गयी और कई शताब्दियोंसे भारतसी उर्वरा भूमि भी 'घटती हुई उपज'* की नीतिके चंगुलमें फंस रही है। यही कारण है कि पहिले जिस भूमिपर एक कुटुम्ब सरलता पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता था, वहांपर अब एक परिवार कठिनतासे अपना निर्वाह करता है। यही नहीं, वही परिवार ऋणमें ऐसा फंसा रहता है कि खेतकी उपज घरमें आने भी नहीं पाती, बाहर ही बाहर महाजनके यहां पहुंच जाती है और कृषक बेचारा ऋण और दासत्वके चंगुलमें दिन प्रति दिन फंसता जाता है। इस ऋण और दासत्वके अनेक कारण हैं। उनमेंसे प्रधान कारण हमारे देशका पराधीन होना, बढ़ते हुए 'होम चार्जेस' और फौज़ी खर्च हैं। मैं उन कारणोंका उल्लेख करना अथवा कृषकोंकी पतित दशापर रोना अनावश्यक समझता हूं। मेरा मुख्य उद्देश प्राचीन और नवीन कृषकोंकी कुछ तुलना करना मात्र है। अब मैं अपने नियमित विषयकी ओर बढ़कर यह बतलाना चाहता हूं कि महंगीसे मजदूरोंकी स्थितिपर क्या प्रभाव पड़ा है?

इंग्लैण्डके धुरन्धर अर्थनीतिज्ञ ऐडमस्मिथका कथन है कि मजदूरी दो प्रकारकी

* Law of diminishing return (क्रमागत-ह्रास-नियम)

होती है। एक वास्तविक*, दूसरी दिखावटी। किसी मजदूरको अपने पुरस्कारके बदले जीवनोपयोगी जितनी वस्तुएं मिलती हैं वे सब वास्तविक मजदूरी हैं। उदाहरणार्थ हमारे घरोंमें नौकरोंको अब भी केवल ५ या ६ रुपये प्रतिमास मिलते हैं और मिलके मजदूरोंको १० या ११ रुपये प्रतिमास। फिर भी हमारे घरोंके मजदूर अधिक सुखी दिखलायी देते हैं। इसका कारण क्या है? इसका एक कारण यह है कि हमारे घरोंके मजदूरोंको कहनेको तो ५ या ६ रुपया ही मिलता है पर उन्हें खाना, कपड़ा, रहनेका स्थान तथा त्योहारोंमें इनाम और ब्याह शादीके समय विशेष पुरस्कार दिया जाता है। यही कारण है कि वे मिलकी नौकरियोंसे घरकी नौकरियां अच्छी समझते हैं, पर जब वे देखते हैं कि दिखावटी वेतन-द्वारा हम उनसे भी अधिक वस्तुएं मोल ले सकते हैं जो हमें अपने वर्त्तमान स्वामीके यहां मिलती हैं तो वे मिलकी ही नौकरीके लिये दौड़ते हैं। श्रमजीवियोंके दुख-सुख और उनकी आय का अनुमान हम वास्तविक वेतनसे ही कर सकते हैं, दिखावटी वेतनसे नहीं। हमारे देशमें पहिले अधिकतर वेतन अन्नमें चुकाया जाता था, जिससे पदार्थोंका मूल्य घटते बढ़ते रहनेसे लोगोंकी आयपर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। बहुतसे देहातोंमें अब भी यही दशा है। लोहार, कुम्हार, नाई, चमार, धोबी, मेहतर आदि सभी अन्न हीके रूपमें वेतन पाते हैं। सालके अन्तमें फाल्गुनीपर वस्त्रादि भी पाते हैं और घरके किसी व्यक्तिकी मृत्यु या विवाहके समय अथवा बागोंमें वृक्ष गिरनेके समय लकड़ी भी पाते हैं। उनका वेतन बँधा हुआ होता है। अन्नकी मँहगी अथवा सस्तीका उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। पर नगरोंमें यह प्रथा बिलकुल उठ गयी है। नगर वासियोंको प्रत्येक पदार्थके बदले नक़द रुपया या पैसा ही देना पड़ता है।

हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक वर्ष सहस्रों मनुष्य बम्बई, कलकत्ता, कानपूर, अहमदाबाद, नागपूर और कभी कभी देशके बाहर भी जाते हैं। पहिले कह चुके हैं कि हमारी भारत भूमिकी उर्वरा शक्ति कम हो गयी है और कम होती जा रही है। हमें न केवल अपने ही देशवासियोंका उदरपालन करना पड़ता है, वरन यूरोपके देश वाले भी हमारे ही देशके भरोसे बैठे रहते हैं। कृषी भी हमारे देशमें पुराने ही ढंगपर होती है। यही कारण है कि हमारे सहस्रों ग्राम-वासियोंको अपने गांवमें भरपेट अन्न नहीं मिलता। अन्नका ढेर तो जमींदारों और महाजनोंके यहां पहुँच जाता है जहांसे रालीब्रादर्स आदि यूरोपीय एजण्ट मोल लेकर विदेश भेज देते हैं। कृषक बेचारोंको कठिनाईसे दोनों समय खानेके लिये अन्न मिलता है। फिर भी हमारे समाज-बन्धन, जो उस समय बनाये गये थे जब किसी खाद्य पदार्थकी कमी न थी, हमें धनहीन बनानेमें सहायता पहुँचाते हैं। गृहस्थीमें एक न एक कार्य लगा ही रहता है और बहुतेरे कार्योंमें कृषकोंको महाजनोंकी शरणमें जाना पड़ता है। इसलिये बहुतेरे

* Real and Nominal.

## महँगी और मजदूर ।

ग्रामवासी बेचारे घर बार छोड़कर बड़े बड़े नगरोंमें जाकर नौकरी कर लेते हैं । अब हमें देखना है कि इनपर मँहगीका क्या प्रभाव पड़ा है ।

यह तो हम पहिले ही कह चुके हैं कि नगरवासी जबतक यह नहीं जान लेते कि उनको घरसे बाहर जानेमें अधिक लाभ है तबतक वे घरसे बाहर निकलते ही नहीं । कहा जाता है कि भारतके श्रमजीवी अपनी जन्मभूमिको छोड़ना नहीं चाहते । वे उसी समय अपना गांव छोड़ते हैं जब वहां उनका उदर-पालन नहीं हो सकता । गांवोंमें ऐसे लोगोंकी भी काफी संख्या रहती है जो खेती भी करते हैं और समय समयपर मजदूरी भी करते हैं । हमारे देशकी "अनेक खानोंमें काम करनेवाले भी प्रायः कृषक ही होते हैं, और जैसा कि अनुभवसे जाना जाता है कृषिकी अवस्थाका खानोंपर बड़ा प्रभाव पड़ता है । खानोंमें अधिकतर छोटा नागपूर और मध्य देशके द्राविड़ लोग ही काम करते हैं । बाहरी सीमापर अन्य जातिके लोग भी काम करते हैं । बहुतसे मजदूर खेती भी करते हैं । खेत जोतने और बीज बोनेके समय वे अपने अपने घरोंको चले जाते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे समयमें बहुतसी खानोंकी उपज कम हो जाती है ... ... ... ... ... "* इससे यह प्रत्यक्ष है कि बहुत सी खानोंके मजदूर गांवों हीसे आते हैं । वे अधिकतर कृषक होते हैं । खेती करते रहनेसे उन-पर एक तो महँगीका प्रभाव अधिक नहीं पड़ता, दूसरे उनपर मालिकका दबाव भी इतना अधिक नहीं रहता । पर इससे खानके मालिकोंको हानि पहुँचती है । वे शिक्षित मजदूर नहीं पा सकते । महँगीका प्रभाव तो इन शिक्षित मजदूरों हीपर पड़ता है जिनका कृषिसे कोई सम्बन्ध नहीं ।

इसमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता कि युद्धके समयसे इस समय प्रत्येक पदार्थका मूल्य कमसे कम द्विगुण हो गया है । निम्नलिखित तालिकासे यह पता चल जावेगा कि पदार्थोंका मूल्य कितना बढ़ गया है । यदि संवत् १९७१ (सन् १९१४) के मूल्यको हम १०० माने तो और बर्षोंका आपेक्षिक मूल्य इस प्रकार है ।

पदार्थोंके नाम और मूल्य† (१)

| बर्ष | गेहूं | चावल | वस्त्र | चीनी | घी | तेल |
|---|---|---|---|---|---|---|
| पौष १९७१ | १०० | १०० | १०० | १०० | १०० | १०० |
| ,, १९७५ | १३० | १३० | २०० | १२५ | १४० | १७५ |
| ,, १९७७ | १६० | १५० | २१० | २५० | १५० | १५० |
| ,, १९७८ | २५८ | १६० | २१० | १४० | १२५ | १८५ |
| औसत | १६२ | १३५ | १८० | १५४ | १२९ | १५२.५ |

* १९२१ की इन्डियन इयर बुक Labour in mines.

† पदार्थोंका मूल्य प्रयागके भिन्न भिन्न समयके मूल्योंपर निर्धारित है ।

उक्त तालिकासे पता चलता है कि औसतमें सबसे अधिक महंगी वस्तु वस्त्र है, यद्यपि इस वक्त गेहूंका मूल्य सबसे अधिक बढ़ गया है और कपड़ेका मूल्य घटता जा रहा है। वैशाखके दिनोंमें जो गेहूं संवत् १९१४ में १३ सेर और पौषमें ११ सेर बिकता था वह आज कल ४ ४।-४॥ सेर बिक रहा है। वस्त्रका मूल्य भी बहुत बढ़ गया है पर गत वर्ष और इस वर्षके मूल्यमें बहुत ही कम अन्तर है। यदि हम केवल मजदूरोंकी ही दशापर ध्यान दें तो हमको पता चलेगा कि इनके सब आवश्यक पदार्थ अर्थात् गेहूं, चावल और वस्त्र इत्यादि बहुत महंगे हो रहे हैं। यदि कुल वस्तुओंका विचार करें तो उनका औसत १५२ आता है अर्थात् इस समय सब आवश्यक वस्तुओंका मूल्य कमसे कम ड्योढ़ेसे कुछ अधिक हो गया है। अब दूसरी ओर हमें यह विचार करना है कि श्रमजीवियोंके वेतनमें कितनी वृद्धि हुई है। यदि ड्योढ़ेसे कम वृद्धि हुई है तो वे अवश्य ही बुरी दशामें हैं।

श्रमजीवियोंकी मासिक आयका ब्योरा इस प्रकार है। (२)

| वर्ष | लोहार | बढ़ई | मिस्त्री | खलासी | बेलदार |
|---|---|---|---|---|---|
| पौष १९७१ | १५) | १८) | २५) | ७) | ६) |
| ,, १९७५ | १६) | २८) | २८॥) | ८) | ७) |
| ,, १९७७ | २१) | ३३) | ३३) | ८) | ७) |
| ,, १९७८ | २६) | ४१) | ३८) | १२) | १२) |

पहिलेकी भांति संवत् १९७१ (सन् १९१४) के वेतनको यदि हम १०० मान लें तो और वर्षोंका आपेक्षिक वेतन इस प्रकार होगा। (३)

| वर्ष | लोहार | बढ़ई | मिस्त्री | खलासी | बेलदार |
|---|---|---|---|---|---|
| पौष १९७१ | १००·० | १००·० | १०० | १००·० | १००·० |
| ,, १९७५ | १०७·० | १५५·५ | १०४ | ११४·३ | ११६·६ |
| ,, १९७७ | १४०·० | १८३·३ | १३२ | १००·१ | ११६·६ |
| ,, १९७८ | १७३·३ | २२७·७ | १५२ | १७१·५ | २००·० |
| औसत | १३०·७ | १६६·६ | १२२ | १२१·४ | १३३·३ |

उक्त तालिकासे यह पता चलता है कि शिक्षित और अशिक्षित* श्रमजीवियोंका वेतन पहिलेकी अपेक्षा अब कितना बढ़ गया है। वेतनमें सबसे अधिक उन्नति बढ़इयोंकी हुई है। जो बढ़ई पहिले १८) मासिक कमाता था वह अब ४८) मासिक कमाता है।

* Unskilled labourers

अशिक्षित मजदूरोंका वेतन भी पहिलेसे द्विगुण हो गया है। पर औसत निकालनेसे पता चलता है कि वेतन केवल ३५) सैकड़ बढ़ा है और पदार्थोंका मूल्य ५२) सैकडा बढ़ गया है। तालिका (१) के देखनेसे पता चलता है कि वस्त्र, गेहूं और चावल सब आवश्यक पदार्थोंका मूल्य पहिलेसे ड्योड़ा और पौने दो गुना हो गया है और ये सब पदार्थ श्रम-जीवियोंके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। लोगोंका वेतन बढ़नेपर भी पदार्थोंके मूल्यके बराबर नहीं बढ़ा है। यही कारण है कि यद्यपि देखनेमें लोगोंकी आय पहिलेसे बहुत बढ़ गयी है तो भी उनकी आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं। इसका परिणाम यह होता है कि लोगोंके चित्तमें अशांति बढ़ती जाती है। वे दिन रात परिश्रम करते हैं पर पेटभर भोजन उन्हें नहीं मिलता। ज्यों त्यों भोजन भी मिल गया तो वस्त्र नहीं मिलता। वे देखते हैं कि हमारे ही देशमें रहनेवाले अन्य अन्य देशोंके लोग भरपूर भोजन पाते, घोड़ों-पर घूमते और हमपर अपना अधिकार जमाते हैं पर हम स्वयं परिश्रम करते रहनेपर भी सुखका अनुभव नहीं कर सकते। इसका परिणाम यह होता है कि इस प्रकारकी आर्थिक कठिनाइयोंको झेलनेवाले मनुष्य अपने दुर्भाग्यका दोषारोपण सरकारके मत्थे मढ़ते हैं। जब उन्हें दिखलाया जाता है कि उनके देशका रुपया विदेशी पदार्थोंके बदले बाहर जाता है, उनके धनसे विदेशी उच्च उच्च पदोंपर रह कर चैनकी वंसी बजाते हैं, उनका धन प्रति वर्ष अधिक संख्यामें फौजी कामोंमें लगाया जाता है और वह फौज सरकार मनमाने स्थानपर अथवा उन्हींको दबानेके लिये काममें लाती है तब उनके हृदयमें कष्ट उत्पन्न होता है। वे ऐसी सरकारसे 'असहयोग' करना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि 'सरकार हमारे धनको हमारे ही हितके कार्योंमें लगावे। और हमारा धन हमारी ही आज्ञाके अनुसार व्यय किया जावे। हम अपने धनसे बड़ी बड़ी फौज बना कर अन्य अन्य देशोंकी स्वतंत्रता नहीं हरण करना चाहते। हम अपने धनका व्यय अपनी शिक्षा और अपने व्यापार तथा अन्य हितकारी कामोंमें करना चाहते हैं।' वे कहते हैं कि जो व्यक्ति हमारा धन व्यय करे वह उसके लिये उत्तरदायी हो। इन सब बातोंपर अपना स्वत्व प्राप्त करनेके लिये ही वे स्वराज्य चाहते हैं। स्वराज्य पा कर किसी व्यक्ति, देश अथवा जातिसे वे द्रोह नहीं करना चाहते। सरकार अथवा अंग्रेज जातिसे भारतवासियोंको घृणा नहीं है। भारतकी-सी शांतिप्रिय जाति संसारमें कदाचित ही कोई दूसरी होगी। पर शांतिप्रिय होते हुए भी हम अपने अधिकारोंको छोड़ नहीं सकते। हम देखते हुए दूसरोंको अपना घर नहीं लूटने दे सकते, और न इतने उपकारी ही बन सकते हैं कि जो कोई चाहे हमारे देशसे मनमाना द्रव्य लेता चला जावे और हम उसे कुछ न कहें।

इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि केवल भारत सरकार ही हमारी दरिद्रताका कारण है, यद्यपि उसकी कुटिल नीतिने हमें केवल कृषिपर ही निर्भरकर दिया है और हमारा सब व्यवसाय जाता रहा है। हमारी दरिद्रताके अन्य कारण हमारी अज्ञानता और अनेकों बन्धन हैं। गत यूरोपीय संग्रामने संसार भरमें हलचल मचा दी है। सभी कहीं मजदूर लोग अशान्ति प्रवाहमें बह रहे हैं और सभी लोग अपनी अपनी सरकारोंकी ओर आशा भरी दृष्टि

लगाये बैठे हैं, पर दुर्भाग्यवश हमारी सरकार तो अपनी ही धुनमें मस्त है। जब हम उसके सामने दुःख रोते हैं और उससे सहायता मांगते हैं कि इन जमींदारोंकी ज्यादतियोंसे हमे बचाइये, तो वह दूसरा अवध कानून लगान निकाल कर हमें जमींदारोंके चंगुलमें फंसा देती है और फिर भी हमसे सहयोगकी आशा करती है! क्या भूखे नंगे भारतवासी जिनके बालकोंकी शिक्षा तकका कोई काफी प्रबन्ध नहीं, यदि प्रबन्ध भी है तो केवल ऐसी शिक्षाका जो उन्हें कोरे क्लर्क बनाती है, सरकारके सच्चे सहायक बन सकते हैं?

**श्यामबिहारीलाल कपूर।**

# भारतका विदेशी व्यापार ।

( संवत् १९७७ की संक्षिप्त रिपोर्ट । )

यद्यपि इंग्लैण्ड अमेरिका इत्यादि देशोंकी तरह भारतवर्ष उद्योगप्रधान देश नहीं है और न यहां उक्त देशोंकी तरह भिन्न भिन्न प्रकारका एवं अधिक परिमाणमें माल ही तैयार होता है, तो भी यहांका विदेशी व्यापार एकबारगी नगण्य नहीं कहा जा सकता। यद्यपि विदेशोंको हम प्रायः कच्चा माल—अनाज, रुई इत्यादि—ही भेजते हैं और वहांसे तैयार माल मंगाते हैं, फिर भी यह बात नहीं है कि हम विदेशोंको कम मूल्यका माल भेजते हों और वहांसे अधिक मूल्यका माल मँगाते हों। यह सत्य है कि जीवनकी अनेक आवश्यक वस्तुओंके लिये हम परदेशावलम्बी हो रहे हैं, तो भी कमसे कम मूल्यके लिहाजसे यह कहना हमारी भूल होगी कि उक्त व्यापारसे हम सदा घाटेमें ही रहे। युद्धके पूर्व पांच वर्षोंमें जो माल प्रतिवर्ष हम बाहरसे मंगाते थे, उसकी अपेक्षा औसत ७८ करोड़ रुपयेका अधिक माल हम बाहर भेजते थे। युद्धकालमें भी ( अर्थात् संवत् १९७१ से १९७५ तक ) हम फायदेमें ही रहे। इस समय भी हम प्रतिवर्ष ७६ करोड़ औसतका माल बाहरी देशोंको, वहांसे मंगाये हुए कुल मालकी अपेक्षा, अधिक भेजते रहे। संवत् १९७६ में तो हमारे निर्गत मालका मूल्य आगत मालकी अपेक्षा ११९ करोड ज्यादा हो गया अर्थात् हमने बाहरवालोंसे जितने मूल्यका माल खरीदा, उसकी अपेक्षा ११९ करोड़-का ज्यादा माल हमने विदेशियोंके हाथ बेचा। किन्तु संवत् १९७७में व्यापारकी यह स्थिति बिल्कुलही बदल गयी। इस वर्ष हमने बाहरसे इतना अधिक माल मंगा डाला कि जिसके कारण हम सदाकी तरह फायदेमें रहनेके बजाय ७९ करोड़के घाटेमें रहे। जहां गत बर्ष हम ११९ करोड रुपयोंके फायदेमें थे, वहां इस वर्ष ( १९७७ में ) ७९ करोड़के घाटेमें रहे अर्थात् एक ही वर्षमें कुल मिलाकर ११९+७९ = १९८ करोड़का अन्तर पड़ गया। इस महदन्तरका क्या कारण है ?

गत वर्ष हमारा विदेशी व्यापार इतना अनुकूल था कि हम ११९ करोड़के फायदेमें थे और इस वर्ष ( १९७७ में ) वह इतना प्रतिकूल हो गया कि हम फायदेमें न रहकर, उलटे ७९ करोड़के घाटेमें रहे। इससे स्पष्ट है कि गत वर्ष हमने जितना माल बाहर भेजा था, उसकी अपेक्षा इस वर्ष बहुत कम भेजा—तभी तो हम घाटेमें रहे ? या फिर गत वर्ष हमने जितना माल विदेशोंसे मंगाया था, इस वर्ष उसकी अपेक्षा बहुत ज्यादा मंगा डाला। भारतके विदेशी व्यापारकी रिपोर्ट देखनेसे विदित होता है कि संवत् १९७७ में ये दोनों बातें वर्त्तमान थीं, अर्थात् एक ओर तो हमारा निर्गत व्यापार मद्दा पड़ गया और दूसरी ओर हमारा आगत व्यापार बढ़ गया। ऐसी स्थितिमें विदेशी व्यापार हमारे अनुकूल होनेके बजाय, प्रतिकूल होनेवाला ही है।

अब हम उपर्युक्त दोनों बातों—निर्गत व्यापारकी घटी और आगत व्यापारकी वृद्धि—का पृथक पृथक विचार करेंगे। निर्गत व्यापारकी शिथिलताके चिह्न संवत् १६७७ के आरंभसे ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। पहिला चिह्न तो जहाजके भाड़ेकी दरका गिर जाना है। जब मालकी मांग बहुत ज्यादा हती है तब उसे भिन्न भिन्न देशोंको पहुंचानेके लिये काफी जहाजोंका मिलना कठिन हो जाता है। जितने जहाजोंकी आवश्यकता प्रतीत होती है, उससे कम जहाज प्राप्य होनेके कारण जहाजका भाड़ा भी चढ़ जाता है। अतः इस भाड़ेका बढ़ना मालकी अधिक मांगका द्योतक है। उसी प्रकार जब किसी देशके मालकी मांग घटने लगती है तब उसे इधर उधर पहुंचानेके लिये काफी जहाज भी मिलने लगते हैं और इसी कारण उनके भाड़ेकी दर भी गिरने लगती है। संवत् १६७७ के आरंभमें ऐसा ही हुआ। जहाजके भाड़ेकी दरको गिरते देखकर ही व्यापारियोंने समझ लिया कि अब भारतीय मालकी मांग विदेशोंमें क्रमशः कम हो रही है। परिणाम यह हुआ कि बाहरवालोंने भारतीय व्यापारियोंको माल भेजनेके "आर्डर" देना बहुत कम कर दिया।

दूसरा चिन्ह वस्तुओंके मूल्यका घट जाना है। जब कुछ पदार्थोंका मूल्य बढ़ रहा हो तो समझना चाहिये कि इन चीजोंकी मांग बहुत ज्यादा है, परंतु उनकी आमद काफी नहीं है। उसी प्रकार जब किसी वस्तुका मूल्य घटने लगता है तो यह निश्चय है कि या तो अब उस वस्तुकी चाह ही बहुत कम हो गयी है, या फिर वह आवश्यकतासे अधिक जमा हो गयी है। संवत् १६७७ के प्रारम्भसे ही, प्रत्युत उसके दो मास पूर्वसे ही यह चिह्न दिखायी देने लगा था। फाल्गुन १६७६ में ही दो तीन पदार्थोंके मूल्यका बढ़ना बन्द हो गया था। अतः स्पष्ट है कि वे आवश्यकतासे अधिक मात्रामें इकट्ठे हो गये थे और अब उनकी मांग उतनी प्रबल न रह गयी थी।

भारतके निर्गत व्यापारकी मन्दीका तीसरा चिन्ह भारतमंत्रीकी हुण्डियों (काउंसिल ड्रैफ्ट) की मांगका घट जाना है। भारतसे जो माल विदेशोंको जाता है या विदेशोंसे जो माल हमारे यहां आता है, उसका मूल्य प्रायः हुण्डियों द्वारा ही चुकता किया जाता है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, संवत् १६७६ के अन्ततक गत कई वर्षोंसे हम जितने मूल्यका माल बाहरसे मँगाते थे, उससे कहीं अधिक मूल्यका माल हम बाहर भेजते थे अर्थात् विदेशी व्यापारमें हमें देनेकी अपेक्षा पावना ही अधिक रहता था। किंतु हमारा यह "पावना" हमें प्रायः सोने या चांदीके रूपमें नहीं मिलता। उसकी सारी रकम 'होम चार्जेज'* अदा करनेके निमित्त इंग्लैण्डमें ही रख ली जाती है। यदि भारतके पावनेकी रकम "होम चार्जेज" की आवश्यकता पूरी करनेकी अपेक्षा अधिक हो तो भी उसका शेषांश प्रायः हमें नहीं मिलता। वह "भारतके नाम" लंदनमें ही जमा रहता

---

*"होम चार्जेज" उस खर्चका नाम है जो इंग्लैण्डमें भारत सरकारकी ओरसे किया जाता है। अवसर-प्राप्त विदेशी कर्मचारियोंकी पेन्शनका खर्च, सैनिक व्यय तथा भारत सरकारके लिये आवश्यक पदार्थ खरीदने इत्यादिका खर्च, इसमें शामिल है।

## भारतका विदेशी व्यापार ।

है और समय समयपर इंग्लैण्डके बड़े बड़े व्यापारियों और कभी कभी ब्रिटिश सरकारको भी कर्जके रूपमें दे दिया जाता है । इस प्रकार भारतका पावना प्रायः इंग्लैण्डमें ही वसूल किया जाता और वहीं खर्च किया जाता है । भारतमंत्री यह रकम वहीं वसूल कर भारत सरकारके नाम हुण्डियां लिख दिया करते हैं । भारतके व्यापारियोंको अपने माल बदले शेष मूल्यके ये हुंडियां ही प्राप्त होती हैं । उन्हें वे लोग सरकारी खजानेमें ले जा कर भुनवा लेते हैं । जब भारत–मंत्री द्वारा की गयी हुंडियों ( काउंसिल ड्रैफ्ट्स ) की मांग कम होने लगे तो समझना चाहिये कि बाहरसे जितने मूल्यका माल यहां आ रहा है, उससे अब कमका ही माल बाहर जा रहा है । संवत् १९७६ के माघ मासमें ही भारतमंत्री द्वारा की गयी हुंडियोंकी मांग घटने लगी एवं विनिमयकी दर रुपये पीछे दो शिलिंग स्थिर करनेका प्रयत्न होते ही "उलटी हुंडियों" ( रिवर्स काउंसिल्स ) की मांग जोरोंसे बढ़ने लगी । जो रुपया पहिले लगभग १ शिलिंग ४ पेंसके बराबर समझा जाता था उसे ही जब दो शिलिंगके बराबर ठहरानेका निश्चय किया गया अर्थात् जब गिन्नीका मूल्य १५ रुपयेके स्थानमें १० रुपये ही कर दिया गया तो भारतके व्यापारी विलायतसे धड़ाधड़ माल मंगाने लगे, क्योंकि जो विलायती माल उन्हें पहिले १५) में मिलता था वही अब १०) में मिलने लगा । इसका फल यह हुआ कि निर्गत मालकी अपेक्षा आगत मालकी मात्रा बढ़ने लगी अर्थात् भारतका देना, पावनेकी अपेक्षा अधिक होने लगा । अतः भारतमंत्रीकी हुंडियां बिकना तो बन्द ही हो गया और उलटे यहांतक नौबत पहुंची कि भारत सरकार ही लंदनपर हुंडियां लिखने लगी । अस्तु ।

ऊपर भारतके निर्गत व्यापारकी शिथिलताके प्रधान तीन लक्षणोंका उल्लेख किया गया है । अब हम संक्षेपमें इस व्यापारिक शिथिलताके कारणोंका विचार करेंगे । यूरोपीय युद्धके समाप्त होते ही अन्तराष्ट्रीय वाणिज्य पुनः अपनी पूर्व–स्थिति प्राप्त करनेकी चेष्टा करने लगा । युद्धके कारण यूरोपमें उतना माल तैयार होना बन्द हो गया जितना शांतिके दिनोंमें बनता था । लोगोंके चित्त अशांत थे, काम करनेवालोंकी कमी थी, आर्थिक कठिनाइयां भी सामने आ रही थीं । जब माल तैयार करनेका काम ही मन्दा पड़ गया तो बाहरसे कच्चा माल भी कम मात्रामें मंगाया जाने लगा । साथ ही युद्ध–कालीन परिस्थितिके कारण मालके गमनागमनकी कठिनाइयां भी उपस्थित हुईं । सारांश यह कि उस समय देशोंका व्यापार बहुत कुछ शिथिल हो गया था । किन्तु युद्ध समाप्त होते ही यह परिस्थिति बदल गयी । व्यापारियोंने समझा कि अब हमारे मालकी ज्यादा कद्र होगी । अतः उन्होंने अधिक मात्रामें माल खरीदना आरंभ किया । माल तैयार करनेवालोंने भी इसी तर्कका सहार लेकर खूब माल बनाना शुरू किया । फल यह हुआ कि युद्धसमाप्तिके बाद पहिले ही वर्षमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जोरोंसे चमक उठा । संवत् १९७६ में भारतका कुल निर्गत व्यापार ३ अरब २७ करोड़तक जा पहुंचा । पहिले कभी यहांका निर्गत व्यापार इस सीमातक नहीं पहुंचा था । किंतु व्यापारकी यह प्रबल गति अधिक दिनों तक नहीं चल सकती थी । ( असमाप्त )

# सामयिक संग्रह ।

## *हाथसे चलनेवाले करघोंका बुना कपड़ा ।*

इस विषय पर 'जर्नल आफ इण्डियन इण्डस्ट्रीज़ एण्ड लेबर'' भाग १ संख्या ४ में श्रीसंजीवरावका महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

करघों द्वारा कपड़े बुननेके उद्योगका इतना महत्व होते हुए भी यह उल्लेखनीय बात है कि जिन जुलाहोंका उदर-पोषण इसी जीविकासे होता है, उनकी आर्थिक दशा सुधारनेका अभी तक कोई वास्तविक प्रयत्न नहीं हुआ। जिस भारतवर्षने शताब्दियों तक रूईसे चरखों द्वारा सूत कात कर एवं करघोंपर कपड़ा बुनकर अपनी ही नहीं, प्रत्युत अनेक सभ्य देशोंकी भी मांग पूरी की थी, उसे ही अब अपना शरीर ढांकनेके लिये विदेशोंसे प्रतिवर्ष लगभग ६० करोड़का कपड़ा मंगाना पड़ता है।...युद्धके पहिले पांच वर्षोंमें प्रतिवर्ष औसत २४४ करोड़ ७० लाख गज कपड़ा बाहरसे आया। यहांके पुतली घरोंमें १०१ करोड़ ५० लाख गज और हाथसे चलने वाले करघों द्वारा ११८ करोड़ ६० लाख गज तैयार हुआ। इस प्रकार भारतमें लगभग पांच अरब गज कपड़ेका खर्च है। वर्तमान मूल्यके अनुसार यह करीब दो अरब २० करोड़का हुआ।... हमारा अनुमान है कि आगामी दस वर्षोंमें भारतमें कपड़ेकी मांग कमसे कम ड्योढी हो जायगी, अर्थात् हमें संभवतः पांच अरब गज मोटे और ढाई अरब गज महीन कपड़ेकी ज़रूरत होगी। इस परिस्थितिका सामना किस प्रकार किया जाय? हम यह मानते हैं कि अभी कुछ समयके लिये हमें बारीक सूतका कपड़ा बाहरसे ही मंगाना पड़ेगा, किन्तु मोटा कपड़ा भी विदेशसे मंगानेका कोई कारण नहीं है। कमसे कम इस प्रकारके वस्त्रकी मांग तो भारतमें ही पूरी हो जानी चाहिये, क्योंकि संसारमें जितनी रूई पैदा होती है, उसका चौथा भाग यहां उत्पन्न होता है। हम अपनी आधी रूई जापान, जर्मनी इत्यादि देशोंको भेज देते हैं, और फिर उसीका अधिकांश सूत एवं कपड़े इत्यादिके रूपमें (अधिक मूल्य देकर) पुनः वापस लेते हैं। उसका शेषांश कपड़ेके रूपमें भिन्न भिन्न देशोंमें जाकर हमारे यहांसे जाने वाले कपड़ेका प्रतिस्पर्द्धी बनता है। भारतके लिये इतने महत्वका यह कच्चा पदार्थ (रूई) बाहर भेजते रहना और फिर उसीके बने कपड़े वहांसे मंगवाना अस्वाभाविक बात है। अतः कपड़ेकी बढ़ती हुई मांग पूरी करनेका कोई प्रबन्ध करना भारतके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

भारतमें कपड़ा बुनने वाले बहुसंख्यक पुतलीघरोंके खोलनेका क्रियात्मक

समर्थन करना बुद्धिमानी नहीं है। जिन्हें पश्चिमी तथा पूर्वी देशोंके कारखानोंमें काम करनेवाले श्रमजीवियोंकी आर्थिक एवं सामाजिक दशाके अध्ययन करनेका अवसर प्राप्त हुआ है, वे जानते हैं कि समाजपर कारखानोंके जीवनका बुरा प्रभाव पड़ता है। भारतवासियोंकी, खासकर उनके कौटुम्बिक जीवनकी, परिस्थिति एवं सामान्य भारतीय कारीगरकी चित्त-प्रवृत्ति ऐसी है कि जिसके कारण उसे कारखानोंके जीवनसे बड़ी घृणा रहती है। यदि अपनी ग़रीबीके कारण लाचार न हो तो वह सदा अपने गांवमें रहकर शान्त और निर्मल कृषक जीवन बिताना ही पसन्द करता है। बम्बईकी मिलोंमें काम करने वाले जो मजदूर अप्रैल-मईमें चार पांच महीनोंके लिये रत्नगिरि तथा मालवनके किनारे चले जाते हैं, उसका यही कारण है। ये लोग पहिले कृषक हैं, फिर उद्योगरत श्रमजीवी। एक ओर निर्धनता एवं आर्थिक कठिनाइयां है, और दूसरी ओर नैतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकता है।... वर्त्तमान परिस्थितिको देखकर, जबकि मजदूरी बढ़ाने और कामका समय घटानेके निमित्त की गयी हड़तालोंके कारण श्रमजीवि-दल निरन्तर आकुल रहता है, ग्रामीण जुलाहा सुखपूर्वक अपने घर बैठकर करघा चलाता है और कपड़े बुननेके व्यवसायसे जो असाधारण समृद्धि होती है, उससे अच्छा लाभ उठाता है।...

वर्त्तमान समयके पुतलीघरोंमें अपने-आप चलनेवाले करघोंके साथ, संभव है, हाथसे चलाये जानेवाले करघोंकी सफल प्रतिस्पर्द्धाका ख़्याल पहिले पहिल हास्यजनक प्रतीत हो। फिर भी, लेखक अपने अनुभवसे यह कहनेका साहस करता है कि यह घरू उद्योग मिलोंके सुव्यवस्थित उद्योगका केवल सामना करनेमें ही सफल न होगा, प्रत्युत उसमें अपने प्रतिस्पर्द्धीको परास्त तक करनेकी क्षमता है।

इसके पश्चात् लेखकने विविध अंकों द्वारा यह प्रमाणित किया है कि वास्तवमें मिल द्वारा कपड़ा तैयार करानेकी अपेक्षा हाथके करघों द्वारा करानेमें ज्यादा खर्च पड़नेके बजाय कम ही पड़ता है। आपने एक तालिका देकर यह स्पष्ट दिखा दिया है कि जहां संवत् १९७१ में प्रति पौंड (आधा सेर) कपड़ा तैयार करनेके निमित्त मिलनेमें कमसे कम सवा चार आने खर्च होते थे, वहां हाथका बुना उतनाही कपड़ा प्रस्तुत करमें अधिकसे अधिक छः आने दो पाईका व्यय था। किन्तु अब इन दिनों तो मिलके कपड़ेका व्यय पहिलेकी अपेक्षा दुगुना हो गया होगा, क्योंकि इस समय यंत्रोंका मूल्य तथा मकान बनानेका खर्च तिगुना पड़ने लगा है और कोयलेका मूल्य भी अढ़ाईगुना हो गया है। किन्तु हाथसे कपड़ा बुननेवालोंकी मजदूरी ५० फी सैकड़ासे अधिक नहीं बढ़ी है। तो फिर हाथका बुना कपड़ा मिलके कपड़ेकी अपेक्षा महँगा क्यों बिकता है? "क्योंकि हाथसे कपड़ा बुननेका उद्योग मिलोंकी तरह सुव्यवस्थित नहीं है।" कुछ लोग फुटकर सूत

बेचते समय एवं कपड़ेकी बिक्रीसे इतना अधिक लाभ उठाते हैं कि जिसके कारण कपड़ा प्रस्तुत करने वाले जुलाहे तथा खरीददार दोनोंको ही नुकसान होता है। लेखकने आगे चलकर इस उद्योगकी उन्नतिके कई उपाय भी बतलाये हैं और उसे सुव्यवस्थित बनानेकी विधियोंपर भी प्रकाश डाला है।

* *
*

## मिश्रदेशकी समस्या।

मिश्र देशके साथ जिस संधिके निमित्त परामर्श हो रहा था, उसके विफल हो जानेके कारण एवं श्रीअदली पाशा तथा उनके अधीन प्रतिनिधि-मंडलके वापस लौट आनेसे कठिन परिस्थिति उपस्थित हो गयी है। यह तो सभीको मालूम था कि अदली पाशा जिन बातोंको मान लेनेके लिये तैयार थे, उनसे कमपर तो मिश्रके राष्ट्रीय दलका राजी करना सम्भव ही न था। उनका असफल होना [ मिश्रके राष्ट्रीय नेता ] श्री जगलुल पाशाके दलकी सफलताका द्योतक है। ये लोग श्री अदली पाशाको इंग्लैण्डके हाथ नाचनेवाली कठपुतलीमात्र समझते थे। मिश्रमें जो घटनाएं हुई हैं, उनमेंसे मुख्य ये हैं। युद्धकालकी सारी परिस्थिति, आर्थिक संकट, सैनिकोंकी अनिवार्य भरती एवं एक ओर तो आत्म-निश्चयके समान सिद्धान्तोंकी घोषणासे और दूसरी ओर सुलतानकी सत्ताके पतन तथा रूमके अंग-भंगके कारण उत्पन्न मानसिक उत्तेजना—इन सब बातोंने मिल कर मिश्र वासियोंकी सोती हुई राष्ट्रीयताको नूतन एवं जागृत स्वरूप दे दिया है। शान्ति-सम्मेलनमें शामिल होनेवाले मिश्रके भावी प्रतिनिधिके साथ जो बर्ताव किया गया था उसके कारण मिश्रवासियोंमें बड़ी उत्तेजना फैली, किंतु मिश्रको स्वाधीन करने एवं वहाँसे ब्रिटिश संरक्षण हटालेनेकी प्रतिज्ञासे वह बहुत कुछ शान्त हो गयी। जिस समय वहांकी परिस्थितिका अवलोकन करने "मिलनर मिशन" मिश्र पहुंचा, उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो सचमुच यह प्रश्न सन्तोषजनक रूपसे हल हो जायगा। दुर्भाग्यवश श्री लायड जार्जने मिलनर कमीशनकी रिपोर्टको, उसके तत्कालीन रूपमें, ग्रहण करना अथवा उसके अनुसार कार्य करना अस्वीकृत कर दिया। हालकी बातचीत जिस कारण असफल हुई है, उसका सम्बध मिश्र देशमें रखी गयी ब्रिटिश सेनासे है। लार्ड एलनबी द्वारा सुलतानके लिखे गये पत्रके रूपमें जो लम्बा चौड़ा साम्राज्य सरकारका मन्तव्य प्रकाशित हुआ है, उससे मालूम होता है कि ब्रिटिश सरकार अपनी सेना केवल स्वेज नहरके इर्द-गिर्द ही नहीं प्रत्युत काहिरा और अलैग्ज़ान्द्रियामें भी रखना चाहती है। मिलनर रिपोर्टमें सिर्फ स्वेज़के आस पास ही सेना रखनेकी

सिफारिश की गयी थी और श्री अदली पाशाने भी यह बात मान ली थी। किन्तु अब सभी मतके मिश्र-निवासी एक स्वरसे कह रहे हैं कि पर-राष्ट्रोंके साथ संधि-की शर्त्तोंकी तरह, इस पत्रसे भी स्वाधीनताका कोई अर्थ ही नहीं रह गया है। सारी चिट्ठीकी लेखनशैली अत्यन्त आवेशपूर्ण है।

( रिव्यू आफ रिव्यूज़, दिसम्बर जनवरी १९२२ )

* *
*

## शान्ति-रक्षाके अद्भुत उपाय।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्षमें ब्रिटिश सरकारने असहयोग आन्दोलनके प्रति आपेक्षिक उदासीनताकी नीति यथार्थमें त्याग दी है। अब उसने घोर दमन आरंभ किया है। लाला लाजपतराय पकड़ लिये गये हैं। भारतकी राष्ट्रीय महासभाके भूतपूर्व सभापति श्री मोती लाल नेहरूको छः मासकी सजा हो गयी है। इलाहाबाद म्यूनिसिपल बोर्डके अध्यक्ष श्री टण्डनजीको अठारह मासका कारावास-दण्ड दिया गया है। ये सिर्फ उन लोगोंके नाम हैं जो जेल भेजे गये असहयोगियोंमेंसे विशेष प्रसिद्ध हैं। अखिल भारतीय राष्ट्रसभाके ......मनोनीत सभापति श्री चित्तरंजन दासके पुत्र तथा उनकी धर्मपत्नी, एवं बहिन भी अन्य पचास व्यक्तियोंके साथ घर घर खद्दड़ बेचनेके कारण गिरफ्तार कर ली गयी थीं। कहा जाता है कि ये सब लोग खद्दड़ बेचनेके बहाने कलकत्तेमें युवराजके आगमनके दिन हड़ताल करनेकेका उपदेश दे रहे थे। लोगोंसे युवराजके आगमनका बहिष्कार करनेका अनुरोध करनेके कारण कलकत्तेमें २६० मनुष्य पकड़े गये। इन सब बहुसंख्यक गिरफ्तारियों और सजाओंमें इस बातका दोषा-रोपण नहीं किया गया है कि पकड़े गये मनुष्य बलप्रयोगका सहारा ले रहे थे। भारतमें शान्तिरक्षाके निमित्त अथवा इंग्लैण्डके युवराजका उत्साहपूर्ण स्वागत करानेके लिये अंग्रेज लोग अद्भुत उपायोंका प्रयोग कर रहे हैं......। शान्तिमय असहयोगके कारण लोगोंको कारावास देना अशान्तिको निमंत्रित करना है। शायद 'ब्रिटिश राज' का यह ख्याल है कि गांधीजीकी नीतिकी अपेक्षा अशान्तिका सामना करना उसके लिये अधिक सरल होगा।

( नेशन, २१ दिसम्बर १९२१ )

* *
*

## प्राचीन यवद्वीप [जावा] में धार्मिक सहिष्णुता।

......शैव एवं बौद्धमतवालोंके मन्दिर पास पास ही पाये जाते हैं और

इन मन्दिरों पर तथा वैष्णव सम्प्रदायवालोंके जो इने गिने मन्दिर मिलते हैं, उनपर भी भिन्न धर्मावलम्बियोंके चिन्ह खुदे हुए हैं। आजकलके विद्वान् यह बात मान लेनेके पक्षमें नहीं है कि कुछ समयके लिये बौद्ध धर्मने शैवमतका स्थान ग्रहणकर लिया था। स्वयं इन मन्दिरोंके प्रमाणोंसे इस बातकी पुष्टि होती है कि ये दोनों धर्म साथ साथ प्रचलित थे। शैव मन्दिरोंपर अनेक बोधिसत्वोंकी मूर्त्तियां भी अंकित हैं। उसी प्रकार बौद्धमन्दिरोंमें भी ऐसे अनेक चिह्न वर्त्तमान हैं जो स्पष्ट ही शैवमतके मालूम पड़ते हैं। वस्तुतः यवद्वीपकी मध्यकालीन सभ्यताके अवशेषसे जो बात सुस्पष्टरूपसे प्रकट होती है, वह यह है कि उस समय वहां धार्मिक सहिष्णुता वर्तमान थी। शैवमत, बौद्धमत एवं अंशतः मतवैष्णव—इन तीनोंने एक दूसरेके लक्षणों और चिन्होंको ग्रहण किया। चुपुवतुमें जो बौद्धस्तूप है उसका आकार शिवलिंगकी तरह है एवं तेरहवीं शताब्दी (ईसवी) में यवद्वीपके एक राजपुत्रने शिव बुद्धका नाम ग्रहण किया था। इसके सिवा वहां एक प्राचीन कहावत है जिसका आशय है—शिव और बुद्ध एकही हैं।

( माडर्नरिव्यूसे )

* * *

चीन अतीतकालसे बलवान् राष्ट्रोंकी व्यापार-क्षुधा शान्त करनेकी सामग्री बन रहा है। उसकी खानें विदेशियोंको लाभ पहुंचा रही हैं। रेलकी पटरियोंका विस्तार इस देशमें इतना कम है कि चीनियोंको अन्य देशोंकी अपेक्षा व्यापारमें घाटा ही रहता है। अन्य जातियोंको चीनमें व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त हैं परन्तु जापानका अधिकार सबसे अधिक है। उसकी यह स्थिति अन्य राष्ट्रोंको खटकती है। यही कारण है कि खुले कपाट-नीतिकी बात सभीको प्यारी लगती है। इस नीतिके अनुसार व्यापारमें सबके अधिकार समान हो जायँगे। चीनके हृदयका बोझ भी कुछ हलका हो जायगा। परन्तु उसकी दुख-कथाका यहीं अन्त नहीं होता है। उसीकी भूमिपर विदेशियोंने अपने विशेष राजकीय अधिकारों (Extra-Territorial) की घोषणा कर रक्खी है। इस घोषणाके आगे अन्य राष्ट्रके अपराधीको दण्ड देनेका अधिकार चीनके न्यायालयको नहीं है। वाणिज्य-शुल्क-सम्बन्धी प्रश्नोंमें भी विदेशियोंने अपना ही पलड़ा भारी रक्खा है। इस शुल्ककी गति निर्दिष्ट कर दी गयी है। अपने देशमें एक नियत-द्रव्य-परिमाणसे अधिक इस शुल्कके लगानेका अधिकार चीनको नहीं है। ऋण लेनेके लिए उसे अन्य देशोंकी सरकारका ही मुंह ताकना पड़ता है। कन्सोर्टियमकी शृंखलामें जकड़ा हुआ चीन किसी देशकी जनताके पास ऋण-याचनाके लिए पहुंच ही नहीं सकता है। घरमें उसकी बुरी दशा है। उसके कितने ही बन्दरोंपर विदेशी राष्ट्रकी पताकायें फहराती हैं।

जापानकी भी स्थिति विचित्र ही है अपनी बढ़ती हुई जन-संख्याकी उसे बड़ी चिन्ता है। केलीफोर्निया (California), आस्ट्रेलिया आदि श्वेत उपनिवेशोंका कपाट बन्द हो जानेसे उसकी इस चिन्ता-सरितामें बाढ़ आ गयी थी। अन्तमें दुर्बल चीनके मंचूरियाकी प्रायः जनहीन भूमिका उसे आश्रय मिला। कोरियासे आगे बढ़कर जापानने प्राच्य मंचूरियाकी प्रधान रेलवे लाईनपर अपना अधिकार जमा लिया।

जापानको कच्चे मालकी भी अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि उसकी औद्योगिक उन्नति इसी पर निर्भर है। और बिना औद्योगिक उन्नतिके जापानियोंका कल्याण होना असम्भव है। इस औद्योगिक क्रिया-शीलताके लिए उन्हें विस्तृत क्षेत्र चाहिए।

युद्ध-कालमें जापानने अपनी विस्तार-नीतिमें (Expansion Policy) अपूर्व सफलता पायी थी। परोपकारकी ओटमें शान्टांगको वह दबा बैठा था। उस समय तो जर्मनी सभीकी आँखका काँटा बन रहा था। अतः उसके हाथसे शान्टांग जाते देख सभी आनंदसे उन्मत्त हो उठे थे। चीनने दबे शब्दोंमें जापानके इस आचरणका प्रतिवाद किया था। जापानने उस समय तो युद्ध समाप्त होनेपर चीनको शान्टांग लौटा देनेका वचन दे दिया था। परन्तु उस वचनको सर्वांश पूरा करना आज जापान कठिन समझता है। राष्ट्र-संघ तकने अपना निर्णय जापानके पक्षमें दे दिया। यही कारण था कि चीनने उस सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करनेसे हाथ खींच लिया था। वह अपना हाथ कटाना नहीं चाहता था। इतनेपर भी जापानके उपद्रवका वेग कुछ कम न हुआ। न्यायप्रिय अमेरिकाको उसने चीनमें अपने विशेष स्वत्वोंका समर्थक बना लिया था। लैंसिंग इशी-समझौता [ Lansing-Ishi Agreement ] इसका निरूपण-मात्र था। इसके पूर्व ही जब सारे राष्ट्र अपने भाग्योदयकी प्रतीक्षा कर रहे थे उस समय जापानने चीनको धमकियां दे देकर इक्कीस विकट प्रस्तावोंको स्वीकृत करनेके लिए विवश कर दिया था।

( सरस्वतीसे )

* *
*

## ( ३ ) आर्थिक जीवनमें स्त्रियोंका स्थान।

लखनऊ विश्वविद्यालयके प्रोफ़ेसर राधाकमल मुकर्जीने, अभी हालमें, अपने एक व्याख्यानमें यह बतलाया है कि आर्थिक जीवनमें स्त्रियोंका स्थान बड़ा शोचनीय है। आपका कहना है कि बड़े बड़े शहरोंमें एक तो स्त्रियोंकी संख्या कम है और दूसरे, अर्थोपार्जनके लिये उन्हें यथेष्ट क्षेत्र नहीं है। आपके कथनका सार है कि—

"जिन नगरोंमे मिले हैं वहाँ स्त्रियोंकी संख्या मनुष्योंकी अपेक्षा लगभग आधी है। बम्बई और कलकत्तेमें प्रति १,००० मनुष्य पीछे क्रमशः ५३० और ४७० स्त्रियाँ हैं। ऐसी दशामें, शहरोंमें, दुर्व्यसन और व्यभिचार बढ़ते हैं। फिर एक यह बात शहरोंमें और पायी जाती है कि मज़दूरी करने वाले स्त्री-पुरुष रद्दी-से रद्दी घरोंमे रहते हैं और अपना अधिकांश समय ऐसे स्थानोंमें व्यतीत करते हैं जहाँ उन्हें न तो स्वच्छ हवा मिलती है और न यथेष्ट प्रकाश ही। फल यह होता है कि वे बड़े शीघ्र काल-कवलित हो जाते हैं। शहरोंमें, घनी बस्ती और विला-सिताकी अनेक वस्तुएँ होनेके कारण, ग्रामोंकी अपेक्षा मृत्यु-संख्या अधिक होती है और दुर्गुण बढ़ते हैं। खेड़ोंकी अपेक्षा नगरोंमें मनुष्यों तथा बालकोंकी मृत्यु-संख्या बहुत होती है। भारतमें कानपुरका नम्बर बाल-मृत्युमें सबसे पहला है। वहाँ प्रति १,००० पीछे ५५१ बालकोंकी मृत्यु होती है। इँगलैण्डके घने बसे हुए व्यावसायिक नगरोंमें बाल-मृत्यु १,००० पीछे केवल १०० है।"

इन सब बातोंको देखते हुए मुकर्जी महाशयने सम्मति दी है कि—

"कृषि-कर्म तथा खेतीबाड़ी की उन्नति खूब होनी चाहिए। साथ ही, खेड़े खेड़ेमें भिन्न भिन्न व्यवसायोंको उत्तेजित करना चाहिए। इससे आर्थिक जीवन-में स्त्रियाँ अधिक भाग ले सकेंगी और साथ ही अपनी पुरानी कौटुम्बिक प्रथाओं-का पालन भी कर सकेंगी।"

मुकर्जी महाशयकी इस सम्मतिसे यह भी ध्वनि निकलती है कि खेड़ोंमें स्त्रियाँ चरखा चलावें और आर्थिक जीवनमें अपना भाग लेते हुए देशको सम्पत्ति-शाली बनावें।

(श्री शारदासे)

# सम्पादकीय ।

## चार राष्ट्रोंकी संधि ।

इस समय जिन जिन कारणोंसे प्रशान्त महासागरका प्रश्न विशेष महत्वपूर्ण हो रहा है, उनका संक्षिप्त उल्लेख गत श्रावण, कार्तिक तथा मार्गशीर्षके अंकोंमें किया जा चुका है। आज हम सिर्फ उस संधिका ज़िक्र करेंगे जो अभी गत मासमें ही अमेरिका इंग्लैण्ड, जापान तथा फ्रांसके बीच हुई है। यद्यपि संधिकी शर्तोंको देखनेसे हमें यह विश्वास नहीं होता कि वह संसारमें चिर-शान्ति स्थापित करनेमें सर्वथा समर्थ होगी, तो भी हमारी धारणा है कि कुछ समयके लिये उसके कारण सुदूर पूर्वमें रण-भेरी बजनेकी आशंका अवश्य तिरोभूत हो गयी है। जापानकी अत्यन्त स्वार्थपरायण एवं कुटिल नीतिके कारण अमेरिकाका दृष्टिकोण जिस तेजीके साथ बदल रहा था, एवं अपने इन दोनों मित्रोंका पारस्परिक भाव देखकर इंग्लैण्ड जिस दुविधामें पड़ गया था, उससे तो ऐसाही प्रतीत होने लगा था कि प्रशान्त-महासागर अब बहुत शीघ्र ही "अशान्त" महासागरका रूप धारण करना चाहता है। नूतन संधिके कारण उक्त महासागरके नाम और स्थितिका यह कृत्रिम परिवर्त्तन थोड़े समयके लिये रुक गया, यही इस संधिकी विशेषता है। अस्तु।

हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि वर्त्तमान राजनीतिक क्षेत्रमें जो विचार-धारा बह रही है, उसके रहते हुए भी ऐसी कोई संधि की जा सकती थी जो चिर-शान्तिकी स्थापनामें विशेष सहायक होती। फिर भी यदि वर्त्तमान संधिमें चीन भी शामिल कर लिया जाता एवं संधिकी शर्तें तैयार करते समय उसे एक शक्तिशाली स्वतंत्र देशकी बराबरीका पद दिया जाता, तो निस्सन्देह कुछ अधिक कालके लिये शान्ति-भंगकी संभावना जाती रहती। किन्तु ऐसा नहीं किया गया। चीनके समान विस्तृत, और क्रमशः जागृत अवस्थाको प्राप्त होनेवाले, देशकी अवहेलना कर, ऐसी बीसियों संधियां भी प्रशान्त सागरमें अधिक समयतक शान्ति क़ायम नहीं रख सकतीं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वाशिंगटन सम्मेलनमें उपस्थित इन चार राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंने अपने अपने दिमाग़ लड़ाकर एशियाके शीघ्रम्भावी भयंकर विभ्राट्को इस समय बड़ी हिकमतसे रोक लिया है। अमेरिका और जापानके पारस्परिक मनोमालिन्यके कारण परिस्थिति दिन प्रति दिन नाज़ुक होती जा रही थी। इंग्लैण्ड बड़े असमंजसमें पड़ गया था। वह न तो जापानकी ही मित्रता त्याग सकता था और न अमेरिकाको ही अपना शत्रु बना सकता था। यदि एकके साथ मैत्री-भाव दृढ़ किया जाता तो दूसरेसे अवश्य वैमनस्य हो जाता। इस समस्याका निपटारा जिस खूबीके साथ किया गया है, उसे देखकर इन धुरन्धर राजनीतिज्ञोंकी कार्य-कुशलताका पता लगता है। जिससे भयकी

आशंका हो उसे ही देखते देखते अपने गुटमें मिलाकर मित्र बना लेना व्यवहार-चतुर राजनीतिज्ञोंका ही काम है। कहां तो यह शंका हो रही थी कि कदाचित् अब इन मित्रोंकी मित्रता भंग होनेका समय आ गया है और कहां आज हम उस मित्रताको अभग्न ही नहीं, प्रत्युत अधिक विस्तृत रूपमें देखते हैं। इन्हीं सब बातोंका ख्याल कर हमें इन राजनीति-विशारदोंकी अद्भुत विचार-शक्ति और अनोखी सूझपर आश्चर्य होता है।

हम पहिले ही कह चुके हैं कि इस संधिके कारण, कुछ कालके लिये प्रशान्त महासागरमें व्यापक अशान्तिकी आशंका दूर हो गयी है। 'कुछ कालके लिये' और 'दूर हो गयी है'—ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। इस समय जापानकी स्वार्थपूर्ण नीति प्रधानतः अमेरिकाकी आखोंमें ही खटक रही थी। मित्र चौकड़ीमें उसके शामिल हो जानेसे अब उसके वैमनस्यका भय जाता रहा। किन्तु यह हालत कब तक रह सकती है? राजनीतिक मित्रता कितनी सच्ची और कितनी स्थायी होती है, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है। उसका प्रधान आधार स्वार्थ-साधन ही रहता है। जिस समय स्वार्थमें बाधा पड़ी, उसी समय समझिये मित्रतापर भी आपत्ति आयी। चीन इत्यादि देशोंमें जापान जो मनमानी करना चाहता था और वहांके बाजारोंपर जिस प्रकार अपना व्यापारिक प्रभुत्व जमाना चाहता था, उसीके कारण वह अमेरिकाकी आंखोंका कांटा हो रहा था। अब अमेरिका स्वयं इस मित्र-मण्डलीमें संयुक्त हो गया है। अतः उसे भी अपने स्वार्थ-साधनका मौका मिलेगा। यदि जापानको यह बात पसन्द न आयी और यदि वह किसी प्रकारका हस्तक्षेप करना चाहे तो फिर मनोमालिन्यका अवसर आ सकता है। इधर चीन भी अब विदेशियोंकी राजनीतिक चालें खूब समझने लगा है। उसने वाशिंगटन सम्मेलनमें भी ज़ोरोंसे अपनी आवाज़ उठायी थी, पर विशेष लाभ न हुआ। वह चुपचाप इन लोगोंकी काररवाई न देखता रहेगा। उसे अपना घर-द्वार सँभालनेकी चिन्ता करनी ही पड़ेगी। अतः समर्थ होनेपर वह कभी इन लोगोंका स्वेच्छाचार सहन न करेगा। इस प्रकार फिर शीघ्र अशान्तिकी आशंका उपस्थित हो जायगी।

जापान और अमेरिकाके मनोमालिन्यका एक कारण और है। जापान अपनी बढ़ती हुई आबादीके कारण यूरोपीय देशोंकी तरह अपने उपनिवेश बसाना चाहता है। उसकी इच्छा थी कि अमेरिकाके कैलीफोरनिया इत्यादि राज्योंमें जापान निवासियोंको स्थान दिया जाय. किन्तु एशियावासी होनेके कारण जापानियोंको यह अधिकार न मिला। वर्तमान संधिमें इस रोक टोकके हटाये जानेका कोई ज़िक्र नहीं है। अतः इस राष्ट्रीय अपमानके होते हुए भी जापान अमेरिकासे कब तक सन्तुष्ट रह सकता है?

उधर प्रशान्त महासागरके याप इत्यादि टापुओंके सम्बन्धमें जापानको राष्ट्रसंघने जो आदेशपत्र (पट्टे) दिये हैं, अमेरिका उनका विरोधी है। उनकी भी चर्चा इस संधिमें नहीं की गयी है। यद्यपि अमेरिकाके प्रतिनिधियोंने संधिपत्रोंपर हस्ताक्षर कर दिये थे, फिर भी उन्होंने हस्ताक्षर करते समय दो बातें स्पष्ट रूपसे लिख दी थीं। उनमेंसे पहिली

## सम्पादकीय ।

यह थी (१) प्रशान्त महासागरके उन टापुओंके सम्बन्धमें भी यह संधि लागू होगी जिनके निमित्त पट्टे जारी किये गये हैं, किन्तु शर्त यह है कि इस संधिका यह अभिप्राय न समझा जाना चाहिये कि संयुक्त राज्य, अमेरिका उन पट्टोंसे सहमत है......................
( लिटररी डाइजेस्ट, २४-१२-२१ )

इन्हीं सब कारणोंसे हम कहते हैं कि उक्त संधिके कारण शान्ति-भंगकी आशंका केवल थोड़े समयके लिये ही दूर हो गयी है । वह एकबारगी नष्ट नहीं हुई है ।

इस संधिमें जापान, इंग्लैण्ड और अमेरिकाका शामिल होना तो ठीक ही है, पर उसमें फ्रांसका भी भाग लेना हमारी समझमें नहीं आता । प्रशान्त सागरके प्रश्नका फ्रांसके साथ ऐसा कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं मालूम पड़ता। संधिमें उसके शामिल किये जानेके केवल दो कारण प्रतीत होते हैं । एक तो यह कि हरजानेकी शर्तोंके तथा रूम इत्यादिके सम्बन्धमें इधर कुछ दिनोंसे इंग्लैण्ड और फ्रांसमें तना-तनीसी नज़र आ रही थी । संभव है इस विद्रोहको आगे न बढ़ने देनेके विचारसे ही फ्रांस इस गुट्टमें मिला लिया गया हो । यह भी हो सकता है कि इंग्लैण्ड इत्यादि देशोंके राजनीतिज्ञोंके विचारमें यह आया हो कि " कहीं हम लोगोंको गुट्ट बनाकर कारवाई करते देखकर फ्रांस हमारा विरोधी न बन जाय, कहीं वह संसारके सामने हमारा भण्डा न फोड़दे ! अतः उसे भी अपना साथी बना लेना अच्छा है । फिर तो ऐसा कोई देश बच ही न जायगा जो हमारी नीतिके खण्डन करनेका साहस कर सके । जर्मनी जर्जर हो ही गया है, रूस आर्थिक कष्टोंसे पिस रहा है । आस्ट्रिया, इटलीसे भय ही क्या है ? रहे कनेडा, आस्ट्रेलिया, इत्यादि, सो ये भी अपने दोस्त ही हैं ।" वास्तवमें बात क्या है, यह कहना कठिन है । किन्तु यूरोपीय राजनीतिज्ञोंके परस्पर अविश्वास एवं गहरी स्वार्थ-आसक्तिके कारण उपर्युक्त अनुमानका सत्य होना असम्भव नहीं है ।

गत यूरोपीय युद्धकी समाप्तिके बाद संसारमें केवल चार प्रबल राष्ट्र बच गये थे—इंग्लैण्ड, अमेरिका, जापान और फ्रांस । एकही सन्धिमें इन चारोंका बँध जाना संसारकी शान्तिके लिये शुभकारी भी हो सकता है और अशुभकारी भी । न्यू यार्कका समष्टिवादी पत्र " कॉल " कहता है कि " इस संधिने वास्तवमें जो काम किया है वह यह है कि उसने एशियाके साम्राज्यवादी राष्ट्रको पश्चिमके केवल एक साम्राज्यवादी राष्ट्र ( इंग्लैण्ड ) का साथी न बनाकर, उसे तीन साम्राज्यवादी देशोंके साथ जकड़ दिया है ।" इस प्रकार अंग्रेज-जापानी-सन्धिका स्थान अब चार राष्ट्रोंकी इस सन्धिने ग्रहण किया है । इसकी म्याद भी गत अंग्रेज-जापानी संधिकी तरह दस वर्षोंकी ही रखी गयी है ।

* *
*

## टीटागढ़ मिल और विदेशी प्रतियोगिता ।

आर्थिक कमीशनके सामने गत २६ पौष ( १३ जनवरी ) को बंगालके दो प्रसिद्ध

कागज बनानेवाले कारखानों—टीटागढ मिल तथा बंगाल पेपर मिल—ने जो लिखित वक्तव्य पेश किया था, वह बड़े महत्वका है। उसे पढ़नेसे, विदेशी प्रतियोगिताका भारतीय उद्योगोंपर क्या प्रभाव पड़ता है, यह बात काफी स्पष्ट हो जाती है। टीटागढ़ मिल आज चालीस वर्षोंसे स्थापित है। यद्यपि आरंभमें उसका कारबार अच्छा चल निकला था एवं उसे इस उद्योगमें लाभ भी होने लगा था, तो भी विदेशी प्रतियोगिताके कारण यह स्थिति अधिक समय तक कायम न रह सकी। संवत् १६६१ से युद्धके पूर्वतक इसकी हालत खराब ही होती गयी। युद्धकालमें पुनः इसे अपनी उन्नतिका अवसर मिला और इसमें वह बहुत कुछ कृतकार्य भी हुआ। संवत् १६७३ में उसे दस लाखका, और संवत १६७४ में अठारह लाखका मुनाफा हुआ। संवत् १६७५ तथा १६७६ में दोनों वर्षोंके संयुक्त लाभकी मात्रा ५४ लाख तक पहुँच गयी। इतना होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह विदेशी प्रतियोगिताका सामना करनेके निमित्त पूर्णतः समर्थ हो गया है। यही कारण है अन्य औद्योगिक संस्थाओंकी तरह उसके प्रतिधियोंने भी संरक्षणनीतिके पक्षमें अपनी राय दी है।

यूरोपके स्वीडन, जर्मनी आदि देशोंमें बहुत कागज बनता है। कागज बनानेकी सामग्री भी वहाँ प्रचुर मात्रामें पायी जातीहै, साथ ही वहाँकी सरकार इस उद्योगकी उन्नतिके लिये लोगोंको उत्साहित करती और समय समयपर उनकी सहायताके लिये आवश्यक उपाय भी करती है। इन लोगोंके बनाये कागजने संसारके अनेक देशोंमें सुदृढ़ स्थान प्राप्त कर लिया है। उन्हें इतना अधिक मुनाफा होता है कि वे समय समयपर अपना माल लागत मूल्यसे या स्वदेशमें प्रचलित मूल्यसे भी कम मूल्यमें बेच देते हैं। इस प्रकार कुछ समय तक सस्ते मूल्यमें अपना माल बेचकर एवं विदेशी बाजारोंमें अपने मालका काफी प्रसार कर वे धीरे धीरे उसका मूल्य फिर बढ़ा देते हैं। यही कारण है कि उनका सामना करना किसी भी देशके प्रारंभिक उद्योगके लिये कठिन हो जाता है। फल यह होता है कि ये नये कारखाने कुछ समय तक लड़खड़ाते लड़खड़ाते अन्तमें गिर ही जाते हैं और उन विदेशी औद्योगिकोंको पुनः अपने मालका मूल्य बढ़ा देनेका अवसर मिल जाता है।

यद्यपि टीटागढ़के मिलको स्थापित हुए आज चालीस वर्ष हो गये तो भी उसकी दशा वैसी ही अनिश्चित बनी हुई है जैसी प्रारंभिक कारखानोंकी होती है। ऐसी अवस्थामें अपनी रक्षाके निमित्त विदेशोंसे आने वाले कागजपर २० फी सैकड़ा आगतकर लगानेकी सिफारिश करना उसके लिये स्वभाविक ही है। वह चाहता है कि यह आयातकर दस वर्षके लिये लगाया जाय और उसके तैयार मालके गमनागमनके लिये तथा कागज बनानेकी सामग्री मँगानेके लिये रेलों द्वारा किराये इत्यादिकी अधिक सुविधाओंका प्रबंध भी कर दिया जाय। साथ ही उसकी इच्छा है कि सरकार प्रति वर्ष कमसे कम दस हजार टन (लगभग पौने तीन लाख मन) कागज खरीदनेका वचन दे। इतनी अधिक सुविधाएँ कर

देना कहाँ तक न्याय्य होगा, हम नहीं कह सकते । किन्तु इतना हम अवश्य कहेंगे कि इस उद्योगकी रक्षा और उन्नतिका कोई उपाय होना ही चाहिये ।

बाहरसे कागज मँगाने वालोंके लिये रेलवालोंने कितनी अधिक सुविधा कर रखी है, इसे समझनेके लिये इतना ही कहना काफी होगा कि यदि बम्बई या करांची वाले व्यापारी ( संवत् १९७० में ) कानपुर, दिल्ली या लाहौरको विदेशी कागज भेजते थे तो उन्हें जो रेलभाड़ा देना पड़ता था, उसकी अपेक्षा कलकत्तेके समीपस्थ किसी मिलको अपना माल उक्त स्थानोंमें पहुँचानेके निमित्त फी मन, फी मील ६० प्रति सैकड़ा रेलभाड़ा अधिक देना पड़ता था । बम्बईसे जबलपुरकी दूरी ६१६ मील है और नेहाटीसे ७१४ मील अर्थात् फी सैकड़ा १६ अधिक है । किन्तु जहाँ बम्बईसे कागज मगानेमें जबलपुरवालोंको फी मन ६ आने ८ पाई भाड़ा लगता था, वहाँ नेहाटीसे मँगानेमें १ रुपया ३ आने फी मन अर्थात दूना भाड़ा देना पड़ता था । बम्बई, करांची, इत्यादि पश्चिमी बन्दरस्थानोंसे आरंभ होनेवाली रेलोंमें अब भी यह पक्षपात दृष्टिगोचर होता है । ऐसी हालतमें टीटागढ़वालोंका अपने मालके आवागमनकी सुविधाएँ चाहना अनुचित नहीं कहा जा सकता ।

यद्यपि टीटागढ़ मिलके मालिक यूरोपियनही हैं और इसकारण उसकी आमदनीका कुछ अंश देशके बाहर चला जाता है, तो भी उसके कारण ३६½ हजार मनुष्योंका निर्वाह होता है एवं देशकी एक प्रधान आवश्यकताकी आंशिक पूर्त्ति भी होती है । भारतवर्षमें इस समय कागज बनानेके कुल नौ कारखाने हैं, जिनमें साधारणतया प्रतिवर्ष लगभग ३२००० टन अर्थात् ८६६, ०० मन कागज तैयार होता है । किन्तु इतने कागजसे देशकी आवश्यकताके केवल तृतीयांशकी ही पूर्त्ति होती है । शेष दो तिहाईकी पूर्त्ति विदेशी कागज मँगाकर करनी पड़ती है । देशमें इन कारखानोंकी बड़ी आवश्यकता है क्योंकि इनसे हमें प्रत्यक्ष लाभ तो होता ही है, किन्तु परोक्ष लाभ भी किसी प्रकार कम नहीं होता । उनके कारण खनिज पदार्थों, धातुओं तथा कई रासायनिक पदार्थों एवं कास्टिक सोडा, गंधकका तेजाब, चूना, चिनी मिट्टी इत्यादि अनेक वस्तुओंकी उत्पत्ति तथा प्रसारमें बड़ी उत्तेजना मिलती है । हम आशा करते हैं कि ऐसे उपयोगी कारखानोंकी रक्षा और वृद्धिके निमित्त शीघ्र ही समुचित उपायोंका अवलम्बन किया जायगा एवं जिन बाँसों, लकड़ियों तथा विविध प्रकारकी घाससे कागज तैयार करनेका मसाला बन सकता है, उनका प्रयोग आरंभ करने अथवा जहां आरंभ हो गया है वहां अधिक मात्रामें कर सकनेका प्रयत्न अनतिविलम्ब होने लगेगा ।

* *
*

## *राजनीतिक कैदियोंके साथ बर्त्ताव ।*

राजनीतिक कैदियोंके साथ कैसा बर्त्ताव होना चाहिये, यह प्रश्न देशकी वर्त्तमान

परिस्थितिके कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है। यद्यपि आजकल हमारे देशमें आत्म त्यागकी, तथा नैसर्गिक स्वत्वोंकी रक्षाके निमित्त, सब कुछ सहनेकी जो प्रवृत्ति दिखायी देती है उसके कारण किसी भी राजनीतिक अपराधीको इस बातकी शिकायत नहीं है कि हमारे साथ इतना कठोर बर्त्ताव क्यों किया जाता है, तो भी न्याय और मनुष्यत्वके नाते हमें इस प्रश्नपर विचार करना ही पड़ता है। अपने सिद्धान्तोंपर बलि हो जानेवाली इन पवित्र आत्माओंको प्राकृतिक बन्धनोंमें जकड़े जाने अथवा शारीरिक यंत्रणाओं द्वारा सताये जानेका ख्याल भले ही न हो, किन्तु न तो सरकार ही, यदि वह न्यायप्रिय बननेका दावा करती है, इस प्रश्नको उपेक्षाकी दृष्टिसे देख सकती है और न सार्वजनिक प्रश्नोंपर विचार प्रकट करनेवाले हमारे समान तुच्छ व्यक्ति ही इस सम्बन्धमें मौन धारण किये रह सकते हैं। अस्तु।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि साधारण कैदियों और राजनीतिक अपराधियोंमें बड़ा अन्तर होता है। राजनीतिक अपराधी किसीके घर डाका नहीं डालते, और न किसीके साथ मारपीट ही करते हैं। वे केवल अपने ऐसे विचारोंके कारण अपराधी समझे जाते हैं जो तत्कालीन शासकोंकी दृष्टिमें प्रचलित शासन-व्यवस्थाके निमित्त अथवा देशकी शान्तिके लिये "आपत्तिजनक" प्रतीत होते हैं। हम यह मानते हैं कि संसारमें एक ऐसा ज़माना भी गुज़र चुका है जब मनुष्योंको केवल विचार-स्वातंत्र्यके कारण ही कड़ीसे कड़ी यंत्रणा सहनेको तैयार रहना पड़ता था। किन्तु अब वे दिन नहीं रहे। अब तो संसारके प्रायः किसी भी सभ्य देशमें विचार-स्वातंत्र्य कोई अपराध नहीं माना जाता। प्रत्युत अनेकों बार यह प्रवृत्ति बड़े सम्मानकी दृष्टिसे देखी जाती है। फिर भी संसारकी समाज-व्यवस्था एवं शासन-व्यवस्था आज भी इतनी समुन्नत नहीं हुई है कि वह प्रत्येक मनुष्यको अपरिमित विचार-स्वातंत्र्य दे सके। किसी किसी अवसरपर सभ्यसे सभ्य देशोंमें भी व्यक्ति-विशेषके विचार-स्वातंत्र्यसे किसी बड़ी भारी सार्वजनिक हानिकी संभावना देखकर उसकी यह स्वतंत्रता कुछ समयके लिये छीनी जा सकती है। किन्तु साधारणतया उसे किसी प्रकारकी शारीरिक यंत्रणा देना या उससे कठिन परिश्रम कराना प्रायः सभी समुन्नत देशोंमें अनुचित समझा जाता है। इंग्लैण्डमें ऐसे मनुष्य प्रथम श्रेणीके अपराधी माने जाते हैं। उन्हें रहनेके लिये खास कमरा मिलता है। वे अपने खुदके कपड़े पहिन सकते और अपने भोजनकी स्वतंत्र व्यवस्था कर सकते हैं। पुस्तकें और समाचारपत्र पढ़नेकी स्वतंत्रता भी उन्हें रहती है। सात दिनोंमें एकबार अपने मित्रोंसे मिलनेकी अनुमति उन्हें मिल जाती है और सप्ताहमें एकबार वे पत्र-व्यवहार भी कर सकते हैं। हम जानते हैं कि भारतमें भी आजकल कुछ लोगोंके साथ प्रायः ऐसा ही बर्त्ताव किया जाता है, किन्तु अनेक स्थानोंसे अत्यन्त जघन्य दुर्व्यवहारके समाचार भी सामयिक पत्रोंमें प्रकाशित हुए हैं। मिट्टी मिला भोजन देना, कठिन ठंडके समय केवल एकाध कम्मलसे गुज़र करनेको कहना, इत्यादि इस प्रकारके अमानुषिक व्यवहारसे अधिकारियोंकी प्रतिष्ठा रत्तीभर भी नहीं बढ़ सकती और न कार्य-सिद्धिमें ही उन्हें कोई विशेष सुविधा हो सकती है। ऐसी नीतिके कारण जनतामें

## सम्पादकीय ।

और भी अधिक उद्वेग और अशान्ति फैल जाती है और वह अधिकारि-वर्गके इस कार्यको बड़ी घृणा और अश्रद्धाकी दृष्टिसे देखने लगती है।

हम यह माने लेते हैं कि आजकल जितने मनुष्य जेल जारहे हैं वे सभी "सच्चे" राजनीतिक अपराधी नहीं कहे जासकते, अतः उन्हें इंग्लैण्डके प्रथम श्रेणीवाले अपराधियोंके समान सुविधाएँ पानेका कोई अधिकार नहीं है। तो भी हम यह जानना चाहते हैं कि क्या वे मनुष्योचित व्यवहार पानेके भी अधिकारी नहीं है? अभी उस दिन हमने पढ़ा था कि किसी पुलीस-कर्मचारी द्वारा बेंतोंकी मार सहते हुए एक अभियुक्तने कहा "ईश्वर तुम्हें बेत मारनेकी ताकत दे और मुझे बेत सहनेकी।" ऐसे वीरोचित वाक्योंको सुनकर एवं अभियुक्तोंकी अपूर्व दृढ़ता देखकर भी जिन मिथ्याभिमानियोंका अभिमान स्खलित नहीं होता, उन नर देह-धारी क्षुद्र व्यक्तियोंपर बड़ा रहम आता है। भगवान् उन्हें सुबुद्धि दे।

केवल, 'चोर" "गँवार" और "लुच्चों" के साथ यह व्यवहार होता हो, सो नहीं। बड़े बड़े शिक्षित और सम्मानित व्यक्तियोंको भी कहीं कहीं इसका स्वाद चखाया गया है। फरीदपुर जेलमें वहांके डिप्टी मजिस्ट्रेटकी आज्ञासे दो मनुष्योंको कोड़े लगाये गये थे। उनमेंसे एक महाशय विश्वविद्यालयके ग्रेजुएट और स्थानीय राष्ट्रीय स्कूलके हेडमास्टर थे। पत्रोंमें छपा था कि मजिस्ट्रेट बहादुरको "सलाम" न करनेके कारण ही उन्हें यह दण्ड दिया गया था। इसके बाद सरकारकी ओरसे एक विज्ञप्तिभी प्रकाशित हुई, किन्तु जहांतक हमें स्मरण है उक्त विज्ञप्तिमें "सलाम" वाली बातका कोई ज़िक्र ही नहीं किया गया। अगर हम उसे कपोल-कल्पित भी मान लें, तो भी मजिस्ट्रेट महोदयकी पीठ ठोकनेमें हम सर्वथा असमर्थ हैं।

इन्हीं सब समाचारोंके कारण सुप्रसिद्ध उदारमतवादी "लीडर" अखबार तकको ८ माघ (२१ जनवरी) के अंकमें एक टिप्पणी लिखनी पड़ी थी। वह कहता है कि "हमारे पास भिन्न भिन्न स्थानोंके, प्रायः निरपेक्ष मनुष्योंके पाससे ही, इतने अधिक समाचार पुलीसकी ज्यादतियोंके संबधमें आरहे हैं कि उन सबोंको असत्य ठहराना असंभव है।" ऐसी हालतमें सरकार इस प्रश्नको उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देख सकती। इस समय जेल कमिटीकी रिपोर्ट प्रान्तीय सरकारोंके सामने है। क्या हम आशा कर सकते हैं कि वे वर्त्तमान परिस्थितिको खूब समझ बूझकर एवं अपने चित्तको अचञ्चल रखती हुई इस प्रश्नपर समुचित रूपसे विचार करेंगी और इस देशके राजनीतिक अपराधियोंको भी वैसा ही दण्ड देनेकी सलाह देंगी जैसा इंग्लैण्डमें प्रथम श्रेणीके कैदियोंको दिया जाता है?

# ज्ञातव्य विषय तथा अंक

श्रावण, भाद्र, आश्विन १९७८ के औद्योगिक झगड़ोंकी तालिका

| प्रान्त | | झगड़ोंकी संख्या | झगड़ोंमें शामिल श्रमजीवियोंकी संख्या | व्यर्थ गये दिनोंकी संख्या | मांग | | | | | | परिणाम | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | | | वेतनके लिये | इनामके लिये | खासगी सबबसे | छुट्टी या कामके घंटोंके सबब | अन्य कारणोंसे | अज्ञात | सफल | अंशतः—सफल | असफल | अनिश्चित | अज्ञात | उन्नतिपर |
| बंगाल | ... | ३० | २५,१८५ | १७३,७७६ | १७ | २ | २ | १ | ७ | १ | ५ | ८ | ११ | ६ | ... | ... |
| बिहार | ... | २ | ४६० | ४६० | ... | ... | ... | ... | ... | २ | ... | ... | ... | ... | २ | ... |
| बम्बई | ... | ४० | ५६,४३६ | ४२२,६७६ | १० | १ | ६ | २ | २१ | ... | ८ | १ | २६ | ... | ... | २ |
| ब्रह्मदेश | ... | ७ | ५६१ | २,०४६ | ३ | ... | ४ | ... | ... | ... | १ | १ | ३ | ... | १ | १ |
| मद्रास | ... | ५ | १२,५०० | ५२६,६४६ | २ | ... | १ | १ | १ | ... | १ | १ | १ | ... | ... | २ |
| पंजाब | ... | १ | १५०० | ५,४०० | १ | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | १ | ... | ... | ... |
| संयुक्त प्रान्त | ... | ३ | ८८० | २,०८० | १ | ... | २ | ... | ... | ... | — | १ | ... | ... | १ | १ |
| योग | ... | ८८ | ९७,८२५ | १,१३३,६८४ | ३४ | ३ | १५ | ४ | २९ | ३ | १५ | १२ | ४५ | ६ | ४ | ६ |

ओ३म् बन्देमातरम्

# स्वार्थ

वर्ष २ खण्ड २ } फाल्गुन १९७८ { अङ्क ५ पूर्णाङ्क २१

## विदेशी विनिमय ।

( ४ )

### *टाकसालिक दर और स्वर्ण आयात-निर्यात दर ।*

देशी विनिमयके संबंधमें हम गत लेखोंमें यह बतला चुके हैं कि देश किन किन कारणोंसे आपसमें कर्जदार या लेनदार हो जाता है, किसी मनुष्यका विदेशी कर्ज कई प्रकारकी हुंडियोंद्वारा किस तरहसे अदा किया जा सकता है, और दो या तीन देशोंका पारस्परिक लेन देन इन हुंडियों द्वारा किस तरह चुकाया जाता है। इस लेखमें हम यह बतलानेका प्रयत्न करते हैं कि टाकसालिक दर ( Mint Par ) और स्वर्ण आयात-निर्यात दर ( Gold Points ) क्या हैं, साधारण परिस्थितिमें लेन देनकी विषमताका विनिमयकी दरपर क्या प्रभाव पड़ता है।

संसारके अधिकांश देशोंमें सोनेका सिक्का प्रचलित है। वह कानूनन ग्राह्य सिक्का ( Legal tender coin ) और स्टेंडर्ड सिक्का ( standard coin ) समझा जाता है और उसकी बाजारू कीमतमें और उसमें जो सोना रहता है उसकी कीमतमें, प्राय: अन्तर नहीं रहता, यदि रहा भी तो बहुत थोड़ा। ऐसे सिक्कोंमें कितना सोना होना चाहिए और उनका कितना वज़न होना चाहिए यह प्रत्येक देशके कानूनके अनुसार नियत कर दिया गया है और उतने ही वजन और सोनेके सिक्के टकसालोंमें ढाले जाते हैं।

ऐसे दो देशोंके बीचमें, जिनमें सोनेका स्टेंडर्ड सिक्का प्रचलित हो, टाकसालिक दर

उन देशोंके सिक्कोंके असली सोनेके पारिमाणिक संबन्धको कहते हैं। फ्रांस और इंग्लैण्ड दोनोंमें सोनेके स्टैंडर्ड सिक्के प्रचलित हैं। फ्रांसके सिक्केको फ्रैंक कहते हैं और इंग्लैण्डके सिक्केको पौण्ड। इन दोनों देशोंकी टाकसालिक दर फ्रैंक और पौण्डके असली सोनेका पारिमाणिक सम्बन्ध होगी। वह दर यह बतलावेगी कि एक पौंडमें जितना असली सोना रहता है, उसके यदि फ्रैंक सिक्के ढाले जावें तो कितने सिक्के बनेंगे अर्थात् उतना सोना कितने फ्रैंक सिक्कोंमें पाया जावेगा। इन सिक्कोंमें असली सोनेका परिमाण जाननेके लिये इन देशोंका टकसाल सम्बन्धी कानून जानना आवश्यक है। इंग्लैण्डके सिक्के-पौण्डमें ७·९९ ग्रेम स्टैंडर्ड सोना रहता है जिसमें कि $\frac{११}{१२}$ भाग असली सोनेका रहता है। इस प्रकार प्रत्येक पौण्डमें सोनेका परिमाण $\frac{७·९९ \times ११}{१२}$ ग्रेम रहता है। फ्रांसके ३१०० फ्रैंकमें ९०० ग्रेम असली सोना रहता है, इस लिये प्रत्येक फ्रैंकमें $\frac{९००}{३१००}$ ग्रेम सोना रहता है। अब यह मालूम हो गया कि प्रत्येक पौण्ड और फ्रैंकमें कितना असली सोना रहता है। इससे यह आसानीसे जाना जा सकता है कि कितने फ्रैंकमें उतना असली सोना होगा जितना कि एक पौंडमें रहता है। वह संख्या $\frac{७·९९ \times ११ \times ३१००}{९०० \times १२}$ अर्थात् २५·२२ फ्रैंक है और यही पौंडकी फ्रैंकमें टाकसालिक दर है। इसी प्रकार इंग्लैंडकी अन्य देशोंके साथ टाकसालिक दर निकाली जा सकती है। खास खास देशोंकी टाकसालिक दर नीचे दी जाती है :—

| | | |
|---|---|---|
| इंग्लैण्ड और फ्रांस | १ | पौण्ड=२५·२२ फ्रैंक |
| ,, ,, जर्मनी | १ | ,, =२०·४३ मार्क |
| ,, ,, आस्ट्रिया | १ | ,, =२४·०२ क्रोन |
| ,, ,, इटली | १ | ,, =२५·२२½ लायर |
| ,, ,, अमेरिका | १ | ,, =४·८७ डालर |
| ,, ,, रसिया | १ | ,, =९४·५७ रबल. |

उपर्युक्त टाकसालिक दरें बदलती नहीं हैं, क्योंकि वे तो सिक्कोंके असली परिमाणका संबंध मात्र हैं और जबतक सिक्कोंमें असली सोनेका परिमाण नहीं बदलता तबतक वे भी नहीं बदल सकतीं। परंतु ऐसे दो देशोंके बीचकी टाकसालिक दर जिनमेंसे एकमें तो सोनेका स्टैंडर्ड सिक्का और दूसरेमें चांदीका स्टैंडर्ड सिक्का प्रचलित रहता है, हमेशा बदलती रहती है क्योंकि चांदीकी कीमत सोनेमें बदलती रहती है और उसी हिसाबसे टाकसालिक दर भी बदलती जाती है। यही दशा भारतमें संवत् १९५० ( सन् १८९३ ) के पहिले थी। हमारा स्टैंडर्ड सिक्का, रुपया, चांदीका था और इंग्लैंड तथा अन्य देशोंका सोनेका; और जैसे जैसे चांदीकी सोनेमें कीमत बदलती

गयी वैसे वैसे भारतकी टाकसालिक दर भी बदलती गयी । परंतु अब तो भारतमें कोई स्टैंडर्ड सिक्का है ही नहीं । रुपयेकी बाजारू कीमत उसमेंकी चांदीकी कीमतसे अधिक है, इसलिये अब तो भारत और अन्य देशोंके बीचमें कोई टाकसालिक दर हो ही नहीं सकती । परंतु भारत सरकारने कानून बनाकर रुपयेकी शिलिंग पेंसमें एक दर नियत कर दी है और वह उसको बनाये रखनेका प्रयत्न भी करती रही है । संवत् १९७७ ( सन् १९२० ) के पहिले वह दर १ रुपया=१ शि० ४ पेंस थी । अब वह दर १ रुपया=२ शिलिंग है (?)। पुरानी दरको संवत् १९७७ (१९२०) में बदलनेके क्या कारण थे और अब इस नवीन दरके बनाये रखनेमें सरकार इस समय क्यों असमर्थ है इन सब बातों पर अन्य किसी लेखमें विचार किया जायगा । परंतु यहां यह बतला देना हम आवश्यक समझते हैं, कि विदेशी विनिमयकी दर जाननेके लिये भिन्न भिन्न देशोंकी टाकसालिक दर जानना बहुत आवश्यक है क्योंकि साधारण दशामें विनिमयकी दर और टाकसालिक दरमें बहुत कम अन्तर रहता है; लेन देनकी विषमताके अनुसार कभी वह दर टाकसालिक दरसे थोड़ी कम रहती है और कभी अधिक ।

अब हम इस प्रश्नपर विचार करते हैं कि विनमयकी दरपर किन किन बातोंका प्रभाव पड़ता है । यदि दोनों देशोंमें स्टैंडर्ड सिक्के प्रचलित हों और सोना चांदीके भेजने और मँगानेमें किसी भी तरहकी रोक-टोक न हो तो विदेशी दर्शनी हुंडियोंकी दर किस तरहसे स्थिर होगी-यह नीचे बतलाया जाता है । मान लीजिये कि किसी समय फ्रांसके लेन-देनकी विषमता उसके प्रतिकूल है अर्थात् फ्रांसके व्यापारी इंग्लैण्डके व्यापारियोंके लेनदारकी अपेक्षा कर्जदार अधिक हैं । ऐसी दशामें फ्रांसमें, इंग्लैण्डपर की हुई हुंडियोंके खरीददार अधिक होंगे और बेचने वाले कम । हुंडियोंकी पूर्ति मांगसे कम होगी । अर्थशास्त्रके सिद्धांतके अनुसार इस कमीका यह फल होगा कि इंग्लैण्डपर की हुई दर्शनी हुंडियोंकी कीमत फ्रेंकमें बढ़ जायगी और फ्रांसका प्रत्येक खरीददार एक पौण्डकी हुंडीके २५·२२ फ्रेंकसे अधिक देनेको तैयार हो जावेगा । परंतु यह दर बहुत अधिक न बढ़ सकेगी । हुंडी लेन-देन चुकानेका एक साधनमात्र है, और लेन-देन उसके द्वारा तबतक ही चुकाया जाता है, जब तक कि उससे कुछ लाभ होता हो । सोना चांदीके भेजनेमें कोई रोक-टोक न होनेके कारण फ्रांसके व्यापारीको २५·२२ फ्रेंकमें उतना सोना मिल सकेगा जितना कि एक पौंडमें रहता है, परंतु उसे इस सोनेको अपने इंग्लैंडके सौदागरके पास भेजनेमें कुछ खर्च भी उठाना पड़ेगा । उसको सोनेका बीमा भी करना होगा । यदि हम यह मान लें कि ये सब खर्च ४ प्रति हजार होंगे, तो सोना भेजकर अपने कर्ज चुकानेमें फ्रांसके व्यापारीको प्रति पौंड ( २५·२२+०·१० )=२५·३२ फ्रेंक देना होगा । दर्शनी हुंडीकी दर भी इस दरसे अधिक नहीं बढ़ने पावेगी, क्योंकि यदि वह बढ़ जावे तो सोना भेजनेमें व्यापारियोंको लाभ होने लगेगा और वे हुंडियोंका उपयोग करना बंद कर देंगे । वे उसी जरियेसे अपना कर्ज चुकावेंगे और विदेशी हुंडियोंकी मांग कम हो जावेगी । इसलिये

फ्रेंकमें उसकी कीमत घटने लगेगी। विनिमयकी इस दर ( २५·३२ फ्रेंक ) को फ्रांसकी स्वर्ण-निर्यात-दर कह सकते हैं।

ऊपर बतायी हुई दशाओंमें यदि फ्रांसके लेनदेनकी विषमता उसके अनुकूल हुई अर्थात् फ्रांस इंग्लैगडका कर्जदारकी अपेक्षा अधिक परिमाणमें लेनदार हुआ तो इंग्लैगड-पर की हुई बहुत सी हुंडियां बाजारमें रहेंगी परंतु उसके खरीदने वाले कम रहेंगे। उनकी पूर्ति उनकी मांगसे अधिक रहेगी, इस कारण फ्रेंकमें उनकी कीमत घट जावेगी। हुंडियां बेचने वाले कुछ कम कीमत लेनेको तैयार हो जावेंगे। परंतु इस घटनेकी भी सीमा है। यदि इंग्लैगडसे फ्रांस स्वर्ण भेजनेके प्रति पौंड खर्चसे हुंडियोंकी दर नीचे गिरी तो फ्रांसके व्यापारी अपने अंग्रेजी कर्जदारों पर हुंडियां निकालना बंद कर देंगे और उनको सोना भेजनेके लिये आग्रह करेंगे। इस प्रकार फ्रांसमें विनिमयकी दर उपर्युक्त दशामें ( २५·२२—०·१० )=२५·१२ फ्रेंकसे नीचे नहीं गिर सकेगी। इस दरको फ्रांसकी स्वर्ण-आयात-दर कह सकते हैं।

उसी परस्थितिमें इंग्लैगडके विनिमयकी दर किस प्रकार स्थिर होगी इस प्रश्नपर अब जरा विचार कीजिये। जब किसी समय लेन देनकी विषमता इंग्लैगडके प्रतिकूल हुई तो इंग्लैगडमें फ्रांसपर की हुई हुंडियोंकी मांग उसकी पूर्तिसे अधिक रहेगी इस लिये उनकी कीमत पौंडमें बढ़ जावेगी अर्थात् २५·२२ फ्रेंककी हुंडीके लिये एक पौंडसे अधिक देना पड़ेगा। या यों कहिये कि एक पौंडमें २५·२२ फ्रेंकसे कमकी हुंडी मिलेगी। परंतु ऊपर बताये अनुसार इस घटतीकी भी सीमा होगी और इंग्लैगडकी स्वर्ण-निर्यात दर ( २५·२२ – ०·१० )=२५·१२ फ्रेंक होगी। ध्यान रहे कि यही फ्रांसकी स्वर्ण-आयात-दर है। फ्रांसकी स्वर्ण निर्यात दर २५·३२ फ्रेंक है। कई महाशयोंको यह ख्याल रहता है कि स्वर्ण निर्यात दर हमेशा टाकसालिक दरसे कम रहती है, यह बिलकुल गलत है। जिन देशोंके विनिमयकी दर दूसरे देशोंके सिक्कोंमें बतलायी जाती है ( जैसे भारतकी इंग्लैगडके सिक्कोंमें, और इंग्लैगडकी फ्रांस, जर्मनी और अमेरिकाके सिक्कोंमें ) उन देशोंकी स्वर्ण निर्यातदर टाकसालिक दरसे कम रहती है, और जिन देशोंके विनिमयकी दर अपने देशके सिक्कोंमें बतलायी जाती है ( जैसे फ्रांसका इंग्लैगडसे फ्रेंकमें और जर्मनीकी इंग्लैगडसे मार्कमें ) उन देशोंकी स्वर्ण निर्यात दर टाकसालिक दरसे अधिक रहती है।

इसी प्रकारसे जिन देशोंके विनिमयकी दर अन्य देशोंके सिक्कोंमें बतलायी जाती है उन देशोंकी स्वर्ण आयात दर टाकसालिक दरसे अधिक रहती है; और जिन देशोंके विनिमयकी दर उसी देशके सिक्कोंमें बतलायी जाती है उन देशोंकी स्वर्ण आयात दर टाकसालिक दरसे कम रहती है। यदि पाठकगण उपर्युक्त नियमोंको ध्यानमें रखेंगे तो उनको स्वर्ण आयात और निर्यात दर समझनेमें कठिनता न पड़ेगी।

# विदेशी विनिमय ।

नीचे हम चार मुख्य देशोंकी स्वर्ण आयात और निर्यात दर देते हैं ।

| इंग्लैंडकी | स्वर्ण निर्यात दर | स्वर्ण आयात दर |
|---|---|---|
| ,, फ्रांससे | २५·१२ फ्रैंक | २५·३२ |
| ,, जर्मनीसे | २०·३३ मार्क | २०·५२ |
| ,, अमेरिकासे | ४·८३ डालर | ४·८६ |
| ,, भारतसे (१९२० के पहिले) | १ शि० ४ $\frac{१}{८}$ पेंस | १शि० ३ $\frac{१}{४}$ $\frac{३}{६}$ पं. |
| *(१९२० के बाद) | २ शि० $\frac{१}{८}$ पेंस | १शि० ११ $\frac{१}{१}$ $\frac{३}{८}$ पें. |

यदि कागजी रुपयोंका अधिक परिमाणमें प्रचार न किया गया हो और सोना चांदीके भेजने मगांनेमें कोई रोक-टोक न हो तो किसी भी देशकी लेनदेनकी विषमताका उसके विनिमयकी दर पर यह प्रभाव पड़ता है कि वह स्वर्ण आयात अथवा निर्यात दर तक घटती बढ़ती रहती है; यदि विषमता प्रतिकूल हुई तो वह स्वर्ण निर्यात दर तक पहुंच जाती है और अनुकूल हुई तो स्वर्ण आयात दर तक । परंतु साधारणतः वह इन स्वर्ण आयात और निर्यात दरोंके बाहर नहीं जाती । हां, यदि किसी देशसे युद्धकी शीघ्र संभावना हो तो उस परिस्थितिमें विनिमयकी दर स्वर्ण दरोंके बाहरभी चली जाती है । क्योंकि उस समय व्यापारियोंको सबसे बड़ी फिक्र यह रहती है कि जिस देशसे युद्ध छिड़नेवाला है उसदेशके मनुष्यों पर की हुई हुंडियोंके बदलेमें उनको शीघ्र ही धन किसी प्रकार मिल जावे । इसलिये वे लोग ऐसी हुंडियोंको बाजारमें जो कुछ कीमत मिले उसी कीमत पर बेच डालते हैं । परंतु साधारणतः जैसाकि हम ऊपर कह चुके हैं, विनिमयकी दर पहिले बतलायी हुई दशाओंमें स्वर्ण आयात और निर्यात दरोंके बाहर नहीं जाती ।

इस लेखको यहां पर ही समाप्त कर अगले लेखोंमें हम यह बतानेका प्रयत्न करेंगे कि मुद्दती विदेशी हुंडियोंकी दर किस तरहसे कूती जाती है, भिन्न भिन्न परिस्थितियों-में विनिमयकी दर किन किन सीमाओंके अन्दर रहती है, भिन्न भिन्न दरोंका व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस दरके अस्थिर रहनेसे व्यापारको क्या हानियां उठानी पड़ती हैं तथा विनिमयकी दर किन दशाओंमें स्थिर की जा सकती है ।

**दयाशंकर दुबे ।**

---

* यदि भारत सरकार कानूनन निर्धारित दर (१ पौण्ड=१० रु०) बनाये रखनेमें समर्थ हो तो ।—लेखक

# बहुमात्रा और अल्पमात्राकी उत्पत्ति।

आर्थिक संसारमें बहुमात्रा और अल्प मात्राकी उत्पत्तिके विषयपर बड़ा भारी विवाद चला आता है। बहुमात्राकी उत्पत्तिका अर्थ है कि शिल्प-जन्य पदार्थ कलाओं और यन्त्रों द्वारा बहु संख्यामें पैदा किये जायँ तथा अल्पमात्राकी उत्पत्तिसे यह तात्पर्य लिया जाता है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताके अनुसार स्वयं हाथसे पदार्थ तय्यार करे। प्राचीन कालमें अर्थात् कलाओंसे पहलेके युगमें सब देशोंमें लोग अपने हाथसे आपही पदार्थ तैय्यार करते थे, परन्तु ज्यों ज्यों यंत्रोंका प्रचार बढ़ता गया त्यों त्यों एक पदार्थके पैदा करनेवालोंकी संख्या अल्पसे अल्प होने लगी। उदाहरणार्थ कपड़ेका व्यवसाय ही देखा जा सकता है। यन्त्रयुगसे पहले प्राय: सारे संसारमें बहुत बड़ी मात्रामें चरखे चलते थे और इनके द्वारा कपड़ा पैदा करनेके लिए अथवा सारी जनताको कपड़ा देनेके लिए, बहुत बड़ी संख्यामें शिल्पियोंकी ज़रूरत रहती थी। अल्पमात्राकी उत्पत्तिके पक्षपाती लोग इसी बातको दिखा-कर यह सिद्ध करते हैं कि यन्त्रोंके प्रचारसे बहुत लोगोंकी रोज़ी मारी गयी है। हमारे देशके पूज्य नेता महात्मा गान्धी इसी पक्षके माननेवाले हैं। प्रश्न करनेपर उन्होंने स्वयं माना है कि वे रस्किन और टालस्टायके अत्यन्त प्रशंसक हैं और यही बात उनके चर्खे-के प्रचारसे भी सिद्ध है। परन्तु यह कथन बिना तर्कके नहीं माना जासकता। दूसरी ओर बहुमात्राके पक्षपाती यह कहते हैं कि यन्त्रों और कलाओंकी वृद्धिके कारण श्रम-विभागने बहुत विस्तृत रूप धारण किया है और बहुतसे नये पेशे पैदा हो गये हैं। मज़दूरों और श्रमजीवियोंकी कठिनाइयाँ कम हो गयी हैं, पदार्थ सुन्दर और सस्ते बनने लगे हैं, समयकी बचत होने लगी है। इसके साथ साथ जब हम जान रस्किन आदिकी युक्तियोंके आधारको देखते हैं तो हमें स्पष्ट मालूम होता है कि इतने बड़े विचारक और विद्वान् होनेपर भी उनकी युक्तियोंमें एक बड़ा भारी हेत्वाभास है। उनकी युक्तियोंका, अथवा दूसरे शब्दोंमें वर्त्तमान अर्थशास्त्रके प्रति वैराग्यका, कारण उस समयके कुछ ऐसे कपटी लोगोंके लेख हैं जो अर्थशास्त्रकी आड़ लेकर अपने स्वार्थों और अनुचित अधिकारों-की रक्षाके लिए चिल्लाया करते थे। परन्तु उस समयके मुख्य लेखक, जिन्हें उस समयके अर्थशास्त्रके निर्माता या आचार्य कह सकते हैं, बड़े सदय और दूरदर्शी थे। उनके लेखोंसे यह स्पष्ट रूपसे सिद्ध होता है कि अर्थशास्त्र लिखते समय उनके हृदयमें जनताके हित-साधनका ही ध्यान था। ऊपरके कथनसे यह समझना कि इस लेखका उद्देश बहुमात्रा-के पक्षकी पुष्टि करना है, अत्यन्त भूल होगी। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि इन दोनों पक्षोंमेंसे कौनसा पक्ष अधिक सच्चा है। आजकल अल्पमात्रा और बहुमात्राके प्रश्नकी

और विद्वान् लोगोंका चित्त अत्यन्त वेगसे आकर्षित हो रहा है । इस लिए यदि इन दोनों पक्षोंकी युक्तियां संक्षेपसे संग्रह करके यहां रखी जायं तो अत्यन्त उचित होगा ।

वर्तमान शताब्दीमें सम्पत्तिकी उत्पादन-शक्ति अनन्त सीमा तक पहुंच गयी है । एञ्जिन और बिजलीके प्रयोग, उन्नत विधियोंके आविष्कार और समयकी बचत करनेवाली मशीनोंके निर्माण, श्रम-विभागके विस्तार और बहुमात्राकी उत्पत्ति तथा विनिमयके विचित्र विचित्र साधनोंके कारण श्रमकी कमी और फलकी अधिकता नज़र आने लगी है ।

इस नये युगके आरम्भमें लोगोंको यह प्रबल आशा थी कि समयकी बचत करने वाले इन आविष्कारोंसे श्रमजीवियोंके कष्ट कम हो जायंगे, उनकी दशा सुधर जायगी और सम्पत्तिकी उत्पादन-शक्तिके बढ़ जानेसे दरिद्रता भूतकालका विषय बन जायगी । यदि पिछली सदीके संसारके हितचिन्तक लोग अपने सुखमय स्वप्नमें भविष्यके विषयमें यह कल्पना कर सकते कि आनेवाले सालोंमें पालोंसे चलने वाले जहाज़ स्टीमशिपका रूप धारण करेंगे, रेल गाड़ियां, धान काटनेकी मशीनें और धान और भूसा अलग करनेकी मशीनें काममें आया करेंगी, यदि वे एञ्जिनकी दानवी शक्ति मनुष्यके इशारेपर चलती हुई पाते, यदि वे भयानक जंगलोंके विशाल वृक्षोंको मानवीय हाथके विना ही जहाजों, मकानों, किवाड़ों, और सन्दूकोंका रूप धारण करते हुए देखते, यदि वे बड़े बड़े कारखानों-में हजारों मोचियोंकी मेहनतसे बनने वाले बूटोंको क्षण मात्रमें उन आकृतियोंमें आते हुए देखते, यदि वे एक कृशकाय बालिकाकी अंगुलीके इशारेपर सैकड़ों मशीनोंको एक साथ नाचते और उनसे कपड़ा बनते देखते, यदि वे उन्हीं मशीनोंके द्वारा एक ओर बड़े बड़े हथौड़ोंसे लोहा कुटते और दूसरी ओर कोमल घड़ियां बनती हुई देखते, यदि वे हीरेकी छेनियोंसे विशाल शिलाओंके टुकड़े टुकड़े होते हुए देखते, यदि वे बेतारकी तारबर्कीके द्वारा क्षण क्षणमें संसारके सब भागोंमें वस्तुओंके भावोंको चढ़ते उतरते और रूटरकी कम्पनीको प्रतिदिन नये नये समाचार भेजते हुए पाते, यदि वे लन्दनके महाजनके हुक्मको उसी दिन सान फ्रान्सिस्कोमें पूरा होते हुए देखते और कड़कड़ाते वायुयानोंको इधरसे उधर चक्कर काटते हुए देखते, तो इन सब आश्चर्यमयी क्रियाओंसे क्या परिणाम निकालते ?

सचमुच यदि वे इन वस्तुओंकी वास्तविकताकी कल्पना कर सकते तो उनके दिल उछलने लगते और उनकी खुशीका वारापार न रहता । उनकी दशा ठीक उसी प्रकार-की होती जैसी सहाराके भयानक रेगिस्तानमें भटकने वाले व्यक्तिकी दूरसे धीरं समीरके झकोरोंसे हिलते हुए वृक्षोंकी आवाज़ सुनने और कलकल करते हुए पानीकी चमकको देखनेसे हो सकती है । वे यही समझते कि इन नयी शक्तियोंके पैदा हो जानेसे समाजके दुःख मूलसे कट जायंगे, गरीब लोग आवश्यकताके कष्टोंको भूल जायंगे, उनके चिन्ताकुल ललाटोंकी गहरी रेखायें मिट जायंगी और वे प्राकृतिक आवश्यकताओंके संकटसे मुक्त हो जायंगे । ये लोहेकी मशीनें स्वयं कष्ट झेलकर श्रमजीवियोंके जीवनोंको सुखमय बना

देंगी और उन्हें भी पापी पेटकी पूजासे समय बच कर उच्च जीवन बनानेका समय मिल सकेगा।

इन सुन्दर प्राकृतिक अवस्थाओंके अलावा वे भविष्यत्के सुनहले आकाशमें सतयुगके सदाचारकी उस छटाको चमकते हुए देखते जिसका सभ्य संसारके विद्वान् लोग सदासे स्वप्न देख रहे हैं। भूखे और कमजोर युवक कहीं दिखायी न देते, ईर्षा, द्वेष, और कृपणता संसारसे कूच कर गयी होती। पाप कहीं दिखायी न देता और संसारकी भीषण शक्तियां सुन्दर रूप धारण कर लेतीं। लालच नामको भी न रहता, क्योंकि लालच तो वहीं स्वरूप दिखाता है जहां किसी पदार्थकी कमी होती है। गरीब स्त्रियोंके कारखानोंमें काम करते, गर्भपात न होते और सभ्यताभिमानी इंग्लैण्डमें करोड़ों मनुष्य बेकारीके दुःखसे दूकानें न लूटते। समानता और स्वाधीनताके कारण सब एक दूसरेसे प्रेम करते और सब लोग रईसों और लार्डोंकी तरह आनन्दमें दिन काटते।

यह विश्वास है और ये आशाएँ हैं जो यन्त्र युगके आरम्भसे बड़े वेगसे जनताके दिलोंमें उत्पन्न हो रही हैं। इन विश्वासोंने लोगोंके हृदयमें इतना घर कर लिया है कि उनके भाव सर्वथा बदल गये हैं और उनके संस्कारों तकमें परिवर्तन हो गया है। यन्त्रों और कलाओंके भावी लाभोंने उनकी आंखोंको सर्वथा चौंधिया दिया है और उनके विचारोंकी धाराकी दिशाको बदल दिया है। ऐसे बहुत ही कम मनुष्य हैं जो इस विषयको वास्तविक गम्भीरतासे विचारते हों। आम लोग तो भेड़ोंकी चालसे यन्त्रोंकी प्रशंसाके गीत गाया करते हैं परन्तु तर्क करनेपर मौन रह जाते हैं। हमारे कथनका यह तात्पर्य नहीं कि यन्त्रोंसे कुछ लाभ हुआ ही नहीं। बहुत सी बातोंमें लाभ भी हुए हैं रेलसे होने वाले समयके बचावको कोई मनुष्य बिना कृतज्ञताके स्वीकार नहीं कर सकता। हमें तो यह देखना है कि लाभ और हानिके काले और चमकीले भागोंमेंसे कौनसा अधिक बड़ा है।

मशीनोंके होनेसे जो सबसे बड़ी आशा की जाती थी, वह यह थी कि इनसे गरीबी दूर हो जायगी और श्रमजीवियोंका जीवन सुधर जायगा। परन्तु यह आशा सर्वथा निराशामें परिणत हो गयी है। अन्वेषणपर अन्वेषण और आविष्कारपर आविष्कार हुए परन्तु श्रमजीवी अब भी उसी प्रकार दुःखी हैं और गरीब अब भी आध पेट खाकर ही दिन बिताते हैं। हां, एक बात अवश्य हुई है कि यन्त्रोंके कारण कुछ पूँजीपतियोंकी सम्पत्ति बहुत बढ़ गयी। दूसरे शब्दोंमें अथवा आजकलके अर्थशास्त्रके शब्दोंमें जातीय सम्पत्ति बढ़ गयी है जो वास्तवमें जातीय सम्पत्ति कहलाने योग्य नहीं है। इसके कारण लाभके स्थानपर एक और भारी विघ्न उपस्थित हो गया है। यन्त्रयुगसे पहले यदि गरीब थे तो सब लोग गरीब थे, अगर कष्ट था तो सबको कष्ट था। परन्तु वर्तमान समयमें इने गिने आदमी तो धनकुबेर बने बैठे हैं परन्तु गरीब किसानोंके पास न खानेको अन्न है और न बच्चोंको शिक्षा देनेके लिये धन।

धीरे धीरे सब बातें हमारी समझमें आने लगी हैं। सभ्य संसारके सब भागोंसे

## बहुमात्रा और अल्पमात्राकी उत्पत्ति ।

व्यापारिक दुर्घटनाओंकी शिकायतें हमारे कानोंमें गूंज रही हैं । मज़दूर इच्छा रहते हुए भी काम नहीं पाते; पूंजी संचित रहती है अथवा फजूल नष्ट हो रही है; व्यापारिक दुर्घटनाएं गरीब और अमीर, दोनोंको रुला रही हैं; श्रमजीवियोंके ललाटोंपर अब पहलेसे कहीं अधिक गहरी चिन्ताकी रेखायें दिख रही हैं । जहां कहीं देखें. चिन्ता दुःख, तीव्र मानसिक वेदनाके दृश्य कह रहे हैं कि आम लोगोंके लिए यह कठिन समय है । इस अवस्थाके लिए किन्हीं विशेष स्थानीय कारणोंको दोषी ठहराना बड़ी मूर्खता होगी । हम साफ़ देख रहे हैं कि राजनीतिक संगठन, आर्थिक और मौद्रिक-पद्धति. सामाजिक रीति और जनसंख्याकी दृष्टिसे सर्वथा भिन्न जातियोंमें भी ये अवस्थायें समान रूपमें दिखायी दे रही हैं । यदि अधिक सेना रखनेवाले देशोंमें हा-हाकार है, तो कम सेना रखनेवाले देश भी इससे बचे हुए नहीं हैं । यदि संरक्षित व्यापारवाले देश दुःखसे रंजीदा हैं तो अबाधित व्यापारमें शान समझनेवाले देशोंके भी नाकों दम है । यदि स्वेच्छाचारी राष्ट्र दुःखकी चक्की पीस रहे हैं तो प्रजातन्त्र वादियोंकी गर्दनें भी शिकञ्जेमें कसी हुई हैं । कागज़ी सिक्के दौड़ानेवाले, सोने और चांदीकी मुद्रा रखनेवाले सभी देश दुःखी हैं, सभी व्याकुल हैं । सबके सन्तापकी तहमें एक समान कारण कार्य करता हुआ दिख रहा है ।

यह समान कारण वह है जिसे हम आजकलकी भाषामें प्राकृतिक उन्नति कह सकते हैं । इसीको हम व्यावसायिक उच्छृंखलता शब्दसे भी कह सकते हैं । इस बातको स्पष्ट रूपमें देखनेके लिए एक बार दृष्टि उठाना ही काफ़ी है । हम स्पष्ट देख रहे हैं कि जिस देशको अपने व्यवसाय और प्राकृतिक उन्नतिका जितना ही अधिक अभिमान है वहां पर गरीवी, अपनी सत्ताके लिए मत्स्य-संग्राम और बेकारी उतनी ही अधिक मात्रामें हैं ।

जिस जिस नये देशको जितनी शीघ्रतासे यह प्राकृतिक उन्नतिकी धुन सवार होती जाती है वहां उतनी ही शीघ्रतासे अशान्त मजदूर अधिक भृतिकी तलाशमें मारे मारे फिर रहे हैं और वहांकी पूंजी अधिक सूद खोरीके लिए भटक रही है । पुराने देशोंमें जहां इस चमकीली भड़कीली सभ्यताने अपना आंचल अभी नहीं फैलाया वहां आज भी हम गरीबीके बीचमें सन्तोष, सुख और शान्ति देख रहे हैं । उदाहरणके लिए हम शाहजहांके समयके भारतको ले सकते हैं । उस समय भारतमें उत्पत्ति और विनिमय-साधनोंने वर्त्तमान रूप धारण नहीं किया था; जातिका कोई विशेष भाग अधिक विलासी और आराम-तलब नहीं बना था, आम तौरसे गांवों और कसबोंमें मामूली मकान और मामूली कपड़े इस्तमालमें लाये जाते थे और गांवके बड़े आदमी भी साधारण किसानोंके साथ खेती करते थे । भारतमें यद्यपि विलासप्रियता नहीं थी परन्तु खाने पहननेकी कमी भी न थी । यद्यपि कोई पूर्ण रूपसे निश्चिन्त नहीं था तथापि चिन्ता भी किसीको जीते जी नहीं जला रही थी । खानेको पासमें न होनेपर लोगोंको विश्वास था कि मेहनत करनेपर खानेकी कमी न रहेगी ।

परन्तु ज्योंही यूरोपके साथ भारतका सम्बन्ध हुआ, उसने भी प्राकृतिक उन्नतिकी ओर अपना पग बढ़ाया और विजित देशपर विजयी देशका प्रभाव होते ही उसने विजयीके दुर्गणोंको अपनाया । यही कारण है कि एक ईसाई पादरीने बड़े अभिमानसे

कहा था कि हम लोग १०० वर्षमें सम्पूर्ण भारतको ईसाई धर्मका पाठ पढ़ा देंगे। धीरे धीरे मशीनें बढ़ने लगीं। उत्पत्ति और विनिमयके साधनोंने नया रूप धारण किया। मुट्ठी भर लोग अधिकसे अधिक अमीर होने लगे और शेष लोगोंके मुँहके ग्रास भी छीनने लगे। ट्राम और लोकोमोटिव दौड़ने लगे, चमक दमक बढ़ने लगी। परन्तु अनाथालयों और कैदखानोंकी भी अधिक अधिक जरूरत होने लगी क्योंकि प्राकृतिक उन्नति, व्यावसायिक उच्छृखलता या बहुमात्राकी उत्पत्तिके साथ इनका अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। सड़कों और गलियोंपर गैस और विजलीकी रोशनी जलने लगी, पुलिसकी चौकियां सब जगह कायम हो गयीं परन्तु चोर, और गठकतरे और भिखारी सड़कोंपर खड़े होकर दिन दहाड़े लूटमार करने लगे।

यद्यपि यह लिखते हुए अत्यन्त दुःख होता है परन्तु इसके छिपानेसे कोई लाभ नहीं कि ज्यों ज्यों मशीनों द्वारा बड़ी मात्रामें उत्पत्तिकी जाती है त्यों त्यों गरीबी बढ़ती जाती है। आविष्कारोंके कारण मनुष्य-जातिके हाथमें अनन्त शक्तिका भण्डार आ गया है। परन्तु श्रमके बचावके नाम पर छोटे छोटे दुधमुंहे बच्चे कारखानोंमें काम करनेको लाचार हो रहे हैं। जहां जितनी ही प्राकृतिक उन्नति हो रही है वहां उतने ही अनाथालय कायम करने पड़ रहे हैं। एक ओर जहां यह श्लोक सार्थक हो रहा है—

"प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै
सविस्मयाः कोषगृहे नियुक्ताः
हिरण्मयीं कोष गृहस्यमध्ये
वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः।

दूसरी ओर वहां भूखे नंगे और बीमार आदमी 'त्राहि मां त्राहि मां' की पुकार मचा रहे हैं। ज्यों ज्यों हम नदीके समीप पहुंच रहे हैं त्यों त्यों वह मृगतृष्णा प्रतीत हो रही है, ज्यों ज्यों हम सोनेको उठाते हैं त्यों त्यों वह पीतल सिद्ध हो रहा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जातीय सम्पत्ति बहुत बढ़ गयी है और बहुतसे व्यक्तियोंको सुखमय जीवन और मनोविनोदके साधन प्राप्त हो गये हैं, परन्तु गरीब लोगोंको इनमेंसे एक भी सुख प्राप्त नहीं हुआ। हमने ऊपर जो कुछ अब तक कहा है उसका तात्पर्य यह नहीं कि गरीब आदमियोंकी स्थितिमें बिलकुल उन्नति नहीं हुई। उन्नति हुई है परन्तु वह उन्नति मशीनोंके आविष्कारसे नहीं हुई। यदि इस प्रकारकी व्यावसायिक उच्छृंखलता अथवा प्राकृतिक उन्नति न हुई होती तो अच्छा था। यह यन्त्रोंकी नयी शक्ति समाजको नीचेसे नहीं उठाती। इससे एक विशेष स्थितिपर पहुंचे हुए आदमी उन्नत हो जाते हैं और उससे नीचेके बिल्कुल तहस नहस हो जाते हैं।

यदि आज यूरोपमें गरीबोंके आर्तनाद कम सुनायी देते हैं तो इसका कारण यह नहीं कि वहां यन्त्रोंका बुरा प्रभाव नहीं पड़ा। इसका कारण यह है कि वहां

## बहुमात्रा और अल्पमात्राकी उत्पत्ति।

समाजमें ऐसा विभागसा हो गया है कि जिसमें गरीब लोग गरीबीकी अन्तिम सीमापर पहुंच गये हैं। यदि वे इस बिन्दुसे नीचे पहुंच जायं तो संसारमें उनकी सत्ता ही मिट जाय। इस विभागने एक स्थिर रूप धारण कर लिया है। इस लिए वहांके लोगोंका कुछ विशेष परिवर्तित रूप हमारे सामने नहीं आता। परन्तु नये नये देशोंमें जहां ये यूरोपियन ही जाकर आबाद हो रहे हैं, बहुमात्राकी उत्पत्तिका फल प्रत्यक्ष दिखायी देता है। अमरीकाका इतिहास इस बातका साक्षी है। दक्षिण अफ्रीकामें गोरे लोगोंका भारतीयोंसे जलनेका यही कारण है कि भारतीय यूरोपियनोंकी ही विधियोंको उनसे अधिक चालाकीसे प्रयुक्त कर रहे हैं। भारतके हाहाकारका भी एक बड़ा कारण यही है।

गरीबी और प्राकृतिक उन्नतिका यह विषय आज कलका मुख्य पेचीदा विषय है। यही एक केन्द्र है जहांसे जनताकी राजनीतिक, सामाजिक और व्यावसायिक कठिनाइयां पैदा होकर सबको परेशान कर रही हैं। इसीके कारण विद्वानोंकी अकल चकरा जाती है और शिक्षा देना अधिकतम हानिकारक सिद्ध हो रहा है। इस खाड़ीसे उठकर समय समय पर काले बादल सुनहली रोशनीको छिपा देते हैं। यही एक पहेली है जिसके हल करने न करने पर वर्त्तमान सभ्यताका जीवन और मरण अवलम्बित है। जब तक इस प्राकृतिक उन्नतिका उद्देश, मुट्ठी भर आदमियोंको उन्नत करना, विलासप्रियताको बढ़ाना और प्रतिस्पर्द्धाको जागृत करना रहेगा तब तक संसारको शान्ति नहीं मिल सकती। प्रतिक्षेप अवश्यंभावी है और हमें तो यह मालूम होता है कि इस सभ्यताका स्तम्भ मूलसे हिल रहा है और अपने गिरनेकी प्रतीक्षा कर रहा है। मनुष्यको शिक्षा देकर भी गरीब रखना उसके लिए चिन्ताकी चिता जलाना है। सामाजिक असमानताके आधारपर राजनीतिक संस्थाओंको कायम करना बालू पर मकान बनाना है। जब तक जातिमें वास्तविक समानता नहीं तब तक शान्तिकी गंगामें स्नान करना असंभव है।

शोकसे कहना पड़ता है कि इतना आवश्यक प्रश्न जिसकी ओर सारे संसारका ध्यान खिंचा हुआ है अब तक हल नहीं हो पाया। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जितने मुंह उतनी ही बातें हम सुन रहे हैं, जितने डाक्टर हैं उतनेही इलाजके तरीके बताये जा रहे हैं। एक ही सिद्धान्त और एकही बात मानने वाले विद्वान् इसके भिन्न भिन्न कारण बता रहे हैं। एक विद्वान कहता है कि वर्तमान अशान्ति अति खपतके कारण उत्पन्न है, तो दूसरा विद्वान् बतलाता है कि इसका कारण अति उत्पादन है। इसी प्रकार युद्धका किया सत्यानाश, रेलोंकी वृद्धि, मजदूरोंका वेतन-वृद्धिका आन्दोलन, सोने चांदीकी कीमतमें अस्थिरता, कागजी सिक्कोंकी वृद्धि इत्यादि सभी कारण इस अशान्तिके हेतु बताये जाते हैं।

अर्थशास्त्रमें यह शक्ति होनी चाहिए कि वह उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर दे सके। अर्थशास्त्रका आधार किन्हीं कल्पित सिद्धान्तों पर नहीं है। यह एक विशेष प्रकारकी सचाइयोंको प्रगट करता है। इसका काम भी मौलिक विद्याकी भांति विशेष प्रकारकी

घटनाओंके कार्य कारण भावको प्रकाशित करना है। इसके मूलमें अटल सिद्धान्त काम कर रहे हैं। इसके मूलमें ऐसे सर्वमान्य सिद्धान्त काम कर रहे हैं जिनके आधारपर हम निर्भय होकर तर्कका प्रयोग कर सकते हैं। भौतिक विद्याके इस सिद्धान्तकी तरह कि स्रोतका प्रवाह उसी दिशाकी ओर बहता है जहां उसे कमसे कम रुकावट होती है, अर्थ-शास्त्रका यह सिद्धान्त कि प्रत्येक प्राणी कमसे कम कष्ट उठाकर सन्तोषप्रद वस्तुएं प्राप्त करना चाहता है सर्वथा सत्य है। ऐसे सिद्धान्तोंकी नींव पर बनने वाले विचार-भवन भी मजबूत होने चाहिये। उनमें यह शक्ति होनी चाहिए कि वे बड़ेसे बड़े तूफानका मुकाबिला कर सकें। जिस प्रकार भौतिक विद्यामें प्रत्येक पदार्थकी परीक्षा संश्लेषण और विश्लेषण द्वाराकी जाती है उसी प्रकार अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंकी परीक्षा भिन्न अवस्थाओं और वायुमण्डलोंमें रहने वाली जातियों पर समान रूपसे प्रयुक्त हो सकने पर होनी चाहिए। इस लिए हम चाहते हैं कि भारतीय अर्थशास्त्रज्ञ लोग इस विषयकी ओर अत्यन्त शीघ्रतासे अपनी रुचि प्रकट करें और सुखमय स्वप्नसे जागकर वास्तविक 'त्राहि' 'त्राहि'को शान्त करनेका निश्चित उपाय ढूंढ निकालें।

**सोमदत्त विद्यालंकार।**

# संसारके व्यवसायका इतिहास ।

## ( गतांकसे आगे )

नेपोलियनके पतनके साथ ही साथ अब अंग्रेज लोगोंने खुल्लम खुल्ला यूरोप और अमेरिकामें व्यावसायिक संघर्षण आरम्भ किया । अंग्रेज जो आज तक स्वतन्त्र वाणिज्यके प्रयोगको कल्पना मात्र कहा करते थे वे ही अब मुंह खोलकर ऐडमस्मिथकी प्रशंसा और प्रतिबद्ध वाणिज्यकी निन्दा करने लगे । परन्तु कोई भी निष्पक्ष और चतुर व्यक्ति समझ सकता है कि इस रंग बदलनेमें परोपकारका लेश भी न था, क्योंकि यह रंग तो यूरोप अथवा अमेरिकाके लिए बदला गया था और जब स्वतन्त्र वाणिज्यके सिद्धान्तके अनुसार विदेशके अनाजके आने एवं विदेशी वस्तुओंका मुकाबला करनेका प्रश्न स्वयं इंग्लैण्डके लिए होता तो वे ही लोग विरोधी बन बैठते और कहते कि इतने दिनों तक प्रतिबन्धक वाणिज्यका अनुसरण करनेके उपरान्त एकाएक उसका परिवर्त्तन करनेमें बहुत बड़ी हानिकी सम्भावना है, अतएव उसका प्रयोग केवल धीरे धीरे और बहुत समझ बूझकर करना होगा । अस्तु चाहे जो हो यह अंग्रेजोंका दुर्भाग्य मात्र था । इसे हम उनकी भूल नहीं कह सकते । यूरोप और अमेरिका वालोंके लिए यह बड़े सौभाग्यकी बात थी कि उनको अपनी उन्नत परिस्थितिके कारण स्वतन्त्र वाणिज्यका लाभ उठानेका शीघ्र ही अवसर मिल गया ।

यद्यपि इंग्लैण्डकी छायामें अथवा उसकी सहायतासे ही फ्रांसके प्राचीन राजकुलने पुनः राज्याधिकार प्राप्त किया था, तथापि स्वतन्त्र वाणिज्यका समर्थन वह बहुत दिनों तक नहीं कर सका । अंग्रेजोंके स्वतन्त्र वाणिज्यके कारण वहांका शिल्प जो महाद्वीपीय प्रतिबन्धोंके कारण उन्नत होकर पुष्ट हो रहा था, इस प्रकार नष्टप्राय हो गया कि प्रतिबन्धक नियमोंका प्रचार करना पड़ा, जिससे संवत् १८७२ ( सन् १८१५ ) से संवत् १८८३ ( सन् १८२६ ) तकमें फ्रान्सका शिल्प दुगना हो गया । ड्यूपिन[९६]ने इस बातका समर्थन किया है ।

# सप्तम अध्याय ।

## जर्मन लोग ।

हांसासंघके विवरणमें दिखलाया गया है कि जिस समय व्यापार-क्षेत्रमें यूरोपके अन्य राष्ट्रोंकी गणना भी न थी उस समय इटलीके बाद जर्मनीके ही व्यवसाय और उन्नतिका विस्तार था । इस अध्यायमें जर्मनीके व्यवसायकी प्रारम्भिक अवस्था एवं विकासका उल्लेख कर उसके व्यावसायिक इतिहासका पूर्ण विवरण दिया जायगा ।

# स्वार्थ

प्राचीन कालमें जर्मन राष्ट्रको जर्मनिया कहते थे। इस समय वहांकी अधिकतर भूमि मृगया खेल-कूद तथा चरागाहके काममें लायी जाती थी। कृषिकी अवस्था अच्छी न थी और वह भी कृषक दास एवं स्त्रियोंके हाथ छोड़ दी गयी थी। स्वतंत्र नागरिक केवल मृगया और युद्धमें ही अपना समय बिताते थे। इन्हीं स्वतंत्र नागरिकोंसे जर्मनीके कुलीन घरानोंका विकास हुआ। मध्ययुगमें भी जर्मनीका कुलीन समुदाय इसी प्रथाका अनुयायी रहा। वे लोग किसानोंको सताते थे और शिल्पके शत्रु बने हुए थे। उनको इस बातका ध्यान भी नहीं था कि कृषि और शिल्पकी उन्नतिसे स्वयं उनको जमींदार होनेके नाते बहुत बड़ा लाभ होगा।

जर्मन लोग अपने इस परम्परागत व्यसनमें इतने लिप्त थे कि शिल्प और कृषिसे लाभ उठानेपर भी अपनी व्यवस्थापक सभामें मृगया तथा तत्सम्बन्धी नियमोंका स्वप्न वे लोग अब भी देखा करते हैं। वे इस बातको भूल जाते हैं कि शिल्पकी उन्नति और मृगयामें परस्पर विरोध है और दोनोंका साथ साथ चलाना असम्भव है।

यद्यपि नगरों तथा मठोंका पड़ोसके प्रदेशोंपर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था तथापि जर्मनीकी खेती बहुत दिनों तक असभ्यावस्थामें रही।

प्राचीन रोमन उपनिवेशोंमें मठोंके समीप और धर्माध्यक्षों तथा राजाओंके निवास स्थानोंपर तथा जहां जहां मछुआही एवं स्थल और जल यात्राका सुभीता मिला, बहुतसे नगर खड़े हो गये। इन नगरोंका बहुतसा विभव केवल स्थानीय व्यवसाय तथा विदेशीय वस्तुओंके व्यापारपर ही निर्भर था। देशी व्यवसायका समुचित विस्तार कर अपनी वस्तुओंको विदेश भेजनेके लिए बहुतायतसे भेड़ोंके पालन तथा पटुएकी खेतीकी आवश्यकता थी। परन्तु पटुएकी उपज कृषिकी उत्पत्तिके बिना सम्भव नहीं थी और भेड़ोंकी वृद्धिके लिए भेड़ियों एवं लुटेरोंसे उनकी रक्षा करना आवश्यक था। किन्तु अमीर ताल्लुकेदारों और स्थानिक राजाओंमें परस्पर वैमनस्य तथा नगरोंके साथ झगड़े और कलह होनेके कारण इन बातोंका कोई भी बन्दोबस्त नहीं हो सकता था। पशुओंके चरनेकी भूमियां तो लुटेरोंकी आजीविकाका स्थान हो रही थीं और भेड़ोंको हानि पहुंचाने वाले हिंसक जन्तुओंका सर्वनाश असम्भव ही था क्योंकि अमीर जागीरदारोंने अपने मृगयाव्यसनके लिए ही बहुत लम्बे चौड़े जंगल सुरक्षित रख छोड़े थे। पशुओंकी कमी, जान तथा मालका सर्वकालिक भय, खेतिहरोंकी पराधीनता और मूलधनका अभाव, किसानों और जमींदारोंकी कृषिमें अरुचि—इन सब बातोंसे कृषिकी हानि और नगरोंकी आर्थिक दुर्दशा ही होती गयी।

यदि इन बातोंपर उचित रूपसे विचार किया जाय तो यह बात सहजहीमें विदित हो जाती है कि उपरोक्त इन्हीं दोषोंके न होनेसे फ्लैंडर तथा ब्राबेण्ट बहुत पहले ही किस प्रकार स्वतन्त्रता और समृद्धिके शिखरपर पहुंच गये थे।

इन विघ्नोंके होते हुए भी मछुआही जलयात्रा एवं विदेशीय वाणिज्यके कारण

बाल्टिक और जर्मन सागरके तटस्थ नगरोंकी बड़ी उन्नति हुई। दक्षिणीय जर्मनीमें आल्प्स पर्वतकी तराई वाले नगर इटली तथा ग्रीसके संसर्गसे और स्थलपथकी सुविधासे उन्नत हो गये। राइन[९७] एल्ब[९८] और डान्यूब[९९]के किनारे वसे नगर भी मद्योपयोगी वस्तु, मद्य वाणिज्य तथा उर्वरा भूमि और जलयात्राकी सुविधाओंके कारण बहुत उन्नत हुए। स्मरण रखना चाहिए कि मध्ययुगमें सड़कोंकी दशा अच्छी न होने तथा कोई रक्षाका प्रवन्ध भी न होनेके कारण आजकलकी अपेक्षा जलपथ बहुत उपयोगी था।

जर्मनीमें हांस, रीन, स्वावियन,[१००] हेल्व[१०१] तथा हालैगडवालोंके भिन्न भिन्न संघ वन जानेका कारण उनके स्वभाव और प्रकृतिका भेद ही था। उनकी उत्पत्ति भी भिन्न वशोंसे थी।

यद्यपि ये नगर बहुत दिनों तक शक्तिशाली रहे क्योंकि उनमें स्वतन्त्रताका नया भाव व्याप्त हो रहा था, तथापि उनमें दृढ़ता प्रदान करने वाली एकता न थी। वहांके अमीर लोगोंकी अपनी अपनी जागीरें बटी हुई थीं और प्रजा वर्ग उन्हींके नीचे दासताकी शृंखलाओंमें बंधे थे। इससे उनमें परस्पर प्रेमभाव नहीं था और इधर धीरे धीरे किसानोंकी भूमिपतियोंके बलके साथ साथ दिनों दिन उन्नति और सम्पत्तिकी बढ़ती होती जाती थी और उनमें आपसमें एकता भी बढ़ रही थी अतः इन संघोंके संगठनकी इति श्री तो निश्चित ही थी। इन नगरों द्वारा कृषिकी वृद्धि तो होती थी किन्तु इससे वे लोग अपने ही नाशका बीज बोते थे। उनके बचनेका एक मात्र उपाय यही था कि कुलीनों तथा कृषकोंको वे लोग अपनेमें मिला लेते। इसके साधनका एक मात्र उपाय राजनीतिक उच्च प्रवृत्ति और उसके सिद्धान्तोंका ज्ञान ही था, परन्तु उनकी राजनीतिक दृष्टिकी पहुंच उनके नगरकी दीवालोंसे परे थी ही नहीं।

इन संघोंमेंसे केवल दोने ही सहयोग स्थापित किया, एक स्विटज़र्लैंगड[१०२] और दूसरा सप्तसंयुक्त[१०३]प्रान्त। किन्तु इनका सहयोग किसी प्रकारकी बुद्धि या दूरदर्शिताके कारण नहीं था, परन्तु केवल विशेष अवस्था और समयकी अनुकूलता से ही उनको यह सहयोग करना पड़ा था, और इसी कारण वे आज तक भी वर्त्तमान हैं। स्विटज़र्लैंगडका संयुक्त राष्ट्र केवल जर्मनीके कुछ एक नगरोंका संगठनमात्र है जिसके निवासी स्वतन्त्रताके भावोंसे प्रेरित होकर परस्पर सम्बद्ध हो गये थे।

जर्मनीके शेष संघोंके पतनका कारण केवल अमीरोंका कृषकोंके प्रति अनादर और घृणा और उनको अपने समान उच्च न करके उनको नीचा करने तथा दबाये रखनेका यत्न ही था।

इन नगरोंकी एकता और संगठन केवल किसी परम्परागत शासक द्वारा हो सकता था। परन्तु यहांके शासनका भार छोटे छोटे राजाओंके हाथमें था। उनको भय था कि जर्मनीमें एकाधिपत्य होनेसे न तो नगरोंपर ही और न छोटे छोटे अमीर जागीरदारोंपर ही उनका अधिकार रहेगा और न उनको अनर्गल शासनका ही अवसर मिलेगा। अतः वे ऐसे शासनका सदा विरोध करते थे।

इसीसे जर्मनीके राजाओंके हृदयमें रोमके सदृश साम्राज्य स्थापन करनेका भाव बस गया था। क्योंकि केवल लड़ाईके समय वे ही सम्पूर्ण सेनाके महाराज और शासक समझे जाते थे और केवल ऐसे ही समयमें वे जर्मनीके भिन्न भिन्न भूमिपतियों और नगराध्यक्षों-को अपने झण्डेके नीचे मिला लेते थे*। इसी कारण वे लोग जर्मनीकी प्रजाकी स्वतन्त्रता-की रक्षा करते थे और इटलीमें उसका विरोध करते थे।

रोमपर आक्रमण करनेसे केवल जर्मनीकी राज-शक्ति ही जर्जर नहीं हुई परन्तु उन वंशोंका भी नाश हो गया जिनके संगठनमें जर्मन जातिका साम्राज्य-स्थापन सम्भव था। होहेन्स्टाफ़ेन[१०४] वंशके लोप होनेसे संगठनका केन्द्र ही हजारों टुकड़ोंमें बट गया।

हैप्सवर्ग[१०५]के वंशमें भी जर्मनीमें साम्राज्य-स्थापनकी नितान्त असम्भावना देखकर उत्तेजना उत्पन्न हुई। इस वंशने स्वत: निर्बल और धनहीन होते हुए भी जर्मनीके दक्षिण पूर्वीय भागमें विदेशी जातियोंको जीतकर वंशागत दृढ़ साम्राज्य-स्थापन करनेमें राष्ट्रकी शक्तिके प्रयोग करनेका साहस किया। जर्मनीके उत्तर पश्चिमीय प्रदेशमें ब्रागडन[१०६]वर्गके मार्ग्रेवोंने[१०७] भी इसी नीतिका अवलम्बन किया। इस प्रकार दक्षिण पूर्वी और उत्तर पूर्वी किनारोंपर जर्मनीवालोंने विदेशीय लोगोंपर अधिकार जमा कर वंशागत साम्राज्योंकी स्थापना की जब कि इधर दोनों पश्चिमीय किनारोंपर दो प्रजातन्त्र राज्य संगठित हुए जो जर्मन राष्ट्रसे जहां तक हो सका किनारा ही करते रहे। देश भरमें लड़ाई, झगड़ा, निर्बलता और फूटकी बढ़ती ही होती गयी थी। गोला बारूद तथा छापेखानेके आविष्कार, रोमके कानूनोंका पुन: चलन, अमेरीका और भारतवर्षके नये सामुद्रिक मार्गोंका ज्ञान और सामाजिक सुधारने जर्मनीके बचे बचाये सौभाग्यकी भी इतिश्री कर दी।

पूर्व वर्णित सामाजिक, मानसिक एवं आर्थिक क्रान्तिने साम्राज्यके घटक अवयवों, राजाओं, नगरों, नगर रक्षिणी सभाओं-यहां तककि बड़े छोटे नागरिकों तकमें फूट डाल दी और कलह और ईर्षा द्वेषकी अग्निको प्रचण्ड कर दिया, नागरिकोंका ध्यान, व्यवसाय, वाणिज्य, कृषि, जलयात्रा तथा उपनिवेश-स्थापन, संस्थाओंका सुधार तथा अन्य प्रकारकी सभी उन्नतियोंकी ओरसे हट गया और वे धर्म-संस्था तथा तत्सम्बन्धी सम्पत्तिके विषयमें विवाद करनेमें ही अपना समय बिताने लगे।

उस समय हांसा संघ और वेनिसके पतनका भी काल आ गया और साथ ही जर्मनी-के वाणिज्य तथा उसके उत्तरी और दक्षिणी नगरोंकी स्वतन्त्रता एवं शक्तिका भी ह्रास होने लगा।

इसके अनन्तर नगरों और प्रदेशोंके संहार करनेवाला तीसबरसी[१०८] युद्ध आ पहुंचा। हालैण्ड और स्विटज़र्लैण्डने हार मानी और साम्राज्यके सबसे अधिक सम्पन्न प्रान्तोंपर

* अपने देशमें साम्राज्य-स्थापनमें असमर्थ होकर वे चाहते थे कि इटलीमें साम्राज्य-स्थापन कर लें।

फांसने अधिकार जमा लिया। पूर्व समयमें स्ट्रासबर्ग , नूर्नबर्ग तथा आसबर्ग आदि नगर पृथक् पृथक् भी अपनी संगठन-समितियोंके कारण बड़े बलवान थे। अब स्थिर सेनासे उनका बल और उत्साह एक दम टूट गया।

यदि इस क्रांतिके पूर्व ही सब नगर तथा राजाकी शक्तिको समुचित दृढ़ कर लिया होता अर्थात् यदि जर्मन राष्ट्रका किसी नरपतिके ही हाथमें सम्पूर्ण सुधारका पूर्ण अधिकार होता और वही अपने हाथोंमें लेकर देशकी एकता, शक्ति और स्वतन्त्रताका ध्यान रखते हुए उसकी उचित व्यवस्था करता तो कृषि, व्यवसाय वाणिज्य और शिल्पकी उन्नति कुछ दूसरे ही ढंगपर हुई होती। कुछ अर्थ शास्त्रज्ञोंका मत है कि राष्ट्रका कल्याण उसकी जनताकी उत्पादक शक्तिपर ही निर्भर है। परन्तु इस बातका ध्यान ही नहीं है कि जनताकी शक्तिभी राष्ट्रकी सामाजिक एवं राजनीतिक अवस्थापर बहुत कुछ निर्भर है। उपर्युक्त उल्लेखसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपरोक्त बातोंका ध्यान देते हुए ऐसे मतका अनुसरण करना कितना उपहास योग्य एवं अव्यवहारिक है। रोमन कानूनोंके प्रयोगसे जितनी हानि जर्मनीकी हुई थी उतनी किसी और राष्ट्रकी नहीं हुई थी। उनके कारण लोगोंकी कानूनी स्थिति, और सामाजिक परस्पर सम्बन्धमें भी बड़ी अव्यवस्था मची। इसके अतिरिक्त सबसे अधिक घातक फल यह हुआ कि उस देशमें कानूनी लोगों और विद्वानोंका एक नया समुदाय खड़ा हो गया। वे लोग जन साधारणसे भाव तथा भाषा दोनों हीमें भिन्न हो गये थे। वे जर्मनीकी शेष प्रजाको कानूनोंसे अनभिज्ञ नाबालिग बच्चोंकी भांति समझते थे और वे साधारण मानव बुद्धिके अधिकारोंको भी दबाते थे। इस सम्प्रदायके सब लोग प्रकाश्य बातोंको भी गुप्त रखने लगे। वे बड़ी घृणित गुलामी और हां हुजूरीमें रहकर अपनी मनमानी शक्तिमें मत्त रहने लगे। वे हर स्थानपर अपने पक्षका समर्थन करते और अपना लाभ खोजते और हरएक बातमें स्वतन्त्रताके मूलपर कुठाराघात करते थे। इसी कारण अट्ठारहवीं शताब्दीके आरम्भतक भी जर्मनीकी भाषा, साहित्य, कानून, न्याय-वितरण, राज्य प्रबन्ध और कृषिमें भी बर्बरताकी प्रधानता थी, बड़े बड़े व्यवसाय तथा वाणिज्यकी अवनति थी और एकता तथा संघशक्तिका भी अभाव था। विदेशियोंके साथ व्यवहार करनेमें हर तरहसे उनकी दुर्बलता और नपुंसकता दिखायी देती रही।

किन्तु जर्मनोंमें अब तक भी एक बात रह गयी थी और वह था उनका सहज स्वभाव अर्थात् व्यवसायके प्रति प्रेम, व्यवस्था, मितव्ययिता, संयम, अनुसन्धान तथा व्यवसायमें दत्तचित्त, होना उन्नतिके लिए सच्चा प्रयत्न, नैसर्गिक सदाचार, विवेक, तथा दूरदर्शिता आदि गुण उनमें अब भी विद्यमान थे।

ये सभी बातें राजा तथा प्रजा दोनोंमें ही पायी जाती थीं। राष्ट्रीयताके निर्मूल हो जाने तथा शान्तिके पुनः स्थापित होनेके उपरान्त लोग कहीं कहीं अपने पृथक् संघोंमें सुव्यवस्था, सुधार और उन्नतिका श्रीगणेश करने लगे। शिक्षाप्रचार, धर्म, शिल्प, विज्ञान एवं आचरणका उद्योग किसी भी स्थानमें नहीं हो रहा था। प्रजाकी उन्नतिके लिए शान्ति

और सदाचारका स्थापन, बुराइयोंको दूर करनेके लिए स्वच्छन्द शासन शक्तिका जर्मनीके अतिरिक्त अन्य कहीं भी इतने उत्साहसे प्रयोग नहीं किया गया था। वहांकी सरकारोंने धर्म संस्थाओंकी सम्पत्ति और आयको शुद्ध चित्तसे शिक्षा प्रचार तथा कला, विज्ञान, सदाचार एवं अन्य सर्वोपयोगी कार्योंकी उन्नतिमें लगा दिया, जिससे वस्तुतः जर्मन राष्ट्रका पुनरुत्थान होना प्रारम्भ हुआ। इन्हीं यत्नोंसे, शासनकार्य, न्याय, शिक्षा, व्यवसाय, साहित्य तथा सबसे बढ़कर सर्वसाधारणमें जागृति उत्पन्न हुई। अतएव जर्मनीका विकास भी अन्यों से सर्वथा भिन्न रीति से ही हुआ। और देशोंमें आधिभौतिक उत्पादक शक्तिसे मानसिक उन्नति हुई थी परन्तु जर्मनीमें मानसिक उन्नतिसे ही अन्य प्रकारकी उत्पादक शक्तियोंका विकास हुआ। यही कारण है कि जर्मनीकी वर्तमान सभ्यता भी काल्पनिक है और जर्मनोंके स्वभावमें ये ही अव्यावहारिक विषम गुण दिखायी भी पड़ते हैं।

उस समय जर्मन लोगोंकी दशा ठीक ऐसे पुरुषके समान थी जो पहले अंगोंके उचित प्रयोगसे वञ्चित होता हुआ कल्पनाओं द्वारा ही उठना, बैठना, खाना, पीना, हंसना रोना, सीख ले और फिर उन क्रियाओंका अभ्यास करना आरम्भ करे। इसी कारण जर्मन लोग दार्शनिक कल्पनाओं तथा 'वसुधैव कुटुम्बकं' की स्थापनाओंके स्वप्न देखा करते हैं। उनकी जिस बुद्धिको सांसारिक कारबारमें पड़नेका अवसर नहीं मिला वह केवल मानसिक क्षेत्रोंमें अपना काम करती रही। इसीसे अन्य देशोंकी अपेक्षा जर्मनीमें ही ऐडमस्मिथ तथा उनके चेलोंका मत सबसे अधिक फैला और जर्मनीके अतिरिक्त अन्य किसी देशमें भी केलिंग तथा हस्किन्सन महोदयोंके 'वसुधैव कुटुम्बकं' के सिद्धांत की महत्तामें इतना अधिक विश्वास नहीं किया गया।

शिल्पकी प्रथम उन्नतिके लिए जर्मनीको नेन्टीजकी आज्ञाके रद्द करनेपर फ्रांस छोड़कर भागे हुए शिल्पकारोंका कृतज्ञ होना चाहिये। ये कार्य निपुण कारीगर जर्मनीके प्रायः प्रत्येक भागमें जाकर बस गये। इन्होंने ही ऊन, रेशम, मणि, टोपी, कांच, चीनी, मिट्टीके बर्तन, दस्ताना तथा अन्यान्य प्रकारकी वस्तुओंके कारखाने खोले।

जर्मनीके शिल्पकी वृद्धिके लिए राजाकी ओरसे सबसे पहले आस्ट्रिया और प्रशाने प्रबन्ध किया। आस्ट्रियामें छठे चार्लस, मेरिया थेरेसा और सबसे अधिक द्वितीय जोज़ेफ़ने किया था। प्रोटेस्टेन्ट दलवाले आस्ट्रियाके सबसे अधिक परिश्रमी नागरिक थे। उनके निर्वासनसे उसे बहुत बड़ी हानि हुई थी। उसके उपरान्त भी यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि उस देशमें शिक्षा और विज्ञानकी वृद्धिसे उसको सद्यः फल मिला या नहीं। तो भी उसके उपरान्त मेरिया थेरेसाके राज्यकालमें भी प्रतिबन्धक कर, भेड़ोंके पालन, सड़कोंकी सुव्यवस्था और अन्य प्रकारके प्रोत्साहनों द्वारा व्यवसायकी बहुत कुछ उन्नति हुई।

द्वितीय जोज़ेफ़के समयमें यह कार्य्य अधिक उद्योग और सफलताके साथ चलाया गया था। इसका प्रारम्भिक परिणाम तो बहुत महत्वका नहीं कहा जा सकता क्योंकि

# संसारके व्यवसायका इतिहास।

अन्य सुधारोंकी भांति इस कार्यमें भी राजा स्वभावहीसे जल्दबाज़ था और आस्ट्रियाकी गणना अन्य राष्ट्रोंकी अपेक्षा बहुत पीछे थी। यहां भी अन्य स्थानोंकी भांति स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि किसीको एक बार ही उत्तम वस्तु बहुत अधिक भी प्राप्त हो सकती है। तो भी यदि प्रतिबन्धक करोंसे लाभ उठाना है और साथ ही देशकी वर्त्तमान दशाको स्थिर रखते हुए उसमें सहसा विक्षोभ भी पैदा नहीं करना है तो आरम्भमें करोंकी मात्रा अधिक न होनी चाहिये। जितनी अधिक देर तक प्रतिबन्धक करकी प्रथा चलती रही उतनी ही उसकी उत्तमता और भी अधिक प्रमाणित होती गयी। उसीकी सहायतासे आज दिन आस्ट्रियाका व्यवसाय एवं कृषि इतनी उन्नत तथा समृद्ध दशापर पहुंची है।

तीस वर्षीय युद्धका सबसे अधिक घातक प्रभाव प्रशाके व्यवसायपर पड़ा। इस युद्धमें ब्राडेनवर्गके कारखानेका तो सत्यानाश ही हो गया था। बहुतसे कारीगर सैक्सनी चले गये और इधर अंग्रेज़ोंने स्पर्द्धामें सबको ही पछाड़ दिया था। प्रशाके भाग्यसे नेन्टीज़का आज्ञा-पत्र रद्द किया गया। जिससे पैलटिनेट एवं साल्सबर्गमें प्रोटेस्टेन्ट मतवालोंपर पुनः अत्याचार होने लगा। इलेक्टरने एलिजबेथकी नीतिको भली भांति समझ लिया था। उसने ऐसा उपाय किया कि बहुतसे कारीगर वहांसे भागकर प्रशामें बस गये। उन्होंने वहां कृषिकी उन्नति की और अनेक शिल्प शालाओंकी स्थापना करके कला तथा विज्ञानकी वृद्धि की। इलेक्टरके उत्तराधिकारियोंने भी उसके चरण चिन्होंका अनुसरण किया। उनमें सबसे अधिक सफलता द्वितीय फ्रेडरिकने प्राप्त की थी। उसने जितनी बड़ाई युद्धोंमें सफलता प्राप्त करके नहीं पायी उससे भी कहीं अधिक बड़ाई शान्ति समयमें ही अपनी नीति द्वारा कमा ली। द्वितीय फ्रेडरिकने देशकी बढ़तीके लिए जो जो उपाय किये उनके उल्लेखके लिए यहां पर्य्याप्त स्थान नहीं है। उसने असंख्य उपायों द्वारा विदेशीय कृषकोंको अपनी भूमिमें आकर्षित किया, निकम्मी पड़ी भूमियोंमें हल चलवा दिये तथा चरी, तरकारी, आलू और तमाखूकी खेतीको और भी बढ़ाया एवं भेड़ों चौपायें और घोड़ोंके पालन करने तथा खनिज पदार्थोंके खादके प्रयोग करनेके उत्तम उत्तम उपाय निकाले। येही सब उपाय थे जिनसे फ्रेडरिकने कृषकोंके लिए मूलधन और ऋणकी व्यवस्था कर दी। प्रशामें न्याय विरुद्ध वाणिज्यका प्रभाव समुद्र, नदी, गिरिमाला आदिसे घिरे अन्य राष्ट्रोंकी अपेक्षा बहुत अधिक प्रतीत होता है क्योंकि उसके प्रान्त एक तो परस्पर असम्बद्ध और अलग अलग हैं दूसरे उनकी सीमा सुरक्षित बनाये रखनेके लिये कोई पहाड़, नदी अथवा समुद्र भी नहीं हैं, परन्तु इन भौगोलिक सीमाओंके न रहते हुए भी उस राजाने बंक, करोंकी सूची तथा व्यापार मार्गोंकी सुविधाओंका समुचित प्रबन्ध करके प्रशाके शिल्पोंको छोट छोट अन्य राष्ट्रोंकी अपेक्षा अधिक ऐश्वर्यशाली बना दिया था। यद्यपि कृषकोंपर इसका सीधा प्रभाव नहीं पड़ता था तथापि घूम फिरकर हर प्रकारसे उन्हींकी सम्पत्तिकी वृद्धि होती रही।

किन्तु यह न समझना चाहिये कि इस प्रशंसाकी आड़में प्रशामें प्रचलित प्रथाके दोषोंको छिपाना हम लोगोंका अभीष्ट है। उसमें दोष अवश्य ही हैं, जैसे कि कच्चे

मालका विदेशमें न जाने देना। ऐसे दोषोंके होते हुए भी प्रशाके जातीय शिल्पकी उन्नति अवश्य हुई। किन्तु किसी भी पक्षपात रहित एवं बुद्धिमान इतिहासवेत्ताको साहस नहीं हो सकता कि तज्जन्य प्रशाकी आधुनिक राष्ट्रीय व्यावसायिक उन्नतिपर विवाद करे।

प्रत्येक निष्पक्ष विचारक जो मिथ्या सिद्धान्तोंके फन्देमें नहीं फंसा है स्पष्टतया जान लेगा कि प्रशाने यूरोपीय राष्ट्रोंमें अपनी आदरणीयस्थिति विजय द्वारा नहीं परन्तु कृषि, व्यवसाय एवं वाणिज्य तथा साहित्य विज्ञान उन्नत करनेकी निपुण नीतिसे ही प्राप्त की थी और उसका सब विभव एक ही महान प्राज्ञ व्यक्तिका कार्य्य था।

तो भी स्वतन्त्रसंस्थाएं राजाके कार्योंका समर्थन नहीं करती थी। उसका पक्ष पोषक केवल सुव्यवस्थित विवेकपूर्ण शासन संगठन ही था जो उस समय भी क्रमबद्ध राज्यव्यवस्थाकी मृतप्रायशैलीमें हुआ था।

उधर कई शताब्दियोंसे जर्मनीमें स्वतन्त्र वाणिज्यकी तूती बोल रही थी। अर्थात् सम्पूर्ण संसार वहां अपना तय्यार माल बेरोक टोक भेज सकता था परन्तु जर्मनीकी वस्तु कहीं भी घुसने न पाती थी, केवल इने गिने स्थानोंमें यह बात नहीं थी। स्वतन्त्र वाणिज्यके समर्थकगण बड़ी बड़ी आशायें दिलाते हैं और बड़ी बड़ी भविष्य वाणियां करते हैं किन्तु इस देशके अनुभवसे तो यही सिद्ध होता है कि इस प्रथासे अवनति छोड़ उन्नतिकी आशा नहीं की जा सकती उस समय आगसवर्ग, नर्नवर्ग मेंथेन्स[१२३], कलोन[१२४], आदि नगरोंकी जनसंख्या पहलेकी अपेक्षा ⅓ या ¼ हो गयी थी और कभी कभी देशी पदार्थ इतने अधिक हो जाते थे कि केवल उनकी खपतके लिये युद्धका आवाहन करना पड़ता था।

फ्रांसमें राज्यक्रांतिके कारण युद्धपर युद्ध होने लगे और अंग्रेज़ोंकी आर्थिक सहायता तथा चढ़ा ऊपरीकी धूम मच गयी जिससे शिल्पकी अवनति और कृषिकी दिखौआ समृद्धि क्षणिक होने लगी।

इसके बादही नेपोलियनका महाद्वीपीय अवरोध आरम्भ होता है। एडेम· स्मिथके प्रिय शिष्य जे. बी. से इसे आपत्ति मात्र बताकर भले ही टाल दें किन्तु इसी व्यवसायसे जर्मनी और फ्रांसके व्यावसायिक इतिहासके विशेष युगका आरम्भ होता है। काल्पनिक लोग विशेषत: इंग्लैण्डवाले इसके विरुद्ध जो चाहे सो कहें परन्तु तत्कालीन लेखों से इतना निर्विवाद सिद्ध होता है कि इस अवरोधके कारण जर्मनीमें तभीसे हर प्रकारकी वस्तुओंका बनना आरम्भ हुआ—जो लोग जर्मनीके व्यवसायका पूर्ण ज्ञानका रखते है कमसे कम उनको यह बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी—माल जानेकी सुविधा तथा भेड़ोंके संवर्द्धनका काम (जो थोड़ेही दिन पहले आरम्भ हुआ था) सफलतापूर्वक देशभरमें प्रचलित हो गया। यह ठीक है कि माल ( विशेषत: क्षौमपट ) का बाहर भेजना अधिकतर रुक गया था तोभी कारखानोंको घाटेकी अपेक्षा लाभ अधिक हुआ था विशेषत: प्रशा और आस्ट्रियाकी उन शिल्पशालाओंको जो जर्मन साम्राज्यके अन्य प्रदेशोंमें कुछ पूर्व स्थापित होकर अपना कार्य आरम्भ कर चुकीं थीं।

अनुवादक-हरिहरनाथ।

# प्रतिनिधि-निर्वाचन ।

प्रजातंत्र शासन दो प्रकारका होता है, एक तो वह जिसमें सारी जनता शासनमें सीधे सीधे भाग लेती है, दूसरा वह जिसमें जनता अपने प्रतिनिधियोंके निर्वाचन द्वारा शासनका संगठन करती है। प्राचीन समयमें जब बड़े बड़े राष्ट्रोंका जन्म नहीं हुआ था, पहिले ही प्रकारके शासनकी प्रथा थी। प्रत्येक बड़े बड़े नगर एक प्रकारके राष्ट्र थे, जिनकी जनसंख्याका अधिक भाग वास्तविक शासनमें पूर्ण भाग लेता था। पर जैसे जैसे राष्ट्रकी सीमाएं विस्तृत होने लगीं, यह प्रथा अपूर्ण जंचने लगी। अब राष्ट्र इतने विस्तृत हो गये हैं, कि ऐसी प्रथा केवल अपूर्ण ही नहीं, बल्कि व्यवहारकी दृष्टिसे सर्वथा असम्भव है। यही कारण है कि आज कल सारे प्रजातंत्र देशोंमें प्रतिनिधि शासनकी ही चाल है। इस प्रकारके शासनके दो मुख्य अंग हैं, एक तो निर्वाचक, और दूसरे निर्वाचित (प्रतिनिधि)। इन दोनोंमें कौनसे गुण आवश्यक हैं, परस्पर क्या सम्बन्ध है, तथा दोनों वास्तविक शासनमें कैसे भाग लेते हैं, इन बातोंका ज्ञान, देशकी वर्तमान परिस्थितिमें, प्रत्येक नागरिकके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

प्रत्येक प्रजातन्त्र देशमें जनसंख्याके एक बड़े भागको प्रतिनिधि निर्वाचनका अधिकार दिया जाता है। पर इस अधिकारका आधार क्या है, इसमें बहुत कुछ मतभेद है। एक पक्षका कहना है कि यह प्रत्येक व्यक्तिका जन्म सिद्ध अधिकार है, जिससे किसी-को वंचित रखना सरासर अन्याय है। प्रजातंत्रको प्रगट करनेका यही एक उपाय है। फ्रान्स राज्यविप्लवकी आग सुलगानेवाले रूसो प्रभृति राजनीति-पंडितोंका ऐसा ही मत है। दूसरे पक्षका कहना है कि प्रत्येक व्यक्तिके लिये यह अधिकार आवश्यक नहीं है। यह अधिकार उन्हींको मिलना चाहिये, जो इसके योग्य हैं। इस पक्षका समर्थन मिल, लेकी, और हेनरी मेन ऐसे अंग्रेज लेखकों, तथा जर्मन राजनीतिशास्त्र वेत्ता ब्लुंटश्लीके विचारोंमें मिलता है। यह लोग प्रजातन्त्रके मुख्य सिद्धान्तके विरोधी नहीं हैं, इनका कहना यह है कि निर्वाचनके अधिकारको सर्व व्यापी बनाना हमारा उद्देश्य अवश्य होना चाहिये, पर साथ ही साथ योग्यताका भी ध्यान रखना आवश्यक है।

अब प्रश्न यह होता है कि यह योग्यता क्या है, और इसकी पहचान कैसे हो सकती है। 'प्रतिनिधि-शासन' (Representative Government) के लेखक प्रसिद्ध जान स्टुअर्ट मिलकी रायमें यह योग्यता शिक्षा है। कमसे कम लिखने पढ़ने तथा साधारण गणितका ज्ञान प्रत्येक निर्वाचकके लिये आवश्यक है। जिस मनुष्यको कुछ भी ज्ञान नहीं है, जो अपने जीवन निर्वाहके लिये सर्वथा अयोग्य है, ऐसे मनुष्यको समाजके शासनमें भाग लेनेसे लाभकी अपेक्षा हानिकी ही अधिक सम्भावना है। प्रत्येक

व्यक्तिको राजनीतिक प्रश्नोंका पूर्ण ज्ञान हो, यह सम्भव नहीं है, और न इसकी कोई पहचान ही हो सकती है, पर साधारण शिक्षाकी पहचान सहजहीमें हो सकती है। इसलिये निर्वाचकमें इतनी शिक्षा अवश्य होनी चाहिये। यदि ऐसी शिक्षा नहीं है तो राष्ट्रकी ओरसे ऐसा प्रबन्ध अवश्य होना चाहिये, जिसमें साधरणसे साधारण स्थितिके व्यक्तिको भी ऐसी शिक्षा प्राप्त करनेका अवसर मिल सके। इतना होनेपर भी यदि कोई व्यक्ति शिक्षा प्राप्त नहीं करेगा, तो वह जनताकी दृष्टिमें सर्वथा अयोग्य समझा जायगा। इसलिये निर्वाचनाधिकारको सर्वव्यापी बनानेके पहिले प्रत्येक राष्ट्रको सर्वसाधारणके लिये शिक्षाको सुगम बनाना चाहिये।

व्यवहारमें प्रजातंत्रदेशोंने दोनों मतोंके मध्यके मार्गका अवलम्बन किया है। किसी देशमें भी सारी जनसंख्याको यह अधिकार प्राप्त नहीं है, सब जगह प्रायः ऐसे ही लोगोंको यह अधिकार दिया गया है, जो निर्वाचनका अर्थ समझते हैं, और जो किसी अंशमें इस अधिकारके योग्य हैं। पागल और बच्चे सभी देशोंमें इस अधिकारसे वंचित हैं, क्योंकि उनमें किसी प्रश्नके समझनेकी योग्यता नहीं है। इसी तरह दिवालिये और पक्के बदमाशोंको भी यह अधिकार नहीं दिया जाता है। इसका यह कारण नहीं है कि उनमें राजनीतिक प्रश्नोंके समझनेकी योग्यता नहीं है, बल्कि मुख्य कारण यह है कि उनकी नियत सदा बेइमानी और साधारण नियमोंको उल्लंघन करनेकी ओर रहती है। ऐसे लोग अपना मत देकर सर्वसाधारणका हित कभी नहीं कर सकते। कुछ देशोंमें राजकर्मचारी विशेषकर सैनिक इस अधिकारसे वंचित रहते हैं। यह लोग एक साथ मिलकर शासनके विरुद्ध जिसके कि यह सेवक हैं कोई संघ न बना बैठें इसका सदा भय रहता है। इसके अतिरिक्त निर्वाचनके जोशमें सेना सम्बन्धी नियमोंके उल्लंघन होनेकी भी सम्भावना रहती है। बहुतसे देशोंमें निर्वाचनके पदाधिकारियोंको भी यह अधिकार नहीं मिलता क्योंकि उनसे इस सम्बन्धमें सदा निष्पक्ष रहनेकी आशा नहीं रहती है। इसी तरह जो नागरिक नहीं हैं व भी निर्वाचनमें भाग नहीं लेसकते। उनकी सहानुभूति प्रायः उसी राष्ट्रके साथ समझी जाती है जिसके कि वे नागरिक हैं। सबसे भारी संख्या स्त्रियोंकी है जिन्हें यह अधिकार अब तक प्राप्त नहीं है। यद्यपि कई राष्ट्रोंमें नियमित रूपसे कुछ स्त्रियोंको यह अधिकार मिल गया है पर तब भी स्त्रियोंकी पराधीनताका कलंकका टीका प्रजातंत्र शासनका दम भरने वाले राष्ट्रोंके मत्थेसे अभीतक मिटा नहीं है।

प्रायः सभी देशोंमें इस अधिकारप्राप्तिकी योग्यता किसी प्रकारकी सम्पत्ति है। इसके अन्तर्गत भाव यह है कि मनुष्य स्वभावसे ही स्वार्थी है। देशमें सम्पत्ति होनेसे उसको वहांकी शान्ति और नियमोंका ध्यान बना रहेगा। इस योग्यताका सबसे स्पष्ट स्वरूप यह माना जाता है कि जो किसी प्रकारका राज्यकर या टैक्स देते हों वह मत देनेके अधिकारी अवश्य हैं। 'प्रतिनिधि शासन' के लेखक मिलने इसको बहुत अच्छी तरह

समझाया है। इनका कहना है कि ऐसी सभाओंके प्रतिनिधियोंका निर्वाचन जिनके हाथमें टैक्स लगाना है उन्हींके द्वारा होना चाहिये जो टैक्स देते हैं, क्योंकि उन्हें नये टैक्स लगाते या अपनाही धन व्यय करते हुए अपना ध्यान अवश्य रहेगा। जो टैक्स नहीं देते यदि उन्हें नये टैक्स लगाने या टैक्ससे मिले धनका व्यय करनेका अधिकार दिया जाता है तो मनुष्यकी स्वार्थपरता देखकर अधिक सम्भावना इसी की है कि दूसरोंका धन खर्च करनेमें उन्हें किंचित भी संकोच न होगा। मुफ्ती माल खर्च करनेमें दिल बेरहम हो ही जाता है। पर यदि यह बात सत्य है तो साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि जो प्रतिनिधि नहीं भेज सकते उनसे टैक्स मांगना भी सरासर अन्याय है। इसी सिद्धान्तपर अमरीकाके उपनिवेशोंने इंगलैण्डके विरुद्ध युद्ध छेड़ कर स्वतंत्रताकी घोषणा की थी।

यह तो हुई निर्वाचनके आधारकी बात, अब देखना यह है कि भिन्न भिन्न देशों में निर्वाचन होता किस प्रकार है। प्रतिनिधियोंकी संख्याका ध्यान रखकर, निर्वाचनके लिये, प्रायः देश कई छोटे छोटे भागोंमें विभक्त कर दिया जाता है। इन भागोंमेंसे एक या दो, जैसा नियम हो, जन संख्या द्वारा प्रतिनिधि चुने जाते हैं। इस तरह निर्वाचनक्षेत्र संकुचित कर देनेसे एक बड़ा भारी लाभ यह होता है, कि निर्वाचक प्रतिनिधियोंसे पूर्णतया अनभिज्ञ नहीं रहते। यह प्रबन्ध स्थायी नहीं रह सकता, क्योंकि जनसंख्या प्रतिवर्ष घटती बढ़ती रहती है। इसीलिये समय समयपर जनसंख्याका फिरसे बटवारा करना पड़ता है। इंगलैण्डमें प्रायः ऐसे नियम पास होते रहते हैं। अमरीकामें मनुष्य गणनाके समयपर इसका ध्यान रखा जाता है। वहां यह देखा जाता है कि प्रति कितनी जनसंख्या पीछे एक प्रतिनिधिका होना आवश्यक है। पिछली मनुष्य गणनाके अनुसार यह संख्या २१०४०० थी।

इन निर्वाचन क्षेत्रोंकी सीमाएँ दो प्रकारसे निश्चत हैं। एक तो यह है कि जितने प्रतिनिधियोंका निर्वाचन आवश्यक है उतने ही जिलोंमें सारा देश विभक्तकर दिया जाता है, दूसरा ढंग यह है कि ज़िले कम होते हैं, और प्रत्येक ज़िलेसे जनसंख्याका ध्यान रखकर कई प्रतिनिधि चुने जाते हैं। व्यवहारमें प्रायः पहिले ही ढंगका अनुसरण किया जाता है। कहीं कहीं दोनोंकी चाल है। इंगलैण्डमें नियम पहिले ही ढंगका है, पर कुछ ज़िलोंको एकसे अधिक प्रतिनिधि भेजनेका भी अधिकार है।

पहिली रीतिके अनुसरणमें कई एक लाभ हैं। प्रत्येक प्रतिनिधिको अपने ज़िले की आवश्यकताओंका ज्ञान होता है, क्योंकि प्रायः वह उसी ज़िलेका निवासी होता है। सारे देशके लिये साधारण नियमोंके बनानेमें भी ऐसे ज्ञानकी बड़ी आवश्यकता रहती है। साथ ही साथ वहांके निवासी भी उसे अच्छी तरह जानते हैं, इस लिये उसकी योग्यताका भी उन्हें पूरा अनुभव होता है। इनके अतिरिक्त यह रीति बड़ी ही सरल है, और इसके अनुसरणसे वोट गिननेमें बड़ी सुविधा होती है। इसमें कई एक दोष भी बतलाये जाते हैं। पहिला तो यह है कि जनसंख्याके घटने बढ़नेके कारण इन ज़िलोंमें समानता नहीं रहती, पर इसके दूर करनेका उपाय, समय समय फिरसे बँटवारा करनेका है। दूसरा दोष यह

बतलाया जाता है, कि इन प्रतिनिधियोंमें स्थानिक भावोंकी अधिकता होती है, इसलिये सारे देशके लिये जो नियम बनते हैं, उनको भी वे लोग संकुचित दृष्टिसे देखते हैं। पर साधारण व्यवहारमें ऐसे भयका कोई कारण प्रतीत नहीं होता। व्यवस्थापक सभाओंके लिये, निर्वाचनके समयपर प्रतिनिधिकी साधारण नीतिकाही अधिक ध्यान रखा जाता है। कुछ लोगोंका कहना है कि निर्वाचन-क्षेत्र संकुचित कर देनेसे योग्य व्यक्तिका निर्वाचन नहीं होता। यह भी ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि प्रायः देखा गया है, बड़ी बड़ी व्यवस्थापक सभाओंके लिये प्रतिनिधि चुननेमें यह आवश्यक नहीं है कि वह उसी ज़िलेका निवासी भी हो। यदि ऐसा नियम भी हो, तब भी शिक्षाका प्रचार देखते हुए इस बातकी आशा की जा सकती है कि प्रत्येक ज़िलेमें कमसे कम एक व्यक्तितो अवश्य ही होगा कि जो देशके व्यवस्थापनमें भाग लेनेके योग्य हो। यह बात अवश्य है कि "एक प्रतिनिधि एक ज़िला" वाली प्रथामें भी कई एक दोष हैं, पर सब बातोंका विचार करते हुए, यही सबसे सन्तोषजनक प्रथा जान पड़ती है।

आजकल प्रायः सभी प्रजातंत्र देशोंमें गुप्त चिट्ठियों द्वारा निर्वाचन होता है। पहिले निर्वाचकोंकी एक सूची तैयार की जाती है, फिर निर्वाचनके समयपर प्रत्येक उपस्थित निर्वाचकको एक छपा हुआ पत्र दिया जाता है, जो चिट्ठीके नामसे प्रसिद्ध है। प्रत्येक चिट्ठीपर उम्मेदवारोंका वर्णन और उनके नाम छपे होते हैं। इसीपर निर्वाचकका सूची नम्बर भी लिख दिया जाता है जिस उम्मेदवारको वह चुनना चाहता है, उसके नामपर निशान लगाकर चिट्ठीको लपेटकर एक सन्दूकमें जो इसी कामके लिये होता है, छोड़ देता है। यह कार्य्यवाही समाप्त होनेपर मोहर लगाकर सन्दूक बन्द कर दिया जाता है। बादको निर्वाचनाध्यक्ष तथा कुछ अन्य सज्जनोंके सामने यह सन्दूक खोला जाता, और चिट्ठियां गिनी जाती हैं, जिसके नामकी सबसे अधिक चिट्ठियां होती हैं वही प्रतिनिधि चुन लिया जाता है। इस प्रथामें सबसे बड़ी बात यह है, कि मत गुप्त रहनेके कारण प्रत्येक व्यक्तिको अपना मत देनेमें पूरी स्वतन्त्रता रहती है, किसी प्रकारसे उसपर अनुचित व्यक्तिगत दबाव नहीं डाला जा सकता। ऐसे दबावमें पड़कर किसीको मत देनेके लिये उसने वचन भी दिया हो, तब भी वह किसी अन्य व्यक्तिको मत दे सकता है, जिसका कि दबाव डालनेवालेका कभी पता भी नहीं चल सकता। इसके अतिरिक्त इस ढंगसे मत गिननेमें भी बड़ा सुभीता रहता है। पर यह सब होते हुए भी निर्वाचनमें तरह तरहकी चालें खेली जाती हैं।

सभी प्रकारके निर्वाचनोंमें निर्णयका सिद्धान्त मतोंकी अधिकता है। जिस व्यक्तिके पक्षमें सबसे अधिक मत होंगे, वही प्रतिनिधि चुना जा सकता है। परन्तु इस सिद्धान्तमें मुख्य दोष यह है कि जनताका एक बड़ा भारी भाग अपने प्रतिनिधि भेजनेसे वंचित रह जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी ज़िलेमें १०००० निर्वाचकोंको एक प्रतिनिधि चुनना है, इसके लिये दो दो उम्मीदवार हैं, इनमेंसे एकको ५००० और दूसरेको ४९९९

मत मिलते हैं, तो पहिला उम्मीदवार चुन लिया जाता है, और दूसरादल, जिसकी संख्या-में केवल एककी कमी है, बिना प्रतिनिधिके ही रह जाता है। यदि प्रत्येक ज़िलेके निर्वाचनका फल लिया जाय, तो अन्तमें यह मानना पड़ता है, कि जनताकी एक बड़ी संख्याको शासनमें भाग लेनेका कोई अवसर नहीं मिलता। यह सिद्धान्त कितना अन्याय पूर्ण है इसको 'प्रतिनिधि शासन'के लेखक जानस्टुअर्ट मिलने खूब समझाया है। व्यवहारमें बहुसंख्या वाले दलका ही बोलबाला रहेगा, यह ठीक है, पर इससे क्या यह सिद्ध होता है कि अल्पसंख्यक दलको अपने विचार भी प्रगट करनेका अधिकार नहीं है? यदि ऐसा है तो प्रतिनिधि-शासन कभी प्रजातन्त्र नहीं कहा जा सकता। प्रजातन्त्रका मूल राजनीतिक समानता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रतिनिधि शासनमें, सभी दलोंको बराबर प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार होना चाहिये, बल्कि इससे कार्ययुक्त यह है कि प्रत्येक दलको अपना मत प्रकट करनेका अवसर मिलना चाहिये। उदाहरणार्थ यदि १०००० निर्वाचकोंमेंसे ५००० असहयोगी, ३००० उदार और २००० सहयोगी हैं, तो इनकी प्रतिनिधि संख्यामें पांच असहयोगी, तीन उदार और दो सहयोगी होना चाहिये, तभी सब दलोंको संतोष हो सकता है, क्योंकि जिसका जितना अंश है, उसको उतना अवसर दिया गया है। पर यदि इसमें असहयोगियोंकी अधिकता होनेके कारण, सारे प्रतिनिधि उन्हींके हों, तो यह मानना पड़ेगा कि दो अल्पसंख्यक दलोंके साथ घोर अन्याय हुआ है। दोनों दल मिलकर पहिले दलसे कम नहीं हैं, पर तब भी उनका कोई प्रतिनिधि नहीं चुना गया है। इस प्रकारकी प्रतिनिधि संख्याका शासन प्रजातन्त्र कदापि नहीं कहा जा सकता, वास्तवमें यह बहुसंख्यक दलका शासन है, जो किसी प्रतिद्वन्दी दलके न होनेसे उद्दण्ड होकर मनमाना अत्याचार कर सकता है।

इस दोषको दूर करनेके लिये तरह तरहके उपाय निकाले गये हैं, इनमें सबसे मुख्य वह है जो 'प्रपोर्शनल रिप्रेजेन्टेशन' के नामसे प्रसिद्ध है। इसका साधारण अर्थ यह है कि निर्वाचन इस प्रकार होना चाहिये कि जिसमें संख्यानुसार सभी दलके प्रतिनिधि आजायँ, जैसा कि ऊपर तीन दलोंके दस हजार निर्वाचकोंके उदाहरणसे समझाया जा चुका है। पर अब प्रश्न यह होता है कि इस प्रकार निर्वाचन कैसे सम्भव है। इसके लिये दो बातें बड़ी आवश्यक हैं, एक तो यह कि प्रत्येक जिलेको जिसकी रचना निर्वाचनके लिये की गयी है, एकसे अधिक, अर्थात् कमसे कम तीन प्रतिनिधि चुननेका अधिकार होना चाहिये। इसका कारण यह है, कि बिना एकसे अधिक प्रतिनिधियोंके भिन्न भिन्न दलोंके प्रतिनिधियोंका निर्वाचन नहीं हो सकता, इसलिये एकसे अधिक संख्याका रखना बड़ा आवश्यक है। यह संख्या कितनी होनी चाहिये, इसपर मतभेद है। बेलजियम ऐसे देशोंमें तो यह संख्या २२ तक पहुंची हुई है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक निर्वाचकको एकसे अधिक मत देनेका अधिकार न होना चाहिये। इन दो बातोंको ध्यानमें रखकर देखना चाहिये कि व्यवहारमें यह निर्वाचन कैसे होता है। निर्वाचकको जो चिट्ठी मिलती है, उसपर बहुतसे उम्मेदवारोंके नाम छपे रहते हैं, उनके ऊपर वह अपनी इच्छानुसार

१, २, ३, या इससे अधिक अंक लगा देता है। इसका अभिप्राय यह है, कि जिसके नाम पर १ का अंक है, उसे वह सबसे उत्तम समझता है, उसके बाद फिर जिसपर २ का अंक है, उसके बाद भी जिसपर ३ का अंक है, इसी तरह वह अपनी दृष्टिसे उम्मेदवारोंकी योग्यतानुसार उनका एक क्रम बना देता है। इनमेंसे निर्वाचित होनेके लिये इतना ही आवश्यक है कि उम्मेदवारको मतोंकी एक निश्चित संख्या मिल जानी चाहिये। संख्या निश्चित करनेका नियम यह है कि कुल जितनी चिट्ठियां पड़ी हैं, उनको जितने प्रतिनिधि चुनने हैं उसमें एक जोड़ कर उस संख्यासे भाग दे देना चाहिये। इसका जो फल हो उसमें एक और जोड़ देना चाहिये। वही निर्वाचनके लिये 'पर्य्याप्त संख्या' मानी जायगी यदि ११५ मत हैं, और ५ प्रतिनिधि चुनने हैं तो $\frac{११५}{५+१}+१$ अर्थात् २० पर्य्याप्त संख्या होगी। इस पर्य्याप्त संख्याको अंग्रेजीमें 'कोटा' कहते हैं। चिट्ठियां गिननेमें यदि एक नम्बरके उम्मीदवारको पर्य्याप्तसंख्यामें मत मिल गये हैं, तो उसके अधिक मत दूसरे नम्बरके पास चले जायंगे यदि दूसरे नम्बरके पासभी पर्य्याप्तसे अधिक हो गये हैं, तो वह तीसरे नम्बरके पास चले जायंगे। यह क्रम बराबर चलता रहता है, यहां तककि अन्तमें मतोंकी एक अल्प संख्या शेष रह जाती है।

यह कार्य्यवाही एक उदाहरणसे स्पष्टतः समझमें आ जायगी। मान लीजिये कि ११५ व्यक्तियोंको ५ प्रतिनिधि चुनने हैं। इनमेंसे ७० गरम, २५ नरम, और २० मजदूर दलके निर्वाचक हैं। इन संख्याओंके अनुसार, न्यायकी दृष्टिसे, ३ गरम, १ नरम, और १ मजदूर दलके प्रतिनिधिका निर्वाचन होना चाहिये। मान लीजिये कि इन पांच जगहोंके लिये आठ उम्मीदवार हैं। जिनमें लाला लाजपतराय, श्रीपटेल, पंडित जवाहिर लाल नेहरू, और मौलाना मुहम्मदअली गरम दलकी ओरसे, श्रीशंकरन नायर, डाक्टर गौड़ और श्रीयमुनादास द्वारका दास नरमदलकी ओरसे, तथा श्री एंड्रूज मजदूर दलकी ओरसे हैं। निर्वाचनमें फल नीचे लिखे अनुसार होता है :

| उम्मीदवार | दल | मत |
|---|---|---|
| लाला लाजपतराय | गरम | ५० |
| श्री एंड्रूज | मजदूर | २० |
| श्री शंकरन नायर | नरम | १४ |
| श्री पटेल | गरम | ११ |
| डाक्टर गौड़ | नरम | ७ |
| मौलाना मुहम्मद अली | गरम | ५ |
| पंडित जवाहिर लाल | ,, | ४ |
| श्री यमुनादास | नरम | ४ |

इससे ज्ञात होता है कि पहिले पांच सज्जन निर्वाचित हुए, जिनमें दो दो गरम

और नरम दलके हैं, और एक मजदूर दलका है । गरम दलके निर्वाचकोंकी संख्या नरम दलसे तिगुनीके लगभग है, पर तब भी प्रतिनिधि संख्या समान है । यह निर्वाचन संख्या-नुसार नहीं कहा जा सकता । इसमें बड़ा भारी दोष यह है कि लालाजीको पर्य्याप्त संख्या, बीस, से अधिक मत मिल गये हैं, जिसका फल यह हुआ कि उन्हें अपने एक साथीको खोना पड़ा । अब यदि इनके पक्षके शेष ३० मत दूसरे उम्मीदवारोंको मिल जायं, तो वे भी चुने जा सकते हैं । पर यहां प्रश्न यह होता है कि शेष मत किसको मिलें । ऊपर कहा जा चुका है, कि निर्वाचन चिट्ठीपर सब उम्मीदवारोंके नाम छपे होते हैं, और निर्वाचकको अपनी इच्छानुसार १, २, ३, नम्बर लगानेका अधिकार होता है । लालाजीको कुल ५० मत मिले हैं, इनमें ३० अर्थात् $\frac{३}{५}$ पर्य्याप्तसे अधिक हैं । अब इन ५० चिट्ठियोंसे यदि मौलाना साहबके नामपर, २५ चिट्ठियोंमें दूसरा नम्बर दिया हुआ है, तो मौलाना साहबको $\frac{२५\times३}{५}$ अर्थात् १५ मत और मिल जायंगे, इसी तरह यदि १५ चिट्ठियोंपर श्री पटेलजीके नामपर २ अंकित है, तो उन्हें $\frac{१५\times३}{५}$ अर्थात् ९ मत और मिलेंगे, वैसे ही यदि १० चिट्ठियोंपर पण्डित जवाहिरलाल जीका दूसरा नम्बर है, तो उन्हें $\frac{१०\times३}{५}$ अर्थात् ६ मत और मिलेंगे । इस मत परिवर्तनसे नीचे लिखा हुआ फल प्राप्त होगा ।

| | | | |
|---|---|---|---|
| लालाजी | (५०-३०) | २० | निर्वाचित |
| एंड्रयूज | | २० | निर्वाचित |
| मौलाना साहब | (५+१५) | २० | निर्वाचित |
| पटेलजी | (११+९) | २० | निर्वाचित |
| नायरजी | | १४ | निर्वाचित |
| जवाहिरलाल जी | (४+६) | १० | |
| डाक्टर गौड़जी | | ७ | |
| जमुनादास जी | | ४ | |

इस तरह पहिले लिखे ५ सज्जन प्रतिनिधि निर्वाचित हुए, इनमें ३ गरम दलके, और एक एक नरम तथा मज़दूर दलके हैं। यह फल निर्वाचक दलोंकी संख्यानुसार, उचित तथा न्यायसिद्ध है ।

संक्षेपमें 'प्रपोर्शनल रिप्रेजेन्टेशन' अर्थात् संख्यानुसार निर्वाचनका यही अर्थ है । एक अंग्रेज महाशय टामस हेयरने संवत् १९०८ (सन् १८५१) में इसे निकाला था, इसके ४ वर्ष बाद एंड्रयीने ( Andre ) डेन्मार्कमें इसका प्रचार किया । तबसे इसके समर्थकोंकी संख्या बढ़ती जाती है, और धीरे धीरे सब जगह इसे प्रचलित करनेका प्रयत्न हो रहा है । फिर भी अभी तक इसका अधिक प्रचार नहीं हो पाया है, इंग्लैण्डमें ही चार वर्ष पहिले

जो निर्वाचन सम्बन्धी परिवर्तन हुए थे, उनमें यह स्वीकृत न हो सका। इसका मुख्य कारण यह है कि यह ढंग बड़ा ही जटिल है, निर्वाचक घवड़ा जाते हैं, और मत मिलनेमें बड़ा हिसाब किताब करना पड़ता है, पर संख्यानुसार निर्वाचनके लिये, इससे बढ़ कर दूसरा उपाय अभी तक समझमें नहीं आया है।

कहीं कहींपर मत या जातिभेद होनेसे निर्वाचनमें तरह तरहकी अड़चनें पड़ती हैं, उदाहरणार्थ भारतवर्षमें हिन्दू, मुसल्मानोंका ही झगड़ा है। इसको दूर करनेके लिये किसी ऐसे ही उपायसे काम लिया जाता है। या संख्यानुसार भिन्न भिन्न जातियोंकी प्रतिनिधि संख्या निश्चित कर दी जाती है। भारतवर्षमें ही मुसल्मानोंको अलग प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार है। पर मुख्यदोष यह है कि इससे देशकी राष्ट्रीयताका आघात होता है। अपने ही देशमें प्रत्येक जाति अपने लिये अलग अलग प्रतिनिधि चाहती है, जो न सिद्धान्तकी दृष्टिसे ही उचित है, और न व्यवहारमें ही सम्भव है। सबसे पहिले 'भारतवासी' उसके बाद मुसल्मान', 'ईसाई', 'जैन', सिक्ख, पारसीका भाव होना चाहिये। इसलिये यथाशक्ति जातिभेदको निर्वाचनसे दूर ही रखनेका प्रयत्न होना चाहिये।

स्त्रियोंको यह अधिकार मिलना चाहिये या नहीं, यह वाद विवाद अब धीरे धीरे शान्त हो रहा है। विरुद्ध पक्षका कहना है कि स्वभावसे ही स्त्रियोंका कार्य्यक्षेत्र घर है, उनको राजनीतिक झगड़ोंमें घसीटनेसे गार्हस्थ जीवन नष्टभ्रष्ट हो जायगा। पति पत्नीमें राजनीतिक विषयोंमें मतभेद होनेसे घरकी शान्तिमें बाधा पड़ेगी। परन्तु व्यवहारमें यह दलील ठीक नहीं जंचती। स्थानीय शासनमें तो बहुत कालसे स्त्रियां भाग लेती आयी हैं, आस्ट्रेलियाने तो पूरे अधिकार दे दिये, पर वहां किसी प्रकारसे घरकी शान्ति भंग नहीं हुई है। इस बातको अब सभी मानने लग गये हैं, और स्त्रियोंको धीरे धीरे यह अधिकार देनेका सर्वत्र प्रयत्न हो रहा है। भारतवर्षमें भी बम्बई और मद्रासमें स्त्रियोंको यह अधिकार मिल गया है।

निर्वाचन प्रथाओंके इस संक्षिप्त विवरणसे यह स्पष्ट है कि अभी तक कोई प्रथा पूर्ण नहीं है। प्रत्येक मतका शासनपर प्रभाव पड़े, यह सम्भव नहीं, परन्तु प्रत्येक मतको प्रकट होनेका अवसर देना अत्यन्त आवश्यक है। बहुमतके सिद्धान्तको छोड़ना सम्भव नहीं है, पर साथ ही साथ यथाशक्ति इसका दुरुपयोग न होना चाहिये। वास्तवमें अल्पसंख्यक दलके सामने एक ही मार्ग है। उसे सदा अपने सिद्धान्तोंकी सत्यता सिद्ध करते हुए, अपने अनुयायियोंकी संख्या बढ़ाते रहना चाहिये। इस ढंगसे उसे आप ही आप एक दिन शासनपर पूरा अधिकार मिल जायगा।

इन सब प्रथाओंमें यह देखा गया है कि व्यवस्थापक संस्थाओंमें प्रजा स्वयं अपने प्रतिनिधि चुनती है, पर कभी कभी इस सीधे निर्वाचनकी अपेक्षा, प्रजाकी किसी प्रतिनिधि संख्या द्वारा यह निर्वाचन होता है। भारतवर्षमें ही सुधारोंके पहिले यही

चाल थी । प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओंके सदस्योंका निर्वाचन म्यूनीसिपल बोर्ड द्वारा होता था, और भारतीय व्यवस्थापक सभाके सदस्य, प्रान्तीय सभाओंसे चुने जाते थे । फ्रान्सकी दूसरी सभा सिनेटके सदस्य इसी तरह चुने जाते हैं, अमरीकाके राष्ट्रपतिका निर्वाचन इसी ढंगसे होता है । इसके अन्तर्गत भाव यह है, कि इस तरहके निर्वाचनोंसे प्रजा क्षुब्ध नहीं होती है, इसके अतिरिक्त मध्यवर्तिनी संस्थाके सदस्य साधारण प्रजाकी अपेक्षा अधिक योग्य होते हैं, इसलिये वे सोच विचार कर शासनके लिये प्रतिनिधि चुनते हैं । परन्तु इसमें सबसे भारी दोष यह है कि साधारण नागरिक और प्रतिनिधिमें सीधे सीधे कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है, जिसका फल यह होता है कि जनतामें उदासीनता आजाती है और राजनीतिक शिक्षा नहीं हो पाती है । जिस समय नागरिकको यह ध्यान होता है कि सर्वोच्च सभाके लिये उसको अपना प्रतिनिधि चुनना है, तो उसे अपनी जिम्मेदारी-का अनुभव होता है, दोनोंके मध्यमें किसी अन्य संस्थाके पड़ जानेसे यह बात नहीं रहती । इसलिये सीधे प्रजा द्वारा प्रतिनिधियोंका निर्वाचन ही उचित जान पड़ता है ।

प्रतिनिधि शासनके आधार निर्वाचक ही हैं, इसलिये सबसे अधिक ध्यान इसी ओर जाना चाहिये । शासनको सुव्यवस्थित और प्रजा हितकारी बनानेके लिये जनताकी शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है । जब तक जनताको अपने देशकी परिस्थितिका ज्ञान न होगा, जब तक वह निष्पक्ष होकर योग्यतानुसार शासनमें भाग लेनेके लिये प्रतिनिधियोंका निर्वाचन न करेगी, तबतक प्रजातन्त्र शासनकी सफलता असम्भव है । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है, कि जबतक शिक्षा न हो यह अधिकार मिले ही नहीं । इसके प्रतिकूल यह अधिकार मिलने हीसे ठीक शिक्षा हो सकती है ।

अब देखना यह है कि भिन्न भिन्न देशोंमें प्रतिनिधि बननेके लिये कौन कौनसे गुण आवश्यक समझे जाते हैं । पहिली बात तो यह है, कि वह उसी देशका नागरिक हो क्योंकि जबतक ऐसा न होगा, तबतक उससे यह आशा नहीं हो सकती कि वह सदा उसी देशके हितके लिये प्रयत्न करेगा । शासनमें प्रतिनिधि भाग्य लेने योग्य हों, इसलिये उनकी अवस्थाका भी ध्यान रखा जाता है । पाश्चात्यदेशोंमें यह अवस्था २१ से लेकर २५ वर्ष तक मानी जाती है । परन्तु दूसरी सभाके सदस्य होनेके लिये प्रायः इससे अधिककी आवश्यकता होती है । बेलजियम, फ्रांस और इटलीमें इसके लिये कमसे कम ४० वर्षकी अवस्थाका होना आवश्यक है । इन दो बातोंके अतिरिक्त कई जगह कुछ सम्पत्तिका होना बड़ा आवश्यक माना जाता है । जहां प्रतिनिधियोंको कोई वेतन नहीं मिलता है, वहां स्पष्ट ही है कि बिना निजकी सम्पत्तिके उनका निर्वाह कैसे हो सकता है, और उन्हें प्रजाहितके लिये अवकाश कैसे मिल सकता है । यह सम्पत्तिका पचड़ा अभी कनाडा ऐसे देशमें पूरी तौरसे लगता है । इसके समर्थनमें कहा जाता है कि निजकी सम्पत्ति होनेसे उसको आर्थिक बातोंका ज्ञान होगा, और स्वार्थबुद्धिसे ही उसे देशकी रक्षा और उसके हितका पूरा ध्यान होगा । परन्तु इस तरहकी दलीलमें कोई सार नहीं है, प्रायः देखा गया है कि ज्ञान और

अनुभवका पट्टा रईसोंके नाम बहुत कम होता है। इसके प्रतिकूल जिन्होंने निज शक्तिसे जीवन युद्धमें विजय पायी है, उन्हींमें अनुभवकी मात्रा सबसे अधिक होती है। इसीलिये ऐसी संख्यामें जिसके हाथ देशके भाग्यका निपटारा है, धनी और निर्धनका प्रश्न ठीक नहीं है। मातृ भूमिकी सेवामें प्रत्येक व्यक्तिको अपनी योग्यता प्रकट करनेके लिये पूरा अवसर मिलना चाहिये। यही बात ध्यानमें रखकर अब प्रायः सभी जगह प्रतिनिधियोंको वेतन या पुरस्कार मिलने लगा है। सरकारी नौकरोंको प्रतिनिधि बननेका अधिकार नहीं होता है, इसका मुख्य कारण यह है कि वे सदा निष्पक्ष भावसे शासनमें भाग नहीं ले सकते हैं। अमरीकामें सरकारी अफसर और न्यायाधीश प्रतिनिधि नहीं हो सकते हैं। इंग्लैंडमें भिन्न भिन्न विभागोंके मंत्री प्रतिनिधि अवश्य हैं, पर स्थायी पदाधिकारी पार्लमेंटसे अलग ही रखे जाते हैं। मंत्रियोंके विषयमें भी यह आवश्यक है कि मंत्री होनेपर उन्हें अपना पुनर्निर्वाचन करना पड़ता है। मतभेदपर अब अधिक ध्यान नहीं दिया जाता है; पर पिछली शताब्दी तक इंग्लैंडमें इसपर बड़ा ज़ोर दिया जाता था। स्त्रियोंको निर्वाचनका अधिकार तो धीरे धीरे मिल रहा है, पर प्रतिनिधि बननेकी व्यवस्था अभी बहुत कम देशोंमें है।

अब प्रश्न यह होता है कि निर्वाचक और प्रतिनिधिमें परस्पर सम्बन्ध क्या है? एक पक्षका कहना है कि प्रतिनिधिओंको निर्वाचकोंके विचारका सदा ध्यान रखना चाहिये, वह उनका एक प्रकारसे सेवक है, उसकी आज्ञा पालना ही उसका मुख्य कर्तव्य है। मनमानी नीति अनुसरण करनेसे प्रतिनिधियों द्वारा शासनपर लोकमतका प्रभाव नहीं पड़ सकता है। यदि प्रतिनिधियोंको पूर्ण स्वतन्त्रता मिल गयी, तो फिर शासन प्रजातन्त्र कैसे रहा? इस तरहकी दलीलमें कई एक दोष हैं। हर समय प्रतिनिधि अपने निर्वाचकोंका मत लेता रहे, यह व्यवहारमें सम्भव नहीं है। शासनके सामने ऐसे ऐसे प्रश्न आते हैं, जिनका निर्णय उसी समय करना पड़ता है। यदि ऐसे अवसरपर वह अपने निर्वाचकोंकी आज्ञा पूछने दौड़े, तो फिर शासनकार्य्य कैसे चल सकता है? इसके अतिरिक्त इस-तरह किसीके हाथ बांध देनेसे उसकी योग्यता नष्ट हो जाती है। मानसिक शक्तियोंका विकास तभी हो सकता है, जब व्यक्तिको पूर्ण स्वतन्त्रता हो। साधारण निर्वाचकोंसे इस बातकी आशा नहीं की जासकती कि उन्हें देशके जटिल प्रश्नोंका पूर्ण ज्ञान होगा, ऐसी दशामें वे अपनी आज्ञासे प्रतिनिधिकी योग्यता संकुचित कर देते हैं, और उसको अपनी पूरी बुद्धि लड़ानेका अवसर नहीं देते हैं। इन सब बातोंको सोचते हुए, यह सिद्धांत ठीक नहीं जंचता है। प्रतिनिधिकी योग्यता और अयोग्यताका ध्यान निर्वाचनके समयपर होना चाहिये। यदि एक बार किसीको प्रतिनिधि चुन लिया है, तो कमसे कम कुछ काल तक उसकी योग्यतामें हमें विश्वास होना चाहिये। चीनके प्रसिद्ध महात्मा कान्फ्यूशसका कथन है कि यदि किसी व्यक्तिको कोई काम सौंपा जाय तो उसमें विश्वास रखना चाहिये, यदि विश्वास नहीं है तो उसे काम ही न सौंपना चाहिये।

लोक मतका प्रभाव शासनपर कैसे पड़ सकता है और उसके अनुसार प्रतिनिधि

कैसे चल सकते हैं, इसके लिये कई उपाय हैं। पहिले तो प्रतिनिधियोंकी अवधि निश्चित होती है, यह अवधि प्रायः पांच वर्षकी होती है। यदि किसी प्रतिनिधिसे हम संतुष्ट नहीं हैं, तो पांच वर्ष उसका कार्य देखकर, हम उसकी जगहपर किसी दूसरेको चुन सकते हैं। जबतक किसी प्रतिनिधिको यह विश्वास न होगा कि निर्वाचकोंका मत उसकी आत्माके विरुद्ध है, तबतक वह उनको रुष्ट करनेका प्रयत्न न करेगा। समाचारपत्रों द्वारा तथा सभाएं करके निर्वाचक अपना मत प्रगट कर सकते हैं। यहांपर यह प्रश्न हो सकता है कि निरंकुश प्रतिनिधि पांचही वर्षमें मनमाना अत्याचार कर सकता है, ऐसी दशामें उसकी अवधिके दिन गिनते हुए क्या निर्वाचक बैठे रहें? घड़ी भरमें घर जलता हो तो अढ़ाई घड़ी भद्रा मानकर बैठनेमें भी कोई बुद्धिमानी है? इसको भी दूर करनेके लिये दो उपाय निकाले गये हैं, इसमें एकको 'ईनीशियेटिव' और दूसरेको 'रिफरेण्डम' कहते हैं।

'इनीशियेटिवका अर्थ है कि निर्वाचकोंकी एक निश्चित संख्या किसी नियम-को पास करनेका अपनी ही ओरसे प्रस्ताव कर सकती है, अधिक जोर देनेपर नियम पास करना पड़ता है, और पास होनेके बाद एक बार फिर उसपर मत लिया जाता है, इस तरहसे जनताको नियमोंके बनानेमें प्रारंभ करनेका अधिकार मिलता है। जब किसी नियमको पास करनेके बाद, उसपर लोकमत जाननेकी चेष्टा की जाती है, तो उसे 'रिफ्रेण्डम' कहते हैं। यदि लोकमत उसके विरुद्ध होता है, तो वह नियम रद्द कर दिया जाता है। इस तरह इन दोनों उपायोंसे नियम बनाने तथा उन्हें रद्द करनेका अधिकार सीधे सीधे जनताके हाथमें आ जाता है। 'रिफ्रेण्डम' भी दो प्रकारका होता है, एक तो वह है जिसमें स्वयं निर्वाचकोंकी एक निश्चित संख्या किसी नियमपर अपना मत प्रकट करनेकी प्रार्थना करती है, उसके मतानुसार वह पास या रद्द होता है, इस ढंगमें कुछ विशेष नियमों-के पास करनेमें लोकमत लेना ही पड़ता है। यह नियम प्रायः शासनप्रणालीमें परि-वर्तन करनेके लिये होते हैं।

'रिफ्रेण्डम' की चाल सबसे अधिक स्विटजलैंण्डमें है, अमरीकामें भी अब इसका प्रयोग होने लगा है, पर संगठन सम्बन्धी परिवर्तनमें लोकमत जाननेकी व्यवस्था कई देशोंमें है। इस प्रजाकी राजसत्ता बराबर स्पष्ट रूपसे जमी रहती है, और प्रतिनिधियोंको उसके प्रति अपनी जिम्मेदारीका बराबर ध्यान रहता है।

आजकल हमारे देशके भावी राजनीतिक संगठनका प्रश्न हमारे सामने पेश है, ऐसी दशामें इन सब बातोंका ज्ञान होना हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक है।

गङ्गाशङ्कर मिश्र

# सूत और कपड़ेके व्यापारमें भारतकी हानि ।

स्वदेशी सूत और कपड़ेके प्रचार और विदेशीके बहिष्कारके सम्बन्धमें जो आजकल, मोटे हिसाबसे, यह कहा जाता है कि इस व्यवसायमें हमारे देशको प्रतिवर्ष लगभग ६० करोड़ रुपयेकी हानि उठानी पड़ती है, इसमें बहुतसे लोगोंका मतभेद है। ६० करोड़की हानि बतलाने वाले महाशय गत दो वर्षों अर्थात् संवत् १९७६ और संवत् १९७७ में जितना सूत और कपड़ा विदेशसे आया उसका हिसाब बतलाकर इस हानिको सिद्ध करते हैं। यह हिसाब इस प्रकार है :—

नक्शा नं० १, सूत और कपड़ा जो विदेशसे आया

| संवत् | सूत | | कपड़ा | |
|---|---|---|---|---|
| | रतल* | कीमत | गज | कीमत |
| १९७५ | ३,८०,००,००० | ८८७,००,००० | ११२२०,००,००० | १५,६८,००,००० |
| १९७६ | १,५०,००,००० | ४,३६,००,००० | १०८०७,००,००० | ५४,७२,००,००० |
| योग | ५ क. ३० लाख | १३ क. २३ लाख | १२० क. २७ लाख | १०९, ४० लाख |

इस हिसाबसे उपरोक्त दो वर्षोंमें औसतसे ५९ करोड़ ८१½ लाख रुपयेका सूत और कपड़ा यहां पर विदेशसे आया। अतः ६० करोड़की हानि बतलाने वाले महाशय यह समझते हैं कि इस प्रकार, इस व्यवसायमें लगभग ६० करोड़ रुपयेकी हानि प्रति वर्ष हमारे देशको उठानी पड़ती है।

मत भेद रखनेवाले महाशय यह कहते हैं कि यह बात नहीं है, क्योंकि हमारे देशका बना हुआ सूत, और कपड़ा भी तो विदेशको भेजा जाता है। अतः वह कीमत इसमेंसे घटा दी जानी चाहिये। उपरोक्त दोनों वर्षोंमें हमारे यहांका बना हुआ निम्न लिखित सूत और कपड़ा विदेशको गया :—

नक्शा नं० २, सूत और कपडा जो विदेश गया।

| | सूत | | कपड़ा | |
|---|---|---|---|---|
| संवत् | वजन (रतलमें)* | कीमत (रुपयोंमें) | गज | कीमत |
| १९७५ | ६४०,००००० | ७,२२,००००० | १४९२००००० | ६,४५,००००० |
| १९७६ | १५२०,६०००० | १८,२६,००००० | १९६६००००० | ८,७३,००००० |
| योग | २१ क. ६० लाख | २५ क. ४८लाख | ३४ क. ५८ लाख | १५,१८ लाख |

* एक रतल = लगभग आधासेर।

# सूत और कपड़ेके व्यापारमें भारतकी हानि ।

इस हिसाबसे दो वर्षोंमें जो सूत और कपड़ा हमारे देशका विदेश गया, उसकी कीमत औसतसे २० करोड़ ३३ लाख रुपये हुई। यहांपर आये हुए सूत और कपड़ेकी कीमत ५८ करोड़ ८१ लाखमेंसे यह कीमत घटा देनेपर हमें केवल ३९ करोड़ ४८½ लाख रुपयेकी ही हानि उठानी पड़ी।

कुछ लोग और भी आगे बढ़कर यह कहते हैं कि हम अपने यहांकी रूई भी विदेश भेजते हैं, और अधिकांशमें उसी रूईका कपड़ा बन कर हमारे देशमें आता है। अतः जितनी कीमत हमको रूईकी मिल जाती है, वह भी जो हम सूत और कपड़ेकी कीमत विदेश भेजते हैं उसमेंसे घटा देनी चाहिये। उपरोक्त दो वर्षोंमें हमने नीचे लिखे अनुसार रूई विदेश भेजी है।

नकशा नं० ३, रूई जो विदेशको भेजी गयी।

| संवत् | वजन [ गांठोंमें ] | वजन [ रतल में ] | कीमत [ रुपयोंमें ] |
|---|---|---|---|
| १९७५ | १२५३८०० | ६०१५२०००० | ३० करोड़ ९८ लाख |
| १९७६ | २३९८६०० | ९५९४४०००० | ५८ करोड़ ६५ लाख |
| योग ... | ३६५२४०० | १६६०९६०००० | ८९ करोड़ ६३ लाख |

दोनों वर्षोंके औसतसे रूईकी कीमत ४४, करोड़ ८१½ लाख हुई। इस हिसाबसे तो हमें उल्टे १३ करोड़ ३ लाखका लाभ हुआ। और यथार्थमें यदि हमें इतना लाभ होतो फिर इतने बड़े स्वदेशीके आन्दोलनकी आवश्यकता ही नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यदि हम इस विषयको मनन करें, तो हमें स्पष्ट मालूम हो जाता है कि विदेशी सूत और कपड़ा यहां मंगाने, अपना सूत और कपड़ा तथा कच्ची रूई विदेश भेजने, सभी बातोंमें भारतवर्ष भारी हानि उठा रहा है। इसके लिये सबसे पहिले हमें नीचे लिखी हुई दो बातोंपर ध्यान देना चाहिये।

[ १ ] विदेशी सूत और कपड़ा जो हमारे देशमें आता है, वह कम टिकाऊ होनेपर भी पतला और फैंसी होनेके कारण उसकी कीमत हमें अधिक देनी पड़ती हैं। किन्तु जो सूत और कपड़ा हमारे देशका बना हुआ विदेश जाता है, वह मोटा होता है। अतः अधिक टिकाऊ होनेपर भी उसकी कीमत हमें कम मिलती है।

[ २ ] जो रूई हम विदेश भेजते हैं, उस रूईका यदि हम अपने देशमें कपड़ा तैयार कर सकें तो उससे हमारे देशमें कितना लाभ हो सकता है तथा अन्य देश उससे कितना लाभ उठा रहे हैं?

हमारे देशसे जानेवाला सूत प्रायः मोटा होता है। नक्शा नं० दोके अनुसार उपरोक्त दो वर्षोंमें औसतमें हमने अपने यहांका बना हुआ १० करोड़ ८० लाख रतल सूत विदेश भेजा, जिसकी औसत कीमत हमें १२ करोड़ ७४ लाख रुपया मिली। अर्थात् लगभग १≶) रतल। नकशा नं० १ के अनुसार विदेशसे हमारे देशमें इन दोनों वर्षोंमें औसतमें २ करोड़ ६५ लाख रतल सूत आया, जिसकी कीमत औसतमें हमें ६ करोड़ ६१$\frac{1}{2}$ लाख रुपये देनी पड़ी, अर्थात् लगभग २॥) रतल। इस हिसाबसे स्पष्ट जान पड़ता है कि जहां हमें १≶) रतल अपने यहांके बने हुए सूतका मिलता है, वहां उतने ही वजनके विदेशी सूतके लिये हमें २॥) रुपये देना पड़ता है, अर्थात् १।=) फी रतल हम विदेशी सूतका अधिक देते हैं। अब यदि हम विदेशी सूत मंगाना बंद कर दें तो इस कारण हमें सूतकी जो घटी होगी, उसकी भी पूर्ति देशके बने सूत द्वारा ही करनी होगी। अतः जो सूत हमारे देशसे बाहर जाता है, उसमेंसे हमें उतना सूत देशकी आवश्यकताके निमित्त यहीं रख छोड़ना होगा। इस प्रकार हम देशके बाहर १० करोड़ ८० लाख रतल सूत न भेजकर सिर्फ ८ करोड़ १५ लाख रतल ही भेज सकेंगे [१० करोड़ ८० लाख—२ करोड़ ६५ लाख = ८ करोड़ १५ लाख, नक्शा नं० १, देखिये]

मिल-रिपोर्टोंके हिसाबसे यह जान पड़ता है कि यहांपर एक रतल देशी सूतका प्रायः ४ गज कपड़ा बनता है। इस हिसाबसे इस ८ करोड़ १५ लाख रतल सूतका हमारे देशमें ३२ करोड़ ६० लाख गज कपड़ा बनेगा। हमारे यहांका कपड़ा विदेशी कपड़ेसे दूनेसे भी अधिक चलता है। यदि हम दूना चलना भी मान लें तो यह ३२ करोड़ ६० लाख गज कपड़ा ६५ करोड़ २० लाख गज विदेशी कपड़ेका काम देगा। जिसकी कीमत गत दो वर्षोंमें कपड़ेकी जो कीमत हमने दी है उस हिसाबसे लगभग ३१ करोड़ ५० लाख रुपये होती है। जो कीमत हमें इस सूतकी मिलती है, वह औसतसे १२ करोड़ ७४ लाख है। यदि हम उसे ३१ करोड़ ५० लाख रुपयोंमेंसे घटा दें तो १८ करोड़ ७६ लाख रुपयोंकी बचत हुई। अस्तु विदेशी सूत न मंगाने और अपना सूत विदेश न भेजनेसे भावके अन्तरका ३ करोड़ ७४ लाख रुपया और यह १८ करोड़ ७६ लाख मिलाकर हमें २२ करोड़ २३ लाख रुपयोंका लाभ हो सकता है।

यह तो हुई सूतकी बात, इसी प्रकार अब हमें कपड़ेका भी हिसाब देखना चाहिये। नक्शा नं० १ के अनुसार उपरोक्त दोनों वर्षोंमें औसतमें हमारे यहां ११ करोड़ १३ लाख गज विदेशी कपड़ा आया, जिसका कि हमने ५३ करोड़, २० लाख रुपय विदेश भेजा। इस हिसाबसे एक गज विदेशी कपड़ेका हमें लगभग ॥) देना पड़ता है। नक्शा नं० २ से जान पड़ता है कि इन्हीं दोनों वर्षोंमें हमारे देशका १७ करोड़ २६ लाख गज कपड़ा विदेश गया, जिसकी कीमत हमें ६० करोड़ ५६ लाख रुपया मिली अर्थात गज पीछे लगभग।≶)। इस हिसाबसे स्पष्ट है कि गज पीछे -) एक आना कम पानेके कारण हमें अपने १७ करोड़ २६ लाख गज कपड़ेका १ करोड़ ८ लाख रुपया कम मिला। यदि

# सूत और कपड़ेके व्यापारमें भारतकी हानि ।

हम इस कपड़ेका जाना रोक लें तो यह कपड़ा दूना चलनेके कारण हमारे यहां विदेशसे आनेवाले दूने अर्थात ३४ करोड़ ५८ लाख गज कपड़ेका काम दे सकता है । अतः हमारे यहां ३४ करोड़ ५८ लाख गज विदेशी कपड़ा न आनेके कारण हमें १६ करोड़ ७० लाख रुपये विदेश न भेजने होंगे । १७ करोड़ २६ लाख गज कपड़ा विदेश भेजनेके कारण जो ७ करोड़ ५६ लाख रुपया हमें विदेशसे मिलता है, वह इस १६ करोड़ ७० लाख रुपयोंमें से घटा देनेपर ६ करोड़ ११ लाख रुपयेकी बचत होती है । कीमतके अन्तरका १ करोड़ ८ लाख रुपया तथा यह ६ करोड़ ११ लाख रुपया मिलकर, यदि हम अपना कपड़ा विदेश न भेजें तो, हमें १० करोड़ १६ लाख रुपयेका लाभ होगा ।

इस प्रकार अपने देशका ८ करोड़ १५ लाख रतल सूत रोक लेनेपर उस सूतसे हम अपने देशमें ३२ करोड़ ६० लाख गज कपड़ा तैयार करेंगे, जो विदेशी ६५ करोड़ २० लाख गज कपड़ेका काम देगा । और अपने यहांका १७ करोड़ २६ लाख गज कपड़ा जो हम विदेश भेजते हैं, उसे रोकनेपर वह ३४ करोड़ ५८ लाख गज विदेशी कपड़ेका काम देगा । दोनों मिलकर ६६ करोड़ ७८ लाख गज हुआ । अतः जो हमारे यहां ११० करोड़ १ लाख गज विदेशी कपड़ा आता है उसमेंसे यह ६६ करोड़ ७८ लाख गज कपड़ा घटा देनेपर हमें केवल १० करोड़ ३५ लाख गज कपड़ेकी आवश्यकता रह जाती है, साथही बाहर जानेवाले सूतको रोकनेसे २२ करोड़ २३ लाख, और कपड़ेको रोकनेसे १० करोड़ १६ लाख, दोनों मिलाकर ३२ करोड़ ४२ लाख रुपयोंकी बचत हो जाती है । जितने कपडेकी कमी रह जाती है, उसकी पूर्ति हाथके चरखों और करघोंके प्रचारसे सहजमें हो सकती है ।

उपरोक्त विवरणसे स्पष्ट मालूम हो जाता है कि जो लोग यह समझते हैं कि हम अपना बनाया हुआ सूत और कपड़ा विदेश भेजकर लाभ उठा रहे हैं, वे भारी भ्रममें पड़े हैं । यथार्थमें यहांका सूत और कपड़ा विदेश जाने और विदेशी सूत और कपड़ा यहां आनेसे हमें भारी हानि उठानी पड़ती है ।

अब रूईकी ओर दृष्टि डालिये । जो यह समझते हैं कि भारतवर्ष अपनी रूई द्वारा करोड़ों रुपया मंगा रहा है उन्हें निम्न लिखित वर्णनसे सिद्ध हो जायगा कि यथार्थमें कच्ची रूई भेजनेके कारण भी इस देशको कितनी हानि उठानी पड़ती है । और अन्यदेश इस रूईसे कितना लाभ उठा रहें हैं ।

जो रूई विदेश भेजी जाती है यदि हम अपने देशमें ही उसका सूत तैयार करा सकें तो उस सूतका वजन और उक्त वर्षके बाजार-भावके अनुसार, उसकी कीमत नीचे लिखे अनुसार होती है :—

नक्शा नं० ४, जो रूई विदेश भेजी गयी उससे बने हुए सूतका हिसाब ।

| संवत् | सूत | |
|---|---|---|
| | वजन [रतलमें] | कीमत [रुपयोंमें] |
| १९७५ | ३८ करोड़ ४७ लाख | ४२ करोड़ ७ लाख |
| १९७६ | ७६ " ४ लाख | ८६ " ५७ " |

सूतका हिसाब मालूम हो जानेपर यह देखना चाहिये कि इस सूतका हमारे देशमें कपड़ा कितना बनता, और उक्त वर्षोंके बाजार-भावके अनुसार, उसकी कीमत क्या होती:—

नक्शा नं० ५ सूतका जो कपड़ा बनता, उसका हिसाब, मय कीमतके ।

| संवत् | सूत | | |
|---|---|---|---|
| | वजन ( रतलमें ) | कीमत ( रुपयोंमें ) | हानि ( रुपयोंमें ) |
| १९७५ | ३०करोड़ ९८लाख | ६१करोड़०४लाख* | ३०करोड़ ०६लाख |
| १९७६ | ५८करोड़ ६५लाख | १४३करोड़ ०२लाख | ८४करोड़ ४४लाख |

दोनों वर्षोंका औसत निकालनेपर जान पड़ता है कि यदि हम इस रूईका कपड़ा बना सकते तो इस देशका इससे दूना लाभ अर्थात् ११४ करोड़ ४० लाख रुपयोंका लाभ होता ; क्योंकि भारत जितने वजनमें जितना सूत और कपड़ा बनाता है, दूसरे देश उतने ही वजनमें उससे दूना सूत और कपड़ा बनाते हैं। परन्तु विदेशी कपड़ा भारतके मुकाबिलेमें आधा भी टिकाऊ नहीं होता ।

उपरोक्त विवरणसे मालूम हो जायगा कि यथार्थमें हमारा देश इस व्यापारमें कितनी हानि उठा रहा है ।

**गोविन्ददास ।**

* जितनी रूईके निमित्त विदेशोंसे हमें ३० करोड़ ९८ लाख रुपये मिलते हैं, ( तालिका नम्बर ३ देखिये ) उतनी ही रूई का कपड़ा तैयार कर लेनेसे यहां ६१ करोड़ ४ लाख रुपये मिल सकते हैं। अतः हमें ३० करोड़ ६ लाखकी हानि हुई ।—सम्पादक ।

# भारतका विदेशी व्यापार ।

## ( शेषांश )

हम पहिले कह आये हैं कि युद्ध समाप्त होते ही भारतने अधिकाधिक मात्रामें अपना माल विदेशोंको भेजना आरम्भ कर दिया था। किन्तु यह स्थिति ज्यादा समय तक न चल सकी। संवत् १९७६ में हमारा निर्गत व्यापार पराकाष्ठाको पहुँच कर फिर क्रमशः अवनत होता गया। युद्ध व्ययके कारण तथा उससे उत्पन्न आर्थिक परिस्थितिका सामना करनेके निमित्त नये नये कर लगाना या पुराने करोंकी वृद्धि करना आवश्यक हुआ। अच्छे अच्छे देशोंमें भी करोंका भार बढ़ता जाता था और लोगोंमें माल खरीदने-की शक्ति भी कम होती जाती थी। इधर विदेशी हुंडियोंकी दर अस्थिर होनेके कारण लोग बहुमात्रामें बाहरका माल मँगानेमें आगा-पीछा करते थे। हमारे मालकी ज्यादा खपत जिन जिन देशोंमें होती है उनमेंसे तीन बड़े बड़े देश—रूस, जर्मनी, और आस्ट्रिया—अब भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-क्षेत्रमें प्रविष्ट न हो सके थे। उन्हें मालकी जरूरत तो ज्यादा थी पर उसे खरीदनेकी शक्ति उनमें न थी। भारतके तीन प्रधान खरीददारों—ब्रिटेन, अमेरिका और जापान—के यहां आवश्यकतासे अधिक माल इकट्ठा हो गया था। यह बात वहांके पदार्थोंका औसत मूल्य क्रमशः गिरते देखकर स्पष्ट मालूम हो जाती है। इस कारण यहांके व्यापारियोंको विवश होकर बाहरका माल मँगाना कम कर देना पड़ा। इधर हमारे देशमें नूतन वर्षकी फसल अच्छी न होनेके कारण देशका अनाज बाहर भेजनेमें जो रुकावटें रखी गयी थीं, वे भी दूर न की जा सकीं। इन्हीं सब कारणोंसे संवत् १९७७ में हमारा निर्गत व्यापार पूर्व वर्षकी अपेक्षा बहुत मद्दा पड़ गया था।

अब हम देशके आगत व्यापारकी ओर दृष्टि डालते हैं। हम इस रिपोर्टके आरंभमें कह आये हैं कि संवत् १९७७ में हमने विदेशोंसे अपेक्षाकृत अधिक माल मँगा डाला। यद्यपि इस समय हमारा निर्गत व्यापार घटता ही जा रहा था तो भी हमारे पास बाहरसे अधिकाधिक माल आता रहा। इस वर्ष ( १९७७ ) के कमसे कम प्रथम नव महीनोंमें तो हमारा आयात बढ़ता ही गया। ऐसा होना अनिवार्य था। हम विदेशोंसे जो माल मँगाते हैं उसे तैयार होते होते और यहां पहुँचते पहुँचते बहुत विलम्ब लग जाता है। छः महीनों या एक वर्षकी देर लग जाना तो मामूली बात है, कभी कभी तो दो दो वर्षोंके बाद माल आता है। जिस समय विदेशी विनिमयकी दर गिर गयी थी अर्थात् जब एक रुपयेमें प्रायः दो शिलिंगका माल प्राप्त हो सकता था, तब यहांके व्यापा-रियोंने माल मँगानेका "आर्डर" दिया था। किन्तु माल यहां आते आते दर फिर चढ़ गयी। अतः नये आर्डर देना ही प्रायः बन्द न हो गया, प्रत्युत पुराने आर्डरोंके अनुसार भेजे गये मालको छुड़ाना भी यहांके व्यापारियोंने अस्वीकृत कर दिया। सारांश यह कि वर्षके समाप्त होते होते हमारा आगत व्यापार भी बहुत मद्दा पड़ गया। फिर भी प्रथम नव महीनोंमें विदेशोंसे बहुत अधिक माल आजानेके कारण इस वर्षका कुल आयात गत

वर्षकी अपेक्षा अधिक ही रहा। इस प्रकार संवत् १९७७ में एक ओर तो हमने गत वर्षकी अपेक्षा विदेशोंको कम मूल्यका माल भेजा और दूसरी ओर वहांसे ज्यादा मूल्यका माल मँगा बैठे, अतः जहां गत वर्ष विदेशोंसे हमारा पावना ११९ करोड़ रुपये था, वहां इस वर्ष ( १९७७ में ) हम ७९ करोड़के लिये उनके देनदार हो गये।

संवत् १९७७ में जो माल विदेशोंसे हमारे यहां आया उसमें रूईके वस्त्र विशेष उल्लेखनीय हैं। संवत् १९७६ में कुल ५९ करोड़के ही कपड़े भारतमें आये थे, किन्तु इस वर्ष ( १९७७ ) करीब करीब दूने अर्थात् १०२ करोड़के कपड़े यहां आये।

भारतसे बाहर जानेवाली चीजोंमें रूई, पाट ( जूट ), अनाज और चाय मुख्य हैं। संवत् १९७७ में भारतीय रूईका भाव बहुत गिर गया था। इसके कई कारण थे। पहिला कारण अमेरिकाकी रूईकी दरका गिरना है। वर्षारंभके समय जितनी रूईका मूल्य ४३ सेण्ट ( लगभग डेढ़ रुपया ) था, वर्ष समाप्त होते होते उसीकी कीमत ११ सेण्ट हो गयी। ऐसी हालतमें बीसवीं शताब्दीकी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितिके कारण इस घटनाका प्रभाव भारतपर पड़ने ही वाला था। हमारे यहांकी रूईका मूल्य गिर जानेका दूसरा कारण जापानमें उसकी मांगका घट जाना है। इसके अतिरिक्त चीनके अकाल एवं तदुत्पन्न उसकी क्रय-शक्तिके घट जानेका असर भी यहांकी रूईपर पड़ा। साथ ही हड़तालोंके कारण यहांके पुतलीघरोंमें काफी काम न होनेसे रूईकी भी ज्यादा मांग न हुई। इन सब कारणोंसे भारतीय रूईका भाव बहुत गिर गया था।

संवत् १९७७ के आरंभमें भारतके पाटकी रफ्तनी अच्छी रही, किन्तु छः मासके बाद ही वह मद्दी पड़ गयी। भिन्न भिन्न देशोंको पाटके बोरों और कपड़ेकी रफ्तनी इस प्रकार है :—

| देश | बोरे ( करोड़में ) | कपड़ा ( करोड़ गजोंमें ) |
|---|---|---|
| ब्रिटेन | १९७६ में ५.७ | १० |
| | १९७७ में ४.८ | ६.४५ |
| अमेरिका | १९७६ में ४.३ | ८१.६ |
| | १९७७ में ७.२ | ६३.३ |
| आस्ट्रेलिया | १९७६ में २.९ | १.४ |
| | १९७७ में ६.१ | १.७ |
| चिली | १९७६ में १.५ | |
| | १९७७ में ५.० | |
| चीन | १९७६ में १.६ | |
| | १९७७ में ३.२ | |
| कनेडा | १९७६ में | ३.६ |
| | १९७७ में | ४.१ |

# भारतका विदेशी व्यापार ।

इसी प्रकार जावा, तथा वेस्ट इराडीज़ नामक द्वीपपुंजके लिये भी इस वर्ष बोरोंका निर्यात अधिक हुआ। किन्तु जापान और मुहानेकी बस्तियोंसे अपेक्षाकृत कम मांग आयी। फिलिपाइन द्वीप समूहने पाटके कपड़े इस वर्ष कुछ कम मंगाये। फ्रांसने भी कपड़े कम मंगाये। पर बोरोंकी मांग वहां कुछ ज्यादा रही। वर्षके अन्तिम चार पांच महीनोंमें पाटके बने मालकी कीमत भी गिर गयी।

संवत् १९७७ में गेहूंकी फसल कुछ अच्छी देख कर सरकारने १४ आश्विन-को यह प्रकाशित किया कि वर्षके अन्ततक छः महीनेमें चार लाख टन (११२ लाखमन) गेहूं बाहर भेजा जा सकेगा। किन्तु तीन मासके बादही विदेशोंमें गेंहूंकी दर गिर जानेके कारण यहांसे अधिक गेंहूं न जा सका। बाजरा, ज्वार, चना, मक्का इत्यादि खाद्य पदार्थों-को बाहर भेजनेमें तो गत वर्ष ही रुकावटें लगादी गयी थीं। इस वर्ष भी उनकी रफ्तनी नाम मात्रको ही हो सकी।

चायका व्यवसाय भी गत वर्षकी अपेक्षा इस वर्ष मद्दा ही रहा। इसका एक मुख्य कारण तो रूसकी मांगका बन्द हो जाना है और दूसरा ब्रिटेनमें चायका आवश्यकतासे अधिक इकट्ठा हो जाना है। युद्धकालमें सैनिकों इत्यादिके कारण चायकी मांग बहुत थी, किन्तु उस समय उसे विलायत तक पहुंचानेके लिये काफी जहाज न मिलते थे। युद्धके बाद यह कठिनाई दूर हो गयी और चायकी रफ्तनी ज़ोरोंसे प्रारम्भ हो गयी। संवत् १९७७ के आरम्भमें ही ब्रिटेनमें चाय पर्याप्त परिमाणमें इकट्ठी हो गयी। अन्य देशोंसे भी चायकी मांग घटने लगी। यद्यपि गत चार पांच वर्षोंकी अपेक्षा चायकी पैदावार कम ही हुई थी, तो भी मांगकी अपेक्षा वह ज्यादा ही निकली। अतः उसकी कीमतका गिर जाना आवश्यम्भावी था।

सबसे अधिक चाय ग्रेट ब्रिटेनको जाती है। इसके बाद रूसका नम्बर था, युद्धकालमें तथा उसके बाद भी वहां हमारी चाय न जा सकी। अब दूसरा नम्बर कनेडाको प्राप्त है। आस्ट्रेलिया और अमेरिकामें भी भारतीय चायकी अच्छी खपत है। एशियान्तर्गत रूम भी अब यहांकी चाय खूब खरीदने लगा है।

समस्त आगत व्यापार और निर्गत व्यापारके विचारसे भारतका सबसे अधिक विदेशी वाणिज्य ब्रिटेनके साथ होता है। इसके बाद अमेरिका और जापानका नम्बर है। संवत् १९७७ में अमेरिकासे ३५ करोडका माल भारतमें आया अर्थात् गत वर्षकी अपेक्षा दस करोड और युद्धके पूर्व संवत् १९७० की अपेक्षा ३० करोडका माल अधिक आया। अमेरिकासे मोटरोंका आयात बहुत बढ़ गया है [पौष मासके स्वार्थमें प्रकाशित अंक देखिये]। संवत् १९७७ में हमने अमरिकाको ३८ करोडका माल भेजा। गत वर्ष [१९७६ में] ४९ करोड और १९७० में २२ करोड़ भेजा था। जापानसे इस वर्ष (१९७७ में) २६ करोडका माल आया, किन्तु इसके पूर्व १९ करोडका ही आया था। हमने गतवर्ष जापानको ४६ करोडका माल भेजा था; किन्तु इस वर्ष २४ करोडका ही भेजा। इससे स्पष्ट है कि जहां

## स्वार्थ

गत वर्ष जापान ( ४६–१६ अर्थात् ) २७ करोड़के लिये हमारा देनदार था, वहां इस वर्ष हम ( २६–२४ अर्थात् ) २ करोडके लिये जापानके देनदार हो गये। अतः इस वर्ष भारत गत वर्षकी अपेक्षा २७+२ अर्थात् २६ करोडके घाटेमें रहा। जापान बडी शीघ्रतासे अपने उद्योगोंकी उन्नति कर रहा है। संवत् १९६२ में वहांके पुतलीघरोंमें ८१४० करघे चलते थे, संवत् १९६७ में इनकी संख्या दूनी हो गयी, संवत् १९७२ में लग भग चौगुनी और इस वर्ष ( १९७७ में ) छः गुनीसे भी अधिक अर्थात् ५०,५८३ हो गयी है। जापानने हमारे यहांसे जो माल संवत् १९७७में मंगाया है उसका १७/२० अंश रूईका है, शेष ३/२० अंशमें अन्य सब वस्तुओंका समावेश है। यदि हम स्वदेशी वस्त्रोंकी वृद्धि चाहते हैं तो हमें जापान इत्यादि देशोंको अपनी रूई भेजना बन्द करना चाहिये। अस्तु।

# पुस्तकावलोकन ।

## सत्याग्रह और असहयोग

यह पुस्तक बम्बईके गांधी हिन्दी-पुस्तक-भण्डार द्वारा प्रकाशित हिन्दी-गौरव-ग्रन्थमालाका २५ वां ग्रन्थ है। पृष्ठ-संख्या २६३ और मूल्य सादी जिल्दका १॥) तथा पक्की जिल्दका २) है।

इस पुस्तकमें वैज्ञानिक रीतिसे "सत्याग्रह" की मीमांसा की गयी है। सत्याग्रहका वास्तविक स्वरूप क्या है, वह कितने प्रकारका है, कहां उसका प्रयोग होना चाहिये और कहां न होना चाहिये, कहां वह सफल होगा और कहां असफल, सत्याग्रह किसे करना चाहिये और किसके विरुद्ध करना चाहिये, उसे प्रयुक्त करनेके पूर्व किन किन बातोंका पूरा होना आवश्यक है, इत्यादि इन सब बातोंपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। लेखककी वर्णन-शैली बड़ी मनोहर और बड़ी उज्ज्वल प्रतीत होती है। व्यक्तिगत सत्याग्रहमें भीष्म इत्यादिका, सामाजिक सत्याग्रहमें महात्मा बुद्ध इत्यादिका, इसी प्रकार धार्मिक और राष्ट्रीय सत्याग्रहमें अन्य सत्याग्रहियोंका वृत्तान्त देनेके कारण पुस्तककी रोचकता बढ़ गयी है। प्रथम चार अध्याय पढ़ते समय तो ऐसा मालूम होता है मानो कोई उपन्यास पढ़ रहे हों। कई स्थलोंपर भाषाका लालित्य, विचारोंका माधुर्य और शब्दावलीका स्वच्छन्द प्रवाह देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है। हमारे कहनेका यह आशय नहीं कि पुस्तककी भाषा सर्वथा निर्दोष है—हमें तो वह कई स्थानोंपर संशोधनीय प्रतीत होती है—फिर भी वह सबके समझने योग्य और मधुर हुई है, इसमें सन्देह नहीं। एक ही बातको भिन्न भिन्न शब्दोंमें रखनेके कारण कहीं कहीं वह बड़ी ज़ोरदार हो गयी है। देखिये—

"उसे (सत्याग्रहीको) ऐसा बन जाना चाहिये कि मन, इंद्रिय और बुद्धिपर यदि अत्याचार हो—निर्दयतापूर्वक इनका हनन किया जाय—असह्य यंत्रणाकी आगमें यदि ये जलाई जायँ—तब भी आत्मा विचलित न हो, इनपर दया न करे—इनकी सिफारिश न करे—इनका लालच न करे, इन्हें भले ही नष्ट हो जाने दे, पर वह इनके लिये अपनी दृढ़तामें बल न पड़ने दे।"

सत्याग्रहका स्वरूप वर्णन करते हुए पृ० ३ में लेखकने पशुबल और आत्मबलकी तुलना करके यह दिखलाया है कि "अत्याचारका विरोध अत्याचारसे ही करनेमें विजय न होगी। जहां अत्याचार अधिक होगा, वहीं विजय होगी। और यह निश्चय है कि अत्याचार अत्याचारीके ही पास अधिक होगा, इस लिये विजय उसीकी होगी। क्योंकि मुकाबिला अत्याचार अत्याचारका हो रहा है, न्याय अन्यायका नहीं। पर—सत्याग्रह अर्थात् आत्मबल अत्याचारका विजातीय विरोध है। ... सत्याग्रही चाहे जैसा निर्बल हो अवश्य जीतेगा।" जो लोग समझते हैं कि 'सत्याग्रह निर्बलोंका बल है' वे भूल करते हैं। "निर्बल तो क्या साधारण बल वाला भी सत्याग्रह नहीं कर सकता।

यदि मनुष्यमें तनिक भी निर्बलता हुई तो वह शान्तिके समय चाहे जैसा सत्याग्रही रहा हो, पर समयपर दुराग्रही बन ही जायगा। शक्ति होनेपर ही क्षमाका महत्व है।" हमारे देशमें प्रजाकी इच्छाके विरुद्ध रौलट बिलोंके पास होनेके कारण दो वर्ष पूर्व महात्मा गांधीने जिस राष्ट्रीय सत्याग्रहका सूत्रपात करना चाहा था और अभी हालमें ही जिसका प्रयोग पुनः किसी अंशमें किया जा रहा था, उसके विषयमें लेखकका कहना है कि 'इस प्रकारका (राष्ट्रीय) सत्याग्रह आत्मासे अधिक दूर होनेके कारण धीरे धीरे प्रयोग करना चाहिये। कारण कि इसमें निर्बल और अनभ्यस्त प्रजाको साथ लेना है—और जब तक प्रजाको सहन-शक्ति और अक्रोधका पूर्ण अभ्यास न हो तब तक उसके पूर्णांग प्रयोगको रोक रखना या केवल अभ्यासके लिये बारम्बार प्रयोग-संहार करना चाहिये।" यही कारण है कि हमारे देशके धुरन्धर नेताओंने अभी तक यहां पूर्ण सत्याग्रह प्रयुक्त नहीं होने दिया है। गोरखपुरकी घटनाके कारण तो यह अनिश्चित समयके लिये स्थगित हो गया है। सत्याग्रहके संहार (लौटाने या स्थगित करने) का उपयुक्त समय बतलाते हुए लेखक महोदय कहते हैं "जब योद्धा देखे कि ऐसा पेंच आ गया है कि सत्याग्रही योद्धापर दुराग्रहका अभियोग चल सकता है या उसके साथी दुराग्रही हो गये हैं, या सत्याग्रह प्रयोग करते रहनेसे वे दुराग्रही हो जावेंगे तो बीचमें ही उसे इस महास्त्रका अपूर्ण संहार कर लेना चाहिये; फिर व्रत-उपवास द्वारा मनको शान्त बनाकर, सावधान होकर पुनः प्रयोग करना चाहिये। ××जब देखे कि दशा ऐसी है कि प्राण-दानके बिना सत्याग्रहमें बल नहीं आता तो प्रधान महारथीको प्राणदान देना चाहिये।..."

धार्मिक सत्याग्रहका वर्णन करते समय गुरुगोविन्द सिंहके दोनों बच्चों तथा हक़ीक़तराय इत्यादिके सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया है, हमारी सम्मतिमें वह बहुत संक्षिप्त है। उनका उल्लेखमात्र किया गया है। विदेशी सत्याग्रहियोंकी तरह उनका भी यथा सम्भव विस्तृत हाल देना चाहिये था। लाइकरगसका वृत्तान्त ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़ा महत्वपूर्ण है। उसने अपने देशमें जो क़ानून बनाये थे, उन्हें पढ़कर "हिन्दुस्तान रिव्यू" में प्रकाशित डाक्टर गौड़के लेख "डाग्ज़ लाइफ" (कुत्तेका जीवन) का स्मरण हो आता है। पांचवें अध्यायमें देशकी परिस्थितिकी जांच की गयी है और सत्याग्रहकी उपयुक्तता बतायी गयी है।

पुस्तकके दूसरे भागमें असहयोगकी विशद चर्चा की गयी है। प्रधान विषयकी ओर झुकनेके पूर्व लेखकने कई अध्यायोंमें एक प्रकारकी भूमिका सी बांधी है। "अतीत" नामक अध्यायमें यह दिखलाया गया है कि पहिले हम क्या थे। इस अध्यायके लिखनेका अभिप्राय लेखकके शब्दोंमें यह है—"मेरी इच्छा है कि उससे भारतवासी आत्मबोध प्राप्त करें।" इसके पश्चात् 'अंग्रेजोंके साथ भारतके सहयोग' और अंग्रेजी शासन-पद्धतिके दोषोंका जिक्र किया गया है। प्रजाकी दुर्दशा और नृशंस अत्याचारोंका उल्लेख कर "असहयोग" का विषय छेड़ा गया है। पुस्तकमें ऐतिहासिक बातोंका खासा संग्रह हुआ है। उसमें देशकी परिस्थितिपर बड़े महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये गये हैं। हमारी सम्मतिमें पुस्तक सर्वथा पठनीय और उपादेय है।

# सामयिक संग्रह ।

*भारतके उद्योग–धन्धे ।*

सन् १८५६ से भारतके सूती कपड़ोंके उद्योगमें एक नये युगका आरम्भ हुआ। उस वर्ष बम्बईमें सबसे पहली सूतकी मिल खुली। तबसे इन मिलोंमें विलायती ढंगपर, कलोंके करघोंमें भाप या बिजली द्वारा चलनेवाली मशीनोंके जरिये सूत कातने और कपड़े बुननेका उद्योग आरम्भ हुआ और गत ६५ वर्षोंमें इसको बहुत उन्नति हुई। आज कल कपड़ेकी मिलोंकी संख्या प्रायः २६० है और उनमें करीब २१ करोड़ रुपयोंकी भारतीय पूंजी लगी हुई है। कलसे चलने वाले १ लाख १८ हजार करघे काम करते हैं और करीब ६७ लाख तकुओंपर सूत काता जाता है। इन मिलोंमें मजदूरोंकी संख्या प्रायः ३ लाख है। सन् १६२१ की अप्रैलसे सितम्बर तक छः महीनोंमें उनमें करीब १७ करोड़ सेर कपासका सूत काता गया और करीब ६० करोड़ गज कपड़ा बुना गया। अर्थात् भारतकी मिलोंमें आज कल एक महीनेमें प्रायः १५ करोड़ गज और प्रति दिन ५० लाख गज कपड़ा बुना जाता है। परन्तु इतनेपर भी ये मिलें देशमें कपड़ेकी मांगकी पूर्ति करनेमें असमर्थ हैं। भारतको गत वर्ष ( सन् १६२०-२१ में ) ८४ करोड़ रुपयों-का कपड़ा अन्य देशोंसे मंगाना पड़ा, जिसमेंसे ७३ करोड़ रुपयोंका माल केवल इङ्गलैण्डसे आया। हां, जबसे विदेशी कपड़ेके बहिष्कार-का आन्दोलन आरम्भ हुआ है तबसे विदेशी कपड़ेका आयात बहुत कुछ कम हो गया है। सन् १६२१ को अप्रैलसे अक्टूबर तक सात महीनोंमें केवल २५ करोड़ रुपयेका विदेशी कपड़ा बाहरसे आया जब कि १६२० के इन्हीं सात महीनोंमें ५५ करोड़ रुपयोंका माल आया था। अर्थात् विदेशी कपड़ोंका आयात पहलेसे भी कम हो गया है। गत तीन महीनोंमें तो विदेशी कपड़ोंका आयात और भी कम हो गया होगा। इस कमीका एक कारण विनिमयकी दरका गिरना भी हो सकता है, परन्तु प्रधान कारण बहिष्कार आन्दोलन ही है।

......महायुद्धके पहले भारतमें औसतके हिसाबसे प्रति मनुष्यको प्रति वर्ष केवल १७ गज कपड़ा मिलता था। कीमतके बढ़ जानेसे युद्धके समयमें यह औसत और भी कम हो गई थी। युद्धके बाद सन् १६१६-२० में वह केवल ६॥ गज थी और १६२०-२१ में बढ़ कर

१२ गज तक पहुंच गई थी। तिसपर भी, भारतवासियोंको युद्धके पहले जितना कपड़ा मिलता था आज कल उसके दो तिहाई हिस्सेसे कुछ ही अधिक उनको मिल पाता है। इस लेखेसे यह भी मालूम होता है कि मिलम बुने हुए कपड़ेका परिमाण बराबर बढ़ता जाता है और अब वह युद्धके पहलेसे बहुत अधिक है। जुलाहों द्वारा बुना हुआ कपड़ा और विदेशी कपड़ेका आयात जो युद्धके कारण कम हो गये थे अब फिर बढ़ रहे हैं, जुलाहों द्वारा बुने हुए कपड़ेका परिमाण तो युद्धके पहलेसे अब बहुत कम है। विदेशको भेजे जाने वाले कपड़ेका परिमाण अधिक नहीं है। वह कुल कपड़ेके ७ प्रति सैकड़ासे भी कम है। इसलिए, यदि वह बिलकुल बन्द कर दिया जाय तो उससे देशमें कपड़ेकी पूर्ति अधिक नहीं बढ़ेगी। आर्थिक दृष्टिसे बने हुए मालके निर्यात बढ़ानेमें ही देशका लाभ है न कि घटानेमें। इसलिए, हमारी समझमें कपड़ेका विदेश भेजना कम करना उचित न होगा।

देशवासियोंको आज कल कमसे कम उतना कपड़ा मिलना चाहिये जितना कि उनको महायुद्धके पहले मिलता था। स्वदेशी आन्दोलनकी पूर्ण सफलताके लिये यह आवश्यक है कि प्रतिवर्ष देशमें कमसे कम ५०० करोड़ गज कपड़ा बुना जाय। कपड़ेकी मिलें हमारी समझमें २०० करोड़ गजसे अधिक न बना सकेंगी। एक तो ऐसे कपड़ेकी इतनी मांग बढ़नेकी सम्भावना कम है, दूसरे मिलमें बुने हुए कपड़ेकी वृद्धि मिल सम्बन्धी मशीनोंकी वृद्धिपर निभर रहती है यद्यपि इन मशीनोंका आयात बढ़ रहा है और सन् १९२१ की अप्रैलसे अक्टूबर तक सात महीनोंमें ३ करोड़ ६३ लाखकी मशीनें मंगाई गई, तिसपर भी मिलवाले अभी इतनी मशीन न मंगा सकेंगे जिससे मिलके बने कपड़ेका परिमाण २०० करोड़ गजसे अधिक हो सके। इस लिए ३०० करोड़ गज कपड़ा प्रति वर्ष हाथसे करघे द्वारा बुना जाना चाहिए। काम कुछ थोड़ा नहीं है। सन् १९२०-२१ में केवल ९४ करोड़ गज कपड़ा इस तरह बुना गया था। अब हमको तिगुना माल देशी करघों द्वारा हाथसे तैयार करना होगा। इस कार्य-को करनेमें हम जितने सफल होंगे, हमारा स्वदेशी आन्दोलन भी उतना ही सफल होगा। इतना कपड़ा तैयार करनेको पहले एक तो सूतकी कमी पड़ेगी। ५०० करोड़ गज कपड़ेके लिये कमसे कम १२५ करोड़ पौंड सूत प्रतिवर्ष काता जाना चाहिए। इसमेंसे करीब ६५ करोड़ पौंड तो मिलका कता सूत उपयोगमें लाया जा सकेगा, और ६० करोड़ पौंड हाथसे कातना होगा। जब तक इतना सूत

प्रति वर्ष नहीं काता जा सकता तब तक सम्पूर्ण भारतवासियोंकी आवश्यकता देशी कपड़ों द्वारा पूरी नहीं हो सकती। इस लिए चरखेका और भी अधिक प्रचार किया जाना बहुत आवश्यक है।

(प्रभासे)

* *
*

## कृषिमें स्वावलम्बन ।

बाम्बेको-आपरेटिव्ह क्वार्टरलीके सितम्बरवाले अंकमें जो प्रथम लेख प्रकाशित हुआ है, उसमें कृषिविषयक सहयोग-समितियोंको अपनी निजकी पूंजी बढ़ानेके उपाय बताये गये हैं। पहिले ही पैराग्राफमें इसका महत्व दर्शाया गया है। वह लिखता है :—

सहयोग सिद्धान्त आत्मावलम्बन और मितव्ययितापर आश्रित है। अतः यह एक स्वतःसिद्ध बात है कि कृषि सम्बन्धी सहयोग-समितियोंका काम केवल रुपया उधार देना ही न होना चाहिये, प्रत्युत उन्हें अपने सदस्योंमें मितव्ययिताका प्रसार करना भी अपना आवश्यक कर्तव्य समझना चाहिये। उन्हें सदस्योंकी बचत एवं अस्थायी अवशिष्ट आय अपनी ओर आकर्षित करनी चाहिये और इस प्रकार संयुक्त कार्यसे ऐसी पूंजी खड़ी कर लेनी चाहिये जिसके कारण कुछ समयके बाद बाहरी लोगोंसे ऋण लेनेकी आवश्यकता ही न रह जायगी। यही कारण है कि सहयोग सिद्धान्तको माननेवाले मनुष्य 'निजकी सम्पत्ति' बढ़ानेको अधिक महत्व देते हैं। "निजी सम्पत्ति" में सदस्योंके हिस्से उन्होंने जो रुपया जमा किया है वह, तथा स्थायी कोष शामिल है।

[ बाम्बेको-आपरेटिव्ह क्वार्टरली तथा माडर्न रिव्यूसे ]

* *
*

## प्रसवकालके पहिले या बादमें स्त्रियोंसे काम लेना ।

बम्बईके सोशल सर्विस क्वार्टरलीमें प्रकाशित हुआ है कि मद्रासकी समाज-सेवा-समितिने वहांके श्रमविभागके कमिश्नरके पास प्रसवकालके पहिले या बादमें स्त्रियोंसे काम लेनेके सम्बन्धमें एक विज्ञप्ति भेजी है। उसमें कहा गया है :—

समिति दृढ़तापूर्वक अपनी यह सम्मति प्रकट करती है कि

यद्यपि बच्चा होनेके पूर्व या पश्चात् स्त्रियोंसे काम लेनेके सम्बन्धमें यह प्रस्ताव भारतके लिये नयी बात है, तो भी भारत सरकारको चाहिये कि वह इस प्रस्तावित नियमावलीको तुरन्त स्वीकृत कर ले। समितिका विश्वास है कि भारतीय फैक्टरीज़ एक्ट (कारखानोंके कानून) में स्त्रियोंसे ऐसे समय काम लेने या न लेनेके सम्बन्धमें कोई नियम न बनाकर बड़ी ग़लती की गयी है। श्रमजीवियोंके बच्चोंकी मृत्युसंख्याका अधिकतर यही कारण है कि स्त्रियां प्रसूति समय तक काम करती रहती हैं। ऐसी हालतमें समिति आशा करती है कि सरकार बालकोंको असामयिक मृत्युसे बचानेका भरसक प्रयत्न करेगी। इस उद्देश्यकी प्राप्तिमें अनेक कठिनाइयां हैं। फिर भी सरकारके पास साधनोंकी कोई कमी नहीं है और वह उन्हें बहुत कुछ दूर कर सकती है।

[ सोशल सर्विस क्वार्टरली तथा माडर्न रिव्यूसे ]

*　*

*

## बङ्गालमें नये करोंकी आयोजना।

बंगाल सरकारको प्रान्तीय खर्चका सामना करनेके निमित्त नये नये करोंके लगानेकी आयोजना करनी पड़ी है। इस संबंधमें माडर्न रिव्यू लिखता है :—

भारतवासियोंकी तुच्छ आमदनीके विचारसे वर्त्तमान कर ही उन्हें पर्याप्त भारस्वरूप प्रतीत होते हैं। ब्रिटिश आदि अन्य देशवासियोंके साथ भारतवासियोंके कर-भारकी तुलना करनेसे, उसके भारीपनका कोई ज्ञान नहीं हो सकता।...अपनी आमदनीका तीन चतुर्थांश बचा लेनेवाला धनवान् मनुष्य जिस आसानीसे अपनी आयका अर्द्धांश भी कर रूपमें दे सकता है, उस आसानीसे एक ग़रीब मनुष्यजो बड़ी कठिनाईसे अपना उदर पोषण कर रहा है, अपनी आयका सौवां हिस्सा भी नहीं दे सकता। अधिकांश भारतवासियोंकी दशा इस ग़रीब मनुष्यके ही समान है, अतएव स्पष्ट है कि हमारे ऊपर करोंका काफी भार लादा जा चुका है और अब नये कर हमारे देशमें न लगाये जाने चाहियें।

यों तो भारतके सिविल और सैनिक कर्मचारियोंका वेतन पहिले ही ज्यादा था, किन्तु "नूतन सुधारों" के कारण वह और भी ज्यादा हो गया है।

हम यह मानते हैं कि आज कल जीवन निर्वाहका व्यय बढ़ जानेके कारण, छोटे कर्मचारियोंके वेतनमें वृद्धि करना आवश्यक था और अब भी है। किन्तु यह बात हमारी समझमें नहीं आती कि भारत से निर्धन देशमें उच्च कर्मचारियोंका वेतन धन धान्य पूर्ण जापान, इंग्लैण्ड तथा अमेरिकासे भी अधिक क्यों होना चाहिये। यदि कहा जाय कि उक्त पदोंकी प्रतिष्ठा या रोब बनाये रखनेके लिये इतना वेतन देना आवश्यक है, तो यह विडम्बना मात्र है। प्रतिष्ठा बनाये रखनेसे करोड़ों दुखी आत्माएं तो तृप्त न हो सकेंगी, न असंख्य अशिक्षितोंको शिक्षा ही मिल सकेगी, न लाखों मरीज दवा एवं डाक्टरी सहायता पा सकेंगे, न उसके कारण कृषि और कारखानोंकी उन्नति हो जायगी, और न उसकी सहायतासे सूखे खेत ही सींचे जा सकेंगे तथा न देशके अगम्य स्थानोमें पहुंचनेके लिये सड़कें ही बनायी जा सकेंगी। नहीं, हम रोबके लिये स्वेच्छासे एक पैसा भी न देंगे।.........भारतकी अपेक्षा जापानमें जीवन निर्वाहका खर्च ज्यादा है। भारतमें जो वेतन दिया जाता है यदि जापानमें उसकी अपेक्षा कम वेतनमें योग्य और प्रामाणिक कर्मचारी मिल जाते हैं, तो संसारमें ऐसा कोई कारण नहीं कि ग्रेटब्रिटेन और अमेरिकाकी भी अपेक्षा हम अपने यहांके कर्मचारियोंको अधिक वेतन दें। कोई भी मनुष्य, यदि वह मिथ्यावादी नहीं है, इस बातकी जिद्द न करेगा कि लोगोंको अधिक सुशिक्षित, नीरोग तथा श्रीसम्पन्न और राष्ट्रको शक्तिशाली एवं घर और बाहर, दोनों ही स्थानोंमें सम्मानित बनानेके विचारसे जापानी शासक--मण्डलकी अपेक्षा भारतीय शासक-मण्डल अधिक अच्छा है।

नये कर बैठानेके विरोधी होनेपर भी कुछ लोगोंने केवल यह समझकर उक्त प्रस्तावके पक्षमें अपना मत दिया था कि यदि नये टैक्स न लगाये गये तो सरकारका काम रुक जानेकी संभावना है। उसी प्रकार विपक्षमें मत देने वाले कुछ लोगोंकी यह धारणा थी कि उक्त बिलके विरुद्ध मत देनेसे सरकारके काममें अवश्य बाधा पड़ेगी। दोनों ही प्रकारके सदस्य भ्रममें पड़े हुए थे। यदि अधिकांश सदस्य भी बिलके विरुद्ध अपना मत देते तो क्या गवर्नर महाशय अपने विशेष अधिकारसे अधिकांश सदस्योंके इस निर्णयको अस्वीकृत नहीं कर सकते थे? यदि किसी कारणसे वे ऐसा भी न करते, तो भी क्या उनका काम रुक जाता?

कदापि नहीं। आवश्यकता होनेपर सरकारको अपने कामोंके लिये अधिकारि-वर्गकी आश्चर्यमयी चालों द्वारा रुपया मिल ही जाया करता है......यद्यपि राष्ट्र सम्बन्धी कामोंके लिये कोषमें रुपयेकी सदा कमी ही रहती है। अतः यदि बंगालकी व्यवस्थापक सभा उक्त

बिलोंको अस्वीकृत ही कर देती—यद्यपि उसकी वर्तमान सदस्य सूची और संगठन-विधिसे यह बात असंभव प्रतीत होती है—तो भी अधिकारियोंकी जरूरतके लिये रुपया मिल ही सकता था और मिल भी जाता। अतः जिन्होंने शासन कार्यके रुक जानेके भयसे कर बैठानेके पक्षमें अपनी राय दी थी, वे बेचारे बेतरह ठगे गये। उसी प्रकार विरोध करने वालोंमेंसे जिनका यह ख्याल है कि साम्राज्य सरकार तथा प्रान्तीय सरकारकी गतिका वर्तमान संगठनके रहते हुए भी अवरोध किया जा सकता था, वे भी भूल रहे थे।

[ मार्डन रिव्यूसे ]

* *
*

क्या भारतकी निर्धनता बढ़ रही है ?

यहांपर "निर्धनता" से हमारा आशय देश वासियोंके पास आवश्यकीय पदार्थों तथा आरामकी कुछ वस्तुओंके आपेक्षिक अभावसे है। किसी जातिकी औसत वार्षिक आमदनी निकालनेका साधारण तरीका यह है कि उसको कृषि, कारखानों, तथा व्यापार इत्यादिसे जो आमदनी होती है, उसे जोड़ कर जनसंख्या द्वारा विभक्त कर दिया जाय। लार्ड कर्जनके समय जो हिसाब लगाया गया था उससे मालूम होता है कि उस समय भारतकी औसत आय प्रति मनुष्य ३०) वार्षिक थी। कुछ भारतीय लेखकोंकी रायमें हमारे देश वासियोंकी औसत आय इससे भी कम थी*। अस्तु।

अब हमें यह देखना चाहिये कि भारतमें ज़मीनसे और परिश्रमसे जो पैदावार होती है, वह हमारी आवश्यकताओंके लिये काफी है या नहीं। साथ ही हमें यह भी देखना है कि इस प्रकार देशको जो आमदनी होती है वह भिन्न भिन्न वर्गके लोगोंमें उपयुक्त रीतिसे वितरित हो जाती है या नहीं—ऐसा तो नहीं होता कि इधर तो कुछ लोगोंके पास सम्पत्तिका भण्डार इकट्ठा हो रहा हो और उधर गरीबोंकी गरीबी और भी बढ़ रही हो।

खाद्य पदार्थोंका जो विवरण प्रकाशित होता है वह विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। संवत् १९६९ में श्री रमेशचन्द्र दत्तने यह

* श्री दादाभाईके कथनानुसार २० रुपये और श्री डिगवीके अनुसार १५ रुपये है—सं० स्वा०।

नतीजा निकाला था कि भारतकी जनसंख्या यहांकी पैदावारकी अपेक्षा अधिक बढ़ गयी है, किन्तु सरकारने दूसरा ही हिसाब लगाकर ठीक इसके विरुद्ध निश्चय किया। "भारतमें खाद्य पदार्थोंका प्रश्न" नामक लेखमें श्री दयाशंकर दुबेने लिखा है कि भारतके ५ फी सदी मनुष्योंको अच्छा भोजन मिलता है। सब जातिके बालकोंको छोड़ कर जिन्हें प्रायः अपेक्षाकृत काफी भोजन मिलता है, ६४ फी सदी मनुष्योंको अपर्याप्त अन्नसे ही अपना निर्वाह करना पड़ता है। काम करनेकी योग्यता बनाये रखनेके लिये कमसे कम जितनी खुराककी आवश्यकता है, उसका ७३ फी सदी भाग ही उन्हें मिल पाता है। ...सच बात तो यह है कि मैलथस साहबका यह सिद्धान्त कि खाद्य-पदार्थोंकी अपेक्षा जन-संख्या प्रायः अधिक तेजीसे बढ़ती है, यदि सत्य है तो खासकर भारतके समान कृषि-प्रधान देशमें ही, जहांकी सामाजिक व्यवस्थाके अनुसार प्रत्येक युवक या युवतीका विवाह आवश्यक समझा जाता है। यहांकी मृत्यु-संख्या ज्यादा है, पर जन्म-संख्या भी कम नहीं है। दुष्काल, संक्रामक रोगों, युद्ध तथा दंगा-फसादोंके होते हुए भी यहांकी जनसंख्याकी प्रवृत्ति वृद्धिकी ओर ही है।......यद्यपि मनुष्योंकी संख्या बढ़ रही है तो भी दूध देने वाले पशुओं—गाय भैंस इत्यादि—की संख्या घट रही है।

इसी प्रकार वस्त्रों तथा अन्य उद्योगोंकी पैदावार, नौकरियों, जमीनकी लगान, आयात-निर्यात इत्यादिका हिसाब लगाकर लेखकने यह निष्कर्ष निकाला है :—

किसी किसी वर्गके लोगोंकी निर्धनता कम हो रही है, किन्तु अधिकांश लोगोंकी निर्धनता कुछ बातोंमें बढ़ रही है और कुछमें घट भी रही है। फिर भी सब बातोंके विचारसे गरीब किसानों तथा खेतिहरों की निर्धनता किसी प्रकार घट नहीं रही है।

[ मैसूर एकानामिक जर्नलसे ]

# सम्पादकीय ।

## रेलवेकी हड़ताल ।

अभी हालमें ही ईस्ट इंडियन रेलवेमें जो हड़ताल आरंभ हुई है उसका विस्तार और वेग बढ़ता ही जा रहा है । इसका विशेष विवरण समाचार पत्रोंमें प्रकाशित होता ही है, अतः यहांपर उसे दुहरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है । सरसरी दृष्टिसे देखने पर इतनी व्यापक हड़तालको उत्पन्न करनेके निमित्त टुंडला स्टेशनकी छोटीसी घटना पर्याप्त कारण प्रतीत नहीं होती । २० माघ ( २ फरवरी ) को सबेरेके वक्त आगरेके पास टुंडला स्टेशनपर रामलाल ( या नंदलाल ? ) नामक फायरमैनके एक यूरोपियन शंटर द्वारा पीटे जानेसे ही इसका सूत्रपात हुआ—एक छोटीसी चिनकारीके प्रकट होते ही सारी लाइनपर असन्तोषाग्नि भभक उठी । इतना ही नहीं, देखते देखते इसका विस्तार यहां तक बढ़ गया कि अन्य रेल वालोंको भी इसके कारण बड़ी आशंका उत्पन्न हो गयी । अवध रुहेलखण्ड रेलवे तथा बंगाल-नार्थ-वेस्टर्न रेलवेकी लाइनों तक इसकी लपटें जा पहुँची हैं । यात्रियों तथा मालके गमनागमनमें बड़ी बाधाएँ पड़ रही हैं, व्यापार रुका हुआ है और कोयले इत्यादिकी कमीके कारण, संभव है, शीघ्र ही जूट तथा अन्य कारखानेभी कुछ समयके लिये बन्द हो जायँ । रेलवेके समान लोकोपयोगी संस्थाओं या कम्पनियोंमें ऐसी व्यापक हड़ताल हो जानेसे लोगोंको कितना कष्ट होता है और देशकी कितनी हानि होती है, यह किसीसे छिपा नहीं है । फिरभी यदि हड़ताल करनेवालोंकी शिकायत वास्तविक और न्याय्य हो तो जनता भी उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करने लगती है और वह कुछ समयके लिये तदुत्पन्न कष्टोंकोभी सहनेके लिये तैयार हो जाती है । किन्तु इसकी भी सीमा होती है । यदि इस प्रकारकी हड़ताल अधिक दिनों तक जारी रहे और यदि हड़तालियोंकी उद्देश्य-प्राप्तिके कोई लक्षण नज़र न आवें तो ऐसी हालतमें जनता उकता उठती है और इस समय उसकी सहानुभूतिभी कम होने लगती है । उधर ज्यों ज्यों ज्यादा समय बीतता है त्यों त्यों समस्या भी अधिकाधिक जटिल होती जाती है । रेलकी वर्त्तमान हड़तालमें भी कुछ कुछ ऐसेही चिह्न नज़र आ रहे हैं ।

इस प्रकारकी हड़तालका प्रारंभ करना चाहे उतना कठिन न हो, पर उसे सफलतापूर्वक निवाहना बड़ा दुष्कर कार्य होता है । लोगोंमें पूर्ण संगठन और दृढ़ ऐक्यकी आवश्यकता होती है । यदि कहीं हड़ताल हो, कहीं न हो अथवा हड़ताल होनेके बाद शीघ्र ही एक एक दो दो स्थानोंके कर्मचारी क्रमशः कामपर आने लगें तो प्रायः हड़तालियोंका उद्देश्य विफल हो जाता है । हम देखते हैं कि दो एक स्थानोंसे ऐसे ही समाचार आ रहे हैं । साथ ही अभी हालमें हमने यह भी पढ़ा है कि कहीं कहीं कम्पनीने नये मनुष्योंको भरती करना प्रारंभ कर दिया है । ऐसी हालतमें हड़तालियोंका पक्ष अवश्य निर्बल हो रहा है ।

## सम्पादकीय ।

टुंडला स्टेशनकी घटनाको हम हड़ताल करनेका पर्याप्त कारण न भी कहें, तो भी इतना तो स्पष्ट है कि हड़तालियोंमें असन्तोषकी सामग्री पहिलेसे ही मौजूद थी । हम उन लोगोंसे सहमत नहीं हैं जो इस हड़तालका सम्पर्क वर्त्तमान राजनीतिक आन्दोलनके साथ जोड़ते हैं । कुछ लोगोंकी यह आदतसी पड़ गयी है कि देशमें जहां कहीं थोड़ासा उपद्रव हुआ या किसी प्रकारकी हड़ताल या अन्य कोई ऐसी घटना हुई कि तुरन्त वे लोग उसका दोष वर्त्तमान राजनीतिक आन्दोलकोंके सिर मढ़ दिया करते हैं। ऐसे समय घटना स्थल पर दो चार स्वयं सेवकोंका पहुंच जाना स्वाभाविक ही है । उन्हें देखकर ही सारी काररवाईका दोष उनपर डाल देना बुद्धिमत्ता नहीं है, अस्तु ।

हमारे ख्यालमें इस हड़तालका संबंध वर्त्तमान समयकी आर्थिक कठिनाइयोंसे ही है । साथही इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि रेलवे कम्पनियोंमें हिन्दुस्थानियों और गैर-हिन्दुस्थानियों, श्वेत तथा अश्वेत कर्मचारियोंका भेद-भाव बहुत दिनोंसे चला आ रहा है । यह पहिला ही अवसर नहीं है जब कि किसी यूरोपियन या एंग्लो इण्डियनने किसी हिन्दुस्थानीपर आक्रमण किया हो या उसके साथ किसी प्रकारका दुर्व्यवहार किया हो। रेलवे कम्पनियोंमें ऐसा प्राय: हुआ ही करता है । यदि कोई शिकायत भी की जाती है तो क्वचित् ही उसकी सुनवाई होती है । ऐसी हालतमें असन्तोषकी जो सामग्री बहुत दिनोंसे संचित सी हो रही थी, उसका सहसा इतने वेगसे प्रज्वलित हो उठना आश्चर्य जनक भले ही हो, पर न तो वह असंभव ही है और न अस्वाभाविक । हम आशा करते हैं कि रेलवे कम्पनी इस हड़ताल का सूत्रपात करानेवाले कारणकी जांच **निरपेक्ष** तथा ऐसे व्यक्तियों द्वारा भी करावेगी जिनमें हड़तालियोंको पूरा विश्वास हो और यदि उक्त यूरोपियन इस दुर्व्यवहारका दोषी ठहराया जाय तो उसे उचित दण्ड देनेका प्रबन्ध करेगी । हमारे ख्यालसे कर्मचारियोंकी संस्था या संघका अस्तित्व स्वीकार कर लेनेमें भी रेलवे कम्पनीको कोई आपत्ति न होनी चाहिये । इसके अतिरिक्त यह भी उसका कर्त्तव्य है कि वह हड़ताल को इतना वृहत् स्वरूप देनेवाले कारणों, हड़तालियोंके दु:खों, को समझने तथा उन्हें दूर करनेकी समुचित चेष्टा करे । हड़तालियोंको भी शिकायतका कारणदूर होनेका आश्वासन मिलते ही कामपर आ जाना चाहिये और इस प्रकारकी हड़ताल बहुत सोच समझकर यथासंभव अन्य उपायोंके निष्फल सिद्ध होनेके बाद ही करनी चाहिये, अन्यथा कार्य-सिद्धिकी सम्भावना जाती रहती है और व्यर्थ ही जनताको तथा स्वयं उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं ।

* * *

### भारत मंत्रीपर आक्षेप ।

अभी हालमें ही इंग्लैण्डकी कामन्स सभामें कुछ लोगोंमें भारत मंत्री श्री माण्टेगूके कार्योंकी बड़ी तीव्र आलोचना की थी । श्री जाइनसन हिक्सने उनकी कार्य-

प्रणालीको निन्दनीय ठहरानेके निमित्त सभाके सम्मुख एक प्रस्ताव भी उपस्थित किया था, किन्तु वह बहुमतसे रद्द हो गया और ज्यों त्यों करके भारत मंत्रीकी लाज रह गयी।

भारतमंत्री श्री माण्टेगूने भारतके हित-साधनका जो कुछ प्रयत्न किया है, यद्यपि वह किसी भी प्रकार सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता, तो भी हमारे ख्यालमें उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं की जिससे साम्राज्यका या भारतका इतना अधिक अनिष्ट हुआ हो कि वे अपने पदपर स्थित रहनेके योग्य ही न समझे जांय। हमारा विश्वास है कि भारतके लिये वे जो कुछ कर सकते थे वह उन्होंने नहीं किया। फिर भी इसके लिये हम सारा दोष उन्हींके मत्थे नहीं मढ़ना चाहते। वे जिस शासन-प्रणालीके अन्तर्गत काम करते हैं, उसमें रहकर कदाचित् कोई भी मनुष्य समुचित रीतिसे भारतका हित-साधन नहीं कर सकता। यद्यपि भारतमंत्रीका सम्बन्ध प्रधानतः भारतके ही हिताहितके साथ रहता है, तो भी वह अपने कार्योंके लिये भारतवासियों नहीं, प्रत्युत इंग्लैण्ड वासियोंके प्रति ही उत्तरदायी है। उसकी नीति इंग्लैण्डकी लोक सभाकी इच्छाओं और समस्त ब्रिटिश साम्राज्यके हितकी अनुगामिनी रहती है। ऐसी हालतमें यदि भारतवासियोंको उक्त नीतिसे सन्तोष न हो तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु जब हम इंग्लैण्डकी लोक सभाके ही प्रतिनिधियोंको भारत-मंत्रीकी निन्दा करते देखते हैं तो हमें आश्चर्य होता है।

श्रीमाण्टेगूकी वर्त्तमान नीतिके प्रधान निन्दक श्रीजाइनसन हिक्स हैं। आपके विचार कितने ऊंचे हैं और भारतीय परिस्थितिकी आपको कितनी जानकारी है, यह आपके सुललित भाषणसे स्पष्ट मालूम हो जाता है। आप कहते हैं कि श्रीमाण्टेगू भारतके गरमदलवालोंमें विख्यात हैं। शायद हिक्स महाशयको यह ज्ञान किसी विचित्र राजनीतिक स्वप्नसे प्राप्त हुआ हो, क्योंकि प्रत्यक्ष बात तो ठीक इससे विपरीत है। "नूतन सुधारों" को निःसार और मायामय समझने वाले "गरम" दलके लोगोंमें श्रीमण्टेगूको विख्यात और लोक-प्रिय बतलाना यह साबित करता है कि हिक्स महाशयने अर्द्ध जागृत अवस्थामें भी कभी भारत संबंधी समाचारोंपर दृष्टि-पात नहीं किया। अथवा यह भी संभव है कि वे यहांके "नरम" दलवालोंको भी "गरम" दलवाले समझते हों, क्योंकि सरकारकी वर्त्तमान अंधाधुंध दमननीतिके विरोधमें उन लोगोंने भी अपनी आवाज़ उठायी थी।

श्री हिक्सकी रायमें भारतमंत्रीने "प्रत्येक श्वेत मनुष्य और श्वेत स्त्रीको धोखा देनेका अपराध किया है" इस सुन्दर वाक्यका आशय हमारी समझमें नहीं आता। हिक्स महाशय कहते हैं कि "गत दो वर्षोंमें भारतमें कमसे कम बीस हजार मनुष्य मारे गये।" यह कैसे? क्या "गरम" दलवालोंने उन्हें मार डाला? भगवान् जाने। श्री हिक्स महाशयने यह भी कहा कि "भारतमें सर्वत्र यूरोपियनोंपर आक्रमण हो रहा है।" क्या जिस भारतका दृश्य आप देख रहे हैं वह कोई दूसरा ही भारत है और जिसमें हम निवास करते हैं उससे भिन्न है?

प्रस्तावके पक्षमें जिन जिन लोगोंने भाषण किया उनके कथनका सार यही है

## सम्पादकीय ।

कि भारतकी वर्त्तमान परिस्तिथिके कारण श्री मागटेगू ही हैं और वे भारतमें शान्ति और कानूनको सुरक्षित रखनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। हम इन महानुभावोंके विषयमें और कुछ न कहकर अब स्वयं श्री माण्टेगूके वक्तव्यकी ओर झुकते हैं।

श्री माण्टेगूने अपने भाषणमें भारतीय असन्तोषके सात आठ कारण बतलाये। आपने यह स्वीकार किया है कि भारतीय जनतापर 'अत्यधिक कर लगाया जा चुका है'। फिर भी हम देखते हैं कि करोंकी संख्या तथा मात्रामें वृद्धि होती ही जा रही है। भारतकी निर्धनताका उल्लेख कर श्री माण्टेगूने कहा है कि इस परिस्थितिका सामना करनेका 'एक मात्र उपाय यह है कि भारतके उद्योगों और कृषिकी उन्नति की जाय'। क्या हम आशा कर सकते हैं कि भारतमंत्री वास्तवमें भारतीय उद्योगोंकी उन्नतिका प्रयत्न करेंगे ?

हमें यह जानकर संतोष होता है कि भारतमंत्रीने रूमके साथ संधिकी अन्तिम शर्तें तय करनेमें भारतीयोंका अधिकार भी माना है, 'क्योंकि रूमकी पराजय भारतीयोंकी सहायतासे ही हुई थी।' किन्तु केवल इतना स्वीकार करलेनेसे ही भारतीय असन्तोषका कारण दूर नहीं हो सकता। श्री माण्टेगूको इस बातपर ज्यादा ज़ोर देना चाहिये था।

पंजाबकी घटनाका उल्लेखकर आपने कनाटके ड्यूककी तरह उसे भुला डालने' की राय दी और कहा कि इसे शान्त करनेका सबसे अच्छा उपाय यह है कि इसकी चर्चा ही न की जाय। ऐसी राय हमारे राष्ट्रीय अपमानको शान्त करनेमें, कहां तक समर्थ हुई है, यह बात कदाचित् भारत मंत्रीको अविदित नहीं है। फिर भी न जाने क्यों बार बार उसीपर जोर दिया जाता है। भविष्यमें ऐसी घटना न होगी, न तो कोई इसका दृढ़ विश्वास ही दिलाता है और न उसकी संभावना विनष्ट करनेका ही अभी तक कोई उपाय किया गया है। अस्तु।

भारतीय अशान्तिका एक कारण आपने यह भी बतलाया कि "भारतवासी उपनिवेशोंमें अपनी स्थितिकी कठिनाइयां देखकर बड़े दुःखी हैं।" आपने इस प्रश्नके शीघ्र और सन्तोष जनक रीतिसे सुरझाये जानेका आश्वासन दिया। श्री चर्चिल महोदयने हालमें ही अपने भाषणमें केनिया निवासी भारतीयोंके सम्बन्धमें जो बातें कही हैं उनका स्मरणकर हमें भारतमंत्रीके इस कथन और उनके प्रयत्नोंकी सफलतापर विश्वास नहीं होता। हालमें बड़ी व्यवस्थापक सभाके आग्रहसे भारतके वाइसराय लार्ड रेडिंग महोदयने भी श्री चर्चिलके उक्त भाषणका विरोध-सूचक तार भारतमंत्रीके पास भेजा है। सभाके जिस प्रस्तावकी सूचना साम्राज्य सरकारके पास भेजी गयी है उसमें इस बातपर ज़ोर दिया गया है कि केनिया ही नहीं, आफ्रिकामात्रमें भारतवासियोंको समान नागरिकताके अधिकार मिलने चाहियें। देखें, इस सम्बन्धमें आगे क्या काररवाई होती है।

हमको सबसे अधिक आश्चर्य भारतमंत्रीके इस वाक्यपर होता है—""यदि भारतवासी यह समझकर हमसे कुछ मांगते हों कि हम भारतवर्षको छोड़ देना चाहते हैं तो उनका यह विश्वास ग़लत है। यदि वे हमें चुनौती देना चाहें तो इस कार्यमें उन्हें

सफलता प्राप्त न होगी, क्योंकि अंग्रेज जाति सबसे अधिक दृढ़ संकल्प जाति है। वह भी उक्त चुनौतीका उत्तर अपनी सारी शक्ति और दृढ़ताके साथ देगी।" श्रीमाण्टेगूने यदि हमारे देशके नेताओंके विचारों अथवा वर्त्तमान आन्दोलनके मूल सिद्धान्तोंको समझनेकी ज़रा भी कोशिश की होती तो उन्हें मालूम हो जाता कि भारतके "आन्दोलकों" का भी अंग्रेज जातिसे कोई बैर नहीं है और न वे भारतसे अंग्रेज़ोंको हटाना ही चाहते हैं। उनका एकमात्र उद्देश देशमें प्रचलित वर्त्तमान शासन-प्रणालीमें उपयुक्त सुधार एवं परिवर्त्तन करनेका है। वे चाहते हैं कि हमारे शासक सर्व प्रथम हमारे ही हितका ध्यान रखें एवं यदि वे ऐसा न करें तो हमें उनसे कैफियत तलब करने तथा उन्हें पद-च्युत करनेका भी अधिकार हो। प्रचलित शासन प्रणालीसे राष्ट्रीय दल वालोंका चाहे जितना असंतोष हो, उन्हें अंग्रेज जातिसे कोई विद्वेष नहीं। इस बातकी घोषणा वे लोग कई बार कर चुके हैं। किसी प्रकारकी धमकीसे डरकर नहीं, प्रत्युत अपने सिद्धान्त और आदर्शको मानकर ही उन्होंने ऐसा किया है। यह तो हुई गरम दलवालोंकी बात, अब रह गये 'नरम' दल वाले, सो वे बिचारे अंग्रेजोंके हटजाने की दुवा कब मांगनेवाले हैं? ऐसी हालतमें श्रीमाण्टेगूकी उक्त गीदड़-भबकी निष्प्रयोजन और निःसार है। अंग्रेज लोग कितने दृढ़-संकल्प होते हैं, यह तो आयरलैंण्डके इतिहास से ही स्पष्ट है और उनकी "शक्ति" का भी हम लोगोंको काफी परिचय है, अतः हमारा ख्याल है कि उक्त जोशीले शब्दोंका उच्चारण कर श्री माण्टेगूने व्यर्थ ही अपनी जिह्वाको कष्ट प्रदान किया।

हमें भारतमंत्रीके एक और वाक्यके सम्बन्धमें कुछ कहना है। आपने कहा कि "यदि भारतवासी अपनी सदिच्छाओंका विश्वास हमें दिलादेंगे तो ब्रिटिश पार्लमेंट उन्हें किसी भी अधिकारके देनेमें आपत्ति न करेगी।" इसी आशयके दो तीन वाक्य आपने कहे हैं। आपकी रायमें जब तक भारतीयोंका कारनाईस ब्रिटिश पार्लमेण्ट सन्तुष्ट न होगी तब तक उसे इससे अधिक स्वराज्य नहीं दिया जा सकता जितना कि हालमें दिया जा चुका है। क्या इसका यह आशय है कि भारतवासी अपना सारा आंदोलन बन्द कर केवल ब्रिटिश पार्लमेंटका भरोसा कर उसकी भूरि भूरि प्रशंसा किया करें और स्वराज्य के लिये विनय-अनुनय करना प्रारंभ कर दें? क्या देशकी वर्त्तमान जागृतिमें यह बात संभव है? यद्यपि हम यह जानते हैं कि हमारी वर्त्तमान स्थितिमें किसी अंशतक यह कहना भी सत्य है कि जब तक हमारे प्रभुओंका अनुग्रह न होगा तब तक हमें कोई अधिकार प्राप्त ही नहीं हो सकते, तो भी बीसवीं शताब्दीमें रहनेके कारण उक्त शब्दोंको सुन कर हमें आन्तरिक वेदना होती है। हमारा जातीय अभिमान हमारे समूचे मनोराज्य में प्रबल खलबली पैदा कर देता है। ब्रिटिश पार्लमेन्टका हमें स्वराज्य देनेका दावा करना एवं अपने अधिकारोंकी प्राप्तिके लिये उसे खुश रखनेकी शिक्षा हमें देना हमारे राष्ट्रीय अभिमानकी अवहेलना करना है। किन्तु ऐसे शब्दोंसे हमारे जातीय अभिमान पर कितना आघात पहुंचता है अथवा हममें कोई जातीय अभिमान भी शेष रह गया है या नहीं, अधिकारि-वर्गको इसकी चिन्ता ही क्या? इस सम्बन्धमें पंजाबके सुप्रसिद्ध दैनिक

पत्र "ट्रिब्यून" की सम्मति उद्धृत करना अनुचित न होगा। वह कहता है कि "यदि ब्रिटिश राजपुरुषोंका सचमुच यह विश्वास है कि इस प्रकारकी नीतिकी घोषणासे भारतमें शान्तिपूर्ण परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी अथवा उसके कारण इन दोनों देशोंमें पारस्परिक समझ तथा सद्वृत्तिकी वृद्धि हो सकेगी, तो हम कहेंगे कि न तो उन्हें मानवी प्रकृतिका वास्तविक ज्ञान है और न इतिहासके अध्ययनसे ही उन्होंने कोई लाभ उठाया है, अतः हम उन्हें इन बातोंके निमित्त बधाई देनेमें असमर्थ हैं।"

* *

*

## वाशिंगटन सम्मेलन ।

लग भग तीन मासकी बैठकके पश्चात् गत २४ माघ (६ फरवरी) को वाशिंगटन सम्मेलन समाप्त हो गया। प्रशान्त महासागरके प्रश्नों तथा रण सामग्री घटाने की समस्याका निपटारा करनेके निमित्त इसका आयोजना की गयी थी। इस कार्यमें वह किसी अंश तक कृतकार्य भी हुआ है। सम्मेलनका सबसे अधिक महत्वपूर्ण निश्चय हमारी समझमें चार राष्ट्रोंकी संधि ही है। इसकी चर्चा हम गत मासके "स्वार्थ" में कर चुके हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आंग्ल-जापानी संधिके दुहराये जानेमें जो बाधाएं उपस्थित हो गयी थीं और जापान तथा अमेरिकाके पारस्परिक मनोमालिन्यके जो लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे थे, उनके कारण बडी शंकापूर्ण परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी। ऐसे समय आंग्ल-जापानी संधिके स्थानमें चार राष्ट्रोंकी संधिका स्थापित होना बड़ा उपयोगी और महत्व पूर्ण कार्य समझना चाहिये।

सम्मेलनका दूसरा प्रधान निर्णय नौ-सेनाके सम्बन्धका है। ब्रिटन और जापानकी संधिसे भयभीत हो कर अमेरिका शीघ्रतापूर्वक अपनी जल सेना बढानेमें व्यग्र हो रहा था। यद्यपि यूरोपीय महायुद्धको समाप्त हुए बहुत समय बीत चुका है तो भी इस वर्षके लिये ४१ करोड़ डालरका व्यय (१ डालर=लग भग ३ रु० २ आ०) अमेरिकन जल सेनाके निमित्त स्वीकृत हुआ था एवं वहांकी सिनेट सभाने अगले वर्ष इसे बढ़ाकर ५० करोड डालर करनेका प्रस्ताव किया था। सौभाग्यसे देशकी प्रातिनिधिक सभाने इसे स्वीकार नहीं किया। इधर अमेरिकाकी प्रवृत्ति देखकर इंग्लैण्डके भी कान खडे हो रहे थे। वहांकी जनता कर-भारके मारे दबी जा रही थी, फिर भी इंग्लैण्ड अपनी नौ-सेना-वृद्धिके लिये सचिन्त हो रहा था, क्योंकि उसे भय था कि समुद्रोंपर मेरा आधिपत्य कहीं कम न हो जाय। इस समय वाशिंगटन सम्मेलनने इस प्रश्नका भी न्यूनाधिक निपटारा कर नौ-सेना विषयक इन देशोंकी अंधाधुंध दौड रोक दी यद्यपि सम्मेलनमें बड़े बड़े लडाऊ जहाजोंकी ही संख्या तथा परिमाण निश्चित किया गया है, गोताखोरों, वायुयानों इत्यादिके बनानेमें कोई रुकावट नहीं डाली गयी है, तो भी पदार्थोंकी मंहगी, तथा अपार

सैनिक व्ययसे तबाह होने वाले देशोंके लिये इतना सहारा भी बहुत है। सम्मेलनमें निश्चय हुआ है कि अमेरिका, ब्रिटेन तथा जापानके जहाजोंका अनुपात ५: ५: ३ होगा। अब कोई देश ३५ हजार टन ( १ टन=२८ मन ) से अधिक लादने वाला जहाज न बना सकेगा, और न उनपर १६ इंचसे ज्यादा व्यासवाली तोपें ही रखी जा सकेंगी। ब्रिटेन और अमेरिकाकी नौ सेना तो बराबर ही रहेगी। उससे कम जापान की और इसके बाद फ्रांस तथा इटलीका नम्बर रहेगा। यह सब होते हुए भी भविष्यमें रण-सामग्री बढानेकी चढा-ऊपरी किस हद तक बन्द हो सकेगी, यह नहीं कहा जा सकता। जो देश अभी तक करोड़ों रुपयेके लडाऊ जहाज बनवानेमें लगे हुए थे, वे यदि चाहें तो अब भी युद्धके अन्य साधनोंकी वृद्धिमें अपना रुपया बर्बाद कर सकते हैं और जब तक इन लोगोंमें एक दूसरेके प्रति विश्वास न उत्पन्न हो जायगा एवं जब तक इनकी स्वार्थ-प्रवृत्ति तथा साम्राज्य-विस्तारकी कांक्षा मर्यादित न होगी तब तक ऐसा न होना अनिवार्य है। आकाश सेना और स्थल सेनाकी बात तो अलग रही, जल-सेनाकी भी सीमा सन्तोषजनक रीतिसे निर्धारित नहीं की जा सकी है। जलाभ्यन्तरवाही नौकाओं ( गोताखोरों ) की कोई मर्यादा नहीं बांधी गयी। फिरभी जो कुछ हुआ वही वर्तमान स्थितिको देखते हुए कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है।

सम्मेलनका तीसरा निर्णय चीन विषयक है। वाशिंगटन सम्मेलनमें कमसे कम नौ राष्ट्रोंने चीनकी अखण्ड सत्ताका अस्तित्व स्वीकार कर लिया है। जापानने चीनको कुछ शर्तोंपर शान्तुंग लौटाना स्वीकार किया है और इंग्लैंड भी वई-हाई-वई बन्दर लौटाने-को राज़ी है। इसके अतिरिक्त अब डाक तथा पुलिस विभागमें चीनको अधिक स्वतंत्रता होगी, उनमें प्राय: हस्तक्षेप न किया जायगा। किन्तु संसारके व्यवसायके लिये चीनका दरवाजा बराबर खुला रहेगा अर्थात् जापानके अतिरिक्त इंग्लैण्ड, अमेरिका इत्यादि अन्य राष्ट्रोंको भी चीनकी आर्थिक लूटमें भाग लेनेका मौका बेरोकटोक मिलता रहेगा। मंचूरियामें जापानका प्रभाव कम करानेका कोई उपाय सम्मेलनने नहीं किया। जापान, इंग्लैण्ड फ्रांस इत्यादि अब भी अपने विशेष हितपर दृष्टि रख सकेंगे। राजनीतिक भाषामें इसका क्या आशय होता है, कदाचित् इसे स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है।

ओ३म् वन्देमातरम्

# स्वार्थ

वर्ष २ खण्ड २ } चैत्र १९७८ { अङ्क १ पूर्णाङ्क २४

## कागज़ी मुद्रा अर्थात् नोट ।

पने देशके इतिहासपर दृष्टिपात करनेसे पता चलता है कि एक बार मुहम्मद तुग़लक़ने चमड़ेका सिक्का चलाना चाहा था । इसपर लोगोंने उसे पागल समझ कर उसका अनादर किया । हमारा तात्पर्य इस समय मुहम्मद तुग़लकके राज्यपर विचार करनेका नहीं है । हमें केवल इतना विचार करना है कि उसने ऐसा उद्योग क्यों किया, और उसे इसमें सफलता क्यों नहीं हुई ।

अर्थशास्त्रपर दृष्टिपात करनेसे पता चलता है कि प्राचीन कालमें नानाप्रकारके पदार्थ विनिमयके साधन माने गये थे, पर धीरे २ उनका उपयोग छोड़ दिया गया और केवल सोना चांदी आदि खनिज पदार्थ ही साधन मान लिये गये । ऐसा क्यों किया गया, इसके कई कारण हैं, पर सबसे मुख्य बातें ये हैं—उनका स्वयं मूल्य अधिक होता है, वे शीघ्र नष्ट नहीं होते और लोग उनको चावकी दृष्टिसे देखते हैं । इनको एक स्थानसे दूसरे स्थान तक ले जानेमें सुगमता होती है । यदि १) का लोहा १० सेर बिकता हो तो १) के बजाय हम दस सेर लोहा ही अपने पास रख सकते हैं । पर सभी जानते हैं कि किसी वस्तुके बदले वह एक रुपया जितनी सुगमतासे देसकता है उतनी सुगमतासे १० सेर लोहा नहीं दे सकता । फिर एक रुपयेको किसी स्थान तक ले जाना सुगम है पर १० सेर लोहा लेजाना सुगम नहीं । अतः यह सिद्ध हुआ कि रुपयेसे विनिमयमें सुगमता होती है और एक स्थानसे दूसरे स्थान तक लाने या भेजनेमें भी इसमें सुगमता है । पर कुछ ऐसे पदार्थ हैं जिन्हें लाने लेजानेमें इससे भी अधिक सुगमता हो सकती है । कागजके सिक्कोंको

ले जाने और भेजनेमें रुपयोंसे अधिक सुगमता है। पर सोना चांदीके सिक्कोंकी नाईं वे स्वतः मूल्यवान् नहीं होते। इस लिये उनको चलानेके लिये किसी अधिकारी अथवा साख (Credit) की आवश्यकता होती है।

जनताके सुभीते और मूल्यवान् धातुओंके प्रयोगको कम करनेके लिये ही सरकार और बैंक कागजी मुद्रोंका प्रयोग करते हैं। कागज़ी मुद्राके प्रचारमें सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि जिस देशमें इसका प्रचार हो वहांकी प्रजा शिक्षित हो और उसे राज्यकी सत्तामें विश्वास हो। जिस देशकी प्रजा जितनी ही शिक्षित होगी उस देशमें नोटोंका उतना ही अधिक प्रचार होगा। हमारे देशके लोग बहुधा यह समझते हैं कि सरकार जब चाहे तब मनमाने नोट निकाल दे। सरकार चांदीके सिक्के लोगोंसे निकालकर विलायत ले जाती है और हमें केवल कागज देती है। सच तो यह है कि हमारे गांववाले केवल भयवश नोट लेते हैं। अशिक्षित होनेसे नोटोंके बारेमें उन्हें कुछ भी पता नहीं है। उन्नतिशील जातियोंमें कागज़ी मुद्राका स्थान बहुत ऊंचा है। इंग्लैंड और अमरीकामें चेकें और यूरोपीय देशोंमें नोट ही अधिकतर विनिमयके कार्यमें लाये जाते हैं। उन देशोंकी प्रजा शिक्षित है, अतः प्रत्येक कार्यमें वहां धातुके सिक्कोंका प्रयोग नहीं किया जाता।

हमारे देशमें प्राचीन कालसे ही हुंडी पुरजे आदिका प्रचार है। पर यह प्रचार केवल व्यापारियोंमें ही था। बैंकनोट अथवा सरकारी नोटसे लोग बिलकुल अनभिज्ञ थे। नोटोंका प्रचार इस देशमें १६ वीं शताब्दीसे हुआ। पहिले पहिल नोटोंका प्रचार इस देशमें संवत् १८६६ विक्रमीमें हुआ। इस समय बंगालके प्रेसीडेंसी बैंकको नोट निकालनेकी आज्ञा दी गयी। १८६७ विक्रमीमें बम्बई और १६०० विक्रमीमें मद्रासके प्रेसीडेन्सी बैंकोंको भी नोट निकालनेकी आज्ञा दी गयी। सरकारको भली भांति ज्ञात था कि देशभरमें उस समय उन नोटोंका प्रचार नहीं हो सकता था। इस लिये कलकत्ता, मद्रास और बम्बईके नगरोंमें ही उनका प्रचार किया गया। इन नगरोंके निवासी यूरोप वालोंकी चाल ढालसे परिचित हो गये थे, अतः उनकी देखा देखी वे लोग नोटोंका उपयोग करने लगे। जब अन्य २ स्थानोंके लोगोंने इन नगर-निवासियोंको नोट काममें लाते देखा तो धीरे धीरे उनका भी भय छूट गया। उन्हें विश्वास हो गया कि इन नोटोंको वे रुपयेकी तरह काममें ला सकते हैं। उनको नोटोंमें रुपयेसे भी अधिक सुभीता देख पड़ने लगा।

सरकारने एक और बुद्धिमत्ताकी बात की। उसने पहिले पहिल सबसे कम मूल्यका नोट ५) का रक्खा। इससे लाभ यह था कि देशमें रुपयोंका अभाव न था। छोटे २ कार्योंमें रुपया ही काममें लाया जाता था। कुपढ़ मनुष्य और देहातियोंका विश्वास रुपयेमें ही अधिक था और रुपया ही उन्हें मिलता था। पर शिक्षितगण नोटका मूल्य समझते थे और उन्हें नोट लेनेमें कोई अड़चन न पड़ती थी।

बहुतसे देशोंमें नोट निकालनेका अधिकार बैंकोंको रहता है। इंग्लैंडमें बैंक आफ इंग्लैंड और कुछ अन्य २ बैंकोंको नोट निकालनेका अधिकार है। इसी प्रकार और

# कागज़ी मुद्रा अर्थात् नोट ।

यूरोपीय देशोंमें सेन्ट्रल बैंक अथवा इने गिने बैंकोंको नोट निकालनेका अधिकार है । अमरीकाके सब बैंक कुछ दी हुई शर्तोंपर नोट निकाल सकते हैं । रूस आदि देशोंमें जहां राष्ट्रीय बैंक हैं वहां इन शर्तोंकी आवश्यकता नहीं । पर इंग्लैंड, फ्रांस, जरमनी आदि देशोंमें जहां सेन्ट्रल बैंक और सरकारमें घनिष्ट सम्बन्ध है, अथवा अमरीकामें जहां बहुतसे व्यक्तिगत बैंकोंको नोट निकालनेका अधिकार है, वहां सरकारकी ओरसे कुछ न कुछ नियमों-का बनाना आवश्यक है । हमारे देशमें, हम पहिले ही कह चुके हैं, संवत् १८६४ के पश्चात् तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकोंको नोट निकालनेकी आज्ञा मिली थी । मद्रास बैंकको १ करोड़ और अन्य दोनोंको २–२ करोड़ तकके नोट निकालनेका अधिकार दिया गया था । संवत् १९१८ की धारा १६ से इन बैंकोंके ये अधिकार छिन गये और सरकारने नोट निकालनेका भार अपने ऊपर लिया और नोट निकालनेका एक अलग ही विभाग बनाया । मांगनेके समय कोई भी मनुष्य नोट देकर रुपया पा सकता था । पर इन नोटोंके वृत्त थे और ये नोट उसी वृत्तके भीतर क़ानूनन ग्राह्य ( legal tender ) थे । संवत् १९३६ से किसी भी बैंकको नोट निकालनेका अधिकार नहीं रह गया है ।

## भारतवर्षमें नोट निकालनेके नियम

संवत् १९१७ में गवर्नर जनरलके अर्थ सचिव श्रीयुत जेम्स विलसनने देशकी व्यवस्थापक सभामें एक बिल पेश किया जिससे नोट निकालनेकी नीतिमें सुधार हो सके । आपने इस देशमें बैंक आफ इंगलैंडका अनुकरण करना चाहा । इस नियमके अनुसार भारत सरकारने नोट निकालनेकी एक सीमा परिमित कर दी है । इस सीमासे अधिकके नोट वह नहीं निकाल सकती । यद्यपि आवश्यकतानुसार समय २ पर यह संख्या नियमित सीमातक पहुंच गयी है और युद्धके समय यह सीमा बढ़ायी गयी है फिर भी सरकार नियमित संख्यासे अधिक नोट प्रायः नहीं निकालती । पहिले व्यवस्थापक सभामें यह संख्या निश्चित हो जाती है फिर उसीके अनुकूल नोट निकाले जाते हैं । सरकारको इसके लिये एक रिजर्व रखना पड़ता है जिसको करन्सी रिजर्व कहते हैं । संवत् १९३८ से यह निश्चय हुआ कि अधिकसे अधिक चार करोड़ रुपयेके नोट बिना धातुके सिक्केके एवजमें निकाले जायँ और शेषके लिये धातु और सिक्के रिजर्व (रक्षित) रक्खे जायँ और यह धन गवर्मेन्ट सिक्योरटीजमें लगाया जाय । संवत् १९४० में नोटोंका मूल्य ५ करोड़ ११ लाख था और रिजर्वकी गणना यह थी ।

| | |
|---|---|
| रुपयोंमें रिजर्व | १,९३,२२,८६८ |
| गवर्मेन्ट सिक्योरटीज | २,००,७७,१३२ |
| चांदीमें रिजर्व | १,१७,००,००० |
| कुल | ५,११,००,००० |

इस प्रकार कुल प्रचलित नोटोंका ⅗ रिजर्व था ।

संवत् १९२९ में यह संख्या ४ से ६ करोड़, १९४७ में ८ करोड़, १९६२ में १२ करोड़ और १९६८ में १४ करोड़ थी। पर संवत् १९६२ में जब यह संख्या १२ करोड़ कर दी गयी तब ग्रेट ब्रिटेन, आयरलैंड और भारत सचिव द्वारा निकाली हुई सिक्योरिटियाँ जो भारतवर्षकी मालगुजारीपर निर्भर थीं, इसमें मिला ली गयीं। पर भारतकी सिक्योरटी २ करोड़से अधिककी नहीं हो सकती थी। संवत् १९६८ के अनुसार रिजर्व संख्या १९ करोड़ कर दी गयी और यह तय किया गया कि उसमेंसे ४ करोड़ भारत सरकारके इलावा दूसरी सिक्योरटियोंमें भी लगाया जासकता है।

निम्नलिखित तालिकासे पता चल जायगा कि अब यह सिक्योरटी १२० करोड़से भी अधिक हो गयी है। इसमेंसे अधिकतर ब्रिटिश ट्रेजरी बिलकी ही सिक्योरटी है। १९७५ और १९७६ विक्रमके सुधारोंके अनुसार ट्रेजरी बिलोंकी जमानतपर निकले हुए नोटोंकी संख्या ४६ से ८४ करोड़ हो गयी थी। बढ़ते २ यह संख्या १०० करोड़ तक पहुंची। युद्धके चार वर्ष पूर्व रिजर्वमें रक्खी हुई सिक्योरटीजका अनुपात कुल नोटोंके प्रचलनका २२ : १०० था। संवत् १९७३ में यह अनुपात २९, १९७४ में ५६ १९७५ में ६२ और १९७६ में ६५ हो गया। इसका पता निम्न लिखित तालिकासे चलेगा।

| तारीख | नोटका कुल प्रचलन | लाख रुपयेमें | | | | कुल प्रचलित नोटोंमें रिजर्व धातुका अनुपात |
|---|---|---|---|---|---|---|
| फाल्गुन | ... | चांदी | सोना | सिक्योरटी | कुल | |
| ,, सं. १९७१ | ६६,१२ | २०,५३ | ३१, ९ | १४,०० | ६६,१२ | ७८-९ |
| ,, सं. १९७२ | ६१,६३ | २२,३४ | १५,२९ | १४,०० | ६१,६३ | ७७ ३ |
| ,, सं. १९७३ | ६७,७३ | २३,५७ | २४,१६ | २०,०० | ६७,७३ | ७०-५ |
| ,, सं. १९७४ | ८६,३८ | १९,२२ | १८,६७ | ४८,४९ | ८६,३८ | ४३-९ |
| ,, सं. १९७५ | ९९,७९ | १०,७९ | २७,५२ | ६१,४८ | ९९,७९ | ३८-४ |
| ,, सं. १९७६ | १५३,४६ | ३७,३९ | १७,४९ | ९८,५८ | १५३,४६ | ३५-८ |
| अगहन १९७६ | १७९,६७ | ४७,४४ | ३२,७० | ९९,५३ | १७९,६७ | ४४-६ |

## करन्सी रिजर्व।

यह तो हम पहिले ही कह चुके हैं कि नोट एक प्रकारकी सनद है जिससे पता चलता है कि हमारा रुपया किसी सुरक्षित स्थानपर रक्खा है। जहांपर सरकारी नोट

## कागज़ी मुद्रा अर्थात् नोट ।

चलते हैं जैसे हमारे देशमें. वहांपर नोट रखनेवालोंको अधिकार है कि करन्सीमें जाकर नोटके बदले रुपया पा सके और जहां बैंकोंको नोट निकालनेका अधिकार है जैसे इंग्लैंड, अमेरिका आदि देश वहां नोट निकालनेवाले बैंक अपने अपने नोटोंके लिये उत्तर-दायी हैं। जिस नोटके बदले जिस देशकी सरकार रुपया देनेकी प्रतिज्ञा नहीं करती वह नोट निस्सन्देह भयानक होता है। जहां जहां बैंकोंको नोट निकालनेका अधिकार प्राप्त है वहां वहांकी सरकारोंने नोट निकालनेके कुछ नियम कर दिये हैं और सबसे अधिक आवश्यक नियम नोटोंके लिये रिजर्व रखना है। यह रिजर्व जनता और बैंक दोनोंके लिये उपयोगी होता है। इससे बैंकोंको अपनेपर भरोसा रहता है। वे जानते हैं कि समय पड़नेपर वे रुपया निकालकर अपने ग्राहकको दे सकते हैं और जनताको भरोसा रहता है कि समय पड़नेपर उसका बैंक उसे रुपया दे सकेगा।

हमारी सरकारने पहिलेसे ही रिजर्वका पूर्णतया प्रबन्ध रक्खा है। इस रिजर्वके नियम बहुत ही साधारण हैं। भारत सरकार समय समयपर घोषणा कर देती है कि अधिकसे अधिक किस संख्या तक सरकार रिजर्वके लिये रुपये अलग रख देगी। संवत् १९४७ तक यह रिजर्व ६ करोड़ रुपये था पर धीरे धीरे यह बढ़ता गया। संवत् १९४८ में ७ करोड़, १९४९ में ८ करोड़ और संवत् १९५४ में १० करोड़ रुपया रिजर्वमें रक्खा गया। १९६२ में रिजर्व की संख्या १२ करोड़ कर दी गयी, जिसमें १० करोड़ रुपया भारतकी सिक्योरटीजपर और २ करोड़ रुपया ब्रिटिश सरकार-की सिक्योरटीपर रक्खा गया। संवत् १९६८ में १४ करोड़ रिजर्वमें रक्खा गया जिसमें ४ करोड़ रुपये ब्रिटिश सरकारकी सिक्योरटीपर थे। इस प्रकारसे रिजर्वपर जो ब्याज मिलता है उसमेंसे "नोट विभाग" के व्ययको घटा कर जो कुछ बच रहता है वह "नोट प्रचलनका लाभ" की मद्में डाला जाता है। युद्धके पूर्व सरकारको इस मद्से ४५ लाख प्रतिवर्ष मिलते थे।

संवत् १९५५ के पूर्व करन्सी रिजर्व अधिकतर रुपयोंमें रहता था और इसी देशमें रक्खा जाता था। पर इस वर्षसे भारत सरकारको रिजर्वका कुछ अंश सुवर्ण मुद्रामें रखनेकी आज्ञा मिल गयी। संवत् १९५७ के एक ऐक्टसे भारत सरकार अपने रिजर्वके कुछ अंशको लन्दनमें रख सकती है। पर उस समय यह केवल क्षणिक था। यद्यपि संवत् १९५७ और १९५८ में सरकारने लन्दनमें अपना कुछ रिजर्व रक्खा पर ब्रिटिश सरकारकी इच्छा इस ऐक्टको स्थायी बनानेकी न थी और यह रिजर्व थोड़े समयके लिये वहां रक्खा गया था। पर संवत् १९६२ में एक ऐसा नियम बनाया गया जिससे भारतसरकार रिजर्वका वह भाग, जिसे धातु रूपमें रखना आवश्यक समझती है, लन्दन या भारतमें जहां चाहे रख सकती है। उसे अधिकार दिया गया है कि वह कुछ भाग लन्दनमें और कुछ भाग भारतमें रख सके। यही नहीं रिजर्वका वह कोई अंश सुवर्ण अथवा चांदीमें रख सकती है। पर चांदीके सिक्के केवल भारतमें रक्खे जाते हैं, लन्दनमें नहीं। निम्नलिखित तालिकासे पता चल जायगा कि किस वर्ष कितना रिजर्व किस स्थानपर रक्खा जाता था।

## कागजी मुद्राके लिये सुवर्णका रिजर्व ।

| फाल्गुन | भारतमें | लन्दनमें | कुल |
|---|---|---|---|
| संवत् १९५४ | कुछ नहीं | कुछ नहीं | कुछ नहीं |
| ,, १९५५ | २,५०,००० पौंड. | ,, | २५०,००० पौंड |
| ,, १९५६ | २०,००,००० ,, | ,, | २०,००,००० ,, |
| ,, १९५७ | ७५ लाख ,, | १५ लाख पौंड | ९० लाख ,, |
| ,, १९५८ | ६० ,, ,, | कुछ नहीं | ६० ,, ,, |
| ,, १९५९ | ७० ,, ,, | ,, | ७० , ,, |
| ,, १९६० | १ करोड़ ,, | ,, | १ करोड़ ,, |
| ,, १९६१ | १ ,, १० लाख ,, | ,, | १ ,, १० लाख ,, |
| ,, १९६२ | १ , ५ ,, ,, | ,, | १ ,, ५ ,, ,, |
| ,, १९६३ | ४० ,, ,, | ७० लाख पौंड | १ ,, १० ,, ,, |
| ,, १९६४ | ३५ ,, ,, | ७० ,, ,, | १ ,, ५ ,, ,, |
| ,, १९६५ | २५ ,, ,, | ३५ ,, ,, | ६० ,, ,, |
| ,, १९६६ | कुछ नहीं | १५ ,, ,, | १५ ,, ,, |
| ,, १९६७ | ६० ,, ,, | २५ ,, ,, | ८५ ,, ,, |
| ,, १९६८ | ६० ,, ,, | ५० ,, ,, | १ करोड़ १० ,, ,, |
| ,, १९६९ | १ करोड़ ५५ ,, ,, | ५५ ,, ,, | २ ,, १० ,, ,, |
| ,, १९७० | १ ,, ९५ ,, ,, | ६० ,, ,, | २ ,, ५५ ,, ,, |

यह दशा युद्धके पूर्व थी। युद्धके पश्चात् रिजर्वका कुछ भाग ब्रिटिश साम्राज्यके अन्य भागोंमें भी रहने लगा।

फाल्गुन संवत् १९७० में रिजर्वका कुल व्योरा इस प्रकार था।

| | | पौंड |
|---|---|---|
| भारतमें | रुपयेमें रिजर्व | १ करोड़ १० लाख |
| ,, | सुवर्णमें ,, | १ ,, ९५ ,, |
| लन्दनमें | ,, ,, | ६० ,, |
| सिक्योरटी | | ९५ ,, |

## फाल्गुन संवत् १९७६ में रिजर्वका व्यारा ।

| | | रुपये |
|---|---|---|
| भारतमें | रुपयेमें | १८ करोड़ १ लाख |
| ,, | सुवर्णमें | १४ करोड़ ५५ लाख |

# कागजी मुद्रा अर्थात् नोट ।

| | |
|---|---|
| ,, चांदी ( टकसालमें ) | १६ करोड़ ७३ लाख |
| ब्रिटिश साम्राज्यमें | १ करोड़ ५० लाख |
| सुवर्ण ( भारत, और ब्रिटिश साम्राज्य ) | १ करोड़ ५० लाख |
| चांदी ( भारत, ब्रिटिश साम्राज्य और युक्त देश अमरीका ) | २ करोड़ ८५ लाख |
| सिक्योरटीमें | ६८ करोड़ ५८ लाख |

उक्त तालिकासे पता चलता है कि करन्सी रिजर्वका एक बड़ा अंश लन्दनमें रहता है जिसके लिये भारतसचिव लन्दनमें या तो बहुत सा सुवर्ण मोल लेकर रख लेते हैं या सुवर्ण मोल लेकर इस देशको भेज देते हैं अथवा बहुत सी चांदी भारत सरकारको रुपयेके लिये भेज देते हैं ।

यदि सिक्कोंको बनानेके लिये भारत वर्षमें काफी चांदी नहीं मिलती तो यह आवश्यक है कि करन्सी रिजर्वका कुछ भाग लन्दनमें चांदी मोल लेनेके काममें लगाया जाय । पर सबसे अच्छी बात यह होगी, कि भारत सरकार यहींके व्यापारियोंद्वारा करन्सी-के लिये चांदी मोल लेना प्रारम्भ करे । इससे दो लाभ होंगे । एक तो करन्सी रिजर्वको लन्दनमें रखनेकी आवश्यकता न होगी दूसरे बम्बई आदिमें चांदीका व्यापार बहुत बढ़ जायगा । पर यदि मान लिया जाय कि यहां काफी चांदी नहीं मिल सकती और लन्दनमें उसका मोल लेना अनिवार्य है तो कौंसिल बिल द्वारा भारत सचिव क्या चांदी मोल नहीं ले सकते ? कहा जाता है कि करन्सी रिजर्व लंदनमें इस लिये रक्खा जाता है कि विपत्ति पड़नेपर उससे सहायता मिल सके और आवश्यकता पड़नेपर भारतीय सरकार नोटके बदले रुपये दे सके* जिससे विनिमयमें गड़बड़ी न पड़ने पावे । यदि ऐसा है तो रिजर्वको इंग्लैंडकी सिक्योरटीजमें लगाना और बैंकोंमें रखना भी उचित नहीं है । पर सरकारका कथन है कि लन्दनमें यदि रिजर्व न रक्खा गया तो चांदी मोल लेनेके समय जब आवश्यकता होगी तो भारतसे रुपया भेजना पड़ेगा । सरकारका यह भी कथन है कि भारतमें आवश्यकतासे अधिक रिजर्व है और अकेले गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्वसे विनिमयमें स्थिरता नहीं आ सकती । इस लिये लन्दनमें सुवर्ण रखना वह अधिक आवश्यक समझती है ।

पर हमारे विचारसे गोल्ड स्टैण्डर्ड रिजर्व ही इतना अधिक हो गया है कि करन्सी रिजर्वकी लन्दनमें रक्खे जानेकी कुछ भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । मैं मानता हूं कि गत वर्षकी अज्ञानतासे भारत सरकारको रिवर्स कौन्सिल बेच कर बहुत हानि उठानी पड़ी, फिर भी भारत सचिवके पास रिजर्व काफी है । भारत से देशमें, जहां बड़े बड़े कामोंके लिये जितना ही धन जोड़ा जा सके उतना ही आवश्यक है, यह चतुराईकी बात नहीं कि भविष्यके लिये वर्तमानपर अधिक बोझ डालें । व्यर्थ रिजर्वको बढ़ाना उतना ही हानिकारक है जितना व्यर्थ खर्च । कीन्स महाशयका यह भी कथन है कि यदि भारतीय

---

*कीन्सः करेन्सी और फाइनेन्स

सरकार आवश्यकतासे अधिक एक पाई भी लन्दनमें अधिक रखती है तो वह भारतके साथ अन्याय करती है। इससे भारतके व्यापारको बहुत हानि पहुंचती है। मेरे विचारसे अब भी करन्सी रिजर्वका बहुतसा रुपया इंग्लैंडके व्यापारियों और बैंकोको सस्ते व्याजकी दरसे दिया गया है और हमारे देशको जब रुपयेकी आवश्यकता होती है तो हमें अधिक दरपर ऋण लेना पड़ता है। इस रिजर्वसे विदेशी तो लाभ उठा रहे हैं पर हम इससे कुछ भी लाभ नहीं उठा पाते। यह रुपया दूसरोंके व्यापारके काममें आता है, हमारे व्यापारमें हमको इससे कुछ भी सहायता नहीं मिलती। अस्तु।

हमने देखा कि कागजी मुद्रा क्या है और सरकारने उसे कैसे सुदृढ़ बना रक्खा है। अब हमें केवल यह देखना है कि युद्धके समय सरकारने उसमें क्या क्या परिवर्तन किया है।

युद्धके पूर्व चांदीका भाव बहुत सस्ता था। संवत् १९७२ में चांदीका भाव २७½ पेंस प्रति औंस था। पर युद्धके समयमें कई कारणोंसे चांदी बहुत मंहगी हो गयी और यदि अमरीकाकी सरकार हमारी सरकारको सामयिक सहायता न देती तो हमारी सरकारको बहुत आपत्ति झेलनी पड़ती। संवत् १९७६ के वैशाख-ज्येष्ठ मासमें चांदीका भाव ५७ पेन्स और अगहन-पौषमें ७८ पेन्स प्रति औंस हो गया। इधर भारतवर्षसे सेनाके लिये प्रतिवर्ष वस्त्र अन्नादि पदार्थ अधिकसे अधिक मात्रामें यूरोप भेजे जाते थे जिससे इस देशमें रुपयोंकी मांग बहुत बढ़ गयी थी। सरकारने संवत् १९७४ और १९७५ में बहुतसे नये रुपये ढाले पर उनसे देशकी मांग पूरी न हुई। लाचार हो सरकारने नोटकी संख्या बढ़ाना उचित समझा। संवत् १९७४ के पूर्व ५) से कमका नोट प्रचलित न था। पर इस बार सरकारने एक और ढाई रुपयेके नोट भी प्रचलित किये। नोट प्रचलनकी संख्याका ब्योरा इस प्रकार है।

| मिति | लाख रुपये | | | | | कुल नोट प्रचलनका शतांश रिजर्व |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | कुल नोटोंका मूल्य | रिजर्व | | | | |
| | | चांदी | सोना | सिक्योरटी | कुल | |
| फाल्गुन | | | | | | |
| संवत् १९७१ | ६६,१२ | २०,५३ | ३१,५९ | १४,०० | ६६,१२ | ७८·९ |
| ,, १९७२ | ६१,६३ | ३२ ३४ | १५,२९ | १४,०० | ६१,६३ | ७७·३ |
| ,, १९७३ | ६७,७३ | २३,५७ | २४,१६ | २०,०० | ६७,७३ | ७०·५ |
| ,, १९७४ | ८६,३८ | १९,२२ | १८,६७ | ४८,४९ | ८६,३८ | ४३·९ |
| ,, १९७५ | ९९ ७९ | १०,७९ | २७,५२ | ६१,४८ | ९९,७९ | ३८·४ |
| ,, १९७६ | २,५३,४६ | ३७,३९ | १७,४९ | ९८,५८ | १,५३,४६ | ३५·८ |
| अगहन १९७६ | १,७९,६७ | ४७,४४ | ३२,७० | ९९,५३ | १,७९,६७ | ४४·१ |

# कागज़ी मुद्रा अर्थात् नोट।

इससे साफ प्रगट है कि युद्धके अन्त तक सरकारने युद्धके पूर्वसे दूनेसे अधिकके नोट प्रचलित किये और रिजर्व पहिलेकी अपेक्षा आधेसे कम रह गया। संवत् १९७६ के पश्चात् सरकारने कुछ नोट प्रचलनसे निकाल लिये, फिर भी उनकी संख्या पहिलेसे दुगनी है। प्रजाको इसमें आपत्ति क्यों नहीं होती, इसके कई कारण हैं। पर सबसे बड़ा कारण यह है कि जनता नोटके उपयोगसे परिचित हो गयी है। उसे विश्वास है कि कोई नोट लेनेसे इन्कार न करेगा। फिर वह इसे रुपयेसे सुगम समझने लगी है। किसी वस्तुको मोल लेने, कहीं भेजने और ले जानेमें जितनी सुगमता उसे नोटसे पड़ती है उतनी रुपयोंमें नहीं। रुपयोंकी आवश्यकता उसे केवल रुपया गाड़ने और जेवर आदि बनवानेके समय होती है। आशा है कि ज्यों ज्यों विद्याका प्रचार होता जायगा लोग घरोंमें रुपया न गाड़कर बैंकोंमें जमा करेंगे और व्यर्थ जेवरोंमें रुपया न लगाकर औद्योगिक कार्योंमें लगावेंगे। फिर तो नोटोंका और भी अधिक प्रचार होगा। यही नहीं, इस देशवाले भी यूरोप और अमरीकाकी भांति प्रत्येक कार्यमें चेकका प्रयोग किया करेंगे।

**श्यामबिहारी लाल कपूर।**

# हिन्दू राजत्व-कालकी हिन्दू पार्लमेन्ट।

विक्रमाब्दसे ६०० वर्ष पूर्व भारतमें बड़े बड़े राज्योंकी उत्पत्तिके साथ साथ एक महत्वपूर्ण प्रजा-तन्त्र संस्थाका विकास भी देखनेमें आता है। वैदिक युगके अनन्तर, महाभारतसे आरम्भ कर बृहद्रथ-वंशके राज्य तक, विक्रमाब्दसे ७ शताब्दी पूर्व भारतके इतिहासमें राष्ट्रीय राज्योंका प्रादुर्भाव हुआ। उस युगको हम राष्ट्रीय राज्य अथवा स्वजातीय राष्ट्रका युग कह सकते हैं। उदाहरणार्थ भरत, पञ्चाल और विदेहकी रहने वाली प्रजा स्वजातीय राजाओंके अधीन थी। "एषवो भरता राजा" १. ८. १०, इत्यादि उल्लेख यजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहिता और बृहदारण्यक उपनिषद्में मिलते हैं। ऐक्ष्वाक जाति, जिसका उल्लेख महर्षि पतञ्जलिने किया है, अपने ही राजाके अधीन थी। विक्रमकी छठी शताब्दीके कुछ पूर्वसे आरम्भ कर भारतीय राष्ट्रोंका स्वरूप बदलने लगता है। स्वजातीय राष्ट्रोंके स्थानमें विभिन्न जाति-देश वाले राष्ट्र उत्पन्न होने लगे। राष्ट्रोंका जातीय आधार नष्ट होने लगा। एक जातिने दूसरी जातिपर विजिगीषु-भावसे आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि एक राष्ट्रमें अनेक विजातीय प्रजा वर्गका अन्तर्भाव होना आरम्भ हुआ। पुराने ऐक्ष्वाक जनपदने क्रमशः काशी, कोसल, मगध, अंग देशोंको अपने अधीन कर लिया। यह क्रम तीन शताब्दी तक रहा ('५५० वि. पू. से ३०० वि. पू.')।

इस नवीन **साम्राज्य-वाद** ( Imperialism ) का बीजारोपण भगवान् बुद्धके नव्य 'धम्म' से हुआ। भगवान् बुद्ध यद्यपि जन्मसे प्रजा-तन्त्र-वादी थे तथापि अपने धर्मका सार्वभौम साम्राज्य स्थापन करनेकी उन्हें उत्कट इच्छा थी। ऐतरेय ब्राह्मणमें समुद्र-पर्यन्त साम्राज्य स्थापित करनेका उपदेश पहले ही हो चुका था। अखिल भारत वर्षीय साम्राज्यका आदर्श बुद्ध भगवान्‌की जन्म-कथाओंमें अनेक स्थलोंमें पाया जाता है।

## 'सकल जम्बुदीपे एक राजम्'

इस विशाल राज्य वा साम्राज्यके युगमें 'जन' की अपेक्षा 'जनपद' का अधिक आदर किया जाने लगा। अर्थात् राष्ट्रका आधार जाति न रही बल्कि उसका संबन्ध प्रजाके रहनेकी भूमिसे हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ही राष्ट्रमें जहां पहले एक ही जातिके लोग बसते थे, अब भिन्न भिन्न जातिकी प्रजाका अन्तर्भाव हो गया। पहले 'जनपद' शब्दका अर्थ एक जातिके बसनेका स्थान था लेकिन राष्ट्रके स्वरूपके बदलने-पर 'जनपद' देशके अर्थमें प्रयुक्त होने लगा। अर्थात् अब जनपद किसी विशेष जातिका वाचक शब्द न रहा। इन विशाल राज्योंके युगमें 'समिति' का बिलकुल लोप हो गया। समितिका वर्णन वैदिक साहित्यमें अनेक स्थलोंपर मिलता है परन्तु महाभारत और

पालीकी पुस्तकोंमें इस संस्थाका उल्लेख देखनेमें नहीं आता। कारण यह कि जातीयता ही समितिका मूल आधार थी। एक ही जातिके लोगोंकी यह शासनार्थ व्यवस्थापक सभा थी। इसके द्वारा ही प्रजा अपने अधिकार सुरक्षित रखती थी। साम्राज्यके उदय होने पर जातीयताका भाव शिथिल हुआ। अतएव वह संस्था भी जिसमें जातीय जीवनका केन्द्र था, धीरे धीरे टूट गयी।

## जानपद सभाका उदय

ऐसी परिवर्तित परिस्थितिमें एक दूसरी संस्थाका उदय हुआ जो प्राचीन समितिका नवीन रूपान्तर थी।

६०० विक्रमाब्द पूर्वसे ६०० विक्रमाब्द पर्यन्त एक राज्यके दो भाग माने जाते थे। एक भाग राजधानी कहलाता था और दूसरा 'जनपद'। पहला हिस्सा 'पुर', 'नगर' वा कभी कभी 'दुर्ग भी कहा जाता था और जनपदका अर्थ राष्ट्र वा देश समझा जाता था। अर्थशास्त्रमें जनपद और दुर्गका उल्लेख है। राजधानीकी भूमिको छोड़ शेष राज्य-भूमि 'जनपद' के नामसे पुकारी जाती थी। रामायणकी एक पंक्तिसे इस शब्दका अर्थ स्पष्ट है :—

**उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम्।**
**पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः ॥२. १४. ५४॥**

अर्थात् पौर, जानपद और नैगम रामके अभिषेकमें सादर उपस्थित थे।

प्राचीनकालमें राजधानीको छोड़ राज्यके शेष भागको जानपद कहते थे। जानपदका अर्थ न तो प्रान्तका द्योतक है और न नगरके बाहर रहनेवाली प्रजाका सूचक है। **यह एक सुदृढ़ संस्था थी।** इसमें प्रजाके प्रतिनिधि बैठते थे और राजनीतिके जटिल प्रश्नोंपर अपना परामर्श देते थे। पौर, जानपद और नैगम-जो रामके प्रस्तावित राज्याभिषेकके लिये आमन्त्रित थे-ये सभी राजा दशरथके दरबारमें प्रजाके प्रतिनिधि रूपसे आये हुए थे। अतएव ये प्रजाकी प्रतिनिधि-समितियां थीं। एकत्र होकर इन्होंने महाराज दशरथके प्रस्तावपर विचार कर अपनी अनुमति दी :—

**समेत्य ते मन्त्रयित्वा समतांगतबुद्धयः।**
**ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥**
**सरामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिव।**
**इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् ॥ अयोध्या, २,२० ॥**

"जानपदाः" यह बहुवचनान्त शब्द भी समष्टिरूपसे जनपदकी प्रजाका द्योतक है और उसकी निर्माण की हुई प्रतिनिधिसंस्थाका भी वाचक है। धर्मशास्त्रोंमें भी इन संस्थाओंका उल्लेख मिलता है। इनके उद्देश्य और धर्मका अनुमोदन धर्मशास्त्रकार मुक्तकण्ठसे करते हैं।

जातिजानपदान्धर्मान्श्रेणिधर्मांश्च धर्मवित् ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मांप्रतिपादयेत् ॥ मनु, ८, ४१, ॥

कलिंग देशके प्रतापी राजा खारबेलके हाथी गुम्फ-शिला-लेखमें 'जानपदम्' शब्दका उल्लेख है । इस राजाने जानपदको बहुतसे अधिकार दिये थे, यह बात शिला-लेखमें उल्लिखित है, याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें भी 'जानपद', 'जाति', 'श्रेणी', 'गण' इन शब्दोंका समष्टि-सूचक अर्थमें प्रयोग हुआ है । अर्थात् ये सब नियम-बद्ध संस्थाएँ थीं । राजाका यह धर्म था कि जब ये संस्थाएँ अपने नियमानुसार कार्य न करें तो उन्हें उचित मार्गका अनुसरण करनेके लिये बाध्य करे ।

व्यवहारान्स्वयं पश्येत् सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम् ।
कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणाञ्जानपदानपि ॥
स्वधर्माच्चलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि ॥ ३६०,३६१ ॥

मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ही 'कुल' का उल्लेख करते हैं । यह शब्द भी जनपद-की भांति संस्थाका वाचक है । 'कुल' भी एक तरहकी राजनीतिक संस्था थी इस बातका प्रमाण कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे मिलता है । जिस अध्यायमें इन संस्थाओंकी प्रस्ताव-विषयक चर्चा है उसमें 'देश-संघ','जाति-संघ', और कुल संघ की 'समय क्रिया' अथवा प्रथाओंका स्पष्ट उल्लेख है । अर्थात् 'कुलसंघ' का तात्पर्य ऐसी नियमबद्ध शासन-प्रणालीसे है जिसमें कुल अथवा किसी घरानेका आधिपत्य रहता है । मनुस्मृतिमें भी इन संघ अथवा समितियोंका वर्णन है और जो मनुष्य इनके निर्धारित नियमों वा प्रस्तावोंका उल्लंघन करता है उसके लिये इस स्मृतिमें दण्ड-विधान भी पाया जाता है :—

यो ग्रामदेश सङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ मनु ८, २१८२२, २२८ ॥

'देश-संघ' यह शब्द भी जन-पद समितिका द्योतक है । बृहस्पतिने भी 'देश' शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें किया है :—

ग्रामो देशश्च यत् कुर्यात् सत्यलेख्यं परस्परम् ।
राजाऽविरोधि धर्मार्थं संवित्पत्रं वदन्तिगत् ॥

अर्थात् ग्राम और देश राजाके कानूनके अविरुद्ध जो नियम आपसमें निर्धारित करते हैं वही लेख संवित्पत्र वा प्रस्ताव-पत्र कहलाता है । तात्पर्य्य यह कि देश-संघ वा जान-पद प्रजाकी वह समिति थी जिसमें राजधानीके अतिरिक्त समस्त राष्ट्रका प्रति-निधित्व विद्यमान था ।

'जानपद' का अर्थ राष्ट्र भी है । दशकुमार चरितमें 'जानपद' के सभा-पतिका सम्बोधन 'जानपद महत्तर' इस शब्दसे किया है । यही उपाधि-धारी पुरुष इस गद्य-काव्यमें 'राष्ट्र-मुख्य' अर्थात् राष्ट्रीय सभाका नेता कहा गया है । याज्ञवल्क्य-

स्मृतिकी मित्रमिश्रकी टीकामें 'अनादेय व्यवहार' के प्रकरणमें यह उल्लेख है कि जो मनुष्य पौर और राष्ट्र के प्रतिकूल होकर न्याय चाहता है उसकी प्रार्थना स्वीकार न करनी चाहिये। अर्थात् पुर और राष्ट्रकी समितियोंके विरोध करनेवाले मनुष्यकी न्यायालयमें सुनवाई न होती थी।

## पौर

'जानपद' नामक संस्थाके कार्य्योंपर हम आगे चलकर विचार करेंगे। जानपदके अतिरिक्त हमें प्राचीन भारतमें दूसरी भांतिका जन-समुदाय जो 'पौर' शब्दसे व्यवहारमें प्रचलित था, देखनेमें आता है। राज्यके समस्त नगरोंमें बसनेवाली प्रजा का द्योतक 'पौर-शब्द' न था बल्कि इस शब्दका तात्पर्य राजधानी था। **'पुरं मुख्य-नगरम् नगरं राजधानी'**-राजधानीमें निवास करनेवाली प्रजाकी समितिका नाम ही 'पौर' था। जानपदकी भांति पौर शब्द भी एकवचनमें खारवेलके शिला-लेखमें प्रयुक्त किया गया है। इससे यह अनुमान होता है कि 'पौर' एक राजनीतिक समिति थी।

## पौरका नगर सम्बन्धी शासन।

यह समिति न केवल राजधानीका प्रबन्ध करती थी किन्तु इसे बड़े महत्वके राज-नीतिक अधिकार भी प्राप्त थे। इस समितिका सभापति नगरका बड़ा सेठ हुआ करता था। रामायणके अनुसार पौर और जानपदके दो विभाग होते थे। एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य :—

**आशंसते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा।**
**आभ्यान्तरश्च बाह्य श्च पौर जानपदोजनः॥**

पौर और जानपद समितियोंका आभ्यन्तर विभाग कदाचित् **कार्यकारिणी समिति** [ Exeecutive Body ] होगी। नगर-वृद्धोंके विषयमें साहित्यमें स्थल स्थलपर उल्लेख मिलता है। येही नगर-वृद्ध इस कार्यकारिणी समितिके मेम्बर होंगे। गौतम-धर्म-सूत्रमें यह लिखा है कि ब्राह्मणको भी शूद्र जातिके भूतपूर्व पौर मेम्बरका विशेष रूपसे आदर करना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि पौर-समिति सार्वजनिक आधारपर स्थित थी और इसमें सभी वर्गके लोगोंके प्रतिनिधि बैठा करते थे।

पौर समितिका कर्मचारी एक लेखक होता था। उसका लेख आदरकी दृष्टिसे देखा जाता था। महत्वमें वह 'लौकिक लेख' राजकीय लेखोंसे जरा भी न्यून न समझा जाता था।

पौर-समितिके और और कार्य्य निम्न प्रकारसे धर्म-शास्त्रोंमें उल्लिखित हैं :—

[ क ] अनाथ बालकोंकी रक्षा और मरे हुए मनुष्योंके द्रव्यका प्रबन्ध इस समितिके हाथमें था। वसिष्ठ-धर्म-सूत्र [ १६, १९-२० ] में इसी नियमका प्रतिपादन किया गया है।

प्रहीण द्रव्याणि राजगामीनि भवन्ति”
ततोऽन्यथा राजा मन्त्रिभिः सह नागरैश्च कार्याणि कुर्यात् ॥

अर्थात् राजा अपने मंत्रियों और नगर-वृद्धोंके द्वारा नाबालिगकी जायदादकी देख-रेख करे। कौटिल्यने तो यह स्पष्ट लिखा है कि ग्राम-वृद्ध लोगोंको बालककी जायदादका निरीक्षण और वृद्धि तब तक करनी चाहिये जब तक वह व्यवहार-योग्य अवस्था तक न पहुंचे और इसी तरह देव-द्रव्यका भी प्रबन्ध उन्हें करना उचित है :—

बालद्रव्यं ग्राम-वृद्धाः वर्धयेयुराव्यवहारप्रापणात् देवद्रव्यञ्च ।
बृहस्पति, वीरमित्रोदय पृष्ठ, ४२४ ।

[ ख ] ऐसें कार्य्य भी इस समितिके हाथमें थे जिनसे प्रजाका सर्व प्रकारका बल बढ़ता था। वे “**पौष्टिक कार्य्य**” कहे जाते थे।

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं शान्तिकं पौष्टिकं तथा।
पौराणां कर्म कुर्युस्ते संदिग्ध निर्णयं तथा ॥
चाटचौरभये बाधाः सर्व साधारणाः स्मृताः।
तत्रोपशमनं कार्य्यं सर्वै नैकेन केनचित् ॥
बृहस्पति, वीरमित्रोदय, पृष्ठ, ४२४ ।

[ ग ] ऐसे कार्य्य जिनसे प्रजामें शान्ति रहे, इसी समितिके अधिकारमें थे। यही पुलिसका प्रबन्ध करती थी।

[ घ ] न्याय-विभागः—नगरके मामलोंमें यह समिति इंसाफ करती थी। फौजदारीके मामले पौर-न्यायालयकी अधिकार-सीमामें न थे।

“ साहसन्यायवर्जानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम् ”–बृहस्पति ।

[ ङ ] तीर्थों और सार्वजनिक स्थानोंका निरीक्षण ।

पौर-समिति राजधानीके मन्दिरों और पवित्र स्थानोंका निरीक्षण किया करती थी। इनका जीर्णोद्धार कराना इसका कर्त्तव्य था। सभा, प्याऊ। ( प्रपा ) देवमन्दिर, स्नानागार और बाग बगीचे इत्यादि भवनों और स्थलोंका स्पष्ट उल्लेख मिलता है :–

“ धर्मकार्यमपि संभूय कार्यमित्युक्तं तेन वै।
सभा-प्रपा-देवगृहतटाकारामसंस्कृतिः ॥ वीरमित्रोदय, ४२५ ॥

देव मन्दिरों और सार्वजनिक स्थानोंपर पौर-सभाका अधिकार रहता था। राजधानीके इन स्थानोंकी मरम्मत, रक्षा आदि यही समिति करवाया करती थी। सभा, प्रपा ( पानी बांटनेका स्थान ), देवालय, तटाक ( स्नान-शाला ), आराम इत्यादि सभी स्थान इसके निरीक्षणमें रहते थे।

## पाटलिपुत्रकी पौरकृत शासन-पद्धति ।

मेगास्थनीज़ने जो मौर्य-राजधानी पाटलिपुत्रके नगर संबन्धी शासनका वर्णन

किया है वह पूर्वोक्त पौर-शासन-पद्धतिका पूर्ण समर्थन करता है । स्ट्राबोने ( Strabo ) पाटलिपुत्रके वर्णनके पश्चात् उसकी शासन-शैलीका विवरण दिया है । पांच पांच मेम्बरों-की ६ समितियां राजधानीके सारे कामकी देखभाल किया करती थीं । एक समिति नगरके उद्योगधन्धोंका निरीक्षण करती थी, दूसरी विदेशीय लोगोंकी देखरेख रखती थी, उनकी मृत्युके उपरान्त उनका धन उनके उचित उत्तराधिकारियोंको यह समिति भिजवा देती थी । तीसरी समिति शहरकी मर्दुमशुमारी किया करती थी । पैदाइश और मृत्युका हिसाब प्रतिदिन रक्खा जाता था । चौथी समिति व्यापार क्रयविक्रयकी आमदनी और हाथकी बनी चीजोंका निरीक्षण किया करती थी । ये समितियां अपने भिन्न भिन्न विभागोंका निरीक्षण किया ही करती थीं परन्तु साथ ही साथ समष्टि रूपसे सार्वजनिक हितके सभी कार्य्योंमें इन्हें परामर्श और योग देनेका अधिकार था । देवालय, बन्दरगाह और बाजारोंका प्रबन्ध और सार्वजनिक इमारतोंका जीर्णोद्धार कराना इत्यादि कार्य्य इस समितिके ही थे ।

स्ट्राबोके बतलाये हुए नगराध्यक्ष ( City magistrates ) हिन्दू-शास्त्रके पौर-मुख्य या पौरवृद्ध ही हैं । ये पांच पांचकी परिषदें और तीस सदस्योंकी सम्पूर्ण समिति, धर्म-परिषदोंकी तीन, पांच, दस, बीस और इससे अधिक संख्यावाली समितियोंकी भांति ही, सुसंगठित प्रतीत होती हैं । पतञ्जलिने भी पांच, दस, और बीस सदस्योंके संघका उल्लेख किया है । बृहस्पतिका भी यही आदेश है कि लोकहितकी संस्थाओंमें पञ्चायत बना लेना चाहिये ।

द्वौ त्रयः पञ्च वा कार्याः समूहहितवादिनः ।
कर्तव्यं वचनं तेषां ग्रामश्रेणिगणादिभिः ॥

वीर मित्रोदय, पृष्ठ ४२७ ।

बौद्ध-संघमें भी यह नियम था कि कुछ विषय थोड़े सदस्योंकी समितिद्वारा ही निर्णीत होते थे किन्तु महत्त्वपूर्ण विषयोंपर विचार और निर्णय २० वा उससे अधिक सदस्योंवाली समितिद्वारा ही हो सकता था ( महावाग्ग, ६. ४. १ ) । पाटलिपुत्रकी पौर-सभाके वर्णनमें हम यह पाते हैं कि जब लोक-हितके प्रश्नोंपर विचार और निर्णय होता था तब बहुतसे सदस्योंकी उपस्थितिकी आवश्यकता होती थी । यह नगराध्यक्षोंकी समग्र सभा रामायणमें वर्णित पुरवासियोंकी आभ्यन्तर सभासे बिल्कुल मिलती जुलती है । जब इनकी आभ्यन्तर समितिमें ही ३० सदस्य थे तो बाह्य पौर-सभामें तो और भी अधिक सदस्योंकी संख्या होगी ।

समितिसे सबन्ध रखनेवाला एक और शब्द शास्त्रोंमें प्रयुक्त किया गया है । यह शब्द 'वर्ग' है । 'पञ्चको वर्गः, दशको वर्गः' ये पद महर्षि पाणिनिने प्रयुक्त किये हैं । वर्ग-शब्द समितिका पर्यायवाचक है । गौतम धर्म-शास्त्रमें यह शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त किया गया है :—

**देशजातिकुल धर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम् ।**
**कर्षक वणिक्पशुपालकुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्ग ।**

किसान, बनिये, पशुपाल व्याज खानेवाले, बढ़ई लुहार आदि जिन जिन नियमोंका अपने संघमें पालन करते हों और जो शास्त्रके प्रतिकूल न हों वे प्रमाणित समझे जाने चाहिये । यह ध्यान देनेकी बात है कि गौतमके समयमें किसानोंकी भी एक समिति थी । महाभाष्यमें ( ६. २. २ ) वासुदेव और अक्रूरके वर्गका उल्लेख मिलता है । वर्ग शब्द धर्मशास्त्रोंमें समूह वाचक है—**समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गास्तान ब्रवीद् भृगुः ॥**

## नैगम और उसका पौरके साथ संबन्ध ।

अर्थशास्त्रके अनुसार, राजकीय मुद्रणशालामें ( Mint ) पौर लोग अपने सुवर्णके सिक्के ढलवाया करते थे । इसका अभिप्राय कदाचित् यह था कि राजकीय मुद्रणशालासे जो सिक्के निकलें वे पौरके सिक्कोंसे कीमतमें कुछभी न्यून न रहें, इसीलिये पौरवर्गको अपने सिक्के मुद्रित करानेका अधिकार प्राप्त था । अथवा पौरके इस कार्य्यका कुछ आर्थिक प्रयोजन होगा, यह बहुत कुछ संभव है । राजधानीमें नगरके व्यापारी लोगोंकी एक संस्था हुआ करती थी जो नैगम[1] नामसे पुकारी जाती थी । नैगम शब्दका प्रयोग राजधानीके वणिग्वर्गके विषयमें ही होता था । साधारण व्यापारियोंकी समितिके अर्थमें जो नैगमका तात्पर्य अब तक समझा जाता था वह अनुचित था । उसके लिये 'श्रेणी' और 'पूग' शब्द प्रयुक्त होते थे । ऐसा मालूम होता है कि पौर-समितिका विकास नैगमसे ही हुआ और नैगम के ही आधारपर पौर-समितिका निर्माण हुआ । जातक और पालीके बौद्ध ग्रन्थोंमें नैगम पौरका पर्यायवाची है ।[2] हिन्दू धर्म-शास्त्रोंके भाष्यकारोंने भी नैगम और पौर दोनों शब्दोंको पर्यायवाची माना है ।[3] पाली-ग्रन्थोंमें नैगम जानपदके साथ और संस्कृत ग्रन्थोंमें पौर जानपदके साथ मिला कर प्रयोग किये हुए देखनेमें आते हैं । राजधानीके वणिग्वर्गका नगरकी समितिसे इतना घनिष्ठ संबन्ध था कि दोनों एक ही वस्तु माने जाने लगे । इसी कारणसे पौर-समितिमें वणिग्वर्गकी प्रधानता थी । रामायणमें पौरके साथ ही नैगमका उल्लेख मिलता है और वहां ये दोनों संस्थायें जुदी किन्तु परस्पर संबद्ध मानी गयी है ।

## " नैगमके सिक्के "

हम यह कह चुके हैं कि पौर-समितिमें व्यापारी लोगोंका अधिकांश था और

१ नैगमाः पौरवणिजः । मित्रमिश्र, वीरमित्रोदय, पृष्ठ १२० ।
२ She Jataka, Vol I. p. 149. सब्बे नेगम जानपदे ।
कूट दन्त सूत दीघनिकाय, पैरा १२, नेगमा च एव जान पदा च ते भवं राजा-आमन्तयतम ।
३ नारदस्मृति, जगनाथकृतटीका ।

पौर वर्गको राज्यके मुद्रणालयमें अपने सिक्के ढलवानेका अधिकार प्राप्त था। अतएव जो 'नैगम सिक्के' हमें पुरातत्वगवेषणासे मिले हैं और जो साधारण वणिग्वर्ग द्वारा मुद्रांकित किये माने जाते थे, वे सिक्के वस्तुतः राजधानीके नगर-सेठोंकी समिति द्वारा बनवाये हुए समझे जाने चाहिये।[1]

जिन सिक्कोंपर 'उज्जेनीय' आदि बड़े नगरोंके नाम अंकित हैं[2] वे वहांके पौर-वर्गके सिक्के हैं यही हमें अवगत होता है। पाणिनिके अनुसार वह स्थान वा घर जहां लोग आकर मिलते हैं निगम शब्दका अक्षरार्थ है, जिससे नैगम बना है। इस लिये नैगम उस संस्थाका नाम था जहां व्यापारी लोग आकर मिलते थे।

## जानपद और पौरके राजनीतिक कार्य।

जानपदका प्रायः राजनीतिक बातोंसे सबन्ध हुआ करता था। जानपदके कर्तव्यके संबन्धमें जितने उल्लेख मिलते हैं वे सब इस कथनकी ही पुष्टि करते हैं। इस नियमका केवल एक ही अपवाद मिला है, अर्थात् वे अपने सिक्के राज्यके मुद्रणालयमें बनवाया करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें सिक्कोंकी संख्या, तौल और शुद्रताकी देखरेख रखनेका अधिकार था क्योंकि मिलावट वा और किसी न्यूनताके कारण राज्यके सिक्कोंसे प्रजामें एक दो बार असन्तोष हो चुका था।

## पौर-जानपदका शासन-व्यवस्था-संबन्धी कार्य्य।

सभी शासन-व्यवस्था-संबन्धी कार्य्योंमें हम पौर और जानपद दोनोंको सदा सम्मिलित पाते हैं। पौर-समितिके कार्य्य दो प्रकारके हैं प्रथम तो राजधानीका शासन इसके अधीन था और इसके अतिरिक्त यह व्यवस्थापक सभा (Constitutional Assembly) थी। विशेष रूपसे प्रान्तकी राजधानियोंमें पौर समिति व्यवस्था सबन्धी कार्य्य जानपदके सहयोगके बिना स्वयं किया करती थी। किन्तु महत्वपूर्ण विषयोंपर जानपद और पौर इन दोनों समितियोंके सम्मिलित अधिवेशनमें ही विचार और निर्णय हुआ करते थे। इनमें इतनी एकता थी कि दोनों संस्थायें समान समझी जाती थीं और इनका एक बचनमें ही उल्लेख किया जाता था। जानपदकी सभा और कार्य्यालय राजधानीमें होते थे, इस कारणसे पौर और जानपदका इतना घनिष्ठ संबन्ध पड़ गया था।

ये समितियां जो कार्य्य करती थीं उनके उदाहरणोंपर विचार कीजिये। एक युवराजकी नियुक्तिपर विचार करनेके लिये ब्राह्मण और अन्य जातिके नेताओं सहित पौर और जानपदके सदस्य एकत्र होते हैं। आपसके परामर्शके अनन्तर वे युवराजको अंगीकारकर राजासे उसके अभिषेककी प्रार्थना करते हैं।[3]

---

१ अर्थशास्त्रसे तुलना करो—सौवर्णिकः पौरजानपदानां रूप्यसुवर्णमावेशनिभिः कारयेत।

२ Cunningham, A. S. R. Vol XIV, p. 148.

३ ब्राह्मणा जनमुख्याश्च पौरजानपदैः सह।
समेत्य मन्त्रयित्वा तु समतांगतबुद्धयः॥

## युवराजकी नियुक्तिपर विचार

राजा कुछ अचरजकी मुद्रासे एकत्र हुए सदस्योंसे पूछता है: "आप रामको अपना संरक्षक बनाना चाहते हैं इस विषयमें मेरे हृदयमें कुछ शंका हुई है, इसका समाधान कृपापूर्वक कीजिये। यद्यपि मैं धर्मानुसार राज्यका शासन करता हूँ तथापि बतलाइये कि किस कारणसे मेरे पुत्रको युवराज पदवी देना चाहते हैं।" उन सदस्योंके नेता राजाके इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं कि राम इक्ष्वाकु-कुलके रत्न हैं, भरतसे ज्येष्ठ हैं, धीरवीर हैं, पौर लोगोंके शुभ चिन्तनमें रत रहते हैं, उत्सवोंमें भाग लेते हैं, प्रजापालनके तत्वोंको समझते हैं इत्यादि इत्यादि, राष्ट्र उन्हें अपना स्वामी बनाना चाहता है, न केवल राज्य और राजधानीकी सारी प्रजा किन्तु आभ्यन्तर और बाह्य पौर जानपद-

ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम्।
स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिव॥
इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम्।
ते तमूचुर्महात्मानं पौरजानपदैः सह।
बहवो नृप, कल्याणा गुणाः पुत्रस्य सन्ति ते।
इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशांपते।
बभूव भरताग्रजः।
यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा।
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्तते॥
पौरान् स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति।
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति।
प्रजापालनतत्वज्ञो न रागोपहतेन्द्रियः।
आशंसते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा।
आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः॥
अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथः॥
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम्।
राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत्।
ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्तच्छ्रुत्वा तदलाभमिवेष्टमाशु।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा देवान् समानर्चुरभिप्रहृष्टाः॥
गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः।
मन्त्रयित्वा ततश्चक्रे निश्चयज्ञः स्वनिश्चयम्॥
उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम्।
पौरजानपदश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः॥
वाल्मीकि रामायण, अयोध्या, २

की समितियां भी रामकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करती हैं। राजा इस प्रस्तावको सुन कर प्रसन्न होता है और ज्यों ही उसके मुखसे "तथास्तु" यह वाक्य निःसृत होता है त्यों ही सभामण्डलमें प्रमोदपूर्ण घोष होता है। उस प्रस्तावको कार्य्यमें परिणत करनेके लिये आदेश देता हुआ राजा एक भाषण देता है। उसके समाप्त होने पर राजाको परामर्श देने वाले पौर लोग सन्तुष्ट होकर विदा होते हैं। इस स्थलमें यह तो स्पष्ट है कि पौर शब्दमें जानपदका भी समावेश है। प्रजाके प्रतिनिधि रूपसे वे अभिषेकमें भाग लेते हैं। पौर-जानपद समष्टिरूपसे अभिषेकमें सम्मिलित होनेकी प्रतीक्षा करते हैं। इस कार्य्य-में इन समितियोंके केवल मुख्य सदस्य ही उपस्थित रहते हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

## राजाको सिंहासनसे उतारना

मृच्छकटिक नाटकमें राजाको राज्यच्युत करनेकी घटनाका दृश्य, पौर-जानपदके एक विशेष अधिकारपर पूर्ण प्रकाश डालता है। एक नैगमका सभापति राजाके अन्यायका शिकार बना, इस कारण वह राजा राज्यच्युत किया गया। उस राजाका भाई जो पौर लोगों-का विश्वासपात्र था, राजा बना। एक दूत 'जानपद-समवाय' अर्थात् उनकी समितिमें आकर राजाके सिंहासनसे उतारे जानेका समाचार वहां सुनाता है और "**पौरवृन्द**" इस प्रकार समितिका संबोधन कर **संस्थानक** को दण्ड देनेकी प्रार्थना करता है। सिंहलद्वीपके इतिहास, महावंशके अनुसार, भारतवर्षमें पौर लोग राजाको उसके अन्याय और अत्याचारके कारण राज्यभ्रष्ट अथवा निर्वासित कर सकते थे और सबके हितपर लक्ष्य रखकर और अपनी सभामें विचार कर वे उसके स्थानमें दूसरेका निर्वाचन करते थे, चाहे वह राजघरानेका हो वा न हो। यहां भी पौर शब्दमें जानपदका अन्तर्भाव है। दशकुमार चरित्रमें यह उल्लेख मिलता है कि राजाके भाइयोंसे पौर और जानपदकी मैत्री थी। इस लिये राजाकी मृत्युके पश्चात् वे सिंहासनारूढ़ हो जायंगे इस प्रकारकी आशंका भी उस स्थलमें प्रकट की गयी है।

## पौर-जानपदसमितिमें राजनीतिक वादानुवाद

अर्थशास्त्रमें पौर और जानपदकी समितियोंमें जिस तरह वादविवाद होते थे उसका एक नमूना मिलता है। पौर और जानपदके राजनीतिक विचारोंका पता रखनेवाले राजा जासूस [ चार, प्रणिधि ], तीर्थ-सभा (१) शाला-समवायमें जाते हैं और (२) पूग समवाय और (३) जनसमवायमें भी आया जाया करते हैं ये संस्थायें इस प्रकारकी थीं-पहिली पौर सभाकी एक उपसमिति थी जो तीर्थ-स्थान और राष्ट्रीय इमारतोंकी देखरेख करती थी, दूसरी उपसमिति [ पूग समवाय ] व्यापार और दस्तारीका निरीक्षण किया करती थी, और तीसरी संस्था, जन-समवाय वा जनपद-समवाय—सार्वजनिक सभा थी। इन समितियोंमें जाकर राजाके जासूस पौर और जानपदकी मनोगत बातोंका पता चलाते थे। वे लोकमतका रुख समझनेके लिये इस प्रकार अपने विषयकी प्रस्तावना करते हैं। "हम सुनते हैं कि राजा बहुगुण सम्पन्न है किन्तु हमें तो उसके गुण अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुए, क्योंकि सेना और करकी मांगसे उसने पौर और जानपद दोनोंको ही सता रक्खा है।"

यदि वे लोग राजाका समर्थन और उसकी प्रशंसा करने लगें तो उन्हें राजाकी उत्पत्ति विषयक शास्त्रीय वर्णनकी याद दिलाना चाहिये। वह इस प्रकार है :—"मात्स्य-न्यायकी स्थितिसे (जिसमें बड़ी छोटी मछलीको खा जाती है) त्रस्त होकर प्रजावैवस्वत मनुके पास गयी। धान्यका छठवां हिस्सा और वाणिज्यके दशमांशका सुवर्ण उसे कर रूपसे देना उसने निश्चित किया। प्रजाके योगक्षेमके सम्पादनार्थ यही राजाका वेतन है।"

**तत्र येऽनुप्रशंसेयुः तानितरस्तंच प्रतिषेधयेत्। मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्य चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भृता राजानः प्रजानां योग क्षेमावहाः तेषां किल्विषमदण्डकरा हरन्ति॥ अर्थशास्त्र, १, १३ ६**

पौर—जानपद और प्रधान मंत्रीका निर्वाचन।

महाभारतके अनुसार राजाको उसे ही मन्त्रिपदपर नियुक्त करना चाहिये जो पौर-जादपदका विश्वासभाजन है :—

**तस्मै मन्त्रः प्रयोक्तव्यो दण्डमाधित्सता नृप।**
**पौर जानपदा यस्मिन्विश्वासं धर्मतो गताः॥ शांतिपर्व ८३,४६**

राजनीतिसंबन्धी प्रस्ताव

राजा और मन्त्रिमण्डलके वादानुवाद उपरान्त राजनीति विषयक प्रस्ताव राष्ट्र अर्थात् जानपदके समक्ष राष्ट्रके सभापति द्वारा उस समितिकी रायके लिये उपस्थित किये जाते थे।

**अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत्।**
**ततः संप्रेषयेद्राष्ट्रे, राष्ट्रीयाय च दर्शयेत्॥ शांति, प ३५, १८॥**

प्रस्ताव राष्ट्रीय सभाके सामने लाने पड़ते थे क्योंकि असाधारण टैक्सकी स्वीकृति उसीके अधीन थी जैसा कि हम आगे चलकर निरूपण करेंगे। इसमें तो सन्देह नहीं कि मन्त्रियोंकी पदावधि पौरजानपदके विश्वास और सदिच्छापर कुछ अंश तक निर्भर थी। अमात्य चक्रपालित जिसे स्कंधगुप्तने पश्चिम प्रान्तका शासक नियुक्त किया था, अपने एक शिलालेखमें खुले शब्दोंमें कहता है कि थोड़े ही समयमें प्रजाको 'मेरे शासनपर' विश्वास हो गया और पौरवर्गको खुश करनेकी मैंने बहुत चेष्टा की जिसमें मैं कृतकार्य्य हुआ। अन्तमें उसने प्रार्थना की है कि राजधानी उन्नत हो, और मैं पौर लोगोंकी आराधनामें तत्पर रहूं।*

**विश्रम्भमल्पेन शशाम योऽस्मिन् कालेन लोकेषु स नागरेषु यो लालयामास च पौर वर्गात्............** [शेष आगे]

**अनु० गंगाप्रसाद महता।**

*लेखक श्री काशीप्रसाद जायसवालकी आज्ञा लेकर १९२० फरवरीके माडर्नरिव्यूसे अनुवादित

# वाशिंगटन सम्मेलन ।

गत महायुद्धकी भीषण समराग्निमें ६ करोड़ मनुष्य और ७ खर्व ५० अरब रुपये फूंक देनेपर भी संसारके बड़े बड़े राष्ट्रोंको अभी तक सन्तोष नहीं हुआ है। युद्धकी ज्वालाओंको प्रज्वलित रखनेके लिये, प्रति वर्ष युद्ध सामग्री बढ़ती ही जाती है। अभी पिछले साल ही, विजयी शक्तियोंने १५ अरब २५ करोड़ रुपये सेनाकी वृद्धिमें अधिक व्यय करनेका निश्चय किया था। परन्तु इस बोझसे अब इन राष्ट्रोंका दिवाला निकल रहा है और सभीको इसके कम करनेकी चिंता हो रही है। इस व्ययका मुख्य कारण वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थित बतलायी जाती है। महायुद्ध सम्बन्धी यूरोपीय झगड़े अभी चल ही रहे हैं। इसी बीचमें प्रशान्तसागरकी शान्तिका एक नया पचड़ा लगगया है। यह प्रश्न दिनपर दिन जटिल होता जाता है। इसका उचित समाधान कैसे हो सकता है, और सैनिक व्यय कैसे घटाया जा सकता है, इन्हीं दोनों बातोंपर विचार करनेके लिये अमरीकाके नये राष्ट्रपति हार्डिंगने इस सम्मेलनको आमंत्रित किया था।

इसमें भाग लेनेके लिये, केवल बड़ी बड़ी शक्तियोंको ही निमंत्रण भेजा गया था। जर्मनी, रूस और आस्ट्रिया इससे भी अलग ही रखे गये थे। इस तरह अमरीका, ब्रिटेन, फ्रान्स, जापान, और इटली ये पांचों राष्ट्र आमंत्रित थे। सम्मेलनके सम्मुख विचारणीय प्रश्नोंका ध्यान रखते हुए, इन राष्ट्रोंने अनुभवी राजनीति-पण्डितोंको ही प्रतिनिधि बनाकर भेजा था। इंग्लैण्डके प्रधान सचिव लायड जार्ज आयर्लैण्डके झगड़ोंमें फँसे थे, इस लिये उनके स्थानपर पुराने खुर्राट आर्थर जेम्स बालफ़ोर, ब्रिटिश प्रतिनिधि मण्डलके नेता बनकर गये थे। ब्रिटिश उपनिवेशोंको अलग अलग निमंत्रण नहीं दिया गया था, इसलिये उन्होंने ब्रिटिशप्रतिनिधि मण्डलके सदस्य बनकर जानेमें अपनी मानहानि समझी, पर बिना किसी प्रकारके निमंत्रणके भी भारत सरकारकी ओरसे माननीय श्रीनिवास शास्त्रीजी उपस्थित थे। फ्रान्सने तत्कालीन प्रधान सचिव ब्रियांदको भेजा था, इनके साथ वहांके भूतपूर्व मंत्री विवियानी भी थे। जापानसे, वहांके नौसेनाध्यक्ष केटो आये थे, इटलीने अपने चतुर राजनीतिज्ञ शोज़ेरको भेजा था। स्वयं अमरीकाके प्रतिनिधिमण्डलके नेता वहांके मंत्री ह्यूज महाशय थे। इन नेताओंको परामर्शमें सहायता देनेके लिये, बहुतसे चतुर अनुभवी नौसेनानायक भी साथ थे। राष्ट्रसंघकी तरह, यहां प्रत्येक राष्ट्रके वोटकी संख्या उसके प्रतिनिधियोंकी संख्यापर निर्भर न थी। इसके प्रतिकूल प्रत्येक राष्ट्रको, उसके प्रति-निधि चाहे कितने ही हों, एक ही वोट देनेका अधिकार दिया गया था।

६ मार्गशीर्ष (२२ नवम्बर) को सम्मेलनकी कार्य्यवाही शुरू करते हुए, श्री हार्डिंगने बड़ी भावपूर्ण वक्तृता दी। आपने कहा कि युद्धसे सारा संसार व्याकुल हो रहा है, और

सबकी हार्दिक इच्छा है कि इसकी सम्भावना सदाके लिये मिटा दीजाय। इसी प्रश्न पर विचार करनेके लिये यह सम्मेलन आमंत्रित किया गया है। अन्तमें आपने यह भी बतलाया कि अमरीकाको भूमिकी भूख नहीं है, न उसने किसी स्वार्थकी दृष्टिसे यह सम्मेलन आमंत्रित किया है, उसका मुख्य उद्देश्य लोकसेवा और शान्तिरक्षा है। तत्पश्चात श्रीवालशेरके प्रस्ताव करने पर श्रीह्यूज़को सभापतिका आसन दिया गया।

श्री ह्यूज़ने अपने भाषणमें अधिक जोर नौसेनाके ही घटाने पर दिया। इसके व्ययको कम करनेके लिये आपने चार सिद्धान्त स्थिर किये। एक तो यह कि नये जंगी जहाजोंके बनानेका विचार छोड़ दिया जाय, और जो बन रहे हैं, उनका बनना बंद कर दिया जाय। दूसरे कुछ पुराने जहाज नष्ट कर दिये जायं। तीसरे बड़े २ राष्ट्रोंकी वर्तमान नौ शक्तिका ध्यान रखा जाय। और चौथे नौशक्तिके मापनेका परिमाण जहाजोंकी लड़ाईका वजन हो। इन सिद्धान्तोंके अनुसार इंगलैण्डको चार, जापानको दो, और अमरीकाको छोटे बड़े मिलाकर १५ नये जहाजोंका बनवाना बंद कर देना चाहिये। इसीतरह सब मिलाकर ६६ पुराने जहाज नष्ट कर दिये जायं, और १० वर्ष नये जहाजोंके बनानेका विचार न किया जाय। वजनके परिमाणको लेते हुए, अमरीका और इंगलैण्डकी शक्ति पांच पांच लाख टन, और जापानकी तीन लाख टनसे अधिक न हो। सम्मेलनके समाप्त होनेपर तीन महीनेके भीतर ही भीतर, यह सब परिवर्तन हो जाने चाहिये और उसके बाद इंगलैण्ड के पास २२ अमरीकाके पास १८ और जापानके पास १० बड़े २ जंगी जहाज होने चाहिये। इस सम्बन्धमें फ्रान्स और इटलीके विषयमें उनकी वर्तमान शक्ति देखते हुए, आपने पहिलेसे कुछ कहना उचित नहीं समझा। अमरीकाके प्रस्तावोंका यह व्यावहारिक स्वरूप देख कर सभी प्रतिनिधि दंग रह गये।

इसके बाद स्थल, जल और वायु। तीनों प्रकारकी सेनाओं पर अलग २ विचार करनेके लिये पांचों शक्तियोंकी तीन समितियां नियुक्त की गयीं। स्थल सेना घटानेका फ्रान्सने बड़ा विरोध किया। उसने कहा कि जर्मनी और रूससे हमें बड़ा भय है. जर्मनी की सारी शक्ति अभी नष्ट नहीं हुई है, उसमें युद्धाकांक्षी दल अब भी मौजूद हैं, दोनों देशोंकी भूमि सीमायें मिली होनेसे, सबसे अधिक भय हमें ही है, ऐसी दशामें वर्तमान स्थल सेनाको घटानेमें हम सर्वथा असमर्थ हैं। जापान वालोंने कहा कि सुदूर पूर्वकी दशा देखते हुए आत्मरक्षाके लिये हमें अपनी वर्तमान सैनिक शक्ति अत्यन्त आवश्यक है। इंगलैण्ड अमरीका, और इटलीने कहा कि हम बराबर स्थल सेना घटा रहे हैं, इससे अधिक घटाना असम्भव है। इस पर सर्व सम्मतिसे यह निश्चित हुआ कि स्थल सेनाका प्रश्न सम्मेलनके सामने न छेड़ा जाय।

जलसेनाके विषयमें भी अमरीकाके प्रस्तावों पर सभीने असन्तोष प्रगट किया। फ्रान्सने तो वही जर्मनीके भयके कारण यहां भी कोई कमी करनेमें अपनेको असमर्थ बतलाया। जापानवालोंने कहा कि हमारा देश एक छोटासा द्वीप है, उसकी सारी शक्ति नौ सेना ही पर निर्भर है, अमरीका और इंगलैण्डकी शक्ति देखते हुए ह्यूज़के प्रस्तावोंके अनुसार

## वाशिंगटन सम्मेलन ।

जापानकी शक्ति बहुत ही कम की जा रही है । दस वर्ष तक नये जहाजोंका बनना एक दम बन्द कर देना, इंगलैण्डको अच्छा न लगा। उसका कहना था कि ऐसा करनेसे बहुतसा अमूल्य सामान खराब जायगा, और उसके बहुतसे चतुर कारीगर बेकार बैठे रहेंगे । जो पुराने जहाज नष्ट कर दिये जांयगे, उनके स्थान पर नये जहाजोंकी आवश्यकता होगी, ऐसी दशामें नये जहाजोंका बनना एक दम बंद कर देना उचित नहीं है । उसने यह भी दिखलाया कि जो वृद्धिक्रम अमरीकाने बतलाया है, उसके अनुसार १६ वर्ष बाद अमरीका की शक्ति सबसे अधिक हो जायगी ।

जंगी जहाजोंके साथ साथ गोताखोर या जलमग्न नौकाओंका प्रश्न भी आया। ये नौकायें जो 'सबमरीन'के नामसे प्रसिद्ध हैं, जलके भीतर ही भीतर रहकर, ऊपर तैरती हुई दीर्घकाय जहाजोंको बातकी बातमें छिन्न भिन्न करके रसातल पहुंचा देती हैं। गत-महायुद्धमें जर्मनीने इनका बड़ा दुरुपयोग किया था, और इनके द्वारा बहुतसे निरपराध व्यापारी जहाजोंको नष्ट कर डाला था । इसीसे रुष्ट होकर अमरीकाने मित्रराष्ट्रोंका साथ दिया था । ब्रिटिश प्रतिनिधि मण्डलके नेता बालफोरने इन नौकाओंको एक दम उठा देनेका प्रस्ताव किया । इसका प्रायः सभी राष्ट्रोंने विरोध किया । उनका कहना था कि निर्बल राष्ट्रोंको आत्मरक्षामें इनसे बड़ी सहायता मिलती है, बड़ी बड़ी नौसेनाओंका सामना वे इन्हींसे कर सकते हैं । इन दलीलोंका उत्तर देते हुए, ब्रिटिश नौसेनाध्यक्ष लार्डलीने बतलाया कि आत्मरक्षाके लिये यह उपाय उचित और पर्य्याप्त नहीं है, इसके अतिरिक्त इसमें बड़ा व्यय होता है । उदाहरणमें आपने कहा कि इस उपायका पूर्ण प्रयोग करने पर भी जर्मनीको सफलता न हुई । आपके मतानुसार रक्षाकी अपेक्षा आक्रमण ही में ऐसी नौकाओंका प्रयोग अधिक उपयोगी है, उसमें भी इनके द्वारा व्यापारी जहाज ही अधिक नष्ट होते हैं । लार्डलीकी दलीलोंका प्रभाव ह्यूज पर बहुत पड़ा, और उन्होंने प्रस्ताव किया कि जंगी जहाजोंकी तरह इनका परिमाण भी निश्चित कर दिया जाय, जिसके अनुसार अमरीका और इंग्लैण्डके पास साठ हजार टनसे अधिक न हों, और फ्रान्स, जापान तथा इटलीके पास जितनी नौकायें मौजूद हैं, उतनी ही बनी रहें । इसका इन तीनों शक्तियोंने विरोध किया । उनका कहना था कि बड़े जहाज कम होनेके कारण उनको ऐसी नौकाओंका ही सहारा लेना पड़ता है, ऐसी दशामें आगेके लिये उनके हाथ बांध देना, उनके साथ घोर अन्याय करना है । इस विषयमें जापानको अमरीका पर, और फ्रान्सको इंग्लैण्डपर सन्देह होने लगा । फ्रान्सने अपनेको किसी प्रकारके बंधनमें डालनेसे साफ इन्कार किया । यह बात इंग्लैण्डको बहुत खटकी और उसको स्पष्ट शब्दोंमें कहना पड़ा कि ऐसी नौकाओंकी वृद्धिसे उसे फ्रान्ससे बड़ा भय है, क्योंकि फ्रान्स इंग्लैण्डका पड़ोसी है, और इंग्लैण्डके व्यापारी जहाज सबसे अधिक हैं ।

इस विषय पर वादविवादमें मनोमालिन्य उत्पन्न होने लगा, और समझौतेकी कोई आशा न रही । राष्ट्रपति हार्डिंगके कहने पर यह समस्या, एक दूसरे सम्मेलनके

लिये टालदी गयी, जिसमें छोटे छोटे राष्ट्र भी भाग ले सकें। इस प्रस्तावका इटलीने भी समर्थन किया। इस तरह परस्परकी फूटसे सम्मेलनका पिगड छूटा। इस विषयमें एक बात पर सभी सहमत थे, और वह बात यह थी, कि भविष्यके लिये ऐसे नियम अवश्य बन जाने चाहिये, जिनसे इन नौकाओंका ऐसा दुरुपयोग न किया जाय, जैसा कि पिछले महायुद्धमें हुआ था। अतएव अमरीकाके प्रस्तावपर निश्चित हुआ कि इन नौकाओंके प्रयोगमें अन्तर्राष्ट्रीय नियमोंका पूरा ध्यान रखा जाय, और व्यापारी जहाज नष्ट न किये जायं। यदि कोई नौकर्मचारी विना सरकारी आज्ञाके इसका उल्लंघन करे, तो उसपर डकैतीका अभियोग लगा कर, उसको उचित दगड दिया जाय। इंग्लैगडके कहने पर यह भी स्वीकृत हुआ कि पांचों शक्तियां इन नियमोंका पालन सम्मेलनके बादसे ही करने लगें, और युद्धमें जहरीली गैस या अन्य किसी जहरीले पदार्थका प्रयोग न करें।

हवाई जहाजों पर विचार करनेके लिये जो समिति बैठी थी, वह कोई निर्णय न कर सकी और यह प्रश्न वैसा ही रह गया। अन्तमें ये निर्णय एक सन्धि स्वरूपमें लिखे गये, जिसपर पांचों राष्ट्रोंने हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार २० जंगी जहाज ५,३०,४५० टनके ब्रिटेनके पास, ५००,६५० टनके १८ अमरीकाके पास, २२१००० टनके ६ फ्रान्सके पास, १८२००० टनके १० इटलीके पास और ३०१००० टनके दस जापानके पास रहेंगे। इनमें कौन २ से जहाज हैं उनके नाम भी दे दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त जो पुराने, या नये, बनते हुए जहाज होंगे, नष्ट कर दिये जायंगे। परन्तु अमरीका और इंगलैगडको, दो नये जहाजों को, जो बन रहे हैं, पूरा करनेका अधिकार होगा। इसी तरह जापान अपना नया जहाज, 'मुत्सु' भी रख सकेगा। नये जहाज तैयार हो जाने पर अमरीकाको दो, और इंगलैगड को तीन पुराने जहाज नष्ट कर देने पड़ेंगे। कोई नया जहाज ३५००० टनसे अधिक न होगा। इन जहाजों पर जो तोपें रहेंगी, उनका व्यास १६ इंचसे अधिक न रहेगा। अमरीकाको ६२७००० टनके, ब्रिटेनको ६०६००० टनके, और जापानको ४३५००० टनके जहाज नष्ट कर देने पड़ेंगे। नष्ट कर देनेका अभिप्राय है कि वे डुबो दिये जांय, या किसी प्रकार युद्धमें काम देनेके अयोग्य कर दिये जायं। नौ-सेना-शक्ति निर्धारित करनेका यह नियम रहे कि यदि इंगलैगड और अमरीकाके पास ५ हों, तो जापानके पास ३। वृद्धि क्रममें बराबर इसका ध्यान रखा जाय। नष्ट किये हुए जहाजोंको ठीक ठाक करने, या व्यापारी जहाजोंको जंगी बनानेका अधिकार नहीं है।

इस संधिकी अवधि १६ पौष १९९३ ३१ दिसम्बर सन् १९३६ ई०) तक है। यदि अवधि पूर्ण होनेके दो वर्ष पूर्व कोई दो शक्तियां इसके अन्त करनेकी नोटिस न देवें तो ऐसी नोटिसकी तिथिके दो वर्ष बाद तक यह सन्धि बराबर जारी रहेगी।

यह तो हुई सैनिक सामग्री घटानेकी बात। अब देखना यह है कि प्रशान्त सागरके प्रश्नों पर सम्मेलनने क्या मत स्थिर किया? परन्तु इसके पूर्व प्रशान्त सागरके प्रश्न

को पूर्ण रूपसे समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है । आजसे एक शताब्दी पूर्व पाश्चात्य राष्ट्रों को ऐसे प्रश्नोंका स्वप्नतकमें ध्यान न था । अमरीकाकी दृष्टि अभी तक अटलांटिक सागर पार न कर सकी थी । न्यूज़ीलैण्ड और आस्ट्रेलिया अभी तक असभ्यताके अन्धकारमें ही पड़े थे । अनन्त सागरकी गोदमें पड़े हुए जापानको बाहरी संसारसे किसी प्रकारका सम्बन्ध ही न था । चीन अपनी पीनकमें चुपचाप था । अंग्रेजोंकी 'ईस्टइण्डिया कम्पनी' की कृपासे उसको 'अमल पानी' की कमी न थी । हां रूस, अपने पड़ोसीको नशेमें पाकर, उसके मत्थेकी ओर अपना पंजा अवश्य बढ़ा रहा था ।

पर साठ सत्तर वर्षके भीतर ही भीतर इस स्थितिका काया-पलट हो गया । इसी बीचमें केलीफोर्नियासे अमरीकाकी दृष्टि प्रशान्तसागरकी अनन्त जलराशि पर पड़ने लगी, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड 'कालेपानी' से श्वेत उपनिवेश बन गये । अंग्रेजोंने चीनसे लड़ भिड़ कर उसकी छाती ही पर हांगकांग द्वीपमें पैर जमा दिया । इधर अमेरिकाके एक नौसेना-नायक पेरीने जापानके द्वार तोड़ कर पाश्चात्य सभ्यताका दर्शन कराया, तभीसे वह उसका उपासक बन गया, और उसने भी पाश्चात्य राजनीतिका अनुसरण करना प्रारम्भ कर दिया ।

सबसे पहिले उसने अपने पड़ोसी चीनकी दशासे लाभ उठाना चाहा । यह बात रूसको सहन न हो सकी, और उसने सीधे साधे चीनको यह समझाकर कि जापान तुम्हारा घोर शत्रु है पोर्टआर्थर पर अधिकार कर लिया । चीनकी इस लूटमें जर्मनी भी शरीक हुआ, और उसने शांतुंग प्राय द्वीपमें अपना डेरा डाल दिया । ये लोग चीनको ऋण देदेकर उससे विशेष अधिकार लेते जाते थे, और अपने नाम भूमिके पट्टे भी लिखवाते थे । यह दशा देख-कर फ्रान्स और हालैण्डने भी हाथ बढ़ाया, और अंग्रेजोंने वाई-हाई वाईका पट्टा लिखा लिया । चीनने इस माया-जालसे मुक्त होनेके लिये संवत् १९५७ ( सन् १९०० ई० ) में बाक्सर विद्रोह किया, जिसके दबानेके लिये सारी शक्तियां एक साथ उस पर टूट पड़ीं, और वह बेचारा बिलकुल पिस गया । इस अवसर पर अमरीकाने भी इन शक्तियोंका साथ दिया, क्योंकि उसे भी अपना असंख्य धन कहीं लगाना था, जिसके लिये चीनसे बढ़कर सुविधा कहां हो सकती थी । इसी लिये उसने चीनके साथ सहानुभूतिका ढोंग रचकर रूस और जर्मनीको 'मुक्त द्वार' की नीतिके लिये बाधित किया । इस नीतिका अर्थ यह है कि सब शक्तियोंको चीनके साथ व्यापार करने या सम्बन्ध रखनेकी समान सुविधायें रहें ।

रूसको यह नीति बहुत खटकी, और उसने जर्मनीके उसकानेपर, मंचूरिया और कोरियाको एक दम हड़प कर जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया । रूसी भालूसे अंग्रेज सदा भयभीत रहते आये हैं । उसकी नीति देखकर उन्होंने जापानसे सन्धि कर ली, और मुक्त द्वार नीतिके पक्के पक्षपाती बन गये । इस बीचमें रूस जापानमें युद्ध छिड़ गया । जापानकी पूर्ण विजय हुई, और मंचूरिया तथा कोरियामें रूसके स्थानपर जापानका आधिपत्य जम गया ।

संवत् १९६८ ( सन् १९११ ) में जापानकी देखादेखी चीनने भी अपना चोला

बदलना चाहा। उसने मांचू राजवंशको गद्दीसे उतारकर प्रजातन्त्र शासनकी घोषणा कर दी। राज्यविप्लवके बाद देशकी स्थिति वैसे ही नाजुक हो जाती है, फिर चीनके लिये कहना ही क्या था?

प्राचीन सभ्यताकी बू अब तक उसके दिमागमें बाकी थी, राष्ट्रीयताका भाव पूर्ण रूपसे जागृत न हुआ था। इन सब बातोंके अतिरिक्त वह विदेशियोंके ऋणसे पिस रहा था। फल यह हुआ कि सारे चीनमें अराजकता फैल गयी, और उद्दण्ड लड़ाकू नेताओंकी बन आयी। प्रान्तीय शासकोंने स्वतन्त्र होनेकी चेष्टा की, और आर्थिक सहायताके बदले विदेशियोंको तरह तरहके विशेष राजनीतिक अधिकार दे दिये। चीनकी इस स्थितिसे जापानने खूब लाभ उठाया। उसीके भाग्यसे महायुद्ध छिड़ गया, जिसमें उसने जर्मनीको निकाल बाहर किया, और शान्तुंगपर अपना पूरा अधिकार जमा दिया। इतना ही नहीं, चीनसे उसने २१ ऐसी शर्तें भी मनवालीं, जिससे उसकी स्वतन्त्रता नाममात्रको रह गयी।

जापानकी यह नीति अमेरिकाको बहुत खटकी, इसीलिये चीनके प्रति सहानुभूति दिखलाते हुए उसने मुक्तद्वार नीतिका डंका पीटना प्रारम्भ किया। अमरीका और जापानमें मतभेद देखकर इंग्लैण्ड बड़े चक्करमें पड़ा। जापानकी शक्ति और अपने पूर्वीय साम्राज्यको देखते हुए, उसका सन्तुष्ट रखना बड़ा आवश्यक है। साथ ही साथ पाश्चात्य राष्ट्रोंमें सबसे धनी और नैतिक नेता अमरीकाको रुष्ट करना भी ठीक नहीं है। इधर सन्धिकी अवधि पूरी हो रही थी। ऐसी दशामें दोनोंको कैसे प्रसन्न रखें, इंग्लैण्ड इसी सोच विचारमें पड़ा था। विना इस समस्याका समाधान हुए, प्रशान्त सागरमें अशान्तिकी बड़ी सम्भावना थी, इसीलिये सम्मेलनके सम्मुख यह प्रश्न भी उपस्थित था।

इसपर विचार करनेके लिये जो समिति बैठी, उसमें हालैण्ड, बेलजियम और चीनके भी प्रतिनिधि थे। चीनी प्रतिनिधिने, चीन सम्बन्धी गुप्त संधियोंको रद्द करनेका अनुरोध करते हुए, 'मुक्तद्वार' नीतिका समर्थन किया। साथ ही साथ स्पष्ट शब्दोंमें यह भी बतलाया कि चीन अपनी भूमि अखण्ड रखना चाहता है, और किसी बाहरी शक्तिको शासनमें अधिकार न देकर, पूर्णरूपसे स्वतन्त्र राष्ट्र बनना चाहता है। यदि उपस्थित राष्ट्र इसे मानते हैं, तो वह आगेसे किसीको पट्टा न देनेका बचन देता है। सभी राष्ट्रोंने इस नीतिका बड़े जोरोंसे समर्थन किया, और कहा कि चीनकी स्वतन्त्रतामें हम तनिक भी बाधा नहीं डालना चाहते, जो कुछ हम कर रहे हैं, वह सब चीनके ही हितके लिये है।

परन्तु जब मामलेकी बात आयी, तब इस मौखिक सहानुभूतिकी कलई खुलने लगी। चीनकी अखण्डता माननेके लिये यह आवश्यक था कि, उससे छीनी हुई भूमि लौटा दी जाय। इसमें सबसे जटिल प्रश्न शान्तुगका था, जिसको महायुद्धमें जर्मनीसे जापानने छीना था। वर्सेलकी सन्धिके समयपर, जब चारों ओर 'आत्म-

निर्णय' के सिद्धान्तकी पुकार मची थी, जापानसे इसको वापस दिलानेके लिये चीनने मित्र राष्ट्रोंसे बहुत अनुरोध किया, पर तब जापानके आगे बेचारे चीनकी कौन सुनता था। चीनने इसी कारणसे सन्धिपर हस्ताक्षर तक न किये। अब चीनने सबसे पहिले इसीको छेड़ा, इस बार बहुत सोच विचारके बाद जापानने कुछ शर्तोंपर शान्तुग लौटा देनेका बचन दिया। जापानकी यह उदारता देखकर इंग्लैगडने भी वाई हाई-वाई लौटा दिया, और फ्रान्सने भी थोड़ी बहुत भूमि लौटा देनेका वचन दिया। इस तरह चीनकी अखगडता स्वीकार की गयी। शासन सम्बन्धी स्वतन्त्रतामें सबसे अधिक बाधा जापानकी २१ शर्तोंसे पड़ती थी, जिनके अनुसार चीनको अर्थ, राजकाज और सेना विभागमें सलाह देनेके लिये जापानियोंको रखना पड़ता था। जापानने इस शर्तको निकाल दिया और सर्व सम्मतिसे चीनकी स्वतन्त्रता स्वीकृत हुई। विदेशियोंने डाक, तार, और पुलिसका अपने लिये प्रबन्ध निजी तौरसे कर लिया था, इसी तरह न्यायालय भी अपने अलग बना लिये थे। अब यह निश्चित हुआ कि अगले वर्षसे विदेशी डाकखाने तोड़ दिये जायं, और तार केवल व्यापारी सम्वादोंके लिये काममें लाये जायं। इसी तरह यदि चीन न्यायकी उचित व्यवस्था कर देवे, तो धीरे धीरे न्यायालय हटा दिये जायं।

अमरीका और जापानका मनमुटाव मिटानेके लिये यह तय हुआ कि प्रशान्तसागरके तटोंपर किसी शक्तिको दुर्ग बनानेका अधिकार न हो, जिसमें आगेके लिये युद्धकी आशंका जाती रहे। याप टापूके विषयमें अमरीका और जापानके बीच जो पुराना झगड़ा चला आता था, उसका भी समझौता कर दिया गया। इंग्लैगड-जापान सन्धिके कारण अमरीकाको इंग्लैगडके प्रति जो सन्देह उत्पन्न हो रहा था, उसको दूर करनेके लिये वह सन्धि रद्द कर दी गयी, और उसके स्थानपर इंग्लैगड, अमरीका, जापान और फ्रान्सके बीच एक नयी सन्धि हुई, जिसमें चीन तथा प्रशान्तसागर सम्बन्धी अन्य प्रश्नोंका, ऊपर लिखे अनुसार, उल्लेख किया गया है।

इसके बाद सम्मेलनकी कार्यवाही समाप्त हुई। राष्ट्रपति हार्डिंगने, सन्तोष प्रकट करते हुए, समय समयपर ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनोंकी बड़ी आवश्यता बतलायी। आपने यह भी कहा कि इन सब बातोंका सन्धियोंमें चाहे उल्लेख हो या न हो, हम लोगोंको 'सज्जनोंके बचनों' का ध्यान रखकर ही इनका पूर्ण रूपसे पालन करना चाहिये। ब्रिटिश प्रतिनिधि बालफ़ोरने हार्डिंगसे बिदा होते हुए, कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ोंको शान्तिपूर्वक निपटानेके लिये, ऐसे सम्मेलनोंका एक अच्छा उपाय निकल आया है। सम्मेलनके लिये इतना ही क्या कम है, जो कुछ उसने किया है, उससे कहीं अधिक तो उसका मानसिक प्रभाव है, जिससे आगे चलकर संसारकी शान्ति और सुखमें बहुत कुछ सहायता मिलेगी। इस तरह एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए, भिन्न भिन्न राष्ट्रोंके प्रतिनिधि वाशिंगटनसे विदा हुए।

अब देखना यह है कि इस सम्मेलनने वास्तवमें किया क्या? इसके आगे पहिला प्रश्न था सैनिक व्ययको कम करना। इसमें स्थल और वायु सेनाका विचार तो

एक दम ही छोड़ दिया गया। रही जल-सेना, इसमें सम्मेलनने अवश्य कमी की है। जिससे सम्भव है कि वहांकी सरकारोंके व्ययका बोझ कुछ हलका पड़ जाय। पर इतनेसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वहांकी साधारण प्रजाके करमें कोई विशेष कमी हो जायगी। इससे आगेके लिये युद्धकी सम्भावना कम हो गयी, ऐसी भी आशा करना व्यर्थ है। पहिले तो जो कमी की गयी है, वह नाममात्रकी है, अपनी अपनी साम्राज्य वृद्धिकी आकांक्षा पूरी करनेके लिये, अभी इन राष्ट्रोंके पास पर्याप्तसे कहीं अधिक सेना है। इसके अतिरिक्त इसका निर्णय केवल विजयी राष्ट्रोंका निर्णय है। इसमें शत्रु-राष्ट्र रूस और जर्मनीका कोई स्थान नहीं है, संसारके अन्य राष्ट्र भी अलग ही रहे हैं इस तरह राष्ट्र-संघकी नाईं इसके निर्णय भी सर्व-राष्ट्र सम्मत नहीं कहे जा सकते। बड़े बड़े राष्ट्रोंने स्वयं आर्थिक दिवालेसे बचनेके लिये ऐसी नीतिका अनुसरण किया है। इससे बेचारे छोटे छोटे राष्ट्रोंके शिकार बन जानेकी सम्भावना कम होनेकी अपेक्षा अधिक ही हो गयी है। ऐसी दशामें यह कहना कि इससे संसारका कोई बड़ा भारी हित हुआ हो, व्यर्थ है।

अब रहा दूसरा प्रश्न प्रशान्त महा सागरका। इसमें सबसे मुख्य बात थी चीनकी पूर्ण स्वतंत्रता, परन्तु यह भी अधूरी ही रह गयी। मंचूरिया और मंगोलियामें जापान अभी डटा पड़ा है। इस सम्मेलनसे उसने अपने इन अधिकारोंका बड़े २ पाश्चात्य राष्ट्रोंसे समर्थन भी करा लिया है; इससे अब उसकी जड़ और भी दृढ़ हो गयी है। शान्तुंगमें किया ओचाव उसने जर्मनीसे छीना था, ऐसे लूटके मालको लौटा देनेमें कोई उदारता नहीं है। यहां पर भी उसने रेल पर अपना अधिकार रखा है, जो देशका धन चूस २ कर देशको निर्धन बना रही है। हांगकांग पर ब्रिटिश झंडा फहरा रहा है, वहींसे बैठे २ वे सारे देशके व्यापारकी देख-रेख कर सकते हैं। सेगोनपर फ्रांसका अधिकार भी ज्योंका त्यों बना है। ऐसी दशामें चीनकी अखण्डता कहां रही? 'हमें भूमिकी अभिलाषा नहीं है' इतना कह देनेसे काम नहीं चलता है। सीधे २ भूमि न लेकर उसको चूस जानेके और भी तो कई उपाय हैं। उदाहरणके लिये मंचूरियामें जापानकी ही नीति ले लीजिये। वहां उसने रेलोंका ऐसा जाल फैला दिया है कि उससे मुक्त होना असम्भव ही है। गिरह काटनेसे खुली डकैती अच्छी होती है, पर आज कल जमाना गिरह काटनेका ही है।

चीनी प्रश्न छिड़ते ही अमरीका और इंगलैण्ड, जापानने जो जबानी सहानुभूतिकी नदियां बहा दीं, इसका कारण कुछ और ही है। गत महायुद्धमें जो आर्थिक क्षति हुई है, उसे देखते हुए तीनों शक्तियोंको अपना व्यापार बढ़ानेकी बड़ी आवश्यकता है। इस व्यापारिक वृद्धिका मुख्य केन्द्र आज कल चीन ही है। अमरीकाका असंख्यधन चीन ही में अच्छे सूद पर लग सकता है। जापानकी कच्चे मालकी खरीद चीन ही से होती है, और फिर उसीके हाथ बनी हुई वस्तुएं बेचकर, एक एकके दस दस किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त जापानकी प्रतिवर्ष बढ़ती हुई जनसंख्याको बसनेके लिये चीनसे बढ़कर और

कौनसा स्थान हो सकता है। अमरीका और ब्रिटिश उपनिवेशोंमें घुसना सहज नहीं है, पर वेचारा चीन मजेमें दवाया जा सकता है। रूसके पतन और यूरोपके काया-पलट होनेसे, मनमाने दाम मांगनेके लिये, इंग्लैगडको भी चीनका मुंह देखना पड़ता है। इसके सिवा अपने विस्तृत पूर्वीय साम्राज्यकी रक्षाके लिये चीनके साथ इंगलैगडको घनिष्ट सम्बन्ध रखनेकी बड़ी आवश्यकता है। फ्रान्सको, अपनी वर्तमान अवनत दशामें, चीनसे कोई तत्कालिक लाभ नहीं है, पर पांचों सवारोंमें मिले रहनेके कारण वह भी चीनमें टांग अड़ाये रहना चाहता है। ऐसी दशामें इन शक्तियोंकी उदारताका परिचय सहज ही मिल जाता है। 'अर्थशास्त्र' के रचयिता कौटिल्यसे संसार अभी खाली नहीं है, मीठी २ बातें करके किस तरह गला घोटा जासकता है, इसका उदाहरण चीनके साथ इस सम्मेलनमें जो व्यवहार हुआ है, उसीसे मिल रहा है।

इसी तरह 'मुक्तद्वार' की नीतिमें भी स्वार्थपरतासे काम लिया गया है। तीनों शक्तियां एक दूसरेको सन्देहकी दृष्टिसे देखती हैं। तीनोंके पास ऐसे २ गुण हैं, जो दूसरेके पास नहीं हैं—अमरीकामें धनकी कमी नहीं है, जापानको चीनी प्रकृति और स्वभावका पूरा ज्ञान है, अंग्रेजोंकी व्यापारमें पुरानी धाक जमी हुई है। ऐसी दशामें तीनोंको एक दूसरेका भय है। इसी लिये 'मुक्त-द्वार' की चाल चली गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि किसी दिन इस 'मुक्तद्वार' से चीनको पूरा निर्वाणपद मिल जायगा।

कहा जाता है कि प्रशान्त सागरकी सन्धिसे चीनको दम लेनेका अवकाश मिल जायगा, पर चतुर चौकड़ीके चक्करमें पड़कर दम निकल जानेकी ही सम्भावना है। जब तक इन मित्रोंसे चीनका पिगड नहीं छूटता, तब तक उसके निस्तारका कोई उपाय नहीं है। साथ ही साथ इसमें भी सन्देह नहीं कि जब तक चीनकी बेचैनीमें इन शक्तियोंको टट्टीकी ओटमें शिकार खेलनेका अवसर बना हुआ है, तब तक इनमें भी परस्परकी सच्चा मित्रता नहीं हो सकती। इस समझौतेसे कुछ कालके लिये युद्ध टल भले ही जाय, पर यदि कुटिल नीतिका अनुसरण होता रहा, तो एक दिन प्रशान्त महासागरमें अशान्तिका तूफान उठे बिना रह नहीं सकता।

सम्मेलनकी सफलताके पक्षमें सबसे मुख्य बात यह कही जाती है कि इससे परस्परका मनमुटाव मिट गया, और भविष्यमें अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ोंको मिटानेका एक अच्छा उपाय निकल आया। पर सम्मेलनमें जो वादविवाद हुए, और उसके बाद जो आज कल हो रहे हैं उन्हींसे ऐसे अनुमानकी असारता टपक रही है। जितनी शक्तियां एकत्र हुई थीं, उनमें सबको अपने लाभकी चिन्ता थी, और एकका भी हृदय शुद्ध नहीं था। ऐसी हालतमें सम्मेलनकी सफलताका प्रतिपादन करना कहां तक उचित है, यह विज्ञ पाठक स्वयं ही समझलें।

**गंगाशंकर मिश्र।**

# संसारके व्यवसायका इतिहास ।

## ( गतांकसे आगे )

परन्तु शान्ति स्थापित होते ही अंग्रेज़ी और जर्मन वस्तुओंमें विकट संघर्षण आरम्भ हुआ। इसका कारण यह था कि परस्पर अवरोधनके समय अंग्रेज़ लोग नये आविष्कारोंकी सहायतासे, बिना किसी प्रतिस्पर्धी अथवा रोक टोकके, माल बाहर अन्य देशोंमें भेज भेजकर अपनी शिल्पशालाओंको जर्मनीकी अपेक्षा अधिक परिपुष्ट और उन्नतकर चुके थे। इसके अतिरिक्त पूर्व सञ्चित मूलधनकी अधिकताके कारण अंग्रेज़ लोग उत्तमउत्तम वस्तुएं उत्पन्नकर सस्ते भावसे बेचते और उधारपर भी दे सकते थे, पर प्रारम्भिक अवस्थामें होनेके कारण जर्मनीको इन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता था। परिणाम यह हुआ कि जर्मनीमें हाहाकार मच गया, विशेषतः राइनके दक्षिणीय प्रान्तोंमें, क्योंकि पहले ये फ्रांसके अधिकारमें थे,पर अब जर्मनीमें आजानेसे उनको फ्रांसकी वस्तुएं भी मिलनी बन्द हो गयीं। इसके अतिरिक्त जर्मनीकी चुंगी व्यवस्थामें बहुत कुछ हेर फेर होनेसे वहां स्वतन्त्र वाणिज्य ही हो चला था, अत: वहां अंग्रेज़ी वस्तुओंका पर्य्याप्त प्रतिबन्ध भी नहीं हो सका था। उधर प्रशाके स्वच्छन्द शासक प्रजाकी दीनावस्थापर ध्यान भी नहीं देते थे। विश्वविद्यालय हीसे उनके मनमें ऐडमस्मिथका सिद्धान्त इतना धंस जाता था कि देशकी दशापर उनका उचित ध्यान भी नहीं रहता था और न उसकी आवश्यकताओंका उन्हें पता ही लगता था। उस समय भी प्रशामें कुछ अर्थशास्त्रज्ञ वर्त्तमान थे जो चिर खण्डित प्राकृतिक सिद्धान्तके पुनरुत्थापनका स्वप्न देखते थे, क्योंकि यहां भी प्रकृतिकी धाराके सामने सिद्धान्तोंका पैर न जमा। शिल्पकारोंका आर्तनाद तथा फ्रांससे विच्छिन्न प्रान्तोंकी अपनी पूर्व दशापर आनेकी अभिलाषा आदि कुछ ऐसी बातें थीं जिनकी अधिक दिनतक उपेक्षा नहीं हो सकती थी। उस समय इसकी चर्चा चारों ओर फैल रही थी कि अंग्रेज़ सरकार महाद्वीपीय कारीगरीको प्रारम्भमें ही समूल नष्ट करनेके लिए एक विशेष चालसे सभी हाटोंको अपने मालसे भर रही है। इस समाचारकी बड़ी हंसी उड़ायी गयी किन्तु इसका फैल जाना कई कारणोंसे स्वाभाविक था। एक तो अंग्रेज़ी मालसे महाद्वीपके समस्त हाट इस प्रकार भर गये थे कि यह सब पूर्व निर्धारित चाल सी जान पड़ती थी, दूसरे हेनरी ब्राउहम[१२६] ने सं० १८७२ (सन् १८१५) में व्यवस्थापक सभामें स्पष्ट रीतिसे कहा था कि महाद्वीपके शिल्पको आरम्भ हीमें निर्मूल करनेके लिए स्वदेशी वस्तुओंको बाहर भेजनेमें घाटा तक उठाना श्रेयस्कर है। तिसपर भी ये लार्ड सर्व-प्रियता, उदारता एवं परोपकारिताके लिये प्रसिद्ध थे। दस वर्ष पीछे ह्यूम महोदयने भी व्यवस्थापक सभामें प्राय: उसी बातको दोहराया और कहा कि महाद्वीपका शिल्प उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता तो अच्छा था। ये महानुभाव भी उक्त लाट साहबसे कम उदार न थे।

प्रशाका शिल्प सचमुच नष्ट होते होते बच गया। ईश्वरकी कृपासे उसकी पुकार भी सुनी गयी और समयने पलटा खाया। प्रशाकी सं० १८७५ (सन् १८१८) वाली कर-व्यवस्था तत्कालीन व्यवसायके लिये सब प्रकारसे हितकर थी। उसमें न तो वाणिज्यके प्रतिबन्ध हीका पक्ष किया गया था और न प्रशा तथा अन्य देशोंके परस्पर उपकार सम्बन्ध हीपर किसी प्रकारका आघात किया गया। इस प्रतिबन्धमें चुंगीकी दर अंग्रेज़ी फ्रान्सीसी चुंगीकी दरोंसे कहीं कम थी। इस चुंगीके नियमसे वाणिज्य प्रतिरोधके स्थान पर प्रतिबद्ध वाणिज्य न करके केवल स्वतन्त्र वाणिज्यके स्थानपर प्रतिबन्ध स्थापन मात्र किया। इस चुंगीमें सबसे अधिक लाभ यह था कि चुंगी मूल्यपर न लगाकर वस्तुके भारपर लागायी जाती थी। इससे धोखा देना तथा कम मूल्य बतानेका भय तो मिट ही गया पर सबसे बड़ा उपकार यह हुआ कि प्रतिदिनके उपयोगकी वस्तुओंपर चुंगीका भार अधिक पड़ने लगा, जिससे जर्मनीके शिल्पका लाभ और विदेशीय शिल्पकी क्षति हुई। प्रतिदिनकी उपयोगी वस्तुओंको प्रत्येक देश सहजमें बनासकता है और इनकी अधिक खपतके कारण देशको उससे अधिक लाभ भी हो सकता है। इसी रीतिसे साथही साथ बेश कीमती वस्तुओंपर कम चुंगी पड़तीथी क्योंकि ऐसी बस्तुओंके बनाने की कठिनाई ज्यों ज्यों बढ़ती जाती थी त्यों त्यों धोखा देनेके लिये सुविधा भी अधिक होती जाती थी।

वजनपर चुंगी लेनेकी इस प्रथाके कारण अन्य राष्ट्रोंके साथ होनेवाले व्यापारोंसे अधिक कहीं जर्मनीके राष्ट्रोंके साथ होने वाले व्यापारकी बहुत हानि थी। तद्देशीय छोटे मोटे राष्ट्रोंका शिल्प आस्ट्रिया, फ्रान्स, एवं इंग्लैण्डके व्यवसाय क्षेत्रसे तो बहिष्कृत था ही, प्रशासे भी निकाला गया और उनकी बहुत हानि इस कारणसे हुई कि उनमेंसे बहुत तो प्रशाके प्रान्तोंसे ही घिरे हुए थे।

इन उपायोंसे जितना प्रशाको सन्तोष हुआ उतना जर्मनीके अन्य प्रदेशोंके शिल्पकारोंमें हाहाकार मच गया। और इधर आस्ट्रियाने जर्मन मालको विशेषत: इटलीमें जानेसे रोक दिया था। इनके माल बाहर भेजना रुक जानेसे तथा आन्तरिक चुंगी करोंके कारण भी परस्पर विभक्त हो जानेसे इन छोटे राष्ट्रोंके कारीगर हताशसे हो रहे थे।

इस अत्यावश्यक घटनासे बाधित होकर ६ सहस्र जर्मन शिल्पकार और व्यापारी लोग संवत् १८७६ (सन् १८१९) में मेनके किनारे फ्रांक[१२७]फोर्ट नगरमें वसन्त[१२८]ऋतुमें, जर्मनीकी छोटी छोटी रियासतोंके सब प्रकारके करोंको हटाकर जर्मनी भरके लिये एक चुंगी और एक आढ़त स्थिर करनेकी इच्छासे, एक संघमें संगठित हुए।

यह संघ नियमानुकूल संगठित हो गया और इसके उद्देश्य जर्मनीके सब राजाओं और राज सभाकी सेवामें स्वीकृतिके लिये भेजे गये। प्रत्येक नगरमें एक प्रान्तिक संवाद प्रेषक (Correspondent) नियुक्त किया जाय। हर एक राज्यमें एक एक प्रणिधि रखा गया। संघका हर एक सदस्य और प्रणिधि संघके उद्देश्योंकी पूर्ति करनेके लिये अपने पूरे प्रयत्न और शक्तिसे कार्य करनेके लिये बाध्य थे। नूर्न वर्ग इस कार्यके

लिये केन्द्र बनाया गया। वहां एक प्रधान समितिका निर्वाचन हुआ जिसका प्रथम सभापति इस ग्रन्थका मूल लेख निर्वाचित किया गया। इस संघकी एक साप्ताहिक मुख पत्रिका थी जिसके द्वारा संघके उद्देश्य और कार्यवाही बराबर प्रकाशित होकर सर्वसाधारण तक पहुंचा दी जाती थी। इस संघका महा सम्मेलन प्रति वर्ष वसन्तमें फांकफोर्ट नगरमें ही हुआ करता था, जिसमें प्रधान समिति प्रतिवर्षका विवरण उपस्थित करती थी।

जर्मनीकी व्यवस्थापक सभाकी सेवामें संघके प्रस्ताविक उद्देशोंकी आवश्यकता और उपयोगिताका निवेदनपत्र भेजनेपर नूर्नवर्गकी प्रधानसमितिने अपना काम आरम्भ किया। प्रत्येक राजाके दर्बारमें प्रतिनिधि भेजे गये। एक प्रतिनिधि मण्डलभी संवत् १८७७ (सन् १८२०) में विएना[१२९] नगरमें राजदूतोंकी महा सभामें भेजा गया। इस महासभासे इतना लाभ अवश्य हुआ कि छोटे छोटे राज्योंने डरमस्टाट[१३०] नगरमें इस ही बातपर विचार करनेके लिये अपनी अलग एक समिति बैठानेका निश्चय किया। इस द्वितीय सभाका फल यह हुआ कि सबसे पहले वर्टेम्बर्ग और बवेरियाका संमिलन हो गया और फिर प्रशा तथा जर्मनीके अन्य राज्योंका, इसके वाद मध्य जर्मनीके राज्योंका संगठन हो गया तथा इसके अनन्तर फ्रेहरवान कोटाके प्रयत्नसे उक्त सब राष्ट्र मिलकर एक हो गये। इसका परिणाम यह हुआ कि आज दिन आस्ट्रिया, हंस नगर, [१३१]मेक्लेनके दो नगर एवं [१३१]हेनवरको छोड़ सम्पूर्ण जर्मनीमें चुंगी लगानेकी एक ही प्रथा चल गयी है। पहलेके आपसके भिन्न भिन्न करोंका चलन रोककर अब चुंगीकी सब आय जन-संख्याके परतेसे सब नगरोंमें बांट दी जाती है।

इस सम्मेलनने जो चुंगी स्थिर की वह संवत् १८७५ [सन् १८१८] की प्रशावाली चुंगीसे बहुत भिन्न नहीं थी और वह चुंगी भी साधारण प्रतिवद्ध वाणिज्यके सिद्धान्तसे ही लगायी गयी थी।

यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि चुंगीकी इस एकताके कारण जर्मनीके संम्मिलित सभी प्रान्तोंने कृषि, व्यवसाय, एवं वाणिज्यमें उत्तरोत्तर वहुत अधिक वृद्धि कर ली है।

# अष्टम अध्याय

## रूसवाले।

रूसके व्यवसाय एवं सभ्यताकी प्रारम्भिक उन्नति ग्रीसके सम्बन्ध तथा हन्स संघ और नोवगार्ड[१३२] के परस्पर वाणिज्यसे हुई। वासिल जीविश[१३३] द्वारा नोवगार्ड का नाश होनेके उपरान्त श्वेत सागर वाले मार्गका पता लग जाने पर अंग्रेजों और हालैण्ड वालोंसे रूसका व्यावसायिक सम्बन्ध हुआ। इससे भी रूसके व्यापारकी उन्नति ही हुई।

किन्तु रूसके व्यवसायकी परम उन्नति एवं सभ्यताका अधिक विकास तो महा

प्राङ्ग[१३४] पीटरके शासन कालसे आरम्भ होता है। किसी राष्ट्रके आर्थिक कल्याणपर राष्टीय एकता तथा राजनीतिक अवस्थाओंका कितना प्रभाव पड़ता है, रूसके गत १४० वर्षोंका इतिहास ही इसका अच्छा प्रमाण है।

जिस साम्राज्य-शक्तिसे इन असंख्य असभ्य जातियोंका संगठन हुआ उसीसे उसकी कृषि और शिल्पकी नीव पड़ी, उसकी जन संख्या बढ़ गयी, नहरें सड़क आदि बन जानेसे यात्रामें सुविधा हो गयी और अन्य देशोंके साथ रूसका व्यापार और बढ़ गया। इस प्रकार उसको भी व्यापारकी शक्ति प्राप्त हुई।

किन्तु रूसी वाणिज्यके स्वतन्त्र सिलसिलेका प्रारम्भ केवल सं० १६७८ (सन् १८२१) से कहना चाहिये।

द्वितीय कैथरिनने[१३५] अपने शासनकालमें विदेशीय शिल्पकारों तथा कारीगरोंको बहुत कुछ अधिकार दिये थे जिससे रूसके शिल्प और वाणिज्यकी उन्नति अवश्य हुई थी। किन्तु देशकी सभ्यता इतनी पर्याप्त उन्नत न थी कि लोहा, चौसपट और शीशा आदिके शिल्पकी उन्नति प्रारम्भिक अवस्थासे अधिक हो सकती। यहां तक कि कृषि एवं खनिज पदार्थोंका व्यवसाय भी जो उस देशमें बहुतायतसे होता था अधिक न बढ़ सका।

इसके अतिरिक्त उस समयके कारखानोंकी उन्नति राष्ट्रकी आर्थिक दशाको उन्नत न कर सकी। यदि विदेशी राष्ट्र अपनी वस्तुओंके बदले रूससे कच्चा माल तथा मोटी तय्यार वस्तु स्वीकार करते और यदि युद्ध तथा अन्य बाह्य घटनाएं बाधा न डालतीं तो रूस अपनेसे उन्नत राष्ट्रोंसे शिल्पोन्नतिकी अपेक्षा लेनदेन और व्यावसायिक सम्बन्धसे ही पर्याप्त समृद्ध हो गया होता और साधारणतः उसकी सभ्यता भी अति उच्च हो गयी होती। किन्तु लड़ाई तथा महाद्वीपीय व्यवस्थाके कारण रूसको अपनी उपज बाहर भेजकर विदेशीय शिल्पकी बनी वस्तुओंको प्राप्त करके समृद्ध होनेके उपायको छोड़ अपनी उन्नतिके अन्य ही उपाय ढूंढ़ने पड़े। इन कारणोंसे रूसके अन्य राष्ट्रोंके साथ पहलेके व्यवसाय-सम्बन्धमें गड़बड़ मच गयी। पश्चिमीय देशोंके साथ स्थल व्यवसायसे इस क्षतिकी पूर्ति असम्भव जान उसने अपने देशकी उपजसे ही पक्का माल तयार करना आवश्यक समझा। शान्ति स्थापनके उपरान्त फिर भी उसे पुरानी प्रथाके अवलम्बन करनेकी इच्छा हुई। यहां तक कि सम्राट और मन्त्रिमण्डल भी स्वतन्त्र वाणिज्यके पक्षपाती हो गये। रूसमें हर स्टार्च[१३६] के लेखोंकी उतनी ही प्रतिष्ठा थी जितनी जर्मनीमें जे० बी० से महोदयकी थी। महाद्वीपीय प्रतिबन्धके समय रूसके शिल्पकी जो कुछ उन्नति हुई थी वह अंग्रेजी मालके आते ही मिट्टीमें मिल गयी, किन्तु जनता इस धक्केसे भयभीत नहीं हुई थी और अर्थशास्त्रज्ञोंकी सम्मति थी कि यदि यह धक्का प्रथम बार सहन कर लिया जाय तो स्वतन्त्र वाणिज्यके सुफल प्राप्त होने लगते हैं। वस्तुतः वह समय भी इस परिवर्तनके अनुकूल था। पश्चिमीय यूरोपकी फसल मारी गयी, जिससे

रूसके अनाजकी मांग इतनी अधिक हो गयी थी, कि पहलेका सब घाटा पूरा हो गया और आयात विदेशी मालका मूल्यभी उसीसे पूरा कर दिया गया।

किन्तु जब रूसकी उपजकी मांग कम हुई और इंग्लैण्डने अपने अमीर लोगोंके लाभार्थ अन्नका और कनाडाके लाभके लिये विदेशी लकड़ीका चलन बन्द कर दिया तब फिर भी रूसको अपने शिल्पके नाश और विदेशी जापानी मालका भार कष्टप्रद अनुभव होने लगा। यद्यपि हरस्टार्च प्रमुख सभी लोग पहले भी स्वतंत्र राष्ट्रोंकी व्यावसायिक समताको भ्रम ही समझते थे, जिसका मानना भी एक विवेकशील पुरुषके लिये जादू टोनेको भी १७ वीं सदीमें सच माननेके समान ही हास्यास्पद प्रतीत होने लगा। स्वतन्त्र राष्ट्रोंमें व्यावसायिक समताके समान किसी पदार्थका होना भी भय पूर्वक देखा जाने लगा। रूसके सबसे बुद्धिमान् नीतिज्ञ काउण्ट नेसेलरोडने भी यह स्वीकार किया। सं० १८७८ (सन १८२१) की सरकारी सूचनामें उसने उद्घोषित किया कि 'रूसकी अवस्थाके कारण वाणिज्यकी किसी स्वतन्त्र पद्धतिका अनुसरण करना अनिवार्य हो गया है। एकतो देशकी उपजके लिये अन्यदेशोंमें बाजार खुले नहीं है, दूसरे, शिल्पका प्रायः नाश हो गया है, तिस पर भी देशका मूल धन विदेशमें खिंचा चला जारहा है और सबसे बड़ी व्यावसायिक कम्पनियां टूटती जारही हैं"।

रूसकी निजी शिल्पशालाओंको जो संरक्षक सुविधाएं प्राप्त हुई थीं उनसे लाभ उठानेके लिये अन्य देशोंके भी, विशेषतः इंगलैण्ड, जर्मनी तथा अन्य राष्ट्रोंके, कारीगर और धनी भी आकर वहां बसने लगे। फलतः रूसमें अन्य देशोंका रुपया पैसा, पूंजी और श्रम भी खिंचकर आने लगा।

यह देखकर रूसके अमीर लोगोंने भी स्वयं वैसा करना शुरू किया। अपने देशके कच्चे मालको विदेशी बाजारोंमे तनिक भी स्थान न पाते देख वहांके रईसोंने अपने ही देशमें शिल्पशालाओंका खोलना प्रारम्भ किया और अपने ही देशमें उनके लिये बाजार पैदा कर लिया। देशमें पैदा किए गये उत्तम ऊनी मालकी मांगके कारण भेड़ोंका पालन बढ़ गया। विदेशीय व्यवसाय घटनेके बजाय चीन, फ़ारस तथा एशियाके समीपस्थ देशोंके साथ बढ़ने लगा। वाणिज्य संकटका नाम तक लुप्त हो गया। रूसके राजमंत्रीके विवरणसे जाना जाता है कि इस प्रथाके कारण उस देशका विभव बहुत अधिक उन्नत हुआ और उसकी शक्ति तथा लक्ष्मी उत्तरोत्तर वृद्धि करती रही है।

जर्मन लोगोंका इस उन्नतिको तुच्छ दृष्टिसे देखना और इसको अपने उत्तर पूर्वीय प्रान्तकी हानिका कारण बतलाना मूर्खता है। जैसे प्रत्येक व्यक्तिको अपना २ स्वार्थ अभीष्ट है वैसे ही प्रत्येक राष्ट्रको भी अपना २ स्वार्थ अभीष्ट होना है। रूस जर्मनीके लाभकी चिन्ता कैसे कर सकता है? रूस अपना कल्याण आप देखेगा जर्मनीको अपना कल्याण स्वयं देखना होगा। अच्छा तो यह ही होगा कि इस प्रकार दोष न देकर सर्व-व्यापी स्वतन्त्र वाणिज्यकी उन्नतिके लिये भावी प्रचारक मसीहाके निगमागमकी आशा त्याग ये सिद्धान्त आगमें झोंक दिये जायं और रूसके इतिहाससे शिक्षा ली जाय।

रूसकी इस व्यावसायिक नीति देखकर इंग्लैण्डको स्वभावतः डाह अवश्य उत्पन्न होगी । इसी नीतिकी सहायतासे रूसने अपनेको इंग्लैण्डके पञ्जेसे छुड़ाकर एशियामें उसका प्रतिस्पर्धी बनाया है । यदि इंग्लैण्ड इससे सस्ती वस्तु भी बना ले तब भी रूसको, समीप होने और नैतिक प्रभाव होनेके कारण, एशियाके वाणिज्यमें विशेष सुविधा होगी । शेष यूरोपकी अपेक्षा रूसको भले ही असभ्य कहा जाय किन्तु एशियाकी अपेक्षा तो वह भी सभ्य ही माना जायगा ।

इतना अवश्य है कि सभ्यता एवं राजनीतिक संस्थाओंके अभावके कारण रूसकी भावी व्यावसायिक उन्नतिमें बाधा पड़ेगी, विशेषतः तब, जब कि सरकार अपनी नैतिक अवस्थाको व्यवसायके अनुकूल करनेमें सफल न हो । इसके लिये उसे प्रान्तिक सभाओं तथा म्युनिसिपेलटियोंका संघटन करना होगा, कृषकोंकी दासताको क्रमशः घटाते हुए अन्तमें बिलकुल उठा देना होगा । और साधारण लोगोंको शिक्षित और कृषकोंको स्वतन्त्र कर देना होगा, एवं मध्य एशियामें व्यापार करनेके लिये मार्गोंका निर्माण करना अत्यन्त आवश्यक होगा । आधुनिक कालमें इन्हीं विशेष कार्योंके लिये रूसको मैदानमें निकलनेका अवसर है । इन्ही बातोंपर रूसके वाणिज्य, कृषि, जल-व्यवसाय तथा जल शक्तिकी उन्नति निर्भर है, किन्तु ऐसा सुधार करने और इन कार्योंको सम्भव और सत्य कर दिखानेके लिए वहांके रईसोंके हृदयमें यह बैठ जाना चाहिये कि इन कार्योंमें उनका लाभ वस्तुतः बहुत अधिक है ।

# नवम अध्याय ।

## उत्तरीय अमेरिका निवासी ।

यूरोपीय राष्ट्रोंकी व्यवसाय-नीतिकी आलोचनाके उपरान्त हमारी दृष्टि अटलान्टिक सागरके उस पार वाले उपनिवेशोंपर जाती है जहांके निवासी अभी तक अपने मूल देशपर आश्रित थे और परस्पर राजनीतिक संगठन विहीन प्रान्तोंमें बटे हुए थे । वे सभी उपनिवेश हमारे देखते देखते इस परवशता और पार्थक्यकी दशासे उठकर संघठन, एकता, सुव्यवस्था स्वतन्त्रता, वाणिज्य एवं शक्ति, व्यवसाय, तथा शिल्पका सम्पादन कर हमारी तीसरी पीढ़ीके समयमें जल तथा व्यवसाय शक्तिके आदर्श बना चाहते हैं । अन्य देशोंकी अपेक्षा अमेरिकाके व्यवसाय और शिल्पका इतिहास हमारे लिये इस विषयमें अधिक शिक्षाप्रद है, क्योंकि इसकी उन्नतिका वेग बहुत अधिक था । प्रतिबद्ध तथा स्वतन्त्र वाणिज्यके युग दोनों एक दूसरेका अनुसरण किया करते हैं । उनके परिणाम प्रत्यक्ष तथा बहुत स्पष्ट हैं और व्यवसाय तथा शासन व्यवस्थाकी सम्पूर्ण प्रणाली भी दर्शकके सामने स्पष्टतया खुले रूपमें गुजरती है ।

उत्तरीय अमेरिकाके उपनिवेशोंको मूलदेशने व्यवसायकी दृष्टिसे इतना पराधीन-रखा था कि उनको इंग्लैण्डसे घरेलू एव साधारण शिल्पके अतिरिक्त किसी और प्रकारकी विस्तृत शिल्पकारी करनेकी आज्ञा नहीं मिलती थी । पहलेका तो कहना ही

क्या, संवत १८०७ (सन् १७५० ) में भी मासाचसेट[११७] में टोपोंके कारखाने खोलनेपर व्यवस्थापक सभामें डाहकी मात्रा इतनी बढ़ी कि प्रत्येक प्रकारका शिल्प हानिकारक ठहराया गया। यहां तक कि उस देशमें लोहेके शिल्पकी सब सामग्री प्रचुर होते हुए भी उसका शिल्प नहीं चलने दिया। इसको जाने दीजिये अभी सं० १८२७ (सन् १७७०) में लोहेके शिल्पका प्रयत्न मात्र देख कर चाथम[११८] महोदय यहां तक विकल हुए कि उन्होंने घोड़ेकी नालतकका बनाना रोकनेकी आज्ञा घोषित कर दी।

इस अन्यायका सबसे पहला विरोध करनेका श्रेय महाशय एडेमस्मिथको ही है।

यदि वास्तवमें देखा जाय तो अमरीकाकी राज्य[११९] क्रान्तिका प्रधान कारण मूलदेश इंगलैण्डका सम्पूर्ण व्यवसायको अपने हाथमें रखना ही था और चाहकी चुंगी तो क्रान्ति होनेका बहाना मात्र था।

राज्य क्रान्तिके समाप्त होनेपर अमेरिकाकी काया ही पलट गयी। रुकावटें उठ गयीं, माल तयार करनेके लिये उनके पास उपयुक्त सामग्री तथा उपायकी अधिकता थी। इंगलैण्डसे मालका आना रुक जानेसे उन्हें अपनी आवश्यकता भी स्वतः ही पूरी करनी पड़ी। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तरीय अमेरिकाकी स्वतन्त्र रियासतोंमें क्रान्तिसे उत्तेजित होकर शिल्प और कृषि उन्नतिकी सीमापर पहुंच गये, यहां तक कि लड़ाईका धक्का लगने तथा अन्य कतिपय भार पड़नेपर भी भूमिका मूल्य तथा वेतनकी दर बहुत अधिक बढ़ गयी किन्तु पेरिस[१२०] सन्धिके उपरान्त स्वतन्त्र रियासतोंके दोष युक्त संगठनके कारण संयुक्त व्यावसायिक पद्धतिका संस्थापन असम्भव होगया जिससे अंग्रेजी माल फिर बेरोकटोक आने लगा। इसकी बराबरीमें अमरीकाका नवीन शिल्प खड़ा न हो सका, फलत युद्धके दिनोंमें जिस वेगसे व्यावसायिक समृद्धि हुई थी उससे भी अधिक वेगसे वह लुप्त हो गयी। कुछ दिन पीछे एक अमेरिकन वक्ताने राष्ट्रीय महासभामें इस घटनाके विषयमें कहा था, कि "आधुनिक अर्थशास्त्रियोंकी सम्मतिसे हम लोगोंने सस्ता माल जहांसे भी मिला खरीद लिया और उधर इंगलैण्डके सस्ते मालसे हमारी हाटें भर गयीं। हमारे बन्दरोंपर अंग्रेजी माल उनके अपने नगर लन्दन और लिवर पूलसे भी कहीं सस्ता बिका। हम लोगोंके शिल्पी लोग उजड़ गये जो वणिक् अंग्रेजी मालको मंगाकर मालामाल बननेकी आशा करते थे, वे भी देवालिया बन बैठे। इन सब कारणोंसे कृषिका भाग्य पलट गया। भूमि और जागीरोंका मूल्य इतना घट गया कि बड़े बड़े ज़मींदार लोग भी देवालिया होने लगे।

ऐसी अवस्था पर्याप्तकाल तक बनी रही। यह दशा पैरिसकी सन्धिसे लेकर संयुक्त शासन पद्धतिकी स्थापना होने तक क़ायम रही। अन्य कारणोंकी अपेक्षा सबसे अधिक इसी कारणने सब रियासतोंको और भी अधिक संगठित कर दिया, और संयुक्त तन्त्रके भिन्न भिन्न स्वतन्त्र राष्ट्रोंने एका कर महासभाको समुचित संयुक्त व्यावसायिक नीति चलानेका अधिकार दिया। अमेरिकाके केवल न्यूयार्क और कारोलिनाके प्रान्तोंको छोड़ सभी राष्ट्रोंसे प्रतिबन्धक नीतिको प्रचलित करनेके लिये प्रार्थना पत्र आने लगे और

# संसारके व्यवसायका इतिहास।

वाशिंगटन महोदय पदपर आनेके सबसे पहिले दिन स्वदेशी कपड़े धारकर उपस्थित हुए थे। न्यूयार्कके एक तत्कालीन समाचारपत्रने लिखा था कि इस महापुरुषने अपने इस सीधे साधे और प्रभावोत्पादक स्वभाव द्वारा ही भविष्य कार्य कर्ताओं; एवं धर्म शास्त्रियोंको देशोन्नतिके मार्गपर चलनेका चिरस्मरणीय पाठ पढ़ाया था। यद्यपि सं० १८४६ (सन् १७८६) में केवल प्रधान प्रधान वस्तुओंपर बहुत थोड़ा ही कर लगाया गया था, तथापि प्रारम्भ हीमें उसका इतना अच्छा परिणाम हुआ कि वाशिंगटनने संवत् १८४८ सन् १७६१) में शिल्प, व्यवसाय और कृषिके उत्कर्षके लिये राष्ट्रको बधाई दी थी।

इस प्रतिबन्ध नियमकी अपर्याप्तता शीघ्र ही दृष्टि गोचर होने लगी क्योंकि अंग्रेज़ शिल्पियोंने अपने उत्कृष्ट उत्पादक[१४१] यन्त्रोंकी सहायतासे इन करोंको विफल कर दिया। राष्ट्रीय सभाने बहुत आवश्यक वस्तुओंपर १५ प्रति सैकड़ा तक कर बढ़ा दिया, परन्तु संवत् १८६१ (सन् १८०४) तक इसपर अमल नहीं किया गया था। तभी चुंगीकी आय बढ़ानेके लिये यह संरक्षक कर बढ़ाया गया था। बहुत देर तक देशके शिल्पियोंने और अधिक प्रतिबन्ध लगानेके पक्षमें अपना पूरा बल लगाया और दूसरी तरफ़ स्वतन्त्र वाणिज्यके लाभ और प्रतिबन्ध करोंके हानिकारक प्रभावोंको दिखाने वाला पक्ष भी बहुत जोर पकड़ गया। इस समय स्वतन्त्र और प्रतिबद्ध वाणिज्यके पक्षपातियोंमें बड़ा वादविवाद छिड़ गया था।

इधर तो शिल्पकी इतनी कम उन्नति थी पर उधर अमेरिकाकी जलयात्राकी उन्नति कहीं बढ़ चढ़कर थी। संवत् १८४६ (सन् १७८६) में जेम्स मेडिसनके प्रस्तावसे इसका भी प्रतिबन्ध आरम्भ हुआ और उस समयसे लेकर संवत् १८५८ (सन् १८०१) के बीच जहाजों द्वारा माल लेजानेमें पांच गुनी उन्नति हुई अर्थात् संवत् १८४६ (सन् १७८६) में २००,००० और संवत् १८५८ (सन् १८०१) में १०००,००० टन माल ले जाया गया था। संवत् १८६१ (सन् १८०४) की कर-व्यवस्थाकी सहायतासे अमेरिकाका शिल्प किसी प्रकारसे अंग्रेजी शिल्पकी बराबरी कर लेता था, लेकिन अंग्रेज़ी शिल्पके सामने, जो दिनों दिन बढ़ता जा रहा था, अमेरिकाका ठहरना कठिन ही हो जाता, यदि सं० १८६६ (सन् १८१२) की युद्ध घोषणा न होती और अवरोध आज्ञा द्वारा जहाजों-का आवागमन न रोक दिया जाता। इन घटनाओंसे भी 'स्वतन्त्रताके युद्ध' के समान ही अमेरिकाके कारखानोंको इतनी असामान्य उत्तेजना मिली कि उन्होंने देशी आवश्य-कताओं को ही पूरा न किया, परन्तु माल तय्यार करके बाहर भेजना भी आरम्भ कर दिया। संवत १८७२ (सन् १८१५) की कांग्रेसमें पढ़े गये व्यापार-शिल्प उप समितिके विवरणके अनुसार केवल ऊन और सूतके काममें १ लाख श्रमी थे जिससे उन्होने १६ करोड़ रुपयेसे भी अधिकका माल पैदा किया था। पहलेकी भांति इस समय भी उत्पादन शक्तिकी वृद्धिके कारण वस्तुओंका तथा भूमिका मूल्य और वेतनकी दर बढ़ गयी, इससे जमीदार, श्रमजीवी तथा सभी प्रकारकी सार्वजनिक व्यावसायिक समृद्धिकी वृद्धि हुई।

**अनुवादक हरिहरनाथ।**

# पुस्तकावलोकन

## श्री हर्ष

यह पुस्तक श्री सयाजी बाल-ज्ञान-मालाका १६वां पुष्प है । इसे बड़ोदाके श्रीजयदेव ब्रदर्सने प्रकाशित किया है । इसकी पृष्ठ संख्या ८० और मूल्य ।।) है ।

इस पुस्तकका काफी हिस्सा बाण कविके श्रीहर्षचरित्रके आधारपर लिखा गया है । अन्य पुस्तकोंसे भी सहायता ली गयी है, किन्तु वर्तमान इतिहासकारोंका भी मत जाननेकी चेष्टा लेखकने की है या नहीं इसमें हमे सन्देह है । इस पुस्तकके पढ़नेसे हर्षके विषयमें या तत्कालीन इतिहासके सम्बन्धमें काफी ज्ञान नहीं होता । कमसे कम इतिहासकी दृष्टिसे तो हमें यह पुस्तक संतोषजनक प्रतीत नहीं हुई । हम यह जानते हैं कि पुस्तक बालकोंके लिये लिखी गयी है, फिर भी उसमें ऐसी अनेक बातें लिखी जा सकती थीं जिनसे उस समयकी वास्तविक जानकारी हो सकती । हम तो इसे अच्छा जीवन चरित्र भी नहीं कह सकते । तो भी हम उसे एकदम निरुपयोगी भी नहीं ठहराते । अनुवाद बुरा नहीं हुआ है, पर पुस्तककी भाषा बालकोंके लिये सर्वत्र समझने योग्य नहीं कही जा सकती । मूल पुस्तक किस भाषामें लिखी गयी थी और उसके लेखकका क्या नाम था, इसका उल्लेख इसमें नहीं किया गया है । पुस्तककी छपाई इत्यादि अच्छी है ।

## भारतीय रंग-भण्डार ।

इसके लेखक तथा प्रकाशक हैं श्रीधीरजलाल वंशीधर जैन, टेकनिकल स्कूल लश्कर, ग्वालियर । पृष्ठ संख्या ५६ और मूल्य आठ आने है ।

यह 'उस खज़ानेकी कुंजी' है 'जो कि सैकड़ों वर्षोंसे खोई हुई थी ।' 'स्वदेशी रंगोंका प्रचार करनेके लिये अनेक पुस्तकों व रिपोर्टोंसे सहायता लेकर बड़े परिश्रमसे लोकोपकारार्थ केवल भारतकी वनस्पतियों और खनिज पदार्थोंसे रंग निकालने और रंगनेकी पूर्ण विधियां देकर इस पुस्तकका सम्पादन किया है । हिन्दी संसारमें ऐसी पुस्तकका अभाव था ।' यह है लेखक महाशयोंकी सम्मति । इसपर किसी प्रकारकी टीका टिप्पणी करना सम्भवतः 'सोनेके बर्त्तनपर कलई, करना होगा । अतः हम इस कामसे बाज़ आते हैं । पाठक पुस्तक मँगाकर स्वयं आजमा लें । डरनेकी बात नहीं है— जिन्हें कपड़े इत्यादि रंगने या रंग तैयार करनेका शौक़ हो, उन्हें इससे काफ़ी लाभ हो सकेगा । लेखकने भूमिकाके अन्तमें लिखा है—नोट—Any suggestions and modifications towards making the book more useful and practical will be thankfully received by the authors.

# पुस्तकावलोकन।

## गांधी दर्शन।

यह पुस्तक श्रीचन्द्रराज भण्डारी, विशारद द्वारा लिखी गयी है और अजमेरके गांधी हिन्दी मंदिर द्वारा प्रकाशित हुई है। इसका मूल्य १) है।

गांधीजीके दर्शनोंकी अभिलाषा किसे न होगी? इस पवित्र आत्माके असीम कष्ट-सहन, घोर आत्म त्याग और दृढ़ सिद्धान्तोंका थोड़ा बहुत परिचय प्राप्त करनेकी इच्छा किस मनुष्यको न होगी? महात्माजीके छोटे बड़े न जाने कितने जीवन चरित्र प्रकाशित हो चुके हैं और होते जा रहे हैं। लोग अपनी अपनी योग्यता और अपनी अपनी श्रद्धाके अनुसार भिन्न भिन्न रूपमें इस महापुरुषके जीवनकी घटनाओंका वर्णन करते हैं। इस पुस्तकमें गांधीजीके सम्बन्धकी प्रायः सभी बातोंका समावेश हो गया है। पुस्तकको मनोरंजक बनानेके लिये लेखकने उपन्यासोंकीसी वर्णन शैलीका प्रयोग करनेकी चेष्टा की है। कई स्थलोंपर उन्होंने एक ही बातकी धुनसी बांधी है—पृष्ठ १४, १६, ५५, ६४ इत्यादि। आपने भावोंके उद्रेकमें आकर निर्जीव और सजीव सभी पदार्थोंका सम्बोधन किया है। आपके गद्य-'काव्य' की छटाका एक नमूना पृष्ठ १५० में देखिये—**सुनसान पर्वतमें जाकर जोरसे चिल्लाइये; प्रतिध्वनि कहेगी—महात्मा गांधीकी जय। नव सुगन्धित सरोजोंके सौरभसे सुरभित सरोवरके समीप जाकर गौरसे** सुनिये; **सुनाई पड़ेगा—महात्मा गांधीकी जय।** गांधीजीके जीवनकी घटनाओंका वर्णन करते करते लेखकने अन्य अन्य बातोंका ज़िक्र भी यत्र तत्र किया है, उदाहरणार्थ पृष्ठ २२ में सामाजिक रूढ़ियोंकी आलोचना। पुस्तकमें गांधीजीके जीवनकी प्रधान प्रधान घटनाओंके अतिरिक्त उनके सिद्धान्तों, तथा विचारोंका भी समावेश है। साथ ही सत्याग्रह तथा गांधीके सम्बन्धमें अन्य लोगोंके विचारोंका भी संक्षिप्त उल्लेख कर दिया गया है। पुस्तक अच्छी है। जो लोग दो तीन रुपये मूल्यवाली जीवनी नहीं खरीद सकते, वे इसे पढ़कर ही सन्तोष कर सकते हैं।

## महात्मा गांधी।

यह पुस्तक बम्बईके गांधी हिन्दी पुस्तक भण्डार, द्वारा प्रकाशित हिन्दी-गौरव ग्रन्थमालाकी तेरहवीं पुस्तक है। पृष्ठ संख्या लगभग ८००, मूल्य ४॥) है।

महात्मा गांधीके जितने जीवन-चरित्र प्रकाशित हुए हैं, उन सबोंमें कदाचित् यही पुस्तक सर्वोत्कृष्ट है। महात्माजीके विषयमें जितनी सामग्रीका संकलन इसमें किया गया है उतनी अन्य पुस्तकोंमें नहीं पायी जाती। पुस्तककी भाषा लिखनेका ढंग, छपाई इत्यादि सभी बातें तृप्ति-दायक हैं। कलेवरके ख्यालसे पुस्तकका मूल्य भी अधिक नहीं है।

## संसार।

यह सुन्दर मासिकपत्र श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी द्वारा सम्पादित होकर, एम्पा-प्रेस, हटिया, कानपुरसे प्रकाशित होता है। वर्त्तमान मार्चके अंकसे इसका तीसरा वर्ष

प्रारंभ होता है। इस अंकमें कई उपयोगी लेखोंके अतिरिक्त चार चित्र भी हैं एवं आवरण पृष्ठ भी मनोरम कहा जा सकता है। इसके प्रायः प्रत्येक अंकमें पठनीय सामग्रीका समावेश रहता है। हम हृदयसे इसके चिरायु होनेकी कामना करते हैं। इसका वार्षिक मूल्य ४) है।

## उद्यम।

यह मासिकपत्र 'यूनियन प्रेस' झांसीसे प्रकाशित हुआ है। वार्षिक मूल्यके ख्यालसे १॥) वार्षिकमें तो यह बहुत सस्ता है, पर लेखोंके विचारसे हम उसे कौनसा स्थान दें, यह अभी हमारी समझमें नहीं आता। हमारी हार्दिक इच्छा है कि यदि 'उद्यम' के प्रकाशित करनेका उद्यम सफल करना हो तो उसे अधिक उपयोगी बनानेका उद्यम पहिले होना चाहिये।

## समन्वय।

यह मासिकपत्र 'श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्दके विचारोंको उचित और उत्तम रीतिसे हिन्दी संसारके सन्मुख' रखनेके उद्देश्यसे निकाला गया है। इसका वार्षिक मूल्य ३) है। यह २८ कालेज स्ट्रीट मार्केट कलकत्तासे प्रकाशित होता है। हम सहयोगी-का स्वागत करते हैं।

नीचे लिखी पुस्तकें भी प्राप्त हो गयीं। भेजनेवालोंको धन्यवाद।

१. मातृ भाषा, मूल्य ॥),
२. वीरबाला मूल्य ≈) } प्रकाशक साहित्य निकेतन, गंगाधर राज्य झालावाड़ (राजपूताना)

३. कवि विलास मूल्य ।)
४. तिलक शोकाञ्जलि, मूल्य ≈) } प्रकाशक, श्री जगद्ग्रन्थ माला, शोभाराम वैशाख स्ट्रीट (नीबू तल्ला गली), कलकत्ता।

५. स्वामी रामतीर्थका राष्ट्रीय सन्देश मूल्य ॥।)
६. चर्खा और स्वराज्य, मूल्य... } प्रकाशक, भीष्म एण्ड ब्रदर्स, पटकापुर कानपुर।

७. कादम्बरी, मूल्य २॥।)—प्रकाशक गांधी हिन्दी-पुस्तक भण्डार, कालबा-देवी, बम्बई।

८. साहित्यदर्पणः..मूल्य ३)+१)—प्रकाशक श्री श्यामसुन्दर शर्मा भिषग्रत्न, श्री मृत्युञ्जय औषधालय, नं० ३२६ अमीनाबाद, लखनऊ।

[जिन पुस्तकोंका विषय "स्वार्थ" के उद्देशोंके अनुकूल न हो उनपर प्रायः सम्मति नहीं दी जाती]।

# सामयिक संग्रह।

## समाजमें धन-कुबेरोंकी आवश्यकता।

फरवरी मासके "*दि नाइनटीन्थ सेन्चुरी एण्ड आफ्टर*" में धन-कुबेरोंके संबंधमें एक बड़ा अच्छा लेख प्रकाशित हुआ है। लेखक श्री स्टर्लिंग टेलरने जिस समस्यापर प्रकाश डालनेकी चेष्टाकी है वह यह है:

**क्या धन कुबेरों ( मिलियानेरों ) के बिना हमारा काम नहीं चल सकता? यदि अमर्यादित सम्पत्तिवाले मनुष्योंका अस्तित्व न होता तो क्या हमारी पृथ्वी अधिक श्रीसम्पन्न, सुखी एवं अच्छी रीतियोंसे युक्त स्थान न बन जाती?**

संसार-व्यापी आर्थिक हलचलके कारण मनुष्य समाजका वर्त्तमान संघटन दोषपूर्ण प्रतीत होने लगा है। लोगोंके मनमें बारम्बार यह प्रश्न उपस्थित हो रहा है—क्या सचमुच मानव-समाजके लिये इन कुबेरपतियोंका आसितत्व अवश्यक है? रूस इत्यादि देशोंके बहुसंख्यक लोगोंका तो यही विश्वास हो गया है कि संसारमें ऐसे मनुष्योंकी कोई आवश्यकता नहीं, वे अपने हजारों, लाखों भाइयोंका रक्त चूसकर यह सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं, अतः मनुष्य-समाजमें उनका अस्तित्व केवल भयंकर दुःखका उत्पादक ही कहा जा सकता है। गत यूरोपीय युद्धके समयसे इस प्रकारके समष्टिवादी ( काम्यूनिस्ट ) लोगोंकी संख्या बड़ी शीघ्रतासे बढ़ रही है। किन्तु

**धन-कुबेरोंको यह न समझना चाहिये कि केवल समष्टिवादी लोग ही हमारे दुश्मन या विरोधी हैं। समष्टिवादियोंमें एक बड़ा दोष यह है कि वे कुछ समयके लिये अपने लम्बे लम्बे भाषणोंको बन्द-कर और शान्त चित्तसे इस प्रश्नपर विचार नहीं करते—ऐसे मनुष्य जो कभी विचार नहीं किया करते दूसरोंके इतने बड़े शत्रु नहीं हैं, जितने वे स्वयं अपने हैं।...करोड़पतियोंका सबसे मुख्य और भयावह आलो-चक तो वह शान्त प्रकृतिका सामान्य मनुष्य है जो तर्क-शास्त्रके नियमों और ज्ञातव्य अंकोंका पूर्ण अनुसरण करते हुए विचार करनेको तत्पर है।...कुछ लोग यह जानना चाहते हैं कि करोड़पतियोंके ठीक ठीक गुण-दोष क्या क्या हैं। इन्हें जानकर वे इस प्रश्नपर निष्पक्ष भावसे विचारकर यह कह सकेंगे कि कुबेर-पति मनुष्य-समाजके लिये आवश्यक हैं या नहीं।**

**"कुबेर-पति" मैं उस मनुष्यको कहता हूं जिसके पास जीवन-की आवश्यकताओंकी पूर्त्ति हो जानेके बाद भी बहुत ज्यादा सम्पत्ति**

शेष रह जाती है।...संवत् १९९७ में इंग्लैण्डके संयुक्त राज्यमें १४८ मनुष्य ऐसे थे जिनकी वार्षिक आमदनी १५ लाख रुपयोंसे अधिक थी। ...किन्तु द्रव्यकी मात्रासे भी अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि उक्त धन किस प्रकार उपार्जित किया गया है। बहुतोंका ख्याल यह है कि किसी मनुष्यके परिश्रमका वास्तविक मूल्य १५ लाख हो ही नहीं सकता, फिर भी ऐसे मामलोंका सोचना कठिन नहीं है जिनमें सारा मनुष्य-समाज एक स्वरसे इसकी दसगुनी रकम देनेको भी तैयार हो जाय। यदि कोई मनुष्य ज्वारभाटोंसे गरमी पहुंचाने एवं गति उत्पन्न करनेकी कोई तरकीब ढूंढ निकाले या लन्दनकी धूम्र-कालिमाको दूर कर सके तो इसका पारिश्रमिक एक करोड़ रुपया भी समुचित होगा। उसी प्रकार घातक रोगोंकी अमोघ ओषधिका भी खासा मूल्य दिया जा सकेगा। किन्तु जो मनुष्य, गेहूं इत्यादि अपनी कोठियोंमें भर भरकर मनमाने भावसे बेचकर रुपया कमाता है, उसे इतनी आमदनी होने देना चाहिये या नहीं, यह दूसरी बात है।

यह कोई भी मनुष्य विश्वास न करेगा कि करोड़पतियोंमेंसे अधिकांशकी सम्पत्ति वास्तविक प्रतिभा और समाजकी सच्ची सेवाके कारण प्राप्त हुई है। कभी कभी तो उसका मिल जाना केवल भाग्य-की बात समझनी चाहिये, उदाहरणार्थ किसी खास मौकेपर मौजूद रहना जबकि अधिक योग्य मनुष्य उपस्थित न हो अथवा अवसर-विशेषसे लाभ उठानेकी योग्यताका होना। जिन गुणोंके कारण लाखोंकी सम्पत्ति इकट्ठी हो सकती है उनका महत्व बतलाते समय लोग अतिशयोक्ति कर दिया करते हैं। ये सर्वदा सद्गुण नहीं कहे जा सकते। अक्सर ये गुण प्राणियोंकी उस जागृत प्रवृत्तिके अधिक तीव्र स्वरूप मात्र होते हैं जिसकी सहायतासे पड़ी हुई हड्डीको, एक कुत्ता दूसरेके पहुंचनेके पूर्व ही हड़प जाता है।...यदि यह मान भी लें कि कुछ मनुष्य अपनेको अतुल सम्पत्तिके उचित अधिकारी साबित कर सकते हैं, तो भी क्या उनकी विलास-पूर्ण जीवन-चर्यासे पड़ोसियों-के चित्तमें स्थिरता आती होगी?...करोड़पतिको यह भी साबित करना चाहिये कि जो सम्पत्ति उसने प्रामाणिक उपायोंसे प्राप्त की है, उसका व्यय भी वह बुद्धिमानीसे कर सकता है।...क्या कानून द्वारा ऐसे विलासपूर्ण कुबेरपतियोंका अस्तित्व मिटाया जा सकता है? कदाचित् समष्टिवादी मात्र ही इतने मन्थर-बुद्धि होंगे जो यह समझते हों कि कानूनकी सहायतासे ऐसा किया जा सकता है। जबतक हमारा समाज विशेष योग्यताका विशेष पुरस्कार देना मंजूर करता

है, तबतक न्यायानुसार हम किसी ऐसे मनुष्यको करोड़ोंपर स्वत्व रखनेसे रोक नहीं सकते, जिसका परिश्रम एवं जिसके कार्य इस सम्पत्तिके योग्य हों।...यदि श्रमजीवि-दल किसी मौज उड़ानेवाले धनीको मिटा डालना चाहता है तो उसे कमसे कम उस मनुष्यकी दलील अवश्य सुननी होगी जो कहता है कि मैंने बड़ा कठिन परिश्रम किया है।...किन्तु यह कैसे निश्चय किया जा सकता है कि उसने वास्तवमें इतना अधिक परिश्रम किया है अथवा अपने परिश्रम या बुद्धिके लिये उसे कितनी सम्पत्ति पानेका अधिकार है? धनी महाशय कहेंगे कि स्वतन्त्र चढ़ा ऊपरीके समय जो कुछ सर्वसाधारण स्वेच्छासे मुझे देते हैं, वही मैं लेता हूं, अधिक नहीं।...करोड़पतियोंके सारे इतिहाससे इस कथनका खण्डन होता है कि धनी मनुष्य केवल वही रुपया लेता है जो जन-समाज उसे स्वेच्छासे देता है।

करोड़पतियोंके जीवनकालमें उतनी बुराई नहीं होती जितनी उनकी मृत्युपर होती है। समाजके लिये जो बात हानिकारक है वह पुश्त दर पुश्त राशि राशि सम्पत्तिका एकत्र होना है। यदि यह सम्पत्ति अयोग्य अथवा निरुद्यमी उत्तराधिकारियोंके हाथ पड़ी तो वह और भी अधिक दुःखावह होगी। अतः बुद्धिमान् राष्ट्र जहां मनुष्यको अपने जीतेजी उतनी सम्पत्ति इकट्ठी करनेका काफी मौका देगा जितनी कि वह कर सके, तहां वह कदाचित् उसकी मृत्युके बाद उसकी सारीकी सारी पूंजी उन लोगोंके पास न जाने देगा जिन्होंने उसे उपार्जित नहीं किया। मतलब यह कि यह समस्या "मृत्यु-कर" वसूल करनेसे बहुत कुछ हल हो सकेगी।

इसके बाद लेखकने केवल धन कमानेकी प्रवृत्तिकी निन्दा की है। उसने उसे जीवनका प्रधान उद्देश्य नहीं, गौण उद्देश्य कहा है। उसकी राय है कि यदि इन कुछ मनुष्योंकी तरह सभी मनुष्य केवल 'कमाऊ' और स्वार्थी हो जायं तो 'यह निदान रोगसे भी बुरा होगा।" सारे लेखका सारांश यह है :

'यदि द्रव्य-संचय करते समय धनवान् मनुष्य समाजोपयोगी मनुष्योंका सा व्यवहार कर सकें एवं उसका व्यय करते समय वे भद्र मनुष्योंकी तरह चल सकें तो मनुष्य इतना निःस्वार्थ जीव है कि उसे इन महानुभावोंका अस्तित्व चिरकाल तक बने रहने देनेमें कोई भी आपत्ति नहीं है।

[ फरवरीके नाइंटीन्थ सेञ्चुरी एंड आफ्टरसे ]

### अमेरिकाकी व्यापारिक उन्नति ।

न्यूयार्कके "फोरम" नामक मासिकपत्रमें अमेरिकाके विदेशी व्यापारपर एक छोटासा लेख प्रकाशित हुआ है । आजकल उसमें कितनी उन्नति हो गयी है, यह निम्न लिखित पक्तियोंसे स्पष्ट है ।

**पचास वर्ष पहिले संयुक्त राज्य अमेरिकासे जितना माल विदेशोंको जाता था उसमें फी सैकड़ा अस्सीसे भी अधिक कच्चे पदार्थ तथा खाद्य वस्तुएँ ही रहती थीं। तैयार मालकी मात्रा पंचमांशसे भी कम थी। आज हमारे निर्यातका सत्तर फी सैकड़ा भाग तैयार माल तथा बने हुए खाद्य पदार्थोंका रहता है एवं शेष तीस शतांशमें कच्ची वस्तुएं तथा खाद्य सामग्री शामिल रहती है। उस समय अमेरिकाके निर्यातका मूल्य लगभग १२५ करोड़ रुपये था, किन्तु संवत् १९७६ में वह २५०० करोड़ हो गया।**

अर्थात् पचास वर्षोंके भीतर ही भीतर संयुक्तराज्य अमेरिकाका निर्यात-व्यापार बीस गुना बढ़ गया है । इससे भी अधिक महत्त्वकी बात तो यह है कि वहांके निर्यातमें अब तैयार मालकी ही प्रधानता है । इसीसे उसकी औद्योगिक उन्नतिका पता चलता है । किन्तु इस उन्नतिसे वहां वाले जितने खुश मालूम होते हैं, उतने ही सचिन्त भी जान पड़ते हैं ।

**आजकल संयुक्त राज्यमें अपनी आवश्यकतासे अधिक माल तैयार होता है। जितना माल हम तैयार करते हैं उसका पंचमांश या तो विदेशोंको भेज दिया जाना चाहिये या फिर उसे तैयार ही न करना चाहिये। यदि हम माल तैयार नहीं करते हैं तो हमें औद्योगिक ह्रास अथवा बेकारीका सामना करना पड़ेगा। यदि माल बाहर न भेजें तो पदार्थोंका मूल्य बढ़ जायगा, क्योंकि पूरा माल तैयार करने पर ही प्रति वस्तु पीछे कम व्यय पड़ता है।...देशकी जनसंख्यामें वृद्धि होगी, लोगोंकी क्रयशक्तिभी बढ़ेगी, रहन-सहनका ढंग अधिक खर्चीला होता जायगा, फिरभी यह करीब करीब निश्चित है कि घरकी खपतकी अपेक्षा पदार्थोंकी उत्पत्ति ज्यादा ही बढ़ती जायगी। इसका अर्थ स्पष्ट है।...यहां पर जिस मालका बनना बढ़ता जा रहा है, उसे विदेशोंमें खपा देनेका प्रयत्न करना ही होगा।**

देखें अमेरिकाकी यह परिस्थिति उसे कैसे कैसे उपाय रचनेके लिये बाध्य करती है ।

[ फरवरी मासके "फोरम" से ]

## भारतमें चीनीका व्यवसाय।

मार्च मासकी सरस्वतीमें श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंहजीका लिखा "भारतमें चीनीका व्यवसाय" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। लेखकके मतानुसार

**भारतमें चीनीकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये दो पदार्थ आवश्यक हैं, गुड़ और साफ की हुई चीनी। भारतमें ईखसे गुड़ बनता है, क्योंकि और देशोंकी अपेक्षा यहां ईखकी उपज बहुत अधिक है।**

संवत् १९७६ में ईखसे बनाये गये भारतीय गुड़की तादाद लगभग २६½ लाख टन ( ७½ करोड़ मनसे कुछ कम ) थी और बाहरसे आने वाले गुड़ तथा विना साफ की हुई चीनीकी तादाद ६८०½ टन थी। भारतमें बनने वाली चीनीके सम्बन्धमें लिखते हुए लेखक महाशय कहते हैं :

**भारतमें इस समय चीनी बनानेके ३० कारखाने हैं। १७७,५६६ टन चीनी इन कारखानोंमें तथा अन्य छोटी मोटी मशीनों द्वारा तैयार होती है। यह याद रखनेकी बात है कि पुराने ढंगसे चीनी बनानेका काम अब चलनेका नहीं, क्योंकि मशीनसे तैयार होनेवाली चीनी सस्ती पड़ती है और पुराने ढंगसे तैयार होनेवाली चीनी महंगी। और सस्ती चीनीको छोड़कर महंगी कौन खरीदने जायगा? भारतकी बनी चीनी लङ्काद्वीप आदि देशोंको भी भेजी जाती है। परन्तु अधिक परिमाणमें नहीं।**

बाहरसे जो साफ चीनी आती है, उसका संक्षिप्त ब्यौरा यह है—

**१६ डच स्टैंडर्डकी चीनी जावा, मारिशस, जापान, मिस्र और हांगकांगसे आती है। इन देशोंमें भी, जावा* सबसे अधिक चीनी भेजता है और इसके बाद मारिशस टापूका नम्बर आता है। लड़ाईके पहले जर्मनी और आस्ट्रिया हंगरीने चुकन्दरकी चीनी बनाना आरम्भ किया। फिर उस चीनीको खांडके सबसे बड़े बाजार भारतमें उन्होंने बेचना शुरू किया। इससे भारतकी खांडका बाजार चौपट होने लगा। इसी बीचमें ब्रुसेल ( Brussels ) की पञ्चायतने जर्मनी और आस्ट्रियाकी सरकारोंसे सिफारिशकी कि खांडपर गवर्नमेंट द्वारा दी गई सहायता बन्द कर दी जाय। इससे ईखके कारबारियोंने बहुत कुछ लाभ उठाया, पर अभागे भारतने नहीं! इसकी दशा कुछ सुधर-**

*जनवरी मासके "मैसूर एकानामिक जर्नल" में दी हुई एक तालिकासे ज्ञात होता है कि संवत् १९७७ में जावासे २ लाख ६२ हजार ९०५ टन अर्थात लगभग ७२ लाख मन चीनी ब्रिटिश भारतमें आयी—सं० स्वा०।

ने भी न पाई थी कि जावा और मारिशसवालोंने रसायनशास्त्रकी सहायतासे सहज और समुन्नत प्रक्रियायें निकालकर चुकन्दरकी बढ़ती को रोक दिया। जहां बुसेल्सकी पञ्चायतके दस वर्ष पहले ईखकी अपेक्षा चुकन्दरकी खांड दूनी तैयार होती थी वहां वह १९१३-१४ में ईखकी खांडके बराबर ही रह गयी! अबतक भारतका बाजार चुकन्दरकी चीनीसे भरा था। अब जावा और मारिशसवालोंने अपना प्रभुत्व जमा लिया। २५ वर्षोंमें जावाकी चीनीकी आमदनी ७०,००० टनसे बढ़ते बढ़ते ७,००,००० टन तक पहुंच गई है।

अन्तमें भारतमें अभी चीनीके व्यवसायकी वृद्धिका कितना क्षेत्र पड़ा हुआ है, इसका ज़िक्र लेखकने इन शब्दोंमें किया है :—

भारतमें विदेशी चीनीकी खपत ७४८,५४४ टन है। इसमें १४—१५ करोड़ रुपया विदेश चला जाता है। भारतमें १४७,५६९ टन चीनी तैयार होती है। इन दोनों अङ्कोंसे मालूम होगा कि भारतमें चीनीके कारखाने खोलनेके लिये अभी बहुत बड़ा क्षेत्र है। यदि भारत वर्षमें चीनीके कारखाने खुलें तो उन्हें बड़ा मुनाफा होगा। क्योंकि एक तो यहां जितनी खपत होती है उतनी चीनी तैयार नहीं होती और दूसरे विदेशी चीज़ोंपर चुंगी लगने तथा भाड़ेमें अत्यधिक वृद्धि हो जानेके कारण विदेशी चीनी बड़ी महँगी हो गयी है; ऐसी दशामें यदि भारतमें चीनी तैयार हो तो उसकी खूब बिक्री होगी। आजकल बहुत लोग विदेशी चीज़ोंको लेना पसन्द भी नहीं करते। स्वदेशी चीनी यदि पूर्ण रूपसे मिले, तो वे उसे ही ख़रीदेंगे।

[ मार्चकी सरस्वतीसे ]

# सम्पादकीय ।

## भारत सरकारका आय-व्यय ।

गत १७ फाल्गुन ( १ मार्च ) को बड़ी व्यवस्थापक सभाके सामने भारत सरकारके अर्थ सचिव सर मैलकम हेलीने जो आय-व्यय-अनुमानपत्र ( बजट ) उपस्थित किया, वह अत्यन्त निराशजनक है। यों तो गत तीन चार वर्षोंसे ही भारत सरकारकी अर्थनीति बहुत कुछ डांवाडोल हो रही है, फिर भी इस वर्षकी नाई नितान्त असहनीय घाटा पहिले कभी नहीं हुआ था। संवत् १९७७ के अन्तमें जब नये वर्ष ( संवत् १९७८ ) का आय-व्यय-अनुमानपत्र स्वीकृत हुआ था तब इस वर्षकी आयका अनुमान १२८½ करोड़ रुपये किया गया था और व्ययका अनुमान लगभग १२७¾ करोड़ था। इस प्रकार इस वर्ष कुल ७१ लाखकी बचत होनी चाहिये थी। किन्तु वर्ष समाप्त होनेके समय अब ऐसा प्रतीत होता है कि बचतका होना तो दूर रहा और उलटे ३४ करोड़का घाटा सरकारको होगा। इस वर्षकी आमदनी अनुमानसे २०½ करोड़ कम अर्थात् १०८ करोड़ ही होगी और व्यय अनुमानसे १४½ करोड़ अधिक अर्थात् लगभग १४२ करोड़ होगा। इस प्रकार लगभग ३४ करोड़की घटी समझिये।

अर्थ सचिव कहते हैं कि यद्यपि हमने यह अनुमानपत्र व्यापारकी मन्दीके समय ही तैयार किया था तो भी "पहिले ही यह समझ लेना हमारे लिये संभव न था कि व्यापार इतना अधिक शिथिल हो जायगा और उसके परिणामोंका प्रभाव हमारी आर्थिक परिस्थितिपर इतना ज्यादा पड़ेगा।"

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं इस वर्षकी आयमें २०½ करोड़की कमी हुई। लेखा तैयार करते समय बाहरसे आनेवाली चीजोंकी चुंगीसे ३७¾ करोड़की आयका हिसाब लगाया गया था, किन्तु अब इस मदसे ३३½ करोड़की ही आशा है अर्थात् ४¼ करोड़की आय कम हो गयी। इसी प्रकार आय करसे ९० लाख, नमकसे ८० या ९० लाख और अफीमसे भी ७० लाखकी आमदनी अनुमानकी अपेक्षा कम होगी। डाक और तार-विभागमें भी १½ करोड़की घटीकी संभावना है। किन्तु सबसे अधिक घटी—१३ करोड़ रुपयोंकी—तो रेलोंमें हुई। एक तो व्यापारकी मन्दी इत्यादिके कारण यों ही आमदनी घट गयी थी, दूसरे वर्तमान हड़तालका भी बुरा असर पड़ रहा है। इसके अतिरिक्त कोयलेकी खानोंमें काम करनेवालोंकी गड़बड़ीके कारण इस वर्ष बहुत कम कोयला निकाला गया। अतः रेलवालोंको या तो बहुत दाम देकर देशी कोयला खरीदना पड़ा या फिर विदेशोंसे मंगाना पड़ा। इस प्रकार रेलोंके चलानेमें इस वर्ष साधारणसे अधिक व्यय पड़ा।

जहां एक ओर आमदनी अनुमानसे कम हुई, वहां व्यय भी अनुमानसे बढ़ गया। गत वर्ष सैनिक व्ययका अनुमान ६२¼ करोड़ रुपये लगाया गया था, किन्तु इस वर्ष

वजीरिस्तानमें अनुमानसे अधिक व्यय हो जानेके कारण इस मदमें कमसे कम २½ करोड़का व्यय अधिक होगा। जिस समय आय-व्यय-पत्र तैयार किया गया था, उस समय विदेशी हुंडीकी दर रुपये पीछे १ शिलिंग ८ पेन्स थी, किन्तु बादमें वह १ शिलिंग ५½ पेन्स और फिर १ शिलिंग ४ पेन्स हो गयी। इस प्रकार इस मदमें भी ५½ करोड़की हानि हुई। इस वर्ष कुल मिलाकर लगभग १४½ करोड़का व्यय अनुमानकी अपेक्षा अधिक हो जानेकी संभावना है। इस प्रकार आमदनीमें २०½ करोड़की कमी और व्ययमें १४½ करोड़की वृद्धिकी संभावना होनेके कारण लगभग ३४ करोड़की घटी होगी।

अब संवत् १९७९ का लेखा लीजिये। नये वर्षकी आयका अन्दाजा ११०½ करोड़ लगाया गया है और व्ययका १४२½ करोड़ अर्थात् अगले वर्ष भी ३१½ की घटी रहेगी। इस घटीकी पूर्त्तिके लिये पुनः कर-वृद्धि की जानेवाली है।

संवत् १९७७ के अन्तमें जिस समय वर्त्तमान वर्ष (१९७८) का अनुमानपत्र पेश किया गया था, उस समय अर्थ-सचिवने अपने भाषणमें बतलाया था कि संवत् १९७७ के बजटमें लगभग २२ करोड़का घाटा होगा। इसके पश्चात् जब उन्होंने इस वर्ष (१९७८) के लेखेका जिक्र किया तब मालूम हुआ कि "भारत सरकारका कुल व्यय १२९ करोड़ होगा और आय सिर्फ ११०½ करोड़" अर्थात् उस समय लगभग १८½ करोड़ रुपयोंकी और आवश्यकता जान पड़ी। यही विचारकर गत वर्ष ही भिन्न भिन्न करोंकी वृद्धिकी गयी थी। बाहरसे आनेवाले सूती कपड़ोंपर ७½ के स्थानमें ११ रुपये सैकड़े, आरामकी वस्तुओंपर ७½ के बदले २० रुपये सैकड़े तथा दिया सलाईपर एक ग्रास पीछे १२ आने कर लगाया गया था। इसी प्रकार शक्कर, मदिरा इत्यादिका कर भी बढाया गया था और डाक व्ययकी दरमें भी परिवर्त्तन किया गया था। इस तरह कर-वृद्धि द्वारा सामान्य आयके अतिरिक्त १९ करोड़की आय और प्राप्तकर उक्त घटीकी पूर्त्ति करनेका प्रयत्न किया गया था। किन्तु घटीकी पूर्त्ति तो दूर रही, इस वर्ष उसकी मात्रा और भी अधिक बढ़कर लगभग दुगनी हो गयी है।

इस प्रकार गत तीन चार वर्षोंसे जो घटी हो रही है उसके कारण देशका आर्थिक संकट कितना बढ़ रहा है, यह किसीसे छिपा नहीं है। अधिकारि-वर्ग भी इस बातको खूब समझता है, किन्तु वह अपने दुराग्रहसे बाज़ नहीं आता। गत वर्षकी तरह इस वर्ष भी अर्थ-सचिव श्री हेलीने अपनी नीतिके समर्थनमें लम्बी चौड़ी वक्तृता दी है। आपने बारम्बार इस बातपर ज़ोर दिया है कि जितना व्यय घटाया जा सकता था उतना घटाया जा चुका है! अब उसमें किसी प्रकारकी कमी करनेके गुंजाइश ही नहीं है। यदि व्ययमें और कमीकी गयी तो काम बिगड़ जायगा, नूतन शासन-व्यवस्था असफल प्रमाणित होगी और आगे स्वराज्य पानेमें बाधा होगी! क्या खूब, चाहे घरका दिवाला निकल जाय और पेट भरनेके लाले पड़ते हों तो भी सुधारोंके विफल हो जानेके डरसे अर्थ-सचिव महोदयकी नीतिका समर्थन ही करते जाओ। नूतन शासनप्रणालीकी असफलता

का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि दिन प्रति दिन कर-भार असह्य होता जा रहा है, किन्तु फिर भी शासन-व्ययकी मात्रा कम नहीं हो रही है? हम यह मानते हैं कि ऐसा आर्थिक संकट आज केवल हमारे देशपर ही नहीं पड़ा है, प्रत्युत संसारके अन्य अन्य देशोंकी भी यही हालत है तो भी हम देखते हैं कि जहां उक्त देशोंमें समय और आयको देखकर व्यय भी घटाया जा रहा है, वहां भारतमें ऐसा कोई वास्तविक प्रयत्न होते नहीं देख पड़ता। अर्थ-सचिव चाहे जितना लम्बा चौड़ा व्याख्यान देकर अपनी नीतिका समर्थन करनेकी चेष्टा करें एवं अपनी चतुर शब्दावली और विद्वत्तापूर्ण प्रतीत होनेवाली वर्णन-शैलीसे बड़ी व्यवस्थापक सभाके सदस्योंको विमुग्ध कर डालें, फिर भी वे हमारे हृदयमें यह विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकते कि जो कुछ किया जा रहा है वही सर्वोत्तम और देशके लिये कल्याणकारी है। उनकी नीतिके परिणाम-स्वरूप जो भयंकर घाटा हो रहा है उसका अस्तित्व ऐसे बीसों व्याख्यानोंसे भी नहीं मिट सकता। अतः जब तक इस अर्थनीतिके भीषण परिमाणोंको देख सकनेकी क्षमता लोगोंमें विद्यमान है तब तक पंडित वर हेली महाशय चाहे जितने दत्त-चित्त होकर व्यवस्थापक सभाके मंचपरसे अपना अर्थपुराण बांचकर सुनाडालें, वे अपने प्रयत्नमें सफल न हो सकेंगे। एक बार या दो बार लोगोंको धोखा देना सरल है, पर बार बार उनकी आंखोंमें धूल झोंकना संभव नहीं है। हेली महाशयने स्वयं ही स्वीकार किया है कि गत चार वर्षोंसे बराबर घाटा आ रहा है, जिसकी संयुक्त मात्रा इस वर्षके अन्त तक लगभग ९० करोड़ होगी। संवत् १९७५ में ६ करोड़, १९७६ में २४ करोड़, १९७७ में २६ करोड़ और १९७८ में ३४ करोड़का घाटा हुआ। जब कि प्रति वर्ष बजट तैयार करते समय अगले वर्ष होने वाले घाटेका अनुमान लगा लिया जाता है और उससे बचनेका उपाय भी कर लिया जाता है तब फिर क्यों इतना घाटा होना चाहिये? करोड़ दो करोड़ नहीं, तीस पैंतीस करोड़का घाटा होते देखकर शासक-मण्डलकी अर्थनीतिमें अविश्वास होना अनिवार्य है। इस प्रकारके परिणामको देखकर सहसा यही धारणा होती है कि या तो आय-व्ययका अनुमान लगानेवाला ही अपने कार्यमें कुशल नहीं है, या फिर वर्तमान शासन-प्रणालीमें ही ऐसा कोई ऐब है कि जिसके कारण उसका व्यय उचित मर्यादाके भीतर न रहकर अनुमानसे अधिक हो जाया करता है। यदि शासकवर्ग वास्तवमें अपनेको जनताके प्रति उत्तरदायी समझता होता तो वह निर्दिष्ट सीमाका उल्लंघन इतनी निर्भीकतासे कदापि न कर सकता। हम यह जानते हैं कि आय-व्ययको घटाने बढ़ाने वाले कई कारण ऐसे भी हैं जिनका नियंत्रण अर्थ-सचिवकी शक्तिके बाहर है। फिरभी सभी कारणोंको अनिवार्य और दुर्दमनीय मान लेनेको हम तैयार नहीं है। हम समझते हैं कि यदि अर्थ-सचिव श्री हेली तथा उनके अन्य सहवर्गी शासक, देशकी मर्यादित आय और आर्थिक परिस्थिति पर लक्ष्य रखकर अपने बढ़ते हुए व्ययको रोकनेका सच्चा प्रयत्न करते तो आज इस प्रकार सरकारका दिवाला न निकलता। गत तीन चार वर्षोंकी प्रवृत्ति देखकर सहसा यह आशा नहीं होती कि निकट भविष्यमें भी देशके आय-व्ययका संतुलन ठीक हो सकेगा। भगवान ही इस अर्थ संहारक नीतिसे हमारी रक्षा करें।

## भारतका सैनिक व्यय ।

भारत सरकारके गत कई वर्षोंके आय-व्ययका लेखा देखनेसे सर्व-प्रथम जिस मदकी ओर दृष्टि आकर्षित होती है वह उसका बढता हुआ सैनिक व्यय है । संसारमें एकसे एक 'लड़ाके' देश वर्तमान है । साथ ही ऐसे देशोंका भी अभाव नहीं है जिन्हें बाहरी आक्रमणकी झूठी आशंकाके कारण अपनी सेना पर अत्यधिक द्रव्य व्यय करना पड़ता है, किन्तु इस विशाल धरणीतल पर कदाचित भारत ही ऐसा देश है जिसकी आयका अर्द्धांश अकेले सेना-व्ययमें ही लगा दिया जाता है । न जाने क्यों यहां प्रति वर्ष एक न एक कारण ऐसा उत्पन्न हो जाता है या पहिलेसे ही उपस्थित रहता है जिसका सहारा लेकर इस अपार व्ययको और भी अधिक बढाने अथवा उसे वृद्धि-प्राप्त अवस्थामें ही क़ायम रखनेके लिये अधिकारियोंको विवश हो जाना पड़ता है । कमसे कम उनके कहनेसे तो ऐसा ही प्रतीत होता है । यदि वास्तवमें यह बात सत्य हो तो हमें यह मानना पडेगा कि जिन उदार-चित्त, सरल-हृदय महानुभावोंके मत्थे इस हतभाग्य देशकी "सैनिक परिस्थिति" का उत्तरदायित्व जा पड़ा है, उनपर दया करना और इच्छा न होते हुए भी उनकी नीतिका समर्थन करना ही हमारा धर्म है, किन्तु वस्तुतः परिस्थिति ऐसी नहीं है—देशके अनेक समझदार लोगोंका यही विश्वास है—कि जिसके कारण ऐसे कठिन आर्थिक संकटके समयमें भी सेनाके लिये इतनी अधिक सम्पत्तिका स्वाहा करना न्याय्य और उचित समझा जा सके । अस्तु

भारतकी "सैनिक परिस्थिति" के सम्बन्धमें भाषण करते हुए सेनाध्यक्ष लार्ड रालिनसनने कहा कि- "सीमा प्रान्तके उस तरफ एक लाख तीस हजार हथियार बन्द लड़ाकू रहते हैं । संवत् १९७६ में इन्होंने भारतीय सीमा पर ६११ आक्रमण किये और लग भग २१ लाखकी सम्पत्ति लूट कर लेगये । " यदि यह सच है तो इससे वृद्धिगत सैनिक व्ययका समर्थन न हो कर और उलटे उसकी अनुपयुक्तता ही साबित होती है । इन "लुटेरों" से सीमाप्रान्तकी 'रक्षा' करनेके निमित अब तक भारत सरकारने न जाने कितने करोड़ रुपये खर्च कर डाले होंगे, किन्तु क्या सरकारका कोई भी समर्थक अपनी छाती पर हाथ रखकर यह कह सकता है कि लार्ड लारेन्सकी 'शक्तिपूर्ण निष्क्रियता' ( मास्टरली इन-एक्टिविटी ) की नीतिकी अपेक्षा वर्त्तमान नीति सीमा-प्रान्तकी समस्याका अधिक सन्तोष जनक समाधान कर सकी है ? यदि देशकी इतनी अधिक सम्पत्ति भस्मसात् हो जानेपर भी सरकार सीमाप्रान्तके पास रहनेवाली जंगली जातियोंके उपद्रवोंको रोक न सकी और उनके पाससे लूटका रुपया वापस न ले सकी तो हम कैसे कहें कि सरकारकी वर्तमान सैनिक नीति इस प्रश्नके हल करनेमें विशेष सफल हुई है । यद्यपि हम न तो लार्ड लारेन्सके समयकी प्रचलित सैनिक नीतिको ही सर्वथा निर्दोष कहना चाहते हैं और न सरकारकी वर्तमान कार्य-पद्धतिको ही नितान्त अनुपयुक्त और दोष-पूर्ण कहनेका साहस करते हैं, तो भी हम बात बातमें उसके आगे बढ़ने और छेड़-छाड़ करने की नीतिका घोर विरोध करते हैं । सीमा-प्रान्तका झगड़ा पचासों वर्षसे चला आ रहा है और, यदि वर्त्तमान कार्य-शैलीमें कोई विशेष परिवर्त्तन न हुआ तो, भविष्यमें भी उसके चलने

## सम्पादकीय।

की पूरी संभावना है। इस उलझनको सुरझानेके लिये इतने युद्ध किये गये, इतनी संधियां हुईं, किन्तु कोई विशेष लाभ न हुआ। नयी नयी सड़कें बनवायी गयीं, मौक़े मौक़ेपर सैनिक दुर्गोंका निर्माण भी किया गया, किन्तु कार्य-सिद्धि आज भी प्राप्त न हुई। अभी हालमें जिस समय आंग्ल-अफ़गान संधि स्वीकृत हुई थी उस समय ब्रिटिश सरकारके प्रति अफ़गान-सरकारके मैत्री-भावकी घोषणा ज़ोरोंके साथ की गयी थी और बड़े बड़े शब्दोंमें यह आशा प्रकट की गयी थी कि अब निकट भविष्यमें अफ़गान सरकारकी ओरसे किसी प्रकारके संकटकी आशंका न रह जायगी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि अब अफ़गान सरकारपर ब्रिटिश सरकारका सन्देह वास्तवमें नष्टप्राय हो गया है और इसे विश्वास हो गया है कि अफ़गानिस्तानमें रूसके साम्यवादियोंके प्रभाव की शंका व्यर्थ थी। यह सब होनेपर भी भारत सरकारकी सीमा-प्रान्त-विषयक नीति टससे मस होती नहीं देख पड़ती। जान पड़ता है कि सैनिक अधिकारियोंके सन्देहपूर्ण हृदयोंसे आज भी अफ़गान-हौआ दूर नहीं हुआ है, तभी तो उन्हें अभी तक सीमा-प्रान्तके झगड़ों में उलझनेका भय बना हुआ है और वे इसके निमित्त आय-व्ययके लेखेमें करोड़ों रुपयोंकी गुंजाइश रखना चाहते हैं। यद्यपि राजनीतिक दृष्टिसे अपने पड़ोसी राज्योंसे सदा सतर्क रहना ही उचित है, किन्तु इस सम्बन्धमें दो बातोंका ध्यान अवश्य रखना चाहिये। एक तो यह कि शंका करनेका कोई वास्तविक कारण उपस्थित है या नहीं। दूसरे यह कि भयका कारण सचमुच वर्तमान रहनेपर भी कहीं हम आवश्यकतासे अधिक सतर्क तो नहीं हो रहे हैं। जिस प्रकार अकारण ही रज्जीको सांप समझ बैठना पागलपन है, उसी प्रकार दूरसे दृष्टिगोचर होनेवाले संकटको देखकर उचित समयके पूर्वही उससे मिलनेके लिये दौड़ पड़ना बुद्धिमानी नहीं है। निर्दिष्ट सीमाके भीतर एवं परिस्थितिका वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सचेष्ट होना सर्वदा बुद्धि- संगत समझा जायगा, किन्तु अपने ही चित्तकी अनस्थिरता और स्वार्थलोलुपताके कारण क्षण क्षणमें दूसरोंपर अविश्वास करना न तो वाञ्छनीय है और न उससे कोई विशेष लाभ होनेकी ही सम्भावना है। इस प्रकारकी काक-चेष्टा जितनी ही जघन्य है, सैनिक-क्षेत्रमें वह उतनी ही धन संहारिणी है। हमारा विश्वास है कि यदि भारत सरकारके सेनाध्यक्ष लार्ड रालिनसन महोदय अपने मस्तिष्कसे यह भ्रम दूर कर डालें कि भारतकी पश्चिमोत्तरसीमाके उसपार एवं अफ़गानिस्तानमें केवल डाकू और लुटेरे ही निवास करते हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य भारत पर आक्रमण करना है तो अवश्य ही उन्हें बहुत कुछ शान्ति मिल सकेगी और भारतकी दरिद्र प्रजाका भी थोड़ा बहुत उपकार हो सकेगा। जब तक सीमाके उसपारकी जातियोंकी प्यारी स्वतन्त्रतामें हस्तक्षेप करनेकी नीतिका परित्याग न किया जायगा एवं जब तक उनके प्रति, स्वहितकी रक्षा करते हुए, अधिक विश्वास और उदारता न प्रगट की जायगी तब तक यह प्रश्न हल न हो सकेगा और न भारतके अपरिमित सैनिक व्ययका भार ही कम हो सकेगा।

भारत सरकारकारके सेनाध्यक्षने कहा है कि देशकी बाह्य तथा आन्तरिक परिस्थिति ऐसी है कि सेनाका व्यय और अधिक घटाया नहीं जा सकता। इस कथनमें कितनी सत्यता है, हम नहीं जानते। फिर भी बाह्य 'परिस्थितिका' जो

कुछ आशय हम समझ सके हैं वह हमने ऊपर प्रकट कर दिया है। रही आन्तरिक परिस्थिति, सो उसे भी हम इतनी भयावह या चिन्तनीय नहीं समझते कि जिसके कारण सैनिक व्ययका भार ज़रा भी घटाया न जा सके। देशमें जो राजनीतिक आन्दोलन चल रहा है वह प्राय: शान्तिमय ही है। जहां दो एक स्थानोंमें थोड़ेसे नासमझ और शीघ्र उत्तेजित हो जाने वाले लोगोंके कारण किसी प्रकारकी अशान्तिकी आशंका भी हो, वहां भी परिस्थिति इतनी भयंकर हो जानेका कोई डर नहीं है कि वह शीघ्र सुधारी न जा सके। इस अवसरपर देशके सभी नेता—सहयोगी अथवा असहयोगी—तुरन्त शान्ति स्थापित करनेके प्रयत्नमें लग जाते हैं। इसी कारण हम कहते हैं कि वर्तमान राजनीतिक आन्दोलनके कारण प्रचलित शासन-पद्धतिकी ओर लोगोंमें असन्तोष होते हुए भी, अशान्ति एवं उपद्रवकी आशंका नहीं है। यदि दुर्भाग्यसे कहीं ऐसा कुअवसर उपस्थित भी हो जाय तो उस समय भी परिस्थितिका संभालना कठिन नहीं है। ऐसी हालतमें देशकी आन्तरिक परिस्थितिके कारण सेनाध्यक्षका विशेष चिन्तित होना सैनिक व्ययको न घटानेका बहानामात्र कहा जा सकता है।

प्रत्येक विभागके अधिपतिके लिये यह स्वाभाविक ही है कि वह अपने उत्तर-दायित्व और अपने कामके महत्वपर अधिक ज़ोर दे। अत: सेनाध्यक्षको भी इस स्वाभाविक प्रवृत्तिसे प्रेरित देख कर हमें विशेष आश्चर्यान्वित न होना चाहिये, प्रत्युत शान्त चित्तसे उनके शब्दोंको सुनकर उनमें वास्तविक तथ्य कितना है, इसका पता लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करनेसे किस हद तक सैनिक व्यय घटाना उचित होगा, यह बहुत कुछ समझमें आ जायगा।

इस वर्ष व्यवस्थापक सभाके सदस्योंने इसबातकी चेष्टा की थी कि उन्हें सैनिक-व्यय-पर भी मत देनेका अधिकार हो, किन्तु उनका यह प्रयत्न सफल न हुआ। व्यवस्थापक सभाको यह अधिकार होना चाहिये कि वह सैनिक व्ययपर केवल विवाद ही न कर सके प्रत्युत उन सब मदोंका व्यय घटानेका आग्रह भी कर सके जिनका खर्च आवश्यकतासे अधिक रखा गया प्रतीत होता हो और जिनकी पुष्टिमें सेनाध्यक्ष कोई समुचित कारण न बतला सकें। यदि व्यवस्थापक सभाके सदस्योंको सैनिक व्ययपर मत प्रकाशित करनेका अधिकार दिया जाय तो सम्भवत: सेनाका खर्च इस अंधाधुंधीके साथ न बढ़ने पावे। ऐसा करनेसे सैनिक अधिकारियोंकी अक्ल दुरुस्त हो जायगी और उन्हें झख मारकर राज्य-की आयके अनुसार ही व्यय करनेकी आदत डालनी पड़ेगी। हम यह मानते हैं कि अनेक कारणोंसे सेना-विभागकी कार्रवाई सर्व-साधारणपर प्रकाशित नहीं की जा सकती—युद्ध-कालमें या अन्य किसी विपत्तिके समय उसे गुप्त रखना अनिवार्य हो जाता है—किन्तु शान्तिके समयमें भी, कमसे कम राष्ट्रकी ऐसी आर्थिक स्थितिमें भी, उसकी कारस्वाईको भली भांति समझे बिना, समूची आयका आधेसे ज्यादा भाग उसके व्ययके निमित्त स्वीकृत कर देना देशके लिये कभी कल्याणकारी नहीं कहा जा सकता। क्या इस असह्य व्यय-भारके कारण देशमें और भी अधिक असन्तोष न फैलेगा? तो क्या अगले वर्ष देशकी "आन्तरिक परिस्थिति" देखकर सेनाध्यक्ष महोदय फिर सैनिक व्ययकी वृद्धिका आग्रह

करेंगे ? यह भी अच्छी समस्या है—जब तक 'आन्तरिक परिस्थिति' न सुधरेगी तबतक सेनाका व्यय न घटाया जायगा और जब तक यह दुःसह सैनिक व्यय न घटेगा तबतक देशका आर्थिक संकट दूर न हो सकनेके कारण उसकी आन्तरिक परिस्थिति भी न सुधरेगी। न जाने कब इस समस्याका अन्त होगा।

## घाटा पूरा करनेके उपाय।

अर्थ सचिव श्री हेली महोदयने अपने भाषणमें वर्तमान आर्थिक संकटको दूर करनेके तीन उपायोंका उल्लेख किया था। पहिला यह कि घटी यों ही छोड़ दी जाय व्यापारकी वृद्धि होते ही परिस्थिति सुधर जायगी, दूसरा यह कि व्यय घटाया जाय और तीसरा उपाय है कि कर-वृद्धि द्वारा घटी पूरी की जाय। आपने प्रथम दो उपायोंको वर्तमान परिस्थितिमें अनुपयुक्त बतलाकर अन्तिम उपायका ही सहारा लिया है।

गत तीन चार वर्षोंकी स्थितिके अनुभवसे तथा अन्य कारणोंसे भी हमारा ख्याल है कि इतनी बड़ी घटी को यों ही छोड़ देना अर्थात् उसकी पूर्त्तिका कोई उपाय न करना देशके लिये हानि कारक ही होगा। अतः प्रथम उपायकी अनुपयुक्तताके विषयमें तो हम अर्थसचिवसे सहमत हैं, परन्तु द्वितीय उपायके सम्बन्धमें हम उनका समर्थन नहीं कर सकते। सैनिक व्ययकी ज्यादती परतो हम अपने विचार ऊपर प्रकट ही कर चुके हैं। हमारा विचार है कि अन्य विभागोंका भी व्यय अभी घटाया जा सकता है। किन किन मदोंमें कितना कितना खर्च कम किया जा सकता है, इसकी समुचित विवेचना ऐसे योग्य और चतुर व्यक्तियोंकी व्ययभार हरण समिति ( रिट्रेन्चमेण्ट कमिटी ) ही कर सकती है जिन्हें इन बातोंकी विशेष जानकारी हो। अस्तु

अब हम तीसरे उपायकी ओर झुकते हैं। इस उपायका प्रयोग प्रायः तभी किया जाता है जब दूसरे उपायके प्रयोगसे भी काम नहीं चलता। संसारके अन्यान्य देशोंकी अपेक्षा भारत बहुत निर्धन देश है इस ख्यालसे यहांका कर-भार किसी हद तक अपेक्षाकृत कम होनेपर भी यहांके निर्धन निवासियोंके निमित्त किसी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता। वह क्रमशः असह्य होता जा रहा है। जिस सीमा तक कर बढ़ाया जा सकता था वह तो गत वर्षही समाप्त हो चुकी थी। तभी तो नूतन कर-वृद्धि होनेपर भी आयकी वृद्धि न हो सकी। जिस समय करोंके बढ़ानेपर भी आमदनी न बढ़े, उस समय समझना चाहिये कि अब कर-वृद्धिकी पराकाष्ठा हो गयी। इस अवस्थाके प्राप्त हो जानेके बाद भी यदि कर-वृद्धि की जाय तो वह निष्फल होगी। आयका बढ़ना तो दूर रहा, संभवतः वह घट जायगी, क्योंकि करोंकी ज्यादतीके कारण चीज़ें महंगी मिलने लगेंगी, अतः उनका खर्च भी कम हो जायगा। इस प्रकार देशके व्यापारको भी हानि पहुंचेगी और लोगोंका आर्थिक कष्ट घटनेके बजाय बढ़ता ही जायगा।

देशकी अवस्था देखकर तो यही कहना पड़ता है कि गतवर्ष भी करोंकी वृद्धि न होनी चाहिये थी, क्योंकि जनतापर उनका काफी भार लद चुका था। किन्तु उस समय जो हुआ सो हुआ, अब तो कमसे कम इनकी वृद्धि न होनी चाहिये। अधिकाधिक कर-भार

लादकर ग़रीबोंकी गर्दन तोड़ डालनेसे न शासकोंकी बहादुरी प्रकट होगी और न देशका उद्धार ही होगा। नूतन कर-वृद्धिके विरोधका एक कारण यह भी है कि सर्व साधारणपर इस समय तीन ओरसे आघात पड़ रहा है। भारत सरकारके अतिरिक्त प्रान्तीय सरकारों तथा म्यूनिसिपालटियोंका भी दिवाला निकल रहा है। अतः वे भी अपने अधिकारोंके अन्तर्गत करोंकी वृद्धि कर रही हैं। इन तीनोंमेंसे एक भी, कर-भारसे दबी जनतापर रहम नहीं करना चाहती। ऐसी हालतमें तिहरी चपेटमें पड़कर उसकी क्या दशा होगी, यह समझना कठिन नहीं है।

अर्थ-सचिवने प्रस्ताव किया है कि अब रेलका किराया सवा गुना बढ़ा दिया जाय। कहना नहीं होगा कि इसका भार गरीब जनतापर ही पड़ेगा। किराया एकबार बढ़ाया ही जा चुका है। अब उसमें नूतन वृद्धि करनेका यही परिणाम होगा कि आवश्यक होनेपर भी लोगोंको या तो अपना आवागमन रोक रखना पड़ेगा या फिर अपना पेटकाटकर किरायेका प्रबन्ध करना पड़ेगा। हमारा तो ख्याल है कि "सब धान बाइस पसेरी" की नीतिका अनुसरण न कर यदि सेकण्ड तथा फर्स्ट क्लासके किरायेमें ही अधिक वृद्धि की जाती और यदि इतनेसे भी काम न चलता तो तीसरे दर्जेमें नाममात्रकी वृद्धिकी जाती तो अच्छा होता।

अर्थ-सचिव कार्डका मूल्य दो पैसे और लिफाफेका एक आना करना चाहते हैं। इसका भी भार गरीब जनतापर ही पड़ेगा, क्योंकि जिनके पास पैसा है वे तो दो रुपयेके स्थानमें पत्रव्यवहारके निमित्त चार रुपये मासिक भी खर्च कर सकते हैं, किन्तु जिनके पास खाने और पहिरनेको आवश्यक सामग्री तक नहीं है वे यह भार कैसे सह सकते हैं? महीनेमें जो दो तीन चिट्ठियां वे लिख सकते हैं, क्या वे भी न लिखा करें? यह कैसी नीति है! इसका आशय तो यही है कि मनुष्य अपने हृदयको निकाल कर फेंक दे और जीवित रह कर भी प्रवासमें रहनेवाले अपने सम्बधियों और मित्रोंके लिये मृत व्यक्तिसा बना रहे! संसारके सभी सभ्यदेशोंमें परस्पर बिचार-परिवर्त्तन और समाचार इत्यादि पहुंचानेकी अधिक से अधिक सुविधाका प्रबन्ध रहता है। वहां तार और डाक-विभाग आमदनीके लिहाज़से नहीं चलाये जाते, प्रत्युत केवल लोक-हितकी दृष्टिसे ही उनका सञ्चालन होता है। इन ल[illegible]पयोगी संस्थाओंसे केवल उतनी ही आमदनीकी आशा करनी चाहिये जितनीसे उनके चलानेका खर्च निकल आवे। इससे अधिक आय प्राप्त करनेकी इच्छा निन्दनीय है। अतः हम डाक-महसूलकी वृद्धिका कदापि समर्थन नहीं कर सकते। इसी प्रकार नमकके समान अत्यन्त आवश्यक वस्तुपर दूना कर लगाना भी अत्यन्त अनुचित है। इन शब्दोंको लिखते समय हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि नमकपर कर नहीं बढाया गया। साथ ही यह भी विदित हुआ है कि देशी कपड़ोंपर महसूल नहीं बढ़ा। विदेशी कपड़ोंपर भी आयात कर ११% ही रहने दिया गया है। व्यसनकी चीज़ोंपर २० से ३० प्रति सैकड़ा महसूल करनेका जो प्रस्ताव है, उसका हम समर्थन करते हैं, किन्तु इनमें छाते इत्यादिके समान उपयोगी वस्तुओंका समावेश न होना चाहिये। हमतो अधिक ज़ोर व्यय घटानेपरही देते हैं, कर-वृद्धिपर नहीं, चाहे वह कितनी ही कम क्यों न प्रतीत होती हो। शासकोंको देशकी आय देखकर ही व्ययका नियंत्रण करना चाहिये। यदि वे ऐसा न करेंगे तो संभव है कल नरम-दलवाले भी उकता कर कहने लगेंगे कि हमें इतने महंगे शासनकी ज़रूरत नहीं है, उसमें घोर परिवर्त्तन होना चाहिये।

# सम्पादकीय।

## "स्वार्थ"के स्नेहियोंसे निवेदन।

### लेखकोंसे

ईश्वरकी असीम दयासे इस अंकके साथ 'स्वार्थ'का दूसरा वर्ष सानन्द समाप्त होता है। इसके प्रकाशनमें लेख इत्यादिके रूपमें जिन महानुभावोंने हमारी सहायता की है उन्हें हम हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते। वास्तवमें उनके सदनुग्रहके बिना "स्वार्थ" हिन्दी संसारकी कुछ भी सेवा कर सकता या नहीं, इसमें सन्देह ही है। इतना होने पर भी हम अपने श्रद्धालु लेखकोंसे विनम्र शब्दोंमें यह कहना चाहते हैं कि आपके इतने अनुग्रहसे हमारी अथवा हमारे पाठकोंकी तृप्ति नहीं होती। हम अभी आपके अनुग्रहके और भी अधिक भूखे हैं। हमारी आपसे यही प्रार्थना है कि आप "स्वार्थ" को हिन्दी संसारमें ही नहीं, प्रत्युत भारतकी अन्य देशी भाषाओंमें भी अपने ढंगका एक ही पत्र समझ कर उसपर और भी अधिक दया-भाव रखें एवं उसके उद्देश्योंके अनुकूल भिन्न भिन्न विषयोंपर उच्चकोटिके लेख लिखनेका प्रयास उठाकर हमारी सहायता करें। हम जानते हैं कि हम आपके इस परिश्रमके निमित्त समुचित पुरस्कार देना तो दूर रहा, उतना पुरस्कार भी नहीं दे सकते जितना आपको हिन्दीके दो चार समुन्नत, स्वावलम्बी पत्रोंसे प्राप्त होता होगा। "स्वार्थ"के प्रथम वर्षमें ही दो हजारका घाटा आया था, फिर भी इस वर्ष पारिश्रमिककी मात्रा पहिलेकी अपेक्षा करीब करीब दुगुनी कर दी गयी थी। इस समय इसके प्रकाशनमें २००) मासिकसे भी अधिक घाटा आ रहा है। ऐसी अवस्थामें हम आपको समुचित अथवा पर्याप्त पुरस्कार देनेमें भी असमर्थ हों तो क्या आपको अपना स्नेह प्रवाह हमारी ओरसे हटा लेना चाहिये?

### ग्राहकोंसे

आप लोगोंको 'स्वार्थ'का काफी परिचय है। आप अपने अनुभवसे कह सकते हैं कि हिन्दी संसारमें इस पत्रने अपनी शक्तिके अनुसार थोड़ी बहुत सेवा अवश्य की है। किन्तु यह एक विचारणीय बात है कि जिस पत्रकी ग्राहक संख्या लगभग ढाई सौ ही हो वह अपना अस्तित्व किस तरह कायम रख सकता है। फिर भी केवल इसकी उपयोगिताके ख्यालसे इसके सञ्चालक इसका प्रकाशन-भार उठाये हुए हैं। आप लोगोंकी सहायता और प्रयत्नसे इसका स्वावलम्बी हो जाना असंभव नहीं है। हम आपको प्रसन्न करनेवाले उपायोंसे अनभिज्ञ नहीं हैं, किन्तु हम उनका समुचित प्रयोग करनेमें असमर्थ हैं। यदि "स्वार्थ" के एक हजार ग्राहक भी हो जायँ तो हम इसकी पृष्ठ-संख्या लगभग ड्योढ़ी तक करनेको तैयार हैं और लेखोंके पुरस्कारकी मात्रा भी बढ़ा सकेंगे। किन्तु जब तक हमारा यह सुख-स्वप्न फलीभूत नहीं होता, तब तक आप हमारी उतनी ही सेवासे सन्तुष्ट रहें जितनी हम अपनी वर्त्तमान परिस्थितिमें कर सकते हैं। जबसे हमारा प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध इस पत्रके साथ स्थापित हुआ है तबसे हम इसे यथासंभव उपयोगी बनाने और समय पर प्रकाशित करनेकी चेष्टा करते आये हैं। भविष्यमें भी शक्ति रहते हम कोई बात उठा न रखेंगे। अस्तु।

**सम्पादक**

# ज्ञातव्य विषय तथा अंक ।

## भारतीय आय-व्ययका लेखा ।

| | संवत् १९७८ | | संवत् १९७ |
|---|---|---|---|
| | प्रस्तावित अंक | संशोधित अंक | प्रस्तावित अं |
| आय ... ... | १२८½ करोड़ | १०८ करोड़ | ११०¾ करो |
| व्यय ... ... | १२७½ ,, | १४२ करोड़ | १४२⅛ ,, |
| बचत ... ... | + ७१ लाख | − ३४ करोड़ | − ३१⅝ |

## १९७८ की आयकी घटीका विवरण ।

| मदोंके नाम | प्रस्तावित अंक | संशोधित अंक | घटी या बढ़ |
|---|---|---|---|
| आयातकर ... | ३७⅚ करोड़ | ३३½ करोड़ | — ४ करो |
| आयकर ... | १८⅚ ,, | १७⅗ ,, | —·९ ,, |
| लवणकर ... | १२⅛ ,, | ११⁵⁄₁₆ ,, | —·८ ,, |
| अफ़ीम ... | ३·७३ ,, | ३·०३ ,, | —·७ ,, |
| रेल ... | ... | ... | —१३ ,, |
| डाक ... | ... | ... | —·६ ,, |
| योग ... | ... | ... | —२०·३ कर |

व्यय वृद्धि इस प्रकार हुई—ब्याजमें २ करोड़, सेनामें २⅝ करोड़, विदेशी ५⅛ करोड़ तथा अन्य मदोंमें ३⅘ करोड़ । इस प्रकार आयमें लगभग बीस करोड़की होने तथा व्ययमें लगभग १४ करोड़की वृद्धि होनेसे कुल ३४ करोड़का घाटा हुआ ।

———:o:———

## संयुक्त प्रान्तका आय-व्यय ।

| | | | |
|---|---|---|---|
| १९७८में आय कम हुई | ५१ लाख | ७० हज़ार | |
| ,, व्यय ज़्यादा हुआ | ५० ,, | ५० ,, | |
| कुल घटी | १०२ ,, | २० ,, | |
| ऋणसे प्राप्त | २९ ,, | ... | |
| ∴ वास्तविक घटी | ७३ ,, | ... | |
| पहिलेकी बचत | ६८ ,, | ... | |
| ∴ घटी जो अब भी बच रही | ५ लाख | ... | |

**आयकी घटीका ब्योरा ।**

| | | |
|---|---|---|
| आबकारीसे | − | ५०·९० लाख |
| जंगलसे | − | ५·६२ ,, |
| स्टाम्पसे | − | ३·३५ ,, |
| नहर विभागसे | + | ५·६४ ,, |
| आयकरसे | + | ४·१३ ,, |
| ∴ वास्तविक घटी | | ५१·७० ,, |

त् १६७

ावित

०३ करो

२१

३१

या बढ़

४ करो

०·३ कर

विदेशी

करोड़की

हुआ।

ोरा।

लाख